॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला
२०५

॥ श्रीः ॥

नैषधमहाकाव्यम्

'जीवातु' 'मणिप्रभा' द्वयोपेतम्

(पूर्वखण्डम्)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२०५
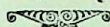
महाकवि श्रीहर्षप्रणीतं

नैषधमहाकाव्यम्

महोपाध्यायश्रीमल्लिनाथकृत 'जीवातु' व्याख्यायुत-

'मणिप्रभा' नामक हिन्दीव्याख्यासहितम् ।

हिन्दीव्याख्याकारः—

व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कालर-मिश्रोपाह्व-

पण्डित श्रीहरगोविन्द शास्त्री

प्राक्कथनलेखकः—

आचार्य श्रीत्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम. ए.

प्रिंसिपल-गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस ।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

सं० २०१०] [ई० १९५४

प्राक्कथन

[आचार्य त्रिभुवनप्रसाद उपाध्याय एम० ए०
प्रिंसिपल—राजकीय संस्कृत कालेज, बनारस]

संस्कृत संसार की सर्वप्रथम भाषा है, इसका साहित्य अत्यन्त सुन्दर एवं समृद्ध है, पहले गृहे गृहे और जने जने इसका प्रचार था तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका व्यवहार होता था। बाद में कालक्रम से समाज की रुचि में विविध परिवर्तन हुये, जिसके कारण शिथिलता आने से इसकी प्रगति मन्द पड़ने लगी और निकट अतीत में विदेशी शासन के समय तो इसकी घोर उपेक्षा हुई। किन्तु अब स्वतन्त्र भारत के सुप्रभात में जनता तथा शासन दोनों ही का आकर्षण इस ओर बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में संस्कृत के उत्तमोत्तम ग्रन्थों को सरल संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से जनसम्पर्क में लाना संस्कृत के विद्वानों का प्रधान कर्तव्य है। अत: श्रीहर्ष जैसे महान् दार्शनिक कवि की रमणीय रचना 'नैषध' को राष्ट्रभाषा में अनूदित करने का पं० हरगोविन्द शास्त्री जी का उपक्रम बहुत ही स्तुत्य है। इनकी अनुवाद-भाषा बड़ी ही रोचक, मोहक तथा मूल भावों के अभिव्यजन में पूर्ण क्षम है। मेरा विश्वास है कि संस्कृत के जिज्ञासु इस कृति का पूरा आदर कर अनुवादक को उत्साहित करेंगे। जिससे उनकी प्रौढ़ लेखनी से संस्कृत के अधिकाधिक ग्रन्थ राष्ट्रभाषा में अनूदित होकर जनजिज्ञासा की तृप्ति और देश का महान् मंगल कर सकेंगे।

र

दिनांक २५-१-५४ **त्रि० प्र० उपाध्याय**

सम्मतिपत्र

[आचार्य श्रीबद्रीनाथ शुक्ल एम० ए०
प्रधानाध्यापक—राजकीय संस्कृत कालेज, बनारस]

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं का शिरोमुकुट, समग्र उदात्त और उज्ज्वल विचारों की मनोरम मंजूषा तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की कमनीय कुंचिका है। यही कारण है कि अनेक शताब्दियों से अनादृत एवं उपेक्षित होने पर भी इसकी मधुरता और ओजस्विता अब भी ज्यों की त्यों बनी है। किन्तु यह सन्तोष की बात है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' की जिस नीति ने इसे जनता से दूर कर दिया था उसी के आधार पर भारत की स्वतन्त्रता के समुन्मेष के साथ ही जनता की रुचि में संस्कृत की उन्मुखता पुनः अभिवृद्ध होने लगी है। अतः संस्कृत के प्रचार में अवांछनीय मन्दता आ जाने के कारण संस्कृत में निहित जो ज्ञान-विज्ञान समाज को दुष्प्राप्य हो गये हैं उन्हें अब हिन्दी के माध्यम से जनता के बीच प्रसारित करना संस्कृत के विद्वानों का समयोचित धर्म हो गया है। मैं पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री जी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपनी सिद्ध लेखनी से एक ऐसे ग्रन्थ को हिन्दी में अनूदित करने का प्रयास किया है जिसमें भारत के आदर्श नरेश नल और आदर्श नारी दमयन्ती का पावन चरित्र दार्शनिक शिरोमणि महाकवि श्रीहर्षद्वारा उच्चतम कोटि की काव्यकला में वर्णित हुआ है जिसके परिचय तथा अनुकरण से मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। अनुवाद की भाषा बड़ी मंजुल और प्रांजल है तथा अध्येता को कवि के वास्तविक अभिप्राय के अत्यन्त निकट पहुंचाने की पूरी क्षमता रखती है। मेरा विश्वास है कि यह अनुवाद संस्कृत प्रेमी जनों को आवर्जित का पर्याप्त प्रसार प्राप्त करेगा जिससे प्रकाशक और अनुवादक उत्साहित हो संस्कृत-साहित्य की अन्य कृतियों को भी हिन्दी द्वारा जनता को हृदयंगम कराकर मानवता के मंगलमय विकास में पूर्ण सहयोग कर सकेंगे।

दिनांक २५-१-५४ बदरीनाथ शुक्ल

भूमिका

काव्यप्रयोजन—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

पुरुषार्थचतुष्टयको प्राप्त करना प्राणिमात्रका उद्देश्य होता है, उसके लिये योगसाधन, तपश्चरण, देवाराधन, तन्त्र-मन्त्रोपासना, आदि विविध उपाय शास्त्रोंमें अनेकत्र वर्णित हैं और उन्हें प्रायः कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति क्लेशादिसहन करके ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उत्तम काव्यके सेवनसे साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी सुखपूर्वक उक्त उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है। जैसा कि साहित्यदर्पणकारने कहा है—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव.............................. (सा० द० १।२)

भामहने सत्काव्यको पुरुपार्थचतुष्टयप्राप्तिके साथ-साथ कलाओंमें विचक्षणता, प्रीति तथा कीर्तिका साधक कहा है—

'धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' (काव्यालङ्कार १।२)

इतना ही नहीं, काव्यसे कालिदासादिके समान यश, राजराजेश्वर श्रीहर्षादिसे कविश्रेष्ठ बाणादिके समान अर्थलाभ, सूर्यस्तुतिद्वारा मयूरादिके समान कुष्ठादिमहारोगनिवृत्ति, तत्काल ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्दलाभ तथा स्त्रीवत् सदुपदेशादिलाभ काव्यके द्वारा ही सम्भव है। जैसा कि मम्मटाचार्यने कहा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥'

रुद्रटने तो काव्यको समस्त अभिमतको देनेवाला कहा है—

'अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
वरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥' (काव्याल० १।८)

राजानक कुन्तकने तो काव्यको पुरुपार्थचतुष्टयकी प्राप्तिसे भी अधिक आनन्दप्रद कहा है—

'चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥' (वक्रोक्तिजीवित)

यही कारण है कि कष्टप्रद योग-तपश्चर्यादि साधनोंका त्यागकर सुखसाध्य काव्य-

सेवनके द्वारा ही अपने चरमोद्देश्यप्राप्ति करनेके लिए लोगोंकी प्रकृति होती है। जैसा कि आचार्य भामहने कहा है—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥' (काव्यालङ्कार ५।३)

राजानक कुन्तकने भी अन्य शास्त्रोंको कड़वी दवाके समान तथा काव्यको मधुर दवाके समान अविवेकरूपी रोगका नाशक कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्य मृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥' (वक्रोक्तिजीवित)

नैषधचरितकी काव्यश्रेष्ठता—

म० म० पं० शिवदत्त शर्माके कथनानुसार पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा द्वारा प्रकाशित काव्य-मालाके मुद्रणके पूर्व 'रघुवंश, किरातार्जुनीय, कुमारसम्भव, शिशुपालवध और नैषधचरित' इन पाँच ही काव्योंका पठन-पाठन प्रचलित था। कुछ विद्वानोंका मत है कि—'लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी' नामसे प्रसिद्ध छः काव्योंका अध्ययनाध्यापन प्रचलित था। लघुत्रयीमें 'रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत' और बृहत्त्रयीमें किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' की गणना है। इनमें-से प्रथम 'लघुत्रयी' संज्ञक तीन काव्य महाकवि कालिदास के तथा 'बृहत्त्रयी' संज्ञक काव्योंमें 'किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित' महाकाव्य क्रमशः महाकवि भारवि, माघ तथा श्रीहर्षके विरचित हैं। इन तीनों महाकवियोंमें विद्वानों ने श्रीहर्षको ही सर्वश्रेष्ठ माना है—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥' इति।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः?॥' इति।

उक्त प्रथम पद्यमें माघमें उपमादि गुणत्रयका अस्तित्व कहनेसे माघकी श्रेष्ठता कहकर द्वितीय पद्यमें श्रीहर्षकी सर्वश्रेष्ठता स्पष्टरूपमें प्रतिपादित की गयी है।

श्रीहर्षका जीवनचरित—

महाकवि श्रीहर्षके पिताका नाम 'श्रीहीर' तथा माताका नाम 'मामल्लदेवी' था। इसे स्वयं श्रीहर्षने नैषधचरितके प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकोंके पूर्वार्द्धमें स्पष्ट कहा है—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः **सुषुवे जितेन्द्रियचयं** मामल्लदेवी **च यम्।'**

कतिपय विद्वान् 'माम्+अल्लदेवी' ऐसा पदच्छेद करके इनकी माताका नाम 'अल्लदेवी था, ऐसा कहते हैं। किन्तु अन्य विद्वानोंका मत है कि 'वातापि' के निकटमें 'मामल्लपुर'

नामका नगर ही श्रीहर्षकविकी माताका निवासस्थान था और उसी आधारपर इनका नाम 'मामल्लदेवी' हुआ।

'श्रीहीर' बहुत ही विशिष्ट विद्वान् थे। ये काशीके राजा 'विजयचन्द्र' की राजसभाके प्रधान पण्डित थे। कहा जाता है कि इनको राजाके समक्ष एक पण्डितने शास्त्रार्थमें पराजित किया, उक्त पण्डितके नामके विषयमें एकमत न होनेपर भी 'चाण्डू' पण्डितके स्वकृत टीकाके आरम्भमें लिखी गयी—**'प्रथमं तावत्कविर्जिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटाक्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रन्थयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुषार्थैरभिमानमनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकतानतां निनाय।'** पङ्क्तियोंसे श्रीहर्षके पिता 'श्रीहीर' को पराजित करनेवाले मैथिल नैयायिक प्रसिद्ध विद्वान् 'उदयनाचार्य' ही थे, इसमें सन्देहका कोई स्थान नहीं रहता। अस्तु। राजसभामें पराजित 'श्रीहीर' ने सुपुत्र श्रीहर्षसे कहा कि 'पुत्र! यदि तुम सुपुत्र हो तो मेरे विजेताको पराजितकर मेरा मनस्ताप दूर करना'। 'श्रीहर्ष' ने भी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्यकर सद्गुरुसे तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्यौतिष, वेदान्तादिदर्शन, योगशास्त्र एवं मन्त्रशास्त्रका सम्यक् प्रकारसे अध्ययन कर 'चिन्तामणि' मन्त्र[1]का अनन्यमनस्क हो एक वर्ष[2] तक जप करनेसे प्रत्यक्ष हुई त्रिपुरादेवीके वरदानसे ऐसी विद्वत्ता प्राप्त की कि इनके कथनको कोई विद्वान् समझ ही नहीं पाता था। यह देख श्रीहर्षने आराधनासे त्रिपुरा देवीका पुनः साक्षात्कारकर कहा कि—मातः! आपके वरप्रसादसे प्राप्त मेरा प्रखरतम पाण्डित्य भी सदोष ही रहा, क्योंकि मेरे कथनको कोई विद्वान् समझता ही नहीं, अतएव ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे

---

१. 'चिन्तामणि' मन्त्रका स्वरूप यह है...

'अवामावामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद् द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिद्धयतु स ते॥'

(१४।८५)

२. 'चिन्तामणि' मन्त्रका महत्त्व कविने स्वयं इन शब्दोंमें कहा है—

'सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥
पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारु हंसेन माञ्चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य॥'

(१४।८६-८७)

कथनको विद्वान् लोग समझने लगें। यह सुन देवीने कहा कि—आधी रातमें गीले वस्त्रको मस्तकपर रखना तथा मट्ठा पीना, जिससे कफबाहुल्य होकर जाड्यवृद्धि होनेपर तुम्हारे कथनको लोग समझने लगेंगे। श्रीहर्षने वैसा ही किया और उनके कथनको विद्वान् लोग समझने लगे। तदनन्तर इन्होंने 'खण्डनखण्डखाद्य' आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जैसा कि नैषधचरितके चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, नवम, द्वादश, सप्तदश तथा अष्टादश सर्गोंके अन्तमें क्रमशः 'स्थैर्यविचारप्रकरण, श्रीविजयप्रशस्ति, खण्डनखण्डखाद्य, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, अर्णववर्णन, नवसाहसाङ्कचरित, छिन्दप्रशस्ति तथा शिवशक्तिसिद्धि' ग्रन्थोंके नामका इन्होंने स्वयमेव उल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थोंकी रचना कर श्रीहर्ष कन्नौजके अधिपतिके यहां पहुँचे। उनका आगमन सुनकर विद्वद्‌गुणग्राही राजाने मन्त्री, सभापण्डित आदिके साथ नगरके बाहर जाकर उनकी अगवानी करके यथोचित सत्कार किया। राजाकी गुणिप्रियतासे अतिशय हर्षित श्रीहर्षने राजाकी स्तुति करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विषये स्मरः स्त्रीरस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥'

और उच्चस्वरसे विस्तृत व्याख्यान किया। यह सुन इनकी विद्वत्तासे समस्त सभासदोंके सहित राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। तदनन्दर श्रीहर्षने अपने पिताके विजेता उदयनाचार्यको लक्ष्यकर कटाक्ष करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वाऽस्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥'

यह सुन श्रीहीरविजयी पण्डित ने उनके प्रखर पाण्डित्यको देखकर कहा कि—'भारती-सिद्ध वादिगजकेसरी विद्वद्वर! आपके समान कोई भी विद्वान् नहीं है, फिर अधिक कहांसे हो सकता है?' क्योंकि—

'हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता–
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते॥'

यह सुनकर श्रीहर्षका क्रोध शान्त हो गया। राजाने भी 'श्रीहीर' विजयी पण्डितकृत अवसरोचित श्रीहर्ष-स्तुति की श्लाघा करते हुए दोनों विद्वानोंमें स्नेहपूर्वक परस्परमें आलिङ्गन कराकर राजभवनमें ले जाकर दोनोंका ही समुचित सत्कार किया और श्रीहर्षको एक लक्ष-सुवर्णमुद्रा दिया।

नैषधचरितकी रचना—

इस प्रकार पिताके विजयीका मान मर्दन कर श्रीहर्षने वहीं राजसभाके सदस्य होकर रहते हुए राजाज्ञासे इस 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यकी रचना कर राजाको दिखलाया। इसे देख प्रसन्न राजाने कहा कि—'कश्मीर जाकर इस महाकाव्यको सरस्वतीके हाथमें दीजिये। वहांपर साक्षात् निवास करती हुई सरस्वती हाथमें दिये हुए दोषरहित ग्रन्थका शिरःकम्पनपूर्वक अभिनन्दन करती है और इसके विपरीत दोषयुक्तग्रन्थको कूड़े-कतवारके समान फेंक देती है। इस प्रकार सरस्वतीसे अभिनन्दित ग्रन्थका वहांके राजासे प्रमाणपत्र लाइये।' ऐसा कहकर और बैल-ऊँट आदिपर समुचित पाथेय तथा धन लदवाकर श्रीहर्षको कश्मीर भेजा।

कश्मीरमें नैषधचरितका परीक्षण—

वर्तमान समयके समान रेल आदि साधनका अभाव होनेसे बहुत दिनोंके बाद श्रीहर्षने कश्मीर पहुँचकर वहांके राजपण्डितोंको अपना महाकाव्य दिखलाया तथा इसे सरस्वतीके हाथमें रखा। सरस्वतीने पुस्तकको दूर फेंक दिया। यह देख श्रीहर्षने सरस्वतीसे आक्षेपपूर्वक कहा कि 'मेरी पुस्तकको साधारण पुस्तकके समान दूषित समझकर तुमने क्यों अनादृत किया? इसमें कौन-सा दोष है?' आक्षेपपूर्ण श्रीहर्षकी बात सुन सरस्वती देवीने कहा कि—'तुमने अपने इस ग्रन्थमें—

'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥'

पद्यके द्वारा मुझे विष्णुकी पत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरे कन्यात्वका लोप किया है। इसी दोषके कारण मैंने पुस्तकको फेंक दिया है, क्योंकि—अग्नि, धूर्त, रोग, मृत्यु और मर्मभाषणकर्ता; ये पांच योगियोंको भी उद्विग्न कर देते हैं[१]।

यह सुन महापुराणोंके विशेषज्ञ श्रीहर्षने हँसते हुए कहा—'दूसरे जन्ममें तुमने विष्णुभगवान्को पतिरूपमें स्वीकार नहीं किया था क्या? लोकमें भी तुम्हें लोग 'विष्णुपत्नी' नहीं कहते हैं क्या? तब मेरे सत्य कहनेपर व्यर्थमें क्रुद्ध होकर तुम मेरी पुस्तकको क्यों सदोष कह रही हो?'। श्रीहर्षोक्त उक्त वचनको सुनकर सरस्वतीने पुस्तकको पुनः हाथमें लेकर उसकी प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीहर्षने वहांके राजसभासद-पण्डितोंको सरस्वत्यनुमोदित उक्त पुस्तक देकर कहा कि—'सरस्वती देवीने आपलोगोंके समक्ष इस पुस्तककी प्रशंसा की है, अतएव आपलोग यहांके राजा 'माधवदेव'को यह पुस्तक दिखलाकर 'यह रचना शुद्ध है' ऐसा राजलेख 'काशीराज जयन्तचन्द्र'के लिए मुझे दें।' परन्तु पण्डितोंमें दूसरे किसी नये पण्डितके प्रति स्वभावसे ही असूया होती है, इस लोकनियमसे आबद्ध वे

१. 'पावको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभाषकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगकारकाः॥' इति।

राजसभापण्डित श्रीहर्षकृत सरस्वत्यभिनन्दित पुस्तक कश्मीरनरेश 'माधवदेव'को नहीं दिखलाये और इसके परिणामस्वरूप राजा जयन्तचन्द्रके लिए पुस्तकके शुद्ध होनेका राजमुद्रामुद्रित लेख भी श्रीहर्षको नहीं प्राप्त हुआ। क्रमशः दिन, सप्ताह, पक्ष और मास व्यतीत होते गये। राजा जयन्तचन्द्रसे प्राप्त समस्त धन समाप्त हो चुका, वाहन बैल, ऊँट आदि के साथ वर्तन भी श्रीहर्षको बेचने पड़े।

एक समय नदीतटपर पानी भरनेके लिए दो दासियाँ गयीं। संयोगवश उन दोनोंमें 'पहले मैं पानीका घड़ा भरूँगी' इस प्रसङ्गको लेकर परस्परमें कहासुनी, गाली-गलौज होते-होते मारपीट हो गयी, फलतः दोनोंके शिर तक फूट गये। अपने-अपने पक्षकी पुष्टि करती हुई दोनों दासियोंने राजदरबारमें जाकर मुकदमा किया और राजाके प्रत्यक्षद्रष्टा साक्षी मांगनेपर दोनोंने कहा कि एक विदेशी ब्राह्मण नदीतटपर बैठा था, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वहां नहीं था। राजाज्ञासे राजपुरुष नदीतटपर जाकर ब्राह्मणको साथ लाये। वस्तुतः ये ब्राह्मणदेव अन्य कोई नहीं, महाकवि श्रीहर्ष ही थे। दोनों दासियोंके विवादके विषयमें पूछनेपर श्रीहर्षने कहा—'राजन्! परदेशी होनेके कारण मैं इनके किसी एक शब्दका भी अर्थ नहीं समझ सका, हां इन दोनोंने जो कुछ एक दूसरेके प्रति कहा या किया, उसे मैं आनुपूर्वी कह सकता हूं।' ऐसा कहकर श्रीहर्षने राजाज्ञा होनेपर दोनों दासियोंकी परस्परोक्त उक्ति-प्रत्युक्तिको अनुपूर्वशः यथावत् कह दिया। श्रीहर्षकी धारणाशक्तिसे आश्चर्यचकित राजाने दासीद्वयके विवादका निर्णय कर उन्हें विदा किया तथा साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्रीहर्षसे उनका परिचय पूछा। उन्होंने काशीसे यात्रा करनेसे लेकर अब तकके सम्पूर्ण वृत्तान्तको राजासे कह सुनाया। यह सुन अपनी सभाके पण्डितोंकी श्रीहर्षके प्रति की गयी असूयासे अत्यन्त दुःखित हो राजाने सभापण्डितोंको बुलाकर उन्हें धिक्कारते हुए कहा—'मूर्खो! ऐसे परमविद्वान्के साथ स्नेह करनेके बदले असूया करनेवाले तुमलोगोंको धिक्कार है। अब तुम लोग अपने-अपने घरपर लेजाकर इस महात्माका सत्कार करो।' यह सुन श्रीहर्षने नैषधचरितकी प्रशस्तिमें पठित निम्नलिखित श्लोकको पढ़ा—

'यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेतश्चेन्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः॥' (प्रशस्ति १)

यह सुनकर अपने निन्दित कर्मसे अतिशय लज्जित राजसभापण्डितोंने अपने-अपने घरपर श्रीहर्षको लेजाकर आदर-सत्कारसे सन्तुष्ट किया। तदनन्तर कश्मीराधीश 'माधवदेव'ने भी उनका सत्कार कर ग्रन्थकी शुद्धताका राजमुद्राप्रमाणित लेख देकर उन्हें विदा किया। उसे लेकर वे काशी लौटे तथा राजा जयन्तचन्द्रको लेख दिया और तबसे इस 'नैषधचरित'का प्रचार हुआ।

श्रीहर्षका वैराग्य एवं संन्यास ग्रहण—

तदनन्तर काशीराज जयन्तचन्द्रके 'पद्माकर' नामक प्रधान मन्त्रीने परमविलासवती, एवं राजनीतिनिपुणा 'सूहवदेवी' नामकी विधवा शालापति-पत्नीको कुमारपालके घर लाकर सोमनाथकी यात्राकर जयन्तचन्द्रकी भोगपत्नी बनवाया। वह अपनेको लोकमें 'कलाभारती' प्रसिद्ध करती थी और श्रीहर्ष भी 'नरभारती' कहे जाते थे। यह उस मत्सरिणीको असह्य था। एक समय उसने आदरके साथ श्रीहर्षको बुलाकर 'आप कौन हैं ?' ऐसा प्रश्न किया। उसके प्रत्युत्तरमें श्रीहर्षके अपनेको 'कलासर्वज्ञ' कहने पर उसने कहा कि 'जूता पहनाओ'। उसका अभिप्राय यह था कि 'यदि ये ब्राह्मण होनेके कारण मैं नहीं जानता हूँ, कहते हैं, तब ये 'कलासर्वज्ञ' नहीं सिद्ध होते।' श्रीहर्षने उसकी बातको स्वीकार कर वृक्षोंके वल्कल आदिसे जूता बनाकर उसे पहना तो दिया, किन्तु राजासे उसकी इस कुचेष्टाको कहकर अत्यन्त खिन्न हो गङ्गातटपर जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

जयन्तचन्द्रका इतिवृत्त—

इसी बीच राजाकी अभिषिक्त देवीमें एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मेघचन्द्र' था और 'सूहवदेवी'से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो मेधावी तो था, परन्तु अत्यन्त दुर्विनीत था। दोनोंके युवावस्था प्राप्त करने पर राजाके अपने 'विद्याधर' नामक मन्त्रीसे 'किसे राज्य देना चाहिये ?' पूछनेपर विद्याधरने कुलीन एवं सत्पुत्र मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए अपनी सम्मति दी और 'सूहवदेवी'के दुर्विनीत पुत्रको राज्य देनेके इच्छुक राजाको यथाकथञ्चित् मेघचन्द्रको राज्य देनेके लिए राजी कर लिया। यह देख क्रुद्ध हुई सूहवदेवीने अपने विश्वासपात्र प्रधान दूतोंको भेजकर तक्षशिलाधीश्वर 'सुरत्राण'को काशीपर चढ़ाई करनेके लिए तैयार किया। 'प्रत्येक पड़ावपर सवालाख स्वर्णमुद्रा व्यय करता हुआ वह काशीपर चढ़ाई करनेके लिए चल पड़ा है' यह गुप्तचरोंसे ज्ञातकर मन्त्री विद्याधरने 'सूहवदेवी' कृत विरोधको राजासे निवेदन किया, किन्तु राजाने 'वह मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करेगी' कहकर उसे फटकार दिया।

राजाकी मूर्खतासे राजभक्त मन्त्री चिन्तित हो विधिको प्रतिकूल मानकर सोचने लगा कि—'राज्यभ्रंश होनेके पहले मर जाना अच्छा है'। यह सोचकर उसने राजासे कहा—प्रभो ! यदि आज्ञा हो तो मैं गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दूँ। अपने प्रत्येक काममें उसे कण्टकभूत मानकर राजाने भी सहर्ष आज्ञा दे दी। मन्त्रीने सोचा—'हितवचनोंको नहीं सुनना, दुर्नीतिमें प्रवृत्त होना, प्रिय लोगोंमें भी दोष देखना, अपने गुरुजनोंका अपमान करना; ये सब मृत्युके पूर्वरूप राजामें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अतएव इनकी मृत्यु अब आसन्न है।' यह सोच सब धातुओंको सुवर्ण बनानेवाले जिस 'पारस' पत्थरके प्रभावसे ८८०० ब्राह्मणोंको प्रतिदिन भोजन देनेके कारण 'लघुयुधिष्ठिर' उपाधिसे वह मन्त्री लोकप्रसिद्ध था, चिन्तामणि विनायकके प्रसादसे प्राप्त उस पत्थरको लेकर गङ्गाजीमें

प्रवेशकर ब्राह्मणको सङ्कल्पपूर्वक दान दे दिया, किन्तु हतभाग्य उस ब्राह्मणने 'तुम्हें धिक्कार है, जो मुझ ब्राह्मणको गङ्गातटपर बुलाकर दानमें पत्थर दे रहे हो' ऐसा कहकर उस अमूल्य पत्थरको गङ्गाजीमें फेंककर घर चला गया और इधर मन्त्रीने गङ्गाजीमें डूबकर प्राणत्याग कर दिया। उधर तक्षशिक्षाधीश्वर 'सुरत्राण' ने काशी पहुँचकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया एवं यवनोंने नगरीको खूब लूटा। 'राजा मारा गया या उसका क्या हुआ?' कुछ पता नहीं चला। यह ईशवीय सन् १३४८ में राजशेखरसूरिरचित प्रबन्धकोषमें 'श्रीहर्ष-विद्याधरजयन्तचन्द्रप्रबन्ध'से ज्ञात होता है।

जयन्तचन्द्रका समय—

प्राचीन लेखमालाके २३ वें लेखके संवत् १२४३ (ईशवीय सन् ११८३) आषाढ़ शुक्ल ७ रविवारको लिखित दानपत्रसे जयन्तचन्द्रका वंशक्रम इस प्रकार ज्ञात होता है—

इनमें यशोविग्रहके पौत्र 'श्रीचन्द्रदेव' ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) तथा काशीपर विजय प्राप्त किया था तथा २२वें लेखमें जयन्तचन्द्रके यौवराज्यदानपत्रमें संवत् १२२५ (ईशवीय सन् ११६९) लिखा है।

इस प्रकार जयन्तचन्द्रके राज्यकालके अनुसार महाकवि श्रीहर्षका समय भी बारहवीं शताब्दी ही निश्चित होता है। अतएव जयन्तचन्द्रके पिता विजयचन्द्रके वर्णनस्वरूप ग्रन्थकी चर्चा श्रीहर्षकविने अपने नैषधचरितमें की है। इसीका समर्थन श्रीहर्षके समयके विषयमें विविध मतोंमें उपस्थित विसंवादोंका प्रदर्शनकर उनका खण्डन करते हुए डाक्टर बूलर साहबके उस व्याख्यानसे भी होता है, जो 'रायल एसियाटिक सोसायटी, बम्बई ब्राञ्च' (Rayal Asiatic Society, Bombay Branch) नामकी विद्वत्सभाद्वारा सन् १८७५ ई० में प्रकाशित प्रबोधनग्रन्थ मुद्रित हुआ।

---

१. 'तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः।' (५।१३८ का उत्तरार्द्ध)

नल-दमयन्तीकी मूल कथा

महाभारतके वनपर्वमें नल-दमयन्तीकी कथा आयी है। उसके अनुसार भी इन्द्रादि चारो देवोंने दमयन्तीके पास नलको दूत बनाकर भेजा था तथा निष्कपट भावसे कार्य करनेपर भी असफल होकर उनके लौटनेपर वे नलरूप धारणकर स्वयंवरमें गये और दमयन्तीकी स्तुतिद्वारा प्रसन्न होकर नलके लिए आठ[1] वर दिये और स्वर्गको जाते समय कलिको देवोंने बहुत समझाया, परन्तु उसने नलको राज्यभ्रष्ट करनेके लिए द्वापरको सहायक बनानेकी शर्त कर[2] निषध देशमें गया और बारह वर्षके बाद नलको मूत्रत्यागके बाद आचमनकर बिना पैर धोये ही सन्ध्योपासन करते देखकर उन्हें अशुचि देख अवसरका लाभ उठाकर उनमें प्रवेश किया[3]। द्यूतमें अपने भाई पुष्करसे पराजित होकर वनमें जाते हुए नलने दमयन्तीका त्याग कर दिया और चार वर्षके बाद पुनः दोनोंका समागम हुआ[4]। आदि कथा मिलती है। उसमें केवल इतिवृत्तमात्रका वर्णन है, किन्तु नैषधचरितमें श्रीहर्षने उस कथाभागका बहुत ही रोचक एवं सरस शैलीसे इस प्रकार वर्णन किया है कि वह सजीव हो गया है। इतना ही नहीं, अपितु कहीं-कहीं उस कथाभागको स्वरचित कल्पना का पुट देकर विशेषतया सजाकर उसमें चार चांद लगा दिये हैं। जिनमें-से नलके द्वारा पकड़े गये हंसका करुण क्रन्दन आदि मुख्य हैं।

'सोमदेवभट्ट' विरचित 'कथासरित्सागर' के अनुसार सबसे पहले हंसको दमयन्तीने अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा तदनन्तर उसने कहा कि तुम मुझे छोड़ दो, मैं कामवत्सुन्दर

---

१. 'प्रहृष्टमनसस्तेऽपि नलायाष्टौ वरान् ददुः। प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे शक्रो गतिमनुत्तमाम्॥
अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः। लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः॥
यमस्त्वन्नरसं प्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम्। अपाम्पतिरपाम्भावं यत्र वाञ्छति नैषधः॥
स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे ते मिथुनं ददुः। वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६१७-६२०)

२. 'ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत्। संहर्त्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर!॥
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते।त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥
एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह। आजगाम कलिस्तत्र यत्र राजा स नैषधः॥'
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १३।६३१-६३३)

३. 'स नित्यमन्तरं प्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम्। अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम्॥'
कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्य नैषधः। अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १४।६३३-६३५)

४. 'स चतुर्थे ततो वर्षे सङ्गम्य सह भार्यया।सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम्॥
(संक्षिप्तमहाभारत वनपर्व १६।८३३)

निषधराज नलसे तुम्हारे सौन्दर्यका वर्णनकर तुम्हारा पति होनेके लिए निवेदन करूँगा। यह सुन दमयन्तीके हाथसे मुक्ति प्राप्तकर हंस निषधदेशमें जाकर सरोवरपर स्थित नलके पास पहुँचा। वहांपर भी नलने उसे अपना दुपट्टा फेंककर पकड़ा, तब उस हंसने कहा कि पतिरूपमें तुम्हें चाहनेवाली भीमकुमारी परमसुन्दरी दमयन्तीका सन्देश लेकर मैं आया हूँ, अतः तुम मुझे छोड़ दो। हर्षप्रद यह हंसोक्त वचन सुनकर नलसे मुक्त हंस पुनः दमयन्तीके पास जाकर नलसे दी गयी स्वीकृतिका सुसंवाद कहकर अभिमत स्थानको चला गया और दमयन्तीने माताके द्वारा यह समाचार पिताको सुनाया। तदनुसार पिता भीमने भी स्वयंवरके निमित्त राजाओंके पास निमन्त्रणपत्र भेजे। नारदसे दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य तथा स्वयंवरका समाचार पाकर इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम तथा वायु, ये पाँच लोकपाल नलके समीप गये और अदृश्य होनेकी शक्ति देकर उनको दूत बनाकर दमयन्तीके पास भेजा। नलने भी दमयन्तीके पास जाकर देवोंका सन्देश कहते हुए उक्त पाँच देवोंमें-से किसी एक देवको पतिरूपमें वरण करनेके लिए कहा, किन्तु दमयन्तीके द्वारा नलको ही वरण करनेका निर्णय मालूमकर नलने अपना परिचय दिया और उन पाँच देवोंके पास वापस आकर यथातथा सब बातोंको कह दिया। उनके इस वञ्चना-रहित सत्यवचनसे प्रसन्न देवोंने अपनेको नलका वशवर्ती होनेका वरदान दिया। तदनन्तर नलके निषध देशको वापस लौटनेपर वे इन्द्रादि पाँचों लोकपाल नलका रूप धारणकर स्वयंवरमें पहुँचे और अपने भाईसे स्वयंवरागत राजाओंका परिचय पाकर क्रमशः उन्हें छोड़ती हुई दमयन्तीने आगे जाकर एक साथ बैठे हुए छः नलोंको देखा तथा उन देवताओंको स्तुतिसे प्रसन्नकर नलके गलेमें वरणमालाको पहनाया।

दमयन्तीके साथ विधिवत् विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेपर नल वहाँपर एक सप्ताह ठहरनेके बाद दमयन्तीको साथ लेकर अपने देशको लौटे। इधर दमयन्ती-स्वयंवरमें द्वापरके साथ आते हुए कलिने देवोंसे नलको दमयन्तीसे वरे जानेका समाचार सुन उन्हें परस्पर वियुक्त करनेकी प्रतिज्ञा कर नलकी राजधानीमें पहुँचा और नलमें छिद्रान्वेषण करता हुआ रहने लगा।

बारह वर्षके उपरान्त मदपान करनेके कारण विना सन्ध्योपासन तथा पादप्रक्षालन किये ही सोये हुए नलके शरीरमें कलिने प्रवेश किया, जिसके प्रभावसे नल दुराचारमें प्रवृत्त रहने लगे। इत्यादि[1]।

इस प्रकार महाभारत तथा कथासरित्सागरके कथांशके साथ प्रकृत नैषधचरितके कथांशका सामञ्जस्य करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्षने महाभारतके आधारपर ही इस महाकाव्यकी रचना की है।

---

१. कथासरित्सागरके नवम 'अलङ्कारवती' लम्बकके ६ ठे तरङ्गमें श्लोक २३७-४१६।

श्रीहर्षका पाण्डित्य

मैं पहले लिख चुका हूँ कि श्रीहर्षने खण्डनखण्डखाद्य आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। उनमेंसे एकमात्र 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ ही इनके पाण्डित्यप्राचुर्य-प्रदर्शनके लिए पर्याप्त है। इसमें ग्रन्थकारने अपने प्रखरपाण्डित्यसे अनेकविध तर्कों तथा प्रयुक्तियोंके द्वारा बड़े उत्तम ढंगसे अद्वैत मतका प्रतिपादन किया है, जिसको देखकर विद्वानोंको इनके पाण्डित्यप्राचुर्यकी मुक्तकण्ठ हो प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अपने इस अद्वैतकी झलक श्रीहर्षने नैषधचरितमें भी **अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः** (१३।३५)' इत्यादि वचनों द्वारा प्रदर्शित किया है।

षष्ठ सर्गको तो स्वयं श्रीहर्षने ही 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थका सहोदर कहा है। यथा—

> **'षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्क्षोदक्षमे तन्महा-**
> **काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः।'** (६।११३ का उत्तरार्द्ध)

न्यायशास्त्रके मुख्याचार्य गोतमको भी इन्होंने नैषधचरितमें—

> **'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।**
> **गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥'** (१७।७४)

कहकर आड़े हाथों लिया है। सप्तदश सर्गमें चार्वाक मतका अत्यन्त कटुसत्य प्रामाणिक एवं विस्तृत समीक्षण श्रीहर्षकी दार्शनिकताका अकाट्य प्रमाण है। वैशेषिक दर्शनका नामान्तर 'उलूक दर्शन' भी है, इसका श्रीहर्षने बड़ी युक्तिसे प्रतिपादन किया है—

> **'ध्वान्तस्य वामोरु ! विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।**
> **औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥'** (२२।३५)

अन्य कवियोंने प्रायः अपनी विद्वत्ताके प्रदर्शनार्थ ऋतु, प्रभात, चन्द्र आदिका वर्णन अपनी रचनाओंमें अप्रासङ्गिक या अत्यधिक रूपमें किया है, किन्तु श्रीहर्षने ऐसा वर्णन कहीं नहीं किया है। जहाँ भी कहीं इन्होंने मूलकथासे पृथक् स्वतन्त्र कथाकी कल्पना की है, वह वहाँपर मसीनके पुर्जेके समान ठीक-ठीक फिट हो जाती है और ऐसा आभास होता है कि इसके विना रचना अधूरी एवं बेकार थी। उदाहरणार्थ नलके पास हंस पहले नलको काटकर (१।१२५) अनन्तर कुछ फटकार कर (१।१३०-१३३) भी अपनेको छुड़ानेके लिए प्रयत्न करता है, किन्तु असफल होकर करुण-क्रन्दन (१।१३५-१४२) करने लगता है और दयार्द्र नलसे मुक्ति पाकर वही हंस नलको अपनी भूल स्वीकार करता हुआ (२।८-९) अप्रिय भाषणजन्यदोषको प्रत्युपकार द्वारा दूर करने तथा उसे दैवप्रतिपादित मानकर नलसे स्वीकार करनेके लिए दीनतापूर्वक विविध प्रकारसे अनुरोध करता है (२।१०-१५)। और इसके प्रतिकूल जब वही हंस दमयन्तीके पास पहुँचता है तो अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए अनेक प्रकारसे आत्म-श्लाघा करता हुआ नलके प्रति दमयन्तीको

आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे बार-बार उनका प्रसङ्ग लाकर उनकी अत्यन्त स्तुति इस प्रकार करता है कि दमयन्तीको यह लेशमात्र भी आभास न होने पावे कि इसे नलने भेजा है तथा इस चातुर्यपूर्ण रहस्यको वह तब तक छिपा रखता है, जब तक दमयन्तीके हृदयको अच्छी तरह ठोंक-ठोंककर नलके प्रति आकृष्ट होनेका दृढ़ निश्चय नहीं कर लेता। यहाँपर हंसके चातुर्यका दिग्दर्शनमात्र कराना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। देखिये—हंस किस चातुर्यसे श्लेष द्वारा नलके प्रति दमयन्तीको आकृष्ट करता है। वह कहता है कि—'स्वर्गीय मुझ हंसको पकड़नेके लिए 'विरलोदय नर'के एकमात्र स्वर्भोग्यभाग्यके अतिरिक्त कोई जाल आदि समर्थ नहीं हो सकता'।

'बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य॥' (३।२०)

यहाँपर उसने 'विरलोदय, नर' इन दो शब्दोंसे नलका स्पष्ट सङ्केत किया है। आगे वह दमयन्तीके **'का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा।'** (३।५९) अपने मनोरथगत नलकी ओर श्लेषद्वारा सङ्केत करने पर भी उसके नलविषयक अर्थको समझ कर भी स्पष्ट करनेके लिए कहता है कि—चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान आप जिसे प्राप्त करनेके लिए अधिक लालायित हों, उसे क्या मैं उस प्रकार सुननेका अधिकारी नहीं हूँ, जिस प्रकार वेदवचनको सुननेका अधिकारी शूद्र नहीं होता (३।६२)। आगे उसके मनोरथको पूरा करनेमें अपनेको सर्वथा समर्थ बतलाता हुआ वही हंस विश्वकी किसी भी वस्तुको यहाँ तक कि लङ्काको भी देनेमें अपनेको समर्थ कहता है। जिसका उत्तर कुलीना दमयन्ती स्पष्टरूपसे नहीं देकर श्लेषद्वारा ही नलको पानेकी इच्छा पुनः प्रकट करती है—

'इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्॥' (३।६७)

यहाँपर कुलाङ्गनोचित शीलका पूर्णरूपेण पालन करते हुए श्रीहर्षने भारतीय संस्कृतिके परमोच्चादर्शको स्थापित किया है। इसी कारण अन्तमें विवश होकर हंसको ही 'नलके साथ तुम विवाह करना चाहती हो' कहना पड़ा है (३।७९)। और आगे चलकर वह पुनः पुनः नलके लिये दमयन्तीसे दृढ़ निश्चय कराकर ही 'वे भी तुम्हें चाहते हैं और उन्होंने ही तुम्हारे पास मुझे भेजा है' इत्यादि कहते हुए अपना वास्तविकरूप दमयन्तीके समक्ष व्यक्त करता है।

सभी लोग कुश तथा जल लेकर सङ्कल्पपूर्वक दान देते तथा लेते देखे जाते हैं। देखिये महाकवि श्रीहर्षने दानवीर नलके मुखसे उक्त प्रकरणको लेकर कितनी सूक्ष्मदर्शिताके साथ दानका महत्त्व कहलवाया है। दानके स्वरूप विविध प्रकारसे कहते हुए नल कहते हैं कि—'कुश-जलयुक्त दान करनेका विधान यह सूचित करता है कि याचकके लिए केवल धनमात्र ही नहीं, अपितु प्राणोंको भी तृणके समान दान कर देना चाहिये'।

* रसो वै ब्रह्म *

नैषधमहाकाव्यम्

जीवातु–मणिप्रभा–संस्कृतहिन्दीटीकाद्वयोपेतम् ।

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां[1] तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥१॥

अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च काव्यालापांश्च वर्जयेदिति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतो'राशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति-निपीयेति। यस्य क्षितिरक्षिणः क्षमापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः, न तु पिबतेः 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः । तदुक्तं दर्पणे 'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति। 'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक' इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरावि'ति तल्लक्षणात् ॥

---

१. 'कथाः' इति पाठान्तरम् ।

शिवाशिवतनूजोऽपि त्रिलोकीशिवकारकः ।
वक्रतुण्डोऽपि सुमुखो यस्तं वन्दे गणाधिपम् ॥ १ ॥
जगतां व्यवहारस्य याऽस्ति हेतुः सनातनी ।
शारदां शारदाभ्राच्छवस्त्रां वन्देऽस्मि शारदाम् ॥ २ ॥
दृषदक्षरमयचिन्तामण्योराद्यं[1] न कामये जातु ।
याचेऽन्त्यं[2] वाक्सेवालभ्यं सज्ज्ञानदं सततम् ॥ ३ ॥
लोकनाथं पूर्णचन्द्रं श्रीत्रिवेदिमहाशयौ[3] ।
शब्दशास्त्रगुरून् वन्दे भक्तिनम्रस्तदङ्घ्रिषु ॥ ४ ॥
देवीप्रसादमाधवपदपोतावाश्रयामि[4] सदा ।
काव्यार्णवे विहर्तुमथ चिन्तामणिञ्च[5] समवाप्तुम् ॥ ५ ॥
'आरा' मण्डल 'केसठ'वास्तव्यो 'मूर्ति'गर्भभवः ।
'हरगोविन्दः शास्त्री' 'रामस्वार्था'त्मजन्माहम् ॥ ६ ॥
कुर्वे 'नैषध'व्याख्यां स्वराष्ट्रभाषामयीमधुना ।
एषा मुदेऽस्तु सुधियां सान्तेवसतां सदा लोके ॥ ७ ॥

पृथ्वीपालक (राजा) जिस (नल) की कथाओंका सम्यक् प्रकारसे पानकर विद्वान् लोग (या—अमृतभोजी देवता लोग) अमृतका वैसा (नलकी कथाके समान) आदर नहीं करते हैं, (अपने) कीर्तिसमूहको श्वेतच्छत्र बनाये हुए तथा नित्य उत्सववाले वे तेजोराशि अर्थात् महातेजस्वी नल हुए। अथवा—जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (वृष्ट्यादिके द्वारा) पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले देव अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते,……। अथवा—जिसकी कथाका……देव सुधामय अर्थात् चन्द्रमामें भी वैसा आदर नहीं करते,…… । अथवा—……जिसकी कथाका……पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले अर्थात् राजा लोग तथा बुध अर्थात् देवलोग अमृतका भी वैसा—आदर नहीं करते। अथवा—जिसकी कथाका……(फणामण्डलपर पृथ्वीको धारण करनेसे) पृथ्वी-रक्षक होनेसे अमृत तथा नल कथाके (एवं अमृतभोजी तारतम्यके) ज्ञाता शेष तक्षकादि नाग लोग अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते,…… । अथवा—('क्षितिः+अक्षिणः' पदच्छेद

---

१. 'चिन्तामणि' संज्ञकप्रस्तर-नैषधोक्त (१४।८५) 'चिन्तामणि' मन्त्रयोः ।

२. नैषध एव श्रीहर्षकविनोक्तं (१४।८५) 'चिन्तामणि' संज्ञकं मन्त्रम् ।

३. श्रीपूज्यपाद पं० देवनारायणत्रिवेदि—(महाशयजीनाम्नाख्यात) श्री पं० रामयज्ञत्रिपाठिनौ ।

४. कविचक्रवर्तिमहामहोपाध्याय-श्री पं० देवीप्रसादशुक्लः, महामहोपाध्यायो दाक्षिणात्यो विद्वान् श्री पं० माधवशास्त्री भाण्डारी च (मत्काव्यपाठयितारौ) ।

५. नैषधचरितकाव्यार्णवात् चतुर्दशसर्गीयपञ्चाशीतिश्लोकोक्तं चिन्तामणिमन्त्रम् ।

करके) जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर (स्थित व्यक्ति-विशेषके) कलि (कलिजन्य दोष) का नाश होता है तथा जिसकी कथाका सम्यक् प्रकारसे पानकर बुध (विद्वान्, या देव) अमृतका भी वैसा आदर नहीं करते,……। अथवा—अक्षी अर्थात् द्यूतक्रीडारत जिस नलकी पृथ्वी (राज्य) है और जिसकी कथाका……(इससे द्यूतव्यसनी नलको राज्य होनेसे इनकी आश्चर्यजनिका अलौकिकी शक्ति व्यक्त होती है)। **उत्तरार्द्धका व्याख्यान्तर**—अथवा—जिस नलमें अत्यधिक उज्ज्वल गुणविशिष्ट श्रृङ्गार रस है, अथवा—जिस (नल) में दमयन्तीका उक्तरूप श्रृङ्गार रस अत्यधिक है, ऐसे तेजोराशि (अथवा—सूर्यके समान स्थित) चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिमण्डलको श्वेतच्छत्र बनाये हुए वे नल थे [राजा नलका द्यूतव्यसनी होना आगेके कथा-भागमें यद्यपि नहीं वर्णित है, तथापि महाभारतादिमें द्यूतव्यसनके कारण ही उनके राज्यच्युत होनेका वर्णन मिलता है। नलकी कथाको अमृताधिक मधुर होनेसे तथा अधिक श्रृङ्गार-रसपूर्ण होनेसे इन्द्रादि देवोंका त्यागकर नलमें ही दमयन्तीका अनुराग होना उचित ही था। 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥' उक्तिके अनुसार नल-कथाकीर्तनको कलिका नाशक होना सुप्रसिद्ध है। यहाँ पर शिष्टाचारानुसार किसी विशिष्ट देवतादिका नमस्कारादि रूप मङ्गल नहीं किया गया है, किन्तु पूर्वोक्त 'कर्कोटकस्य……' तथा 'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥' वचनों के अनुसार नल-कथाके कीर्तनको ही विशिष्ट वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गला-चरणरूपमें श्रीहर्षमहाकविने माना है। कुछ विद्वान् इसे अभीष्ट देव रघुनाथजीका सबीज नमस्कारात्मकरूप मङ्गल मानते हैं। इस नैषधचरित महाकाव्यमें धीरललित राजा नल नायक हैं तथा सम्भोग और विप्रलम्भरूप द्विविध श्रृङ्गाररस अङ्ग है और अन्य करुणादि रस उसके अङ्गी हैं] ॥ १ ॥

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी[1] नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्त्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

इममेवार्थमन्यथा आह-रसैरिति। यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसो गन्धो रसः स्वाद' इति विश्वः। सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमान-स्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः। भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः। 'जायाया निङि'ति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः। स नलः गुणैः शौर्यदाक्षि-ण्यादिभिः अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः। अभूत्। कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रञ्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः। ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्त्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः। इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्ड-

१. 'सुधावधीरणी' इति पाठान्तरम्।

वैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

जिस (नल) की कथा (शृङ्गारादि नव) रसोंसे (केवल मधुर रसवाले, या—मधुरादि छः रसोंवाले) अमृतको तिरस्कृत करनेवाली है अर्थात् अमृतसे भी श्रेष्ठ है, सुवर्णका दण्ड तथा एक श्वेतच्छत्र बने हुए हैं जलते हुए प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिसके ऐसे (अत एव, शौर्यादि या—सन्धि-विग्रहादि छः) गुणोंसे आश्चर्यकारक वे राजा नल थे। (अथवा—जिसकी कथा-रसोंसे सुधाकी अवधि अमृतकी सीमा अर्थात् श्रेष्ठतम अमृत) को हीन करनेवाली थी। अथवा—जिसकी कथा-रसोंसे सुधावधि अर्थात् अमृतकी सीमा थी। अथवा—जिसकी कथा रसोंसे पुण्यसञ्चारिणी बुद्धिवाली, नित्य रणतत्पर तथा भूस्वामिनी थी, (इन तीनों विशेषणोंसे कथामें मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति तथा प्रभुशक्तिका होना सूचित होता है। अथवा—जिसकी कथा 'इ' अर्थात् काम की भूमि अर्थात् अभिलाषोत्पादिनी तथा सुधावधीरणी थी,……। अथवा—वर्णों (ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय) का सुन्दर शासन तथा एक श्वेतच्छत्र बने हैं जलते हुए (तीव्रतम) अर्थात् शत्रुओंको असह्य प्रताप-समूह तथा कीर्ति-समूह जिससे (या-जिसके), ऐसे गुणाद्भुत वे (प्रसिद्धतम) राजा नल थे)। [शृङ्गारादि नव रसोंवाली नल-कथा का एकमात्र मधुर रसवाली (या-मधुरादि षड्रसोंवाली) सुधाको पराजितकर तिरस्कृत करना उचित ही है। प्रतापका तप्तसुवर्णके समान तथा कीर्ति-समूहका श्वेत वर्णन होनेसे यहाँपर उन्हें क्रमशः सुवर्णदण्ड तथा श्वेतच्छत्र बनाया गया है। राजाका सुवर्ण दण्डयुक्त एक श्वेतच्छत्र होनेसे अन्य राजाओंका नलके लिए करदाता होना सूचित होता है। जलते हुए नल-प्रताप-समूहका एक सुवर्णदण्ड बननेपर उस प्रतापसमूहका सङ्कुचित होना ध्वनित होता है, अत एव 'सुवर्णदण्ड' शब्दका ब्राह्मणादि वर्णोंका सुन्दर शासन अर्थ करके परिहार करना उत्तम पक्ष है] ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा[1] ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किमु-

---

१. 'यत्कथा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

तेतिकै मुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्-'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ ३ ॥

जिस (नल) की कथा इस (कलि) युगमें संसारको पवित्र (निर्दोष) करती है, वह नलकथा मलिन भी स्व-सेविनी अर्थात् दोषयुक्त मेरी वाणीको शृङ्गारादि रसोंसे धोये हुए के समान क्यों नहीं पवित्र (दोषहीन, पक्षा०—स्वच्छ) करेगी ? अर्थात् अवश्य करेगी। [जिस प्रकार जलसे धोयी हुई कोई वस्तु स्वच्छ एवं निर्दोष हो जाती है, उसी प्रकार नलकथा 'कर्कोटकस्य नागस्य......' इत्यादि वचनोंके अनुसार मलिन भी स्वसेविनी मेरी वाणीको अवश्यमेव निर्दोष करेगी, इसी कारण मैं श्रीहर्षकवि अन्य कथाओंको छोड़कर नल-कथाका ही वर्णन करता हूँ] ॥ ३ ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह-अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दशे'त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाःपुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतःसिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति ॥ ४ ॥

(द्वितीय श्लोकमें नलको 'गुणाद्भुत' कहा गया है, उसीका यहाँ प्रतिपादन करते हैं—) अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुसार आचरण तथा प्रचार अर्थात् ब्राह्मणोंको द्रव्यादि देकर शिष्योंको अध्यापन कराना—इन प्रकारोंसे चार दशाओंको करते हुए इस नलने स्वयं चौदह विद्याओंमें चतुर्दशत्व क्यों किया ? यह मैं नहीं जानता। [जो विद्याएँ स्वयं चौदह थीं, उनको चतुर्दशत्व करना पिष्टपेषणके समान निरर्थक है। अथवा चौदह विद्याओं में-से प्रत्येकको अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण तथा प्रचाररूप चार दशाओंसे (१४×४= ५६) छप्पन करना चाहिये था, फिर चतुर्दशत्वं अर्थात् चौदह ही क्यों किया ? इस प्रकार विरोधद्वयका परिहार 'चौदह विद्याओंको चार दशा (अवस्था) ओं वाली किया' अर्थ द्वारा करना चाहिये। नल चौदहों विद्याओंके अध्यक्ष, ज्ञाता; आचरणकर्ता तथा प्रचारक थे। क्षत्रियको अध्यापनका निषेध होनेसे विद्वान् ब्राह्मणको धनादि देकर शिष्याध्यापन करानेमें दोषाभाव समझना चाहिये] ॥ ४ ॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥ ५ ॥

अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्त्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः । विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः । त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी'त्यमरः । अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि'त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्, विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत । पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः । प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः । 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति । अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय-विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः । त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम् । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५ ॥

इस (नल) के जिह्वाग्रपर सदा नृत्य अर्थात् निवास करनेवाली विद्याने (व्याकरणादि छः) अङ्गोंसे गुणा करनेपर विस्तारको प्राप्त (ऋक्-यजुः-सामवेदरूप) त्रयीके समान मानो अठारह द्वीपोंकी विजयलक्ष्मीको अलग-अलग जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्यात्व को प्राप्त कर लिया है । (अथवा—इस नलके रसनाग्रपर नृत्य करनेवाली जो बुद्धि है, वह……… । अर्थात् इनकी बुद्धिने अठारह संख्यात्वको इस लिए प्राप्त किया है कि मैं अठारह द्वीपोंकी नलकृत जयश्रीको पृथक्-पृथक् जीत लूं । जिस प्रकार कोई नर्तकी शिर-हाथ आदि छः अङ्गों, ग्रीवा-बाहु आदि छः प्रत्यङ्गों तथा भ्रू-नेत्रादि छः उपाङ्गोंसे विस्तारको प्राप्तकर अष्टादश संख्यावाली हो जाती है । अथवा—नलने अठारह द्वीपोंको जीतकर अठारह जयश्रियोंको प्राप्त कर लिया है, अतएव मैं भी अठारह होकर उस नल-जयश्रीको जीत लूं, इस भावनासे इनकी उक्तरूपा विद्याने भी अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया । अथवा—नल पाकशास्त्रके महापण्डित थे, अतः इनकी पाकशास्त्र विद्याने 'मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय और तिक्त' रूप छः रसोंके न्यून-अधिक और समरूप प्रकार-त्रयसे (६ × ३ = १८) विस्तारको प्राप्तकर अठारह संख्याको प्राप्त कर लिया है, यथा—मधुर द्रव्यमें दूसरे मधुर द्रव्यको न्यूनमात्रामें तिक्त द्रव्यमें अधिक मात्रामें और अम्ल

(खट्टे) द्रव्यमें सममात्रामें प्रक्षेप करनेसे एक मधुर द्रव्यके तीन भेद होते हैं, इसी प्रकार ६ द्रव्योंमें न्यून अधिक और सम मात्रामें द्रव्यान्तर डालनेसे १८ भेद हो जाते हैं । अथवा— टूंड़वाले जौ-गेहूं आदि, फली (छीमी) वाले मटर आदि, धण्टकवाले चना आदि—ये तीन प्रकारके धान्य, भूचर-जलचर तथा खेचर जीवोंके त्रिविध मांस, अम्लादि पूर्वोक्त ६ रस और कन्द-मूल-फल-नाल-पत्र-पुष्परूपमें ६ प्रकारके शाक (३+३+६+६ = १८) इस प्रकारसे विस्तारको प्राप्तकर पाकशास्त्रके महापण्डित इस नल की रसनाग्रनर्तकी विद्याने अठारह द्वीपोंकी जयलक्ष्मीको पृथक्-पृथक् जीतनेके लिए मानो अठारह संख्याको प्राप्त किया है । अथवा—दूध-दही आदिके[१] अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त, नलकी रसनाग्रनर्तकी पाकशास्त्रविद्याने········ । अथवा—द्यूत व्यसनी होने से बहुत बोलने वाले नल की रसनाग्रनर्तकी द्यूतविद्या दुआ-तिआ-चौका-पञ्जा तथा चार उङ्घीयक (२+३+४+५+४ = १८) रूप गुणोंसे विस्तारको प्राप्त अठारह द्वीपोंकी जयश्री········ । अथवा— त्रयीका उद्धाररूप अथर्ववेद, व्याकरण आदि ६ वेदाङ्ग, गुण अर्थात् आठ अप्रधान पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्र-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र; तथा ऋक्-यजुः सामवेद (१+६+८+३ = १८) इन अङ्गगुणोंसे विस्तारको प्राप्त इस नलकी जिह्वाग्रनर्तकी विद्या······ । पूर्वश्लोकोक्त १४ विद्या तथा आयुर्वेद धनुर्वेद-गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र (१४+४=१८) ये अठारह विद्याएँ नलके जिह्वाग्रपर सर्वदा निवास करती थीं और इन्होंने अठारहों द्वीपोंको भी जीत लिया था; इस प्रकार नल परस्परविरोधिनी श्री और सरस्वती दोनोंके आश्रय थे] ॥ ५ ॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

अथास्य देवांशत्वमाह–दिगीशेति । दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः । तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीरि'ति । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः । दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते । कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः । कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः । निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावत-

---

१. तदुक्तम्—'दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुगम् ।
मध्वाटविकहविष्यं विदलान्नञ्चेति विज्ञेयम् ॥
कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलञ्चेति ।
अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिसुतया ॥' इति ।

रत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी'ति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम् । द्वयाधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे । एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते । शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकर्मद्वयम् । अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप्सुपे'ति समासः, न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः । अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम् ॥ ६ ॥

(इन्द्रादि) दिक्पाल-समूहके अंशसे विभूतिवाले तथा आठ दिशाओंके स्वामी उस नलने काम (कामदेव, पक्षा०—इच्छा) की प्रबलताको रोकनेवाले तथा अपनेको त्रिनेत्र शिवके अवतारका बोध करानेवाले दो से अधिक शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको धारण किया। [राजा नल सम्पूर्ण दिशाओंके शासक थे और इन्द्रादि दिक्पाल १-१ दिशाके ही शासक थे, अत एव इन्द्रादिमें इस नलकी विभूति थी, अथवा—वचन[1]के अनुसार राजा नल समस्त दिक्पालों के अंशसे ऐश्वर्यवान् थे, ऐसे वे शास्त्ररूप तृतीय नेत्रको ग्रहणकर इच्छाकी प्रबलता अर्थात् मनको शास्त्रविरुद्ध कार्यमें प्रवृत्त होनेसे वैसे रोकते थे, जैसे त्रिनेत्र शङ्कर भगवान्ने तृतीयनेत्रसे कामदेवकी प्रबलताको रोका था। इस प्रकार नल शास्त्रज्ञानद्वारा कामप्राबल्यको रोककर अपनेको शङ्करका अवतार बतला रहे थे। नल शास्त्रज्ञ होनेसे शास्त्रविरुद्ध कार्य करनेसे अपनी इच्छाको सर्वदा रोके रहते थे] ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ? ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥७॥

अथास्य प्रभावं दर्शयति–पदैरिति । अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः—'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थिरीकृते निश्चलीकृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः । यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपिशब्दार्थः, कृशः दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः । तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विनावि'ति विश्वः । दधौ धारयामास । अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत् । किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः, अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

---

१. तदुक्तम्—'सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥' इति (मनु० ५।९६)

इस (नल) के द्वारा सत्ययुगमें (सत्य, अचौर्य, शम, दम रूप, या—तप, दान, यज्ञ, ज्ञानरूप) चार चरणोंसे पुण्यके स्थिर किये जाने पर किसने तपश्चर्या को ग्रहण नहीं किया ? अर्थात् सभीने तपश्चर्याको ग्रहण किया । (अधिक क्या ?) जो एक पैर पर स्थित होकर, अथवा—एक पैरकी कनिष्ठा (सबसे छोटी) अङ्गुलिसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ (अतएव) दुर्बल अधर्म भी तपस्विताको ग्रहण किया अर्थात् तपस्वी हो गया। [सत्ययुगमें उत्पन्न राजा नलने पुण्यको चारो चरणोंसे स्थिर कर दिया था, अतः उस समय सभी लोग तपश्चर्यामें संलग्न थे । यही नहीं, किन्तु धर्मविरोधी अधर्म भी एक चरणसे पृथ्वीपर वास करता हुआ अतिशय दुर्बल होकर तपस्वी बन गया था । यहां पर सत्ययुगमें धर्मकी स्थिति चारो चरणोंसे रहनेपर भी अधर्मकी स्थिति एक चरणसे रहती है, और वह अधर्म अत्यन्त क्षीण रहता है । लोकमें भी कोई तपस्वी एक चरणसे, या—एक चरणकी कनिष्ठा अंगुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ तपश्चर्या करता है तो वह अत्यन्त दुर्बल हो जाता है । 'अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि । प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः ॥' इस वचनमें सत्ययुगादिक्रमसे नल, रामचन्द्र तथा युधिष्ठिर का वर्णन होनेसे नलकी स्थिति सत्ययुगमें ही सिद्ध होती है, तथापि कतिपय विद्वान् उनकी स्थिति त्रेतायुगमें मानते हैं, तदनुसार इस श्लोकका अर्थ ऐसा करना चाहिये—इस नल के द्वारा त्रेतायुगमें भी सुकृति अर्थात् धर्मके चार चरणों द्वारा स्थिर किये जानेपर......। अथवा—त्रेतायुगमें भी चार चरणोंसे स्थिरकर धर्मके सत्ययुग किये जानेपर अर्थात् त्रेतायुगमें भी सत्ययुगके समान धर्मकी स्थिरता करने पर......। प्रथम अर्थ पक्षमें 'सुकृति' शब्दके षष्ठी में 'सुकृतेः' पाठ मानकर 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' वार्तिकसे विसर्गका पाक्षिक लोप करने पर भी उक्त अर्थकी तथा 'सुकृते, स्थिरीकृते' ऐसे सप्तम्यन्त श्लेषकी अनुपपत्ति होनेसे उक्त अर्थके लिये जो 'प्रकाश' कारने 'सुकृतेः' ऐसा सविसर्ग पाठ माना है, वह चिन्त्य है] ॥७॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति–यदित्यादिभिः। अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने'त्यादिना बहुव्रीहिः। मञ्जुशब्दादिमनिच्प्रत्ययः। यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः । सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति भावः । अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति । अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथाच कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

इस (नल) की (दिग्विजय-सम्बन्धिनी) यात्राओंमें, दीप्यमान प्रतापाग्निके धूएँके समान सुन्दर और यहांसे जाकर अमृत-समुद्र अर्थात् क्षीरसागरमें गिरी हुई एवं (गिरनेसे) कीचड़ होती हुई, सेनासे उड़ी हुई धूल चन्द्रमामें कलङ्क हो रही है । (अथवा—अमृतके

समुद्र चन्द्रमामें कलङ्क हो रहा है)। [जब राजा नल दिग्विजयके लिए सेना लेकर यात्रा करते हैं, तब इनकी सेनासे जो धूल उड़ती है, वही क्षीरसमुद्रमें गिरकर कीचड़ बन जाती है और वहांसे उत्पन्न चन्द्रमामें कीचड़ लग जानेसे वही कलङ्करूपसे प्रतीत होती है। इससे राजा नलकी सेनाका अत्यधिक होना तथा समुद्र पर्यन्त विजयी होना सूचित होता है] ॥८॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९ ॥

स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी, यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि'त्यमरः। तया व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वाद्यतेः कर्म्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्त्ति वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः ॥ ९ ॥

शताधिक शत्रुओंने युद्धमें प्रकाशमान धनुषके टङ्कारवाले (या—······टङ्कारको विस्तृत करनेवाले) उस नलके अत्यधिक बाणोंकी असह्य वर्षासे बुझी हुई अपने (शत्रुओंके) तेजरूप अग्निके अङ्गारके समान अयशको फैला दिया। [नल युद्धमें प्रकाशमान धनुषका टङ्कार करते हुए मेघके समान बाणोंको बरसाते थे, उस बाणवृष्टिसे शताधिक नल-शत्रुओंकी प्रतापाग्नि बुझ गयी और उनके कृष्णवर्ण अङ्गारके समान अयश फैल गये। अत्यधिक वृष्टिसे अग्निका बुझना और सर्वत्र उसके काले-काले अङ्गारोंका फैलना उचित ही है। नलने युद्धमें शताधिक शत्रुओंको जीतकर उनके प्रतापाग्निको बुझा दिया था] ॥९॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

अनल्पेति। राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघातीत्यर्थः। 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः। स नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थतेजोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः। ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वादिति भावः। जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति शेषः। नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे। दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः। नीराजनया आरा-

तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज। अत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्य-प्रयोगाद्गम्या। इति व्याचक्षते। तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनये-त्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

(क्षुद्र प्राणियोंको नहीं, किन्तु महाप्रतापी एवं शूरवीर) राजाओंको मारनेवाले तथा बहुतसे जलाये गये शत्रुनगरोंवाली अग्निके समान प्रकाशमान अपने प्रतापोंसे प्रकाशमान भूमण्डलकी प्रदक्षिणाकर स्थित वे (नल) विजयके लिये (पुरोहितोंके द्वारा) की गयी नीराजना अर्थात् आरतीसे शोभते थे।[1] अथवा—उक्तरूप अपने प्रतापोंसे मानों विजयके लिए रचित आरती (पक्षा०—नीराजना = राजाओंका अभाव अर्थात् नाश करने) से प्रकाशमान भूमण्डलकी प्रदक्षिणाकर शोभते थे। अथवा—'प्रदक्षिणी, कृती, अजया, आय = प्रदक्षिणी कृतयजयाय' ऐसा पदच्छेदकर अधिक दक्षिणाशील, अनुचरोंवाले कृतकर्मा, विपक्षराजहन्ता वे नल लक्ष्मीके द्वारा विष्णुके लिए रचित आरतीसे शोभित होते थे, शेष अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। इस पक्षमें नलके अनुचर प्रदक्षिण (अधिक दक्षिणा देनेवाले अर्थात् वदान्य) थे और नल उनसे युक्त होनेसे 'प्रदक्षिणी' (वदान्यतम अर्थात् अत्यधिक दानशील) थे। अथवा—अधिक दक्षिणावाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्ता होनेसे नल 'प्रदक्षिणी' थे। राजाको सर्वदेवांशभूत होनेके कारण विष्णुरूप भी होनेसे लक्ष्मीके द्वारा आरती करना उचित ही है]॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृ-ष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' ॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्यः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्ये-वमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः ॥ ११ ॥

(अतिवृष्टि आदि छः) ईतियोंसे रहित सम्पूर्ण भूतलपर उस (नल) के द्वारा रोकी

---

१. दिग्विजय करते हुए भूमण्डलकी प्रदक्षिणाकर लौटे हुए विजयी नल पुरोहितोंके आरती करनेसे शोभित होते थे।

गयी अतिवृष्टियोंने मानों अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर शत्रुभूत राजाओंको मृगनयनियोंके दृष्टियों (नेत्रों) को नहीं छोड़ा। [राजा नलके राज्यमें कहीं भी अतिवृष्टि आदि ईति नहीं होती थी, अत एव पृथ्वीपर कहीं भी आश्रय नहीं मिलनेसे उन्होंने शत्रुओंकी रानियोंके नेत्रका आश्रय लिया अर्थात् नलने शत्रुओंको मारा, अत एव उनकी स्त्रियां बहुत रोती थीं। लोकमें भी किसीके द्वारा निकाला गया कोई व्यक्ति उसके शत्रुके पास जाकर आश्रय पाता है, तथा अतिवृष्टिरूप स्त्रियोंके लिए मृगनयनियोंकी दृष्टि रूप स्त्रियोंके पास आश्रय पाना उचित ही है]॥ ११॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ ११ ॥

सितांश्विति। महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा वायदण्ड' इत्यमरः। तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतेः क्वनिष्प्रत्ययः। 'वनोर चे'ति ङीप् रश्च। तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयनसाधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः। 'माकु' इति प्रसिद्धा, रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम्। 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छादनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान। साङ्गरूपकमलङ्कारः। संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः ॥ १० ॥

उस (नल) के योद्धाओंकी (या—उस प्रसिद्ध नलके योद्धाओंकी) चतुरतारूपिणी तथा विशाल तलवाररूपिणी वेमाका साथ करनेवाली तुरी संग्रामाङ्गणमें चन्द्रवत् स्वच्छ नलके गुणों (पक्षा०—सूतों) से दिशारूपिणी स्त्रियोंको ढकनेवाले यशोरूपी बड़े कपड़े को बुनती थी। [नलके योद्धाओंकी चतुरतासे संग्राममें तलवारोंके प्रहारसे शत्रु मरते थे तो नलका यश दिगन्ततक फैलता था]॥ १२॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

प्रतीपेति। प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरण-धर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्रय-भेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्झिता त्यक्ता किम्? यत् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः। अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक्। 'राजानश्चारचक्षुष' इति, 'चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक् स कथं

चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपिर्वि-रोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १३ ॥

विरोधी राजाओं के समान परस्पर विरोधी स्वभावोंने भी उस नलके भयसे भेदभाव को छोड़ दिया क्या ?। जो नल अमित्रजित् (शत्रुओंको जीतनेवाले) होकर भी मित्रजित् (मित्रोंको जीतनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—अपने प्रतापसे सूर्यको जीतनेवाले) थे तथा चारदृक् (गुप्तचरोंके) द्वारा (कार्यकलापको देखनेवाले) होकर भी विचारदृक् (गुप्तचरोंके द्वारा नहीं देखनेवाले, विरोध परिहार पक्षमें—विचारसे देखनेवाले अर्थात् विचारपूर्वक कार्य करनेवाले) थे। [जो नल मित्रजित् थे, उनका अमित्रजित् (मित्रजित् नहीं) होना तथा जो चारदृक् थे, उनका विचारदृक् (चारदृक् नहीं) होना अर्थ करके विरोध आता है; अतः उसका परिहार 'जो नल प्रभावसे सूर्यको जीतनेवाले थे, वे शत्रुओंको भी जीतनेवाले थे और जो चारदृक् (दूतोंके द्वारा कार्योंको देखनेवाले) थे, वे विचारदृक् (विचारपूर्वक कार्योंको देखनेवाले) थे, अर्थ के द्वारा करना चाहिये] ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १४ ॥

तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशः तस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छत्रं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनां अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदितिभावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्य्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रति-षेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रति-षिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्य्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

'उस नलके प्रताप तथा यशके रहनेपर ये दोनों (सूर्य तथा चन्द्रमा) व्यर्थ हैं, इस प्रकार ब्रह्मा मनमें जब-जब विचारते हैं, तब-तब सूर्य तथा चन्द्रमाके परिवेष (कभी-कभी सूर्य तथा चन्द्रमामें दृष्टिगोचर होनेवाला गोलाकार घेरा) के छलसे (व्यर्थता-सूचक) कुण्डलना बना देते हैं। [लोकमें भी कोई व्यर्थ वस्तु लिखी जाती है तो उसको चारों ओरसे घेर देते हैं। नलके प्रताप तथा यशको सूर्य-चन्द्राधिक समझकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माको, सूर्य-चन्द्रको घेरकर व्यर्थ माननेकी उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽलिपतकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥१५॥

अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति-अयमिति, विभज्येति चाअल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्,दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादपः कल्पतरुः वाञ्छितफलप्रदः वृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः। अयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधस इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्र-शब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्यादि-प्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

(अब नलकी दानवीरताका वर्णन करते हैं) 'यह दरिद्र होगा' इस प्रकार याचक-लोगोंके ललाटमें लिखे गये ब्रह्माक्षरको, (याचनासे भी अधिक दान देनेके कारण) कल्प वृक्षको भी तुच्छ करनेवाले राजा नलने उन याचकोंकी दरिद्रताकी दरिद्रता करके व्यर्थ नहीं किया, (अथवा—व्यर्थ नहीं किया ? अर्थात् व्यर्थ कर ही दिया)। [राजा नल याचककी अभिलाषासे भी अधिक दान देनेवाले थे, अत एव उनके राज्यमें कोई भी दरिद्र नहीं था] ॥ १५ ॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराशिरःस्थितम् ॥ १६ ॥

विभज्येति । मेरुः हेमाद्रिःविभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः। अर्थिने देयमिति 'देये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः। सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफाल-बद्धाःद्वयोः फालयोःशिरःपार्श्वयोः बद्धा रचिता इति यावत्, फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्य-यः। विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरो-रुह' इत्यमरः। शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकी-र्त्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः। अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः। अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णत्वेन वर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

(प्रकारान्तरसे अधिक दानवीरताका पुनः वर्णन करते हैं— । 'जो मैंने सुमेरु पर्वतको विभक्तकर याचकोंके लिए नहीं दे दिया और दानके सङ्कल्पजलसे समुद्रको मरु-

स्थल नहीं बना दिया' इस प्रकारके दोनों ओरके काकपक्ष (बँधे हुए केशकलाप) रूप मेरे दो अपयश शिरपर स्थित हैं ऐसा उस नलने माना । [अपयशका काला एवं शिर पर स्थित होना लोकप्रसिद्ध है । दो काकपक्षको उक्तरूप दो अपयश होनेकी कल्पना की गयी है] ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा[1] समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह–अजस्रमिति । दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः । अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः । कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण च बुधेन विदुषा धर्म्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः । समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिदिनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास । अत्र श्लेषालङ्कारः ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् , सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा नल निरन्तर अभ्यास करनेवाले कवि तथा पण्डित (काव्यरचयिता तथा व्याकरणज्ञाता) के साथ हर्षपूर्वक समयको व्यतीत करते हुए प्रतिदिन समृद्धिको उस प्रकार प्राप्त कर रहे थे, जिस प्रकार निरन्तर समीपमें स्थित शुक्र तथा बुध नामक ग्रहद्वयके साथ समयको व्यतीत करते हुए तेजस्वी सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त करते हैं । [सूर्यके समीपमें शुक्र तथा बुध ग्रहका सर्वदा रहना ज्योतिःशास्त्र में वर्णित है] ॥ १७ ॥

अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु धानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

अध इति । कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्म्मभूतयोः अधोविधानात् अधः करणात् न्यक्करणादिति यावत् । तथा अखिलानां सर्वेषां क्ष्माभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः । 'यावत् पुरा निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट् । इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम् ? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः । सौन्दर्य्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः ॥ १८ ॥

(अब सामुद्रिक लक्षणका वर्णन करते हैं—) 'यह (नल चरण) कमल तथा प्रवाल (मूंगा, या नवपल्लव) को नीचा करनेसे और समस्त राजाओंके शिरपर रखे जानेसे

---

१. '—मभ्याश—' इति पाठान्तरम् ।

ऊपर (उन्नत) होगा' यह विचारकर ब्रह्माने इस (नल) के चरणको (जन्मकालसे) पहले ऊर्ध्वगामिनी रेखासे चिह्नित कर दिया है क्या ? (अथवा—'''पहले ऊपर होगा' यह विचारकर'''''')। [नलके चरणमें सामुद्रिक लक्षणके अनुसार शुभसूचक ऊपरकी ओर जाने वाली रेखाएँ थीं]॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९॥

अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति–जगदित्यादिभिः । अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः । कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान् । अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः, वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत् । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

(अथ यौवनावस्थाके आरम्भ होनेका वर्णन करते हैं—) बाल्यावस्था शेष (समाप्त) है जिसकी ऐसे अर्थात् सोलह वर्षकी अवस्थावाले इस नलने संसारके विजय तथा उससे कोष (खजाने) को अक्षय कर दिया, अनन्तर इनके शरीरको युवावस्थाने इस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार वनको कामदेवका मित्र अर्थात् वसन्त ऋतु प्राप्त करता है। (बाल्यावस्था पूरा होते-होते ही नलने संसार पर विजय प्राप्तकर राज्यको निःसपत्न बना लिया तथा उस विजयसे कोषको भी भरपूर कर लिया, वास्तविकमें जगद्विजय करना ही इनका मुख्य लक्ष्य था, कोषपूर्ति करना तो आनुषङ्गिक कार्य था; क्योंकि इनकी दानवीरता तथा कोषका भरपूर रहना पहले ही कहा जा चुका है। युवावस्थाके आरम्भ होनेसे शरीर-सौन्दर्यकी वृद्धि होना सूचित होता है)॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ? ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अधारीति । तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः । अधारि धृता । पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः । तस्य छाया तच्छयच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम् । तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः । शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः । सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः । पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः । 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालाट्ठञस्तद्धित इति टिलोपः । स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः । तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां योग्यतां न गतः न प्राप्तः । एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते । अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

(अब नलकी शरीरशोभाका वर्णन आरम्भ करते हैं—) उस (नल) के चरणने पद्मोंमें घृणा (या—दया) की, (क्योंकि उनमें पद अर्थात् नल-चरणसे (या—नल-चरणकी) शोभा थी, या—वे पद्म नलचरणमें रेखारूपमें स्थित थे, अतः 'इन पद्मोंने मुझसे शोभा प्राप्त की है ! इस कारण मदपेक्षा हीनश्री इनके साथ मुझे स्पर्द्धा करना उचित नहीं है' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंमें घृणा की, या—'ये पद्म रेखारूपमें मुझमें ही स्थित अर्थात् मेरे ही आश्रित हैं' यह समझकर नल-चरणने पद्मोंपर दया की (अपनेसे हीनके साथ घृणा करना तथा अपने आश्रितपर दया करना नल-चरणके लिए उचित ही था)। पल्लवमें उस (नल) के हाथकी कान्तिका लेश (थोड़ा-सा अंश) भी कहां था ? अर्थात् नहीं था, (क्योंकि वह पल्लव (नल-चरणके लेश अर्थात् अल्पतमांशवाला) था, अत एव जिस पल्लवमें नल-चरणका लेश था वह भला उनके हाथकी कान्तिके लेशवाला कैसे हो सकता था ? अर्थात् हीनाङ्ग चरणका लेशवाला श्रेष्ठाङ्ग हाथकी कान्तिका लेशवाला कदापि नहीं होता)। तथा शरत्कालीन पूर्णिमाका चन्द्रमा उस (नल) के मुखके दासत्वका अधिकारी भी नहीं हुआ (तो भला नलके मुखकी समता कैसे करता ? क्योंकि चन्द्रमा शरत्काल एवं पूर्णिमाके योगसे रमणीय हुआ था, वह भी केवल एक दिनके लिये और वह सोलह ही कलाओंसे पूर्ण था; किंतु नल-मुख स्वत एव बिना किसीके योग (सहायता) से सर्वदा के लिए रमणीय एवं चौंसठ कलाओंसे युक्त है, अतः उस हीन चन्द्रमा का श्रेष्ठतम नल-मुखकी समानता करना तो असम्भव ही था, उसे नलके दासत्वके योग्य भी नहीं होना उचित ही था (क्योंकि रमणीयतम नायकके लिये रमणीय ही दासका होना उचित होता है)। [नलके चरण कमलसे, हाथ नवपल्लवसे तथा मुख शरत्कालीन पूर्णिमाके चन्द्रमासे भी अत्यधिक सुन्दर थे]॥ २० ॥

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥ २१ ॥

किमिति । विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः लेखाभिः न अजीगणत न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः । तथा जगत्कृता स्रष्ट्रा विधिनेत्यर्थः । रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषं व्याजः तस्मात् । दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखाः न कृताः किम् ? अपि तु कृता एवेत्यर्थः । अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः । अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्वदूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

ब्रह्माने रोमोंके कपट (बहाने) से साढ़े तीन करोड़ रेखाओंसे इस (नल) के गुणों को नहीं गिना क्या ? अर्थात् अवश्य ही गिना, और जगत्सृष्टिकर्ता ब्रह्माने साढ़े तीन करोड़ रोमकूपोंके कपटसे इस (नल) के दोषाभाव-बिन्दुओंको नहीं किया क्या ? अर्थात्

अवश्य ही किया। [अत्यधिक सङ्ख्यावाली वस्तुओंको गिनते समय विस्मरण नहीं होनेके लिए रेखाओं द्वारा गिनना तथा अभावसूचक स्थानों पर गोलाकार शून्यबिन्दुओंको रखना लोकव्यवहारमें भी देखा जाता है; अतएव नलके शरीरमें ये रोम नहीं हैं, किन्तु इन नलके गुण हैं तथा ये रोमकूप नहीं हैं, किन्तु दोषाभावसूचक शून्य-बिन्दु हैं। नलमें बहुसङ्ख्यक गुण थे तथा दोष कोई भी नहीं था। 'तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।' इस वचनके अनुसार मानव-शरीरमें साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं तथा 'रोमैकैककं कूपके पार्थिवानाम्' इस कथनके अनुसार राजाका प्रत्येक रोम एक-एक रोमकूपमें होता है]॥ २१॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कवाट[1]दुर्धर्षतिरःप्रसारिता॥ २२॥

अमुष्येति। अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः। दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः। उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः। स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अप्रधृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः। गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम्? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति। दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः॥ २२॥

इस (नल) के बाहुद्वयने शत्रुओंके दुर्गों (किलों) को लूटनेमें मानो आगल (किवाड़की किल्ली) की विशालता तथा स्थूलताको प्राप्त कर लिया तथा वक्षःस्थलकी शोभाने मानो (शत्रुओंके) नगरद्वारपर स्फुरित होते हुए किवाड़की दुर्धर्षता एवं विशालता को प्राप्त कर लिया। [नलके बाहुद्वय आगलके समान लम्बे एवं मोटे थे तथा छाती किवाड़के समान विशाल चौड़ी एवं कठोर थी। इससे नलका आजानुबाहु एवं विशाल वक्षःस्थल वाला होना सूचित होता है]॥ २२॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे॥२३॥

स्वकेलीति। स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निन्दितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः। निजांशः स्वावयवः या दृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं

---

१. '—कपाट—' इति पाठान्तरम्।

येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः। प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः। अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे–'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३.॥

अपनी क्रीड़ाके लेशमात्र स्मितसे चन्द्रमाको निन्दित करनेवाले तथा अपने अवयवभूत नेत्रसे कमलशोभाको तिरस्कृत करनेवाले नल-मुखकी उपमा उन दोनों (चन्द्रमा तथा कमल) की शोभाको जीतनेवाले दूसरे किसी वस्त्वन्तरसे शून्य संसारमें नहीं थी। [नलके मुखने अपनी क्रीडापूर्वक मन्द मुस्कानसे चन्द्रमाको जीत लिया तथा उस मुखके एक भाग (नेत्र) ने कमलशोभाको जीत लिया, अतएव उस नलके मुखकी उपमा संसार भरमें कोई नहीं थी, क्योंकि उक्त प्रकारसे नलमुखके द्वारा जगत् में सर्वसुन्दर चन्द्रमा तथा कमल पराजित हो चुके थे और दूसरी कोई सुन्दर वस्तु उन (चन्द्रमा तथा कमल) को जीतनेवाली जगत्में थी ही नहीं, जिसके साथ नल-मुखकी उपमा दी जाय। उपमेय की अपेक्षा उपमान पदार्थके श्रेष्ठ होनेपर उपमा दी जाती है, और ऐसा कोई पदार्थ था नहीं, जो नल-मुखसे अधिक सुन्दर होकर उपमान हो सके, अतएव नल-मुख अनुपम था] ॥ २३ ॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी[1] तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह–सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः। परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः। अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्य्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

(पुनः उसी बातको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) कमलको उस (नल) के मुखने ही जीत लिया तथा चन्द्रमाकी शोभाओंको (नलकी) मुस्कानने ही जीत लिया, (अतः कमल तथा चन्द्रमासे भिन्न दूसरा कोई सुन्दर पदार्थ कहांसे मिले? अर्थात् कोई पदार्थ सुन्दर नहीं है) आश्चर्य है कि उस (नल) के मुखकी उपमाकी बड़ी भारी कमी पड़ गयी ॥ २४ ॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्स्वयञ्चमर्येव तुलाभिलाषिणः।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात ॥ २५ ॥

१. 'महीयसाम्' इति पाठान्तरम्।

स्वबालेति । चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः । क्वचित्तदभावे नञ्समासो दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः । [1]अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे-'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥

उस (नल) के मस्तकके केशोंके साथ समताको चाहने वाले अपने बाल (केश) समूहके अपराधाभावके लिए चमरी गाय ही बार-बार पूँछको हिलानेके कपटसे बालकी चपलताको कहती है । [चमरी गायके बाल अर्थात् केश नलके शिरके बालोंके साथ समानता चाहते थे, किन्तु तुच्छ होकर श्रेष्ठ नल-शिरःस्थ बालके साथ समता करना उनका बड़ा अपराध है, इसलिये चमरी गाय बार-बार पूँछको हिलाकर नलसे मानो यह कह रही हैं कि उन्होंने वाल (बच्चे) की चपलता की है, अत एव बच्चेके चपलता करनेपर उसका अपराध नहीं मानना चाहिये । लोकमें भी बच्चेके अपराध करने पर उसकी माता बच्चेकी चपलता कहकर उसके अपराधको क्षमा करनेके लिए प्रार्थना करती है । नलके मस्तकके केश चमरी गायके केश-समूहसे भी सुन्दर एवं मृदु थे] ॥ २५ ॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

महीभृत इति । तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्त्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत् । अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

उस राजा (नल) की कामदेव-कान्तिसे तथा उस (नल) के प्रति अभिलाष होनेसे लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको उस (नल) के विषयमें दो प्रकारका विभ्रम (विशिष्ट भ्रान्ति, पक्षा०—विलास) हुआ । [सुन्दरियोंको कामदेवकी शोभा होनेसे नलमें 'यह कामदेव है' ऐसा विशिष्ट भ्रम हुआ तथा उनके प्रति कामाभिलाष होनेसे कटाक्षादिरूप विलास हुआ । लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको विभ्रम होना सामान्य रूपसे कहनेके कारण पतिव्रता स्त्रियोंको नलके प्रति कामाभिलाष नहीं होनेपर भी कोई दोष नहीं होता, अथवा—'लोकत्रयोत्पन्न सुन्दरियोंको कामदेवकान्तिसे ही उस राजा नलमें कामदेवका विशिष्ट भ्रम

१. 'अत्र पुच्छविलोलनच्छलशब्देनापह्नुता बालवालयोरभेदाध्यवसायेन बालचापलत्वारोपादपह्नवभेदः' इति जीवातुः, इति म० म० शिवदत्तशर्माणः ।

हुआ तथा पतिव्रताओंके अतिरिक्त स्त्रियोंके चित्तमें नल के प्रति कामाभिलाष होनेसे विलास हुआ' ऐसा अर्थ कर उक्त दोषका निराकरण करना चाहिये। नल कामदेवके समान सुन्दर थे] ॥ २६ ॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥ २७ ॥

निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषयेत्यर्थः । दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः। यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः, अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति । तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

देवाङ्गनाओंने निमेषरहित दृष्टिसे उस (नल) को अच्छी तरह देखकर जिस अभ्यासाधिक्यको सम्यक् प्रकारसे प्राप्त किया, उस अभ्यासाधिक्यको वे (देवाङ्गनाएँ) अब भी निमेषरहित नेत्रोंसे प्रकट करती हैं। [देवाङ्गनाओंके स्वतःसिद्ध निमेषाभावके नलदर्शनके अभ्यासाधिक्यसे उत्पन्न होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है। अधिक अभ्यस्त कार्यका बहुत समयके बाद भी विस्मरण नहीं होना स्वभावसिद्ध है] ॥ २७ ॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

अद इति । चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पन्नग्य इत्यर्थः । अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः । अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः । तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः । अत एव अफलञ्च, इति हेतोः । तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

'हमलोगोंके ये दोनों नेत्र उस (नलके चरित आदि) को सुनकर सफल जीवनवाले हो गये किन्तु उस (नल) को देख नहीं सके' इस प्रकार चक्षुःश्रवा (साँपों) की प्रियायें अर्थात् नागाङ्गनाएँ हृदयसे क्रमशः अपने दोनों नेत्रोंकी प्रशंसा तथा निन्दा करती हैं। (नागाङ्गनाएँ नेत्रोंसे ही सुननेके कारण नलचरितको सुनकर अपने नेत्रोंकी हृदयसे प्रशंसा करती हैं और स्वयं पातालमें रहनेके कारण मर्त्यलोकवासी नलको नहीं देखनेसे उन नेत्रोंकी निन्दा भी करती हैं) ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

विलोकयन्तीभिरिति । अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं

तत्र भावनायामिति भावः । निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलवोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः । 'विभाषा चिण्णमुलौ' इति मुमागमः । मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्या अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

सतत भावनावश नेत्रोंको बन्द करनेपर भी इस नलको देखती हुई मर्त्याङ्गनाओं (मृत्युलोकवासी सुन्दरियों) ने इस (नल) को देखनेके विषयमें निमेषकृत (पलक गिरनेसे) लेशमात्र भी विघ्नको नहीं प्राप्त किया। [मानवी स्त्रियां निरन्तर नलकी ही भावना करती थीं, अतएव वे पलक गिरनेसे नेत्रोंके बन्द होनेपर भी सतत भावनावश नलको देखती ही थीं, इस प्रकारसे उनको पलक गिरनेसे भी नलको देखनेमें लेशमात्र भी विघ्न नहीं हुआ) ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ? ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ? ॥ ३० ॥

नेति । का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः । का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः । का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्त्ते'त्यमरः । स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

(अब पतिव्रताओंको छोड़कर अन्य मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा स्त्रियोंका नलमें अनुराग कहते हैं—) किस (मुग्धा) स्त्रीने स्वप्नमें प्राप्त नलको नहीं देखा ? अर्थात सबने देखा, किस (मध्या) स्त्रीने गोत्रस्खलन (पतिके नामके स्थानपर भ्रमवश पुरुषान्तरका नामोच्चारण होने) में नलके प्रति नहीं कहा अर्थात् सबने अपने पतिका नाम लेनेकी इच्छा रहते हुए भी निरन्तर नलकी भावना करते रहनेसे नलके ही नामका उच्चारण किया और नलरूपसे पतिका ध्यान करनेवाली किस (प्रगल्भा) स्त्रीने रतिकाल में अपने में कामकी उत्पत्ति (रति) नहीं की ? अर्थात सबने की ॥ ३० ॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥ ३१ ॥

श्रियेति । तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति धियेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः । ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः गृहीतः दर्पणःभैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः। कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या श्वासेन दुःख-

निश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः । न कृतः ? अपि तु सर्वयैव कृत इत्यर्थः । सौन्दर्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करघृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

(अब अन्य स्त्रियोंको नलके अयोग्य बतलाते हुये दमयन्तीका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) नलको (चित्रमें) देखकर 'शोभासे मैं इस (नल) के योग्य हूँ' (ऐसा मनमें विचारकर) अपनेको देखनेके लिये हाथमें पकड़े गये दर्पणको, दमयन्तीके अतिरिक्त सौन्दर्याभिमानरहित किस सुन्दरीने श्वाससे मलिन नहीं कर दिया ? अर्थात् सभीने किया । [सुन्दरियोंने नलको चित्रमें देखकर 'उनके योग्य मैं भी सुन्दरी हूँ' ऐसा सोचकर हाथमें दर्पण ग्रहण किया, किन्तु दर्पणोंमें अपने सौन्दर्यको नलसे तुच्छ देखकर उनका पूर्वाभिमान नष्ट हो गया तथा दमयन्तीके अतिरिक्त खेदसे श्वास लेती हुई सभी सुन्दरियों ने उस दर्पणको मैला कर दिया] ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु भोग[1]भोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्[2]भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥ ३२ ॥

एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्यतदनुरागमुक्त्वासम्प्रतिदमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति–यथेति । मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः । उह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम् । अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः। पत्तनं नगरं शोणितपुरमिति यावत् । प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः'। उषाहरणे विष्णुपुराणात् । तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्या मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन ऊह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक् । वेशितः प्रवेशितः । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृता वहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः । पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखामवदत् । सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तया समगमयत् । कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया। अत्र

---

१. 'भोगिभोजिना' इति पाठान्तरम् ।

२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः–'अत्र यथोह्यमानो मनोनल इति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । श्लिष्टविशेषणा चेयमुपमा । सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सङ्करः' इति जीवातुः, इत्याहुः ।

यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः । तदनुप्राणिता उपमा च, सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः ॥ ३२ ॥

(अब नलमें दमयन्तीके मनोभिलाषका वर्णन करते हैं—) जिस प्रकार सर्पभक्षी पक्षी अर्थात् गरुडसे ढोया जाता हुआ प्रद्युम्न बलपूर्वक विरोचन-पौत्र (अर्थात् बलि-पुत्र = बाणासुर) के अग्निसे व्याप्त (शोणितपुर नामक) नगरमें प्रविष्ट हुआ था, उसी प्रकार भोग-विलासकारी यौवन अवस्थासे प्राप्त कामदेव (कथाप्रसङ्गोंमें तथा वन्दि-चारणादिके मुखसे सुने गये एवं चित्रादिमें देखे गये) नलसे आक्रान्त अर्थात् आकृष्ट दमयन्तीके मनमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—बलिपुत्र बाणासुरकी पुत्री 'उषा' ने स्वप्नमें प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको देखकर जागनेके बाद स्वप्नवृत्तान्तको 'चित्रलेखा' नामकी अपनी सखीसे कहा । योग-पण्डिता चित्रलेखाने उसी रातको योगबलसे द्वारकापुरीमें जाकर सोते हुए अनिरुद्धको लाकर उसके साथ सङ्गम करा दिया । कुछ समयके बाद नारद मुनिसे बाणासुरके द्वारा अनिरुद्धके रोके जाने का समाचार पाकर अनिरुद्धको छुड़ानेके लिए बलराम तथा प्रद्युम्नके साथ श्रीकृष्ण भगवान् गरुड़पर चढ़कर शोणितपुर नामकी बाणासुरकी अग्नि-परिवेष्टित नगरीमें गये । यह कथा विष्णुपुराणमें है ।

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना[1] मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ ३३ ॥

इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्थामाह—नृप इत्यादि । सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे बहुशः। 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्ययः। श्रुतिं श्रवणं गते एतेन श्रवणानुराग उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम् एकस्यैव विधेये शिवभागवतवत् समासः ।'प्रियवशे वदः खच्', 'अरुर्द्विषदि'-त्यादिना तस्य मुम् । मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

राजाधिराज भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने (चारण-वन्दी आदिके मुखसे एवं कथादि-प्रसङ्गमें) अनेक बार सुने गये तथा अपनी रूप-सम्पत्तिके योग्य उस राजा (नल) में मनको विशेषरूपसे कामाज्ञाका वशंवद बना दिया अर्थात् दयमन्तीका मन उक्तरूप नलमें कामके वशीभूत हो गया ॥ ३३ ॥

उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

---

१. '—नन्दिनी' इति पाठान्तरम् ।

अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि । सा भमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः । वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः । नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताभूदित्यर्थः । रञ्जेर्दवादिकाल्लट् । अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः । जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः । नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः ॥ ३४ ॥

(अब चार (१।३४–३७) श्लोकों में दमयन्तीके नल-विषयक श्रवणानुराग नामक सात्त्विक भावका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती पिताकी सेवामें उपस्थित होकर प्रतिदिन वन्दियोंके (नृपस्तुतिके) अवसरोंमें अनुरक्त होती थी तथा उनके प्रत्येक राजाओंकी स्तुति करते रहनेपर नल (की स्तुति) को सुनती हुई (हर्षाधिक्यके कारण) रोमाञ्चयुक्त हो जाती थी ॥ ३४ ॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥ ३५ ॥

कथेति । मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः । अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि । 'भुवो भावे' लङ् । अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः ॥ ३५ ॥

आपसमें बातचीतके अवसरोंपर सखीके मुखसे तृण-(नरसल) के विषयमें भी 'नल' का नाम सुनकर कृशाङ्गी (वह दमयन्ती) तत्काल अन्य कथा (या—कार्य) छोड़कर ('यह सखी मेरे प्रियतम 'नल' की चर्चा कर रही है' ऐसा जानकर) उस कथाको सुननेमें कानोंको सावधान कर लेती थी अर्थात् उस सखी-वर्णित नल-चर्चाको ही सावधान होकर सुनने लगती थी ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

स्मरादिति । परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचनान्निश्चलाक्षाद्देवादिति च गम्यते । उभयथापि भयहेतूक्तिः । तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्'। अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः । स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल

उदाहृतेऽनुतर्ष श्रृणोतीति रागातिरेकोक्तिः । 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ॥ ३६ ॥

'मरे हुए (अत एव) निमेष-हीन नेत्रवाले कामदेवसे मैं डरती हूँ, इस कारण दूसरा उदाहरण दो' ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने तरुणकी प्रशंसा करते हुए (सखी, या—वन्दी) लोगोंके द्वारा कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कराया। [कामदेव देवता होनेसे निमेषहीन है, उसे यहां मरा हुआ कहकर निमेष-हीन होने तथा उससे डरनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, क्योंकि मरे हुए व्यक्तिका नेत्र भी निमेष-हीन हो जाता है तथा उससे लोग डरते भी हैं। अथ च-जब कोई राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति मर जाता है, तब उसके स्थानपर नये विशिष्ट व्यक्तिका अभिषेक कर स्थापित किया जाता है, यहाँ मृत कामदेवके स्थानपर नलको अभिषिक्त कर स्थापित किया गया है। किसी तरुणकी प्रशंसा करते हुए लोग जब सुन्दरतामें उसके साथ कामदेवकी उपमा देते थे, तब वह दमयन्ती उक्त प्रकारसे डरनेकी बात कहती थी और वे लोग कामदेवके समान दूसरे किसीके नहीं होनेसे उस युवकके साथ नलकी उपमा देते थे] ॥ ३६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथा[१]मथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥३७॥

नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूता सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान् पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः । अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्त्तिकथां नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः । चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः शानजादेशः । तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट् । अयञ्च दूतादिव्यवधानेन गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः ॥ ३७ ॥

निषध देशसे आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, वन्दियों तथा चारणोंसे वह दमयन्ती (उस देशका राजा कौन है ? प्रजापालन कैसा करता है ? उसमें कौन-कौन गुण हैं ? इत्यादि) बहानेसे नलके गुणोंको पूछती थी (इसके बाद उनसे वर्णित) नलकी कीर्ति-कथा (पाठा० कीर्ति-अमृत) को अच्छी तरह पान कर अर्थात् सुनकर (ऐसे अत्यधिक सद्गुणोंसे युक्त राजा नलको मैं किस प्रकार प्राप्त कर सकूंगी ? इस भावनासे) चिरकालतक उदासीन रहती थी [अथवा—(ऐसे अत्यधिक सद्गुणसम्पन्न राजा नलके प्रति मेरा अनुराग हुआ है, अत एव उन्हें पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊंगी, इस भावनासे) चिरकालतक आनन्दित होती थी । इस अर्थमें 'तस्थे+अविमनायमानया' पदच्छेद करना चाहिये] ॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।

---

१. '—सुधा—' इति पाठान्तरम् ।

इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागश्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह–प्रियमिति । सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य जयिनी लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

(अब दर्शनानुरागके वर्णन प्रसङ्गमें प्रतिकृति-दर्शनका वर्णन करते हैं—) वह दमयन्ती, 'लोकत्रय-विजयिनी सुन्दरतावाले किसी प्रिय तथा प्रिया अर्थात् स्त्री-पुरुषको विलासगृहकी दीवालपर लिखो' ऐसा कहनेपर चित्रकारसे लिखे गये अपने तथा नलके रूप-साम्यको देखती थी । [उक्त कथनसे पुरुषोंमें नलकी तथा स्त्रियोंमें दमयन्तीकी सुन्दरताका तीनों लोकोंमें सर्वाधिक श्रेष्ठ होना सूचित होता है] ॥ ३८ ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क सा न स्वपती स्म पश्यति ।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

मनोरथेनेति । मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम् अभूततद्भावे च्वौ दीर्घः । स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती । तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः । अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३९ ॥

सोती हुई वह दमयन्ती अभिलाषके द्वारा अपने पति बनाये गये नलको किस रातमें नहीं देखती थी ? अर्थात् प्रत्येक रातमें वह नलको स्वप्नमें देखती थी, क्योंकि स्वप्न पहले नहीं देखे गये पदार्थको भी पूर्वजन्मकी भावनासे मनुष्यको दिखला देता है । [यद्यपि दमयन्तीने नलको पूर्व श्लोक (१।३८) के अनुसार चित्रादिमें देखा था, तथापि प्रत्यक्षमें नहीं देखनेके कारण इस श्लोकके उत्तरार्द्धके साथ कोई विरोध नहीं होता] ॥३९॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः । हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छती'त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम् । अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह

एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव । तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—कदाप्यवीक्षित इति । अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः । अस्यै भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । यथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

निद्राने वन्द हुए नेत्रद्वयसे तथा बाह्येन्द्रिय (नेत्रद्वय, या—अन्यान्य नेत्र-कर्णादि इन्द्रियों) के अपने विषयको ग्रहण करने (देखने या—देखने, सुनने आदि) में मौन होनेसे बन्द अर्थात् अपने विषयोंको सोनेके कारण ग्रहण नहीं करते हुए हृदयसे भी छिपाकर, कभी नहीं देखे गये अतिशय रहस्यरूप प्रसिद्धतम राजा नलको इस दमयन्ती के लिए दिखला दिया । [जिस प्रकार किसी अदृष्टचर अद्भुत रहस्यको कोई आप्त व्यक्ति दूसरोंसे छिपाकर किसी एक आप्ततम व्यक्तिके लिए दिखला देता है, या—कोई सुचतुरा दूती किसी प्रियतम नायकको दूसरोंसे छिपाकर नायिकाके लिए दिखला देती है; उसी प्रकार निद्राने भी कभी नहीं देखे गये एवं अतिशय रहस्यभूत उस प्रसिद्धतम राजा नलको उक्तरूप नेत्रद्वय तथा हृदयसे भी छिपाकर दिखला दिया अर्थात् दमयन्तीने नलको स्वप्नमें देखा; किन्तु उसके नेत्रद्वयको तथा बाह्येन्द्रिय क्रियाशून्य हृदयको भी पता नहीं लगा] (सुपुप्ति अवस्थामें मनके व्यापारशून्य होनेसे दमयन्तीको किस प्रकार ज्ञान हुआ ? इसका उत्तर यह है कि—स्वप्नके पदार्थ बाह्येन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं, अतएव वे बाह्य भी नहीं हैं, तथा सुखादिके अन्तर्गत नहीं होनेसे आभ्यन्तरिक भी नहीं हैं । इस कारण अदृष्टसहकृत केवल अविद्यावृत्तिरूप सुपुप्तिके विषय हैं अतएव उस सुपुप्ति अवस्थामें आत्माका ही दर्शन होता है, क्योंकि आत्मरूपसे सर्वदा स्फुरण होनेमें कोई बाधा नहीं है । अथवा—नलमें भी दमयन्तीका अनुराग होनेसे उनकी प्राप्तिके विना विषयमात्रसे वैराग्य होनेके कारण सुखकी सम्भावना नहीं होती, और सोकर जगनेके बाद 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी मालूम नहीं पड़ा' ऐसे अनुभवके होनेसे नलके दर्शनके विना दमयन्तीको वैसा अनुभव नहीं हो सकता था, अतएव सुपुप्तिके बाद उस दमयन्तीने 'मेरे मनमें निरतिशयानन्दरूपसे वे नल ही स्फुरित हुए' ऐसा जाना ।) [अब इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं—निद्राजन्य अज्ञानसे, परस्तुतिमें मौन हृदयहीन अर्थात् मूर्खसे और कलियुगसे बहिर्भूत, अत्यन्त गोप्य लक्ष्मीवाले तथा मानके योग्य हे नल ! विष्णु-भक्तोंके सहवासवाले, दुःख देनेवाले (दुष्टों) से नहीं देखे गये अर्थात् दुर्जन-संसर्गसे वर्जित (अतएव) नित्य उत्सववाले तुम मेरे पति होवो । पूर्व जन्ममें नल ही दमयन्तीके पति थे, इन्द्रादि पति नहीं थे, अतएव इन्द्रादिका त्याग कर दमयन्तीको नलसे ही उक्त रूप प्रार्थना करना उचित था] ॥ ४० ॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥ ४१ ॥

अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्त्तुपूर्त्तावपि ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत्। बिभराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम्प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः॥४१॥

कामपीडित उस दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमें भी दिन बड़े होने लगे तथा ग्रीष्म ऋतुकी पूर्णता होनेपर भी रात्रियाँ बड़ी हो गयीं, यह आश्चर्य है। [हेमन्त ऋतुमें दिन तथा ग्रीष्म ऋतुमें रात्रि यद्यपि छोटी होती थीं, तथापि कामपीडित उस दमयन्तीके लिए वे बड़ी प्रतीत होती थीं] ॥ ४१ ॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

स्वेत्यादि। अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अशृणोत्। अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ४२ ॥

(अब दमयन्ती-विषयक नलानुरागका वर्णन करते हैं—) अपने अर्थात् दमयन्तीके (या—नलके) सौन्दर्य-विषयक कीर्ति-समूहरूप मोतियोंकी मालाके बीचमें (या—नलके मनमें) गुँथनेवाले धागेकी शोभाको प्राप्त करते हुए तथा युवकोंके धैर्यको नष्ट करलेवाले इस दमयन्तीके गुण-समूहको किसी समय नलने भी लोगोंसे सुना। [सौन्दर्य-कीर्तिके शुभ्र होनेसे उसमें मोतीकी कल्पना की गयी है। मुक्तामालाको गुँथनेके लिए बीचके धागेके समान जो दमयन्तीके गुण-समूह थे, वे नलके चित्तमें मालाके समान गुम्फित हो गये। नलने दमयन्तीके गुण-समूहको लोगोंसे सुना]॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम्॥ ४३॥

अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति—तमेवेति। ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्त्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा। तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः। तेन रागोदय उक्तः॥ ४३॥

तदनन्तर (नलकी शरीर-शोभाद्वारा अपनी) शरीर-शोभाके जीते जानेसे मत्सर-

युक्त कामदेव ने उसी अवसरको पाकर शरीरिणी अपनी अमोघ शक्तिके समान उस (दमयन्ती) से नलको जीतना चाहा । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी प्रबल व्यक्तिसे पराजित होकर उसके साथ द्वेष करता हुआ अवसर पाकर अपनी अमोघ शक्तिसे उसे पराजित करनेकी इच्छा करता है] ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रियः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४४॥

अकारीति । तेन क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रियः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुत इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चधैर्य्यव्ययाय उन्नतधैर्य्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

उस राजा (नल) ने भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के आश्रित गुणोंको कान तक पहुँचाया अर्थात् दमयन्तीके गुणोंको सुना तथा उस (नल) के अत्यधिक धैर्यको नष्ट करनेके लिए बाण चढ़ाये हुए कामदेवने प्रत्यञ्चाको अपने कानतक खींचा । [दमयन्तीके गुणोंको सुनकर ही कामपीडित नलका धैर्य नष्ट हो गया] ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥४५॥

अमुष्येति । स स्मरः साहसी साहसकरः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः । अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वीं विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप् । तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपिशब्दार्थः । वृद्धयपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः । अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

उस समय धीर इस (नल) को जीतनेके लिए प्रत्यञ्चाको बाणोंसे युक्त करता हुआ अर्थात् प्रत्यञ्चापर बाणोंको रखता हुआ साहसी (अपनी शक्तिको वास्तविक बलको बिना जाने महान् धीर नलको जीतनेके लिए उद्यत होनेसे विवेकहीन) कामदेवने तीनों लोकोंको जीतनेसे प्राप्त हुए अपने समस्त यशको सन्देहमें डाल दिया । [कामदेवने तीनों लोकोंको जीतकर जो यशः-समूह पाया है, वह नलको नहीं जीतनेपर नष्ट हो

१. '—विजयोर्जितानि' इति पाठः साधीयान्, इति 'प्रकाश'कारः ।

जाता, अतएव ऐसे बड़े कामको करनेके लिए उद्यत कामदेवको साहसी कहा गया है, तथा महान् धीर नलको एक बाणसे जीतना सर्वथा असम्भव होनेसे प्रत्यञ्चापर अनेक बाणोंका चढ़ाना कहा गया है]॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति । अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरवन्ध्येच्छतया अमोघसङ्कल्पत्वेन तत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः । व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ् । यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्य्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्म्मणि लुङ् । दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः । तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्य्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥४६॥

जिस कारण वैसा सुप्रसिद्ध एवं दुर्भेद्य इस नलका धैर्यरूपी कवच अनङ्ग (कामदेव, पक्षा०—शरीरशून्य प्रतिभट) के पुष्पमय अर्थात् अतिकोमल बाणोंसे विदीर्ण (नष्ट) हो गया, उस कारण इस (नल) के साथ उस प्रकार (इन्द्रादि दिक्पालोंका त्याग कर) दमयन्तीका सङ्गम करानेवाले भाग्यके सफल मनोरथका ही वह विलास था, ऐसा जान पड़ता है । [अन्यथा महान् शूरवीर नलका धैर्य शरीरहीन प्रतिभट कामदेवके पुष्पमय कोमलतम बाणोंसे कदापि नहीं नष्ट होता अर्थात् दमयन्तीके प्रति अनुरक्त होनेसे कामपीड़ित नलका धैर्य कदापि भग्न नहीं होता, इससे पता चलता है कि भाग्यकी इच्छाको कोई भी नहीं टाल सकता । नल दमयन्तीके गुणोंको सुनकर कामपीडित होनेसे अधीर हो गये] ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ४७ ॥

अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति । किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः । सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम् । पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति' वैजयन्ती । लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः । अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः । 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र

वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' ॥ इति लक्षणात्। तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः। एतत्रितयोपजीवनेनालङ्घयत्वे तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्क इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ ४७ ॥

और क्या ? जिस (कामदेव) के अस्त्रोंसे सन्तप्त पितामह (ब्रह्मा, पक्षा०—अतिशय वृद्ध, या—पिताके भी पिता) आज भी (शीतल होनेसे) कमलका आश्रय करते हैं, वे नल अपने शरीरकी छाया (शोभा) वाले (या—अपनेसे कम शोभावाले) उस कामदेवको लाँघनेके लिए नहीं समर्थ हो सके, ऐसा मैं मानता हूँ। [जिस कामदेवने अतिशय बूढ़े या अपने पिताके पिताको भी ऐसा सन्तप्त कर दिया कि बहुत समयके व्यतीत होनेपर भी वे आज भी सन्तापनिवारक शीतल कमलपर निवास करते हैं, वह काम अपने प्रतिद्वन्द्वी नलको नहीं सन्तप्त करेगा, यह कैसे सम्भव है ? तथा—नलका शरीर अत्यधिक सुन्दर है और कामदेव नलके शरीरकी परछाहीं है, अतएव नल अपने शरीरकी परछाहीं रूप कामदेवको नहीं लाँघ सके, अर्थात् नहीं जीत सके, यह उचित ही है, क्योंकि लोकमें भी कोई प्रबलतम भी व्यक्ति अपने शरीरकी परछाहीं को कदापि नहीं लाँघ सकता—स्वशरीरच्छाया सबके लिए अनुल्लङ्घ्य ही रहती है। अथवा—नल अपनेसे कम कान्तिवाले कामदेवको नहीं लाँघ (जीत) सके ? अर्थात् जीत ही लिया] ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८ ॥

उरोभुवेति। सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भावः, इत्यतिशयोक्तिः। 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्करः। दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः ॥ ४८ ॥

कृशाङ्गी वह दमयन्ती (अपनी) लज्जारूपिणी नदीके उच्चतम प्राकारको पार कर जो नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी, वह युवावस्थासे किये गये समीपमें नये मुक्ताहारसे युक्त (या—नवीन उपहार उपदासे युक्त) वक्षःस्थलपर उत्पन्न (स्तनरूप) दो कलशोंका प्रभाव था क्या ?। [जिस प्रकार कोई दुर्बल व्यक्ति छातीपर दो कलशों रखकर उनकी सहायतासे नदीको पार कर अभीष्ट स्थानको पहुंच जाता है, उसी प्रकार मानो कृशाङ्गी दमयन्ती भी युवावस्थासे सम्पादित नये उपहारस्वरूप (या—नवीन मोतियोंकी मालावाले) कलशाकार विशाल स्तनद्वयकी सहायतासे अपनी (या नलकी) लज्जारूपिणी

नदीके उच्चतम प्राकारको (या—लज्जारूपिणी नदीरूप दुर्गको पारकर नलके हृदयमें प्रविष्ट हो गयी) ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति। निजामधीरतां चपलत्वं जनायापह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थे'त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी। 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप्। शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि। 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः। तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः॥ ४९॥

कामदेवने अन्य लोगोंसे अपनी अधीरताको छिपाते हुए इस नलका जो कुछ किया, उसे नलके जागनेको प्रत्यक्ष देखनेवाली रात्रि तथा शशकके अङ्कके समान कोमल शय्या जानती थी। (अथवा चन्द्रमनोहर रात्रि एवं चन्द्रवत् शुभ्र होनेसे कोमल शय्या जानती थी)। [नलकी दमयन्ती-विरहजन्या अधीरताको दूसरे किसीने तो नहीं पहचाना। वे रातभर जगते हुए शय्यापर लोटते रहते थे]॥ ४९॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यतां भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि। भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतिं तनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेर्द्विकर्मकता। तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महोपाध्यायवर्द्धमानः। किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याच्ञाया दुःखमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥५०॥

उस राजा नलने कामदेवसे अतिशय पीडित होकर भी विदर्भनरेश (भीम) से दमयन्तीको नहीं माँगा, क्योंकि मानीलोग प्राणत्याग भले ही कर देते हैं, किन्तु एकमात्र अयाचनाके नियमका त्याग नहीं करते। [अथवा—······मानी लोग सुख तथा प्राणोंका त्याग भले ही कर देते हैं,········। अथवा—मानी लोग प्राणोंका त्याग सुखपूर्वक कर देते हैं, किन्तु अयाचनाके श्रेष्ठ नियमका त्याग नहीं करते]॥ ५०॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

मृषेति । अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् छलेन जुगोप संववार । तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनादधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमबालुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुतेस्म । [1]अत्राङ्गताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालङ्कारः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम् ।' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

वे (नल) किसी वस्तुके विषयमें निरर्थक (झूठे ही) विषादके प्रदर्शित करनेसे दमयन्ती-विरहजन्य निःश्वास-समूहको छिपाते थे, तथा चन्दनमें अधिक कर्पूर छोड़नेका बहाना कर अपनी पाण्डुताको छिपाते थे । (अथवा—वे व्यर्थ ही 'शिव' के अभिनयसे दमयन्ती-विरहजन्य......, अर्थात् वास्तविकमें तो दमयन्तीके विरहसे उन्हें अधिक श्वास आते थे, किन्तु श्वास आनेपर 'शिव-शिव' कहकर लोगोंको यह प्रदर्शित करते थे कि 'मैं व्यर्थ ही किसी वस्तुके विषयमें शोक कर रहा हूं, जो बीत गया वह पुनः आनेवाला नहीं है,......) ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥ ५२ ॥

शशाकेति । अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे बभाण वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठञ् । आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः । 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु 'क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थः । 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिताः ॥ ५२ ॥

इस नलने (भावनावश) मिथ्यादृष्ट प्रिया (दमयन्ती) से जो कहा तथा वीणा बजानेवालोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओंके अवसरपर समाज (जन-सभा) में ही जो मूर्च्छित हुए, उसे भाग्य ही छिपा सका अर्थात् नलके उक्त भाषण तथा मूर्च्छाको संयोग वश लोग नहीं देख सके । (अथवा—मिथ्यादृष्ट प्रियासे जो नलने 'अये' कहा, उसे वे नहीं छिपा सके ? अर्थात् छिपा ही लिया, तथा वीणावादकोंके पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाके

---

१. अयमंशः म० म० पं. शिवदत्तशर्मटिप्पण्याधारेण वर्द्धितः ।

समय जो नल दमयन्तीके उद्देश्यसे मूर्च्छित हुए, उसे लोगोंने समझा कि वीणाके मूर्च्छनानन्दजन्य आनन्दातिशयसे नेत्रनिमीलनादि कर रहे हैं, अतः उसे भी कोई पहचान नहीं सका। अथवा—उक्त मूर्च्छनाके समयमें समाज ही मूर्च्छित (आनन्दातिशयसे तन्मय) हो गया, अतएव अलीकदृष्ट दमयन्तीके प्रति किया गया नलोक्त भाषण कोई नहीं सुन सका। [अथवा......उक्त मूर्च्छनाकालमें समाज मूर्च्छित हो गया, अतएव वह अलीकदृष्ट दमयन्तीके प्रति किये गये भाषणको नहीं सुन सका, किन्तु उसे वे नल कामदेवसे नहीं छिपा सके अर्थात् कामदेवने तो उनके उक्त भाषणको समझ ही लिया] ॥५२॥

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

अवापेति । जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप । धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥ ५३ ॥

जितेन्द्रियोंके अग्रणी वे राजा नल उस समाज (जन-समूह) में अगोपनीय कामपराक्रम (कामजन्य पाण्डुतादि विकार) के क्रमशः स्पष्ट हो जाने पर लज्जित हो गये। [लोगोंने धीरे-धीरे नलके कामजन्य विकारको जान लिया] ॥ ५३ ॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥ ५४ ॥

ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम् ? इत्यत आह—अलमिति । युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः, नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम् । अलं समर्था नाभवन् किल खलु । तथाहि—स्मरः कामः । जनमिति शेषः । जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः । इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च' । 'अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः । अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

ये प्रसिद्ध विवेक आदि गुण नलकी चपलताको नहीं रोक सके, क्योंकि कामदेव रति (अनुराग) होनेपर चपलता की ही सृष्टि करता है, यही सृष्टिका नियम है। (अथवा—कामदेव रतिकालमें चपलताकी ही सृष्टि करता है अर्थात् रतिकालमें सभी चञ्चल हो जाते हैं, अथवा—कामदेव 'रति' नामकी अपनी प्रियामें 'अनिरुद्ध' नामक पुत्रको ही उत्पन्न करता है, यही सृष्टिका नियम है)। [विवेकादिगुणयुक्त भी नल दमयन्ती-विरहजन्य कामपीडासे अतिशय चञ्चल हो गये] ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥ ५५ ॥

अथास्य मनोरथसिद्धौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति-अनङ्गेति । स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्च्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहरणव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः । एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥ ५५ ॥

(अब नलके उपवनगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं—) जब प्रयत्न करने पर भी ये नल समाज (जन-समूह) में (दमयन्ती-विरहजन्य पाण्डुता, कृशता, निःश्वास आदि) कामचिह्नोंके विना नहीं रह सके अर्थात् उक्त कामचिह्नोंको लोगोंसे नहीं छिपा सके, तब उद्यानमें विहार करनेके बहानेसे कुछ समय तक निर्जन देशमें रहनेकी इच्छा की ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं[1] किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥ ५६ ॥

अथेति । अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्निग्धो वयस्यः सवयाः' इत्यमरः । तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किलेत्यलीके । निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपे'त्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

इस (उद्यान-विहारार्थ इच्छा करने) के बाद (कामपीडित होनेपर भी) शरीर-शोभासे कामदेवको भर्त्सित करनेवाले, अपने अर्थात् नलके रहस्य (ये वस्तुतः विहारार्थ उद्यानको नहीं जा रहे हैं, किंतु कामचिह्नगोपनार्थ जा रहे हैं ऐसे गुप्त विषय) को जाननेवाले मित्रोंके साथ नगरके समीपवर्ती उद्यानके दर्शनेच्छुक उन नलने सवारी (घोड़ा) लानेके लिये भृत्योंको आदेश दिया ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम्[2] ॥ ५७ ॥

अमी इति । तत्र आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलङ्कृतं जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः । 'पुरुषहस्तिभ्यामण् चे'त्यण्प्रत्ययः । अजस्रञ्चञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृता-

१. 'पुरोपकण्ठं स वनम्' इति पाठान्तरम् । २. 'क्षोभित—' इति पाठान्तरम् ।

श्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः। एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तदनन्तर वे नौकर अलङ्कारोंसे विभूषित, श्वेतवर्ण, वेग तथा उँचाईमें भी पुरुषमें अधिक और निरन्तर चञ्चल खुराग्रभागोंसे अश्वशाला (घुड़सार) के मध्यभागको चूर्णित करनेवाले घोड़ेको उस नलके लिए लाये ॥ ५७ ॥

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि। अथानयनानन्तरं स नलः हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः। कथं भूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्ठभाजा,'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः। देवमणिः आवर्त्तविशेषः, 'निगालजो देवमणिरि'ति लक्षणात्। दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। निशीथिनीनाथमहः-सहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा। केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥५८॥

(अब सात श्लोकों (१।५८-६४) से उक्त घोड़ेका वर्णन करते हैं—) इसके बाद गलप्रदेशस्थ देवमणि (दक्षिणावर्त घूमी हुई बालोंकी भौंरीरूप 'देवमणि' नामक शुभलक्षण-सूचक चिह्न-विशेष) से कण्ठके बीचमें स्थित गर्दनके ऊपरी प्रदेशकी ओर जाते हुए मार्गसे निकले हुए तथा चन्द्रमाकी किरणोंके समान (उज्ज्वल वर्णवाले) केसर (अयाल) के बालोंकी किरणोंसे शोभित (या—पक्षिराज गरुडके समान आचरण करनेवाले) 'घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा आगामी (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये। [देवमणि कौस्तुभमणि तथा चन्द्रको भी कहते हैं, वे दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न हैं, अतएव देवमणिसे उत्पन्न केशरके बालोंका चन्द्रसहोदर होना उचित ही है] ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

अजस्रेति। अजस्रेण भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितै रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा। चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

तीव्र वेगको पढ़नेके लिए आये हुए अणुपरिमाणवाले, लोगोंके मनोंके समान निरन्तर भूतलको चूर्णित करनेसे उत्पन्न हुई धूलियोंके द्वारा चरणोंमें सेवित—(घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा अग्रिम (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये)। [उस घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनसे भी तीव्र था, अतः वे (लोगोंके मन) उस घोड़ेके पास तीव्र वेगको सीखनेके लिए आकर शिष्यके समान उसके चरणोंकी सेवा करते हैं, ऐसा प्रतीत होता

था, क्योंकि लोगोंके मनका परिमाण भी अणुपरिमित है, वे निरन्तर भूमिपर पैर पटकनेसे सूक्ष्मतम धूलिरूपमें उपस्थित थे। विद्याध्ययनार्थ शिष्यका गुरुके समीप जाकर उसके चरणोंकी सेवा करना उचित ही है। नलके घोड़ेका वेग मनुष्योंके मनसे भी अधिक तीव्र था] ॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

चलाचलेति । पुनः, चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया चरिचलिपदीनामुपसंख्यानाच्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि'त्यमरः । महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते-अलमिति । गिरा उक्त्या अलं कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति किल । 'विदो लटो वे'ति न लादेशः । इति हेतोरिवेत्यनुषङ्गः मौनं तूष्णीम्भावञ्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

ओष्ठाग्रकी अत्यन्त चञ्चलतासे अपने वेगके दर्पोंको मानो राजा नलसे कहनेके लिए उत्कण्ठित, किन्तु 'मत कहो, ये नल स्वयं ही घोड़ेके अभिप्रायको जानते हैं' इस कारणसे मानो मौन धारण किये हुए-घोड़ेपर वे नल सवार हुए 'ऐसा अग्रिम' (१।६४) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये ॥ ६० ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य । 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्ध्येत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः॥' इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः । अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। सगरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः' ॥ इत्यागमात् । अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः । अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच् , परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोर्यशःसितं कीर्त्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम् । 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः । रवेरर्वतामश्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

महारथ (दश सहस्र प्रतिभट योद्धाओंके साथ अपने सारथि अश्व, रथ तथा अपनी रक्षा करते हुए युद्ध करनेवाले) तथा चक्रवर्ती नलके मार्गमें दूसरेकी अपेक्षाके विना रथको ले जानेसे उत्पन्न यशसे श्वेतवर्ण, (अत एव) दाँतोंकी श्वेत किरणोंके बहाने (कपट) से

विशाल रथवाले तथा एक पहिये वाले सूर्यके 'मार्ग' अर्थात् 'आकाशमें' अतद्रूप अर्थात् दूसरे की अपेक्षासे रथको ले जानेवाले हरे रंगवाले उनके घोड़ोंको मुखके भीतरमें हँसते हुए ('घोड़ेपर नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिये)। [बड़े रथवाले तथा एक चक्र (पहिये) वाले सूर्यके मार्गमें उनके घोड़े दूसरोंकी सहायता से रथको ढोते थे, अतएव वे यशोहीन होनेसे हरे रंगके थे, किन्तु महारथ एक चक्रवर्ती (सार्वभौम) नलके मार्गमें यह घोड़ा विना किसीकी सहायताके रथको ढोता था, अतएव इससे उत्पन्न यशसे मानों यह नलका घोड़ा श्वेतवर्ण था, इसी कारण यह सूर्यके अतद्रूप उन घोड़ोंको दाँतोंकी शुभ किरणोंके बहानेसे मानों हँस रहा था]॥ ६१ ॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥ ६२ ॥

सितेति । पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषः चञ्चलस्येत्यर्थः । पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण च्छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव । अराज्ञः कथञ्चामरयुग्ममिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

श्वेत कान्तिवाले तथा चञ्चल पूँछ तथा गर्दनके अयालों (बालों) के कपटसे डुलते हुए दो चामरोंके चिह्नोंके द्वारा अपने अश्वराजत्वको प्रकट करते हुए—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकके साथ करना चाहिये)। [राजाके उभय पार्श्वमें डुलाये जाते हुए श्वेतवर्ण दो चामरोंके समान पूँछ तथा गर्दनके श्वेतवर्ण हिलते हुए घोड़ेके बाल चँवर बन गये थे, जिससे वह अपनेको घोड़ोंका राजा अर्थात् श्रेष्ठतम घोड़ा होना प्रकट करता था]॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥ ६३ ॥

अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितम् ? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गू रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः । द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्विताम् उपेयिवांसं प्राप्तम् । तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥ ६३ ॥

वेगके अभिमानमें बलात्कारसे जीते गये गरुड़के सर्प-भक्षणरूप पुरुषार्थमें भी मुखमें पड़े हुए लगामकी (श्वेतवर्ण सर्पाकार) रस्सीसे प्रतिमल्लभावको प्राप्त—('घोड़ेपर वे नल सवार हुए' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।६४) श्लोकसे करना चाहिये)। [इस घोड़ेने तीव्र वेगमें पहले ही गरुड़को बलात्कारपूर्वक पराजित कर दिया था, किन्तु गरुड़की दूसरी शक्ति सर्पोंको भक्षण करनेमें भी थी, उस शक्तिको भी यह घोड़ा मुखमें पड़े हुए लगामकी

सर्पाकार एवं श्वेतवर्ण रस्सीसे मानो गरुड़का प्रतिद्वन्द्वी होकर उन्हें जीत रहा था। घोड़ेके मुखमें पड़े हुए लगामकी रस्सी दो सर्पोंके समान प्रतीत हो रही थी] ॥ ६३ ॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥ ६४ ॥

स इति । जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत् । क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवं समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः । शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः । उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तं हयमारुरोह । अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा । सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

सिन्धु देश (पक्षा०—समुद्र) में उत्पन्न (अतएव) चन्द्रमाके सहोदर (समान) तथा उच्चैःश्रवाकी शोभाको हरण करते हुए उस (नौकरोंद्वारा लाये गये) घोड़ेपर समस्त राजाओंके विजेता तथा विशाल नेत्र (या—ज्ञान) वाले (पक्षा०—पर्वतोंके विजेता तथा बहुत अर्थात् सहस्र नेत्रोंवाले) पृथ्वीके इन्द्र (पृथ्वीपति) राजा नल सवार हुए । [समुद्रोत्पन्न चन्द्रमाके सहोदर उच्चैःश्रवापर सर्वपर्वतविजेता सहस्रनेत्र इन्द्रके समान सिन्धुदेशोत्पन्न, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण उच्चैःश्रवाकी शोभावाले उस घोड़ेपर सर्वनृपतिविजेता विशालनयन भूपति नल सवार हुए] ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

निजा इति । निजा आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारा भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रमे'त्यादिना युच् । तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितिं सूर्यं मयूखा इव अन्वयुः । अन्वगच्छन् । यातेर्लिट् झेर्जुसादेशः ॥ ६५ ॥

विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र (उच्चैःश्रवा नामक) घोड़ेसे चलनेवाले सूर्यके पीछे जिस प्रकार प्रकाशरूप अपने किरण चलते हैं, उसी प्रकार (रेखारूप) विकसित कमलसे चिह्नित करकमलवाले तथा तीव्र घोड़ेसे चलनेवाले उस मनुजेश्वर (नल) के पीछे अपने घुड़सवार चलने लगे ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६ ॥

चलन्निति । वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च

पेशल' इत्यमरः। स नलो महारयमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः। प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः। नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः। लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

तीव्र वेगवाले घोड़ेको (अपने चढ़नेसे) अलङ्कृत कर चलते हुए तथा अपने वाहन घोड़ेके योग्य वेषसे सुन्दर उस नलको अतिशय हर्षके कारण निमेषहीन नेत्रके पलकोंवाले अर्थात् हर्षातिशयसे निमेष–हीन होकर नगरवासियोंने देखा ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिःपुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

क्षणादिति। अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः। प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान इवेत्यर्थः। बहिःपुरः पुराद्बहिः स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी। पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः॥६७॥

(आह्लादक होनेसे) चन्द्रमाके समान कान्तिवाले तथा इन्द्रके समान सामर्थ्यवाले वे नल वायु द्वारा भी अध्ययन किए जाने 'योग्य' वेगवाले अर्थात् अतिशय तीव्रगामी घोड़ेसे नागरिकोंकी दृष्टि–वृष्टिके साथ ही क्षणमात्रमें नगरसे बाहर हो गये ॥ ६७॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

तत इति। ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणि भाषमाणे इत्यर्थः। परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः। नलस्य नासीरगते सेनाप्रवर्त्तिनि 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यमरः। सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः। वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायोधनं संख्यमि'त्यमरः ॥६८॥

इस (नलके नगरसे बाहर निकलने) के बाद 'सम्हालो, मारो' ऐसा कहते हुए, परस्पर तोमरादि अस्त्रोंको उठाये हुए, नलके सेनामुखमें स्थित घुड़सवारोंके दो दल कौतूहलवश झूठे युद्धका प्रदर्शन करने लगे ॥ ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥६९॥

प्रयातुमिति। इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः। अस्माकं प्रयातु प्रस्थातुं कियत्पदं गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः। तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः। 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः। इतीवेति।

इतीव इति मत्वेत्यर्थः । इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः अन्यथा पौनरुक्त्यात् क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ॥ ६९ ॥

'इम लोगोंके चलनेके लिए यह पृथ्वी कितने पैर (कितने कदम) होगी ? अर्थात् अत्यन्त थोड़ी होगी, इससे यह समुद्र भी स्थल बन जाय', मानो ऐसा विचारकर अपने वेगके अभिमानी घोड़ोंने समुद्रको पूरा करने (सुखाने) में समर्थ धूलि को उड़ाया ॥६९॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥ ७० ॥

हरेरिति । यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः । पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि'त्यमरः । 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः । अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः। हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्क-विष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वि'त्यमरः । उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धे नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्त्ति निवर्त्तितम्, भावे लुङ् । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलङ्घनस्य सम्भवादिति भावः ॥ ७० ॥

हरि (एक विष्णु, पक्षा०—एक घोड़े) के एक पैरने जिस आकाशका आक्रमण किया, उस आकाशका हम अनेक हरियों (घोड़ों, पक्षा०—अनेक विष्णुओं) के चार पैरोंसे आक्रमण करनेमें लज्जाकी बात है, मानो ऐसा विचारकर आधे आकाशमें पैरोंको उठाये हुए अधोमुख वे घोड़े (आकाशके आक्रमण करनेसे) निवृत्त हो गये । [लोकमें भी एक व्यक्तिके द्वारा किये गये कामको अनेक व्यक्तियोंके द्वारा करनेपर उन्हें लज्जा होती है और वे इसी कारण अधोमुख होकर उस कार्यको करनेका विचार छोड़ देते हैं] ॥ ७० ॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥ ७१ ॥

चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चरेष्टच्, सिन्धुदेशभवाः सैन्धवाः अश्वाः,'हयसैन्धवसप्तय'इत्यमरः।'तत्र भव' इत्यण्प्रत्ययः, तत्सम्बन्धिनोऽपि सैंधवाः 'तस्येदमि'त्यण्। ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः,जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयैवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः । अवाप्य

१. 'श्राद्धतयैव' इति पाठान्तरम् ।

तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽत्रापिसमुच्चयार्थः। अन्यत्र मण्डलीं मण्डलासनमित्यर्थः। 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

उस राजा नलके सेनामें रहनेवाले तथा सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारोंने उस बाहरी क्रीडास्थलको प्राप्त कर बहुत-से घोड़ोंको भी (अर्थात् घोड़ोंके साथ स्वयं भी) उस प्रकार मण्डलाकार गति विशेषसे घुमाया अर्थात् गोलाकार मैदानमें घोड़ोंको चक्कर कराया, जिस प्रकार 'जिन'की कथनमें श्रद्धाभावसे ही सिन्धुदेशोत्पन्न जिन भक्त विहारस्थान (देव-मन्दिर) को प्राप्तकर मण्डली कराते हैं अर्थात् मण्डलाकारसे स्थित होते हैं। [जिन-भक्त विहार (अपने देवमन्दिर) में जाकर मण्डलाकार बैठते हैं, या सप्तधान्यमयी मण्डलीको कराते हैं, ऐसा उनका सम्प्रदाय है। नलके सैनिक सिन्धुदेशज घोड़ोंवाले घुड़सवारोंने घुड़दौड़के मैदानमें जाकर घोड़ोंको (घोड़ोंपर चढ़े रहनेके कारण स्वयं भी) चक्कर कटवाया अर्थात् गोल मैदानमें घुमाया] ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधीर्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥ ७२ ॥

द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः। दिशो लङ्घिताः। अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः। इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः। तुरङ्गमैर्धाराङ्गतिं जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः। अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः। स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपदे'त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि। मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागमः ॥

इस (नल) के शत्रु ही (प्राणरक्षार्थ युद्धभूमिसे भागकर) दिशाओंको लाँघ गये हैं तथा यशों (इस नलकी कीर्तियों) ने ही समुद्रको गोष्पद (गौके पैरके गढेके समान अतिशय छोटा) बना दिया है, मानो ऐसा विचारकर घोड़ोंने धारा (आस्कन्दित = सरपट दौड़ना आदि ५ गतिविशेषों) को छोड़कर मण्डली करने (चक्कर काटने) की शोभासे ही पृथ्वीको सुशोभित किया। [इस श्लोकसे नलके शत्रुओंका इनके भयसे भागकर दिशाओंके अन्त तक पहुँचना तथा यशः-समूहका समुद्रके पारतक जाना सूचित होता है। घोड़ोंकी गतियोंके विषयमें विशेष जिज्ञासुओंको अमरकोषकी मत्कृत 'मणिप्रभा' नामक हिन्दी अनुवाद (२।८।४८-४९ में) देखना चाहिये] ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारुहयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।

मरुत् किमद्यापि न तासु[1] शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ॥७३॥

अचीकरदिति । नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमरः । या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ् । तासु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो यः' । अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचंक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किन्नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा । शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः । वायोरप्यसम्भाविता गतीरचीकरदिति भावः ॥७३॥

नलने अपने छत्रके नीचे घोड़ेसे जिन सुन्दर मण्डलियोंको कराया, वायु आज भी वायु–समूहरूप गोलाकार भ्रमणोंको विस्तृत कर उन मण्डलियोंके विषयमें नहीं सीखता है क्या ? अर्थात् बहुत दिन बीत जानेपर आज भी वायु अश्वकृत उन मण्डलियोंको सीखनेका अभ्यास कर ही रहा है, तथापि यथार्थतः उन्हें नहीं सीख सका है । [ग्रीष्म ऋतुमें गोलाकार उड़ते हुए वायु–समूह (बवंडर) को यहां घोड़ेके मण्डलाकार चक्करके सीखनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥ ७४ ॥

विवेशेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः, 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यमरः । तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः । विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र बवयोरभेदात् विलासकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निधिमब्धिमिव विवेश ॥ ७४ ॥

तदनन्तर राजा नल नवपल्लवोंकी लालिमासे युक्त तथा सघन छायावाले क्रीडोपवनको जाकर शीघ्र धैर्यकी इच्छासे (इस विलास-वनमें मुझे धैर्य प्राप्त होगा, इस अभिलाषासे) उस प्रकार प्रविष्ट हुये जिस प्रकार विष्णु भगवान् विद्रुमकी लालिमासे मिश्रित तथा स्वयं मेघकी समान शोभावाले, क्षीरसमुद्रको प्राप्त कर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करते हैं, (अथवा—जिस प्रकार सिंह पल्लवोंकी लालिमासे युक्त सघन छायावाले वनको प्राप्त कर शीघ्र सोनेकी इच्छासे प्रवेश करता है) ॥ ७४ ॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्त्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ७५ ॥

वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं काननो-

१. 'ताः सुशिक्षते' इति पाठान्तरम् ।

पान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्य्यन्तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः। सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः 'उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः॥ ७५॥

(किसी जाते हुए इष्ट बान्धवके) पीछे जाते हुए बन्धुसमूहके समान नगरवासियोंके नेत्र–समूह (नलको देखनेके लिए) वन तक जाकर क्रमशः उस नलके दृष्टिसे ओझल हो जानेपर लौट आये। [जिस प्रकार कोई इष्ट-बान्धव कहीं जाने लगता है तब उसके बन्धु–समूह वन तक पहुंचानेके लिए उसके साथ जाते हैं और उस इष्ट-बान्धवके दृष्टिसे ओझल हो जानेपर लौट आते हैं, उसी प्रकार नगरवासियोंके नेत्र–समूह भी नलको देखनेके लिए सस्पृह हो वनके समीप तक गये, और नलके दृष्टिसे ओझल (बाहर) हो जानेपर लौट आये अर्थात् जब-तक नल वनके पास नहीं पहुंचे थे तब-तक नागरिक लोग नलको देखते थे, किन्तु जब वे दृष्टिसे बाहर हो गये, तब नागरिक विवश हो उधर देखना भी छोड़कर लौट गये]॥ ७५॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननरामणीयकम्॥ ७६॥

तत इति। ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत्। 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः ख' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकं 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः॥ ७६॥

तदनन्तर अर्थात् वनमें प्रवेश करनेके बाद राजा नलने मनोहर फूल तथा फलपर सामने दिखाई जाती हुई अङ्गुलिवाले (अङ्गुलिसे मनोहर फूल तथा फलको दिखलाते हुए) वनपालके हाथसे बतलायी जाती हुई उपवनकी सुन्दरताको देखा॥ ७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥७७॥

फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते, 'खगबाल्यादिनोर्वय' इत्यमरः। पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी'ति वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, 'अतिथेर्न्य' इति न्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। 'वृद्ध-

सङ्घे तु वार्द्धकमि'त्यमरः । 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः । अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः । कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ७७ ॥

पक्षियोंके अत्यन्त उड़नेके कारण वायुसे (पक्षा०—अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात-दोषसे) हिलते हुए पल्लवरूपी हाथमें फल-फूलोंको लेकर स्थित, वनके वृक्षोंने मानो बूढ़े महर्षियोंके समूहसे उस (राजा नल) के अतिथि सत्कारको करनेके लिए सीखा है । [अधिक अवस्थाके कारण उत्पन्न वात-दोषसे हिलते हुए हाथपर फल-फूल लेकर नलका आतिथ्य करनेवाले वनवासी वृद्ध महर्षि-समूहसे मानो वनके वृक्षोंने भी पक्षियोंके अधिक उड़नेसे उत्पन्न हवासे कम्पित पल्लवरूप हाथमें फल-फूलोंको लेकर नलका आतिथ्य करना सीखा है । वृद्ध-महर्षि-समूहसे वनमें रहकर विद्या सीखना लोक-व्यवहारमें भी श्रेष्ठ माना जाता है । इस श्लोकसे उक्त विलास-वनमें वृद्ध महर्षि-समूहका निवास करना तथा वृक्षोंका पक्षियों एवं फल-फूलसे युक्त होना सूचित होता है] ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥७८॥

विनिद्रेति । विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः । आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलङ्कृञि'त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः । दुर्यशोऽपकीर्त्तिं दधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श । अर्हस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्त्तिकर इति भावः । अत्रालिकैतवादित्यलित्वादपह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादपह्नुत्यलङ्कारः । 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥ ७८ ॥

वन-(दर्शनके विषय) में कुतूहलयुक्त उस (नल) ने विकसित पत्र-समूहपर बैठे हुए भ्रमरोंके कपटसे चन्द्रचूड (शिवजी) के द्वारा त्यक्त होनेसे प्राप्त तथा दिशाओंमें फैलते हुए अयशको धारण करते हुए केतकी-पुष्पको देखा । [केतकीके विकसित पत्तोंपर गन्धलोभसे भ्रमर नहीं बैठे थे, किन्तु वे शिवजीके द्वारा त्यक्त होनेसे फैलनेवाले काले-काले अयश थे, उन्हें धारण करते हुए केतक-पुष्पको नलने देखा । बड़ोंसे परित्यक्त व्यक्तिका अयश होता है] ॥ ७८ ॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

अथ त्रिभिः कैतकोपालम्भमाह—वियोगेत्यादि । हे कैतक ! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः कैतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम् । विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तु उद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं

क्लिष्टम् । कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः कैतकस्य कर्णिशरस्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः । ततः कर्णिशरत्वादिवद्दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयसे विगर्ह्यसे । द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः । अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

पौराणिकी कथा—रामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा सीताजीके साथ गयामें गये तो पितृ-श्राद्ध की सामग्री लानेके लिए लक्ष्मणजीको नगरमें भेजा तथा स्वयं फल्गु नदीके किनारे पितरोंका आवाहन कर दिया। जब लक्ष्मणजी सामग्री लेकर नहीं आये और उनको गये बहुत विलम्ब हो गया तब स्वयं श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजीको वहीं छोड़कर सामग्री लानेके लिए चल दिये। उन दोनोंमें कोई भी श्राद्धकी सामग्री लेकर वापस नहीं लौटा था, इसके पहले ही रामचन्द्रके पितरोंके हाथ श्राद्धपिण्ड लेनेके लिए बाहर निकले, यह देख श्राद्धसामग्री तथा उन दोनोंमें किसी एकके भी नहीं रहनेसे सीता घबड़ायीं कि अब पितरोंको श्राद्धपिण्ड किस प्रकार दिया जाय ?। उसे घबड़ायी हुई देखकर आकाशवाणी करते हुए पितरोंने कहा कि 'हे वत्से ! श्राद्धसामग्री नहीं होनेपर भी तुम मत घबड़ाओ और बालूका पिण्ड बनाकर हम लोगोंका श्राद्ध करो'। सीताने वैसा ही किया तथा अपने इस श्राद्धकार्यमें वहां उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकीको साक्षी बनाया। विधिवत् बालूका श्राद्धपिण्ड पाकर पितरोंके हाथ जब अन्तर्हित हो गये तब रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी श्राद्धसामग्री लेकर आये और सीताजीने पूर्वोक्त चारों साक्षियोंके सामने बालूके पिण्डद्वारा पितरोंकी आज्ञासे श्राद्ध करनेकी बात उनसे कही, किन्तु उन चारों साक्षियोंने 'हमें कुछ भी मालूम नहीं है' कह दिया और पितरोंने पुनः आकाशवाणी कर सीताजीके दिये हुए श्राद्धपिण्डको स्वीकार करनेका वृत्तान्त कहकर रामचन्द्रजीको पुनः श्राद्ध करनेसे निषेध किया। तब सीताजीने—'तुम आगे (मुख) भागसे अपवित्र होवो, तुम सर्वभक्षी होवो, तुम निर्जल (अन्तर्जल) होवो तथा तुम शिवजीके प्रिय न रहो' ऐसा शाप क्रमशः उन गौ, अग्नि, फल्गुनदी तथा केतकीको दिया। कहा जाता है कि उसी समयसे उस स्थानपर बालूके पिण्डसे ही पितरोंके श्राद्ध करनेकी प्रथा चालू हुई। यह कथा शिव-पुराणमें आयी है। कामदेव काँटोंसे क्रूर (भयङ्कर) कर्णयुक्त बाणरूप तुमको वियोगियोंके हृदयमें चुभाता है, इस कारणसे (अथवा—कर्णयुक्त बाण होनेसे, अथवा–उस वियोगि—हृदयसे) कष्टसे निकाले जाने योग्य होनेसे उन विरहियोंको मारनेवाले तुमको कामदेव-शरीरदाहक (शिवजी) निन्दित (त्यक्त) करते हैं—('इस प्रकार क्रोधसे नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की' ऐसा अग्रिम (१८१) श्लोकसे सम्बन्ध करना चाहिये)। [कामदेवके सहायक तुम्हारा त्याग करना कामदेवदाहक शिवजीके लिए उचित ही है]॥ ७९ ॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ ।

स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥ ८० ॥

त्वदिति । तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिया'इत्येकशेषः । दुर्यशांसि अपकीर्त्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः । किञ्चेति चार्थः । करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्रीकरपत्रमि'त्यमरः । पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥ ८० ॥

कामदेव तुम्हारे अग्रभाग (नोक) रूपी सूईकी सहायतासे कामी स्त्री–पुरुषोंके दुष्कीतिरूप वस्त्रोंको सीता है, तथा वह कामदेव आरे (लकड़ी चीरनेका अस्त्रविशेष) के समानाकार तुम्हारे पत्तोंसे वियोगियोंके हृदयरूप लकड़ीपर अवश्य ही आरेके समान व्यवहार करता है—('इस प्रकार क्रोधसे नलने केतकी–पुष्पकी निन्दा की' ऐसा सम्बन्ध अग्रिम (१।८१) श्लोकके साथ करना चाहिये) । [केतकी–पुष्पके देखनेसे कामी एवं विरही स्त्री–पुरुषोंका धैर्य भङ्ग होता है, जिसके कारण वे दुष्कीर्ति पाते हैं, तथा आरेके समान आकारवाले केतकी-पत्रको देखनेसे उनका हृदय आरेसे चीरे जाते हुएके समान विदीर्ण होता है] ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजा परं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम् ॥ ८१ ॥

धनुरिति । हे कैतक! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः । 'वा संज्ञायामि'त्यनङादेशः । अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धावितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । अतिभीमजा परमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरशात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्रस्तचापः स मां किं कुर्यादिति भावः । इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राज्ञा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटनेन अघोष्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

पुष्पधन्वा (कामदेव) धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त होकर भी तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त करता हुआ दमयन्तीमें आसक्त मेरे मनको बाणोंके अधीन कर रहा है, ऐसे क्रोधसे उस नलने उस केतकी–पुष्पकी निन्दा की । [पुष्पमय धनुषके मधुसे आर्द्रहस्त कामदेव यदि तुम्हारे परागोंसे हाथको धूलियुक्त नहीं करता तो लक्ष्यभ्रष्ट होनेसे मुझे बाणपीड़ित नहीं कर सकता, अतएव मेरे काम-बाणसे पीडित होनेमें तुम्हीं मुख्य कारण हो ऐसा क्रोधसे कहते हुए नलने केतकी-पुष्पकी निन्दा की । धनुषको बहुत समय तक पकड़े रहनेसे जब धनुर्धारीका हाथ पसीजने लगता है, तब वह हाथमें धूलि लगाकर उसे सूखा कर लेता है और वैसा करनेसे वह लक्ष्यका ठीक-ठीक वेध करता है] ॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे। दोहदश्चासौ धूपश्च तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तरक्केशामिषधूपनम्। श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः। लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविकाथेन संसिक्ता धूपिता तप्तरोमभिः। फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥' इति। तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः। अलमत्यर्थं तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातॄन्, धेट्–पाने अत्र 'आतश्चोपसर्ग' इति उपसर्गग्रहणान्नानुवर्त्ति–पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः। अत एव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति। अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा। महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

उस नलने दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर दमयन्तीके स्तनद्वयकी विशालताको पानेके लिए अधोमुख हो धूमका पान करनेवाले, तप करते हुए घड़ोंके समान फलोंको अच्छी तरह देखा। [दमयन्तीके स्तन बहुत बड़े-बड़े थे, घटाकार अनारके फल भी चाहते थे कि हम भी दमयन्ती–स्तनोंके समान ही बड़े हों, अतएव वे दोहद धूपयुक्त अनारके पेड़पर अधोमुख हो लटकते हुए ऐसे ज्ञात होते थे मानो वे दमयन्तीके स्तनोंके समान बड़े होनेके लिए अधोमुख हो अत्यन्त कठिन तपस्या कर रहे हों, ऐसे उन फलोंको नलने देखा। लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी बड़े अभीष्टकी सिद्धिके लिए अधोमुख हो धूम का पान करता हुआ घोर तपस्या करता है। पेड़में अच्छे फल लगनेके लिए विविध द्रव्यों द्वारा वृक्षके नीचे दिये गये धूमको 'दोहद' कहते हैं] ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥८३॥

वियोगिनीमिति। असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ईङ्गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः। उदीता उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम्। 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टक' इति वैजयन्ती। फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। रूपकालङ्कारः। विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते॥८३॥

इस (नल) ने पक्षियुक्त, दोहदप्राप्तिसे कण्टकित तथा मध्यमें विदीर्ण होनेसे लाल फलमें दानोंको खानेके लिए सुग्गोंके प्रविष्ट होते हुए चोंचोंसे युक्त दाडिमी (अनार) को देखा, जो प्रियका स्मरण होनेसे रोमाञ्चयुक्त तथा स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे रक्तवर्ण हृदय में कामदेवके पलाश-पुष्पमय बाण जिसमें प्रविष्ट हो रहे हैं ऐसी विरहिणी नायिकाके समान प्रतीत होती थी । [नलने दाडिमीको देखा, जो पक्षियोंसे तथा दोहद (धूपादि) प्राप्त होनेसे कण्टकोंसे युक्त थी, एवं जिसके विदीर्ण हुए फलके मध्यमें दानोंको खानेके लिए प्रविष्ट होते हुए सुग्गोंके चोंच ऐसे मालूम पड़ते थे मानो प्रिय-स्मरणसे रोमाञ्चयुक्त विरहिणीके स्तनमध्यमें विदीर्ण होनेसे लालिमा युक्त हृदयमें कामदेवके पलाशपुष्परूप बाण घुस रहे हों । अथवा—परमात्माके साक्षात्काररूप फलका बोधक (तुरीयावस्थारूप) स्थानसे च्युत पूर्वकालमें विषयोंमें अनुरागी हृदयमें प्रवेश करते (स्थिर होते) हुए उपदेशसे हटाये जाते हैं कामदेव पलाशपुष्पमय बाण जिससे ऐसी, तथा परमप्रिय सच्चिदानन्दके स्मरणसे (शीघ्र प्राप्तिकी आशासे हर्षातिशय होनेके कारण) रोमाञ्चयुक्त विशिष्ट योगिनीको (या—उक्तरूपा योगिनीके समान दाडिमीको) नलने देखा] ॥ ८३ ॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः–'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति । वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसां कृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः ॥

उस (नल) ने कामदेवके अर्द्धचन्द्राकार बाणके समान, वियोगियोंके हृदयको विदीर्ण करनेवाले (अतएव) अतिशय दुर्बल (घर आते हुए विरही) पथिकोंके मांसका भक्षण करनेसे वस्तुतः पलाश अर्थात् अन्वर्थ 'पलाश' नामवाले वृक्षपर कालखण्ड (वियोगियोंके दक्षिण हृदयके कृष्णवर्ण मांस) से उत्पन्न वियोगि-हृदयके अंशके समान वृन्त (फूलकी भेंटी =ऊपरी डण्ठल—जहाँसे फूल टूटकर अलग होता है) को देखा । [पलाशवृक्षपर अर्द्धचन्द्राकार फूल लग रहे थे, वे कामदेवके वियोगि-घातक अर्द्धचन्द्राकार बाणके तुल्य मालूम पड़ते थे, उन फूलोंके ऊपर कृष्णवर्ण वृन्त ऐसे मालूम पड़ते थे कि कामदेवने जो विरहियोंके दाहिने पार्श्वमें अर्द्धचन्द्राकार किंशुक-पुष्पमय बाणसे प्रहार किया है, उस बाणमें उन विरहियोंके दक्षिण पार्श्वका कृष्णवर्ण मांसका कुछ भाग सम्बद्ध हो गया (सट गया) है । तथा उन पलाशपुष्पोंको देखनेसे वसन्तका आगमन मालूम कर विरही

पथिक कामपीडित होकर दुर्बल हो रहे थे, अतएव 'पलमश्नाति इति पलाशः' (मांसको जो खाता है, उसे 'पलाश' कहते हैं) इस विग्रहसे उक्त पलाशवृक्षका नाम सार्थक-सा हो रहा था] ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दसीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते । दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते । नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः। उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यादादरश्च । 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती । अत्र प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यत', इति लक्षणात् ॥८५॥

(नायकरूप) वायुसे चुम्बित (स्पृष्ट), मकरन्दकणोंसे रोमाञ्चित शरीरवाली, ईषद्विकसित एवं शोभमान कलिकाओंवाली, कुछ कम्पायमान नवीन (पल्लववाली) लताको भय (विरहियोंको दुःखद होनेसे उक्त लताको देखनेसे उत्पन्न डर) तथा (सुन्दरता होनेसे) आदरसे युक्त राजा (नल) ने नेत्रसे मानो उस प्रकार पान किया अर्थात् देखा, जिस प्रकार कस्तूरी, कर्पूर, चन्दनादिकी सुगन्धिसे युक्त नायक द्वारा चुम्बित, प्रियस्पर्शसे रोमाञ्चित अङ्गोंवाली, थोड़ा स्मित करती हुई तथा सात्त्विक भावके उत्पन्न होनेसे कुछ कम्पनयुक्त नायिकाको (परस्त्री होनेसे) भयपूर्वक तथा सुन्दरी होनेसे आदरपूर्वक कोई दूसरा नायक देखता है । (अथवा—बालता-शैशव-के लेशसे रहित अर्थात् युवावस्थायुक्त तरुणसे चुम्बित.....) ॥ ८५ ॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥ ८६ ॥

विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यण्प्रत्ययः पन्थादेशश्च । त एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः। तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः। तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः। विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः। चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

पथिकरूपी पतङ्गोंकी (हिंसासे, भ्रमररूपी कज्जलके कपटसे पापकर्मको एकत्रित करती

हुई कामदेवकी) बलि-दीपिकाओं (पूजार्थ दीपकों) के समान चम्पककी कलिकाओंके समूहको उस (नल) ने देखा। [चम्पककलिओंके कामोद्दीपक होनेसे उन्हें देखकर विरही पथिक उस प्रकार मर जाते थे जिस प्रकार दीपककी लौपर पतङ्ग (फुनगे) मर जाते हैं, उन कलिकाओंपर बैठनेवाले भ्रमर उन दीपकोंके कज्जलके समान मालूम पड़ते थे, उसीको कविने पथिकोंके मरनेसे उत्पन्न अयशकी उत्प्रेक्षा की है, उन्हें कामदेवके पूजा-दीपकोंके समान नलने देखा। दीपककी लौ के समान चम्पाकी कलियां भी पीली होती हैं। कुछ लोगोंका मत है कि चम्पाके फूलपर भ्रमर नहीं बैठते और उसपर बैठते तो हैं, किन्तु मर जाते हैं, ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, यह 'प्रकाश'कारका कथन है]॥ ८६ ॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

अमन्यतेति । असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी । अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्यादिना-च्व्यर्थे ख्युनप्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः । तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

इस (नल) ने फूलोंके मध्यगत परागको वियोगियोंको अन्धा करनेवाला, पूर्वकालमें कामदेवके द्वारा शिवजीपर छोड़े गये (पुष्पमय) बाणोंमें लगा हुआ शिवजीके शरीरका भस्म माना। [भस्म आँखमें पड़नेपर लोगोंको अन्धा कर देता है तथा फूलोंके परागोंको देखकर विरही भी कामपीडित हो अन्धे (विवेकहीन) हो जाते हैं]॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

पिकादिति । वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः । उदञ्चत्करुणं विकसद्वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः । अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूप-हस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करे वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः । सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम् । स्थलपद्मिनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः, 'ल्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्[1] । ददर्श ॥ ८८ ॥

---

१. इयं भ्रममूलिकोक्तिः ल्वादिषु 'लूञ् स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ (झॄ धॄ) नॄ कॄ ऋ गॄ ज्या री ली व्ली प्ली' इत्येतेषामेव धातूनां परिगणनात् । ततो दीर्घा दूङः स्वादित्वेनौदित्त्वान्निष्ठानः' इति 'प्रकाश'व्याख्यानमेव सदित्यवधेयम् ।

(कामपीडित होनेसे) कृश नलने (मल्लिकाके समान पुष्पवाला) करुण वृक्ष जिसमें विकसित हो रहे हैं, ऐसे तथा भौंरे मानो 'हुँकारी' भर रहे हैं, ऐसे उनके गुञ्जनोंके द्वारा कोयलोंसे विरहियोंकी दशाको सुनते हुए वनमें नलकी अधीरतासे (अथवा—अनादरसे) पुष्परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको देखा। [जिसमें करुणवृक्ष फूल रहे थे, कोयल मानो विरहियोंकी दशा कह रही थी तथा गूँजते हुए भ्रमर मानो 'हूं-हूं' कहकर 'हुंकारी' भर रहे थे; ऐसे वनमें (तुम्हें ऐसा करना अनुचित है इस भावनासे मानो) पुष्परूपी हाथको फैलायी हुई स्थलकमलिनीको कामपीडासे दुर्बल नलने देखा। लोकमें भी किसीको अनुचित कार्य करते हुए देखकर दूसरा सज्जन व्यक्ति अनादरसे हाथ फैलाकर उसे निषेध करता है। वनमें करुणवृक्ष विकसित हो रहे थे, कोयल कुहक रही थी, भ्रमर गूंज रहे थे तथा स्थलकमलिनी फूल रही थी, इन सबोंको कामपीडित नलने देखा]॥ ८८॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्ज्जनाभियम्॥ ८९॥

रसालेति। अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः। वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनि मीमे'त्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः। रसालसालश्चूतवृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टः। द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ८९॥

इस (नल) ने भ्रमण करते हुए भ्रमरोंके समन्ततः गुञ्जनरूपी हुङ्कारवाले आमके पेड़को वायुसे चञ्चल मञ्जरियों (बौरों) द्वारा विरहिजनको डरवाता हुआ-सा देखा। [आमके पेड़पर बौरें लग गयी थीं, वे वायुसे धीरे-धीरे हिल रही थीं, उनपर भौंरे उड़ते हुए गूंज रहे थे; जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यह आमका पेड़ भौंरोंके गुञ्जनरूपी हुङ्कारोंसे मञ्जरीरूपी हाथको हिला-हिलाकर विरहियोंको तर्जित कर (डरा) रहा है]॥ ८९॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥९०॥

दिने दिने इति। रे इति हीनसम्बोधने। त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धि'रिति धित्वम्, 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छ च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट। स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः॥ ९०॥

'रे पथिक ! तुम प्रतिदिन अधिक दुर्बल होवो, बार-बार मूर्च्छित होवो और सन्ताप प्राप्त करो' इस प्रकार विरही पथिकोंको शाप देते हुए रक्तवर्ण नेत्रवाले पिक पक्षियों (पक्षा०—क्रोधसे लाल नेत्र किये हुए ब्राह्मणों) को नलने खेदपूर्वक देखा ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपङ्क्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमलिनाग्रमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम् 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पक' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तिपरिहारः अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वय' इत्यमरः । अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् । स नलः 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात् । वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

भ्रमर-पङ्क्तिसे उन्नत अग्रभागवाले चम्पाकी कलिकाको धीरताहीन बुद्धिसे अर्थात् धैर्यरहित हो देखकर आतङ्कयुक्त उस नलने उसे वियोगियोंकी विपत्तिके लिए उदयको प्राप्त धूमकेतु माना ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

गलदिति । स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कंभ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रंश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

उस (नल) ने गिरते हुए परागवाले, चक्कर काटते हुए दूसरे वृक्षोंसे आते हुए भ्रमरसमूहवाले नागकेसर-पुष्पको कामदेवके बाणके रगड़नेसे निकलती हुई जलती चिनगारीवाले शाणके समान देखा ॥ ९२ ॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

तदङ्गमिति । सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः । तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयन्ती । तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादपादानात् पातुका धावन्तीः, 'लषपते'त्यादिना उकञ्प्रत्ययः । स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः

शिलीमुखालीः अलिपङ्क्तीः बाणपङ्क्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः । दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः । अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शीलमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९३ ॥

पुष्पोंकी अपेक्षा सुगन्धित नल-शरीरको उद्देश्य (लक्ष्य) कर चली हुई, गुणग्राहिणी (सुगन्धिगुणको चाहनेवाली, पक्षा०—प्रत्यञ्चाका स्पर्श की हुई), शब्द करती (पक्षा०—गूँजती) हुई भ्रमर-पङ्क्तिको देखकर अपने धनुषसे दुःखपूर्वक अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट होकर निकले हुए बाणके भ्रमसे कामदेव लज्जित-सा हो गया। [नलके शरीरको सुगन्धि पुष्पोंसे अधिक थी, अतएव पुष्पोंको छोड़-छोड़कर भ्रमरसमूह नल-शरीरपर गूँजते हुए आ रहे थे, उन्हें देखकर कामदेव 'ये मेरे बाण (पुष्परूप चापकी प्रत्यञ्चासे निकलकर लक्ष्यभ्रष्ट हो) शब्द करते हुए जा रहे हैं' ऐसा भ्रम होनेसे मानो लज्जित हो गया। लक्ष्यभ्रष्ट होकर जाते हुए बाणको देख धनुर्धरको लज्जित होना उचित है] ॥ ९३ ॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

मरुदिति । मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अत एव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः । 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः । कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर् प्रत्ययः । मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपी'त्यमरः । स नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

उस (नल) ने वायुसे कम्पित शाखाग्रके कण्टकोंसे (पक्षा०—वायुके समान विलास करते हुए विट (धूर्त नायक) के कण्टकतुल्य नखोंसे) क्षत, निकलते हुए चन्दनके समान श्रेष्ठ सुगन्धवाले (पक्षा०—निकलते हुए चन्दनके श्रेष्ठ गन्धवाले) वेश्याके स्तनोंकी समानताको पाये हुए पके बेलके फलको देखा ॥ ९४ ॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

युवेति । युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जने ण्यन्ताल्ल्युट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः । स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्य इत्यर्थः,

अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे । अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥' इति लक्षणात् ॥ ९५ ॥

वे (नल) युवक-मिथुनके हृदयमें प्रवेश करनेके योग्य पुष्पोंसे पूर्ण मध्य भागवाले पाटला-गुच्छको भयसे अन्धी (विचारशून्य) बुद्धिसे कामदेवका तरकस समझकर कम्पित हो गये । [नलने पाटलाके गुच्छको पुष्पोंसे परिपूर्ण देखकर समझा कि यह विरही युवक-दम्पतिके हृदयको वेधनेवाला कामदेवके बाणोंसे भरा हुआ तरकस है, अतः वे स्वयं भी विरही होनेके कारण उसके भयसे कम्पित हो गये । भयके कारण विचार-शक्तिके नष्ट होनेसे नलने वैसा समझा] ॥ ९५ ॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥ ९६ ॥

मुनीति । अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कुतः क्षयः ? इति भावः । अत्र कूटशब्देन क्षयापह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः । वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरि'त्यमरः । कलाकलापङ्कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु ? अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः

इस (नल) ने वनमें कोरकित कृष्णवर्ण अगस्त्यको कृष्णपक्षमें चन्द्रकलाक्षयके कपटसे भक्षित चन्द्रकलाको वमन करते (उगलते) हुए राहुके समान माना । (अथवा—······ अन्धकारमें कपटपूर्वक खाये गये पशु आदिको वमन करते हुए सिंहके बच्चेके समान माना) । [प्रथम अर्थमें—यह राहु चन्द्रमाको खा गया था, अतएव मुझे सन्ताप नहीं होता है किन्तु अब पुनः चन्द्रमाको यह वमन कर रहा है, अतएव मुझे यह चन्द्रमा सन्तप्त करेगा, ऐसा समझकर वे डर गये । द्वितीय अर्थमें—अन्धकारमें पशुको खाकर उसे उगलते हुए सिंहको वनमें देखनेसे भय होना उचित ही है । अगस्त्यको कोरकयुक्त देख उसके कामोद्दीपक होनेसे विरही नल डर गये] ॥ ९६ ॥

पुर[1]ोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृ[2]तेर्वीरुधि न[3]द्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं विद[4]धुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥ ९७ ॥

पुर इति । पुरोऽग्रे हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरण येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां नद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च

---

१. 'पुरा इति' पाठान्तरम् । २. 'च्छदा वृते—' इति पाठान्तरम् ।
३. 'बद्ध—' इति पाठान्तरम् । ४. 'ससृजु—' इति पाठान्तरम् ।

यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताक्षञ्चक्रुरित्यर्थः। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र ('नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरहप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ९७ ॥

सामने (पाठा०—पहले) हठपूर्वक बर्फके समान श्वेत पत्तेरूप आवरण (वस्त्र) को हटानेवाली, वायुकी लताओंमें विलास (या—विशिष्ट भ्रम, या—पक्षियोंका भ्रम) करनेवाली, पुष्पविषयक क्रीडाओं (या—कामक्रीडाओं) ने नलके नेत्रोंको बन्द कर दिया अर्थात् उसे देखकर नलने अपने नेत्र बन्द कर लिये। अथवा—सामने हठपूर्वक हटाये गये तुषारतुल्य श्वेत पत्तोंवाली, घेरेकी लताओंमें विशिष्ट भ्रम (या—पक्षियोंका भ्रम) पैदा करनेवाली, वायुकी पुष्पोंमें क्रीडा (या—वायुकी कामक्रीडा) ने नलके नेत्रोंको बन्द कर दिया। [स्त्री-पुरुषकी कामक्रीडा देखनेका स्मृतिशास्त्रमें निषेध होनेसे स्त्रीरूपिणी लताके साथ पुरुषरूपी वायुकी कामक्रीड़ाको देखकर मानो नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया, वास्तवमें तो वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई लताओंका देखना कामोद्दीपक होनेसे उनके असह्य होनेसे नलने नेत्रोंको बन्द कर लिया था] ॥ ९७ ॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ? ॥९८॥

गता इति । द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलके वसुमत्युपमातृष्वि'ति विश्वः।'धः कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधातेः ष्ट्रन् प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः प्रह्वीकृतैः, नमेर्मित्त्वाविकल्पाद् ध्रस्वाभावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छब्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिननन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ९८ ॥

जो पृथ्वीके उत्सङ्ग (क्रोड=गोद, पक्षा०—भूतल) में विशाल हुये थे अर्थात् पलकर बड़े हुए थे, वे पेड़ फलों (पक्षा०—पुण्योत्पन्न मनोरथ-प्राप्ति) गौरव (भारीपन, पक्षा०—गुरुता) से अतिशय नम्र किये गये शाखाग्रों (पक्षा०—मस्तकों) से उस पृथ्वी (पक्षा०—माता) की वन्दना करते हुए उन पेड़ोंका नल क्यों नहीं अभिनन्दन करते ? अर्थात् अवश्यमेव अभिनन्दन करते। [लोकमें भी माताकी गोदमें बढ़कर विद्याध्ययनादि फलके गौरवसे अत्यन्त नम्रमस्तक हो उस माताकी वन्दना करनेवाले पुत्रका सज्जन लोग जिस प्रकार अभिनन्दन करते ही हैं, उसी प्रकार भूतलपर बढ़कर फलोंके भारसे अत्यन्त झुकी

हुई डालियोंवाले वृक्षोंका अभिनन्दन नलने किया । फल-भारसे झुके हुए वृक्षोंको देखकर नल बहुत प्रसन्न हुए] ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥ ९९ ॥

अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति-नृपायेति । वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः 'रोः सुपी'ति रेफादेशः । तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपकैवाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

उपवन-वायुसे ठण्डा किया गया, पुष्पोंके मधुसे अमृतके तुल्य बनाया गया तथा केतकी-पुष्पके परागोंसे श्वेतवर्ण किया गया भी दिनका धूप विरही उस राजा (नल) के लिए चाँदनीके आनन्दको नहीं दे सका । [यद्यपि उक्त कारणत्रयसे शीतल, अमृतयुक्त एवं श्वेतवर्ण होनेसे दिनका धूप चाँदनी-जैसा सुखद हो रहा था, किन्तु विरहियोंके लिए चाँदनीके दुःखद होनेसे वैसे धूपसे भी नलको सुख नहीं हुआ] ॥ ९९ ॥

वियोग[1]भाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥१००॥

वियोगेति । वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषाद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपकं, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः । मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति सङ्करः । अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥ १०० ॥

विरही भी राजा (नल) के मुखको साक्षात् चन्द्रमा ही देखते हुए (अतएव—'यह विरही होकर भी मलिन नहीं हुआ, प्रत्युत चन्द्रतुल्य सुन्दर ही है' ऐसा विचारकर) क्रोधसे लाल नेत्रोंवाला तथा 'कुहू' शब्द करनेवाला पिक पुनः चन्द्रमाकी विरोधिनी ('कुहू' अर्थात् अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावस्या तिथि) को बुलाने लगा । (अथवा-निश्चित ही चन्द्रविरोधिनी कुहूको बुलाने लगा) । विरहावस्थामें भी नलमुख चन्द्राधिक सुन्दर था ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥१०१॥

---

१. 'अयोग—' इति पाठान्तरम् ।

अशोकमिति । एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः । अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः । अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणे रक्षणे साधुं समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः । 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्वः, 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः । आगतान् शरणागतानित्यर्थः । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः । 'गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः । अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः । अमन्यत ज्ञातवान् । अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

'जहां शोक नहीं है, उसे 'अशोक' कहते हैं' ऐसे सार्थक नामकी आशासे समीपमें गये हुए, स्त्रियोंको सोचते हुए पथिकोंकी, पल्लवोंसे जलते हुए अस्त्रतुल्य कलियोंके गुच्छाओंको छिपाये हुए (या—रक्त पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको अपने शरीरपर ग्रहण किये हुए, अतएव) शरणागतोंके लिए साधु (श्रेष्ठ) अशोकको नलने रक्षा करते हुएके समान माना । (अथवा—·········पथिकोंको कामदेव के जलते हुए अस्त्रको स्वीकार कर पल्लवोंसे मारते हुए अशोकको नलने वध करनेमें श्रेष्ठ माना) [प्रथम अर्थमें—उक्त रूपसे अन्वर्थक समझकर अशोकके पास गये हुए स्त्रीकी चिन्ता करते हुए पथिकोंके शरण्य (शरणागतवत्सल) अशोकको जलते हुए कामबाणोंको अपने शरीरपर स्वीकार कर रक्षा करते हुएके समान माना । लोकमें भी शरणागतवत्सल सज्जन व्यक्ति अपने ऊपर शत्रुओंके शस्त्रोंका प्रहार सहते हुए भी शरणागतकी रक्षा करता है । द्वितीय अर्थमें—उक्त आशासे समीप गये हुए पथिकोंको, अशोकने 'रक्तवर्ण पल्लवोंसे जलते हुए कामास्त्रको स्वीकार कर मारा (वे अशोकके रक्तपल्लवोंको देखकर अधिक कामपीडित हुए) अतएव नलने उस अशोकको वध करनेवालोंमें श्रेष्ठ माना । लोकमें भी कोई असज्जन व्यक्ति रक्षा पानेकी आशासे समीपमें आये हुए शरणागतोंका भी उनके शत्रुके भयङ्कर अस्त्रोंसे वध कर डालता है । अशोक-पल्लवोंके कामोद्दीपक होनेसे द्वितीय अर्थ ही उचित प्रतीत होता है और वही अर्थ 'प्रकाश'कारको भी विशेष सम्मत है] ॥ १०१ ॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराध तं क भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ? ॥१०२॥

विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्त्तृ, आरराध आराधयामास । तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क भुज्यत इति भोगः सुखं तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

क्रीडावापीके तीरपर तरङ्गोंके बजने (शब्द करने) से, पिकसमूह (या—पिकों तथा भ्रमरों) के गानेसे तथा मयूरोंके नृत्य-चातुर्यसे वनमें भी उस नलकी तौर्यत्रिक (क्रमशः-वादन, गायन तथा नर्तन) ने सेवा की, क्योंकि भाग्यवान् मनुष्य कहांपर भोगको नहीं पाता ? अर्थात् भाग्यवान् मनुष्यको भोग-विलासके साधन सर्वत्र मिल जाते हैं। यद्यपि विरही होनेसे कामपीडित नलके लिए वे कामोद्दीपक वादनादि सुखकर नहीं थे, तथापि विरक्त व्यक्तिके सामने स्थित तरुणी तरुणी ही मानी जाती है, अतएव विरही भी नलके लिए प्रतिकूल होनेपर भी वे वादनादि भोग-साधन ही माने जायेंगे। अथवा—"...... तौर्यत्रिकने खेद है कि नलको मारा अर्थात् पीडित किया, क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत पुण्य-पापजन्य सुख या दुःख) को पानेवाला मनुष्य भोग (पुण्यजन्य सुख या-पापजन्य दुःख) को कहां नहीं पाता है ? अर्थात् सर्वत्र पाता है, अतएव नलको महलमें तो कामपीड़ा होती ही थी, विनोदार्थ एकान्त वनमें आनेपर भी उससे छुटकारा नहीं मिला' यह दूसरा अर्थ करना चाहिये। इस दूसरे अर्थके लिए 'आ' उपसर्गको खेदवाचक तथा 'रराध' क्रियापदमें 'राध' धातुको हिंसार्थक मानना चाहिये ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०३ ॥

तदर्थमिति । जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन् । तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः । उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

उस (नलकी स्तुति करने) के लिए पढ़ाकर छोड़े गये चतुर (स्पष्ट बोलनेवाले, या-कही हुई स्तुतिका ठीक-ठीक अभ्यास किये हुए) तोतोंने उस नलकी स्तुति की तथा उस (नल) के पुरुषार्थ-गानको सिखायी गयी सारिकाओं (मैंनों) ने अमृततुल्य मधुर स्वरसे नलके पौरुषको गाया ॥ १०३ ॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं[1] विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०४ ॥

इतीति । इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वम् । असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवल' इति विश्वः । बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः । 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ॥ १०४ ॥

---

१. 'बहिः परम्' इति पाठान्तरम् ।

इस प्रकार अभीष्ट सौरभयुक्त वनमें घूमते हुए तथा तोतों एवं सारिकाओंसे स्तुत भी उस नलने बाहरी आनन्दको तो प्राप्त किया, किन्तु दमयन्तीके विरहके कारण भीतरी आनन्दको नहीं प्राप्त किया ॥ १०४ ॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।
व्यतर्कि सर्वर्त्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

करेणेति । स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक्शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्त्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

(लोगोंने) उस नलको पेड़ोंके थालोंके पानीमें प्रवेश करनेकी शङ्कासे अपने पताका चिह्न मछलीको हाथ में धारण किया हुआ (पक्षा०—अपने राजचिह्न रेखारूप मीनको हाथमें धारण किये हुए) तथा सब ऋतुओंसे परिपूर्ण इस वनमें वसन्त ऋतुका अनुगमन करता हुआ कामदेव समझा ॥ १०५ ॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ १०६ ॥

लतेति । लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः । 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहर' इति हलायुधः, पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक् । सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः । एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

लतारूपिणी नायिकाको नृत्यकला सिखानेवाला, वृक्षोंके पुष्पोंके गन्धसमूहको चुरानेवाला तथा पुष्परसरूप सुरभित जलमें (या—नलके 'मधुगन्ध' नामक सरोवरके जलमें) जलक्रीड़ा किया हुआ पवन इस नलकी सेवा करने लगा । [उक्त विशेषणत्रयसे पवनका मन्द, सुगन्ध तथा शीतल होना सूचित होता है, जो नलके लिए शुभ शकुनका सूचक है । लोक–व्यवहारमें भी कोई परिचारक बड़े लोगोंकी पीठमर्दनादिके द्वारा सेवा करते हैं] ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ वनालोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन धनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः । चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति

त्नप्रत्ययः। तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः। स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपान्निधिरिवेत्युत्प्रेक्षा। तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः॥१०७॥

उस राजा (नल) ने बहुत समयसे बढ़े हुए, प्राचीन रत्नों (अपने धन) को मथने के भयसे लेकर उस (नलके उपवन) में छिपे हुए समुद्रके समान (अपने क्रीड़ासरको देखा। [लोकमें भी कोई धनवान् व्यक्ति चोरीके भयसे अपने चिरसञ्चित धनको लेकर वनमें छिप जाता है। नलका क्रीड़ासर समुद्रके समान बहुत रत्नोंसे भरा हुआ एवं गम्भीर था]॥ १०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभाद्बभार यः ॥१०८॥

यदुक्तं धनमादायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः। यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धं च्छन्नस्य तटान्तभूभिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः। मृणालजालस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृक्षयोरि'ति विश्वः। अनन्तोरगस्य शेषाहेः, पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकामुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार। तत्रैक एवैरावतः, अत्र त्वसंख्या इति व्यतिरेकः। अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत्, 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः॥ १०८॥

(आगेके १।११७) श्लोकमें समुद्र शोभाका चौर इस तडागको कहा गया है, अतएव वहाँ तक समुद्र-धर्मोंका वर्णन करते हैं—) जो तडाग पानीसे आधा ढके हुए तटप्रान्त भूमिसे बहिर्गत मृणाल-समूहके कपटसे शेषनागकी पूंछके समान सुन्दर कान्तिवाले तथा जलमें डूबे हुए ऐरावतके दन्त-समूहको धारण करता था। [पानीमें आधे छिपे हुए तथा आधे तीरभूमिके ऊपर निकले हुए मृणाल-समूह ऐसे मालूम पड़ते थे कि वे शेषनाग की पूँछके समान, पानीमें डूबे हुए ऐरावतोंके दन्त-समूह हों। समुद्रसे एक ऐरावत निकला था, किन्तु इस तड़ागमें अनेक ऐरावत डूबे हुए थे, अतएव यह समुद्रसे भी श्रेष्ठ था]॥ १०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैरुग्रताडनैः, 'अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः, चलदुच्चलदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभावित्युत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥१०९॥

जो (तड़ाग) तीरपर ठहरे हुए घोड़ोंकी (नील-श्वेत-कृष्ण आदि विविध) कान्तिके प्रतिबिम्बके सम्बन्धसे चञ्चल तरङ्गरूपी कोड़ोंके प्रहारोंसे मानो हजारों उच्चैःश्रवाको धारण करता था। [घोड़े कोड़ेकी प्रहारसे चञ्चल होकर चलते हैं, जलमें प्रतिबिम्बित वस्तुके तरङ्गसे चञ्चल होनेके कारण तीरपर ठहरे हुए नलके घोड़ोंके प्रतिबिम्ब जलके तरङ्गरूपी कोड़ोंकी मारसे चलते हुए अनेक उच्चैःश्रवा घोड़ोंके समान प्रतीत होते थे। यहां भी समुद्रमें एक उच्चैःश्रवासे तथा इस तड़ागमें अनेक उच्चैःश्रवाके होनेसे समुद्रकी अपेक्षा इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है तथा नलके घोड़ोंका उच्चैःश्रवाके समान होना सूचित होता है] ॥ १०९ ॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥११०॥

सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ। अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

जो (तडाग) बीचमें भ्रमरोंके बैठनेसे श्यामवर्ण मध्यभाग वाले श्वेतकमलोंके समूहके कपटसे अन्धकारके समान (कृष्णवर्ण) कलङ्कसे युक्त चन्द्रमाके बहुत-से समूहोंको धारण करता हुआ शोभता था—। [यहाँ भी एक चन्द्रमावाले समुद्रकी अपेक्षा अनेक चन्द्रकुलको धारण करनेवाले इस तडागकी श्रेष्ठता सूचित होती है] ॥ ११० ॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

रथाङ्गेति। यस्तडागो रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधश्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्यायत्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः', कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुलसहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालं शेषाहिरिवेत्युपमितसमासः, तद्भुवा तदाकरेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममि'त्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधिष्ठित इति यावत्। अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

जो (तड़ाग) चकवा-चकईयुक्त, कमलसहित, भ्रमर-समूहवाले तथा मृणालरूप जो शेषशरीर तद्रूप भूमिपर उत्पन्न कमलिनी स्तम्ब-समूहके कपटसे सुदर्शनचक्र युक्त लक्ष्मी

के साथ रहनेवाले, भ्रमरसमूहके समान (श्याम कान्तिवाले) तथा मृणाल तुल्य (शुभ्र वर्ण) शेषनागकी शय्यावाले विष्णुसे अनुगत (युक्त) होता था। [क्षीर समुद्रमें उक्तरूप विष्णु भगवान् रहते हैं, अतएव यह तड़ाग भी उक्तरूप कमलिनी-स्तम्ब-समूहयुक्त होनेसे वैसा ही प्रतीत होता था]॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकम्बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चे'ति भृञो विकल्पादाम् प्रत्ययः । किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति । अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ११२ ॥

जो (तड़ाग) क्रोड (मध्य) में स्थित अपनी प्रिया तरङ्ग लेखारूपिणी नदियोंको धारण करता था तथा कुछ बाहर निकले हुए रक्तकमल-समूह के अङ्कुरोंसे विद्रुमके अङ्कुर-समूह वाला था— । [समुद्रमें जैसे उनकी प्यारी बहुत-सी नदियां आकर मिलती हैं तथा विद्रुमके अङ्कुर-समूह रहते हैं, उसी प्रकार इस तडागके मध्यमें भी अपनेमें ही उत्पन्न होनेसे प्रिय तरङ्ग रेखारूपी नदियां थीं तथा बाहर की ओर थोड़ा दीखते हुए रक्तकमलके अङ्कुर-समूह प्रवालाङ्कुर-समूहरूप थे । अतएव यह तडाग समुद्रतुल्य था]॥ ११२ ॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥११३॥

महीयस इति । यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सितासितयोरिति भावः । त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने । अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

गौर (श्वेत) तथा मेचक (चमकदार नीलवर्ण) कमल-समूहके कपटसे जिसको नलने पानीमें डूबे हुए चन्द्रमा तथा कालकूट (हलाहल विष) की कान्तिको छोड़ता हुआ सा माना । [समुद्र जिस प्रकार श्वेत चन्द्रमा तथा हलाहलसे युक्त है, उसी प्रकार इस तड़ागमें भी श्वेत तथा नील कमल-समूह होनेसे यह तड़ाग भी उन (चन्द्रमा तथा हलाहल)से युक्त था]॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

चलीकृता इति । यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनैश्चलीकृताः चञ्चलीकृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पङ्क्तयः हव्यं वहतीति हव्य-

वाडग्निः 'वहश्चे'ति ण्विप्रत्ययः। तस्य च्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः। वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च ते धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः। बहिरुत्थितधूमपटलवद्बभुरित्यर्थः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

जिस (तडाग) में तरङ्गोंके चलनेसे बड़े-बड़े शेवाल लताके समूह ने भीतरमें रहने वाले वाडवाग्निसे ऊपर उठे हुए धूम-बाहुल्यको धारण कर लिया है, ऐसा प्रतीत होता था। [तरङ्ग-समूह से चञ्चल बड़े-बड़े शेवाल-समूह अन्तःस्थित वडवाग्निके ऊपर उठती हुई धूमज्वालाके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥११५॥

प्रकाममिति। आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः। यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सर इवाचरिता। 'उपमानात् कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्तः, 'ओजसोऽप्सरसोनित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोपः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ ११५ ॥

जिस (तडाग) में उत्पन्न, दिनमें सूर्यको प्राप्तकर सम्यक् प्रकारसे कण्टकोंके द्वारा व्याप्त, सौरभ-समूहको फैलाती हुई, विकसित शोभास्थान (कमल) रूप शरीर वाली कमलिनी विशिष्ट कामयुक्त इन्द्रदेवको प्राप्त कर रोमाञ्चोंसे व्याप्त हर्षातिशयको प्रकट करती हुई तथा स्वर्गसे धारण किये गये प्रकाशमान शोभा-स्थानरूप शरीरवाली अप्सरा के समान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

यदिति। यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतो वर्त्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

जिस (तडाग) के जल-प्रवाह में प्रतिबिम्बित विस्तारवाला तथा वायु-चलित तरङ्गों से चञ्चल तीरस्थ वृक्ष (जलके भीतर) डूबकर स्थित तथा पङ्खोंको कँपाते हुए मैनाक पर्वतकी समानताको विस्तृत कर रहा है। [जिस तडागके जलमें प्रतिबिम्बित वायु-प्रेरित तरङ्गोंसे चञ्चल तरुस्थ द्रुम समुद्र-जलमें डूबकर पङ्ख हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समान प्रतीत होते थे] ॥ ११६ ॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

पयोधीति । अथ स नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञि' त्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्र-मद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'दिना निपातनात् साधुः । हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि–प्रियास्विति । बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात् रति-क्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोस्त्रोट्योः 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्ल-वञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्ल-वसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः । ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः । 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्व-धिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्या-न्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतर-पर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित् कस्मा-त्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधिकरणत्वमेवमिति सिद्धा-न्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमही-रुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः । तेन च बाह्या-भ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्त्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्येव बहि-रङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७–११८ ॥

उस नलने (उक्त प्रकारसे १।१०८–११६) समुद्र शोभाको चुरानेवाले अर्थात समुद्रके समान शोभमान उस क्रीड़ाके छोटे जलाशयमें रमणाभिलाषिणी हंसीके कलनाद (अव्यक्त मधुर शब्द) में अभिलाषुक, (अल्पकामा) बाला प्रियाओं तथा सुरत–समर्था

युवती प्रियाओंमें दोनों चोचों तथा दोनों चरणोंके कपटसे (क्रमशः) दो पत्रयुक्त तथा पल्लवयुक्त कामोत्पन्न अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए, विचित्र ढङ्गसे (या सुवर्णमय होनेसे आश्चर्यकारक) पासमें (नलके समीपमें, या—क्रीडातडागके समीपमें) विचरते (धीरे-धीरे चलते) हुए सुवर्णमय हंसको देखा। [बाला प्रियाओंमें अल्पकाम होनेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर केवल दो पत्तोंवाला था, जिसे वह दो चञ्चुपुटके कपटसे धारण करता था, तथा सुरत-समर्थ युवती प्रियाओंमें प्रचुर काम होनेसे कामोत्पादित अनुरागरूप वृक्षका अङ्कुर पल्लवयुक्त था, जिसे वह पल्लवस्थानीय चरणाङ्गुलिके कपटसे धारण कर रहा था। यद्यपि इस तडागकी तुलना समुद्रसे करनेके कारण इसे पल्वल (छोटा जलाशय) कहना उचित नहीं है, तथापि नलके क्रीडातडागकी भावनासे इसे 'पल्वल' कहा गया है। अथवा—विस्तारके कारण समुद्रतुल्य तथा विनश्वर होनेसे पल्वलतुल्य शरीरमें विहार करते हुए रमणार्थिनी हंसी शक्तिके कलनाद (अव्यक्त ध्वनि) में आदरयुक्त हिरण्मय परमात्माको जैसे कोई योगी जानता (देखता) है, वैसे हंसको नलने देखा]॥ ११७-११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्॥ ११९॥

महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः॥११९॥

प्रिया [दमयन्ती) के विरहसे अत्यन्त दुखी भी वे पृथ्वीपति नल निश्चितरूपसे मनोहर उस पक्षी (हंस) को थोडी देर देखकर (उसे ग्रहण करनेके लिए) कुछ कौतुक-युक्त हो गये अर्थात् उसे पकड़नेकी इच्छा की॥ ११९॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ १२०॥

कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया' दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः। वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म॥ १२०॥

(अत्यन्त कामपीडित नलको हंस पकड़नेका कौतुक कैसे हुआ ? या—नलकी सेनाको

देखकर भयभीत भी हंस कैसे सो गया, इसका समाधान अर्थान्तरन्यासके द्वारा करते हैं—) अवश्य होनेवाले होनहारमें निर्बाध ब्रह्माकी इच्छा जिस ओर दौड़ती है, मनुष्यका अत्यन्त पराधीन चित्त भी वायु-समूहसे तृणके समान उसी दिशाको जाता है। [होनहारको कोई नहीं टाल सकता] ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
सतिर्य्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥ १२१ ॥

चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति-अथेति । अथ नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्ययः, 'तद्धितार्थे' त्यादिना सङ्ख्यासमासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभावान्न पादः पदादेशः, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप । स्वभावोक्तिरलङ्कारः, 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १२१ ॥

अनन्तर रति-खेद-खिन्न वह हंस गर्दनको तिरछा कर शिरको पङ्खसे छिपाकर एक पैरपर स्थित होकर उस तडागके पासमें ही सो गया ॥ १२१ ॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ? ॥१२२॥

सनालमिति । स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्माम्बुजं किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम् ? इति शब्दोऽत्राहार्य्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धोऽध' इति तकारस्य धकारः ॥ १२२ ॥

उस (नल) ने उस (सोये हुए हंस) को (एक चरण पर बैठे रहनेके कारण) अपने मुखसे पराजित शोभावाला (अतएव) लज्जासे नीचे मुख किया हुआ नाल (कमलदण्ड) सहित सुवर्णमय कमल समझा क्या ? तथा विद्रुम के दण्ड से शोभित, पीतवर्ण वरुणका हिरण्मय चामर समझा क्या ? [लाल एक चरणसे सुवर्णमय पीतवर्ण हंसको रक्तवर्ण नालवाला सुवर्णमय पीला कमल तथा रक्तवर्ण दण्डवाला सुवर्णमय वरुणका चामर समझना उचित ही है अर्थात् उक्तावस्थामें सोया हुआ हंस रक्तनालवाले सुवर्णमय कमलके समान तथा विद्रुमदण्डवाले सुवर्णमय वरुणके चामरके समान प्रतीत होता था] ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥१२३॥

कृतेति । ततस्तन्निदर्शनानन्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नल-

स्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः । पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः । 'तुं काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

तदनन्तर घोड़ेसे उतरे हुए इस नलके जूता पहने हुए चरण वन अर्थात् जङ्गलके नवपल्लवोंसे तथा वन अर्थात् जलके कमलोंसे युद्ध करनेके इच्छुक हो कवच बाँधे हुएके समान शोभते थे क्या ? । [जूता पहने हुए नलके चरण ऐसे प्रतीत होते थे कि वनोत्पन्न नवपल्लव तथा कमलोंके साथ युद्ध करनेके लिए इन्होंने कवच पहना हो, नल के चरणद्वय पल्लव तथा कमलके समान होनेसे उनके प्रतिभट थे] ॥ १२३ ॥

विधाय मूर्त्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

विधायेति । अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप् , बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्त्तिं विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः । मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४ ॥

इस राजा (नल) ने बलिध्वंसी (नारायण) के समान कपटसे अपने शरीरको छोटा कर शब्दरहित चरणसे (हंसके) समीपमें जाकर हाथसे उस पक्षी अर्थात् हंसको स्वयं पकड़ लिया ।

[पौराणिक कथा—बलिके यज्ञमें तीन चरणपरिमित भूमि मांगनेके लिए नारायणने कपटसे अपने शरीरको अत्यन्त छोटा बनाकर बलिको बाँधा था ।] ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

तदिति । स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान् । यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् । अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥१२५॥

तब उस हंसने अपनेको पकड़ा गया समझकर घबड़ाकर (या—भयसे) बार-बार उड़नेके लिए प्रयत्न किया, (फिर) उड़नेमें निराश हो चिल्ला-चिल्लाकर पकड़नेवाले (नल) के दोनों हाथोंको काटने लगा ॥ १२५ ॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

स इति । ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः कर्त्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः । अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा । वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवेवशब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२६ ॥

(सजातीय हंसके पकड़े जानेसे) भयसे उड़े हुए पक्षि-समूहसे व्याप्त (अतएव पक्षियोंके उड़नेसे उत्पन्न वायुसे) ऊपर उठते हुए जलसे कम्पनको प्राप्त (या-हंस-विषयक उत्कण्ठासे दयालुताको प्राप्त) वह तडाग तरङ्गोंसे चञ्चल कमलरूप हाथोंके द्वारा पक्षी (हंस) के पकड़नेसे राजा नलको मना-सा कर रहा था । [हंसके पकड़े जानेसे तडागवासी पक्षी जब भयसे एक साथ उड़ गये और उनके पङ्खोंकी हवासे तडागका जल चञ्चल हो गया तथा तरङ्गोंसे कमल हिलने लगे, तब ऐसा प्रतीत होता था कि यह तडाग राजा नलको पक्षी पकड़नेसे उस प्रकार निषेध कर रहा है, जिस प्रकार अनुचित रूपसे किसीके द्वारा किसी व्यक्तिके पकड़े जानेपर दूसरा दयालु व्यक्ति हाथोंको हिलाकर वैसे काम करनेसे उस व्यक्तिको मना करता है] ॥ १२६ ॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७॥

पतत्त्रिणेति । रुचिरेण पतत्त्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलन्त्यौ पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज । यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

सुन्दर उस पक्षी (हंस) से रहित तडागको छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी (पक्षा०—शोभा) के (चलनेसे) चञ्चल चरण-कमलके नूपुरोंके समान राजहंस-समूह तीरपर कूजने (शब्द करने) लगा । [लोकमें भी प्रियसे रहित स्थानको छोड़कर जाती हुई नायिकाके चरणके नूपुर शब्द करते हैं । 'जाती हुई' कहनेसे लक्ष्मीका वहांसे तत्क्षण जाना ध्वनित होता है] ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १२८ ॥

नेति । इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः ! यस्या वसुधाया

उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः, इत्थं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु। उक्त-रीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

'हे अङ्ग (राजन् नल)! यह पृथ्वी निवासके योग्य नहीं है, जिसके तुम मर्यादा छोड़नेवाले ऐसे) निरपराध हंसको पकड़नेवाले) पति (रक्षक या—स्वामी) हो' इस प्रकार पृथ्वीको छोड़कर आकाशका आश्रय किये हुए अर्थात् पृथ्वीसे आकाशमें उड़े हुए पक्षी अधिक शब्द कर नलकी निन्दा करने लगे। [लोकमें भी लोग धनधान्यपूर्ण भी उपद्रवयुक्त देशका त्याग कर शून्य देशका आश्रय करते हैं]॥ १२८ ॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥ १२९ ॥

नेति। इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा। हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः। इति मुहुः स्तुवन् स जना-धिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः। अवादि उक्तः। वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

'यह सोनेके पङ्खोंसे उत्पन्न सुन्दरता पक्षीकी नहीं देखी गयी है।' इस प्रकार हंसकी बार-बार प्रशंसा करते हुए राजा नलसे करपञ्जरस्थ मानसरोवर-निवासी वह हंस बोला—[अथ च—ब्राह्मणकी सुवर्ण-सामग्रीसे उत्पन्न सुन्दरता कहीं नहीं देखी गयी है······ अर्थात् ब्राह्मण प्रायः इतने अधिक धनी नहीं होते कि सुवर्णसे इस प्रकार व्याप्त हों। हाथको पञ्जर कहनेसे नलका हंसको ढीले हाथसे पकड़ना अतएव हंसका अपीडित होना सूचित होता है]॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥ १३० ॥

तदेव चतुर्भिराह धिगित्यादि। हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरि'त्यमरः। 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया। तुषारशीकरैः हिमकणैरर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

सुवर्णोत्पन्न मेरे पङ्खोंको देखकर लोभसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है, समुद्रको ओसकी बूँदोंसे जलके समान समृद्धिमान् तुमको इन (सुवर्णोत्पन्न पङ्खों) से कितनी धनकी वृद्धि होगी? अर्थात् कुछ नहीं। [जिस प्रकार अथाह जलसे पूर्ण समुद्रका जल ओसकी बूँदोंसे कुछ भी नहीं बढ़ सकता, उसी प्रकार समस्तैश्वर्यसम्पन्न तुम्हारा धन इन

थोड़े सुवर्ण-पक्षोंसे कदापि नहीं बढ़ सकता, अतएव उनके लिए लोभ करनेसे चञ्चल तुम्हारे मनको धिक्कार है]॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३१ ॥

नेति । हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः । मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः । ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

तुम्हें देखनेसे विश्वस्तहृदयवाले मेरी हिंसा केवल जीवहिंसा मात्र नहीं है, क्योंकि धार्मिकोंने विश्वस्त शत्रुओंकी भी हिंसाको विशेष निन्दित कहा है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ? ।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥ १३२ ॥

पदे पद इति । रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः । एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः । नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

पद-पदपर युद्धमें बहादुर योद्धा हैं, उनमें तुम्हारा हिंसानुराग नहीं पूरा होता क्या ? अर्थात् अवश्य पूरा होता, (अतएव) हे राजन् ! तुम्हारे इस निन्दित पराक्रम (अथवा-भूमिपर प्रसिद्ध पराक्रम) को धिक्कार है, जो कृपापात्र दीन पक्षीपर प्रयुक्त हो रहा है। [अथवा—पद-पदपर रणमें बहादुर योद्धा नहीं हैं ? जिनमें तुम्हारा यह हिंसानुराग पूरा होता…… । अथवा—पद-पदपर युद्धमें बहादुर शूरवीर हैं, (तथापि) तुम्हारा यह हिंसानुराग नम्रों (मेरे-जैसे दीनों) में पूरा होता है ? अर्थात् उन शूरवीरों के साथ युद्ध करनेमें असमर्थ होनेसे तुम मुझ-जैसे नतमस्तक दीनोंमें अपनी हिंसा-प्रवृत्तिको पूरा करते हो, यह अनुचित है ।……]॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयतेः कण्ड्वा-

दियगन्ताल्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम्। अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि गर्हन्ते स्त्रिय इति भावः॥ १३३॥

(राजाका दण्ड देना धर्म है, इस पर वह हंस कहता है—) जिसकी जीविका जलभूमिमें उत्पन्न अर्थात् कमलोंके फल (कमलगट्टा) तथा मूल (कमल-नालकी जड़) से (अथवा—जलमें उत्पन्न होनेवाले कमलादिके तथा भूमिपर उत्पन्न होने वाले आम्रादि के फल तथा कन्द से) मुनिके समान है, ऐसे (दयापात्र) मुझ पर भी दण्ड-प्रयोग करने वाले तुम्हारे ऐसे पतिसे पृथ्वी क्यों नहीं लज्जित होती ?। [दीनोंको दुःख देते हुए पति को देखकर उसकी स्त्री जिस प्रकार लज्जित होती है, उसी प्रकार फल-मूलसे जीविका-निर्वाह करने वाले मुनिके तुल्य मुझको दण्ड देते हुए तुम्हें देखकर पृथ्वीको भी लज्जित होना चाहिये] ॥ १३३॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः॥ १३४॥

इतीति। इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः। पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वाकार्य्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शने तन्निवर्त्तनेच्छा या कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य विधाय ल्यपि 'लघुपूर्वादि'त्ययादेशः। दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः। समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः॥ १३४॥

वह पक्षी (हंस) इस प्रकारके (१।१२०-१३३) वचनोंसे उस (नल) को आश्चर्य, दुःख तथा कृपासे युक्त बनाकर दया-समुद्र उनके हृदयमें करुणारस (कारुण्यरूपी जल) की नदीरूपिणी वाणियोंको प्रवाहित कराया अर्थात् समुद्रमें जलपूर्ण नदियोंके समान दयापूर्ण नलके हृदयमें करुणा रससे युक्त वचनोंको प्रविष्ट कराया—नलसे करुणापूर्ण वचन कहने लगा—। [नल सुवर्णमय हंस देखनेसे आश्चर्यित, अपनी निन्दा सुननेसे लज्जित तथा उसके दीन वचन सुननेसे कृपासे युक्त हो रहे थे] ॥ १३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ १३५॥

तावद्गिरः प्रपञ्चयति मदित्यादिना। तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः। जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्य्या 'हंसस्य योषिद्वरटे'त्यमरः। नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एष जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन् हे विधे! विधातः! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः॥ १३५॥

हे देव ! मैं ही जिसका इकलौता पुत्र हूं ऐसी तथा बुढ़ापेसे पीडित मेरी माता है, तथा नवीन प्रसववाली एवं पतिव्रता (या—दीना) मेरी प्रिया हंसी है, उन दोनों (माता तथा पत्नी) का यह व्यक्ति अर्थात् मैं गति (जीविका चलानेवाला) हूं, उसे अर्थात् मुझे मारते हुए तुम्हें करुणा नहीं रोकती है, अहो ! आश्चर्य (या—खेद) है। (अथवा—मुझसे एक पुत्र है जिसका ऐसी, अजननी अर्थात् मेरे मरनेके बाद भी पुत्रोत्पादन नहीं करने वाली, बुढ़ापेसे अपीडित, पतिव्रता (होनेसे युवती होने पर भी पुनः विवाह नहीं करनेसे सन्तानोत्पादन नहीं करने वाली), वप्रमें चेष्टावाली (या—मेरे मरने पर आश्रयान्तर नहीं होनेसे पर्वत-शिखर पर घूम-घूमकर आत्म रक्षा करने वाली वरटा अर्थात् मेरी प्रिया हंसी है, उन दोनों अर्थात् उस प्रिया हंसी तथा पुत्रकी गति (जीविका चलाने वाला) यह व्यक्ति अर्थात् मैं हूं,······ । प्रथम अर्थमें—अन्य पुत्र नहीं होनेसे तथा स्वयं जरापीडित होनेसे एवं मेरी स्त्रीके नवप्रसवा होनेसे माताकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है तथा स्त्री भी नवप्रसूति तथा पतिव्रता है, अत एव अब मेरे मरनेपर वह दूसरी सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकती और पतिविरहित होकर न तो स्वयं जीविका-निर्वाह ही कर सकती है, इन दोनोंकी मैं जीविका चलाने वाला था, वह मर ही रहा हूं अत एव ऐसे व्यक्तिको मारते समय देव होने पर भी तुम्हें दया नहीं आती तो मनुष्य इन नलसे दयाकी आशा मैं कैसे करूँ ?। द्वितीय अर्थमें—मेरी प्रिया हंसी बुढ़ापेसे पीडित नहीं है, फिर भी तपस्विनी (पतिव्रता) होनेसे पुनः दूसरे पतिके साथ विवाह कर पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती तथा सर्वदा पर्वत-शिखरों पर ही मेरे मर जाने पर घूमती हुई आत्मरक्षा करेगी अपने अन्यतम निवास स्थान मानसरोवरमें कभी नहीं रहेगी, उन दोनों (प्रिया हंसी तथा पुत्रकी मैं ही जीविका चलाने वाला हूं·········] ॥ १३५ ॥

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अथ मातरं शोचयति–मुहूर्त्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खलप्रत्ययः ॥ १३६ ॥

आँसू गिराते हुए तथा दयायुक्त मेरे मित्र थोड़े समय तक संसारकी (संसार अनित्य है, यहां आकर अन्तमें सबकी यही गति—मृत्यु होती है, काल किसीको नहीं छोड़ता, इत्यादि) निन्दासे दुःखको भूल जायेंगे, किन्तु हे मातः ! पुत्रका शोक-समुद्र तुम्हारे लिए ही दुःखसे पार करने योग्य होगा अर्थात् मित्रोंको मेरी मृत्युसे क्षणमात्र कष्ट होगा, किन्तु तुम्हें जीवन पर्यन्त कष्ट सहना पड़ेगा ॥ १३६ ॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये! स कीदृग्भविता तव क्षणः ?॥१३७॥

अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्थेत्यादिना । हे प्रिये ! मह्यमिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता च वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिकबिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे बिलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे देशे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः । अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः । कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

हे प्रिये ! मेरे (हंसीके) लिए सन्देश (प्रियासे जाकर इस प्रकार कहना ऐसी मेरी (हंसकी) आज्ञा) तथा मृणाल (मुझ हंसीके लिए भक्ष्य कमलनाल) के विषयमें आलसी मेरा (हंसीका) प्रिय (हंस) कितनी दूर है ?' ऐसा तुम्हारे कहने पर रोते हुए (मेरे सहचर) पक्षियोंको देखती हुई तुम्हारा वह समय कैसा ? अर्थात् अनिर्वचनीय दुःखप्रद होगा । [अथवा—'मेरे (हंसी के) लिए मृणालोंको लाना' ऐसे मेरे (हंसीके) संदेश (यहांसे जाते समय कहे गये वचन) में आलसी······]॥ १३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥ १३८ ॥

कथमिति । हे विधातः ! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्ग-शैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः । मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अत एव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्त-पानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता ? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः, 'विरुद्ध-कार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिर्मते'ति ॥

हे ब्रह्मन् ! प्रियाकी शीतलता तथा कोमलताके शिल्पी (रचयिता–निपुण कारीगर) तुम्हारे हस्तकमलसे 'तुम प्रियासे विरह पावेगे' ऐसा ललाटको तपाने वाला कठोर अक्षर का लेख कैसे निकला ? [शीतलता तथा कोमलताके चतुर कारीगर तुम्हारे स्वयं भी शीतल तथा कोमल करकमलसे शीतल तथा कोमल वस्तुकी ही सृष्टि होना उचित था, न कि तद्विपरीत उष्ण तथा कठोर उक्तरूप लेखकी सृष्टि होना]॥ १३८॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता ।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

अपीति । अपि चेत्यपेरर्थः । अद्यास्मिन् दिने 'सद्यः परुदि'त्यादिना निपातः, स्व-यूथ्यैः स्वसङ्गचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थ-

१. 'अयि' इति पाठान्तरम् ।

वार्त्ता उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूञर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपी'-त्यादिना सम्प्रसारणं हे लोलाक्षि! दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, बतेति खेदे ॥ १३९ ॥

और हे लोलाक्षि (स्वभावतः चपल-नेत्रवाली प्रिये!)! आज अपने झुण्डवाले हंसोंसे वज्रप्रहार तुल्य मेरे इस वृत्तान्त (मृत्यु-समाचार) को कहने पर खेद है कि तुम दशो दिशाओंको सूना देखोगी ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥ १४० ॥

ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे ! मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तत्तर्हि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः । कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

हे विचित्र (सुन्दर) अङ्गोंवाली प्रिये ! मेरे ही शोकसे विदीर्णहृदया तुम यदि मर जावोगी तो हा ! दैवसे मारा गया भी मैं फिर मारा गया, क्योंकि तुम्हारे बच्चे (तुम्हारे विना) अवश्य ही मर जायेंगे। [मेरे विना तुम भी उन बच्चोंका पालन-पोषण कर सकती हो, किन्तु यदि मेरे वियोगसे तुम मर जावोगी तो उनकी निश्चित हो मृत्यु हो जायेगी इस प्रकार मेरे मरनेपर मेरा परिवार ही नष्ट होता हुआ प्रतीत होता है अतएव मुझे दुर्दैवने यह बड़ा दुःसह कष्ट दिया] ॥ १४० ॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति । हे प्रिये ! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः । विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियामि'त्यमरः । विलुठ्य परिवृत्त्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

(हे प्रिये!) मेरे बहुत मनोरथोंसे प्राप्त, अस्फुटित-नेत्रवाले वे (बच्चे) तुम्हारे भी (तथा मेरे भी) विरहसे भूखसे व्याकुल हो उन घोंसलोंके समूहोंमें लोटकर क्षणमात्रमें चल बसेंगे अर्थात् मर जायेंगे; हाय ! हाय !! ॥ १४१ ॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ? ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

सुता इति । हे सुताः ! चूङ्कृतैश्चूङ्कारैश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिक्ष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत ! कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्रुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ॥ १४२ ॥

(इस प्रकार प्रियाको लक्ष्य कर कहने के बाद हंस अपने पुत्रोंको लक्ष्य कर कहता है–) हे पुत्रो ! 'चूं चूं' करते हुए चिरकालतक किसे बुलाकर (भोजन-पदार्थ मांगोगे) ? तथा मुखोंको कँपाते हुए (बोलना सीखोगे ? अर्थात् किसीसे नहीं, अतएव) कथाशेष हो (मर) जावोगे' ऐसा कह मूर्च्छित होकर वह हंस (दयाके कारण) नीचे बहते हुए राजा (नल) के आँसू के द्वारा भींगनेसे होशमें आया । [उक्त वचन कहते-कहते हंस मूर्च्छित हो गया, तथा नलने उस हंसके करुण विलापसे दयार्द्र हो इतने आँसू गिराये कि उसीके प्रवाहसे भींगा हुआ हंस होशमें आ गया । यहां पर हंसने बच्चोंसे भोजन मांगने तथा बोलना सीखने की बात नहीं कही है, किन्तु दुःखातिशयके कारण आधी ही बात कह सका है, ऐसा कहने से यहाँ करुणरस विशेष पुष्ट होता है । अथवा—'चूँ चूँ' करते हुए किसे बुलाकर तथा कँपते हुए मुखको किसके प्रति करके गोष्ठी आदिमें बोलना सीखोगे ? अर्थात् माता-पिताकी मृत्यु हो जानेसे तुम्हें सभामें बोलना सिखाकर कौन चतुर करेगा ?···]॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह–इत्थमित्यादिना । इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै यदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान् । 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार (१।१३५–१४२) विलाप करते हुए इस हंसको '(मैंने) जिस (रूपको देखने) के लिए तुम्हें पकड़ा था, वह रूप देख लिया, अब तुम इच्छानुसार (जहां चाहो, वहां) जावो' ऐसा कहकर दीनदयालु होनेसे राजा नलने छोड़ दिया ॥ १४३ ॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

आनन्देति । हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाञ्जनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः । प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसरिता नेत्रपयःप्रवाहाः बाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान् । अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्न-

वभेदः । अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्द-प्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः–'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति । वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग' इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी–'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनमि'ति ॥ १४४ ॥

उस (हंस) ने चक्राकार (गोल) भ्रमण करनेके कपटसे (हंसके छूटनेके हर्षसे) आरती करते हुए अपने बान्धवोंको पहले (पकड़े जानेपर) शोकसे निकलते हुए नेत्राश्रु प्रवाहवालोंको (तथा छूटनेपर) आनन्दजन्य हर्षाश्रुसे युक्त कर दिया । [राजा नलके द्वारा हंसके पकड़े जानेपर उसके सहचर वन्धु पहले रोकर तथा उस हंसके छूटनेपर हर्षित होकर आँसू बहाने लगे और हंसके चारों ओर मँडराते (चक्कर काटकर आते) हुए ऐसे प्रतीत होते थे मानों वे बन्धनमुक्त हंसकी आरती कर रहे हों । लोकमें भी किसी इष्ट बन्धुके पकड़े जाने पर लोग दुःखसे आंसू बहाते हैं तथा छूटने पर हर्षसे आँसू बहाते हैं तथा उस कारागारादिके बन्धनसे मुक्त इष्ट बन्धुकी आरती करते हैं] ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह—श्रीहर्षमिति । कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १४५ ॥

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

कविराज-समूहके मुकुटके अलङ्कारके हीरा 'श्रीहीर' तथा 'मामल्ल देवी'ने इन्दिय-समूहको जीतने वाले जिस 'श्रीहर्ष' को उत्पन्न किया, उसके चिन्तामणि मन्त्र (१४।८५) के चिन्तन (जपादि) के फलरूप, शृङ्गार-रचनासे मनोहर 'नैषधीय चरित' नामक महाकाव्यमें प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अधिगत्येति। अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः। जगत्यधीश्वरात् क्षमापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्षमायामि'ति विश्वः। पुरुषोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्तिं मोचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादेरवाङ्मानसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दत अलभत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः।अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः। अस्मिन् सर्गे एकशतश्लोकपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम्। 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

तदनन्तर वह पक्षी (हंस) उस पुरुषश्रेष्ठ भूपति नलसे छुटकारा पाकर वचनके भी ('अपि' शब्दसे मनके भी) अविषय अर्थात् अनिर्वचनीय आनन्दको पाया (पक्षा०— वह ब्राह्मण जगदीश श्रीविष्णु भगवान्‌से मुक्ति (तथा मुक्ति-साधनभूत ज्ञान) को पाकर अनिर्वचनीय आनन्दको पाया ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चूपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अधुनीतेति । स खगो हंसः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां नृपकरपीडनादुद्बुद्धय पतत्रीकृतां 'पतत्रञ्च तनूरुहमि'त्यमरः। तनुं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नञ् समासे नलोपप्रसङ्गः। अधुनीत धूतवान् धूञः क्र्यादेर्लङिति तङ्, 'प्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्वः। किञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः, पक्षमूलमि'त्यमरः, चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत् विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः। एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

वह पक्षी (हंस) फुलाये गये रोमोंवाले शरीरको अनेक प्रकारसे कँपाया तथा (नलके) हाथके द्वारा दबनेसे दन्तुरित (उच्चावच) मध्य भागवाले पङ्खमूलोंको चोंचसे खुजलाया ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

अयमिति। अयं हंसः स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षतेः पक्षमूलस्याधिमध्यं मध्ये ऊर्ध्वगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कर्षितचूडः सन् आलयं निजावासं शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

वह (हंस नलके पाससे) छूटते ही पङ्खमूलके मध्यमें ऊपर जङ्घा करके झटपट सिरको खुजलाया तथा अपने निवास स्थानपर (घोसलेमें या-तडाग तट पर) पहुँच गया ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।
नुनुदे तनुकण्डुपण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

स इति । पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यान् कटुतीक्ष्णान्दशतः दन्तैस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्त्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोट्या अग्रेण कुट्टनैः घट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्ये'ति ह्रस्वः । नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितञित' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४ ॥

(खुजलानेमें) चतुर वह हंस पङ्ख-समूहरूप दुर्गमें (रहनेसे) कठिनाईसे पकड़े जाने योग्य तथा खूब काटते हुए एवं कहीं (अज्ञात स्थानमें) स्थित कीड़ोंको तेज (नुकीले) चोंचोंके अग्रभागके द्वारा आहत करनेसे शरीरकी खुजलाहटको दूर किया [लोकमें भी कोई कुशल योद्धा वनादि दुर्गम भूमिमें रहनेके कारण कठिनाईसे पकड़ने योग्य एवं पीडा देते हुए शत्रुओंको तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मारकर उनकी बाधाको दूर करता है] ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्य्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अयमिति । अयं हंसस्तडागनीडजैः सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः 'नीडोद्भवा गरुत्मन्त' इत्यमरः । लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्य्यव्रियत परिवृतः, वृणोतेः कर्मणि लङ् । अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकरपीडनजन्याद्विकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः, शङ्कितैश्चकितैः अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनं डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

(नलके) सरोवरपर रहनेवाले पक्षियोंने इस हंसको झट-पट चारो तरफसे घेर लिया और बादमें (नलके) हाथसे पकड़नेके विकार (हंसके उच्चावच शरीरभाग) से डरे हुए वे उच्चस्वर करते हुए उड़ गये । [लोकमें भी किसी तीर्थादि में दान लेनेके लिए दाताको बहुत-से प्रतिग्रहीता घेर लेते हैं तथा दानजन्य कलहकी आशङ्कासे हल्ला करते हुए वहांसे चले जाते हैं] ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

दधत इति। अथ स खगो हंसः बहुशैवला भूरिशैवला क्ष्मा भूर्यस्य तद्बहुशैवलक्ष्मं तस्य भावः तत्ता तान्दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तान्दधतो दधानस्य नलस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ, कोकनदन्तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु। अत्र बहुशैवलेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनदभ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ६ ॥

वह पक्षी (हंस) बहुत शेवाल युक्त भूमि वाले सरोवरसे शिव-सम्बन्धी (या-शिवभक्तोंकी) बहुत-से चिह्नोंको धारण करते हुए नलके (मानो भ्रमरसदृश रुद्राक्षको धारण करते हुए) हाथको रुद्राक्ष-सदृश भ्रमरों वाले रक्तकमलके भ्रमसे पुनः प्राप्त किया। [बहुतसे शेवाल युक्त भूमिवाले तडागके रुद्राक्ष तुल्य भ्रमरोंसे युक्त रक्त कमलके भ्रम से वह हंस बहुतसे शैव (शिवभक्त या-शिवसम्बन्धी, या-मङ्गलकारक सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ) चिह्नोंवाले (रक्तवर्ण) नलके हाथको पुनः प्राप्त किया अर्थात् नलके हाथमें पुनः आगया। अथवा-रुद्राक्षके मधुतुल्य श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करते हुए हाथको········। अथवा-रुद्रको नहीं सहन करने वाले अर्थात् शिवद्रोहियोंको पराभूत करने वाले व्रत (नियम-प्रतिज्ञा) से युक्त=शिवद्रोहि पराभवकारक नल-करको······। अथवा-गूंजते हुए एवं अग्नितुल्य पिङ्गलवर्ण नेत्र वाले भ्रमरोंसे युक्त रक्तकमलकी भ्रान्तिसे········]॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः[1] ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते-पतग इति। पतगो हंसश्चिरकाललालनादुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि'त्यमरः। अवापितः प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः। किञ्च एतस्य महीभुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः। 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि। सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरित' इति ॥ ७ ॥

इस राजा (नल) के हाथमें आये हुए उस पक्षी (हंस) ने बहुत समय तक लालन करनेसे मानो अतिशय विश्वासको पाये हुएके समान अत्यधिक कौतूहलको धारण किया ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

नृपमानसमिति। इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनः कर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कु-

1. 'सन्' इति पाठान्तरम्।

र्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्यृतश्चे'ति कप् । रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान् । जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत्कर्ण-शष्कुली कलस्याविव्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

मानसरोवर है प्रिय जिसका ऐसा वह हंस कौतुक रूप अमृत (पीयूष, पक्षा०—पानी) के तरंगोंमें डूबते हुए, नलके मनको कर्णशष्कुलीरूप कलसद्वयका अवलम्बन करनेवाला बनाता हुआ अर्थात् अपने वचनको सुननेके लिए सावधान करता हुआ बोला— । [लोकमें पानीकी लहरोंमें डूबता हुआ कोई व्यक्ति कलस (घड़े) का अवलम्बनकर सावधान हो जाता है । जिसे मानस (मानसरोवर) प्रिय है, उसे नृपमानस (राजा नलके चित्त) को सावधान करना—डूबने से बचनेके लिए घड़ेका सहारा देकर सावधान करना उचित ही है] ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

मृगयेति । धर्मागममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरपि 'अन्तात्यन्ताध्वरदूर-पारसर्वानन्तेषु ड' इति गमेर्डप्रत्ययः । नृपैर्मृगया आखेटो नावगीयते न गर्ह्यते । तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदयेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाधिक इति यावत् धर्म्मः सुकृतम् । न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

' धर्मशास्त्रके मर्मके पारगामी (मनु आदि) राजा लोग भी आखेट (शिकार) की निन्दा नहीं करते, (अत एव) हे कामदेवतुल्य सुन्दर ! (नल ! आपने) मुझे जो छोड़ दिया, वह (छोड़ना) दयाके आविर्भावसे निर्मल आपका धर्म था । अर्थात् आप केवल आकृतिसे ही सुन्दर नहीं हैं, किन्तु आपका धर्म (स्वभाव) भी सुन्दर (दयावान्) है] ॥९॥

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥ १० ॥

ननु प्राणिहिंसा कथं नावगीयते तत आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो झषाः 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मोचफल-भक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्दिनः अनपराधितृणहिंस-कान् मृगान् , 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति मनुस्मृत्या तरुतृणा-दीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैवेति भावः । सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः, घ्नतां हिंसतां भूभृता मृगया अघाय पापाय न भवति । तद्वधस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

अपने निर्बल वंशवालोंको खानेवाली मछलियोंको, अपने घोसलोंके पेड़ोंको (विष्ठा-मूत्र आदिसे) पीडित करने वाले पक्षियोंको तथा निरपराध तृणोंको नष्ट करनेवाले मृगोंको

मारते हुए राजाओंका आखेट दोषके लिए नहीं होता। [क्योंकि निरपराधियोंको पीडित करनेवालोंको दण्डित करना राजाका धर्म है]॥ १०॥

यद्वादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यदप्रियमवादिषमवोचम्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरोः कृतं स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितुं प्रमार्ष्टुमिच्छुः, नुद–प्रेरण इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः॥ ११॥

(पहले) मैंने आपको अप्रिय (१।१३०–१३३) कहा था, (अब) प्रिय (अभिलषित) करके उस अप्रियको उस प्रकार दूर करना चाहता हूँ, जिस प्रकार सूर्य वृक्षको धूपके द्वारा तपाकर बाद में जल बरसाकर उसका प्रिय करता है॥ ११॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्त्तु न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः॥ १२॥

तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं इष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह–उपनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहर्त्तुं न साम्प्रतं न युक्तम्। 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' इति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथं ग्राह्यमत आह–करेति। हि यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रहःकरकल्पङ्करस्थानीयमित्यर्थः। ईषदसमाप्तौ कल्पप्प्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचेः शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्रापि प्राप्तः न तु मत्त इति भावः। आप्नोतेः कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, 'अतो न याच्ञालाघवन्तवेति भावः॥ १२॥

विना याचना किये उपस्थित हित (प्रिय–अभीष्ट) को छोड़ना (सार्वभौम) आपको भी उचित नहीं है, क्योंकि हाथके समान (मद्रूप) दूसरे व्यक्तिवाले शुद्ध भाग्यसे प्राप्त होने वाला वह प्रतिग्रह (दान) है। [यद्यपि आप सार्वभौम चक्रवर्ती राजा हैं, अत एव दूसरे किसीसे कुछ भी लेना—दानस्वरूपमें प्राप्त हुएको ग्रहण करना—उचित नहीं है, तथापि विना याचना किये जो हितकारक वस्तु उपस्थित हो जाय, उसे ग्रहण करनेमें चक्रवर्ती होते हुए भी आपको निषेध नहीं करना चाहिये; क्योंकि दूसरे व्यक्तिको अपना हाथ बनाकर शुद्ध भाग्य ही दानरूपमें उक्त हितकारक वस्तुको देता है अर्थात् भाग्यानुसार ही विना याचना किये वह वस्तु उसे मिलती है, अत एव उसका निषेध करना किसीको भी उचित नहीं है]॥ १२॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते?।
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तयः॥ १३॥

ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह–पतगेनेति । पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पतेः सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते पार्यते किं न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति वेद्मि अक्षमत्वं जानामि । तदपि तथाप्यर्त्तयो यास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भावः । मां प्रत्युपकर्त्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः । अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भावः ॥ १३ ॥

(सम्प्रति हंस अपने अहङ्कारका निराकरण करता है—) पक्षी मैं लोकाधीश (राजा) आपका क्या उपकार कर सकता हूं ? 'अर्थात् अतिशय साधनहीन मैं सर्वसाधन-सम्पन्न आपका कोई भी उपकार करनेमें समर्थ नहीं हूं' यह मैं जानता हूं, तथापि (आपसे दूर की गई मेरी) पीड़ाएँ प्रत्युपकार करनेके लिए मुझे नहीं छोड़ती हैं अर्थात् पीड़ा-मुक्तकर मेरा महोपकार करनेवाले आपका महाप्रत्युपकार करनेके लिये बार-बार प्रेरित करती हैं ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्त्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थकथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥ १४ ॥

अथवा यथाशक्तिपक्षोऽस्त्वित्याह–अचिरादिति । अथवा उपकर्त्तुरचिरादविलम्बादुपाय एवौपयिकः विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्वत्वञ्चे'ति ह्रस्वः, तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्यामित्यर्थः, 'तत आगत'इत्यण् प्रत्यये 'टीढ्ढाणञि' त्यादिना ङीप् । उपक्रियामाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरधातो र्विधिलिङ् । इत्थमेवं सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुरल्पाऽस्तु विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

(उपकार किया जा सके या नहीं किया जा सके, यह विचार छोड़ कर उपकृत व्यक्ति को उपकर्ताका प्रत्युपकार करना ही चाहिये, इस लोकनियमानुसार हंस कहता है—) उपकृत व्यक्तिको अपने उपायसे साध्य अर्थात् यथाशक्ति उपकर्ताका प्रत्युपकार शीघ्र ही करना चाहिये, 'वह उपकार छोटा हो या बड़ा' इस विषयमें विद्वानोंको कोई आग्रह (हठ—विशेष विचार) नहीं करना चाहिये । [जीवनको क्षणभङ्गुर जानकर उपकृत व्यक्तिको छोटा या बड़ा—जैसा भी शक्तिके अनुसार हो सके, उपकर्ताका प्रत्युपकार तत्काल करना चाहिये । इसमें प्रत्युपकर्ताका भाव देखा जाता है, न कि प्रत्युपकारका छोटापन या बड़ापन, अत एव मैं यथाशक्ति आपका प्रत्युपकार करना चाहता हूँ] ॥१४॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

अथ स्ववाक्ये आदरं याचते–भवितेति । हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचः मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रव्यं । श्रोतव्यम् । इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः कीरगीः शुकवागिव

मुदं किं न दास्यति दास्यत्येव प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः। ददातेः लृट् ॥ १५ ॥

मेरा यह वचन यदि विचार करनेमें सुन्दर नहीं हो, तथापि इसे आपको सुनना चाहिये, (क्योंकि मनुष्यके समान) यह पक्षीकी बोली है, इस कारण भी तोतेकी बोलीके समान यह आपको हर्षित नहीं करेगी क्या ? [अर्थात् यह हंस मनुष्यके समान स्पष्ट बोल रहा है, इस कौतुकसे भी यह मेरा वचन आपको हर्षित करेगा ही अतः विचारमें सुन्दर नहीं होने पर भी इसे आप सुननेका कष्ट करें] ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । अर्थेन अभिधेयेन सह वर्त्तत इति सार्थकम् , 'तेन सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सहशब्दस्य विकल्पात् सभावः 'शेषाद्विभाषे'ति कप् सामासान्तः, ततश्च्विरभूततद्भावे। अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः च प्रसिद्धः बिभ्यत्यस्मादिति भीमः 'भियो म' इत्यपादानार्थे निपातनान्मप्रत्यय औणादिकः, भीम इति भूपतिः नृपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते खलु। विदर्भभूर्विदर्भदेशः यं भूपतिं प्रभुं भर्त्तारमवाप्य शक्रो भर्त्ता यस्यास्तां शक्रभर्तृकां 'नद्यृतश्चे'ति कपि द्यान्दिवमपि हसति, किमुतान्यभर्तृकदेशानित्यर्थः । स्त्रियो हि भर्त्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः । अत्र विदर्भभुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ १६ ॥

शत्रु—समूहमें अपने नामको सार्थक करनेवाला वह लोक प्रसिद्ध राजा 'भीम' है, जिस पतिको पाकर विदर्भभूमि इन्द्राधिपति वाली स्वर्गभूमिको भी हंसती है । ['भयङ्कर' इस अर्थवाले नामको राजा 'भीम'ने अपने शत्रु-समूहमें चरितार्थ कर दिया है अर्थात् राजा भीमके नाममात्रसे शत्रु-समूह भयभीत हो जाता है, ऐसे विदर्भनरेश हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपासनया प्रसन्नात् 'भाषायां सदवसश्रुव' इति सदेर्लिटः क्वसादेशः । दमनाद्दमनाख्यात् तथ्यगिरः अमोघवचनात् तपोधनादृषेः दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितययोरनन्यसदृशीं गुणोदयां कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधारणगुणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप वरत्वेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ॥१७॥

(दमयन्ती के लोकोत्तर गुणकी प्रामाणिकताके लिए हंस पुराण प्रसिद्ध इतिहासको कहता है—) उस भीम राजाने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता एवं तपोधन 'दमन' ऋषिसे (वर्तमान, भूत और भविष्यद् रूप) तीनों काल तथा (स्वर्ग, मर्त्य और पाताल रूप)

तीनों लोकोंमें अनन्य साधारण (सौन्दर्यादि) गुणोदय वाली कन्याको वर रूपमें प्राप्त किया [तीनों काल तथा तीनों लोकमें इसके समान गुण किसीको भी नहीं होगा, ऐसा वरदान अतिशय प्रसन्न सत्यवक्ता तपस्वी 'दमन' ऋषिसे राजा भीमने पाया, जिसके फल स्वरूप वह कन्या उत्पन्न हुई] ॥ १७ ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह-भुवनत्रयेति । असौ वरप्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन्दरीणां कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तं गमयन्ती दमेर्ण्यन्ताद् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदे लटः शत्रादेशः । उदियाय उदिता, इणो लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधे, दधातेर्लिट् ॥ १८ ॥

जिस कारण वह कन्या शरीरकी शोभासे तीनों लोककी सुन्दरियोंके सौन्दर्याभिमान को दमन करने वाली उत्पन्न हुई, उस कारण उसका नाम 'दमयन्ती' पड़ा ॥ १८ ॥

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि या विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥ १९ ॥

अथैकविंशतिश्लोकैश्चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति-श्रियमिति । हे नृप ! ताम् दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागराधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं साक्षाल्लक्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्हिरि'ति ह्यादेशे ङित्त्वान्न सार्वधातुकगुणः, संहितायाम् 'आद्गुणः' । अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादाङ् प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपन्यासो वृथा । प्रक्षाल्य त्यागः 'अवैही'ति वृद्धिरवद्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ् प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्तः इति व्याख्यानादन्यथा 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति । न च देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह— व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः, मृगचूडानिलयां हरशिखाश्रयां कलां विधोरिन्दोरेव कलां को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः, 'विदो लटो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः । यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रकलैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येषा श्रीरेवेति सौन्दर्यातिशयोक्तिः । अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ वाक्यद्वये विम्बप्रतिबिम्बभावेन सामान्यधर्म्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः । 'यत्र वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतयोच्यते । सामान्यधर्म्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते॥' इति लक्षणात् ॥ १९ ॥

आप उस (दमयन्ती) को गुण-समुद्र राजा भीमसे उत्पन्न साक्षात लक्ष्मी ही जानें.

पृथक् रहनेपर भी शिवजीकी चूडामें स्थित कला (चन्द्रकला) को कौन नहीं जानता ? अर्थात् चन्द्रमासे पृथक् शिव चूडा स्थित कला भी जिस प्रकार चन्द्रकला ही कहलाती है, उसी प्रकार जलनिधि समुद्रसे नहीं उत्पन्न होने पर भी गुण-समुद्र भीमसे उत्पन्न हुई उस दमयन्तीको आप साक्षात् लक्ष्मी ही जानें ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा विभर्त्ति यान् ।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

चिकुरप्रकरा इति। चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते यान् वेत्तीति विदुषी विशेषज्ञा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चेति ङीप् 'वसोः सम्प्रसारणम्'। सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्त्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः। अतएव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु ? न कोऽपीत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ २० ॥

पण्डिता वह दमयन्ती जिन केश-समूहोंको सिरपर धारण करती है, वे विजयी होवें; पशु (चमरी गाय) से भी आगे नहीं किये गये अर्थात् पीछे धारण किये गये चामरसे उस (दमयन्ती-केश-समूहों) की समानता कौन करना चाहे ? अर्थात् कोई नहीं। [मूर्ख चमरी गायें भी जिन चामरगत केश-समूहोंको हीनगुण समझकर पीछे धारण करती हैं, उन चामरगत केश-समूहों के साथ दमयन्तीके केश-समूहोंकी समता कौन करना चाहेगा ? जिन्हे पण्डिता दमयन्ती सब अङ्गोंमें उत्तम अङ्ग अपने मस्तक पर धारण करती है। दमयन्तीका केश-समूह चामरसे बहुत ही श्रेष्ठ है] ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

स्वदृशोरिति। मृगाः हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः शोभया कर्त्र्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयोरुत्पद्यमाननिमीलनयोः स्वदृशोर्निजनयनयोः खुरैः शफः 'शफं क्लीबे खुरः पुमानि'त्यमरः। कण्डूयनस्य कर्षणस्य कैतवाच्छलात्सान्त्वनां जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति। यथा लोके परपराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः। अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥ २१ ॥

उस दमयन्तीके बड़े-बड़े नेत्रोंकी शोभासे जीते गये अत एव भयसे मानों तन्द्रायुक्त होते हुए अपने नेत्रद्वयको खुरसे खुजलानेके कपटसे मृग सान्त्वना देते हैं। [लोकमें भी प्रबल व्यक्तिसे पराजित होनेसे भयके कारण तन्द्रायुक्त होते हुए दुर्बल व्यक्तिको आत्मीय जन हाथसे सहलाकर (छूकर) सान्त्वना देते हैं। दमयन्तीके नेत्र मृगनेत्रोंसे भी बड़े बड़े तथा सुन्दर हैं] ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥ २२ ॥

अपीति । हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमयन्त्याः लोकयुगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः ते रमणीगुणाः स्त्रीधर्म्मा अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रेः तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्म्मणी'ति विश्वः । सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति । 'आत्मनेपदेष्वनत' इति झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम् । अत्र लोकयुगादीनान्त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

हे भूपते (नल) ! 'दम' (भीम राजाके पुत्र) की वहन अर्थात् दमयन्तीके मातृकुल तथा पितृकुल वेदप्रसिद्ध (या—लोक प्रसिद्ध) होनेसे परस्परमें शोभते हैं, दोनों नेत्र भी कानों तक पहुँचनेसे अर्थात् अत्यन्त विशाल होनेसे परस्परमें शोभते हैं और शास्त्रोंमें सुने तथा किसी किसी सुन्दरीमें देखे गये स्त्री–सम्बन्धी गुण भी लोगोंके द्वारा सुने जानेसे परस्परमें शोभते हैं । [यहाँ 'वि अति' उपसर्ग वाले दीप्त्यर्थक 'भा' धातुसे सिद्ध प्रथम पुरुषकी 'व्यतिभा' क्रिया दी गयी है, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें एक ही रूप होनेसे उक्त एक ही क्रियापदका सम्बन्ध क्रमशः एकवचन 'लोकयुगम्' द्विवचन 'दृशौ' तथा बहुवचन 'रमणीगुणाः' तीनों पदोंके साथ होता है । 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (पा० सू० १।३।१४) के नियमसे 'वि–अति' उपसर्गोंके साथ 'भा' धातुका परस्पर विनिमय अर्थ होता है; अत एव इस श्लोकका विशद अर्थ यह है—दमयन्तीका मातृकुल लोक प्रसिद्ध है, अतः इस मातृकुलके लोकप्रसिद्धत्वको दमयन्तीके पितृकुलने स्वीकार किया तथा दमयन्तीका पितृकुल भी लोकप्रसिद्ध है, अतः उस पितृकुलके लोकप्रसिद्धत्वको दमयन्तीके मातृकुलने स्वीकार किया अर्थात् दमयन्तीके सम्बन्धसे पितृकुलके समान मातृकुल तथा मातृकुलके समान पितृकुल शोभता है, इस प्रकार सादृश्यमें तात्पर्य मानकर परस्पर विनिमय करना चाहिये । वह सादृश्य श्रुतिगामी (जगत्प्रसिद्ध) होनेसे विशिष्ट होता है और जगत्प्रसिद्धत्वरूप मातृकुलका सादृश्य पितृकुलकी अपेक्षा तथा पितृकुलका सादृश्य मातृकुलकी अपेक्षासे है, नेत्रादि अपेक्षासे नहीं । इसी प्रकार दमयन्तीके दोनों नेत्र भी कान तक पहुँचने (कानों तक पहुँचकर विशाल होने) से परस्पर विनिमयसे शोभते हैं अर्थात् दहने नेत्रकी कानतक पहुँचनेसे उत्पन्न विशालत्वरूप शोभाको वामनेत्र

तथा बांये नेत्रकी कानतक पहुचनेसे उत्पन्न विशालत्वरूप शोभाको दहना नेत्र स्वीकार करता है। कानतक पहुंचकर विशाल होनेसे दहना नेत्र बांयेके समान तथा बांया नेत्र दहनेके समान सुन्दर है, इस तरह यहां भी सादृश्यमें ही तात्पर्य है। तथा पुराणादिमें सुने गये एवं किन्हीं स्त्रियों में देखे गये दमयन्ती-सम्बन्धी (या-किन्हीं स्त्रियों में सुने गये एवं किन्हीं स्त्रियोंमें देखे गये स्त्री-सम्बन्धी) गुण लोगोंके द्वारा सुने जानेसे विनिमयसे शोभते हैं। पुराणादिमें (या—किन्हीं स्त्रियोंमें)जो सुने गये वे किन्हीं स्त्रियोंमें देखे गये और वे दमयन्तीमें ही सुने जाते हैं, इस प्रकार सुने तथा देखे गये दमयन्ती-सम्बधी स्त्री-गुणोंका श्रुतिगामित्व है, अतः सुने गये दमयन्तीके स्त्री-गुणोंकी श्रुतिगामी होनेसे शोभाको उसके देखे गये गुणोंने स्वीकार किया तथा देखे गये दमयन्तीके स्त्री-गुणोंको श्रुतिगामी होनेसे शोभाको उसके सुने गये गुणोंने स्वीकार किया—इसप्रकार विनिमय जानना चाहिये। सुने गये दमयन्ती-सम्बधी स्त्री-गुण जैसे शोभते हैं, देखे गये दमयन्ती-सम्बधी स्त्री-गुण भी वैसे ही शोभते हैं, इस प्रकार सादृश्यमें ही तात्पर्य-जानना चाहिये। अर्थात् सुने तथा देखे गये सम्पूर्ण स्त्री-सबन्धी गुण दमयन्तीमें ही विद्यमान हैं। अथवा—सामुद्रिक शास्त्रोंमें देखे गये एवं 'पद्मिनी' आदि स्त्रियों में सुने गये स्त्री-गुण परस्पर विनिमयसे दमयन्तीमें ही शोभते हैं]॥ २२॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥ २३॥

नलिनमिति। नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरिष्कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जननामकः पक्षिविशेषः 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' इत्यमरः। तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुपमेये इत्यर्थः। 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः। ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥ २३॥

कमलको मलिन (सौन्दर्यहीन) करते हुए तथा मृगीका स्पर्श तक नहीं करते हुए अर्थात् अत्यन्त हीन मृगी-नेत्रका दूरसे ही परिहार करते हुए अञ्जनयुक्त दमयन्तीके नेत्र 'खञ्जरीट' नामक पक्षीको शोभाविषयक अभिमानमें दरिद्र बना रहे हैं अर्थात् दमयन्तीके नेत्रोंकी श्रेष्ठतासे खञ्जरीटका शोभा-सम्बन्धी अभिमान नष्ट हो जाता है। [अथवा—अञ्जन-शलाकाका स्पर्श नहीं किये हुए अर्थात् अञ्जनसे हीन एवं कमलको मलिन करते हुए दमयन्तीके नेत्र विस्फारित होकर कमलको मलिन (शोभाहीन) करते हैं और अञ्जनसे सुशोभित होकर खञ्जरीटको सौन्दर्य-मदके विषयमें दरिद्र करते हैं। अथवा—(आत्मगत) श्यामताको प्रकाशित करते हुए दमयन्तीके नेत्र कमलको शोभा सम्बन्धी अभिमानके

विषयमें दरिद्र बनाते हैं……। या—श्यामवर्ण अर्थात् नील कमलको दमयन्तीके नेत्र शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं तथा विस्फारित होते हुए हरिणीको शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं और अञ्जनसे शोभित दमयन्तीके नेत्र खञ्जरीटको शोभा-सम्बन्धी मदके विषयमें दरिद्र बनाते हैं। दमयन्तीके नेत्रोंने अपने श्यामत्व गुणसे कमलको, विशालत्व गुणसे हरिणियों (के नेत्रों) को और अञ्जन युक्त होनेपर कृष्ण श्वेत गुणसे खञ्जरीटको जीत लिया]॥ २३ ॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति[1] भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या [2]रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

अधरमिति । अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेषु यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः। अस्या दमयन्त्याः रदनच्छदम् ओष्ठमभिदधत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः। बिम्बनामकं फलं बिम्बमस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमबाधितमन्वयं वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं लभते, अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भावः। अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववत् ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

(अधरबिम्बके समान हैं, इस अर्थमें प्रयुज्यमान) 'अधरबिम्ब' यह पद इस (दमयन्ती) के ओष्ठको कहता हुआ 'बिम्ब' नामक फल (दमयन्तीके) इन दोनों ओष्ठोंसे अधर अर्थात् हीन हैं, इस प्रकार (बहुव्रीहि समासात्मक) उचित अन्वयको प्राप्त करता है। [इस दमयन्तीके ओष्ठोंकी अपेक्षा लालिमा तथा अमृतकल्प मधुरिमामें अत्यन्तहीन होनेसे 'अधर' (हीन) है 'बिम्ब' (बिम्बफल) जिससे ऐसा बहुव्रीहि समासात्मक अन्वय 'अधरबिम्ब' पदके लिए उचित है और अन्यान्य स्त्रियोंके ओष्ठोंके साथ बिम्बफलकी समानता होनेसे लोकप्रसिद्ध 'अधर (ओष्ठ) बिम्बके समान है, ऐसा तत्पुरुष कर्मधारण समासात्मक अन्वय करना ठीक है]॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।

१-२. अत्र म० म० शिवदत्तशर्माणः—'आभ्याम्, रदनच्छदे' इति द्विवचनान्तपाठः साहित्यविद्याधरीसम्मतः। यतो व्याख्यातम्-रदनच्छदे ओष्ठौ वदत् प्रतिपादयत्। रदनच्छदस्य नपुंसकत्वम्। यदुक्तं प्रतापमार्तण्डाभिधानकोषे—'गरुत्पक्षच्छदोऽस्त्रियाम्' इति। 'आभ्याम्, रदनच्छदे' इति पाठस्तु सर्वथाऽशुद्धः, 'ओष्ठोऽधरो रदच्छदः' इति पुंलिङ्गनिर्देशात्, इति सुखावबोधा। आभ्यामिति पाठे रदनच्छदौ वददिति युक्तः पाठः। छदशब्दस्य पुंलिङ्गत्वात्। 'दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः, इति तिलकव्याख्यायामभिहितम्। रदनच्छदे वदन् 'वद स्थैर्ये' स्थिरीभवन्निति सप्तम्यन्तपाठाङ्गीकारश्च'। इति।

कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

हृतसारमिति । इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः । क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्याङ्कमिव, कुतः ? कृतमध्यविलं विहितमध्यरन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्यन्तथा विलोक्यते, 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादि'त्यमरः । 'कृदिकारादक्तिन' इति ङीप् । अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः, स च कृतमध्यविलमित्येतत्पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः । तया चोपमा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥ २५ ॥

दमयन्तीके मुख (को बनाने) के लिए ब्रह्माके द्वारा (बीचसे) लिये गये सारवाला बीचमें बिलयुक्त चन्द्रमा गहरे गढ़ेके आकाशके नीलापनसे युक्त दिखलाई पड़ रहा ॥२५॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः ।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

धृतेति । विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलितमित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक' इत्यमरः । किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः । भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति भावः, एवं नीराजयन्तीति देशाचारः । अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणात्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

ब्रह्मा कलङ्करूप गोमय (गोबर) पूजनसे युक्त तथा (चउरठ—चावलके चूर्णसे बने) ऐपनके लेपसे श्वेतवर्ण चन्द्ररूप दमयन्तीके मुखकी आरतीके शराव (ढकनी—पात्रविशेष) को ठीक ही घुमा रहा है । [लोकमें दृष्टिदोष हटानेके लिए ढकनी आदिमें गोबर रख कर तथा उसे ऐपन (चावलके चूर्ण) से लीपकर जिस प्रकार आरती घुमायी जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मा कलङ्करूप गोबर तथा श्वेतिमारूप ऐपनसे युक्त चन्द्रको दमयन्तीके मुखकी आरती का पात्र (थाल या ढकनी) घुमाता है, यह उचित ही है] ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मभाजि तन्मुखात् ।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

सुखमेति । सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने कृते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखादपादानात् भङ्गावधित्वादभाजि अभञ्जि स्वयमेव भग्नमभूदित्यर्थः स्फुटं, कर्त्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणी'ति वैभाषिको नकारलोपः । अतएवाधुनापि भङ्गलक्षणम्पराजयचिह्नं सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न जहाति । जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः । उन्मज्जनक्रियानिमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

अधिक शोभाके विषयमें दिव्य परीक्षामें सम्पूर्ण कमल दमयन्तीके मुखसे पराजित हो गये, (अत एव) मानो इस समय भी वे कमल पराजयसूचक पानीसे ऊपर स्थितिको नहीं छोड़ते अर्थात् अब भी पानीके ऊपर ही रहते हैं। ['दिव्य'[1] परीक्षाओंमें जलसे 'दिव्य परीक्षा' लेनेका यह नियम है कि धनुर्धरके बाण छोडनेपर उस बाणको लानेतक जो व्यक्ति नाभितक पानीके भीतर खड़े हुए मनुष्यका पैर पकड़े हुए डूबकर ठहरा रहता है वह विजयी होता है तथा पानीमें डूबा हुआ जो व्यक्ति बाण लानेके पहले ही पानीके ऊपर सिरकर लेता है वह पराजित होता है। प्रकृतमें दमयन्तीके मुख तथा कमलमें दिव्य परीक्षा करते समय कमलको पानीके ऊपर रहनेसे उसके पराजित होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ? ॥२८॥

धनुषी इति। तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्याः दमयन्त्याः उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयोः तयोः 'शिलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो ण' इति णप्रत्ययः, 'नालीकं पद्मखण्डे स्त्री नालीकः शरशल्ययोरि'ति विश्वः। नलिके न द्रोणिचापे न किमिति काकुः। पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥२८॥

उस (दमयन्ती) के भ्रूद्वय विश्वविजय करने के लिये रति तथा कामदेवके धनुष नहीं हैं क्या ? अर्थात् धनुष ही हैं, तथा हे राजन् ! उस (दमयन्ती) की उच्च दोनों नासिकायें तुम्हारे ऊपर नालीसे छोड़नेके इच्छुक बाणद्वय की दोनों नालियां नहीं हैं क्या ? अर्थात् दो नालियां ही हैं। (या—······कामदेवके मानों धनुष हैं) ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

सदृशीति। हे शूर ! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ यस्याः सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सलिलानाञ्च सहायसम्पन्नानामपीत्यर्थः। 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्क' इति विश्वः। सरोरुहां श्रियः शोभाः सम्पदश्च 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण बलिग्रहणेन च 'बलिहस्तांशवः कराः' 'लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता गृह-ग्रहण इति धातोश्चौरादिकात 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः, 'अयामन्ते'त्यादिना णेरयादेशः। सा

---

१. एतदर्थं याज्ञवल्क्यस्मृतेर्व्यवहाराध्याये दिव्यप्रकरणं द्रष्टव्यं 'तुलाग्न्यापो विषं कोशो······'इत्यारभ्य 'आचतुर्दशिकादह्नो······' (२९५-११३) यावत्। तस्यैव मिताक्षरावीरमित्रोदयव्याख्याने च विशदतया वर्णितं तद्दिव्यप्रकरणमिति बोध्यम्।

२. 'नु' इति पाठान्तरम्।

दमयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः। शूरस्य शूरैव भार्या भवितुमर्हतीति भावः ॥ २९ ॥

हे शूर (नल)! जलरूपी दुर्गमें रहनेवाली मृणालकी विजयिनी भुजाओंवाली, तथा मित्रसेवी (सूर्यसेवी, पक्षा०—सुहृद्रूप जलसे युक्त अर्थात् सहायक सहित) भी कमलोंकी शोभाको भुजाओंके विलाससे (पक्षा०—कर = राजदेय भागके विलाससे) सदा ग्रहण करनेवाली वह दमयन्ती एकमात्र आपके ही योग्य है, (क्योंकि शूरवीर की पत्नी शूरवीर स्त्री ही होती है) ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥ ३० ॥

वयसी इति। सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः, शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव अत्र शैशवेन स्थातव्यन्ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमर्य्यादे अपि 'विभाषा ङिश्यो'रित्यल्लोपः, न रज्यतः न सन्तुष्यतः। रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः। एतेन वयःसन्धिरुक्तः। अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

सुनयना उस दमयन्तीमें अपनी अभिव्याप्तिको करनेकी अभिलाषिणी ('मैं हीं इस दमयन्तीमें सर्वत्र व्याप्त होकर रहती हूँ' ऐसा करनेकी इच्छा करनेवाली) शैशव तथा उसके बादवाली अर्थात् यौवन अवस्थाएँ ब्रह्माके द्वारा भी (नाभिके नीचे) रोमरेखासे विभागकर मर्यादित की गयी नहीं अनुरक्त होती हैं क्या ? अर्थात् अनुरक्त होती ही हैं। [उस सुनयना दमयन्तीमें शैशवावस्था पहलेसे ही है तथा युवावस्थाका भी आरम्भ हो रहा है। लोकमें भी दो व्यक्तियोंमें सीमा-सम्बन्धी पारस्परिक विरोध होनेपर कोई वृद्ध व्यक्ति उन दोनों के लिए सीमा बनाकर उन्हें सन्तुष्ट कर देता है। नाभिके नीचे रोमराजि उत्पन्न होनेसे दमयन्तीकी यौवनावस्थाका आरम्भ होना सूचित होता है] ॥ ३० ॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह—अपीति। कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधतां दुरवगाहतां गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतोः स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः। लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमवलम्ब्यत इति प्रसिद्धं, भवतः खलु। अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौत्कट्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३१ ॥

कान्ति-प्रवाहसे अगाधताको प्राप्त भी उस (दमयन्ती) के शरीरमें बढ़ते (क्रीड़ा करते) हुए कामदेव तथा यौवनके लिए (दमयन्तीके विशाल) दोनों स्तन मानों तैरनेके घड़े हो रहे हैं । [यद्यपि अगाध जल प्रवाहमें क्रीड़ा करना ठीक नहीं है, तथापि जलक्रीडा करते हुए कामदेव तथा यौवनके लिए दमयन्तीके विशाल दोनों स्तन तैरनेके घड़े-से हो रहे हैं] ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ? ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

कलस इति । निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्यः चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वं सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुणः प्रधाने रूपादावि'त्यमरः सः कलसे किमु ? दण्डकार्यें कलसे संक्रान्तः किमु ? इत्यर्थः, कुतः यद्यस्मात् स कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचात्मना परिणतः सन् प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्तिं कुलालदण्डभ्रमणं चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः । ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः । अत्र 'समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्यें संक्रामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्थापितझरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्यें चक्रभ्रमकारितालक्षणनिमित्तकारणगुणसंक्रमलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः । तार्किकसमये विरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम्, तदेतदत्यन्ताश्रतचरमलङ्कारपारदृश्वानः शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

(कुम्हारके चाकको घुमानेका गुण कलसमें अपने निमित्त कारण दण्डसे उत्पन्न हुआ है क्या ? क्योंकि वह कलस उस (दमयन्ती) का विशाल स्तनद्वय होता हुआ प्रभा-प्रवाह-समूह (या—प्रभा-प्रवाहरूप चाक, या-प्रभा-प्रवाह से चकवा पक्षी) का भ्रम (भ्रान्ति, पक्षा०—भ्रमण) को उत्पन्न करता है ! [समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्त-कारण—ये तीन कारण नैयायिकोंने माने हैं, इनमें समवायिकारणका गुण कार्यमें आता है, यथा मृत्पिण्डका गुण कलशमें; किन्तु निमित्त कारणका गुण कार्यमें नहीं आता, यथा—दण्ड-चक्र-चीवरादिका गुण कलशरूप कार्यमें नहीं आता । परन्तु यहाँ उलटा ही देखा जाता है, क्योंकि कुम्हारके चाकके घुमानेका अपने निमित्त कारणभूत दण्डका गुण कार्यरूप कलशमें आ गया है, यह इस कारणसे ज्ञान होता है कि वह कलस दमयन्ती के विशाल स्तनद्वय होकर प्रभा-समूहसे कुम्हारके चाकको भ्रम कराता है अर्थात् दमयन्तीके कलसतुल्य विशाल स्तनोंको देखकर कान्ति-समूहसे मनुष्य नीचे ऊपर घूमने लगता है, अथवा—वह प्रभा-प्रवाहमें चकवाका भ्रम कराता है अर्थात् उक्तरूप स्तनोंको देखकर ये चकवा पक्षी प्रवाहमें घूम रहे हैं ऐसा प्रतीत होने लगता है; और प्रवाहमें चकवाका

घूमना उचित भी है; अथवा—वह प्रभा-प्रवाह (कान्ति-समूह) से राष्ट्र (या-जन-समूह) को भ्रम उत्पन्न करता है अर्थात् सभी लोग उक्तरूप स्तनोंको देखकर आश्चर्यसे चकित हो भ्रममें पड़ जाते हैं] ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः ।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

भजति इति । दमस्वसुर्दमयन्त्याश्चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जितबर्ह इत्यर्थः । शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तथा कुचशोभया जितकुम्भ इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते । परपरिभूताः प्राणत्राणाय प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम् । अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्वजितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्यलिङ्गे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च ॥ ३३ ॥

दमयन्तीके बालोंसे (पराजित होनेके कारण) पूंछोंके बालोंकी निन्दा किया हुआ मयूर षडानन (स्वामी कार्तिकेय) की सेवा करता है तथा स्तनोंकी शोभासे पराजित कुम्भ (मस्तकस्थ कुम्भाकार मांस-पिण्ड) वाला गजराज (ऐरावत) इन्द्रकी सेवा करता है । [लोकमें भी किसी प्रबलसे पराजित व्यक्ति उस वैरीसे बदला लेने या वैसा स्वयं भी बनने; या उसे पराजित करनेके लिये किसी देवताकी सेवा करता है । यद्यपि पहले (२।२०) केशका वर्णन कर चुके हैं तथापि यहां स्तन-वर्णनके प्रसङ्गमें केशका वर्णन कविने पुनः कर दिया है । दमयन्तीके केश मयूरपिच्छ से तथा स्तन ऐरावतके कुम्भसे भी सुन्दर हैं] ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिबलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

उदरमिति । दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तत्ता तया स्फुरत् दृढग्रहणात् पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचनत्नपुंसकत्वे । तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं यत्त्रिवलि पूर्ववत् समासादिः कार्यः, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत् 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति संज्ञायां द्विगुरिति । तदपि चेत्करणसामर्थ्यात्त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमिति प्रतीमः । तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति शेषः । मुष्टिग्राह्यमध्येयमित्यर्थः । मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

दमयन्तीका उदर मुट्ठीमें बांधनेसे पृष्ठ भागमें अङ्गुष्ठ लगनेसे चिपटा तथा आगेमें चारो अङ्गुलियोंके बीच की तीन रेखाओंके लगनेसे त्रिवलियुक्त बनाया गया है । [चार

अङ्गुलियोंके बीचमें तीन रेखाओंका होना सर्वविदित है, इसकी सृष्टि करते समय उन्हींके लगनेसे दमयन्तीका उदर आगे तीन रेखाओंसे युक्त तथा पीठमें अङ्गुष्ठ लगनेसे चिपटा हो गया है। दमयन्तीका उदर एक मुट्ठीमें बाँधने योग्य अर्थात् अत्यन्त पतला है] ॥३४॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ? ।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

उदरमिति। कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभिर्वलिभिर्हेमकाञ्च्या सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः। एतस्याः कनकलावण्यं सूचितम् धृतं तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा। अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयः सङ्करः। पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम्। इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेदः प्रेक्षितुरिति भावः ॥ ३५ ॥

कौतुकी कोई (ब्रह्मा) दमयन्तीके उदरको मुट्ठीसे नापता है क्या ?, क्योंकि स्वर्णकी करधनी-सहित त्रिवलियोंसे ऐसा शोभता है कि मानो उस (कौतुकी) के चारों अङ्गुलियों (के मध्यगत तीन रेखाओं) को धारण कर रहा हो। [पूर्व श्लोक (२।३४) में त्रिवलियोंको चार अङ्गुलियोंके बीचमें होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, तथा इस श्लोकमें उनके सहित करधनी सहित उन्हीं त्रिवलियोंको चार अङ्गुलियां होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, अतः दोनोंमें भेद स्पष्ट है] ॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेककचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

पृथ्विति। पृथु वर्त्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं कृतवान् विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एककमेकाकि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः। तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा किमर्थमिदं नितम्बनिर्म्माणमिति भावः। मातेः सन्नन्ताल्लट्। 'सनि मीमे'त्यादिना ईसादेशः, 'सस्यार्द्धधातुक' इति सकारस्य तकारः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः ॥ ३६ ॥

विशाल तथा गोलाकार दमयन्ती के नितम्बको बनानेवाला ब्रह्मा सूर्यके रथकी कारीगरीके अभ्याससे एक पहियेसे चलनेवाला कामदेवका रथ बनाना चाहता है क्या ? [पहले ब्रह्माने एक पहियेसे चलनेवाला रथ सूर्यका ही बनाया था, किन्तु मालूम पड़ता है कि अब वह एक पहियेसे चलनेवाला कामदेवका रथ भी बनाना चाहता है। दमयन्ती के विशाल तथा गोलाकार नितम्बको देखकर सभी कामुक हो जाते हैं] ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

तरुमिति। सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भां नाम तरुं परन्तरुमेव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। जिष्णुः किमु? किन्तु धनदापत्यस्य नलकूबरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भान्नाम तरुणीमपि जिष्णुरेव। 'रम्भाकदल्यप्सरसोरि'ति विश्वः। रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा इत्युभयथा रम्भोरुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सुन्दरी दमयन्ती विशाल ऊरुद्वयसे केवल रम्भा (केला) वृक्षको ही जीतनेवाली है क्या? (ऐसा नहीं कहना चाहिये, किन्तु) कुबेरपुत्र (नलकूबर) की तपस्याके फलरूप स्तनोंवाली युवती रम्भा (नामकी अप्सरा) को भी जीतनेवाली है। [दमयन्ती उक्तरूप ऊरुद्वयसे केवल कदली-स्तम्भको नहीं, किन्तु जिस रम्भाके स्तनोंको नलकूबरने तपस्याके फलस्वरूप प्राप्त किया है, उस तरुणी रम्भाको भी जीतती है अर्थात्–दमयन्तीके ऊरुद्वय कदली-स्तम्भ तथा रम्भा अप्सराके ऊरुद्वयसे भी अधिक चिकने, गोलाकार एवं क्रमिक आरोहावरोह (चढाव–उतार) वाले हैं] ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जलजे इति। ये जलजे द्विपद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदतां चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठामवापतुः ते जलजे कर्मभूते विधिपत्रदम्पती द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहनहंसौ एत्यागत्य रुतः रवात्कूजनादित्यर्थः। रौतेः सम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः। सहंसकी सपादकटकी सहंसकी च कुरुतः 'अभूततद्भावे च्विः'। 'हंसकः पादकटक' इत्यमरः। हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। पद्महंसयोरविनाभावात्कयोश्चिद्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वञ्चोत्प्रेक्षते ॥३८॥

जिस कमलद्वयने मानो सूर्यकी सेवामें दमयन्तीके चरणरूप उत्तम स्थानको प्राप्त किया है (अत एव) मानो ब्रह्माका वाहनभूत हंसमिथुन उस (कमलद्वय) के पास आकर उसे हंसयुक्त कर रहा है। [दमयन्तीके चरण कमलके समान हैं, अत एव ज्ञात होता है कि कमलने सूर्यकी सेवासे दमयन्तीके चरणरूप उत्तम स्थानको पाया है, क्योंकि लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी देवताकी सेवासे उत्तम पदको पाता है; तथा कमलको हंस-सहित होना उचित होनेसे ब्रह्माका वाहनभूत हंसमिथुन (हंस तथा हंसी) उन कमलोंके पास आकर उन्हें हंस-युक्त कर रहा है, पक्षा०—दमयन्तीके चरण कमल हंसके समान मधुर शब्द करनेवाले नूपुरोंसे युक्त हैं] ॥ ३८ ॥

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

श्रितेति । श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं जलजं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलाङ्गतिं रम्यगतिमुत्तमदशाञ्च, 'गति-र्मार्गे दशायां चे'ति विश्वः । कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः । पदस्य गतिसाधनत्वात्तत्रापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः । तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः । सम्भावनायां लोट् ॥ ३९ ॥

पवित्र (मानसरोवरादि) तडाग तथा (गङ्गा आदि) नदियोंका आश्रय करनेवाला (सर्वदा उनमें रहनेवाला) तथा सम्यक् प्रकारके कष्ट [पक्षा०—मुकुलित रहकर नेत्र बन्द करनेरूप समाधि (योगाङ्गविशेष)] से सम्पूर्ण रात्रिको बिताने वाला कमल दमयन्तीके चरणके नामवाले जन्मान्तरमें उत्तम गतिको क्यों नहीं प्राप्त करे ? अर्थात् उसे उत्तम गतिको प्राप्त करना उचित ही है । [लोकमें भी कोई व्यक्ति तडाग या नदी आदि पुण्य तीर्थमें रहकर नेत्रोंको बन्दकर समाधि लगाये रातको बितानेसे जन्मान्तरमें उस तपोजन्य फलस्वरूप जिस प्रकार उत्तम गतिको पाता है, उसी प्रकार कमल भी पुण्यतीर्थ मानसादि तडाग एवं गङ्गादि नदियोंमें रहकर रात्रिमें मुकुलित रहनेसे समाधिको धारणकर जो तप किया, उसके फलस्वरूप दमयन्तीके चरणके नाम प्राप्तिरूप उत्तम गतिको पाया] ॥३९॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता ।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति । सरसीः सरांसि परिशीलितुं परिचेतुं तत्र विहर्तुमित्यर्थः । चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः । गमिर्गमनं शब्दपर-शब्देनार्थो गम्यते तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः नैके अनेके नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । नितरां वर्त्तन्ते जना येष्विति नीवृतः जनपदाः येन तेन क्रान्ता-नेकदेशेनेत्यर्थः । 'नहिवृती'त्यादिना दीर्घः । मया सदसद्वेति संशयगोचरः सन्दे-हास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरीत्यर्थः । 'नासिकोदरे'त्यादिना ङीप् । सा दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः । नयतेः कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

(आगे नलसे हंस कहता है कि—) तडागोंका आश्रय करनेके लिए अनेक देशोंको जानेवाले मैंने अतिशय कृश होनेसे 'है या नहीं' ऐसे सन्देहके विषयीभूत उदरवाली उस (दमयन्ती) को देखा है । [दमयन्तीका उदर कृश है कि उसे देखकर मुझे सन्देह हो जाता था कि इसका उदर है या नहीं है ? । इस प्रकार उक्तरूपा उस दमयन्तीको अनेक तडागोंमें रहनेके लिए देश-देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले मैंने देखा है, अतः वैसी परम-सुन्दरी रमणी कहीं भी नहीं है, ऐसा आपको विश्वास करना चाहिये] ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

अवधृत्येति । अहमिमान्दमयन्तीं दिवः स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्यौवतैर्युवतिसमूहै-रपि 'गार्भिणं यौवतं गण' इत्यमरः । भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः, तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्ययान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धित' इति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः । न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरी-मित्यर्थः । 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामनः । अवधृत्य निश्चित्य विधातुः ब्रह्मणः आशये हृदि अस्याः पतिः कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, तदैवेति शेषः ॥ ४१ ॥

स्वर्गके भी युवती-समूहोंके साथ अध्ययन नहीं की हुई (स्वर्गीय युवतियोंसे भी अधिक सुन्दरी) इस (दमयन्ती) को निश्चितकर 'ब्रह्माके मनमें इसका कौन पति बसता है ?' यह मैंने विचार किया । [समान गुणवालोंके साथ अध्ययन किया जाता है, असमान गुणवालोंके साथ नहीं; अतएव मानुषी स्त्रियों की कौन कहे, स्वर्गीय युवतियोंसे भी अधिक गुणवाली होनेसे दमयन्तीने उनके साथ भी अध्ययन नहीं किया है अर्थात् स्वर्गीय युवतियोंसे भी दमयन्ती अधिक सुन्दरी है ऐसा निश्चय कर ब्रह्माके मनमें इसका कौन पति बसता है यह मैंने सोचा] ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

अनुरूपमिति । अथेदानीमनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् तस्याः पतित्वेनालोच-यन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् त्वयि सिद्धान्त-धियं न्यवेशयम् । त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः । अयमेव विधातुरप्याशय इति भावः ॥ ४२ ॥

(इस दमयन्तीके] अनुरूप पतिका निरूपण करता हुआ सब युवकोंमें पूर्वपक्षत्वको दूर करनेमें असमर्थ मैंने तुममें ही सिद्धान्त बुद्धिको स्थापित किया । [पूर्वपक्षको अपेक्षा सिद्धान्त पक्षके प्रबल होनेसे 'आप ही इस दमयन्तीके अनुरूप पति हैं, ऐसा मैंने निश्चय किया] ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति । चिरमवलोकिता-ऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी अद्याधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसी-मया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंस्कारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती स्मृतिपथङ्गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तुम्हारी इस रूपमर्यादा (सर्वाधिक सौन्दर्य) से उद्बुद्ध संस्कारवाले मेरे स्मृतिपथमें बहुत पहले भी देखी गयी वह उज्ज्वल मुसकानवाली सुन्दरी (दमयन्ती) आ गयी ।

[सदृश वस्तुके देखने पर पूर्वसंस्कारके जागृत होनेसे चिरदृष्ट वस्तुका भी स्मरण हो जाता है, अत एव आपकी सर्वाधिक सुन्दरताको देखकर मुझे बहुत पहले देखी गयी भी उस दमयन्तीका स्मरण हो गया]॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

ततः किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्याः किलकिञ्चितम्, 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षितशृङ्गारचेष्टितं त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते खलु । तथाहि—मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः रामणीयकं रमणीयत्वं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्रेत्यर्थः । स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः । अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतया स्तननृपयोः समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणन्तूक्तम् ॥ ४४ ॥

हे वीर (नल)! दमयन्तीका किलकिञ्चित (शृङ्गारसम्बन्धी चेष्टाविशेष) केवल आपमें ही विशेषतः शोभित होता है, क्योंकि मणियोंके हारोंकी रमणीयता युवतीके ही स्तनोंपर विशेष शोभती है । [युवतियोंको वीरस्वामी ही अधिक प्रिय होता है , अत एव यहां नल के लिए हंसने 'वीर' पदका प्रयोग किया है । क्रोध, रोदन, हर्ष और भयादिके सम्मिश्रण के साथ की गयी स्त्रियोंकी शृङ्गार चेष्टाको 'किलकिञ्चित' कहते हैं] ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

तवेति । हे वीर ! तवेदं रूपं सौन्दर्यं तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो बन्ध्यवृक्षस्य 'बन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे'त्यमरः । पुष्पमिव विफलं निरर्थकम्, ऋद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्को किला स्ववनी निजोद्यानमपि 'ङीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः । 'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोरि'ति विश्वः ।अत्र नलरूपावनीवनीनां दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरलङ्कारः । 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिदत्रान्यत्र परा भवेत् । रम्यताऽरम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृते'ति लक्षणात् । तस्याश्च पुष्पमिवेत्युपमया संसृष्टिः ॥ ४५ ॥

(उत्कण्ठावर्धनार्थ राजहंस पुनः कहता है कि—हे राजन् !) उस (दमयन्ती) के विना यह तुम्हारा रूप फलहीन वृक्षके पुष्पके समान (या—मुण्डितमस्तक व्यक्तिके मस्तक पर धारण किये गये पुष्प के समान) व्यर्थ है, बढ़ी हुई सम्पत्तिवाली यह पृथ्वी (तुम्हारा राज्य) भी व्यर्थ है और जिसमें कोयल कूकती है ऐसा अपना (आपका) उद्यान भी क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं—सर्वथा निःसार है ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति। अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यमानयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः। अत्र तत्संयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तत्सापेक्षा चेयमुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

वर्षाकालमें बादलसे अच्छी तरह आच्छादित हुई चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदके समान देवताओंसे भी अभिलषित होती हुई इस दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध होना सरल नहीं है। [यहांपर हंसने—वायु आदिके द्वारा बादलके हट जानेपर जिस प्रकार चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, उसी प्रकार मेरे उपाय करनेसे दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध अवश्यमेव हो जायगा—ऐसा संकेत किया है तथा देवसे भी अभिलषित होना कहकर दमयन्तीका देवाङ्गनाओंसे भी अधिक सुन्दर होनेका तथा भविष्य (स्वयंवरमें होनेवाले देवोंके आगमन आदि) का भी संकेत किया है] ॥४६॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अत्र का गतिरित्याह—तदिति। तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वादहं दमयन्त्याः सविधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः। यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः। यथेन्द्रादिप्रलोभिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

(अपने वचनका उपसंहार करता हुआ हंस उक्त विषयको ही स्पष्ट करता है—) इस कारण मैं दमयन्तीके समीप आपकी वैसी वैसी प्रशंसा करूँगा, जिससे हृदयमें स्थापित आपको इन्द्र भी पृथक् नहीं कर सकता है (तो किसी मनुष्य के विषयमें कहना क्या है ?) ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

तर्हि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति। अत्रास्मिन् कार्ये केवलामेकान्तव सम्मतिमङ्गीकारमधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिक्। तथा हि—साधवो निजोपयोगितां स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्त्या न ब्रुवते। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४८ ॥

केवल आपकी सम्मति पानेके लिए ही इस निवेदनको धिक्कार है, क्योंकि सज्जन लोग अपने उपयोगको स्वयं कण्ठसे नहीं कहते हैं, किन्तु फल (कार्यकी सिद्धि) से ही कहते हैं ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात् ।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ।। ४९ ।।

तदिति । स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं प्रसन्नमवदातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपकं तत्परिपीय अत एव अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे निर्मितवान् माङः कर्त्तरि लिट् । अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः । सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

पक्षिराज (हंस, पक्षा०—चन्द्रमा) से निकले हुए उस स्वच्छ वचनामृतका सम्यक् प्रकारसे पान कर अर्थात् सुनकर उस नलने अत्यधिक तृप्त होनेसे उस (श्वेत वचनामृत) के डकारके समान श्वेत स्मित किया । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति अधिक लोभसे किसी वस्तुको अधिक पीकर उसके समान ही डकारता है, उसी प्रकार नलने हंसके स्वच्छ वचनामृतको अधिक पीकर डकाररूप स्वच्छ स्मित किया । सज्जनोंको स्मितपूर्वक भाषण करनेका नियम होनेसे, या दमयन्ती लाभरूप अनुकूल वचन सुननेसे नलने मुस्कुरा दिया] ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगङ्कोकनदेन नैषधः ।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ।। ५० ।।

परिमृज्येति । निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' । भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः । पतगं हंसं परिमृज्य तस्य हंसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जन्याः गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः । अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिबन्धनात् अतिशयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात् । सा च पाणिकोकनदयोरभेदोक्तिः अभेदरूपा तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपकसंसृष्टिः ॥ ५० ॥

निषध नरेश नलने भुजाके अग्रभागमें उत्पन्न रक्तकमल अर्थात् रक्तकमल-तुल्य तलहथीसे पक्षी (हंस) को सहला कर (प्रेमपूर्वक उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ फेर कर) उसके हर्षके लिए प्रिय भाषणरूप अमृतके कूपरूपी कण्ठसे उत्पन्न मृदु वचन कहा ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ।। ५१ ।।

न तुलेति । हे हंस ! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्यभूमौ न वर्त्तते असदृशीत्यर्थः । ते तव सुशीलता सौशील्यं वचोवर्त्मनि न वर्त्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवाकृतौ गुणाः 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धान्त-

प्रतिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता आकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः। अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः, 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

तुम्हारे (सुवर्णमय) आकारकी समता किसीके साथ नहीं की जा सकती तथा तुम्हारी सुशीलताका वर्णन नहीं किया जा सकता, 'आकृतिमें गुण रहते हैं' ऐसे सामुद्रिक शास्त्रके सारभूत नियमके तुम्हीं उदाहरण हो [अर्थात्—तुम्हें देखकर ही सामुद्रिक शास्त्रने 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' ऐसा नियम किया है। तुम्हारा जैसा सुन्दररूप है, वैसा ही सुन्दर स्वभाव भी है] ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

न सुवर्णेति। ननु हे हंस! तवेयं तावकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। तनुः परं मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्मयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः। अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किमु किं वेत्यर्थः। निपातानामनेकार्थत्वात्। अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः। अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

केवल तुम्हारा शरीर ही सुवर्णमय (सोनेका बना हुआ) नहीं है, किन्तु वचन भी सुवर्णमय (सुन्दर अक्षरोंसे बना हुआ) है तथा तुम केवल अवलम्बन-रहित मार्ग (आकाश) में ही पक्षपाती (उड़ते समय पङ्खोंको गिरानेवाले) नहीं हो, किन्तु निरवलम्ब मुझमें भी पक्षपाती (पक्षपात-तरफदारी करनेवाले) हो ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान्।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

भृशेति। भृशतापभृता अतिसन्तापभाजा मया भवांस्तुषारैः शीकरैः सारवानुत्कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि सन्तापहरत्वादिति भावः। तथा हि-धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मशङ्खादिः संश्चासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः। सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यस्तु दहन एवेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः, लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

(दमयन्ती-विरहमें) अत्यन्त ताप (कामज्वर) से युक्त मैंने हिम (वर्फ) के सार भागयुक्त वायुरूप तुमको पा लिया है, क्योंकि धनियोंका दूसरा ही (रुपया-पैसा आदि द्रव्यरूप) श्रेष्ठ धन है, किन्तु सज्जनोंका तो गुणवानोंका संसर्ग ही श्रेष्ठ धन है। [द्रव्यादिको पानेसे धनियोंके समान गुणवानोंके संसर्गको पानेसे सज्जनोंको हर्ष होता है] ॥५३॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

शतश इति । त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः महौषधमिति रूपकम् । सा दमयन्ती शतशो मम श्रुतिं श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगतां दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टां मन्ये । आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

तीनों लोकोंको मोहित करनेके लिए महौषधिरूपिणी उस (दमयन्ती) को मैंने सैकड़ों बार सुना है, तथा तुम्हारे इस कथन (२।१७-३९) से तो उस (दमयन्ती) को अपने नेत्रोंसे ही देखता हुआ समझ रहा हूं ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति । सुहृदा आप्तमुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थमखिलं कृत्स्नमर्थमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यतामवधारयतां विदुषां विवेकिनां सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थदर्शिनी, 'सुप्सुपे'ति समासः । अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

मित्रके द्वारा तथा अपने हृदयसे सब वस्तु-समूहको प्रत्यक्ष देखते हुए विद्वानोंके (अतिशय) निकटस्थ (कज्जलादि पदार्थ) को भी नहीं देखनेवाले नेत्रद्वय केवल मुखका अलङ्कारमात्र है (अथवा—·········नेत्रद्वय अलङ्कारमात्र नहीं है ? अर्थात् अलङ्कारमात्र ही है) । [जो नेत्र अपने अतिशय निकटस्थ कज्जल आदि पदार्थोंको भी नहीं देखते, वे नेत्र दूरस्थ पदार्थको कैसे देख सकते हैं ?, अत एव आगम तथा अनुमानसे स्वयं या मित्रके द्वारा देखी गयी वस्तुको ही वास्तविक देखी गयी मानना ठीक है, इस प्रकार तुमने दमयन्तीको देख लिया (२।४०) तो मैं भी मानो उसे देखी गयी ही मानता हूं] ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः ।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवणप्राघुणकीकृता कर्णातिथीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणक आगन्तुरतिथिस्तथे'ति हलायुधः । अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तत्कथा तद्गुणवर्णना अधैर्यधारिणोऽत्यन्ताधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी भवेत् 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' । इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्ये'त्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ ५६ ॥

हे पक्षी (हंस) ! लोगोंसे श्रवणातिथि की (सुनी) गयी अनुपम (या—अपरिमित मधुरूप (या—मधुतुल्य) उसकी कथा मेरी कामाग्निको बढ़ानेमें 'धाय्या' ऋक् (अग्निहोत्रके अग्निको प्रज्वलित करनेवाला ऋग्वेदका मन्त्र-विशेष) होती है, इस कारण धैर्यहीन (या—धैर्ययुक्त) मुझको धिक्कार है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः ।
बत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

विषम इति । विषमः प्रतिकूलः कालकलत्रदिग्भवः यमदिग्भवः प्राणहर इति भावः, पवनो दक्षिणमारुतः तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्निसमिधा तद्दाह्येनेत्यर्थः । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घः तस्याः विषफूत्कारमयः ऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः । लोके च 'अग्निरेधांसि फूत्कारवातैर्ध्मायत' इति भावः । बतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५७ ॥

हे हंस ! उस (दमयन्ती) की विरहाग्निका इन्धनरूप मैं यमराजकी स्त्रीभूता दिशा अर्थात् दक्षिण दिशाकी वायुको मलयपर्वतके सर्प-समूहके विषमिश्रित फुफकारसे पूर्ण (अत एव) भयङ्कर (या—विषतुल्य) समझा । [जिस प्रकार मुँहके फूत्कारसे सन्धुक्षित (बढ़ी हुई) अग्नि धधककर इन्धनको जलाती है, उसी प्रकार दमयन्तीके विरहसे उत्पन्न कामाग्नि मलयवासी सर्प-समूहके विषैले फूत्कारसे सन्धुक्षित होनेसे विषतुल्य होकर इन्धनरूप मुझे जला रही है। काल (यमराज) की स्त्रीभूता दिशाके वायुको सर्प-समूहके विषैले फूत्कारसे मिश्रित होनेसे विषतुल्य होना उचित ही है। दमयन्तीकी विरहाग्निसे पीड़ित मैं दक्षिण वायुके बहने पर अत्यन्त सन्तापका अनुभव करता हूं] ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ? ॥ ५८ ॥

प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रतिदर्शमित्यर्थः । वीप्सायामव्ययीभावः । दिनाधिपं सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्ततः प्राप्तेः स निशाकरः तीव्रतरैरत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभिः करैः सौरैः तत आनीतैः मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्गः, किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

हे हंस ! वह प्रसिद्धतम चन्द्रमा जो प्रतिमास (अमावस्याको) सूर्यके साथ सङ्गत होता है, उससे अत्यन्त तीक्ष्ण एवं धैर्यनाशक किरणोंसे मुझे जलानेके लिये समर्थ होता है क्या ? [लोकमें स्वयं किसीका अपकार करनेमें असमर्थ व्यक्ति दूसरे प्रबल व्यक्तिकी सहायता लेकर अपकार करनेमें जिस प्रकार समर्थ होता है, उसी प्रकार स्वयं शीतल प्रकृति होनेसे मुझे सन्तप्त करनेमें असमर्थ चन्द्रमा प्रत्येक मासकी अमावस्या तिथिकी सूर्यसे

सङ्गत होनेसे तीक्ष्ण किरणोंवाला होकर मुझ विरहीको सन्तप्त करता है, ऐसा ज्ञात होता] है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

कुसुमानीति । स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमशनिः सद्योमरणाभावादिति भावः । तत्तथा अस्तु किन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि । यद्यस्मादमूः स्मरेषवः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुह्यतेर्णौ चङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्रत्ययः । अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेर्णौ चङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

यदि काम-बाण पुष्प हैं, वज्र नहीं है तो वे विषलतासे उत्पन्न (पुष्प) हैं, (अथवा—कामबाण वज्र ही हैं, पुष्प नहीं है,—यदि यह कथन लोकप्रसिद्धिसे विरुद्ध है तो वे विषलतासे उत्पन्न पुष्प हैं) क्योंकि इन कामबाणोंने मेरे हृदयको मोहित कर दिया तथा अत्यन्त सन्तप्त कर दिया। (अत एव कामबाण यदि वज्र नहीं पुष्प ही हैं तो विषलता से उत्पन्न पुष्प हैं, अन्यथा उनमें मोहकत्व एवं सन्तापकत्व होना सम्भव नहीं है) ॥ ५९ ॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥६०॥

तदिति । तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथे'त्यमरः । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, 'अव्ययानाम्भमात्रे टिलोपः' तद्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं भाग्यादागत इत्यर्थः । त्वं पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रस्तु पोत' इत्यमरः । अवलम्बनं भव ॥ ६० ॥

इस कारण (हे हंस !) कामबाणजन्य पीडारूपी अथाह समुद्रमें डूबते हुए मेरे दैव से अकस्मात् देखे गये सामीप्यवाला (भाग्यवश सहसा समीपमें प्राप्त तुम) जहाजके समान अवलम्बन होवो । [अथाह समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिके लिए भाग्यवश देखा गया जहाज जिस प्रकार अवलम्बन होकर डूबनेसे उसकी रक्षा करता है, उसी प्रकार अनाथ काम-पीडामें डूबते हुए मेरे लिए भाग्यवश अकस्मात् समीपमें आये हुए तुम मेरा अवलम्बन होवो अर्थात् दमयन्तीके साथ सङ्गम कराकर काम-पीडासे मेरी रक्षा करो] ॥ ६० ॥

अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ? ।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

अथवेति । अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति नियमात् कर्त्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्त्रर्थलाभः । भवतः 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्त्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि ? स्वतः

प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः । हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानमि'ति मीमांसकाः । सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः । उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

अथवा—आपको प्रवृत्त करनेका मेरा यह कार्य पिष्ट-पेषण नहीं होता है क्या ? अर्थात् स्वतः इस कर्मके लिए उद्यत आपको लगाना मेरा पिष्ट-पेषण मात्र है। क्योंकि ज्ञानके प्रमाणके समान सज्जन स्वयमेव (विना किसीकी प्रेरणा किये ही) परोपकारी होते हैं। [अथवा ग्रहण (अर्थग्राहक शब्द) की अनुगतार्थताके समान सज्जनोंकी परोपकारिता स्वयमेव होती है, अर्थात् जिस प्रकार 'वृक्ष' आदि शब्दके उच्चारण करने मात्रसे उसके अर्थभूत मूल-शाखा-पत्रादिका प्रत्यक्ष स्फुरण हो जाता है, उसी प्रकार विना किसी की प्रेरणाके ही सज्जन परोपकारी होते हैं] ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ! ॥ ६२ ॥

तवेति । हे वयः ! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्ततां, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं स्मरणीयाः । अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

तुम्हारे मार्गमें कल्याण हो, फिर (तुम्हारे साथ मेरा) समागम हो, हे हंस ! अभीष्टको साधो-साधो अर्थात् शीघ्र पूरा करो और समयपर (दमयन्तीके साथ एकान्तमें) हमें स्मरण करना ॥ ६२ ॥

इति तं स विसृज्य धैर्य्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥ ६३ ॥

इतीति । धैर्यवानुपायलाभात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादेषु बृहस्पतिः तथा प्रगल्भ इत्यर्थः । 'सूनृतं च प्रिये सत्यमि'त्यमरः । स नृपतिरितीत्थं हंसं विसृज्य श्रुतिलग्नैः श्रोत्रप्रविष्टैः कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म भोगगृहमविशत् ॥६३॥

सत्य एवं प्रिय बोलनेमें बृहस्पतिरूप तथा (हंसके लौटनेतक) धैर्यधारण करनेवाले वे राजा नल इस प्रकार (२।६२) उस (हंस) को भेजकर हंसके मधुर भाषणोंके स्मरणसे आश्चर्यित होते हुए उद्यानगृहमें प्रवेश किये ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

अथेति । अथ सोऽण्डजो हंसः तदहरेव भीमसुतायाः भैम्या अवलोकनैः सफलं कर्तुं तस्मिन्नेव दिने तां द्रष्टुमित्यर्थः । क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलङ्कारभूतं कुण्डिनं कुण्डिनाख्यनगरं ययौ ॥ ६४ ॥

इसके बाद दमयन्तीके दर्शनोंसे उसी दिनको सफल करनेके लिए वह पक्षी (राजहंस) भूमण्डलके भूषणतुल्य कुण्डिन नगर 'कुण्डिनपुरी' को गया ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह–प्रथममित्यादिना । स कलहंसः प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां प्रस्थातॄणां प्रार्थितस्य इष्टार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसम्भृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रे कलयांबभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अब हंसकी यात्रामें होनेवाले शुभ शकुनोंको तीन श्लोकों (२।६५-६७) मे वर्णन करते हैं—) उस राजहंसने पहले पथिकसे अभिलषित सिद्धिको सूचित करनेवाले जलपूर्ण कलसको देखा ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्य्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम् ॥ ६६ ॥

अवलम्ब्येति । स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्वस्तु दर्शननिमित्तेन अद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गतं सम्बद्धम्, 'आम्रश्चूतो रसालोऽसा'वित्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

उस (राजहंस) ने थोड़े समयतक मार्गको देखनेकी इच्छासे आकाशमें (रमणीय देखनेसे उत्पन्न) आश्चर्यसे मन्दगमन का अवलम्बनकर राजा (नल) के क्रीडावनमें सामने आमके पेड़में लगे हुए फलको देखा । [मार्ग देखनेकेलिए जब हंसने ऊपर देखा तब रमणीय क्रीडावनके देखनेसे अपनी चाल (गति) को मन्दकर आमके पेड़में फलको देखा] ॥ ६६ ॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

नभस इति । पुमान् गौः वृषभः विशेषणसमासः, 'गोरतद्धितलुगि'ति समासान्तष्टच्, स इव पतङ्गपुङ्गवः पक्षिश्रेष्ठः उपमितसमासः, नभसः कलभैः खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः । जलदैरुपासितं व्याप्तं भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगा यस्य तं विटपैः शाखाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमरः । छन्नतराः अतिशयेन छादिताः क्षुपा ह्रस्वशाखाः, 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुप' इत्यमरः । नगं पर्वतं ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमि'ति निमित्तज्ञाः ॥ ६७ ॥

पक्षिराज उस (राजहंस) ने आकाशके करिशावक (हाथीके बच्चे) रूप मेघोंसे युक्त बहुत-से झाड़ियों वाले तथा शाखाओंसे छिपे (ढके) हुए तेंदुओं तथा सर्पोंको छिपाये

हुए पर्वतको देखा। [करिशावकोंको शुभसूचक होनेसे मेघरूप करि-शावकोंका दर्शन होना तथा तेंदुए (चीते) एवं सर्पोंका देखना यात्रामें अशुभसूचक होनेसे उनको शाखा-ओंसे ढके रहनेका वर्णन किया गया है]॥ ६७॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ ६८॥

स इति। स हंसः क्षणं धुतपक्षतिः कम्पितपक्षमूलः क्षणम् ऊर्ध्वायनेन ऊर्ध्वगमनेन दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः। विततीकृतौ विस्तारीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टॄणां दत्तकौतुकः सन् ययौ। स्वभावोक्तिः॥ ६८॥

(अब पांच श्लोकों (२।६८-७२) से राजहंसके शीघ्रगमनका वर्णन करते हैं—)
क्षणमात्र पङ्खोंको कम्पित किया हुआ, क्षणमात्र ऊर्ध्वगमन करनेसे दुर्लक्ष्य (कठिनाईसे दृष्टिगोचर) होता हुआ, क्षणमात्र पङ्खोंको फैलानेसे निश्चल (स्थिर) किया हुआ और क्षणमात्र देखनेवालोंको कुतूहलयुक्त किया हुआ वह (राजहंस) चला॥ ६८॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले॥ ६९॥

तन्विति। असौ हंसो रयाद्धेतोः उत्पन्नयेति शेषः। लोकस्य आलोकिजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकनां दर्शनं गतया कौतुकाद्वर्णपरीक्षां च विलोक्यमानये-त्यर्थः। तनोः शरीरस्य तन्वा सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन कषपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवाल-सत् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा॥ ६९॥

लोगोंको दिखलायी पड़नेवाली वेगसे शरीर-कान्तिकी रेखासे (या—पतली कान्ति-रेखासे) कसौटीके पत्थरके समान आकाशमें पङ्खके सुवर्णको कसता हुआ (खरा, या खोटा सुवर्ण है, यह जाननेके लिए आकाशरूप कसौटीके पत्थर पर सुवर्णमय अपने पङ्खों को रगड़ता हुआ) सा शोभमान हुआ॥ ६९॥

विनमद्भिरधःस्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदसांकारिपतत्त्रिपद्धतिः॥ ७०॥

विनमद्भिरिति। स्यदेन वेगेन सांकारिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा पतत्त्रिपद्धतिः पक्षिसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अतएव विनमद्भि-र्विलीयमानैरधःस्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षितः। कर्मणि लुङ्। स्वभावोक्तिः॥ ७०॥

अतिशय वेगके कारण झङ्कारयुक्त पङ्खोंवाले उस (राजहंस) को 'बाज' नामक पक्षीके झपटनेकी आशङ्का करनेवाले (अत एव) नीचे झुकते हुए (उस हंसकी अपेक्षा) नीचे

उड़नेवाले पक्षियोंने एक दृष्टिसे देखा। [जब वह राजहंस वेगसे बहुत ऊंचा उड़ रहा था, तब उसके नीचे उड़ने वाले पक्षी राजहंसके पङ्खोंकी झनकारसे उसे अपने ऊपर झपटने वाला 'बाज' समझकर झट और नीचे हो गये तथा भयसे उस हंसको एक दृष्टिसे देखे भयार्तका अपने आक्रान्ताको एक दृष्टिसे देखनेका स्वभाव होता है]॥ ७०॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषां पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

ददृश इति। यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः, असौ हंसः भुवि तच्छायं तस्य हंसस्य च्छायां 'विभाषासेने'त्यादिना नपुंसकत्वम्। अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथमं दिवि पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन् न ददृशे न दृष्टः। क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

पृथ्वीपर उस राजहंसकी परछाईंको देखकर तत्काल आकाशमें सब ओर देखनेवाले लोगोंने, तीव्र वेगसे शीघ्र ही दृष्टिसे अतिक्रान्त (ओझल) हुए उस राजहंसको नहीं देखा। [नीचे छाया देखनेके उपरान्त ही ऊपर देखनेपर भी उस हंसके नहीं दिखलायी पड़नेसे नल-कार्य-सिद्ध्यर्थ शीघ्र कुण्डिनपुरीमें पहुंचनेके लिए उसकी गतिका तीव्रतम होना सूचित होता है]॥ ७१॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचारुतम् ॥ ७२ ॥

नेति। गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रूणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये। सगोत्रजं बन्धुजन्यं रुतं कूजितं वा नान्ववादि नानूदितम्। मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धानपरोक्तिः। 'पलाशो द्रुद्रुमागमा' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

वह (राजहंस) मार्गमें कहीं भी अत्यन्त ऊंचे पेड़ोंसे सुन्दर वनमें नहीं ठहरा और गमनके वेगसे बढ़ती हुई शोभावाले पक्षियोंके कूजनेका अनुवाद नहीं किया अर्थात् उड़ते हुए इसे देखकर दूसरे पक्षियोंके बोलने पर भी नहीं बोला। [उडते हुए पक्षियोंका यह स्वभाव होता है कि मार्गमें सुन्दर ऊँचे पेड़ों वाले सुन्दर वनको पाकर वहीं ठहर जाते हैं तथा अपने सजातीय पक्षियोंके बोलनेपर उनके उत्तरमें बोलते हैं; किन्तु कुण्डिनपुरीको लक्ष्यकर जाते हुए राजहंसने उक्त दोनों कार्य नहीं किये, अत एव कार्यको शीघ्र सिद्ध करनेके लिए इसका तीव्र गतिसे उड़ना उचित होता है]॥ ७२॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

अथेति। धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विपि तुक्, भीमस्य भीम-

भूपस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजिता मञ्जुर्मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः ॥ ७३ ॥

भू-विजयी भीम (राजा) के बहुतसे सुरक्षित तथा कैलास पर्वतके समान महलोंसे शोभित मनोहर इस (कुण्डिनपुरी) नगरीको पक्षी (राजहंस) ने देखा। कैलास पर्वत भी भूविजयी तथा शत्रुके लिए भयङ्कर (शिवजी) के बाहुसे पालित है। जो 'धराजिता' है, उसका अधराजिता होनेसे विरोध आता है जिसका परिहार उक्त अर्थसे समझना चाहिये] ॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः ॥ ७४ ॥

तां वर्णयति—दयितमिति। यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्पटिकमयशरीरा इत्यर्थः। अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः शशाङ्कशकलनिष्कलङ्कानि कुड्यानि येषान्ते'भित्तं शकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्विप्प्रत्ययः। 'भित्तं शकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठानत्वाभावः। गृहाः दयितं भीमं प्रति सन्ततं भुवः भूमेर्नायिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

(अब इकतीस श्लोकों (२।७४–१०५) से कुण्डिननगरीका वर्णन करते हैं—) जिस (नगरी) में स्फटिकमणिके बने हुए तथा चन्द्रमाके टुकड़ेके समान निष्कलङ्क दीवालवाले घर पति (राजा भीम) के प्रति निरन्तर प्रवृत्त (नायिकारूपिणी) पृथ्वीके रतिकालके हासके समान शोभते थे ॥ ७४ ॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः ।
शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

नृपेति। यत्र नगर्यां तमोन्धकारः भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपधेश्छलादित्यपह्नवभेदः। 'रत्नं मणिर्द्वयोरि'त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष्। शरणाप्तं शरणं गृहं रक्षितारमन्वागतं 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'त्यमरः। वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तमसुद्यत्तमं सदुवास ॥ ७५ ॥

जिस (नगरी) में राजा (भीम) के इन्द्रनीलमणि (नीलम) के बने हुए महलोंके कपटसे आवृत्तिहीन उदयको प्राप्त होता हुआ अर्थात् निरन्तर बढ़ता हुआ अन्धकार मानो सूर्यके भयसे दिनमें भी शरणके लिए निवास करता था। [अन्यत्र रात्रिमें ही अन्धकार रहता है, दिनमें नहीं, किन्तु इस कुण्डिन नगरीमें ऐसा ज्ञात होता है कि राजा भीमके नीलम मणियोंसे बने हुए महलोंकी कान्तिके बहानेसे सूर्यके भयसे शरणके लिए आकर यहां निरन्तर बढ़ता हुआ अन्धकार निवास करता है। लोकमें भी किसीसे डरा हुआ

कोई व्यक्ति स्वरक्षार्थ किसी प्रबल व्यक्तिका आश्रय कर सदैव उन्नति करता हुआ निवास करता है] ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि ।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥७६॥

सितेति । सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हसदङ्करोदसि विलसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः । यदगारे यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः । जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः । 'एकादाकिनिच्चासहाय' इति चकारात् कप्रत्ययः । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये'तीकारः । पूर्णिमा तिथी राकातिथिः । 'तदाद्यास्तिथयोरि'त्यमरः । अतिथिः सन् उपतस्थे अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः । 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥

स्वच्छ तथा चमकते हुए रत्नोंसे बने हुए तथा (प्रकाशमान होनेसे) हँसते हुए मध्यभागरूप आकाश–पृथ्वीके मध्यभाग वाले जिस (कुण्डिन नगरी) के महलोंमें केवल पूर्णिमा तिथि रात्रिमें सब तिथियोंका अतिथि होकर निवास करती थी। [कुण्डिनपुरीके ऊँचे–ऊँचे महल नीचे पृथ्वी तथा ऊपर आकाशको स्पर्श कर रहे थे तथा वे चमकते हुए स्फटिकमणिके बने हुए थे अत एव मध्यभागमें हँसते हुएके समान ज्ञात होते हुए उन महलोंमें सर्वदा (रात्रि में भी) प्रकाश रहता था जिसके कारण ऐसा ज्ञान होता था कि एकमात्र पूर्णिमा तिथि ही सब तिथियोंकी अतिथि होकर निवास करती हो] ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

सुदतीति । यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि विधानाभावाद्दन्नादेशश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्चे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दन्नादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः–'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति । ता एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहनादर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषायिताशया सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धावि'ति विश्वः । तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादिलच् दिवादिः । मानिनीस्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः तद्वती नायिकेव अखिलया निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः । न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः ॥ ७७ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में सुदतियों (सुन्दर दाँतवाली स्त्रियों) के स्नानसे धुले हुए कुङ्कुमरागोंसे कलुषित मध्यभाग वाली (कुछ मैले जलवाली, पक्षा०—दूषित चित्तवाली, या

कलुषित = रुष्ट तथा नहीं सोनेवाली) बावली हठयुक्त मानिनी नायिका के समान सारी रातमें भी नहीं प्रसन्न (स्वच्छ जलवाली, पक्षा०—खुश) हुई। [सपत्नी आदिके कुङ्कुमादि रागसे चिह्नित पतिको देखकर दूषित चित्तवाली एवं रातमें नहीं सोनेवाली अतिहठी मानिनी नायिका पतिके सारी रात अनुनयादि करने पर भी जिस प्रकार नहीं खुश होती है, उसी प्रकार सुदतियोंके स्नान करते समय-धुले हुए स्तनादिके कुङ्कुमरागसे कलुषित जलवाली बावरी सारी रात बीतने पर भी निर्मल नहीं हुई]॥ ७७॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते[1]॥ ७८॥

क्षणेति। निशि निशीथे क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वादन्यत्र ध्यानस्तिमितत्वान्निःशब्दमाश्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यया सा तथोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममयं तद्रूपं निर्मलमबाह्यमन्तर्वर्ति किमपि अवाङ्मनसगोचरं ज्योतिः प्रभा आत्मज्योतिश्च ईक्ष्यते सेव्यते स्म। अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः॥ ७८॥

रात्रिमें क्षणमात्र (कुछ समय तक) निःशब्द तथा चहारदिवारी रूप योगपट्टको धारणकी हुई जो (कुण्डिन नगरी) मणियोंके बने महलरूप निर्मल एवं अनिर्वचनीय आभ्यन्तर प्रकाशको देखती है। [अन्य भी कोई योग साधनेवाली योगिनी कुछ समयतक मौन धारण कर योगपट्टको पहनी हुई वाङ्मनसागोचर निर्मल आत्मलक्षण आभ्यन्तर ज्योतिको देखती है। अथवा—परमात्म-साक्षात्काररूप क्षण अर्थात् उत्सवसे सात्त्विक भावजन्य अश्रुजल को प्राप्त करनेवाली एवं योगपट्ट धारण की हुई……]॥ ७८॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि॥ ७९॥

विललासेति। या नगरी परिखायाः कपटेन व्याजेन स्फुटं परितो व्यक्तं तथा स्फुरता प्रतिबिम्बेनानवलम्बितं मध्ये चागृह्यमाणं चाम्बु यस्मिन् तस्मिन् प्रतिबिम्बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति प्रतिबिम्बदेशे न स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भावः। क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः। अनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरमरावतीव विललासेत्युत्प्रेक्षा॥ ७९॥

जो (कुण्डिन नगरी) खाईके कपटसे स्पष्ट स्फुरित होते हुए प्रतिबिम्बसे निराधार जल वाले कहीं जलाशयके बीचमें प्रतिबिम्बित हुए स्वर्ग के समान शोभती थी। [बड़े भारी जलाशयके बीचमें प्रतिबिम्बित स्वर्गरूप छोटी वस्तुके समान खाईके जलमें स्थित वह कुण्डिनपुरी शोभती थी]॥ ७९॥

१.—'मिज्यते' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः।

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः ।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥ ८० ॥

व्रजत इति । यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चलाः पताकाग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः । ताः कर्त्र्यो दिवि व्रजते खे गच्छते हेलिहयालेः सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिरालिङ्गने रवावि'ति वैजयन्ती । कालनां चोदनां सृजते कुर्वते अरुणाय सूर्यसारथये विश्रमं स्वयं तत्कार्यकरणाद्विश्रान्ति 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना घञि वृद्धिप्रतिषेधः । व्यतरन् ददुः । अत्र हेलिहयालेश्चेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, तेन गृहाणामर्कमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८० ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) की गृहपङ्क्तियोंके चञ्चल पताकाग्र वस्त्ररूपी कोड़ेके आघात, आकाशमें गमन करते हुए तथा सूर्यके घोड़ोंको हाँकते हुए अरुणके लिए विश्राम देते हैं । [आकाशमें गमन करता हुआ सूर्य-सारथि अरुण सूर्यके घोड़ोंको कोड़ोंसे मारकर हांकता है, अत एव इस कुण्डिनपुरीके ऊंचे-ऊंचे महलोंके ऊपर लगी हुई पताकाओंके वस्त्राग्र वायुसे चञ्चल होकर स्वयं घोड़ोंको प्रेरित करते (हांकते) हैं, जिससे अरुणको उतने समय तक घोड़ोंको नहीं हांकनेसे विश्राम मिल जाता है । इस कुण्डिनपुरीमें बहुत ऊँचे-ऊँचे महल पताकाओंसे सुशोभित हैं] ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक् ।
जगतां खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥ ८१ ॥

क्षितीति । तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि निजचिह्नानि निध्यन्नपानस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सारैरुत्कृष्टैः क्षितिकुहरे धरायां भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहाः तैः भूम्यन्तर्बहिःशिरोगृहैरित्यर्थः । या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता । 'दीपजने'त्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ्, च्लेश्चिणादेशः । अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥ ८१ ॥

जो (कुण्डिनपुरी) पृथ्वीके नीचे (पाताल), पृथ्वी पर (मर्त्यलोक) और आकाश (स्वर्गलोक) में स्थित पाताल लोक, मर्त्यलोक और स्वर्गलोकको पूर्ण करनेवाले लोकोंके पृथक्-पृथक् अपने चिह्नों (पाताललोकके कोष, भूतल = मर्त्यलोकके अन्न-पान तथा आकाश = स्वर्गलोकके पुष्पमाला; चन्दनादि रूप) को धारण करने (सारभूत पदार्थों) से सबसे आश्चर्यजनिका प्रतीत होती थी । [जिस प्रकार पाताललोक (भूमिके भीतर—तहखानों) में रत्न-सुवर्णादि कोष, भूतल पर अन्नादि तथा आकाश (ऊपर) में पुष्प-माला-चन्द-

नादि रहता है; उसी प्रकार उस नगरीके महलोंके भूतलके निचले भाग वाले भवनों (तहखानों) में रत्न-सुवर्णादि कोष, भूतल वाले भवनोंमें अन्नादि तथा ऊपर वाले भागों (अट्टालिकाओं) के भवनोंमें विलास-सामग्री पुष्पमाला, चन्दनादि रहते हैं; इस प्रकार तीनों लोकोंके सारभूत पदार्थोंको धारण करनेवाली त्रिलोक-विभव-सम्पन्ना एक ही नगरी आश्चर्य उत्पन्न करती थी]॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

दधदिति। यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गलश्च यस्य तस्य भावस्तत्तां 'कण्ठो गले सन्निधाने' इति विश्वः। दधत् अच्छया सुधया लेपनद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे' त्यमरः। क्षितिभृन्मन्दिरं राजभवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु? गच्छत्वेवेत्यर्थः। राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः। अन्यत्र नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः। अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में मेघके द्वारा नीलकण्ठत्व (नीले कण्ठके भाव, पक्षा०— नीले मध्य भाग वालेका भाव) को धारण करता हुआ तथा निर्मल चूना (कलई) से उज्ज्वल शरीर (भवन) को धारण करता हुआ राजभवन चन्द्रशेखरत्व (शिवभाव, चन्द्रमा है मस्तक—ऊपरमें जिसके ऐसे भाव) को क्यों नहीं प्राप्त करे ?। [शिवजीका कण्ठ नीला है तथा शरीर शुभ्र है एवं उनके मस्तकमें चन्द्रमा विराजमान हैं, उसी प्रकार इस नगरीके राजमहलको भी अत्यन्त ऊंचा होनेसे उसके मध्यभागमें मेघके रहनेसे नीलकण्ठ, चूनेसे पुते होनेसे शुभ्र शरीरवाला तथा ऊपरमें चन्द्रमाको धारण करनेसे शिवभावको प्राप्त करना उचित ही है]॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

बह्विति। बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते यस्यां नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः कुक्षिगतीकृता इव ग्रस्ताः किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः ॥ ८३ ॥

अनेक आकृति वाली (या—अतिशय सुन्दर स्तम्भादिमें निर्मित हाथी-दाँत आदिकी बनी हुई) पुतलियोंके मुखरूपी चन्द्रोंमें (सम्भावित) कलङ्क मृगोंको मानो जिस (कुण्डिन पुरी) के बहुत-से महलोंके स्कन्ध (मध्य) भागमें बनाये गये सिंहोंने खा लिया है,

ऐसा ज्ञात होता हो। [उक्त पुतलियोंके मुखचन्द्रमें कलङ्क मृग होना चाहिये, किन्तु वे मृग मुखचन्द्रोंमें नहीं हैं, अत एव ज्ञात होता है कि महलोंके मध्यभागमें बने सिंहोंने उन मृगोंको अपने उदरमें ले लिया—खा लिया—है] ॥ ८३ ॥

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराय कृता ययेव सा विपरीताऽजनि [1]भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

बलीति । स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः [2]नारदः बलिसद्मदिवं पातालस्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टामाह स्म उक्तवान् । अथेदानीं भूमिभूषया यया नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिसद्मद्यौर्विपरीता नारदोक्तविपरीता अजनि । सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधः स्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

सत्यवक्ता नारद मुनिने 'पातालरूप स्वर्ग, स्वर्गसे भी ऊपर (पक्षा०—अधिक रमणीय) है' यह ठीक ही कहा था, क्योंकि पृथ्वीकी भूषणरूपिणी जिस (कुण्डिनपुरी) से नीचे (अधो भागमें, पक्षा०—अपनी शोभासे हीन) किया गया वह (पातालरूपी स्वर्ग) विपरीत-सा हो गया। [पहले भूलोक तथा स्वर्गलोकसे पाताल ऊपर था, किन्तु इस समय अतिरमणीयतासे हीन होनेके कारण विपरीत हो गया। स्वर्गलोकसे पाताल लोक सुन्दरतामें अधिक है, इस कारण 'वह स्वर्गसे ऊपर है' ऐसा नारदने विष्णुपुराणमें कहा है और अब भूलोकस्थ इस कुण्डिन नगरीसे सौन्दर्यमें हीन किये जानेके कारण वह पाताललोक भी नीचे (हीन) हो गया। स्वर्ग तथा पाताल-दोनों लोकोंसे यह कुण्डिनपुरी रमणीय है] ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

प्रतीति । पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथोक्तमाह्वकम् अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः । सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे । 'अव्ययं विभक्ती' त्यादिना वीप्सायामव्ययीभावः । 'तृतीयासप्तम्योर्बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः । घरट्टाः गोधूमचूर्णग्रावाणः तज्जात् यस्या नगर्याः उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वनः निर्झरस्वरः कण्ठध्वनिः घनान् मेघान् अधुनापि नोज्झति न त्यजति । सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः । अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८५ ॥

प्रत्येक बाजारके मार्गोंमें चक्कियोंसे निकला हुआ सत्तुओंके सुगन्धवाला घर्घर शब्द (बरसात आनेसे घर पर जाते हुए) पथिकोंको आकृष्ट करता था, उधर मेघ गरज-गरज

१. 'भूविभूषया' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।
२. 'स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि' इति विष्णुपुराणे नारदवचनमिति 'प्रकाश' कृ ल

कर उन्हें शीघ्र घर पहुंचनेके लिए प्रेरित करता था, इस प्रकार चक्रियों तथा मेघोंके साथ कलह होता था, वह कलहरूप घर्घर शब्द आज भी मेघोंको नहीं छोड़ रहा है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्रकारः स एवामराद्रिर्मेरुः यां नगरीमेव मानिनीं कोपसम्पन्नामत एव अङ्कान्निजोत्सङ्गादागतां भूलोकं प्राप्तां दिवममरावतीं घने निबिडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पत्तती पत्तमूले यस्य स सन् परिरभ्य उपगूह्य मेरोः पत्तवत्वात्पत्ततिरूपत्वमनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास । कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन चेयं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥८६॥

मानिनी (अत एव रुष्ट होकर) अङ्क अर्थात् क्रोडको छोड़कर (भूलोकपर) आयी हुई दिव् अर्थात् स्वर्गरूपिणी जिस (कुण्डिनपुरी) नगरीको सघन रत्नोंसे बने हुए किवाड़रूप दो पक्षोंको धारण करता हुआ सुवर्णसे बने चहारदिवारीरूप सुमेरु पर्वत आलिङ्गन कर प्रसन्न करता हुआ निवास कर रहा है। ['दिव्' (स्वर्गपुरी) पहले सुमेरु पर्वतके अङ्कमें रहती थी, किन्तु किसी कारणवश मानिनी होनेसे रुष्ट होकर वह उसके अङ्कको छोड़कर यहां पृथ्वीपर आ गयी है और वही कुण्डिनपुरी है, अत एव अपनी प्रेयसीको प्रसन्न करनेके लिए सुवर्णमय चहारदिवारीरूप होकर बहुरत्नरचित कपाटरूप पङ्खोंको धारण करता हुआ सुमेरुपर्वत भी पृथ्वीपर आकर अपनी प्रेयसी कुण्डिननगरी रूपिणी 'दिव्' का आलिङ्गन कर उसे प्रसन्न करता हुआ यहां निवास कर रहा है। कुण्डिनपुरीके सुवर्णमय प्राकार सुमेरुतुल्य, उसके विशाल रत्नमय फाटक उस सुमेरुके पङ्खतुल्य तथा कुण्डिन नगरी स्वर्गतुल्य है] ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्द्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

अनलैरिति । या नगरी रवेरुदयं लयमस्तमयं चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलानां वप्राज्जन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः अनलैः परिवेषमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य बाणपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य परार्द्ध्यतां श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासंभवात्तादृशीं परार्द्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ८७ ॥

जो (कुण्डिन नगरी) जलते हुए सूर्यकान्तमणिके चहारदिवारियोंसे उत्पन्न हुई अग्निके द्वारा सूर्यके उदय तथा अस्तके मध्यमें अर्थात् सूर्योदयसे सूर्यास्त तक बाणासुरको नगरी (शोणितपुर) की (मा—के समान) श्रेष्ठताको धारण करती है। [पौराणिक

कथा—शिवभक्त बाणासुरकी शोणितपुर नामकी नगरी भी शिवजीके प्रसादसे अग्नि-परिवेष्टित रहती थी, ऐसा पुराणोंमें उल्लेख मिलता है]॥ ८७॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमवालुकयाऽच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ ८८ ॥

बह्विति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः वराटिकागणनाय कपर्दिका-संख्यानाय अटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः कराः पाणय एव कर्कटोत्कराः कुलीरसंघाः यस्मिन् सः, हिमबालुकया कर्पूरेण अच्छबालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु धीरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो वराटिके'ति हलायुधः । 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः । 'सिताभ्रो हिमबालुका, स्यात्कुलीरः कर्कटक'इति चामरः॥

बहुत-से शङ्ख तथा मणियोंवाला, कौड़ियोंकी गड़नाके लिए चञ्चल हाथरूप केकड़ों वाला तथा कर्पूर-धूलिरूप श्वेत बालुओं वाला, जिस (कुण्डिनपुरी) का बाजाररूपी समुद्र (लोगोंके कोलाहलसे) सर्वदा गरजता था ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

यदिति । यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः । स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानै-रिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादिभ्य इलच् 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः । अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गे'त्य-मरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः । पतिव्रतानामौ-चिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वाद् 'गुणवचने'त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीष् । स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेना-नित्यत्वज्ञापनाद्वैकल्पिकः । अत एव वामनः-ष्यञः षित्कार्यं बहुलमिति स्त्रीनपुंस-कयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहत-मि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्तस्या अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते हि म्रियते या स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । अत्राभ्रगङ्गायाः यदगारेत्या-दिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा च यदगाराणामतीन्दु-मण्डलमौन्नत्यं गम्यते तदुत्थापिता चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

प्रत्येक चन्द्रोदयमें जिस (कुण्डिनपुरी) के भवन-समूहोंके ऊपरी छतमें जड़े गये बहते हुए चन्द्रकान्त मणियोंसे पूर्ण जलवाली आकाशगङ्गाने अपने पतिव्रताधर्मके औचित्य को नहीं छोड़ा । [चन्द्रमाके उदय होनेपर हर्षसे समुद्र जल बढ़ जाता है, अत एव

समुद्रकी पत्नी आकाश गङ्गा भी कुण्डिनपुरीके महलोंके छतों पर—जड़े हुए चन्द्रकान्त मणियोंके पसीजनेसे जलपूर्ण होकर अपने पति समुद्रके हर्षसे बढ़ने पर स्वयं भी हर्षसे बढ़कर पातिव्रत्य धर्मका पालन करती है, पतिके हर्ष होनेपर हर्षित होना तथा दुःखी होने पर दुःखी होना पतिव्रता स्त्रीका धर्म है। कुण्डिनपुरीके महलोंके छतमें चन्द्रकान्तमणि जड़े हुए हैं और चन्द्रोदय होनेपर उनके पसीजनेसे बहते हुए पानीसे आकाश गङ्गा जलपूर्ण हो जाती है, अत एव आकाश गङ्गासे भी ऊंचे इस कुण्डिनपुरीके छतोंका होना सूचित होता है]॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

रुचय इति । यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः । विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यनिषद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि तेषां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिताः अस्तमयक्षोभात् च्युताः अत एव निरालया निराश्रया रुचयः प्रभाः अभुः खलु, कथञ्चित्प्रच्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः । कुङ्कुमराशीनां तदा तत्सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । भातुर्लुङि झेर्जुसादेशः ॥ ९० ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) में प्रत्येक सायङ्कालमें लेप-सामग्रियोंके बाजारमें विकने वाले कुङ्कुमके मार्ग अस्तङ्गतसूर्यकी गिरी हुई निरवलम्ब किरणोंके समान शोभती थीं । [सायंकालमें कुण्डिनपुरीके लेप विकनेवाले बाजारमें कुङ्कुम विकनेवाले मार्ग गिरे हुए कुङ्कुमोंसे रञ्जित होनेके कारण ऐसे प्रतीत होते थे कि अस्तङ्गत सूर्यकी लाल-लाल किरणें निराश्रय होनेसे भूमिपर गिर गयी हैं]॥ ९० ॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते ।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

विततमिति । यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुमापणे पण्यवीथ्यां विततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत इत्यर्थः । पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में व्यापारियोंकी दुकानों पर बेचनेके लिए फैलायी हुई समस्त वस्तुओंको लोग उस प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार मार्कण्डेय मुनिने पहले विष्णु भगवान्के उदरमें पृथ्वीके समस्त वस्तुओंको देखा था । [प्रत्येक दुकानदारकी दुकानमें संसार भरकी समस्त वस्तुएं रक्खी हुई थीं]॥ ९१ ॥

पौराणिक कथा–पहले मार्कण्डेय मुनिने विष्णु भगवान्से वरदान पाकर उनके उदरमें प्रविष्ट होकर संसारको देखा था।

समसेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम्॥ ९२॥

समिति। यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्पन्दं ततः क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः। मलीमसं मलिनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः। अन्यथा पीतमध्यस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः। 'ज्योत्स्नातमिस्रे'-त्यादिना निपातः। अलिं भृङ्गमेणमदैः समं कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नावैत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः। इह निश्चलस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम्। अत्रालेनैं-ल्यादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकते'ति लक्षणात्। तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते॥ ९२॥

जिस (कुण्डिनपुरी) के बाजार में कस्तूरीके साथ, सुगन्धके लोभसे नहीं उड़ते हुए तथा गुञ्जन करते हुए काले (कस्तूरीके रंगवाले) भौंरेको कस्तूरीके साथ तौलते हुए दुकानदारको खरीददार लोगोंके कोलाहलसे नहीं जान सका। [जब दुकानदार कस्तूरी तौलने लगा तब उसके सुगन्धसे आकृष्ट भौंरा उसके काँटेके पलड़े पर बैठकर निश्चल हो गया, तथा वह यद्यपि गूंज रहा था, किन्तु लोगोंके कोलाहलके कारण गूंजना भी ज्ञात नहीं हुआ एवं समान रंग होनेसे कस्तूरीके साथ भौंरेको भी दूकानदारने तौल दिया और इस बातको खरीददार नहीं जान सका। ।भौंरे घूमते रहनेपर ही गूंजते हैं, बैठने पर नहीं, तथापि यहां पर महाकविने बैठे हुए भौंरेका गूंजना प्रौढिवश कहा है]॥ ९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहर्ज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम्॥ ९३॥

रविकान्तेति। यत्र नगर्यां सकलाहः कृत्स्नमहः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। 'रात्राह्नाहाः पुंसी'ति पुंल्लिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योगविभागात्समासः। ज्वलनेन तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनितोष्मणा जनितोष्णेन रविकान्तमयेन सेतुना सेतुसदृशेनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टिमाध्वनेत्यर्थः। गच्छतां सञ्चरतां चरणौ चरणानित्यर्थः। 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम्। शिशिरे शिशिरर्तौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत्। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्रोत्तरस्याः पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः॥ ९३॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में पहले दिनभर (सूर्य-किरण-सम्पर्कसे निकली हुई) अग्निसे उष्ण, सूर्यकान्तमणियोंके बने हुए पुलसे शिशिर ऋतुमें जानेवाले लोगोंके चरणोंको शीत पीड़ित नहीं करता था॥ ९३॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥ ९४ ॥

विधिवति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं यस्या नगर्याः पन्थानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेशे कलितीव्रः कलिकालवच्चण्डः आपतः न तपति स्म । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयःसम्बन्धोक्तेः रतिशयोक्तिः, तत्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः ॥ ९४ ॥

चन्द्रकान्त मणियोंसे बने हुए (अत एव) चन्द्र-किरणों (के सम्पर्क) से उत्पन्न पानीसे नलके शीलके समान शीतल जिस (कुण्डिनपुरी) के मार्गको कलियुगके समान तीक्ष्ण धूपने गर्म नहीं किया। दिनमें गर्म हुआ भी जिस नगरी का मार्ग रात्रिमें चन्द्रकान्तमणियोंके बने हुए होनेसे चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कके कारण बहे हुए जलसे ठण्डा हो जाता था तथा 'नलकथा कलिदोषका[1] नाशक है' यह भी ध्वनित होता है] ॥ ९४ ॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

परिखेति । परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखामवापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थकुण्डलिग्रन्थः तद्वदिति शेषः । अत्र नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ९५ ॥

खाईके घेरेके कपटसे कुण्डलित (घिरी हुई, अत एव) शेषनाग (के अंशावतार पतञ्जलि) से कथित 'महाभाष्य' ग्रन्थकी फक्किका के समान विषम (अज्ञेय, पक्षा०—अप्रवेश्य) जिस (कुण्डिनपुरी) को दूसरोंने नहीं जाना (पक्षा०—वशमें नहीं किया)। [शेषनागके अवतार श्रीपतञ्जलि भगवान्‌से रचे भाष्यमें कुछ ऐसे स्थल हैं; जिनके वास्तविक आशयका ज्ञान नहीं होनेसे उन्हें वररुचिने घेरकर उनका दुर्ज्ञेयत्व सूचित कर दिया है, इसी प्रकार इस कुण्डिननगरीके चारो ओर ऐसी खाई है कि इसे कोई भी शत्रु अपने वशमें नहीं कर सकता, अत एव यह नगरी उस भाष्यकी फक्किकाके समान दूसरोंसे अग्राह्य है] ॥ ९५ ॥

मुखपाणिपदाक्षिण पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः ।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥ ९६ ॥

---

१. 'तदुक्तम्—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥' इति ।

मुखेति। यत्र नगर्यां मुखञ्च पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः। पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्व्यपदेशः। भीमजा भैमी स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती। ददातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्चे'तीत्वं 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोपः। अत्र अन्यश्रियोऽन्यस्यासम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः। तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः। तदुत्थापिता चेयं निदर्शनेति सङ्करः ॥ ९६ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) में मुख, हाथ, पैर तथा नेत्रोंमें कमलोंसे तथा शेष अङ्गोंमें चम्पक पुष्पोंसे रची गयी दमयन्तीने काम-पूजा-सम्बन्धिनी पुष्पमालाकी शोभाको स्वयमेव ग्रहण किया। [दमयन्तीके मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र कमल-पुष्पतुल्य और शेष अङ्ग चम्पक-पुष्पतुल्य थे, ऐसी दमयन्ती ही कामपूजा-सम्बन्धिनी पुष्पमालाके स्थानमें हो गयी। कमलादि अनेकविध पुष्पोंसे रचित मालाके समान दमयन्तीके द्वारा कामको प्रसन्न किया जाता था अर्थात् उसके द्वारा कामोद्दीपन होता था] ॥ ९६ ॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥ ९७ ॥

जघनेति। जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनं, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः। तदेव भारः तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं शतसंख्याकाः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोरि'त्यमरः। अप्सरसोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजनः सख्यः जातावेकवचनम्। यां नगरीमध्यासत अध्यतिष्ठन्, 'अधिशीङ्स्थासां कर्मे'ति कर्मत्वं, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा। अप्सरःकल्पाः शतं सख्य एनामुपासत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

जघनों तथा स्तनोंके बोझके भारीपनसे (शून्य) आकाशका अवलम्बन कर विहार करनेमें असमर्थ-सी सैकड़ों अप्सराएँ (आकाशसे भूतलपर) उतरकर उस दमयन्तीकी सखियां होकर जिस (कुण्डिनपुरी) में रहती थीं। [स्वर्गीय अप्सरारूप ही दमयन्तीकी सैकड़ों सखियां थीं] ॥ ९७ ॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ?।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ? ॥ ९८ ॥

स्थितीति। चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रमि'त्यमरः। या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्तां 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि'त्यमरः। कथं न बिभर्तु बिभर्त्येवेत्यर्थः। कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखानामारवो बहुमुखानां ब्रह्ममुख-पञ्चमुख-षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी स्वरस्य

ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादभेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। उभयत्रापि सति धारणे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात्। किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः प्रथमार्धे। द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूताच्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः॥ ९८॥

बहुत-से चित्रोंवाली (कुण्डिनपुरी) परस्पर स्थितिसे शोभनेवाले (नील-पीत-श्वेतादि) सम्पूर्ण वर्णों (रंगों) को क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् बहुत चित्रवाली नगरीमें अनेकविध रंगोंका होना उचित ही है तथा बहुत-से मुखोंके शब्दाधिक्य वाली नगरी स्वरभेद (अनेकविध शब्द) को नहीं प्राप्त करे? अर्थात् जिसमें मनुष्य, हाथी, अश्व आदि तथा शुक-सारिकादि विविध पक्षी बोलते हैं, ऐसे अनेकों मुखोंके शब्दवाली नगरीमें विभिन्न स्वरोंका होना उचित ही है। [पक्षा०—आश्चर्यकारिणी कुण्डिन नगरी स्थिति (शास्त्र-विहित स्व-स्व-आचार-पालन) से शोभनेवाले सब (ब्राह्मणादि चारो) वर्णोंके भावको वह क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त करे अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णोंमें साङ्कर्य होनेसे तथा इसमें नहीं होनेसे इसका आश्चर्यकारिणी होना उचित ही है, स्थिति (शास्त्र-विहित स्व-स्व-आचारपालन) से शोभनेवाले सब (ब्राह्मणादि चारो) वर्णोंमें भावको वह क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त करे अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णोंमें साङ्कर्य होनेसे तथा इसमें नहीं होंनेसे इसका आश्चर्यकारिणी होना उचित ही है। तथा बहुत-से मुखवालों (चतुर्मुख ब्रह्मा, पञ्चमुख शङ्करजी, षण्मुख कार्तिकेय आदि) से युक्त नगरी स्वर्गके साथ अभिन्नता (सादृश्य) को क्यों नहीं प्राप्त करे? अर्थात् प्राप्त करे। अथवा—स्थिति (अकारादि अक्षरोंके मुखादि उच्चारणस्थान) से शोभनेवाले हैं समस्त वर्ण (अक्षर) जिसमें ऐसे भावकी चित्रमयी नगरी क्यों नहीं प्राप्त करे? ब्राह्मणादि ठीक-ठीक स्वरोंका उच्चारण करते हुए वेदाध्ययन-पाठ करते हैं। तथा अनल्पमुख वाचाट ब्राह्मणोंके समन्ततः शब्द (वेदध्वनि) वाली नगरी (उदात्तादि) स्वरोंके भेदको क्यों नहीं प्राप्त करे, अर्थात् अवश्य प्राप्त करे]॥ ९८॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः॥ ९९॥

स्वरुचेति। माणिक्यमयाः पद्मरागमयाः यदालयाः यस्यां नगर्यां गृहाः दिनं दिने, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृषः अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासाः सन्तः स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्यं प्रापयेति तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात्। पताकया रसनायमानयेति भावः, सुधाकरं बहुधा लिलिहुः आस्वादयामासुरित्यर्थः। अह्नि सन्तप्ता निशि शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः। अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतोपचार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्ततद्गुणोत्थेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या॥ ९९॥

(माणिक्य रत्नोंसे बने हुए जिस (कुण्डिन नगरी) के भवन दिनमें समीपस्थ सूर्य से अधिक प्यासयुक्त होकर अपनी (भवनोंकी) कान्तिसे लाल (जिह्वा स्थानीय) पताकाओंसे रात्रिमें अनेक प्रकारसे चन्द्रमाका आस्वादन करते हैं । [दिनमें सूर्य-सन्तप्त व्यक्ति जिस प्रकार रात्रिमें शीतलोपचारसे अपना सन्ताप दूर करता है, उसी प्रकार अत्यधिक ऊंचे होनेसे नगरीके ये भवन दिनमें सूर्यके अत्यन्त समीप होनेसे अधिक पिपासा युक्त होकर भवन-कान्तिसे लाल पताका रूपिणी जीभसे रातमें शीतल चन्द्रमाका आस्वादन करते हैं]॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति-लिलिह इति । अमलपद्मरागजं यस्यां नगर्यां नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रितमतिसामीप्यादभिव्याप्तम् । श्रयतेः कर्मणि क्तः, श्रृणातेः पक्वार्थादिति केचित । तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमित्यास्तां तत् । अत एव पिपासु तृषितं सत् पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । स्वकीया रुग् यस्याः तया स्वरुचा तद्रूषितयेत्यर्थः । अत एव जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे आस्वादयामास । लिहेः कर्त्तरि लिट् । स्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च पूर्ववत् , जिह्वानिभयेत्युपमा सङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

(उसी विषयको पुनः कहते हैं—) पद्मराग मणियोंसे बना हुआ जिस नगरीका निर्मल राजभवन (दिनमें) सूर्य-किरणोंसे पिपासायुक्त होकर अपनी (राजभवनकी) कान्तिवाली, अर्थात् रक्तवर्ण जिह्वातुल्य पताकासे रात्रिमें चन्द्रमाका आस्वादन करता है ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्याः वलभ्यां 'कूटागारन्तु वलभिरि' त्यमरः । पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छन वलयायिते वलयीभूते शेषे शेत इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णोः सखितां सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः ॥ १०१ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) के छज्जेकी पीली पताकासे मिला हुआ चन्द्रमाका कलङ्क मण्डलाकार शेषनाग पर सोये हुए पीताम्बर पहने श्रीविष्णुके समान ज्ञात होता है । [कलङ्कके साथ श्रीविष्णु भगवान्‌की, पीली पताकाके साथ पीताम्बरकी, कलङ्कके चारो ओर स्थित चन्द्रमाके साथ मण्डलाकार (गेरुड़ो बांधकर) स्थित शेषनागकी समानता की गयी है । इससे भवनोंका अत्युन्नत होना सूचित होता है]॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।

पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२ ॥

अश्रान्तेति । यस्याः नगर्याः प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः दुकूलमयी पताकेत्यर्थः । अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूताभ्यः पवित्राभ्यः रसनाभ्यो जिह्वाभ्यः आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता सञ्जातविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्गसृष्टिरेव केलिः लीला यस्य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं सामि घटिता अर्धसृष्टा 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सने' इत्यमरः । मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्तुरान्दोलनैश्चलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजह्रारेत्युत्प्रेक्षा । एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या । शार्दूलविक्रीडितवृत्तं 'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

जिस (कुण्डिन नगरी) के महलोंकी पताकारूपिणी श्वेत वस्त्रलता, निरन्तर वेदपाठ करनेसे पवित्र जिह्वाओंसे उत्पन्न बहुत-सी स्तुतियोंमें निरालस्य ब्रह्ममुख-समूह (ब्रह्माके चारो मुख) से रोक दी गयी है नये स्वर्गकी रचनारूपिणी क्रीड़ा जिसकी, ऐसे विश्वामित्रजी द्वारा पहले आधी बनायी गयी (बादमें ब्रह्माके स्तुति करनेपर) छोड़ी गयी गङ्गा ही मानो वायुके झोंकोंसे आकाशमें क्रीडा करती (लहराती) है ॥ १०२ ॥

पौराणिक कथा—गुरु वसिष्ठ मुनिके शापसे चण्डाल हुए राजा त्रिशङ्कुकी सशरीर स्वर्गमें जानेके लिए इच्छा होनेपर महर्षि विश्वामित्रजीने यज्ञ कराकर उन्हें स्वर्गमें भेजना चाहा, किन्तु चण्डाल होनेसे स्वर्गके अनधिकारी त्रिशङ्कुको जब देवगण नीचे गिराने लगे, तब उन देवोंके इस कार्यसे रुष्ट विश्वामित्रजी दूसरे स्वर्गकी रचना करने लगे । यह देख अपनी प्रतिष्ठामें धक्का लगता हुआ मानकर ब्रह्माजीने विश्वामित्रजीको अनेकविध स्तुति वचनोंसे प्रसन्नकर स्वर्ग-रचना करनेसे रोक दिया ।

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

यदिति । यस्या नगर्याः अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । वल्लयाश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः । तथाभूता भाः छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः । शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पताकेत्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्त्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमलभत बालयमुनेव बभावित्यर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

जिस (कुण्डिनपुरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमके बने हुए महलोंकी किरणोंसे भ्रमर-तुल्य की गयी (घूमती हुई) कान्तिवाली स्वच्छ महलोंकी पताका सूर्यके समीप (पक्षा०—क्रोड = गोद) में चञ्चल तथा लोटती हुई यमुनाके शैशवको प्राप्त किया अर्थात् पिता सूर्यके समीप चञ्चल तथा लोटती हुई बालिका यमुनाके समान उक्तरूपा पताका शोभती थी ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम याभिस्ताः साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गनैवाभवत् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरस' इत्यभिधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः । उत्सुकमुद्युक्तं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेघमारुह्य रसाद्रागाद् यान्ती गच्छन्ती अध्वनि अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैः सैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०४॥

जिस (कुण्डिनपुरी) की कामिनी अपने क्रीडाप्रासादकी चोटी (ऊपरी छत) से अपने प्राणप्रियके क्रीडाप्रासादके आतिथ्य ग्रहण (विश्राम) करनेके लिए उत्कण्ठित अर्थात् जाते हुए मेघपर आरूढ होकर अनुरागसे जाती हुई मेघ-वेगके कारण पलकको नहीं गिराया, अतएव विमानके द्वारा आकाशका अवलम्बन की हुई वह मानो साक्षात् अप्सरा ही हो गयी । [जिस नगरीको कामिनी अपने क्रीडा-प्रासादके अत्युन्नत ऊपरी छतसे उस मेघपर चढ़ जाती है, जो मेघ उस कामिनीके प्राणेश्वरके क्रीडा-प्रासाद पर विश्राम करना चाहता है अर्थात् वहीं होकर जाता है, और मेघके वेगके कारण उसे निर्निमेष (एक टक) देखती है, अतएव वह कामिनी विमानसे आकाशमें स्थित साक्षात् अप्सरा ही हो जाती है । उस कुण्डिनपुरीकी कामिनियोंके तथा उनके प्राणेश्वरोंके क्रीडा-प्रासाद अत्युन्नत हैं, तथा कामिनियां अप्सराओंके समान सुन्दरी हैं] ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्ग्रोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

वैदर्भीति । 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो वेगगर्वो येषां तत्तथा

ह्रिया धृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः । कस्याः सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैरंशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्याः सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म । किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाद्यत्तत्सुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थः। अत्युक्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अंशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । स्रग्धरावृत्तं 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयमि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

दमयन्तीके क्रीडापर्वतपर मरकत (पन्ना) मणियोंके अग्रभागसे उत्पन्न (होकर ऊपरकी ओर जाते हुए, किन्तु ऊपरमें स्थित) ब्रह्माण्डके आघात (टक्कर) से ऊपर जानेके मदके भग्न होनेसे लज्जासे नम्रमुख हुए (अतएव) आकाशमें उत्तानगामिनी किस कामधेनुकी मुखमें प्रविष्ट किरणरूप कुश तृण जिस (कुण्डिनपुरी) के गोग्रास देनेके शाश्वत पुण्यको नहीं पाता है ?। [मरकत मणिके बने दमयन्तीके अत्युन्नत क्रीडा पर्वतकी चोटीसे कुशाओंके समान हरे रंगकी किरण ऊपरको ओर निकलती हैं, किन्तु ब्रह्माण्डके साथ टकराकर ऊपर नहीं जा सकनेके कारण पुनः नीचेकी ओर लौटकर ऊपर आकाशमें उत्तान चलती हुई कामधेनु गायोंके मुखमें प्रविष्ट होकर ऐसी प्रतीत होती है कि पुण्यलाभार्थ गायोंको हरे कुशाओंका निरन्तर गोग्रास दिया जाता हो]॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

विधिवति । तत्र तस्यां नगर्यां शशिदृषदुपक्लृप्तैश्चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैर्विफलितं व्यर्थीकृतं जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे गौरवं भारो यस्य तेन भैमीवनेन स हंसो हृतचित्तो व्यरचि । कर्मणि लुङ् । अत्रालवालानां चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्तं–'न नमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

वहांपर चन्द्रकान्तमणिके बने हुए (अतएव) चन्द्रकिरणोंके संसर्गसे पसीजनेसे भरे हुए तथा वृक्षोंके थालाओंके द्वारा पानीके सींचनेके गौरव (परिश्रम) को निष्प्रयोजन करनेवाले दमयन्तीके क्रीडोद्यानने उस हंसके चित्तको आकृष्ट कर लिया। [चन्द्रकान्त मणियोंसे बने वृक्षोंके थाले चन्द्रकिरण स्पर्श होनेसे स्वयं जलपूर्ण होकर पानीके द्वारा सींचने को व्यर्थ कर देते थे, ऐसे दमयन्तीके क्रीडोद्यानको देखकर हंसका चित्त आकृष्ट हो गया]॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।

उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षी तत्र वने सदृशभासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्य'इति षत्वम् । उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः अनुकरणे पटुः समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

इसके बाद वह सुवर्णमय (राजहंस) पक्षी वहां (क्रीडावनमें) समान कान्तिवाली सखियोंकी सभा (बीच) में देदीप्यमान उस राजकुमारी दमयन्तीको नक्षत्र-समूहके बीचमें स्थित चन्द्रलेखाके तुल्य शोभती हुई देखा ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं वेशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

भ्रमणेति । अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष्यता गवेषमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अमुष्या अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि च'ेति वृद्धिसंज्ञा । मुखेन्दुं सेवितुं लम्बमानः स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः तेने वितेने, तनोतेः कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ १०८ ॥

घूमने (चक्कर लगाने) के वेगसे स्वर्णकान्तिको फैलानेवाले तथा कहीं पर नीचे योग्य स्थानको ढूँढ़ते हुए उस (राजहंस[1]) पक्षीने इस (दमयन्ती) के मुखचन्द्रकी सेवाके लिए नीचेकी ओर आये हुए चन्द्रपरिधिके समान मण्डल किया [अर्थात् पृथ्वीपर उतरते हुए उस राजहंसने जो ऊपरमें चक्कर लगाया, वह ऐसा ज्ञात होता था कि दमयन्तीके मुखचन्द्रकी सेवाके लिए चन्द्रपरिधि (चन्द्रमाका घेरा) नीचे आ गया हो । नीचे उतरते समय चक्कर लगाकर उतरना पक्षियोंका स्वभाव होता है, तदनुसार ही नीचे उतरता हुआ राजहंस चारों ओर चक्कर लगाने लगा]॥ १०८ ॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।

---

१. 'सूनोग्रराजभोजकुलमेरुभ्यो दुहितुः पुत्रड् वा' इति राजशब्दात्परस्य दुहितृशब्दस्य पुत्रडादेशे टित्त्वात् ङीपि राजपुत्रीति । केचित्तु शार्ङ्गरवादिषु पुत्रशब्दं पठन्ति । तेन पुरुहूतपुत्रीति सिद्धम्' इति 'प्रकाश' कृदाह ।

इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

अनुभवतीति। विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति भाषायामि'ति निपातनात् ङीप्। सार्द्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमरः। भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टं नन्दनानन्दं नन्दनसुखं नानुभवतीति मतिः बुद्धिरुदयासीदुत्थिता। अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्। प्राधान्यन्त्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः। अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः। आधिक्यादल्पकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते॥' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

'वह (सुप्रसिद्ध) इन्द्राणी, घृताची आदि (अप्सरा) सहचरियोंके साथ इसी प्रकार (दमयन्तीके समान) नन्दन वनमें आनन्द पाती हैं क्या ?' ऐसा विचार क्रीडोद्यानमें सखियोंके साथ क्रीडा करती हुई दमयन्तीको देखकर हंसको हुआ ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११०॥

श्रीहर्षमित्यादि। व्याख्यातम्। द्वितीय एव द्वैतीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्य'इतीकक्द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणितः द्वितीय इत्यर्थः,अगमत् ॥

इति 'मल्लिनाथ'सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

कविराज……………उत्पन्न किया, उसके मनोहर रचनारूप 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्यमें द्वितीयसर्ग समाप्त हुआ। (शेष व्याख्या प्रथमसर्गके समान जाननी चाहिये) ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

आकुञ्चिताभ्यामिति। अथ मण्डलीकरणानन्तरं हंसः। आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां पक्षमूलाभ्यां नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगेनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने आततौ विस्तारिणौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन सः तथा सन्नुपभैमि भैम्याः समीपे, सामीप्येऽव्ययीभावः, नपुंसकं, ह्रस्वत्वं च। भूमौ पपात। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥१॥

इस (मण्डलाकार चक्कर लगाने) के बाद सङ्कुचित दोनों पङ्खोंसे आकाश से झट नीचे उतरकर बैठनेकी जगह फैलाये गये पङ्खोंको कँपाता (फड़फड़ाता) हुआ वह हंस दमयन्तीके पास भूमिपर आ गया ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः संभ्रान्तमन्तःकरणञ्चकार ॥ २ ॥

आकस्मिक इति। तदा पतनसमये पक्षपुटाहतायाः क्षितेः। अकस्मान्द्भव आकस्मिकः अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थः। यः स्वनो ध्वनिरुच्चचार उत्थितः, स स्वनः अन्यविन्यस्तदृशः विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्याः भैम्याः अन्तःकरणं द्राक् झटिति सम्भ्रान्तं ससंभ्रमं चकार। अकाण्डेऽसम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थः। स्वभावोक्तिः ॥ २ ॥

दोनों पङ्खोंसे आहत पृथ्वीसे अकस्मात् जो शब्द हुआ, उसने दूसरी ओर देखती हुई दमयन्तीके अन्तःकरणको सम्भ्रान्त (कुछ घबड़ाया हुआ तथा आश्चर्ययुक्त) कर दिया। [हंसके नीचे उतरनेसे एकाएक उत्पन्न शब्दसे दूसरी ओर देखती हुई दमयन्ती कुछ घबड़ा गयी एवं आश्चर्यचकित हो गयी] ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

नेत्राणीति। विदर्भाणां राजा वैदर्भः। तस्य सुतायाः भैम्याः सखीनां नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहाः तत्तदर्थग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति एकमेकचरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यायत इति निरुपाख्यमवाच्यं रूपमाकारः, स्वं स्वरूपं च यस्य तं पुरोवर्त्तिनं हंसं तत्पदार्थभूतञ्च यतव्रतानां योगिनां चेतांसि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापुः, अत्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

उन-उन (विभिन्न) विषयोंको ग्रहण करने (देखने) वाले विदर्भराज-कुमारी (दमयन्ती) को सखियोंके नेत्र अनिर्वचनीय उस एक हंसको उस प्रकार प्राप्त हुए (देखने लगे), जिस प्रकार योगियोंके चित्त अनिर्वचनीय रूपवाले एक ब्रह्मको प्राप्त

होते हैं। [अनिर्वचनीय रूपवाले ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर योगियोंके चित्तके समान उस अनिर्वचनीय सुवर्णकाय राजहंसको देखनेपर दमयन्तीकी सखियोंको आनन्द हुआ] ॥३॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

हंसमिति। असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायां स्वकीयायां 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्ये'तीकारः। तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्निहितमासन्नमाविर्भूतं च चरन्तं सञ्चरन्तं वर्त्तमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सर' इति विश्वः। अदरिणा निर्भीकेण शयेन पाणिना 'दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे', 'पञ्चशाखः शयः पाणिरि'त्यमरः। अन्यत्र आदरिणा आदरवता आशयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्त्तुकामा च यत्नात् निश्चलतां निश्चलाङ्गत्वं जगाहे जगाम॥४॥

इस (दमयन्ती) ने सन्निहित (समीपस्थ, या—श्रेष्ठ = नलके द्वारा भेजे गये) तथा चलते हुए हंसको भययुक्त (या—आदरयुक्त) हाथसे पकड़नेके लिए यत्नपूर्वक अपने शरीरमें उस प्रकार निश्चलताको प्राप्त किया अर्थात् अपने शरीरको स्थिर किया, जिस प्रकार सन्निहित (सत् = मन्वादिके द्वारा सम्यक् प्रकारसे ध्यान किये गये, या—सत् = सज्जन मन्वादिके लिए अतिशय हितकारक) तथा अपने शरीरमें विचरते हुए परमात्माको आदरान्वित आशयसे अर्थात् सादर ग्रहण करनेके लिए मुनिकी मनोवृत्ति (विषयान्तरसे हटकर) यत्नपूर्वक निश्चलताको प्राप्त होती है। [दमयन्तीने समीपस्थ हंसको पकड़नेके लिए शरीरको निश्चल (के तुल्य) बना लिया, किन्तु उसके मनमें तो चञ्चलता बनी ही रही] ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न धैर्याद्वियदुत्पपात ।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

तामिति। अयं हंसस्तां पूर्वोक्तां मायां कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पञ्चमी। वियदाकाशं प्रति नोत्पपात नोत्पतितवान्, आत्मन उपरि पातुकम्पतयालुं 'लषपते'त्यादिना उकञ् प्रत्ययः। तस्याः पाणिं तु प्लुतिलाघवेन उत्पतनकौशलेन मोघं वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आशाञ्च जनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

यह हंस दमयन्तीकी चेष्टाओंसे उसकी मायाको जानकर भी आकाशमें नहीं उड़ा, किन्तु अपने ऊपर आते हुए उसके हाथको थोड़ा उछलनेसे निष्फल कर दिया [दमयन्तीका हाथ जब उसके ऊपर पकड़नेके लिए अधिक निकट होता था, तभी वह हंस थोड़ा उछलकर दूर हट जाता था, जिससे वह उसे पकड़ नहीं पाती थी] ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः ।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

व्यर्थीकृतमिति। अस्याः भैम्याः व्यवसायं हंसग्रहणोद्योगं तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा व्यर्थीकृतं तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्कालं तस्मिन् काले अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा। परस्परां परस्परस्यामित्यर्थः। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमि'ति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वमुत्तरपदस्य यथायोग द्वितीयाद्येकवचनं 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वक्तव्य' इति विकल्पादामादेशः। अर्पितहस्ततालं दत्तहस्तताडनं यथा तथा आलीभिः सखीभिरलम् अत्यर्थम् अहस्यत हसितम्। भावे लङ्॥ ६॥

उस पक्षी (हंस) के द्वारा उस प्रकार (थोड़ा उछल-उछलकर) व्यर्थ किये गये दमयन्तीके उद्योग (हंसको पकड़नेका कार्य) को जानकर (दमयन्तीकी) सखियोंने ताली बजाकर परस्परसे उस (दमयन्ती) को सम्यक् प्रकारसे हँसा अर्थात् उसका बड़ा उपहास किया॥ ६॥

उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः॥७॥

उच्चाटनीय इति। हे सख्यः! भवतीभिरेष हंसः करतालिकानां दानादन्योन्यहस्तताडनकरणादुच्चाटनीयः निष्कासनीयः किमिति काकुः, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थः। अत्र आसु मध्ये या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मां जिघांसतीत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी। इतीत्थं तया भैम्या आलिवर्गः सखीसंघः उपालम्भि अशापि, शापेनैव निवारित इत्यर्थः॥ ७॥

इस समय (जब मैं इस सुवर्णमय सुन्दर हंसको पकड़नेके लिए इतना अधिक सावधान होकर लग रही हूँ, ऐसे समयमें) हाथकी तालियाँ देकर तुम लोगोंको इसे उड़ाना चाहिये? इनमें जो मेरा अनुगमन करती है, वही मेरे साथ द्रोह कर रही है, इस प्रकार उस (दमयन्ती) ने सखी-समूहको उपालम्भ दिया॥ ७॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः।
श्यामाऽथ हंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात्॥८॥

धृतेति। अथ सखीनिवारणानन्तरं सखीनां हसिते हासनिमित्ते धृताल्पकोपा तासु ईषत्कोपा इत्यर्थः। भास्वन्तमभिप्रयातुः सूर्याभिमुखं गच्छतः छाया अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्यस्था, 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम्। अन्यत्र श्यामा नीला, हंसस्य कर्मणि षष्ठी। करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्षं ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थः। अन्यत्र हंसस्य सूर्यस्य करानवाप्तेः अंशुसंस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तैः छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः। पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्त्याशया तमन्वगात्। 'रविश्वेतच्छदौ हंसौ', 'बलिहस्तांशवः करा' इति चामरः॥ ८॥

सखियोंके हँसने पर थोड़ा क्रुद्ध तथा हंसको हाथसे नहीं पकड़नेसे कुछ लज्जित हुई श्यामा (षोडशी) दमयन्ती सूर्यके सामने जानेवाले व्यक्तिके पीछे उसकी श्यामवर्ण (काली) परछाहींके समान हंसके पीछे लग गयी (हंसके पीछे-पीछे चलने लगी) ॥ ८ ॥

शस्ता न हंसाभिमुखी त[१]वेयं यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥ ९ ॥

शस्तेति । तवेयं हंसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमनं न शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापदृष्टदोषाच्चेति भावः । इतीत्थं ताभिः छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गलमूर्त्तित्वादागामिशुभसूचकः एष हंसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किन्तु शकुनमेव भवेदित्यर्थः । अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुनन्तु शुभाशंसानिमित्ते शकुनः पुमानि'ति विश्वः । 'अभूततद्भावे च्विः' विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ् । इत्याह स्म अवोचत्, 'ब्रुवः पञ्चानामि'-त्याहादेशः । एतेन तदीययात्रानिषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥ ९ ॥

'हंस (मराल = राजहंस पक्षी, पक्षा०—सूर्य) के सम्मुख तुम्हारा यह गमन करना श्रेष्ठ (अभीष्ट फलप्रद) नहीं है' इस प्रकार उन (सखियों) के द्वारा हँसी गयी उस दमयन्तीने कहा कि—भविष्य में प्रिय (शुभ) की सूचना देनेवाला (पक्षा०—भविष्यमें होनेवाले प्रिय (नल) की सूचना देनेवाला) यह हंस अशकुनि (पक्षी भिन्न, पक्षा०—अशुभ सूचक शकुनवाला) नहीं है अर्थात् यह पक्षी ही है, जिसके सम्मुख यात्रा करना निषिद्ध है, वह सूर्य नहीं है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्याः पुरःपुरश्चारु चलन् बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

एवं दमयन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह—हंसोऽपीति । असौ हंसोऽपि हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः सुदत्याः शोभनदन्तायाः भैम्याः, सुदती व्याख्याता । पुरःपुरः वीप्सायां द्विर्भावः । अग्रे समन्तात्, चारु चलन् रम्यं गच्छन् सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्यहेतोः, अहो मामयमतिविडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थमित्यर्थः । 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमरः । 'षष्ठी हेतुप्रयोग' इति षष्ठी । एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, बभासे बभौ । लोके परिहासकाः तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

यह हंस भी हंसगामिनी एवं सुदती (सुन्दर दाँतोवाली दमयन्ती) के आगे-आगे सम्यक् प्रकारसे चलता हुआ उसे लज्जित (या—आश्चर्यचकित) करनेके लिए इस (दमयन्ती) के चलनेका अनुकरण कर उसे सम्यक् प्रकारसे हँसता हुआ-सा शोभित हुआ । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसीको लज्जित (या—'अहो ! यह भी मेरा अनुकरण

१. 'पुनरस्ते' इति 'प्रकाश' व्याख्यातः पाठः ।

कर उपहास कर रहा है' इस भावनासे आश्चर्यचकित) करनेके लिए उसके गमनादिका अनुकरण करता हुआ उसे हँसता है]॥ १०॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

पदे पद इति। भावयन्तीति भाविनी हंसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः। 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः। पदे पदे तं हंसं यथा करप्राप्यं करग्राह्यं नूनं निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा सखेलं चलता गच्छता तेन हंसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्तं नीतेत्यर्थः॥ ११॥

भाविनी (हंस-ग्रहणकी भावना वाली, दमयन्ती) अगले प्रत्येक डग (कदम—पग) पर जिस प्रकार उसे हाथसे ग्रहण करने योग्य समझती थी, उस प्रकारसे क्रीडापूर्वक चलता हुआ वह (हंस) कृशाङ्गी (दमयन्ती) को वञ्चितकर लताओंमें ले गया॥ ११॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

रुषेति। रुषा निषिद्धालिजनां निवारितसखीजनां यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं कलयांचकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां स्विन्नगात्रान्तां स हंसः कीरवत् शुकवन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन्नवादीत्॥ १२॥

जब हंसने क्रोधसे सखियोंको निषेधकी हुई दमयन्तीको अकेली जान लिया, तब परिश्रमके जल (पसीने) की बूँदोंसे भूषित अङ्गोंवाली (दमयन्ती) से तोतेके समान मनुष्यकी बोली बोलने लगा॥ १२॥

अये! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम्[1]?।
उदेति ते भीरपि किन्नु[2] बाले विलोकयन्त्या न घना वनालीः?॥१३॥

अय इति। अये बाले! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि उपैष्यसि? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। किमर्थं परिश्राम्यसि वा? घनाः सान्द्रा वनालीर्वनपङ्क्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्नु?॥ १३॥

हे दमयन्ति! कितनी दूर तक आवोगी?, व्यर्थ ही क्यों थक रही हो?, हे बाले! सघन वन-समूहोंको देखकर तुम्हें भय भी उत्पन्न नहीं होता?। [अथवा—हे दमयन्ति! कितनी दूर तक व्यर्थ आवोगी; क्यों थक रही हो। हे नवीन सखियों वाली दमयन्ति! सघन वन-समूहों………। या—………आवोगी? व्यर्थ (वि + अर्थ अर्थात् मुझ पक्षीके लिए) क्यों परिश्रम करती हो?। या—………आवोगी, इस प्रकार क्यों परि·

---

१. 'किमित्थम्' इति पाठान्तरम्। २. 'किन्नवाले' इति पाठान्तरम्।

श्रम करती हो ?)। [हंस दमयन्तीसे समझता हुआ कहता है कि—'तुम कहाँ तक आवोगी ?, किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुके लिए दूर जाना सङ्गत होनेपर भी एक पक्षीके लिए इतना अधिक परिश्रम करना ठीक नहीं, सुवर्णमय पक्षीके लिए उत्कण्ठित होकर इतनी दूर तक आना एवं परिश्रम करना यथा कथञ्चित् उचित होने पर भी बाला (स्वयं अप्रौढ या—नवीन-अप्रौढ सखियों वाली) तुमको सघन वन-समूहोंको देखकर भय उत्पन्न होना चाहिये; इस प्रकार तुम इस कार्यमें प्रवृत्त मत होवो, लौट जावो'] ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनालिः ॥ १४ ॥

वृथेति । वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः अः, 'अपथं नपुंसकम्' । तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पदं पादं व्यवसायं च अर्पयन्तीं 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि'त्यमरः । मरुता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च वनालिः आलीव सखीव प्रतिषेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थः कर्म । यथा लोके अमार्गवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थः । अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

यह वनपङ्क्ति वायुसे विलास करते हुए पल्लवरूपी हाथोंके कम्पनोंसे एवं कबूतरोंके 'हुङ्कार' रूप वाणीसे बेराह चलती हुई तुमको सखीके समान रोक रही है, यह तुम देखो ॥

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

धार्य इति । एकत्रैव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या वसुधायामेकगत्या भूमात्रचारिण्येत्यर्थः । शिवभागवतवत्समासः । भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवं कथमित्थंसुसिद्धाप्रयोगश्चेदि'ति' कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल् । धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः । 'शकि लिङ् चे'ति चकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः । अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपकेन वयसा यौवनेन सखिशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । न खण्डितं न निवर्त्तितम् अहो विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः । अत्राधार्यत्वस्य वसुधागतिवियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥ १५ ॥

केवल पृथ्वीपर चलनेवाली तुम आकाशमें विहार करनेवाले (इच्छापूर्वक चलनेवाले) मुझको किस प्रकार पकड़ सकती हो ? अर्थात् कथमपि नहीं पकड़ सकती । आश्चर्य है कि कामदेवके मित्र इस अवस्था (युवावस्था) ने तुम्हारे बचपनको नहीं दूर किया अर्थात् युवावस्थाके आनेपर भी तुम्हारा बचपन नहीं गया, यह आश्चर्य है । (अथवा—कामदेवतुल्य नलके मित्र इस पक्षीने अर्थात् मैंने तुम्हारे बचपनको खण्डित नहीं किया ?

अर्थात् प्रायः खण्डित ही कर दिया शीघ्र नलकी प्राप्ति होनेसे तुम अपना बचपन प्रायः दूर हुआ ही समझो। [तुम केवल पृथ्वीपर चलने वाली हो अर्थात् पृथ्वीपर भी इच्छा-पूर्वक सर्वत्र गमन करनेमें समर्थ नहीं हो और मैं आकाशमें भी केवल चलने ही वाला नहीं हूं, अपि तु विहार करनेवाला (इच्छापूर्वक सर्वत्र जाने वाला) हूँ—इस प्रकार तुम्हें केवल पृथ्वीपर चलनेसे और मुझे आकाशमें भी विहार करनेसे हम दोनोंकी गतिमें बहुत अन्तर है, अत एव तुम मुझे किसी प्रकार भी नहीं पकड़ सकती हो] ॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति। सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहंसा वाहनहंसाः तेषां वंशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वंशो वेणौ कुले वर्गे','पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः। पतत्रिणः स्मः ब्रह्मवाहनहंसवंश्याः वयमित्यर्थः। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशामस्मद्विधानां 'त्यदादिष्वि'त्यादिना दृशेः क्विन् चाटुषु सुभाषितेषु ये रसाः शृङ्गारादयः त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जनाः, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। तेभ्यः इतरैर्मनुष्यै-र्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः ॥ १६ ॥

हम लोग कमलासन (ब्रह्मा) के वाहन (हंस) के वंशके सहायक पक्षी अर्थात् ब्रह्मा के वाहन हंसवंशके कुलमें उत्पन्न हंस हैं। हम जैसे लोगोंके प्रियवचन–रसरूपी अमृत स्वर्गलोकके लोगोंसे भिन्न लोगों (मर्त्यलोक या पातालमें निवास करनेवाले लोगों) को दुर्लभ है। (अतः मुझे यथाकथञ्चित् पकड़ने पर भी तुम मुझसे कोई लाभ नहीं उठा सकती] ॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति। स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्या हेममृणालिन्यस्तासां या नालाः काण्डाः यानि मृणालानि कन्दाश्च। अत्र नाला-मृणालशब्दस्य शब्दानुशासनं केषां शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्धः सोढव्यः 'नाला नालमथास्त्रियावि'त्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः न च तत्रापि सन्देहः। तद् व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात्। तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया' इति, 'नाला स्याद्बिसकन्द' इति विश्वः, तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुजः वयमिति शेषः। अन्नानुरूपामाहारसदृशी-न्तनोः शरीरस्य रूपऋद्धिं वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः। भजामः प्राप्ताः स्म इत्यर्थः। तथा हि कार्यं जन्यं द्रव्यं निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्यपादानता गुणान् रूपादिविशेषगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थः। प्राप्तिविशेषवाचि-

जस्तत्सामान्यलक्षणात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विकाः प्राणिनां कायकान्तय इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

(हंस अब अपने स्वर्ण-शरीर होनेका कारण कहता है—) आकाशगङ्गाकी स्वर्ण-कमलिनीके नालके अग्रभाग (कमल तथा कमलदण्ड—बिस) को खानेवाले हम लोग अन्न (खाद्य पदार्थ) के अनुरूप शरीरके रूपकी समृद्धि अर्थात् स्वर्ण शरीर को प्राप्त किये हैं, क्योंकि कार्य कारणके गुणोंको प्राप्त करता है । [सुवर्णकमल तथा सुवर्णबिस भोजन करनेसे हम लोगोंका शरीर भी सुवर्णमय है । 'हम' ऐसा बहुवचन कहकर बहुत-से हंसों का सुवर्णमय शरीर होना सूचित करता है] ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १८ ॥

अथात्मनः दमालोकसञ्चरणे कारणमाह—धातुरिति । धातुर्ब्रह्मणो नियोगादादेशादिह भूलोके नैषधीयं नलीयं लीलासरः सेवितुं क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः । आगतेषु हैमेषु हेमविकारेषु । विकारार्थेऽण् प्रत्ययः । 'नस्तद्धित' इति टिलोपः । हंसेषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्कः उत्सुकः सन् 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यादुत्क उन्मना' इत्यमरः । उच्छब्दात्कन् प्रत्ययान्तो निपातः भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

(वह ब्रह्माका वाहन होनेपर मर्त्यलोकमें आनेका कारण बतलाते हुए नलका प्रसङ्ग भी उपस्थित करता है—) ब्रह्माकी आज्ञासे यहां (मर्त्यलोकमें) नलके क्रीड़ासरका सेवन करने (नलके क्रीडातडागमें विचरने) के लिए आये हुए सुवर्णमय हंसोंमें भूलोकको देखनेके लिए उत्कण्ठित अकेला मैं घूम रहा हूँ । [इससे हंसने नलके क्रीडासरमें बहुत-से सुवर्णमय हंसोंका होना और ब्रह्माकी आज्ञासे वहां निवास करना कहकर उसका अधिक महत्त्व सूचित किया है] ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १९ ॥

अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधेः ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे भुवनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्यः अवसन्नेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्वकुलवृद्धेभ्यः स्कन्धस्यांसस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री'त्यमरः । विश्रान्तिमदां प्रादाम् । स्वयमेक एवाहमित्यर्थः । ददातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि तत्प्रभृति अविश्रममनवरतं 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना श्रमेर्वञि वृद्धिप्रतिषेधः, विश्वगो विश्वं गच्छन्नपि 'अन्यत्रापि दृश्यत' इति गमेर्डप्रत्ययः । न श्राम्यामि न खिद्ये ॥ १९ ॥

('जब तुम भूलोकको देखनेके लिए उत्कण्ठित होकर घूमते हो तो अधिक थके हुए तुम्हारा पकड़ा जाना सम्भव है' इस दमयन्तीके मनोगत शङ्काका राजहंस खण्डन करता है—) किसी समय ब्रह्माके भ्रमण-विलासमें थकनेसे दुःखी अपनेसे बड़े (हंसों) के

लिए मैंने विश्राम दिया था, तबसे (ब्रह्माके वरदानके कारण) निरन्तर संसारका भ्रमण करता हुआ भी मैं नहीं थकता हूँ ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषस्स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्यं स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०॥

अथ व्याधादिबन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह—बन्धायेति । मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवंविधो नास्तीत्यर्थः । अन्यत्र विरो विगतरेफः स चासौ लोदयो लोदयवांश्च मत्वर्थीयोऽकारः । तस्य रेफस्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः । शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते, भुज्यत इति भोगः सुखं स्वर्गभोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं तत्प्रापकादृष्टमित्यर्थः । स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वादिति भावः । तदेकं विना कश्चित् पाशादिः पाशाद्युपायः । बन्धाय बन्धनार्थमासादितपौरुषः प्राप्तव्यापारो न स्यात् ।।स्वर्भोगभाग्यैकसुलभा वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः । अस्मादृक्संसर्गादन्यः को नाम स्वर्गपदार्थ इति भावः ॥ २० ॥

('जाल आदिसे पक्षियोंका पकड़ा जाना सम्भव होनेसे तुम्हें भी पकड़ा जा सकता है' दमयन्तीके इस मनोगत शङ्काका निवारण करता हुआ हंस पुनः नलका प्रसङ्ग लाता है—) स्वर्गीय मुझ पक्षीको पकड़नेके लिए विरलोदय (विरल समृद्धि वाले) उस प्रसिद्ध नरके स्वर्गमें भोग करने योग्य भाग्यके बिना कोई जाल आदि सामर्थ्यवान् (सफल) नहीं हो सकता । [पक्षा०—जिस 'नर' शब्दमें 'र' नहीं है और वहां 'ल' का उदय है, उस 'नर' अर्थात् 'नल' के स्वर्गमें भोग करने योग्य भाग्यके बिना········अर्थात् केवल नलका ही ऐसा स्वर्गीय भाग्य है कि मुझ–जैसे दिव्य पक्षीको पकड़नेमें समर्थ हो सके अन्य जाल आदि कोई भी मुझे नहीं पकड़नेमें समर्थ होगा, मुझे पकड़नेके लिए तुम्हारा प्रयास करना व्यर्थ है] ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्यास्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति । इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादिकर्मणा च । 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणी'त्यमरः । वश्याः वशङ्गता इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः । अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोगं सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः । ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकायान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति । महीरुहो वृक्षाः दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् समानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशावस्येत्याकालिकः उत्पत्त्यनन्तरविनाशीत्यर्थः । 'आकालिकडाद्यन्तवचन' इति समानकालशब्दस्याकालशब्दादेशो ठञ्प्रत्ययान्तो निपातः । प्रकृते त्वकालभवं कोरकमुद्गिरन्तीत्यर्थः । 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं

स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे। दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाद-देशकालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

(अब दो श्लोकों (३।२१-२२) से मर्त्यलोकवासी भी नलके स्वर्भोग्य भाग्यका प्रदिपादन करता है—) देवलोग यागादि तथा तडाग-वाटिकादिसे नलके वशीभूत होकर यहां पर (इस भूलोकमें) भी स्वर्गीय भोगकी रचना करते हैं, क्योंकि वृक्ष भी दोहद सेकके प्रभावसे असमयमें कलिकाको उत्पन्न करते हैं। अथवा—जब अमर्त्य (मनुष्यभिन्न) जड वृक्ष भी इष्ट (दोहद-धूप खाद आदि देने) तथा पूर्त्त (थालामें पानी आदि देने) से असमयमें कलिकाको देते हैं, तब सर्वशक्ति सम्पन्न देवगण यज्ञ तथा वापी-कूप-तडागा-रामादिसे प्रसन्न होकर मर्त्यलोकमें भी नलके लिए स्वर्गीय भोग देते हैं, इसमें कौन-सा आश्चर्य है ?) ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

स्वर्भोगमेवाह-सुवर्णेति। सुवर्णशैलान्मेरोस्तूर्णमवतीर्य्य अवरुह्य स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः चामरेषु बद्धसंख्यैस्तत्सदृशैः पक्षैः पतत्रैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः तादृक्पक्षवीजनैः सुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥२२॥

देवों (या—चामर) के साथ मित्रता करनेवाले हम लोग (मुझ-जैसे बहुत-से सुवर्णमय हंस) काम-क्रीडाके समय सुमेरुपर्वतसे शीघ्र उतरकर आकाशगङ्गाके जलकणसे आर्द्र पङ्खों द्वारा उस (नल) को हवा करते हैं। [उपर्युक्त श्लोकमें देवलोग नलके स्वर्ग-भोगकी रचना करते हैं, तथा इस श्लोकमें कथित हवा करनेसे हम लोग स्वर्गभोगकी रचना करते हैं, अत एव हमारा तथा देवोंका नलके लिए स्वर्गीय भोगरचनारूप एक कार्य होनेसे परस्परमें मैत्री होना उचित ही है, तथा राजा नलका चामरके द्वारा हवा की जाती है, और हम लोग पङ्खों द्वारा हवा करते हैं, अतः समान कार्य होनेसे चामरके साथ भी हमारी मित्रता होना उचित ही है] ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥२३॥

क्रियेतेति। साधुविभक्तिचिन्तां सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा नलाभिधाना व्यक्तिः मूर्तिः प्रथमाभिधेया प्रथमं परिगणनीया। कुतः या व्यक्तिः स्वौजसां विलासैर्व्याप्तिभिः तावद्बहु तथा प्रभूतं नास्ति नामो नतिर्यस्येति—अनाममनम्रं पदं परराष्ट्रं साधयितुं स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात्। अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता सप्तविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् यदा सा प्रथमा व्यक्तिः अभिधेया विचार्य्या, या स्वौजसां 'सु औ जस्' इत्येषां प्रत्ययानां विलासैः विस्तारैस्तावद्बहु अनेकं नामपदं सुबन्तपदं 'वृक्ष' इत्यादिकं पदं साधयितुं निष्पादयितुं क्षमा। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणायाश्चानुपपत्त्यभावेनाभावादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥२३॥

यदि सज्जनोंके विभाजनका विचार किया जाय तो वह (नल) प्रथम व्यक्ति होगा, जो अपने पराक्रमके विलासोंसे बहुत-से शत्रुस्थानोंको वशमें करनेके लिए समर्थ है। (पक्षा०—यदि ('सुप्-तिङ्' रूप) साधु विभक्तिका विचार किया जाय तो 'प्रथमा' नाम से प्रसिद्ध वह व्यक्ति होगी, जो 'सु-औ-जस्' (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) के विलासोंसे वहुत-में 'नाम' अर्थात् प्रातिपदिक पदोंको सिद्ध करनेके लिए समर्थ है। 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा० सू० २।३।४६) के नियमानुसार सब विभक्तियोंमें-से किसी विभक्ति-विशेषकी प्राप्ति नहीं रहनेपर 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा विभक्तिका प्रयोग सामान्यतः होता है, अत एव वह प्रथमा विभक्ति ही 'सु-औ-जस्' रूप प्रत्ययोंके विसर्गलोप, वृद्धि, दीर्घ आदि कार्योंके विलाससे 'प्रातिपादिक पदको सिद्ध करने में समर्थ होती है। अथ च—यदि एकवचन आदि विभक्तियोंमें साधु विभक्तियोंका विचार किया जाय तो 'सु' औ, जस्' के बीचमें प्रथमा (पहली) विभक्ति अर्थात् 'सु' विभक्ति होगी, जो अपने विसर्ग-लोपादिरूप बलके विलासोंसे प्रातिपदिक पदको सिद्ध करनेके लिए बहुत समर्थ है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत', 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' अर्थात् अपद (साधुत्व-हीन) शब्दका प्रयोग नहीं करना चाहिये, एकवचनका प्रयोग स्वभावतः (किसी विभक्ति-विशेषकी आकाङ्क्षा नहीं रहने पर भी स्वतः एव) किया जाता है' इस सिद्धान्तके अनुसार 'सु, औ, जस्' विभक्तियोंमें भी पहली 'सु' विभक्ति सब प्रातिपदिक पदको सिद्ध करनेके लिए सर्वथा समर्थ है]॥ २३॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम्॥ २४॥

राजेति। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोङ्र्वनिप्,' श्रिताः आश्रिताः ये श्रोत्रियाः छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समावि'त्यमरः। 'श्रोत्रिश्छन्दोऽधीत' इति निपातः। तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्रीः सम्पद्येन सः राजा नलः अध्वरेषु यदाज्यन्तद्रूपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थः। राज्यं विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्व्रजत्रा दानेन तत्सङ्घाधीनं कृत्वा 'देये त्रा चे'ति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्यं शेषं हुतशेषं भुङ्क्ते अन्त्यं पश्चान्निर्दिष्टं राज्यन्त्वशेषं कृत्स्नमखण्डं भुङ्क्ते, अहो उपयुक्तादन्यः शेषः पूर्वस्याशेषस्य तथात्वम्, अन्त्यस्य अशेषत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम्, अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः, अखण्डमिति परिहारः॥ २४॥

आश्रयस्थ श्रोत्रियों (वेदपाठियों) के अधीन करनेवाले अर्थात् वेदपाठियोंको धन-दान करनेवाले तथा सविध यज्ञकर्ता वे (राजा नल) यज्ञ के घीके दृष्टान्तसे ही राज्यको विद्वत्समूह (पक्षा०—देवसमूह) के अधीन करके पहले (यज्ञशेष घृत) को शेष (बचा हुआ) तथा अन्तिम (राज्य) को अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते (खाते, पक्षा०—भोगते)

हैं, यह आश्चर्य है । [राजा नल आश्रयमें रहनेवाले श्रोत्रियों (जन्म, संस्कार तथा विद्यासे युक्त ब्राह्मणों) को धन देकर जिस प्रकार यज्ञके घृतको विबुधों (देवों) के समूहके अधीन करते (उन्हें देते हैं, उसी प्रकार राज्यको भी विबुधों (विशिष्ट विद्वानों) के समूहके अधीन करके प्रथम अर्थात् यज्ञघृतको शेष (यज्ञ-कर्मसे बचा हुआ) भोजन करते हैं तथा अन्तिम (राज्य) को अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते हैं, यह आश्चर्य है, क्योंकि 'जो वस्तु पहले खायी जाती है, वह सम्पूर्ण तथा जो बादमें खायी जाती है, उसे असम्पूर्ण खाया जाता है' ऐसा साधारण लौकिक नियम है, किन्तु ये राजा नल पूर्व (यज्ञ-घृत) को शेष तथा अन्तिम (राज्य) को सम्पूर्ण भोजन करते (पक्षा०—भोगते) हैं अतः आश्चर्य है । अथ च—सर्वसाधारणके भोज्य होनेसे मार्गमें जो राज्य, तत्सामान्यतः राज्यका भोग करनेवाले ये नल राज्यको अशेष (सम्पूर्ण) भोग करते हैं यह आश्चर्य है । विधिवत् हवनकर आश्रित श्रोत्रियोंको धन देनेवाले तथा समुद्रावधि सम्पूर्ण राज्यको भोगनेवाले राजा नल हैं] ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

दारिद्र्येति । दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैरर्थिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं सन्तुष्टं दानहृष्टमिष्टदेवं यज्ञाराधितसुरलोकनाथं तं नलं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः । नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

दरिद्रताको दूर करनेवाले धनराशिकी वर्षाओंसे याचक-समूहमें सफल व्रतवाले, (दान कर्मसे) सन्तुष्ट, देव-यज्ञ करनेवाले (या—देव हैं अभीष्ट देव जिसके ऐसे, या—(याचकोंके लिए) अभीष्ट देवरूप) उस राजा (नल) से कौन लोग अभीष्ट (आदि) की प्रार्थना नहीं करते हैं ? अर्थात् राजा नलसे सभी लोग अभिलषित धनादिको चाहते हैं । [जिस प्रकार याचना करनेपर मेघ वर्षासे धान्योत्पादनके द्वारा सभी लोगोंकी दरिद्रताको दूर करता है, उसी प्रकार राजा नल भी अधिक धन देकर सभी याचकोंकी दरिद्रताको दूर करते हैं, अतएव मेघके समान दरिद्रताको दूर करनेसे नल का व्रत (नियम) सफल है] ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमां भां सौन्दर्यमस्मत् मत्तः श्रोत्रसुधां विधाय कर्णे अमृतं कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र तस्मिन्नले अनुरक्ता सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्समासः । अन्यथा त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य नामाक्षरसंस्पर्शाद्धेतोर्नलकूबरं कुबेरात्मजं भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमिति भावः ॥ २६ ॥

वह (सुप्रसिद्ध स्वर्गीय) रम्भा नामकी अप्सरा हमलोगोंसे नलकी अनुपम शोभाको बहुत देरतक सुनकर उनमें अनुरक्त हुई, और उनको नहीं पाकर उनके नामके कुछ भाग होनेसे नलकूबरकी सेवा करने लगी (नलकूबरको पतिरूपमें प्राप्त कर उनकी सेवामें लग गयी) ! [लोकमें भी अभीष्ट वस्तुको पूर्णतः नहीं प्राप्त होनेपर उसके सदृश वस्तुको प्राप्त कर उसीकी सेवा करते लोगोंको देखा जाता है] ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

स्वर्लोकमिति । केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुर्गाने गुणान्निपीय इतः अस्माल्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैरस्माभिर्हरिगायनः इन्द्रगायको गन्धर्वः 'ण्युट् चे'ति गायतेः शिल्पिनि ण्युट्प्रत्ययः । गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि, ततस्तेनैव कारणेन नाम्ना हाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भावः । 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसामि'त्यमरः । 'आलापाक्षरानुकारनिमित्तोऽयमाकारान्तः पुंसि चे'ति केचित् । 'हाहा खेदे हूहू हर्षे गन्धर्वेऽमू अनव्यय' इति विश्वः । अव्ययमेवेति भोजः । अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्तिः । तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥ २७ ॥

क्रीडाके समयमें उस (नल) के गानेके गुणोंको अच्छी तरह पीकर अर्थात् सुनकर यहां (मर्त्यलोक) से स्वर्गको गये हुए हम लोगोंने (स्वर्गमें गान करते हुए गन्धर्वको) जो 'हा, हा', सोचा (राजा नलके गानेकी तुलनामें तुम्हारा गाना अत्यन्त तुच्छ है, इस अभिप्रायसे जो 'हा, हा? कहा) तो उस इन्द्रके गन्धर्वका नाम ही 'हा हा' पड़ गया । राजा नल गान विद्यामें भी 'हाहा' नामक स्वर्गीय गन्धर्वसे अधिक निपुण है] ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः ।
पुण्येन नालोकत नाकपाल[1]: प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः ॥ २८ ॥

शृण्वन्निति । नाकपाल इन्द्रः सदारः सवधूकः तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं शृण्वन्नत एव प्रमोदबाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिव्रजः सन् पुलोमजायाः शच्याः मुहुर्हृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्चं पुण्येन शच्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्ड्यैवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

स्त्री (इन्द्राणी) के साथ नलकी उदारताको सुनते हुए (हर्षाश्रुसे व्याप्त नेत्र-समूह वाले) इन्द्रने इन्द्राणीके बार-बार पुलकित होते हुए रोमको (नलमें अनुराग होनेसे उत्पन्न इन्द्राणी के रोमाञ्चको, इन्द्राणीके) पुण्य (भाग्यातिशय) से नहीं देखा [अन्यथा यदि इन्द्राणीके रोमाञ्चको इन्द्र देख लेते तो नलमें अनुरक्त होनेसे इसे शृङ्गारसम्बन्धी रोमाञ्चरूप सात्त्विकभाव हो रहा है, अत एव यह पतिव्रता नहीं है, ऐसा समझकर उसका त्यागकर

---

१. 'लोकपाल' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

देते, किन्तु स्वयं नलगुणको सुननेसे हर्षोत्पन्न अश्रुसे भरे हुए नेत्र होनेके कारण उस रोमाञ्चको इन्द्र नहीं देख सके यह इन्द्राणीका भाग्य समझना चाहिये अथवा—नलकी उदारताको सुनते हुए बार-बार प्रसन्न अर्थात् रोमाञ्चित होते हुए हर्षाश्रुसे व्याप्त नेत्र-समूहवाले इन्द्रने इन्द्राणीके रोमाञ्चको इन्द्राणीके पुण्यसे नहीं देखा]॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

सेति । ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतो बलान्मनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणौघान् शृण्वति सति सा प्रसिद्धा अर्धं शम्भोरर्धशम्भुः शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः । तथा चापसरणमशक्यमिति भावः । अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनोदनव्याजेन अङ्गुल्या रुद्धः पिहितः कर्णो यया सा नाभूत् अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

चित्तको बलात्कारपूर्वक हरण (वशीभूत) करते हुए, नलके गुण-समूहोंको शङ्करजीके सुनते रहनेपर अर्द्धशम्भु वह (पतिव्रताओंमें सुविख्यात) पार्वती कान खुजलानेके छलसे कब अङ्गुलिसे कानको नहीं बन्द कर लेती है ? [शङ्करजीका आधा शरीर पार्वती हैं, अतएव जब शङ्करजी नलके गुण-समूहोंको सुनने लगते हैं, तब नलके गुण-समूह बलात्कारपूर्वक (इच्छा नहीं रहनेपर भी) पार्वतीके चित्तको आकृष्ट करते हैं, और उस चित्ताकर्षणसे पार्वतीको पातिव्रत्यके भङ्ग होने का भय उत्पन्न हो जाता है, अतएव आधे शरीरमें रहनेसे अन्यत्र जानेमें अशक्त पार्वती कान खुजलानेके छलसे अपने कानको बन्द कर लेती है कि न मैं नलके गुण-समूहोंको सुनूंगी और न मेरा पातिव्रत्य भङ्ग होगा]॥

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

अलमिति । विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्तं धर्म्मविधौ सुकृताचरणे सजन् धर्मासक्तः सन्नित्यर्थः । वाणीं स्वभार्य्यां वाग्देवीं वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य मिषेण रुणद्धि नलकथाप्रसङ्गान्निरुन्धे, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भावः । किन्तु वेदजडः छान्दसः विधाता तामुभयीमपि वाणीं तस्य नलस्य कण्ठं ग्रीवामालिङ्ग्य मुखमाश्रित्य च रसस्य तृप्तां तद्रागलन्तुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित् । वक्रां प्रतिकूलकारिणीं वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । अशक्यरक्षाः स्त्रिय इति भावः । अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णात्मकवाणीवृत्तान्तप्रतीतेः प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

धर्मकार्यमें अत्यन्त आसक्त ब्रह्मा मौनके छलसे वाणी (स्त्री-पक्षा०-वचन) को अत्यन्त रोकते हैं (बाहर जाकर मेरी प्रिया यह वाणी पुरुषान्तर के पास चली जायेगी

यह गूढाभिप्राय मन में रखकर धर्मके कपटसे वाणीको अच्छी तरह ब्रह्मा रोकते हैं अर्थात् मौन रहते हैं । पक्षा०—स्त्रीको रोकते हैं । या—''''''छलसे जो वाणीको रोकते हैं, वह व्यर्थ है) किन्तु वेदाध्ययनसे जड (वाणीके कपटको नहीं समझनेवाले) वे (ब्रह्मा) उस (नल) के कण्ठका आलिङ्गनकर रस (शृङ्गारादि) से सन्तुष्ट वक्रा (कुटिला, पक्षा०—वक्रोक्तिरूपा) उस वाणीको नहीं जानते हैं । [दूसरा भी मूर्ख पुरुष अन्य-पुरुषासक्ता कुटिला स्त्रीको नहीं समझता है । नल ही वक्रोक्तिपूर्ण वाणीको जानते हैं, दूसरा कोई नहीं] ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः ।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनाऽपि ॥ ३१ ॥

श्रिय इति । पतिव्रतायाः श्रियः श्रीदेव्याः तद्भर्तुर्विष्णोः समस्तभूतात्मतया सर्वभूतात्मकत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः । तदालिङ्गनभूर्नलाश्लेषभवा कापि व्रतक्षतिः पातिव्रतभङ्गो न भूता नाभूत् । अतएव तद्भर्तुर्विष्णोश्च ईर्ष्यया नलालिङ्गनभुवा अक्षमया यत्कलुषं कालुष्यं मनःक्षोभः दुःखादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचनत्वादत एव क्षीरस्वामी 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि चे'त्यत्र आदिशब्दाच्छ्रेयःकलुषशिवभद्रादय इति उभयवचनेषु संजग्राह । तस्याणुना लेशेनापि न भूतं नाभावि । नपुंसके भावे क्तः । अत्र शच्यादिचित्तचाञ्चल्योक्तेर्नलसौन्दर्ये तात्पर्यान्नानौचित्यदोषः ॥ ३१ ॥

(विष्णुको) समस्त भूतोंका स्वरूप होने से (नलमें भी विष्णु-स्वरूप रहने के कारण) पतिव्रता लक्ष्मी (शरीर-शोभा या–राज्यलक्ष्मी) की उस (नल) के आलिङ्गन करनेसे थोड़ी भी व्रतहानि (पातिव्रत्य में न्यूनता) नहीं हुई, तथा उस (लक्ष्मी) के पति (विष्णुभगवान्) को भी (अपनी प्रिया लक्ष्मीको नलका आलिङ्गन करनेपर) असूयानिमित्तक पापलेश भी नहीं हुआ [समस्तभूतात्मा विष्णु भगवान्‌के स्वरूप नलका आलिङ्गन करने पर लक्ष्मीका पातिव्रत्य धर्म भङ्ग नहीं हुआ और उनके पति विष्णु भगवान् भी लक्ष्मीपर लेशमात्र रुष्ट भी नहीं हुए; अन्यथा यदि नल परपुरुष होते तो लक्ष्मीका पतिव्रत धर्म नष्ट हो जाता तथा परपुरुष का आलिङ्गन करनेवाली लक्ष्मीपर उनके पति विष्णुभगवान् भी बहुत रुष्ट होते । नलके सम्पूर्ण शरीर में शोभा थी ॥ ३१ ॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥३२॥

धिगति । तमजातलज्जं निस्त्रपं विधेः पाणिं धिक् यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि पर्वणि जातावेकवचनं पर्वस्वित्यर्थः । पूर्णमिन्दुं निर्माति अद्यापीति भावः । स विज्ञः अभिज्ञ इति मन्ये यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीः सन् तमिन्दुं कृतः अर्द्धं एकदेशो यस्य तं कृतार्द्धमर्द्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्झत् । अतिसौन्दर्ययुक्तमस्यास्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माके निर्लज्ज उस हाथको धिक्कार है, जो पूर्णिमामें पूर्ण चन्द्र की रचना करता है, तथा (ब्रह्माके) उस हाथको मैं निपुण मानता हूँ, नलके मुखकी शोभाको स्मरण किये हुए जिस (ब्रह्माके हाथ) ने उस (चन्द्रमा) को शिवजीके मस्तकपर फेंक दिया। (अथवा नलके मुखकी शोभाको स्मरण किये हुए निर्लज्ज उस ब्रह्माके हाथको धिक्कार है, जो पूर्णिमामें पूर्ण चन्द्रकी रचना करता है,……)। [यद्यपि पूर्ण कला वाले चन्द्रमाकी रचना ब्रह्माका जो हाथ करता है, वही एक कलावाले भी चन्द्रमाकी रचना करता है, तथापि तिथिरूप कालभेदसे ब्रह्माके हाथमें भिन्नताका आरोप किया गया है। नलका मुख पूर्ण चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर है] ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

निलीयत इति । विधुश्चन्द्रः स्वस्य जैत्रं, तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। तस्य नलस्य मुखं नोऽस्माकं मुखाच्छ्रुत्वा ह्रीविधुरः लज्जाविधुरः सन् कदापि सूरे सूर्ये दर्शेष्वित्यर्थः, कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात् कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे निलीयते अन्तर्धत्ते, न कदाचिदग्रतः स्थातुमुत्सहत इति भावः। अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्तह्रीनिलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ३३ ॥

हम लोगोंके मुखसे उस नलके मुखको स्वविजयी (चन्द्रमाको जीतनेवाला) सुनकर लज्जासे विकल होकर वह चन्द्रमा किसी समय (अमावस्या तिथिको) सूर्यमें, किसी समय (अस्त होनेके समयमें) समुद्र-प्रवाहमें तथा किसी समय (वर्षाऋतुमें) बादलोंके बीचमें छिप जाता है। [लोकमें भी कोई दुर्बल व्यक्ति लज्जासे दुःखी होकर अपने विजयीके सामने नहीं होता और अलक्षित स्थानमें छिपा करता है] ॥ ३३ ॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै ।
तत्संकुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥ ३४ ॥

संज्ञाप्येति । दैत्यारिः विष्णुः स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान्नोऽस्मान् अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जमब्जविजयीत्यर्थः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः। तस्य नलास्यस्य नुत्यै स्तोत्राय, 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिरि'त्यमरः। संज्ञाप्य तत्सङ्कुचता तया नुत्या निमीलता नाभिसरोजेन पीतात्तिरोहिताद्धातुर्ब्रह्मणो विलज्जं यथा तथा रमायां रमते। अत्र विष्णोरुक्तव्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३४ ॥

विष्णुभगवान् अपनी ध्वजामें (स्थित पक्षिराज गरुड़के) भृत्य-समूह हमलोगों (ब्रह्माके वाहनभूत हंसों) को नलके कमलातिशायिनी मुख-शोभाका वर्णन करनेके लिए सङ्केतकर उस (नलके मुखकी स्तुति) से सङ्कुचित होते हुए नाभिकमलमें अन्तर्हित

ब्रह्मासे लज्जाका त्यागकर लक्ष्मीमें रमण करते हैं। [विष्णु भगवान्‌की पताकामें पक्षियोंके स्वामी गरुड़ रहते हैं, अतएव वे विष्णु भगवान् गरुड़के भृत्य-समूह हमलोगोंके कमल-शोभाको जीतने वाले नल-मुखकी प्रशंसा करनेके लिए सङ्केत कर देते हैं और जब हम लोग नलके मुखकी प्रशंसा करने लगते हैं तो उनके नाभिका कमल स्वविजयी नल-मुखके भय या लज्जासे मुकुलित हो जाता है और कमलपर रहनेवाले ब्रह्मा उसीके भीतर बन्द हो जाते हैं, अत एव विष्णुभगवान् पितामहका साक्षात्कार नहीं होनेसे लज्जा छोड़कर लक्ष्मीके साथ रमण करने लगते हैं]॥ ३४॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः॥३५॥

रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वात्रिंशता रेखाभिर्गणनात्संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्भवन्त्यायेनेति वेधाः शशंसेवेत्युत्प्रेक्षा। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृताः॥' इति॥ ३५॥

ब्रह्माने इस (नल) के मुखमें दन्तमयी बत्तीस रेखाओंके द्वारा गिननेसे इस (नलके मुख) में चौदह तथा अठारह—दोनों प्रकारकी विद्याएँ हैं, मानों ऐसा कह दिया है। [नलके मुखमें बत्तीस दाँत नहीं हैं, किन्तु इसमें स्थित दोनों प्रकारकी विद्याएँ रहती हैं, इस बातको ब्रह्माने बत्तीस रेखाओंको करके कहा है। नलके मुखमें बत्तीस दाँत हैं पूरे बत्तीस दाँत वाले मनुष्यका कथन सर्वदा सत्य होता है, ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका वचन है, अतः नलका सदा सत्यवक्ता होना सूचित होता है]॥ ३५॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्राविव न स्मरामः।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ॥३६॥

श्रियाविति। तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्यसम्पदौ निरीक्ष्य, 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरि'ति शाश्वतः। स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयोः क्षितिक्षान्त्योः 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमे'त्यमरः। सम्यग्वासेन निर्बाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणिपतिबुद्धदेवौ चित्ते न दध्मः न धारयामः खलु। अत्र द्वयोरपि श्रियोः द्वयोरपि क्षमयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः। एतेन सौन्दर्यादिगुणैः स्मरादिभ्योऽप्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते। श्लेषयथासंख्ययोः सङ्करः॥ ३६॥

उस राजा (नल) की शरीर-शोभा तथा राज्यलक्ष्मीको देखकर हम लोग कामदेव तथा देवेन्द्रका भी स्मरण नहीं करते हैं, तथा उस राजा (नल) में पृथ्वी तथा क्षमा (तितिक्षा) के निवास करनेसे शेषनाग तथा बुद्धको भी बुद्धिमें नहीं लाते। [नल शरीरकी शोभामें कामदेवसे तथा राज्यैश्वर्यमें इन्द्रसे, एवं पृथ्वीभारवहन करनेमें शेषनागसे

और क्षमा करनेमें बुद्ध भगवान्से भी अधिक श्रेष्ठ हैं; अत एव हमलोग कामदेवादिका स्मरणतक भी नहीं करते। [लोकमें भी श्रेष्ठ वस्तुको पाकर लोग निकृष्ट वस्तुका स्मरण नहीं करते हैं]॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः॥ ३७ ॥

विनेति। पतत्रं विना स्थितैरिति शेषः। विनतातनूजैः वैनतेयैः, अपक्षताक्ष्यैरित्यर्थः। ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैश्चाक्षुषवायुभिः अनणुप्रमाणैः 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः। एवंविधैः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत्? सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः। अत्राश्वानां विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपकालङ्कारः॥ ३७॥

पङ्खोंके विना गरुड़रूप, नेत्रोंमें दृश्यमान वायुरूप तथा अणुपरिमाणसे भिन्न (विशाल) मनरूप—नलके घोड़ोंने किस दिशाको पार नहीं किया है? अर्थात् उक्तरूप नलाश्व सब दिशाओंके पार तक जाते हैं। [पङ्खोंके सहित गरुड़, नेत्रका अगोचर वायु तथा अणुप्रमाण मन ही सब दिशाओंको शीघ्र पार करनेमें समर्थ हैं, किन्तु नलके घोड़े पक्षादिसे हीन होते हुए भी शीघ्र सब दिशाओंके पारतक जाते हैं]॥ ३७॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम्॥ ३८ ॥

संग्रामेति। अरीणामस्रैरसृग्भिर्नद्येव माता यासां तास्तासां भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यता, 'देशो नद्यम्बुवृष्टयम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममि'त्यमरः। 'नद्यृतश्चे'ति कप्, 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावः। तां गतासु संग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनास्तेषां राजव्रजीयैः राजसंघसम्बन्धिभिः, 'वृद्धाच्छः'। असुभिः प्राणवायुभिः सुभिक्षम्। भिक्षाणां समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावः: नदीमातृकदेशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः। रूपकालङ्कारः॥ ३८॥

शत्रुओंके रक्तसे नदीमातृकत्वको प्राप्त युद्धभूमिमें राज-समूहके प्राणोंसे उस (नल) के बाणधारारूपी सर्पोंके लिए सुभिक्ष होता है। [नदी, नहर आदिके जलसे जहाँ खेतोंकी सिंचाई होती है, उन्हें 'नदीमातृक' देश कहते हैं। ऐसे स्थानोंमें खेती करनेवाले किसानोंके लिए सुभिक्ष होता है—अकाल पड़नेका भय नहीं होता। प्रकृतमें नल युद्धमें शत्रुओंको बाणवृष्टिकर मारते हैं, उनके शत्रुओंके रक्त-प्रवाहसे युद्धभूमि द्रावित हो जाती है, अत एव वहाँ मानों अच्छी तरह सिंचाई हो जाती है। नलके बाणोंकी वृष्टिधारा ही वायुभक्षण कर्ता (सर्प) है और शत्रु-राजाओंके प्राण वायुरूप है, अत एव नलके बाणोंकी वृष्टिधारारूप पवनभक्षी सर्प मृत राजाओंके प्राणरूप वायुका भक्षण करते हैं, इस

प्रकार उनके लिए मानो नदीमातृक युद्धभूमिमें सुभिक्ष होता है। युद्धमें नल बाणवर्षाकर बहुत-से शत्रुओंको मार गिराते हैं]॥ ३८ ॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन ।
हेतोर्गुणादेव दिगापगाली कूलंकषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

यश इति । संयुगेषु समरेषु कण्डूलभावं कण्डूलत्वं, 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति मत्वर्थीयो लच् । भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि जनितं, जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । तदीयं तस्य यशःसम्बन्धि दिशः एव आपगाः नद्यः तासामालिः राजिः तस्याः कूलङ्कषतीति कूलङ्कषं, शिवभागवतवत्समासः, 'सर्वकूले'त्यादिना खचि मुमागमः । तस्य भावस्तत्त्वं तत्र व्यसनमासक्तिः हेतोः कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलत्वादागतमिति शेषः । यशसो दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्व्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

(युद्ध-सम्बन्धी) खुजलाहटको प्राप्त इस नलके बाहुने जो यश प्राप्त किया, उस यशका दिशारूपिणी नदियोंकी श्रेणि (समूह) में कूलङ्कषा होने (किनारेको तोड़ने) का व्यसन (यशोरूपी) हेतुके गुणसे ही उत्पन्न हुआ है । [यशके हेतुभूत नलबाहुमें कण्डूलभाव होनेसे कार्यरूप दिङ्नदियोंमें भी कूलङ्कषत्व (किनारोंको धारासे रगड़-रगड़कर तोड़नेका भाव) होना उचित ही है । नलका यश दिगन्ततक फैला हुआ है]॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्यास्समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिश्शेषगुणोऽपि स स्यात् ॥४०॥

यदीति । किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगुः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते, 'द्विगो'रिति ङीप् । गणनापरा नलगुणसंख्यानतत्परा स्याद्यदि तस्याः त्रिलोक्याः आयुषः समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्वं यदि स्यादित्यर्थः । परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वे'ति अव्ययीभावः । गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः । तदा स नलोऽपि गणेया गणितुं शक्याः निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, गणेय इति औणादिक एयप्रत्ययः । अत्र गुणानां गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४० ॥

यदि तीनों लोक गणना करनेके लिए तत्पर हो जाँय, तथा उनकी आयुका अन्त न हो अर्थात् वे अमर हो जायँ और परार्द्धके भी बाद गणनाकी संख्या हो जाय; तब उस नलके सब गुण गिने जा सकते हैं । [उक्त तीनों बातोंके असम्भव होनेसे नलके गुणोंकी गणना करना भी असम्भव है अर्थात् नलके गुणको कोई नहीं गिन सकता]॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

एवं नलगुणाननुवर्ण्य गूढाभिसन्धिनाऽऽत्मनस्तदन्तःपुरेऽपि परिचयं दर्शयति-अवारितेत्यादि । तिरश्चां पक्षिणामवारितद्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः । तस्य राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य अवस्थाय परमाणुमध्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गतेषु अधिकमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयामः अभ्यासयामः । दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् ॥ ४१ ॥

तिर्यञ्चों (पक्षी आदि) को भीतर जानेके लिए द्वारपर रुकावट नहीं होनेसे उस राजा नलके रनिवासमें प्रवेशकर हमलोग परमाणुके बराबर अर्थात् अतिकृश कटिवाली रानियों को सुन्दर गतियोंमें अधिक विशेषता सिखलाते हैं । [नलकी अतिशय कृश कटिवाली हंसगामिनी रानियोंकी गति पहले ही रमणीय है, किन्तु उसमें भी अधिक रमणीयता हम लोग उन्हें सिखलाते हैं, क्योंकि तिर्यञ्च होनेके कारण हम पक्षियोंको अन्तःपुरमें प्रवेश करनेमें कोई रुकावट नहीं होती । बहुवचन कहनेसे हंसने अनेक हंसोंको नलकी सेवामें लगे रहनेका संकेतकर दमयन्तीको नलके प्रति विशेष आकृष्ट करता है] ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः ।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः ॥४२॥

पीयूषेति । किं च पीयूषधाराभ्यः अनधराभिरन्यूनाभिरमृतसमानाभिः काव्यं सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कवेरपत्यं पुमान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य' इत्यमरः । 'कुर्वादिभ्यो ण्य' इति ण्यप्रत्ययः । आदृताभिस्तस्यापि विस्मयकरीभिरित्यर्थः । रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं तत्प्रयुक्ताभिः रहःकथाभी-रहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिस्तासां नलान्तःपुरस्त्रीणामन्तरन्तःकरणं रसोदन्वति शृङ्गार-रससागरे मज्जयामः अवगाहयामः ॥ ४२ ॥

हम लोग काव्यरचना करनेवाले शुक्राचार्यसे आदृत तथा अमृत-प्रवाहतुल्य रम्भादि अप्सराओंके (पुरुष-वशीकरणरूप) सौभाग्य-सम्बन्धिनी रहस्यमयी कथाओंसे उन (नल की रानियों) के अन्तःकरणको शृङ्गार-रसरूप समुद्रमें निमग्न करते हैं ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्क्रियेऽहम् ? ।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

काभिरिति । किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्रेति न लज्जत एव ह्री-लज्जायामिति धातोर्लट्, 'श्लावि'ति द्विर्भावः । तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न त्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तःपुरे काभिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः सैव विश्वासनिक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः । तस्य वणिक् गोप्ता न क्रिये न कृतोऽस्मि ? । सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

वहाँपर (नलके अन्तःपुरमें) कौन सुन्दरियाँ अभिनव अर्थात् मुझे अतिगोपनीय कामाज्ञाके विश्वासपूर्वक धरोहर रखनेका बनियाँ (व्यापारी) नहीं बनाती हैं अर्थात् उस नलके अन्तःपुरकी कौन सुन्दरियाँ अपने गुप्ततम कामरहस्यको मुझसे नहीं कहती हैं।

यानी सभी अपने कामरहस्यको मुझसे कहती है, क्योंकि तिर्यञ्च (पक्षी आदि) किसीसे लज्जा नहीं करता, अतः तिर्यञ्चसे भी कोई लज्जा नहीं करता। [जिस प्रकार विश्वासपात्र बनियेंके यहां रक्खा हुआ धरोहर किसी दूसरेके पास नहीं जाता है तथा सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार यदि तुम अपना अभिप्राय मुझसे कहोगी तब तो मैं उसे अन्यत्र किसी दूसरेसे प्रकाशित नहीं करूंगा अपितु सुरक्षित रखूंगा, इस कारण यदि तुम नलको चाहती होतो मुझपर विश्वास कर कहो] ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यथैति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरुन्धे ।
विरिञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति। विरिञ्चेर्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य संयमविद्यायाः श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णः चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमनविद्य इत्यर्थः। अहमिति शेषः। योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये यां वार्तां निरुन्धे, सा वार्त्ता लोकवार्त्ता किमुत रहस्यवार्त्तेति भावः। असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः। असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति। यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भावः। अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः। अत्र वार्त्तानिरोधस्य विरिञ्चीत्यादिपदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४४ ॥

ब्रह्माके चार मुखोंके कथनसे पवित्र योगशास्त्रके सुननेसे परिपूर्ण कानोंवाला मैं छिद्र रहित (शत्रुसे अभेद्य, या—योगाभ्याससे निर्दोष) हृदयमें जिस (वार्ता) को रोकता (गुप्त रखता) हूँ, असत्य भी वह वार्ता दूसरे किसीके पास नहीं जाती अर्थात् दूसरा कोई उसे नहीं सुनता। [क्योंकि मैं किसी दूसरेसे असत्य भी उस बातको नहीं कहता हूं। पक्षा०—जिसे प्रयत्नसे गुप्त स्थानमें रोकता हूं, असती अर्थात् कुलटा भी वह स्त्री दूसरे किसी पुरुषके पास नहीं जाती। दोषयुक्त हृदय वाला पुरुष ही किसीकी किसी भी बातको दूसरेसे कह देता है, निर्दोष हृदयवाला पुरुष किसीकी किसी भी बातको दूसरेसे कदापि नहीं कहता। ब्रह्माके चारो मुखोंसे कहे गये उपदेश (वेदवचन) के सुननेसे मेरे कान परिपूर्ण हो गये हैं, अतएव उनके उपदेशमय योगाभ्याससे मेरा हृदय दोषरहित हो गया है, इस कारण मुझसे जो कोई भी व्यक्ति चाहे जैसी (सत्य या असत्य) बात कहता है, उसे मैं किसीसे भी नहीं कहता हूं, अतः तुम्हें मुझपर विश्वासकर अपना अभिप्राय बतलाना चाहिये] ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते बतान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥ ४५ ॥

अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि। तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुरापं, 'कृत्यानां कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिवः स्वर्गः पृषोद-

रादित्वात् साधुः । तस्य उपभोगं तादृग् भोगमित्यर्थः । तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुरापं ज्योत्स्नोत्सवं चन्द्रिकाभोगम् इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनीव, 'कुमुदनड-वेतसेभ्यो ड्मतुप्,' 'मादुपधायाश्चे'त्यादिना मकारस्य वकारः। नलस्य कर्त्तुराश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, वतेति खेदे । ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भावः ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमाके सम्बन्धसे कमलिनीके लिये दुर्लभ चन्द्रिकोत्सवको कुमुदिनी पाती है, उसी प्रकार तुमसे दुर्लभ (हमलोगोंके पङ्खकी हवा करना आदि) स्वर्ग-भोगको नलके आश्रयसे दूसरी स्त्री प्राप्त कर रही है, यह खेद है । [क्योंकि अन्य स्त्रियां वैसी नलके योग्य नहीं हैं, जैसी तुम हो । ऐसा कहकर हंसने नलमें दमयन्तीका विशेष अनुराग बढ़ाने का प्रयत्न किया है] ॥ ४५ ॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।
रसालवल्ल्या[1] मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥ ४६ ॥

तदिति । किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजपक्षवीजनाद्युपलक्षणं, शर्म सुखं त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः । रसालवल्ल्या सहकार-श्रेण्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यं रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणी-तत्वेन हेतुना दुरापन्तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नः कार्य्य इति भावः ॥ ४६ ॥

(हंस प्रकृतका उपसंहार करता हुआ कहता है—) इस कारण नलके द्वारा विवाहिता नहीं होनेसे तुम्हारे लिए हमलोगोंकी चाटुकारितासे उत्पन्न आनन्द उस प्रकार दुर्लभ है, जिस प्रकार वसन्त ऋतुको नहीं प्राप्त की हुई आम्रवल्ली, (आम-लता, पाठा०—आमकी बगीची) को भ्रमरकृत सौभाग्य दुर्लभ होता है । [इस उपमासे राजहंसने स्पष्ट कह दिया कि वसन्त काल आनेपर आम्रवल्लीके लिए भ्रमरकृत सौभाग्य जिस प्रकार पर्याप्त मात्रामें सुलभ हो जाता है, उसी प्रकार नलके साथ विवाह करनेपर तुम्हें भी हमारी चाटुकारिता से उत्पन्न आनन्द सुलभ हो सकता है । पूर्व श्लोक (३।४५) में अम्बुजिनीकी उपमा देकर उक्त स्वर्गभोगको दमयन्तीके लिए सर्वथा असम्भव बतलाकर नलके साथ विवाह करनेपर सम्भव बतलाया है । यहां उसे सम्भव बतलाकर उसको पानेका प्रयत्न करनेके लिए दमयन्तीको उत्साहित किया है] ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ? ।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥ ४७ ॥

---

१. 'रसालवन्या' इति पाठान्तरम् ।

अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह—तस्येत्यादि। यद्वा तस्य नलस्यैव हस्तं किं न यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः। केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः। कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि, तवायं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः। रूपं सौन्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत्। तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि। योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः॥ ४७॥

('नल-प्राप्ति तुम्हारे लिए सर्वथा असम्भव नहीं है, अतः तुम्हें धैर्य-धारण करना चाहिये' ऐसा सङ्केत करता हुआ राजहंस कहता है—) अथवा उसीके (नलके ही) हाथमें क्यों नहीं जावोगी अर्थात् नलसे ही तुम्हारा विवाह क्यों नहीं होगा ? ब्रह्माके मनमें घुसकर किसने देखा है ? (कि उनकी क्या इच्छा है ?); क्योंकि तुम अविवाहित तथा सुन्दरताके स्वरूप (विना भूषणादिके ही सौन्दर्याधिक्य) का आश्रय हो अर्थात् अत्यधिक सुन्दर हो, अतः सम्भव है कि तुम्हारा विवाह नलके साथ ही हो जावे॥ ४७॥

निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय॥ ४८॥

सत्यं विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति। निशा निशया 'पद्दन्नि'त्यादिना निशादेशः। शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीशं शिवं, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय योग्यसङ्घटनायैव स्वारसिकः स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः प्रसिद्धः ज्ञातः। निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः॥ ४८॥

('समानरूप होनेसे तुम्हें नलको पाना विशेष सम्भव है' इस बातको राजहंस दृढ़ करता है—) रात्रिके साथ चन्द्रमाको, पार्वतीके साथ शिवजीको तथा लक्ष्मीके साथ विष्णु भगवान्‌को संयुक्त करते हुए ब्रह्माका प्रयत्न भी परस्परमें योग्योंके समागम करनेके लिए प्रसिद्ध है। [रात्रि आदिके साथ चन्द्रमा आदिका समागम करनेसे ज्ञात होता है कि ब्रह्मा परस्परमें योग्य स्त्री-पुरुषोंका ही समागम कराते हैं, अत एव नलके साथ तुम्हारा समागम होना भी विशेष सम्भव है]॥ ४८॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण।
सन्दभ्र्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन॥ ४९॥

नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति। वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा निःसीमाः स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञावि'ति वचनात् नञ्प्रत्ययः। त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूता, त्वमिति शेषः। 'वेलाऽब्धिजलबन्धने। काले सीम्नि च, वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती। नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नासि। तथाहि मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न संदभ्र्यते न सङ्गुम्फ्यते। दृभ-ग्रन्थ इति धातोः कर्मणि लट्। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः॥४९॥

('दूसरेको छोड़कर तुम नलके ही योग्य हो' यह सङ्केत करता हुआ राजहंस कहता है—) मर्यादाहीन स्त्री-सम्बन्धी गुण समुद्रकी प्रवाहरूपा अर्थात् परमरमणीयतमा तुम नलके अतिरिक्त दूसरेके साथ समागमके योग्य नहीं हो, क्योंकि अत्यन्त कड़ी (रूखी) कुशकी रस्सीसे कोमलमल्लिका की माला नहीं गुथी जाती है। [तुम मल्लीपुष्पके समान कोमल हो तथा नलभिन्न पुरुषलोग कुशकी रस्सीके समान रूखे एवं कड़े हैं अतः नलेतर किसी पुरुषसे तुम्हारा समागम न होकर नलके साथ ही होना योग्य है] ॥ ४९ ॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

विधिमिति । किं च, विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडायाः योग्यामर्हां वधूसृष्टिं स्त्रीनिर्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गमि'ति यत्प्रत्ययः । अहमपृच्छमेव, दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् । मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजन' इति वक्तव्येऽपि कूजतेर्नात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः । न केवलं लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थः ॥ ५० ॥

(अब राजहंस प्रकारान्तरसे नल-प्राप्तिको और भी अधिक दृढ़ करता हुआ कहता है—) ब्रह्माकी सवारीको ढोते हुये मैंने नलकी क्रीडाके योग्य स्त्रीरचनाको पूछा था 'आपने नलके योग्य किस स्त्रीकी रचनाकी है' यह बात उनकी सवारी को ढोते हुए मैंने पूछी थी तो ब्रह्माके रथके पहियेके शब्द करते रहने पर तुम्हारे नामके अक्षरके समान ही मैंने सुना था। ['कदाचित् दमयन्ती नलको नहीं चाहती हो तो ब्रह्माका वचन असत्य हो जायेगा' इसलिए राजहंसने ब्रह्माके रथके पहियेको शब्द करते रहना कहकर उसके हृद्गताभिप्राय जानने तक दमयन्तीका नलके साथ विवाह होनेको बातको पूर्णतः निर्णयात्मक करके नहीं कहा है] ॥ ५० ॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

अन्येनेति । किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वृतो वे'ति दीर्घः । कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात् ? न काऽपीत्यर्थः । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भावः ॥ ५१ ॥

(नल-प्राप्तिको पुनः दृढ़ करता हुआ राजहंस कहता है—) दूसरे पतिके साथ तुम्हारा समागम करानेपर सर्वज्ञत्वकी कीर्तिसे पूरी जिन्दगी बितानेवाले ब्रह्माके लिए लोकापवादरूप समुद्रको पार करनेके लिए कौन सी नाव होगी। [अब तक ब्रह्मा योग्य स्त्री—

पुरुषका समागम कराने से विज्ञत्वके लिये बहुत कीर्ति पायी है, अतः यदि नल-भिन्न दूसरे पुरुषके साथ तुम्हारा समागम कराते हैं तो उनकी बहुत लोकनिन्दा होगी, अतः तुम्हारा समागम नलके साथ ही ब्रह्मा करायेंगे ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है]॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आस्तामिति। तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं, तया साध्यं नास्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः। किन्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि ! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। तत् श्रमणरूपमागोऽपराधं परिमार्ष्टुकामः परिहर्तुकामः। 'तुं काममनसोरपी'ति मकारलोपः। सोऽहं किं त्वदीप्सितं तव मनोरथं विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

(दमयन्ती का अभिप्राय जाननेकी इच्छासे उपसंहार करता हुआ राजहंस कहता है—) हे तन्वि ! नल-वर्णनरूप अप्रासङ्गिक बातको छोड़ो, मैंने तुमको बहुत समय तक बहुत थकाया (हैरान किया) है, उस अपराधका परिमार्जन करनेकी इच्छा करता हुआ मैं तुम्हारा कौन अभीष्ट पूरा करूँ? कहो ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

इतीति। स पत्री हंसः इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रम' इति परस्मैपदम्। तथाहि—सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादे रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थः स्यादिति भावः। अवतरो व्याख्यातः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

ऐसा (२।१३–५२) कहकर राजकुमारी (दमयन्ती) के हृदयको जाननेका इच्छुक वह पक्षी (राजहंस) चुप हो गया, क्योंकि गम्भीर (गहरा) तडाग तथा गम्भीर (गुप्त अभिप्राय वाले) हृदयको आलोडित करनेपर (प्रवेशकर थाह लगानेपर, पक्षा०–अभिप्राय जान लेनेपर) बुद्धिमान् लोग कार्यारम्भ (पक्षा०—कार्यका प्रस्ताव) करते हैं। [जिस प्रकार तैराक गम्भीर जलाशयको विना आलोडन किये मार्ग निश्चित नहीं करता, उसी प्रकार हृद्गत भावको विना मालूम किये बुद्धिमान् व्यक्ति किसी कार्यके लिये प्रस्ताव नहीं करता अत एव उक्त राजहंस सब कुछ कहकर भी उसे प्रकारान्तरमें गुप्त ही रखकर दमयन्तीका अभिप्राय जानना चाहता है]॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाचं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥ ५४ ॥

किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीषत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा । 'मौलयः संयताः कचा' इत्यमरः । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरधःकृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकालं मनसा वाच्यं वचनीयं विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिणं जगाद ॥ ५४ ॥

(विचारते समय) कुछ टेढ़ा एवं चञ्चल मस्तक वाली तथा (स्वभावतः एवं हंस-कथनसे नल-प्राप्तिकी आशा होनेसे प्रसन्नताके कारण) मुखसे चन्द्रमाको तृणतुल्य (अतिशय तुच्छ) की हुई राजकुमारी दमयन्ती थोड़ी देर कहने योग्य बातको विचार कर बोली ॥ ५४ ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

धिगिति । चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण्, 'वत्सस्य भावः वत्सिमा शिशुत्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थः । तद्धिक् । कुतः ? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थः उदासीनः कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः पीडितोऽसि । अधर्महेतुत्वाद् बालचापलं सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

चपलता करनेके विषयमें बचपनके प्रेमको धिक्कार है, जिसकी प्रेरणासे अत्यन्त चञ्चल होती हुई मैंने, वायुसे प्रेरित जल-प्रवाहसे तटस्थ व्यक्तिके समान (तुम्हें पकड़नेके लिये पीछे-पीछे चलकर) तटस्थ (उदासीन, मुझसे सम्बन्ध-शून्य) तुमको पीड़ित किया है । [बचपनमें चञ्चलता करनेकी अधिक इच्छा रहती है, उसके कारण एक उदासीन व्यक्तिको मैंने पकड़नेके लिए पीछे-पीछे चलकर पीड़ित किया है, उस बाल-चपलताको धिक्कार है] ॥ ५५ ॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः ।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥ ५६ ॥

आदर्शतामिति । स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगतवस्तुरूपमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणस्तत्तां प्रयासि, कुतः यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बन्धिनि सागसं सापराधां मां पुरस्कुर्वति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, 'पुरस्कृतः पूजिते स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते' । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणी'ति चामरः । इदं मदीयमागोऽपराधः प्रतिबिम्बितं प्रतिफलितम् । पुरोवर्त्ति धर्म्माणामात्मनि संक्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः, ततः किमत आह— सः आदर्शः सतां साधूनां

तावत्प्रथमं दर्शनीयः अथवा पूज्यश्चेति तावच्छब्दार्थः खलु 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् । गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः ॥' इति शास्त्रादिति भावः ॥ ५६ ॥

(दमयन्ती अपनी निन्दा करती हुई हंसकी प्रशंसा करती है—) सज्जनोंके दर्शनीय तुम स्वच्छ होनेसे आदर्श (दृष्टान्त, पक्षा०—दर्पण) हो, जिसमें अपराधसहित मेरे सामने होने पर मेरा अपराध प्रतिबिम्बित हो गया है। [स्वच्छहृदय वाले आदर्श पुरुषका सज्जन लोग दर्शन करते हैं, तथा ये आदर्श पुरुष दूसरेके किये गये अपराधको भी अपराधकर्ताका न कहकर अपना किया हुआ (मेरे कर्मोदयके कारणसे ऐसा काम आपने किया है, इसमें आपका नहीं, किन्तु मेरा ही अपराध है) कहते हैं, पक्षा०—मङ्गलद्रव्य होनेसे दर्पणका दर्शन करना श्रेष्ठ माना गया है, वह स्वतः स्वच्छ रहता है तथा उसके सामने जो कोई वस्तु पड़ती है, वह स्वच्छतम दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर ऐसी मालूम पड़ती है कि यह दर्पण ही मलिनसा है, प्रकृतमें हे राजहंस ! तुम स्वच्छ एवं माङ्गलिक होनेसे दर्शनीय हो, तथा तुमने मेरे प्रति कोई अपराध नहीं किया है, हां, मैंने ही तुम्हें पकड़नेके लिए पीछे पीछे चलकर तुम्हें पीडित किया है, अत एव अपराधिनी तो वास्तविकमें मैं हूं और तुम आदर्श (दर्पण) हो इसी कारण स्वच्छ (निर्दोष, पक्षा०—निर्मल) आदर्शरूप तुम्हारे सामने आयी हुई अपराधिनी (मलिनता युक्त) मैं तुममें प्रतिबिम्बित हो गयीहूं, जिससे ज्ञात होता है कि तुममें ही मलिनता है। परन्तु वास्तविक विचार करनेपर तुममें नहीं, अपि तु मुझमें मलिनता (दोषयुक्तत्व) है] ॥ ५६ ॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांशतयाऽभिवन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥५७॥

अनार्यमिति। हे सौम्य ! भवान् कुमार्याः शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरितं त्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं क्षाम्यतु सहतां, हंसोऽपि तिर्यगपीत्यर्थः। त्वमिति शेषः। भवानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽसि ॥ ५७ ॥

हे सौम्य ! मुझ कुमारीके अनुचित भी व्यवहारको पहले आप क्षमा करें, (राजकुमारीको तिर्यञ्च पक्षीसे क्षमा-प्रार्थना करना अनुचित नहीं मानना चाहिये, क्योंकि) श्रीवत्सचिह्नयुक्त मत्स्यमूर्ति (मत्स्यावतार) के समान (ब्रह्माका वाहन होनेसे) देवांश होनेके कारण तिर्यञ्च (पक्षी) होकर भी तुम भी वन्दनीय हो। [आपने पहले (३।५२) अपना अपराध क्षमा कराते हुए मुझसे अभीष्ट पूछा है, किन्तु अभी अभीष्टकी बातको अलग रहने दीजिये, आपने अपराध नहीं किया है, किन्तु मैंने ही अपराध किया है, अतः पहले (अभीष्ट जानने और उसे पूरा करनेके पूर्व) आप मेरा अपराध क्षमा करें। ब्रह्माके वाहन होनेसे आपमें देवांश है, अत एव मुझ राजकुमारीके भी वन्दनीय

ही हैं, जैसे निन्द्य मत्स्य (मछली) भी श्रीवत्स (विष्णुके चिह्न-विशेष) से युक्त होनेके कारण वन्दनीय होता है। कुमारी होनेसे मुझमें अज्ञानकी मात्रा अधिक है, अतः अज्ञानीके अपराधको क्षमा करना भी बड़ोंको उचित ही है]॥ ५७॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम् ।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ? ॥५८॥

अथ यदुक्तं त्वयेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति। कां मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः। आधित्ससि आधातुं कर्त्तुमिच्छसि ? दधातेः सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतान्त्वद्दर्शनोत्सवादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः। तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी। किंवा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः॥ ५८॥

(अब दमयन्ती अपनी अभीष्ट-सिद्धिके विषयमें कहती है—) जो तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न मेरे नेत्रोंके हर्षसे भी अधिक हो, वह कौन मेरा अभिलषित करना चाहते हो ? (तुम्हें देखनेसे जो मुझे हर्ष हुआ है, उससे अधिक हर्षप्रद मेरा कोई अभीष्ट तुम नहीं साध सकते), क्योंकि चन्द्रमा अपने अमृत-प्रवाहोंसे प्रजाओं (दर्शकों) के नेत्रको तृप्त करनेके अतिरिक्त क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं। [वैसे तुम भी मुझे दर्शनानन्द देनेके अतिरिक्त मेरा कोई अभीष्ट नहीं साध सकते हो, अतः तुमसे अभीष्ट बतलाना व्यर्थ है]॥ ५८॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ॥ ५९ ॥

अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य तन्न शक्यमित्याह—मनस्त्विति। मनो मच्चित्तं कर्तृ यं मनोरथं जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथः कण्ठपथं वाग्विषयम् उपकण्ठदेशं च कथं यातु, सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः। कुतः ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दोः पाणिना ग्रहे ग्रहणे अभिलाषं कथयेत्। तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाषं नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तया च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः। पूर्व एवालङ्कारः॥ ५९॥

जिसे मन कभी नहीं छोड़ता है, वह मनोरथ (अन्तःकरण, पक्षा०—अभिलाष) कण्ठमार्गमें किस प्रकार आवे ? (क्योंकि) कौन निर्लज्ज बालिका चन्द्रमाकी हाथसे पकड़नेकी इच्छा (पक्षा०—हे पक्षी ! राजा (नल) के साथ विवाह करनेकी इच्छा) को कहती है ? [अन्तःकरण नीचे है तथा कण्ठ ऊपर है, अतः नीचेसे ऊपरकी ओर रथका

आना किस प्रकार सम्भव है ? अर्थात् बहुत ही दुःसाध्य है। तथा जिसे कहा भी नहीं जाता उसे कार्य रूपमें सिद्ध करना अतिदुःसाध्य है। चन्द्रमाको हाथसे ग्रहणकी इच्छाको कौन निर्लज्ज (अज्ञानाधिक्य युक्त) बालिका कहती है ? अर्थात् कोई भी नहीं। अथवा—हे द्विजराज=पक्षियोंमें श्रेष्ठ राजहंस ! कौन निर्लज्ज बालिका विवाहकी इच्छाको कहती है, अर्थात् अज्ञानयुक्त बालिका भी लज्जा छोड़कर अपने विवाहकी इच्छा प्रकट नहीं करती तो मैं किस प्रकार अपने विवाहकी इच्छा तुमसे प्रकट करूँ ?—विवाहकी इच्छा होनेपर भी लज्जावश मैं तुमसे कहनेमें असमर्थ हूँ, क्योंकि मैं बाला हूँ, प्रौढा नहीं और बालामें प्रौढाकी अपेक्षा लज्जाकी मात्रा अधिक होती है]॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

वाचमिति । स हंसः मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तुल्यरसां समानस्वादां मधुरार्थामित्यर्थः। मृद्वीं मधुराक्षरां तदीयां वाचं परिपीय अत्यादरादाकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोषं प्रीतिं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां जुगुप्सां 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः । वितेने ॥ ६० ॥

वह हंस दाखके समान रसवाला (मीठा) सुकोमल दमयन्तीका वचन सुनकर कोयलके कूजनेमें सन्तोष (हर्षित होना) छोड़ दिया तथा वीणाकी झनकारमें घृणा कर लिया। [कोयलके कूजने तथा वीणाके झनकारसे भी दमयन्तीका वचन मधुर एवं सरस था]॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

मन्दाक्षेति । तस्यां भैम्यां मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनायां सत्यामयं हंसस्तच्छंसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्संशयालुः सन्दिहानः सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः । मुखाम्भोजं[1] गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

लज्जासे थोड़ा अक्षर कहकर उस (दमयन्ती) के चुप होनेपर उसके कथनमें कुछ सन्देहयुक्त हंस अपने मुखकमलको वचनसे युक्त किया अर्थात् बोला—। [दमयन्ती लज्जावश 'कौन निर्लज्ज बाला द्विजराजपाणिग्रहणाभिलाषको कहेगी ?' ऐसा कहकर चुप हो

---

१. 'मुखाम्भोजम्' अत्र 'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः' इति 'प्रकाश' कृत्। किन्तु मनोरमाकृता प्रशस्तशोभनरमणीयादीनां यौगिकानां शुचिमृद्वादीनां गुणवचनानां 'सिंहो माणवक' इत्यादौ गौण्या वृत्त्या प्रशंसावाचकानाञ्च शब्दानां व्युदासस्य करिष्यमाणत्वेनोक्ततया 'वचन' ग्रहणस्य रूढपरिग्रहार्थमेव स्वीकृतत्वेन 'उपमितं व्याघ्रादिभिः (पा० सू० २।१।५६) इत्यनेनोपमितसमासस्यैवौचित्यतया भ्रान्तियुक्तं तदिति बोध्यम् ।

गयी है, अतः इस वचनके श्लेषयुक्त होनेसे हंसको नलविषयक दमयन्तीके अनुरागमें यद्यपि अधिक सन्देह नहीं रह गया है किन्तु थोड़ा सन्देह अवश्य ही रह गया है; अतएव 'किञ्चन' (कुछ) शब्दका यहाँ प्रयोग हुआ है]॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥ ६२ ॥

करेणेति । हे भैमि ! करेण विधुं चन्द्रं विधर्तुं ग्रहीतुं वाञ्छेव यमर्थमित्थं 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रुवः पञ्चानामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेशः ब्रुवश्चाहादेशः, 'आहस्थ' इति हकारस्य थकारः। तमर्थमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्रः, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति इमच्। श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्यां पातुं श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किं ? अस्म्येवेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छाके समान आदरयुक्त (या—निर्भय होकर) जिस प्रयोजनको तुम कह रही हो, वेदके अक्षरोंको शूद्रके समान मैं उस प्रयोजनको सुननेका भी अधिकारी नहीं हूँ क्या ?। [तुम्हारे समझसे यद्यपि मैं तुम्हारे उक्त अभीष्टको सिद्ध नहीं कर सकता, किन्तु उसको सुनने का भी मैं अधिकारी नहीं हूँ क्या ? अर्थात् उसे सुननेका अवश्य अधिकारी हूँ । अथ च—मैं ही उस प्रयोजनको पूर्ण करूँगा अतएव उसे सुननेका मैं ही अधिकारी हूँ, इसलिए अपना मतलब तुम्हें स्पष्ट कहना चाहिये। चन्द्रमाको हाथसे ग्रहण करनेकी अभिलाषाको तो लज्जावश ही कहा गया है, वास्तविकमें तो श्लेष द्वारा राजा नलसे विवाहकी अभिलाषा होनेमें ही मुख्यतः तात्पर्य है यह बात 'इव' शब्द-द्वारा 'चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी इच्छाके समान' अर्थ करनेसे सूचित होती है]॥ ६२॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः ।
यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वाद्वक्तुं जिह्रेमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यत इति । हे भैमि! भवत्या किंवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमर्थमयमर्थो द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिचः 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागमः । कुतस्तथा नाख्येय इत्यत आह—योऽर्थ एकः पादो यस्यामित्येकपदी एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः । 'वर्त्तन्येकपदीति चे'त्यमरः । 'कुम्भपदीषु चे'ति निपातनात् साधुः। चित्तैकपद्यां मनोमार्गेऽपि वर्त्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽपीत्यपिशब्दार्थः । स कथं दुर्लभ इति भावः । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकारः प्रतिबन्धः तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलैः कुशलधीभिरिति यावत् । अवाप्यं सुप्रापम् अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अतएवार्थापत्तिरलङ्कारः । 'कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात् ॥ ६३ ॥

तुमने इतना (दुर्लभ होना) क्यों कहा ? जो चित्तरूपी पगडण्डी (आगे-पीछे होकर १-१ आदमीके चलने योग्य पतला रास्ता) में भी है, उसे प्राप्त किया जाता है, क्योंकि जहांपर चित्तका भी अन्धकार है अर्थात् जिसे मन भी नहीं देखता—जो मनोऽगोचर है—उस ब्रह्मको उद्योगी लोग (या—सीधे रास्तेसे चलनेवाले लोग) प्राप्त कर लेते हैं। [तुमने चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेकी बात कहकर उसे इतना असाध्य क्यों बना दिया ?, क्योंकि बहुत सङ्कीर्ण मार्ग (पगडण्डी) में भी स्थित वस्तुको प्राप्त कर लिया जाता है, और जिस ब्रह्मका मन भी नहीं प्रत्यक्ष करता, उसे भी प्रयत्न करनेवाले प्राप्त कर लेते हैं; अतएव तुमने जो कहा उसका अभिप्राय मैंने समझ लिया है, मुझसे अपना अभिप्राय छिपाना व्यर्थ है। तथा जिसे तुम चन्द्रमाको हाथसे पकड़नेके समान अशक्य समझती हो, वह नलप्राप्तिरूप कार्य वैसा अशक्य नहीं है, उसके लिये तुम्हें प्रयत्न करना होगा] ॥६३॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कितव्यमित्याह—ईशेत्यादिना त्रयेण। ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तथोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः। लोकेशलोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्ययः। 'शयवासवासिष्वकालादि'त्यलुक् तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि मामिति शेषः। मृषा अनृतं तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भावस्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थः। उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'त्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्वं तथात्वेन ज्ञातं तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुंसकत्वम्। समं साधारणं सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्त्तिः पूर्ववदङ्प्रत्ययः, तदुपज्ञं तथात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्त्तिर्येन तं तथोक्तं मामञ्च, सत्यवादिनं विद्धीत्यर्थः। अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

(मुझे अपना अभिप्राय नहीं कहने पर भी उसे जाननेका अभिमान क्यों करते हो, ऐसे दमयन्तीके आक्षेपका समाधान राजहंस करता है—) हे कृशोदरि (दमयन्ती) ! ब्रह्मलोकके निवासी लोगोंमें सत्यवादिता एवं सहृदयताके आद्य ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ भी मुझ तिर्यञ्चको अज्ञ (मूर्ख, या असत्यवक्ता हृदयहीन—जैसा चाहो, वैसा) समझो, [अथवा—......मूर्ख तिर्यञ्चको भी सत्यवादिता तथा सहृदयताके प्रथम ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ समझो, या—उक्तरूप मेरी पूजा करो। अथवा—असत्य भाषण नहीं करनेवाली जीभके भाव (वचन) से युक्त आद्यज्ञानसे कीर्तिवाले मुझ तिर्यञ्चको भी अज्ञ (मूर्ख, या—असहृदय असत्यवक्ता—चाहे जैसा समझो......] ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः।

ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न[1] संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीनां प्रतिवेश्मनां श्रुतीनां वेदानां ब्रह्ममुखस्थानां श्रुतीनां मध्ये वासवती निवसन्ती इयं नोऽस्माकं मुखे सरस्वती वाक् संसर्ग एव गुणः श्लाघ्यधर्मः तन्तुश्च तेन बद्धा सती ताभ्यः श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । अद्धापथात्सत्यमार्गान्न चलति संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भावः । 'सत्ये त्वद्धाऽञ्जसाद्वयमि'त्यमरः ॥ ६५ ॥

हमलोगोंके मुखमें वर्तमान सरस्वती (वाणी) पड़ोसिन श्रुतियोंके बीचमें बसती है, अतएव संसर्ग-गुणसे बँधी हुई वह मानो उन (श्रुतियों) से लज्जाके कारण निश्चितरूपसे पथभ्रष्ट नहीं होती है । [ब्रह्माके चारो मुखसे वेद निकले हैं, जो वेद-वचन सर्वथा सत्य एवं सत्पथगामी ही हैं, और हमलोग ब्रह्माके वाहन होनेसे उनके साथ सदा रहते हैं, अतएव श्रुतियां हमलोगोंके मुखमें रहनेवाली सरस्वती अर्थात् हमारे वचनकी पड़ोसिन है, इस कारण सदा सत्य उन श्रुतियोंसे लज्जा करती हुई हमारी वाणी कभी असत्पथमें नहीं जाती अर्थात् हमलोग कभी असत्यभाषण नहीं करते । लोकमें भी पड़ोसी व्यक्तिसे लज्जा होनेके कारण कोई भी व्यक्ति उनके अनुसार ही सदा आचरण करता है] ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम् ।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

ततः किमित्यत आह-पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः । अभिलाषि साभिलाषं ते तव चित्तं कर्तृ पर्यङ्कतां वाससक्थिकात्वमापन्नः, सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थः । तां लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यस्तमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ६६ ॥

(अब राजहंस अपने सामर्थ्यातिशयको प्रकट करता हुआ कहता है—) पर्यङ्क (पलँग) बना है समुद्र मध्य जिसका (पलँगके समान समुद्र-मध्यमें सुखसे स्थित) लङ्कापुरी या अन्य किसी भी वस्तुको भी यदि तुम्हारा मन चाहता है (अथवा किसी वस्तुको चाहने वाला तुम्हारा चित्त लङ्कामें उस वस्तुके होनेसे यदि उक्तरूप लङ्कापुरीको भी यदि जाना चाहता है) तो उसे भी अपने हाथमें स्थित समझो । [पक्षा०—कुत्रापि—पृथ्वीके रक्षक नलमें अभिलाषयुक्त तुम्हारा चित्त उक्तरूप लङ्काको भी जाना चाहता है तो…………] ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

इतीति । तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा हंसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव

---

१. 'मत्सङ्गगुणेन नद्धा' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम्। हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण। किमिति ? मदीयं चेतो लङ्कां नायते, किन्तु नलं राजानं कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थः। अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाषं न ॥ ६७ ॥

उस पक्षी (हंस) के ऐसा (३।६२-६६) कहनेपर प्रसन्न एवं लज्जित दमयन्ती बोली कि—मैरा मन लङ्काको नहीं जाता अर्थात् मैं लङ्कापुरीको नहीं चाहती (पक्षा०—मेरा मन नलको चाहता है), दूसरे किसी वस्तुको (या—दूसरे किसी (राजाको) नहीं चाहता, (अथ च—नलके नहीं मिलनेपर मेरा चित्त अनल (अग्नि) को चाहता है कि मैं उसमें जलकर भस्म हो जाऊं, किसी दूसरेको नहीं चाहता) ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिवशात्संदिग्धमेव भाषमाणामित्यर्थः। एनां दमयन्तीं सः चक्राङ्गपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शीलं स्वभावमेव शैलं लज्जायामेव नद्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः ॥६८॥

वह राजहंस बालाओंके पर्वताकार (बहुत बड़े) शीलको तथा लज्जारूपिणी नदीमें गोता लगाते हुए कामदेवरूपी हाथी वाला समझकर स्पष्ट नहीं कहती हुई इस दमयन्तीसे बोला— । ['लज्जावश कामपीडित होती हुई भी बाला यह दमयन्ती पर्वताकार शीलका उल्लङ्घनकर अपने मनोरथको स्पष्ट नहीं कहती है, यह सोचकर राजहंस बोला—] ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थस्सुधिया मया किम् ? ॥६९॥

नृपेणेति। श्लेषकवेः श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः, कवृ-वर्णन इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहणं पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्म्मणी'ति विहितायाः षष्ठ्याः 'कर्म्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः। तत्र स्पृहेति मम मनो नलं कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

'राजा (नल) के साथ विवाह करनेकी इच्छा है, मेरा मन नलको चाहता है' ऐसे श्लेषपण्डिता तुम्हारे पूर्वोक्त दो श्लोकों (३।५९ तथा ६७) के अर्थको विद्वान् मैंने नहीं समझा क्या ? अर्थात् 'यद्यपि तुमने स्पष्ट नहीं कहकर श्लेषद्वारा अपना मनोरथ बतलाया है, तथापि तुम नलको चाहती हो' ऐसा तुम्हारे अभिप्रायको मैंने समझ ही लिया है ॥६९॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ[1] एव ।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥७०॥

तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमज्ञवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति। किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययमस्थिरत्वं संभाव्य आशङ्क्य तदज्ञः कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः अस्मि। त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः। धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यत्ताया गुणत्वाद्वर्तमानतानुरोधः। नन्वेवमनुरक्तायां मयि कुत इयं शङ्केत्याशङ्क्य स्त्रीणां चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—लक्ष्य इति। लोलशीले चञ्चलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापराद्धेषुरीषच्च्युतसायकः स्यात्, कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात्कदाचिदपराध्यत इति भावः। 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः' इत्यमरः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥ ७०॥

(बाला होनेके कारण) तुम्हारे मनकी अस्थिरताकी सम्भावना कर मैं उसका अनभिज्ञ (अजानकार) ही बना हूं (या—अनभिज्ञ सा बना हूं); क्योंकि सदा चञ्चल बालाके हृदयमें कामदेव लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाता है। [बालामें कामवासना तीव्र नहीं रहनेसे वह अधिक कामपीडित नहीं होती, अत एव सम्भव है बाला होनेसे तुम्हारा मन भी बादमें परिवर्तित हो जाय, इस कारण तुम्हारे मनोरथको जानकर भी मैं अजानकार ही बना था]॥

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ? ।
प्रयोजनं सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१ ॥

महीति। नैषधः इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः खलु तस्मात् स नलः। पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिकं सन्देहदुःस्थम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथं बोधनीयः ? अनर्हमित्यर्थः। 'गतिबुद्धी'त्यादिना अणि कर्त्तुर्नलस्य कर्मत्वं, 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च॥

इस कारण सन्देहयुक्त कार्यके लिये नैषधचन्द्र राजा नलसे हीन व्यक्तिके समान मुझ-जैसा प्रामाणिक व्यक्ति इसी प्रकार (सन्देहयुक्त होनेसे विना विचार किये ही) कैसे कहे ?। [सामान्य व्यक्ति भले ही किसी सन्दिग्ध कार्यके लिये भी नलसे निवेदन कर दे, किन्तु मुझ जैसे प्रामाणिक व्यक्तिको सन्दिग्ध कार्यके लिए नलसे निवेदन करना कदापि उचित नहीं है]॥ ७१॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

अथेत्थमेव बोधने को दोषस्तत्राह—पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्यं नलादयं युवानं यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य

१. 'तमज्ञ' इति पाठान्तरम्।

नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्यं, 'चतुर्थी तदर्थे'त्यादिना चतुर्थी समासः, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तद्यत्तथा अर्थित्वकृतिः अर्थित्वभजनं तत्र प्रतीतिर्विश्वासः कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः। तस्मादसन्दिग्धं वाच्यमिति भावः॥

यदि तुम पिता (भीम) की आज्ञासे या स्वेच्छासे दूसरे युवकका वरण कर लोगी तो तुम्हारे लिए याचना करनेवाले मेरे विषयमें नलका कैसे विश्वास रह जायेगा [अर्थात् सर्वदाके लिए मुझसे उनका विश्वास उठ जायेगा, अतः विना दृढ निश्चय किये मैं नलसे तुम्हारे लिए नहीं कहना चाहता] ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

अन्यथा तथा वक्तुं न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्सितं करिष्ये प्रतिज्ञाभङ्गपरिहारायेत्याह—त्वयेति । हे उर्वीपतिपुत्रि ! भैमि ! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं शङ्कितविक्रिये सम्भावितविपर्यये अस्मिन् विषये राजपाणिग्रहणसंघटनकार्ये अहम्, अधिक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लट्, किन्तु इतः पृथगस्मादन्यत् यद्यत्प्रार्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तुम भी परिवर्तनकी सम्भावना वाले इस (नल-विवाहरूप) विषयमें कार्य करनेके लिए मुझे क्यों अधिकारी बनाती हो ? अतः हे राजकुमारी दमयन्ति ! इससे भिन्न जो जो तुम चाहोगी, वह सब मैं करूंगा ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

श्रव इति । धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टा तद्गिरो हंसवाचः । वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिषिध्य ह्रिया कर्त्र्या विश्लथितानुरोधा शिथिलितवृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच ॥ ७४ ॥

कानमें प्रविष्ट हुएके समान उस हंसके वचनोंको असम्मतिसे कम्पित किये गये मस्तकसे निकालकर लज्जासे शिथिलित अनुरोध वाली अर्थात् अत्याज्य लज्जाको भी शिथिल की हुई राजकुमारी दमयन्ती बोली—। [हंसके कहनेपर ऐसा नहीं हो सकता कि मैं पिताकी आज्ञासे या स्वेच्छासे दूसरे युवकका वरण कर लूँ' इस अभिप्रायसे निषेध करती हुई दमयन्तीने जब मस्तकको हिलाया, तब ऐसा ज्ञात होता था कि हंसोक्त अनभिलषित वचन जो उसके कानोंमें घुस गये हैं, उन्हें निकालनेके लिए उसने मस्तक हिलाया हो, लोकमें भी कानमें अनभिलषित कीड़ा आदि घुसनेपर मस्तकको हिलाकर लोग उसे बाहर करते हैं] ॥ ७४ ॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

मदिति । मम अन्यदानमन्यस्मै दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितुर्नियोगे-नेत्यादि श्लोकस्तर्कः । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्तस्य एवेत्यर्थः । निशो निशाया अपि 'पद्न्नि'त्यादिना निशाया निशादेशः सोमाच्चन्द्रादितरकान्तशङ्कां पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्यं कुर्याः कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः । यथा निशायाः निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीयः, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः । रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

मुझे दूसरे युवकके लिए देनेकी यदि कल्पना तुम्हारे हृदयमें वेद अर्थात् वेदवत् प्रामाणिक है, तो रात्रिके भी चन्द्रभिन्न पति होनेकी शङ्काको इस वेदके आगे करो। [वेदके पहले ॐकार होता है, अतः यदि तुम्हें शङ्का है कि पिताकी आज्ञासे या स्वयं दूसरे युवकका मैं वरण कर लूँगी (३।७२), तो रात्रिका भी पति चन्द्रमासे भिन्न कोई हो सकता है, इस बातको भी तुम्हें प्रामाणिक मानना चाहिये। अत एव जिस प्रकार रात्रि का पति चन्द्रमासे भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरा भी पति नलसे भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता] ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

सरोजिनीति । सरोजिन्याः मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेरभ्यन्तरारुण्यप्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसंक्रान्तिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेयं मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहं शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तरं साहसिक्यं साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

कमलिनीके मनोऽनुरागके व्यापारको सूर्येतरके साथ विना तर्क किये नलेतरके साथ मेरे विवाहकी शङ्का करना तुम्हारा बहुत बड़ा साहस है, (तुम्हारे ऐसे साहस करनेपर) आश्चर्य है। [सूर्यके अतिरिक्त किसी दूसरेसे कमलिनी विकसित नहीं हो सकती, तो नलके अतिरिक्त किसी दूसरेसे मेरा विवाह नहीं हो सकता, अत एव बे-पैर-सिरकी बातोंकी शङ्का करनेसे तुम्हारे महान् साहसपर मुझे आश्चर्य होता है] ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषा गिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥७७॥

साध्विति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेकमेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणो अधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी । 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वां

मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुमनल एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥

हां, तुमने सचमुच यह ठीक तर्क किया है कि मैं स्वयं अनल (अग्नि, पक्षा०—नलभिन्न) का आश्रय कर लूंगी, इस (नल) के बिना अपनी आत्मापर प्रहार करनेके लिए तैयार हूं अर्थात् नलके नहीं मिलनेपर अग्निमें जलकर मर जाऊंगी, किन्तु तुम्हें राजा नलके यहां असत्यवक्ता नहीं बनाऊँगी ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः ? ।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

मदिति । किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलभ्यं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधादि'ति यत्प्रत्ययः । आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूकः अशक्तः किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चयः अत आह—अशक्या शङ्का यस्य सः अशक्यशङ्कः शङ्कितुमशक्यः व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु ? न केऽपीत्यर्थः, सम्भावनायां लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम् , नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

जिस तर्कसे तुम यह समझते हो कि 'यह दमयन्ती मुझे (हंसको) असत्य कहकर ठग रही है', वह तर्क उस ठगनेके परिणामको कहनेमें मूक क्यों है (तुम्हें झूठाकर मुझे क्या लाभ होगा, यह भी तुम्हें उसी तर्कसे पूछना चाहिये), जिसमें कोई शङ्का नहीं हो सकती ऐसे व्यभिचार कारणवाले वचन वेद (वेदके समान सत्य) नहीं हैं, तो वेद क्या है ?, [जिसमें व्यभिचार होनेकी शङ्का ही नहीं उठती, ऐसे ही वचन वेदतुल्य सत्य हैं, अतः तुम्हें ठगनेपर मुझे कोई फल (लाभ) नहीं होगा, इस कारण मैं तुम्हें नलको पति बनानेके लिए कहकर ठग नहीं रही हूं, किन्तु सत्य कह रही हूं] ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ? ।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव ॥ ७९ ॥

एवं निजेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति—अनैषधायेति । तातो मम जनकः । 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः । मामनैषधाय नैषधान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकुः, तदा शरीरशेषां मृतां तत्रापि कृशानौ न किं न तु जीवन्तीं नाग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः । तदङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः । कुतः ? स जनकः तनूजन्मतनोः आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति शेषे षष्ठी । तथापि शरीरस्य पितृस्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः । मत्प्राणनाथस्तु नल एव, प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः । अतो मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

यदि पिताजी मुझे नल-भिन्नके लिए देते हैं तो शरीरशेष (प्राणहीन-मृत) मुझको अग्निमें ही क्यों नहीं फेंक देते ? कहो, वे (पिताजी) सन्तानके शरीरके अधिकारी

अवश्य हैं, तथापि मेरे प्राणनाथ तो नल ही हैं। [यदि पिताजी किसी दूसरेके साथ मेरा विवाह करना चाहेंगे तो जन्मान्तरमें भी नलको पतिरूपमें पानेके लिए मैं प्राणत्याग कर दूंगी] ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

फलितमाह—तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुतैव साधु साध्वी, अविचारेण मन्मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः। साध्विति सामान्योपक्रमान्नपुंसकत्वम्, 'शक्यं श्वमांसेनापि क्षुन्निवर्तयितुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तरं चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति । नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

उस (नल) की एकमात्र दासी–पदसे भी श्रेष्ठ मेरे अभीष्ट को पूरा करनेकी तुम्हारी चाहना अच्छी है ? अर्थात् कदापि नहीं, क्योंकि सूर्यभिन्न अमृतकर भी चन्द्रमासे कमलिनी क्या करती है ? अर्थात् कुछ नहीं । [जिस प्रकार कमलिनी अमृतकिरण भी चन्द्रमाकी इच्छा नहीं करके सूर्यको ही चाहती है, उसी प्रकार मैं नलकी दासी बनकर ही रहना चाहती हूँ, दूसरे किसीकी पटरानी भी नहीं होना चाहती, अत एव तुमने नल–प्राप्तिके भिन्न मेरे दूसरे मनोरथकी जो साधना चाहते हो, वह दूसरा कोई भी मेरा मनोरथ नहीं है] ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।
वित्ते ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखस्स एव ॥८१॥

तदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनघं चिन्तामणिमपि लब्धुं चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः पद्माननः एकः स नल एव त्रैलोक्यसारः, पद्मनिधिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत युवान्तर इति भावः ॥ ८१ ॥

इस कारण उस नलमात्रके लोभी (पानेकी इच्छा करनेवाले) मेरे मनमें बहुमूल्य चिन्तामणिको भी पानेकी चिन्ता नहीं है, सम्पूर्ण त्रिलोकीका सारभूत कमल तुल्य सुन्दर मुखवाले वे (नल) ही हमारे निधि (प्राणसर्वस्व स्वामी) हैं [अथ च—पद्म हैं, प्रथम जिसके, ऐसे वे ही मेरे कोष हैं, अतः चिन्तामणिको भी मैं नहीं चाहती हूँ] ॥ ८१ ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥८२॥

श्रुतश्चेति । किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजवन्द्यादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात्

भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृत-तदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च। अथाद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरसुव्ययः प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः। शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः। अत्र तत्पदार्थश्रवणमनननिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्म-प्राप्तिदुःखोच्छेदलक्षणमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादिति सङ्क्षेपः ॥ ८२ ॥

मैंने नलको (दूत, वन्दी तथा द्विज आदिके मुखसे) सुना है, भ्रमवश दिशाओंमें देखा है तथा निरन्तर बुद्धिप्रवाहसे उनका ध्यान किया है; (इस प्रकार मैंने चक्षुःप्रीति आदि नव प्रकारकी अवस्थाओंका अनुभव किया है और अब) मुझे नलको पाना या मेरा मरना—दोनों तुम्हारे हाथोंमें है, उनमें एकका शेष होगा अर्थात् मैं नलको वरूँगी, या मर कर दशमी अवस्थाको पाऊँगी ? ['सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२। ६४) से समानरूप वालोंका ही एकशेष होता है, परन्तु यहाँ विभिन्न रूपवालोंका भी एकशेष होना आश्चर्यजनक है। अथ च—जिस प्रकार श्रवण, दर्शन तथा ध्यानसे प्रत्यक्ष किये हुए ब्रह्मको प्राप्ति किसी पुण्यात्माको ही होती है, उसी प्रकार उक्त प्रकारसे श्रवणादिसे प्रत्यक्ष किये गये नलकी प्राप्ति मुझे तुम्हारे अनुग्रह विशेषसे ही होगी, अन्यथा नहीं। तथा-ब्रह्मप्राप्तिमें अद्वय (दो अवयव वालों) से हीन एकका ही शेष होता है]॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम्।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ? ॥८३॥

सञ्चीयतामिति। हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थं प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नम् 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः। मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जञ्च पुण्यं सुकृतं सञ्चीयतां संगृह्यतां, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम्। अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशङ्केयं मुद्रा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ७३ ॥

('मेरा कार्य करनेसे तुम्हें पुण्यातिशय प्राप्तिरूप महान् लाभ होगा' इस आशयसे दमयन्ती कहती है—) प्रतिज्ञाके पालनसे उत्पन्न मेरे प्राणदानरूप पुण्यका संग्रह करो, हे आर्य ! व्यर्थकी विपरीत शङ्का (या—विशिष्ट शङ्का) को छोड़िये, अरे ! शुभ कार्यमें भी अत्यधिक यह मुद्रा (चुप रहनेकी चेष्टा) क्यों है ? [अथवा—सज्जन, या विचारशील तुममें यह (मौनधारण रूप) चेष्टा क्यों है ? अब तुम मौन छोड़कर पूर्व स्वीकृत वचनको पूरा करनेके लिये स्पष्टरूपसे कहो]॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय[1] ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥८४॥

---

१. 'प्रियविज्ञ !' इति पाठान्तरम्।

अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादिना कप्रत्ययः । याच्ञां प्रार्थनां विलङ्घ्य अलं याच्ञाभङ्गो न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविधं वाक्यं वक्रतां कृत्वापि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता सैव पदं पदक्षेपः तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः । अन्यथा हानिः स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्ययः, इह 'न पादादौ खल्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकत्वाभिप्रायत्वान्नञर्थस्य खलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ्वदेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥८४॥

हे प्रिय ! हे विज्ञ (विचारशील ! अथवा—पक्षियोंमें ज्ञानी राजहंस !, अथवा—प्रिय पक्षियोंमें ज्ञानी—राजहंस !, अथवा—प्रिय (नल) को विशेष जाननेवाले)? मेरी याचनाका उल्लङ्घन मत करो, (या—प्रिय तथा विज्ञ नल-विषयक मेरी याचनाका उल्लङ्घन मत करो) विनीतमें (या—कर्तव्य कार्यमें) अनेक प्रकारकी कुटिलता भी मत करो और कहे हुए वचनको पालनेवालोंके चरण (या—तल्लक्षण श्रेष्ठ स्थान) से उत्पन्न तथा दुष्टोक्ति क्रीडासे वर्जित कीर्तिमार्गसे स्खलित भी मत होवो । [लोकमें हंसको पक्षियों में श्रेष्ठतम माना जाता है, अत एव उसे अपनी उस कीर्तिसे विचलित न होनेका यहाँ निषेध ही किया गया है] ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥ ८५ ॥

स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं ददद्भ्यः स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकुः, त्रपाया मनःप्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सोः तव कीर्त्या धौतः शुद्धो धर्मः कराद्धस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवार्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार मुट्ठी बांधे हुए (ऐसे महाकृपण, अत एव) मेरे प्राणोंको ही मुझे नहीं देनेकी इच्छा करनेवाले तुमको, दुःखियोंके हर्षके लिए अपना जीवन तक देनेवालों (शिवि, दधीचि, जीमूतवाहन, राजा कर्ण आदि दाताओं) से लज्जा नहीं होती, अत एव उक्तरूप कीर्तिसे धोया गया (स्वच्छतम) धर्म भी तुम्हारे हाथसे गिर (नष्ट हो) रहा है । [दूसरे का धन लेकर पुनः उसे समर्पित नहीं करनेवाले व्यक्तिको आर्त्तोंके लिए अपना जीवनतक देनेवालोंसे लज्जा कैसे हो ? यदि लज्जा हो तब तो वह दूसरेकी ली हुई वस्तु उसे समर्पित ही कर देता, वैसा तुम नहीं करते, अत एव धर्मके साथ लज्जाको भी तुम नष्ट कर रहे हो । जो दूसरेकी वस्तुको ही नहीं लौटाना चाहता, वह अपनी वस्तु कैसे दे सकता है ?

अर्थात् कदापि नहीं दे सकता अत एव तुम नलदानद्वारा मेरे प्राणोंको मुझे देकर अपने धर्म तथा लज्जा दोनोंकी रक्षा करो]॥ ८५॥

दत्त्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मां त्वदृणे[1]ष्वशो[2]द्धुममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६॥

दत्त्वेति। किं च, जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राणं दत्त्वापि शुध्यामि आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः। किन्तु जीवादधिकः प्रियः तद्दे त्वयि केन शुध्यामि? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः। सम्प्रति प्राणैः समं तु न किञ्चिदस्तीति भावः। तत्तस्मादभावादेव मां त्वदृणेषु विषये अशोद्धुमऋणग्रस्तां भवितुमेव अमुद्रे अपरिमिते दारिद्र्यं त्वद्देयवस्त्वभावरूपं तस्मिन्नेव समुद्रे। मग्नां विधेहि नलसङ्घट्टनेन मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः। अशोद्धुं, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः॥ ८६॥

तुम्हें जीव-दान करनेपर मैं अपना जीवन-दान करके भी शुद्ध (ऋणहीन—अनृणी) हो सकती हूं, किन्तु जीवसे अधिक (नल) के देनेपर (जीवाधिक पदार्थान्तर नहीं होनेसे) मैं किससे अर्थात् तुम्हारे लिए क्या देकर शुद्ध होऊँगी (तुम्हारे ऋणसे छुटकारा पाऊँगी)? इस कारण तुम तुम्हारे ऋणको नहीं चुकानेके लिए मुझे अपरिमित दारिद्र्यरूपी समुद्रमें मग्न कर दो। [मेरे जीवनसे भी अधिक नलको मुझे देकर सदाके लिए अपना ऋणी बना लो]॥ ८६॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्॥ ८७॥

क्रीणीष्वेति। हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः। अन्यदेतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्यं दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्तर्हि यशोऽपि कीर्त्तिं गातुं प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः॥ ८७॥

(नलको विना पाये मेरा मर जाना निश्चित है, अत एव तुम नलको देकर) मेरे जीवनरूप सौदेको खरीद लो। (यद्यपि जीवनदान तथा जीवनाधिकदानमें जीवनाधिकदानके विना दूसरा कोई भी मूल्य नहीं हो सकता), तथापि तुम्हें पुण्य ही हो। हे प्राणनाथके दाता राजहंस यदि मैं कुछ नहीं दे सकती हूँ तो तुम्हारा यश भी नहीं गा सकती? अर्थात् तुम्हारा यश ही गाया करूंगी [इसी प्रकार पुण्यरूप पारलौकिक फलमें अनिच्छा या अविश्वास रखनेवाले तुमको ऐहिक यशोगानरूप फल तो मिल ही जायेगा]॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते।

---

१. 'त्वदृणान्यशोद्धु—' इति पाठान्तरम्। २. '—असोढु—' इति पाठान्तरम्।

प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥८८॥

अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकारं कुर्वित्याह—वराटिकेति । वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान् इभ्याः धनिकाः, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमरः । नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मानं निपुणं भणन्तः, सन्त एते वयं त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थः । तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थः । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भावः । हन्त हर्षे ॥ ८८ ॥

धनिकलोग एक कौड़ीके भी उपकारसे मिलनेवाले कृतज्ञोंका आदर नहीं करते, और अपनेको चतुर कहते हुए सज्जन लोग प्राणरूप मूल्यसे भी उन्हें खरीद लेते हैं । [अतः पूर्व श्लोकोक्त पुण्य तथा यशकी चाहना तुम्हे यदि नहीं हो, तथापि (निरपेक्ष होते हुए भी) सज्जन होनेके कारण मुझे उपकृत करो] ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे ।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

स इति । किञ्च स भूभृन्नलः अष्टावपि लोकपालाः, तदात्मक इत्यर्थः । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात् । अत एव तदेकाग्रधियो नलैकतानबुद्धेः मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्नं भावे लिट् । देवता ध्यायतः प्रसीदन्तीति भावः । कुतः ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः । स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः नलप्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत्, तन्न घटते हि । तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदं श्रेयः ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

वे नल आठो लोकपाल हैं, उन (नल) में एकाग्र बुद्धिवाली मुझपर वे लोकपाल प्रसन्न हो गये हैं, उस (नल) की प्राप्तिके विषयमें तुम स्वयं आकर मेरा प्रतिभू (जामिनदार, मध्यस्थ) बने हो, यह बात अन्यथा (नलको मुझे देनेके लिए लोकपालोंके मुझपर प्रसन्न नहीं होनेपर) नहीं घटित होती । [अत एव दाता तथा ग्रहीताके बीचमें दोनों ओर कार्य करनेवाले प्रतिभूको ही दबाकर नियत धनादि मांगा जाता है, अत एव मैं भी तुमसे ही नलको देनेके लिए वार-वार हठपूर्वक कह रही हूँ] ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

अकाण्डेति । हे हंस ! विः पक्षी 'विर्विष्किरपतत्रिणः' इत्यमरः । 'रोरी'ति रेफलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया'- आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूलं हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जितमकाण्डं यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो

भूत्वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम्। अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः। हृदः चन्दनलेप कृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्त्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु।', 'स्याद्वीरणं वीरतरुर्मूलस्योशीरमस्त्रियाम्।', 'अभयं नलदं सेव्यमि'ति चामरः। वीरणस्येति शब्दश्लेषः। अन्यत्रार्थश्लेषः। तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणप्रकृतकार्य्योपयोगात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः॥ ९०॥

असमय अर्थात् बाल्यमें ही कामदेवसे उत्पादित रहस्य-कथनका मूल पक्षी होकर भी (अथवा—नलका प्रस्ताव उपस्थित कर बाणहीन कामदेवके युद्धका मूल (जड़) पक्षी होकर भी। अथवा—विना गांठ (पर्व-पोर) के ही ब्रह्माके द्वारा मेरे लिए रचे गये खशका मूल-जड़ होकर भी आप मेरे लिए नल (राजा नल, पक्षा०—उशीर = खश) को देकर हृदयके चन्दन-लेपके कार्यको नहीं करेंगे क्या? (जब आप मेरे लिए ब्रह्मसृष्ट खशकी जड़ बने हैं, तब आपको मेरे लिए नल (खश) को देकर हृदयपर चन्दनलेपके कार्यको पूरा कराना ही चाहिये। अथ च—मेरे कौमार अवस्थामें ही आप सहसा कहींसे आकर कामयुद्धका मूल बन गये हैं तो नलको मेरे लिए देकर मेरे हृदय पर चन्दन लेपका कार्य-सम्पादन आपको करना ही चाहिये, अन्यथा यदि अन्य नलको मेरे लिए नहीं देंगे तो मैं हृदय पर चन्दनका लेपकर शृङ्गार भी नहीं करूंगी]॥ ९०॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः॥ ९१॥

अलमिति। हे हंस! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः। 'अलङ्खल्वोरि'त्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः। त्वरितुं वेला हि त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' कुतः? स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः। तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिभा प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्त्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः॥ ९१॥

यह समय शीघ्रता करनेका है, अत एव विलम्ब मत करो, क्योंकि विलम्बको सह सकनेवाले कार्यमें विचार किया जाता है। जिस प्रकार तीक्ष्ण बुद्धि गुरुके उपदेशकी प्रतीक्षा कभी नहीं करती, उसी प्रकार पीड़ा (नल-विरह पीडा) समय (बिलम्ब) की प्रतीक्षा नहीं करती॥ ९१॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः॥ ९२॥

अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति–अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तःपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुतः ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन बलात् कृतो बलात्प्रतिवर्त्तितो अन्यवधूनिषेधः उदयेत् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

(अब चार श्लोकों (३।९३-९५) से नलसे प्रार्थना करनेके उचित अवसरको कहती है—) यहाँसे गये हुए तुम रानियोंके बीचमें स्थित राजा नलसे मेरे लिए प्रार्थना मत करना, (अथवा—यहाँसे गये हुए तुम मेरे लिए राजा नलसे प्रार्थना करना, किन्तु रानियोंके बीचमें प्रार्थना नहीं करना), क्योंकि उस समय प्रियाओंके मुख देखनेसे उत्पन्न लज्जा एवं प्रेमसे दूसरी स्त्रीके विषयमें निषेध हो सकता है ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसंभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुस्सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥ ९३ ॥

शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमदे'त्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपां तृप्ताय अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थः । 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासनया शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरङ्कुशत्वाद्गन्धस्येत्वे तदेकान्तत्वनियमानादरः । तुषारा शीतला वारि-धारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्तालंकारः ॥ ९३ ॥

रानियोंके साथ सम्भोग कर अत्यन्त सन्तुष्ट नलसे इस कार्यको मत कहना, क्योंकि जलसे सन्तुष्ट व्यक्तिको स्वादिष्ट सुगन्धयुक्त एवं ठण्डी जलकी धारा नहीं रुचती । [उक्त दृष्टान्तद्वारा दमयन्तीने नलकी अन्य रानियोंको सामान्य जलतुल्य तथा अपनेको मधुर सुगन्धित एवं शीतल जलतुल्य कहकर उनकी अपेक्षा अपनेको बहुत श्रेष्ठ ध्वनित किया है]॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥ ९४ ॥

विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य नलस्य हृदि हृदये क्रुधा क्रोधेन कदुष्णे ईषदुष्णे चकारात्कोः कदादेशः । मह्यमिमाः मदर्थाः 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' गिरो वाचो न विज्ञापनीया न विधेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता शर्करापि तिक्तायते तिक्तीभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्मनेपदम् । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

हे हंसवंशके भूषण ! नलसे क्रोधसे हृदयके कुछ गर्म रहनेपर मेरे लिए बातको मत कहना, क्योंकि पित्तसे जीभके दूषित होनेपर शक्कर भी तीता लगता है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।
तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

धरेति । तुरं त्वरितं सहत्यभिभवत्यरीनिति तुराषाडिन्द्रः सहतेश्चौरादिकत्वात् क्विप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्ध-भोजस्तु तुराशब्दं टाबन्तमाह । तस्मिन् धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाड्रूपत्वात् 'सहेः साडः स' इति षत्वं नास्ति । कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या । तथाहि—तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य अनवबोधः अबोधः स एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभि-ज्ञानं बिभर्ति, अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः । तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

राजा (नल) के चित्तके दूसरे कार्यमें आसक्त रहनेपर तुम मेरे लिये प्रार्थना मत करना, क्योंकि कार्यान्तरमें चित्तके आसक्त रहने पर याचित विषयको नहीं सुनना अप-मान करने (या—अभीष्ट नहीं होने) के रूपको ग्रहण कर लेता है । [कार्यान्तरमें चित्तके आसक्त रहनेके कारण यदि व्यक्ति किसीकी याचनाको नहीं सुननेके कारण उसके विषयमें कोई उत्तर नहीं देता तो प्रार्थयिता समझता है कि इनको यह बात नहीं रुचती, और ऐसा समझ पुनः उस विषयमें उस व्यक्तिसे प्रार्थना करना भी नहीं चाहता] ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समयं समीक्ष्य ।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ? ॥ ९६ ॥

विज्ञेनेति । तस्मात् कारणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इदं कार्य-मस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम् । विलम्बः स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति । हे हंस ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति ? अनवसरविज्ञापने कार्यविघाताद्वरं विलम्बनेनापि कार्य-साधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

इस कारणसे विद्वान् आप इस राजा (नल) से अवसर देखकर इस विषयमें प्रार्थना करना । आपको कार्यकी सिद्धि सर्वथा नहीं होनेमें तथा विलम्बसे सिद्धि होनेमें कौन-सी उत्तम मालूम पड़ती है ? अर्थात् सर्वथा असिद्धि होनेसे विलम्बसे सिद्धि होना ही उत्तम है ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

इतीति । इत्थमुक्तवत्या तया लज्जा अलोपि त्यक्तेति यत् । सा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचिती अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽस्माकं श्रृण्वतां चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मरः साक्षी प्रमाणं, यः स्मरः तां भैमीमुन्माद्य

उन्मादावस्थां प्राप्यैतत्तदनुचितं वचनमवीवदत् वादयतिस्म। वदतेर्णौ चङि 'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुः कर्मत्वम्। प्रकृतिस्थस्यायं दोषो न कामोपहत-चेतस इति भावः ॥ ९७ ॥

ऐसा (३।७५–९६) कहनेवाली दमयन्तीने जो लज्जाको छोड़ दिया, वह हम लोगोंके मनमें अनुचित भले ही मालूम हो, किन्तु उस (दमयन्ती) के निर्दोष होनेमें कामदेव साक्षी है, जिसने उसे उन्मादयुक्त करके उससे वह (३।७५–९६) कहलवा दिया। [उन्मादयुक्त पुरुषका कोई अपराध नहीं माना जाता, अतः कामोन्मादयुक्त बाला दमयन्तीने युवतीके समान लज्जा त्यागकर वह सब कह दिया तो उसमें उसका कोई दोष नहीं मानना चाहिये] ॥ ९७ ॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८ ॥

कामो वा किमर्थमेवं कारयतीत्याशङ्क्य तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति। हरः स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमां दुरन्तां मुदमुद्वहेते दधतुः। वहेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हरः स्मरस्पर्द्धितया स्मरद्वेषितया प्रसूनं धुत्तूरकुसुमं तस्यायुधतयेति भावः। अन्यस्तु द्वितीयः स्मरस्तु विरहाधिदूनं विरहव्यथादुःस्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः। अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थः। 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्वः। उभयोर-भेदाध्यवसायात् समानधर्म्मत्वविशेषणमत्राश्लेषात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभय-श्लेषः तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

शिवजी तथा कामदेव—दोनों ही उन्मत्तको प्राप्तकर परस्पर स्पर्द्धापूर्वक असीम हर्ष को पाते हैं, उनमें पहला (शिवजी) उन्मत्त पुष्प अर्थात् धतूरेके फूलको तथा दूसरा काम-देव उन्मत्त अर्थात् प्रिय-विरहसे सन्तप्त होनेसे उन्मादयुक्त व्यक्तिको प्राप्तकर असीम हर्ष पाते हैं। [शिवजी तथा कामदेव एक दूसरेके शत्रु हैं, अतः प्रथम शिवजी पुष्पवाण कामदेवके बाणरूप उन्मत्तपुष्प (धतूरेके फूल) को पाकर तथा कामदेव धतूरपुष्पसे प्रसन्न होते हुए शिवजीको देखकर मुझे भी उन्मत्त (उन्मादयुक्त व्यक्ति) को पाकर हर्षित होना चाहिये, यह जानकर प्रिय-विरहित उन्मत्त व्यक्तिको पाकर हर्षित होता है। अथ च—कामदेव शिवजीके गणभूत उन्मत्त पिशाचको पाकर हर्षित होता है। शत्रुकी प्रिय वस्तुको वशमें करनेपर हर्ष होना सर्वविदित है। कामदेव शिवजीसे तथा शिवजी कामदेवसे अधिक हर्षित होना चाहते हैं, अतः दोनों हर्षित होनेके लिए परस्परमें स्पर्द्धा किये हुए हैं, शत्रुके साथ किसी बातमें स्पर्द्धाकर उससे आगे बढ़नेकी इच्छा होना भी लोक-विदित है] ॥९८॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम्।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥ ९९ ॥

तथेति । तथाऽभिधात्रीं तां राजपुत्रीं भैमीं नैषधे नले बद्धरागां निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूयः चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्वममोचि अवादी-दित्यर्थः ॥ ९९ ॥

इसके बाद वैसा (३-७५-९८) कहनेवाली राजकुमारीको नलमें अनुरक्त निश्चित कर वह राजहंस हँसकर चञ्चुपुटकी मौनमुद्राका त्याग किया अर्थात् बोला—॥ ९९ ॥

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

इदमिति । हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं त्वदुक्तं तत्त्वं यदि सत्यं यदि तत्तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्यं न पश्यामि, किन्तु त्वां नृपं च उच्चकैरत्यन्तं तापयता पञ्चे-षुणैव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता । जनेः कर्मणि 'चिणो लुक्' ॥१००॥

हे राजकुमारी ! यदि यह सत्य है, तो इस विषयमें मैं अपना कोई कार्य नहीं देखता हूँ अर्थात् मुझे कुछ करना नहीं हैं; क्योंकि तुम्हें तथा राजा (नल) को अत्यन्त सन्तप्त करते हुए कामदेवने ही यह योजना (दोनोंका मिलन) तैयार की है। [लोकमें भी लाख, लोहा आदि धातुको सन्तप्तकर संयुक्त होते हुए देखा जाता है] ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

त्वदिति । किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः । अत एव तस्योपवासव्रतिनां त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य त्वां लब्ध्वा सन्मुखेन लब्धप्रायां निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं स्वकीयं देवभूयं देवत्वमिन्द्रियत्वं सुरत्वञ्च, 'देवः सुरे राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियमि'ति विश्वः । चरितार्थं सफलमस्तु। अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वं स्यादिति भावः । अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥

तुममें ही बुद्धि लगाये हुए उस (नल) की (बाह्य विषयोंको ग्रहण नहीं करनेसे) उपवास व्रत करनेवाली तथा तपस्याओंके द्वारा (मुझसे सुनकर; या भविष्यमें प्रत्यक्षतः) तुम्हें पाकर अमृततुल्य धृत्तिको प्राप्त करनेवाली इन्द्रियोंका अपना देवत्व सार्थक होवे। [जिस प्रकार कोई तपस्या करता हुआ भोजन नहीं करता तथा एकमात्र ब्रह्मका ध्यान करता रहता है, फिर वह उन तपस्याओंके प्रभावसे ब्रह्मको पाकर अमृतभोक्ता देवके भावको प्राप्त करता है; उसी प्रकार नल भी सदा एकमात्र तुम्हारा ही ध्यान करते हैं, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ रूपादि अपने-अपने विषयोंको ग्रहण नहीं करनेसे मानो उपवास कर रही हैं, नलकी वे बाह्येन्द्रियाँ तपस्याके प्रभावसे मेरे कहनेपर तुमको प्राप्त कर लेंगी (या—भविष्यमें प्रत्यक्ष देख लेंगी) इस प्रकार तुम्हारा दर्शन उन नेत्रादि इन्द्रियोंके लिए अमृत भोजन तुल्य होकर 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इत्यादि

श्रुतियोंके अनुसार उन इन्द्रियोंका देवत्व चरितार्थ हो। आजतक तो उक्त श्रुतिवचनके अनुसार केवल वचनमात्रसे ही नेत्रादि इन्द्रियोंको सूर्यादिदेवभाव प्राप्त था, किन्तु अब पुण्यसे तुम्हें पाकर अमृतभोजी होनेसे उनका देवत्व अर्थतः भी चरितार्थ होगा, अमृतभोजी होनेपर ही देवोंका वास्तविक देवत्व है, अन्यथा नहीं। तुम्हारी प्राप्ति नलके लिए अमृत-प्राप्तिके समान आनन्दकरी होगी ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयोर्नलस्य मम चेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सर्वग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेषः। मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा मूर्त्तिः परं निःशेषं दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः। तस्य नलस्य देहतापं विधत्ते। तस्मात्सिद्धिपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥ १०२ ॥

'हम दोनोंकी मूर्ति समान है, मेरी (कामदेवकी) मूर्ति तो जल गयी और इस (नल) की मूर्ति तो अधिक उष्ण (गर्म-सन्तप्त) भी नहीं होती' मानो ऐसी ईर्ष्या करता हुआ कामदेव तुम्हारे विरहसे इस (नल) के शरीरको सन्तप्त कर रहा है ॥ १० ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्झरैरर्पितमात्मचक्षू रागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३ ॥

अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—लिपिमित्यादि। हे भैमि! स नृपो भित्तिविभूषणं कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं चित्रमयीं त्वां दृशा आदरेणास्थया निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्झरैरश्रुभिरर्पितं त्वया नु त्वया वा रचितमात्मचक्षुषो रागमारुण्यमनुरागञ्च धत्ते। अत्रोभयकारणसम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्राभिधानात्कारणविशेषः सन्देहः ॥ १०३ ॥

(हंस नलकी दस[1] दशाओंका वर्णन करता हुआ प्रथम दशा 'चक्षुः प्रीति' का वर्णन करता है—) राजा नल दिवालकी अलङ्कार अर्थात् दिवालपर बनायी गयी तुमको आदरसे एकटक देखते हुए एकटक देखनेसे (या—अनुरागसे) बहते हुए नेत्र-प्रवाहों (आँसुओं) से किये गये मानो तुमसे रचित चक्षूराग (नेत्रोंमें उत्पन्न लालिमा) को ग्रहणकर रहे हैं। [नल भीतमें बनाये गये तुम्हारे चित्रको आदरपूर्वक एकटक देखते हैं, अतः एकटक देखनेसे (या—तुममें अनुराग होनेसे) उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहती रहती है,

---

१. रतिरहस्ये—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः।' इति।

इससे उनके नेत्र लाल-लाल हो रहे हैं अतः ऐसा ज्ञात होता है कि उनके नेत्रोंमें लालिमाको तुम्हींने उत्पन्न कर दिया है। एकटक देखनेसे या किसीमें अनुरागाधिक्य होनेसे नेत्रसे आँसू आना और उनका लाल-लाल हो जाना अनुभूत है]॥ १०३॥

पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४॥

इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति। अस्तनिमीलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयीं चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः, पिबतेस्तृन् प्रत्ययः। अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्त्वामिति द्वितीया। नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः। अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः॥ १०४॥

(उसी भावको प्रकारान्तरसे कहते हैं—) चित्रमयी तुमको आदरपूर्वक निमेषरहित दृष्टिसे पान करते (सादर देखते) हुए राजा नलकी आँसूके विषयमें नेत्रगत अनुरागका तथा निर्निमेषका 'यह मेरा है' ऐसा विवाद होता है। [नल चित्रलिखित तुमको आदरपूर्वक एकटक देखते हुए आँसू बहाते हैं, तो नेत्रगत अनुराग कहता है कि 'इस आँसूको मैंने उत्पन्न किया है' तथा निमेषाभाव (एकटक देखना) कहता है कि 'इसे मैंने उत्पन्न किया है' इस प्रकार दोनोंका झगड़ा चल रहा है। यहाँ पर 'निमेषच्छिदया' में अप्रधान अर्थमें तृतीया विभक्तिका प्रयोगकर नेत्रगत अनुरागजन्य ही आँसू है ऐसा सूचित किया गया है]॥ १०४॥

त्वं हृद्गता भैमि! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या।
न चित्त[1]माक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति॥ १०५॥

अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति। हे भैमि! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अपि विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। नासि अस्येवेत्यर्थः। यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अतएव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तन्नाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः॥ १०५॥

(अब नलकी दूसरी दशा 'चित्तासक्ति' का वर्णन करता है—) हे दमयन्ति! बहिः

---

१. 'चित्र—' इति पाठान्तरम्।

प्रदेशमें विद्यमान भी (अनुरागवश) हृदयमें स्थित तुम किस प्रकारसे इस नलके प्राण-तुल्य नहीं हो ? अर्थात् सब प्रकारसे नलके प्राणवत् प्रिया हो। (अथवा—बहिः प्रदेशमें विद्यमान भी नासिका तथा मुखकी गति (सौन्दर्य)से नलके अन्तःकरणमें स्थित हो और इसीसे प्राणप्रिया हो। 'वायु नासिका तथा मुखके मार्गसे बारह अङ्गुल बाहर निकलकर 'प्राण' कहलाती है)। उस (प्राणायित होने) में आश्चर्य है एकमात्र त्वन्मात्र-परायण (केवल तुमसे ही जीनेवाला) नलका मन जो चित्तको आक्रान्त नहीं करता इसमें आश्चर्य नहीं है। [पाठा०—त्वन्मात्र-परायण नलका मन जो चित्रको आक्रान्त नहीं करता इसमें आश्चर्य है अर्थात् विरह-पीडामें मनको चञ्चल रहना चाहिए, किन्तु वह चित्रवत् व्यापार-शून्य हो जाता है यह आश्चर्य है। त्वन्मात्रपरायण होनेसे नलका मन अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता, अतएव तुम उसके प्राणतुल्य प्रिया हो। अथवा—चित्र उक्तरूप नल-मनको जो आक्रान्त (पराधीन) नहीं करता, यह आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वह (नलका मन) त्वन्मात्रपरायण है। अथवा—उक्तरूप नल-मन चित्रको आक्रान्त नहीं करता यह आश्चर्य है; क्योंकि चित्रको सभी लोग देखते हैं, किन्तु नल-मन नहीं देखता, यह आश्चर्य है] ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥ १०६ ॥

अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति । दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिमजस्रं त्वमारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतां त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, आप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्यबादेशः, अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वाससोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि' ति लक्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ १०६ ॥

(अब तृतीया 'सङ्कल्प' दशाका वर्णन करता है—) तुम नलकी सङ्कल्परूप सीढ़ियों की श्रेणी पर बहुत दूर तक चढ़ती हो (दमयन्ती मुझे कैसे मिलेगी, उसे पाकर मैं उसके साथ इस प्रकार वार्तालाप, क्रीडा, विहार आदि करूंगा इत्यादि अनेकविध सङ्कल्प तुम्हारे विषयमें नल किया करते हैं)। वे नल जो बार-बार श्वासोंकी अधिक वृष्टि करते हैं अर्थात् अधिक श्वास लेते हैं, वह त्वन्मय (तुम्हारी चिन्तामें लीन) होकर तुम्हारे ध्यानके कारण करते हैं। [जो बहुत दूर तक सीढ़ियों पर चढ़ता है, वही अधिक श्वास लेता (हांफता) है, परन्तु यहाँ पर जो तुम नलके सङ्कल्परूप सीढ़ियों पर चढ़ती हो, अतः तुम्हें अधिक श्वास लेना चाहिये था, परन्तु नल अधिक श्वास लेते हैं, यह विपरीत बात है। परन्तु नल त्वन्मय (त्वद्रूप) होनेसे अधिक श्वास लेते हैं, यह उचित है, क्योंकि अब नलका तथा तुम्हारा कोई भेदभाव ही नहीं रह गया है] ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तृ यां त्वां रहः उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । मन्त्रयते सम्भाषते तां त्वां तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिये ! क्व यासि ? मामनुयान्तं पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशनं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिणः पुष्पायुधस्य मित्रं सखा शरच्चन्द्रः । तेन यत् सख्यं मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्यं खलु । अरिर्मित्रस्याप्यरित्वादुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः । अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ १०७ ॥

उस नलका अन्तःकरण एकान्तमें जो तुमसे मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) करता है, उसको (नलका) मुख बाहरमें प्रकट कर देता है । नल-मुखका यह कार्य तुम्हारे शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रमाके मित्रताके अनुरूप ही है । [नलने सौन्दर्याधिक्यसे कामदेवको जीत लिया है, अत एव नलका कामदेव शत्रु हुआ, उस कामदेवका मित्र चन्द्रमा है, अत एव नल-शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रमाकी समानता रखनेसे उसके साथ मित्रता करनेवाला नल-मुख नलशत्रु कामदेवको सहायता देनेके लिए जो नलके हृदयकी बातको प्रकाशित करा देता है, वह उचित ही है; क्योंकि शत्रुके मित्रके मित्रको भी शत्रुका सहायक होना ठीक ही नीति है]॥ १०७ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ति ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह-स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशीङ्स्थासामि'ति अधिकरणस्य कर्म्मत्वम् । स्थितस्य तस्य मनो मोहे सुखपारवश्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वत्तो विना 'अन्यारादितरर्ते'इत्यादिना पञ्चमी । त्वद्विरहाद्धेतोस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधाज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषलक्षणा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनाद्विचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलं प्रकृतगोचरात्तुल्ययोगितालङ्कारः । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥१०८॥

(अब क्रमागत चतुर्थी अवस्थाका वर्णन करना उचित होनेपर भी लाघवसे 'निद्रा-नाश' नामक चौथी तथा 'विषय-निवृत्ति' नामक छठो अवस्थाओंका वर्णन करता है) रात्रिमें पलंगपर सोकर स्थित उस (नल) के मनको मोहमें मग्न (मदनाक्रान्त) करती हुई जो निद्रा (सम्पूर्ण शरीरका) आलिङ्गन कर दोनों नेत्रोंका चुम्बन करती है, वह निद्रा भी इस समयमें तुम्हारे बिना कोई स्त्री नहीं है । [तुम्हारे विरहमें नल न तो सोते हैं और न किसी रानीके साथ सम्भोग करते हैं, अत एव वे निद्राहीन तथा विषयनिवृत्त हो रहे हैं]॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव[1] बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०६ ॥

अथ कार्श्यावस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नलः स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य निशात्य वृथैव लावण्यं कान्तिविशेषः, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपालः । तदेव शेषो यस्यास्तां तनुतां कार्श्यमनायि नीतः । नयतेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लुङ् 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति वचनात् । वृथात्वं व्यनक्ति-अनङ्गतां कृशाङ्गताम् 'अनुदरे' तिवदीषदर्थे नञ् समासः, आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र पूर्ववत्प्रधाने शानच् तेन स्मरेण सार्द्धं स्पर्धां न विजहाति, तथापि तं जिगीषत्येवेत्यर्थः । अङ्गकार्श्येऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याकार्श्यादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः। अत एव विशेषोक्तिरलङ्कारः, 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृतिः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

(अब पांचवी 'कृशता' अवस्थाका वर्णन करता है—) कामदेवने वाणोंसे छील—छीलकर व्यर्थमें ही सौन्दर्याविशेष (जिसकी सुन्दरता ही बच गयी है ऐसी दुर्बलताको प्राप्त कराया है, क्योंकि अनङ्गता (अतिशय कृश हो जानेसे अतिक्षीण-शरीरता, पक्षा०—मदनता) को प्राप्त भी ये नल उस कामदेवके साथ स्पर्द्धा करना नहीं छोड़ेंगे । [यद्यपि नल कामपीडासे अत्यधिक दुर्बल हो जायेंगे, तथापि सुन्दरताके वैसे ही स्थिर रहनेसे कामदेवके समान ही रहेंगे, अत एव कामदेव का उक्त प्रयत्न वृथा है] ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥११०॥

अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह-त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरतितक्ष्य शरीरमिति शेषः। अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभीरुत्वनीचत्वगर्हत्वताच्छील्यमपि क्रियानल्पोऽपि लूनः किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेनसः पापादपि न त्रस्यति, 'भीत्रार्थानां भयहेतुरि'ति अपादानत्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

(अब सातवीं 'निर्लज्जा' वस्थाका वर्णन करता है—आठ[2] प्रकारके विवाहोंमें 'राक्षस' नामक विवाहका वर्णन [3]क्षत्रियके लिए आया है, अत एव) ये नल तुमको प्राप्त

---

१. 'तथैव' इति पाठान्तरम् ।

२. मनुनोक्ता अष्टविधविवाहा यथा—
'ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥' इति (मनु० ३।२१)

३. तदुक्तं मनुना—'चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥' इति (मनु० ३।२४)

करानेवाले पाप ('राक्षस' विवाह करने) से भी नहीं डरते हैं, तथा (क्षत्रियके लिए दासता करनेका निषेध होनेपर भी) तुम्हारी दासता करनेमें भी नहीं लज्जित होते हैं; (इससे अनुमान होता है कि) कामदेवने तीक्ष्ण बाणोंसे इनके स्वल्प स्वभावको भी अधिक छील कर काट (क्षीण कर) दिया है। [पूर्व श्लोक (३।१०९) में नलके शरीर को बाणोंसे छीलकर कृश करनेकी चर्चा की गयी है, अत एव ज्ञात होता है कि बाणोंसे शरीरको छीलकर पतला करते हुए कामदेवने इनके स्वभावको भी अधिक छीलकर पतला (दुर्बल) कर दिया है, जिसके कारण पहले पापकर्मसे डरनेवाले तथा दास्यकर्मसे लज्जित होनेवाले नल इस समय उनके करनेके लिए भी तैयार हो गये हैं] ॥ ११० ॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥१११॥

स्मारमिति। घोरं दारुणं स्मारं ज्वरं कामसन्तापं चिकित्सौ प्रतिकर्त्तरि कित-निवास इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्निति निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु इष्यत' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः, 'सनाशंसभिक्ष उः', 'नलोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। सिद्धागदङ्कारचये सिद्धवैद्यसङ्घे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति मुमागमः। निदान-मौनाद्रोगनिदानानभिधानाद्धेतोरपत्रपिष्णोर्लज्जाशीलस्य'अलङ्कृञि'त्यादिना इष्णु-च्। तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा संक्रमादागता सांक्रामिकी रुजेव, 'अचि-रोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम्॥' इति उक्तक्षयादिरोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रत्ययः, अविशत् ॥ १११ ॥

भयङ्कर कामज्वरकी चिकित्सा करनेकी इच्छा करनेवाले अनुभवी वैद्य-समूहमें लज्जा-हीन उस नलकी विशाल लज्जा (रोगके कारणको ठीक नहीं समझ सकनेके कारण) निदानमें मौन धारण करनेसे मानो सङ्क्रामक रोगके समान प्रविष्ट हो गयी। [नलको भयङ्कर कामज्वर होनेपर अनुभवी बहुतसे वैद्य उनकी चिकित्सा करना चाहते थे, किन्तु रोगका निदान ठीक नहीं कर सकनेके कारण वे लज्जित हो गये अत एव ज्ञात होता है कि नलने तुम्हारे विरहमें जो लज्जा त्याग कर दिया है, वही विशाल लज्जा संक्रामकरोग (कुष्ठ, अपस्मार आदि छुतही बीमारी) के समान उन वैद्योंमें प्रविष्ट हो गयी है। रोगका ठीक निदान नहीं करनेसे वैद्य-समूहका लज्जित होकर मौन धारण करना उचित ही है। अथवा जब वे रोगका ठीक निदान नहीं कर सके, तब नलसे ही रोगका कारण पूछे और उन्होंने 'दमयन्ती-विरहजन्य यह कामज्वर है' ऐसा लज्जा छोड़कर स्पष्ट कह दिया अत एव वे लज्जित हो गये कि बिना इनके कहे हम रोग-निदान नहीं कर सके। इस प्रकार मानो नलकी लज्जा उन वैद्योंमें प्रविष्ट हो गयी] ॥ १११ ॥

तथा—'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ।' इति च (मनु० ३।२६) एतद्विषयकविशेषजिज्ञासायां मत्कृतो मनुस्मृतेः 'मणिप्रभा'नुवादो द्रष्टव्यः।

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां [1]किलोपेत्य हसत्यकाण्डे ।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति । स नलः अकस्मादकाण्डे रुष्टा कुपितासीति बिभेति, अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहेतोरकस्माद्यान्तीं गच्छन्तीं किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति । सर्वोऽप्ययमुन्मादानुभावः । उन्मादश्चित्तविभ्रमः ॥ ११२ ॥

(अब आठवीं 'उन्माद' दशाका वर्णन करता है—) वे (नल) 'तुम रुष्ट हो गयी हो' ऐसा समझकर एकाएक डर जाते हैं, मानो तुम्हारे पास जाकर (पाठा०—तुम्हें पाये हुए-से अर्थात् 'तुम्हें पा लिया है' ऐसा समझकर) एकाएक हँसते हैं । जाती हुई-सीके समान (मानो 'तुम जा रही हो' ऐसा समझकर) तुम्हारा अनुगमन करते हैं और 'तुमने कहा (नलसे बातचीत की)' ऐसा समझकर व्यर्थ प्रत्युत्तर देते हैं ॥ ११२ ॥

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः ।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥ ११३ ॥

अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति । भवत्या वियोगो भवद्वियोगः, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' । तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' । आर्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुर्यमुनाया मूर्च्छामयं मूर्च्छावस्थारूपं यद् द्वीपं तत्र यन्महान्ध्यं महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीरः स एव कुञ्जरः निःशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति खेदे । रूपकालङ्कारः । आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुनारूपणम् ॥ ११३ ॥

(अब राजहंस नवीं 'मूर्च्छा' वस्थाका वर्णन करता है—) यह राजश्रेष्ठरूप हाथी नल तुम्हारे विरहसे उत्पन्न शाश्वत पीडाप्रवाहरूपी यमुनाके मूर्च्छारूप द्वीप (टापू—चारो ओर जलसे घिरा हुआ निर्जल स्थान-विशेष) में घोर अन्धकाररूपी कीचड़ (दलदल भूमि) में शरण-रहित होकर धस रहा है, हाय ! महादुःख है । [जिस प्रकार हाथीवान्के विना पर्वताकार विशाल हाथी यमुनाके दलदलमें धसकर पीडित होता है, उसी प्रकार ये नल तुम्हारे विरहसे निरन्तर होनेवाली पीडाओंसे मूर्च्छाजन्य अन्धकारमें डूब रहा है, यह महान् दुःख है] ॥ ११३ ॥

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु ।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥ ११४ ॥

दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह-सव्येति । सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणाभ्यां व्यसनान्मोचनात् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभिरित्यर्थः । पञ्चेषुबाणैः

---

१. 'किलापेति' इति पाठान्तरम् ।

पृथगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशसु 'दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश।' इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थेत्यर्थः। तयैव कोरकेण कलिकयेति रूपकम्। नभः, पुष्प्यतु पुष्पितमस्तु। अस्य सा दशा खपुष्पकल्पाऽस्तु, कदापि मा भूदित्यर्थः। तच्च त्वत्प्राप्तिलाभादिति भावः पुष्प-विकसन इति धातोर्लोट्॥ ११४॥

(अब उक्ति विशेषसे दशमी 'मरणा' वस्थाका निषेध करते हुए वर्णन करता है—) बायें तथा दहनेके फेर-बदलसे द्विगुणित कामबाणसे उत्पन्न दश दशाओंमें जो बाकी (दशवीं) दशा (मृत्यु) है, उस कलिकासे आकाश पुष्पित हो। [जिस प्रकार आकाश-पुष्पका होना सर्वथा असम्भव है, उसी प्रकार नलकी वह दशवीं अवस्था (मृत्यु) असम्भव हो जावे। कामदेवके पाँच बाण हैं, उनको उसके बाँयें तथा दहने—दोनों ओरसे छोड़नेसे उसकी दश दशा विरहिजनोंको उत्पन्न होती है। वे दश दशाएँ ये हैं—१ नेत्र-प्रीति, २ चित्तासङ्ग, ३ सङ्कल्प, ४ अनिद्रा, ५ कृशता, ६ विषय-निवृत्ति (अरति), ७ निर्लज्जता, ८ उन्माद, ९ मूर्च्छा और १० मृत्यु[1]]॥ ११५॥

त्वयि स्मराधेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः॥ ११५॥

त्वयीति। त्वयि विषये स्मराधेः स्मरपीडादुःखाद्धेतोः सततमस्मितेन स्मितरहितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि। अथ आगत्य गुणलोभवत्याः भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूतः सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः॥ ११५॥

कामपीडासे सर्वदा हासरहित उस राजा (नल) ने तुम्हारे पास मुझे भेजा है, यहाँ आकर गुणका लोभ करनेवाली अर्थात् गुणग्राहिणी आपके प्रेमका विश्वास होनेसे मैं सफल (कृतकार्य) हो गया॥ ११५॥

धन्याऽसि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका[2] या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥११६॥

धन्येति। हे वैदर्भि! भैमि! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते। धनं लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः। 'धनगणं लब्धे'ति यत्प्रत्ययः। कुतः? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषैः प्रसादादिभिः पाशैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः। समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः। एतेन

---

१. उक्ता कामदशा रतिरहस्यकृन्मतेन, साहित्यदर्पणकृन्मते तु—
'अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः॥' इति। (सा० द० ३।२१८)

२. 'चन्द्रिकाया' इति षष्ठयन्तपदमिति 'प्रकाशः'।

वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्जाबुकमिवेत्युपमालङ्कारो युज्यते । तथाहि-चन्द्रिका या अब्धिमपि गभीरमपीति भावः । उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अभ्य-धिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः । एतेन नलस्य समु-द्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

हे दमयन्ति ! (पक्षा०—वैदर्भी रीति ध्वनित होती है), तुम धन्य हो, जिस तुमने उदार गुणों (पक्षा०—श्रेष्ठ श्लेषादि गुणों, या—उत्तम रश्मियों—जालों)से नलको भी आकृष्ट कर लिया (अथवा—तुम उदार गुणोंसे धन्य हो, जिस तुमने नलको भी आकृष्ट कर लिया), इससे अधिक प्रशंसा क्या है ? जो (चाँदनी) (अतिशय गभीर) समुद्रको भी चञ्चल करती है । पाठा०—इससे अधिक चाँदनीकी क्या प्रशंसा है ? जो समुद्रको भी······। [वैसे ही तुमने परम गभीर नलको भी अपने सौन्दर्यादि गुणोंसे आकृष्ट कर लिया, अतः धन्य हो । इससे नल समुद्रके समान गम्भीर हैं तथा दमयन्ती चाँदनीके समान सुन्दर एवं आह्लादिका है, यह सूचित होता है]॥ ११६ ॥

नलेन भायाश्शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव ।
पुनःपुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्याससमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥ ११७ ॥

फलितमाह—नलेति । शशिना निशेव त्वं नलेन भायाः । भातेराशिषि लिङ् । सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भातेः पूर्ववदाशिषि लिङ् । किं च अत्र दैवा-नुकूल्यमपि सुसाध्यमित्याह-पुनः पुनस्तयोर्निशाशशिनोर्युगं युनक्ति योजयतीति तद्युगयुक् विधाता युवां नलं त्वाञ्च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति एकशेषः । योक्तुमि-च्छतीति युयुक्षुर्युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः स्वभ्यासमभ्यासस्य समृद्धौ निरन्तराभ्यास इत्यर्थः । समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभावः । ततः परस्याः सप्तम्या वैकल्पिकत्वादम्भावः । आस्ते नु? तथाऽभ्यस्यति किमित्यर्थः । अत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्या अम्भाव इति व्याख्याने अभ्यासार्थमभ्यस्यतीत्यर्थः स्यात् तदात्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयम् । अत्र दमयन्ती-नलयोरन्योन्यशोभाजननोक्तेरन्योन्यालङ्कारः । 'परस्परक्रियाजननमन्योन्यमि'ति लक्षणात् । उपमाद्वयानुप्राणित इति सङ्करः । तन्मूला चेयं विधातुः पुनर्निशाशशि-योजनायां दमयन्तीनलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

(अब आशीर्वाद देता हुआ कहता है—) तुम चन्द्रमासे रात्रिके समान नलसे शोभित होवो, वे नल रात्रिसे चन्द्रमाके समान तुमसे शोभित होवें, बार-बार उन दोनों (रात्रि तथा चन्द्रमा) की जोड़ीको संयुक्त करनेवाले ब्रह्मा तुम दोनों (तुम्हें तथा नल) को संयुक्त करनेके लिये मानो अभ्यास करते हैं । [लोकमें भी कोई कारीगर श्रेष्ठ वस्तुकी रचना करनेके लिए बार-बार वैसी एक ही वस्तुकी रचनाकर जैसे अभ्यास करता है, वैसे ही मानो तुम दोनोंको संयुक्त करनेके लिए ही ब्रह्मा चन्द्रमा तथा रात्रिको बार-बार संयुक्तकर अभ्यास करते हैं, अन्यथा अनेक बार चन्द्रमा तथा रात्रिको संयुक्त करना व्यर्थ हो जाता]॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ? परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

स्तनद्वय इति । हे तन्वि ! किञ्च नैषधस्य नलस्य अनल्पेन महता वैदग्ध्येन नैपुण्येन विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिं सम्पूर्णतां प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथौ पृथुनि भाषितपुंस्कत्वाद्विकल्पेन पुंवद्भावः । तवैव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति, नान्यस्या इत्यर्थः । अन्यस्या अयोग्यत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

नलकी अत्यधिक चातुर्यसे बढ़नेवाली पत्रावलि-श्रेणियोंकी रचना यदि समाप्त हो सकती है, तो केवल तुम्हारे विशाल दोनों स्तनोंपर ही हो सकती है । [नल स्त्री-स्तनों पर पत्रावलिश्रेणिको बनानेमें इतने चतुर हैं कि अन्य स्त्रियोंके छोटे-छोटे स्तनोंपर उनकी पत्रावलिरचना समाप्त ही नहीं होती, किन्तु तुम्हारे स्तन बड़े-बड़े हैं, अतः मैं सम्भावना करता हूं कि इन दोनों स्तनोंपर नलकी पत्रावलि-रचना की निपुणता पूरी हो जायेगी] ॥ ११८ ॥

एकस्सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य ।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

एक इति । एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तत्तस्मान्नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीयः सन् त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु । 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनादि'त्यमरः । आसिच्यते अनेनेत्यासेचनकं, करणे ल्युट्, स्वार्थे कः ॥ ११९ ॥

एक चन्द्रमा तुम्हारे (चकोरतुल्य) दो नेत्रोंकी तृप्ति करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, इस कारण नलके मुखरूप चन्द्रमासे सहायक युक्त चन्द्रमा तुम्हारे दो नेत्रोंकी पूर्ण तृप्ति करने वाला होवे । [तुम्हारे नेत्र चकोर-नेत्रके समान हैं, चकोरनेत्र चन्द्रमाका पान करते हैं । और एक चन्द्रमा तुम्हारे दो नेत्रोंको कदापि सन्तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, अतः नलके मुखरूप चन्द्रमासे मिलकर दो चन्द्रमा होने पर तुम्हारे दो नेत्र पूर्णतः सन्तुष्ट हो सकते हैं । तुम्हारे नेत्र चकोरनेत्रतुल्य और नलमुख चन्द्रतुल्य है, अत एव चकोर चन्द्रमाको देखकर जिस प्रकार अधिक सन्तुष्ट होता है, वैसे ही तुम नलके मुखचन्द्रको देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होवोगी] ॥ ११९ ॥

(युग्मम्)

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः ।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते ।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥ १२१ ॥

अथ द्वाभ्यां नलतपःसाफल्यमाह–अहो इत्यादिना । नलस्यायं नलीयः, 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां वृद्धाच्छः । अत एव कल्पतरुः अभिनवः प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थः । अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह–त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः कररुहाग्रैर्नित्यं स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य सः अङ्कुरवानित्यर्थः, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नपत्रद्वयं खलु, तवाधरो यत्कलम्बो यस्य नालिका किसलयकाण्ड इत्यर्थः, 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदञ्चे'ति कर्मकर्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराभ्यां पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, यस्तव स्मितेन कोरकितः सञ्जातकोरकः सन् आस्ते, यस्तवाङ्गानां म्रदिम्ना मार्दवेन पुष्पितः सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलितः सञ्जातफलः । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दमयन्तीनखादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपणात्सावयवरूपकं तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवानां नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याश्रितमिति सङ्करः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'ति लक्षणात् ॥ १२०–१२१ ॥

नल–सम्बन्धी तपोरूप कल्पवृक्ष आश्चर्यकारक है, जिसका अङ्कुर तुम्हारे हाथका नखाग्र है, उसके बाद होनेवाले दो पत्ते तुम्हारे दोनों भ्रू हैं, जिसका डण्ठल तुम्हारा लाल ओष्ठ है, जो तुम्हारे दोनों हाथोंसे पल्लवित हुआ है अर्थात् जिसके पल्लवद्वय तुम्हारे हाथ हैं, जो तुम्हारे स्मितसे कोरकित हुआ है अर्थात् तुम्हारा स्मित जिसका कोरक (पुष्पकलिका) है, जो तुम्हारे शरीरकी कोमलतासे पुष्पित हुआ है अर्थात् जिसका फूल तुम्हारे शरीरकी कोमलता है, और तुम्हारे स्तनोंकी शोभासे ही फलित (फलयुक्त) हुआ है अर्थात् तुम्हारे स्तन ही जिसके फल हैं । [वृक्षमें क्रमशः अङ्कुर, दो पत्ते, उनके बीचमें डण्ठल, पल्लव, पुष्पकोरक, पुष्प और फल लगते हैं; ये सब तुम्हारे ही शरीरमें विद्यमान हैं, अत एव नलने कल्पतरु तुल्य तुमको तपस्यासे प्राप्त किया है] ॥ १२०–१२१ ॥

[1]कंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण ।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥ १२२ ॥

किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयोः समागमः श्लाघ्य इत्याशयेनाह–कंसीति । स्मरेण कर्त्रा वां युवयोर्मिथोऽनुरागस्य अन्योन्यरागस्य, यस्तव तस्मिन्, यश्च तस्य त्वयि, तयोरनुरागयोरित्यर्थः । समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थः । संसक्तः संयोजितः रश्मीनामंशूनां सूत्राणाञ्च प्रकरः समूहो यस्यां सा 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । इन्दोर्मण्डली बिम्बं कंसीकृता आसीत् । 'कंसोऽस्त्री लोहभाजनमि'ति शाब्दिकमण्डने । मण्डले निजा नाराचलता बाणवल्ली सैव तुला तुलादण्डीकृतेति

१. कंसी–इति पाठान्तरम् ।

शेषः । तत्रेन्दुमण्डलादौ कंसादिरूपणादेव स्मरस्य कार्यकारणरूपसिद्धेरेकदेशविवर्ति-रूपकम् ॥ १२२ ॥

कामदेवने तुम दोनोंके पारस्परिक अनुरागको बराबर करने (तौलने) में किरण-समूहसे युक्त (पक्षा०—रस्सियोंसे बंधे हुए) चन्द्रमण्डलको कांसेका पलड़ा और अपने बाणको तराजू (की डण्डी) बनाया था । [कामदेवने किरणयुक्त गोल चन्द्रमण्डलको रस्सीसे बंधा हुआ कांसेका पलड़ा तथा अपने बाणको तराजूका डण्डी बनाकर तुम्हारा तथा नलके परस्परानुरागको तौलकर बराबर किया है, यही कारण है कि नलमें तुम्हारा जितना अधिक अनुराग है, उतना ही अधिक अनुराग तुममें भी नलका है] ॥ १२२ ॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥१२३॥

सत्त्वेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण स्रुतो यः स्वेदः सात्त्विकविकारविशेषः तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्नाः संक्रान्ताः । अतएव उत्थिताः त्वत्कुचतटाद्विश्लिष्टाः । मधूच्छिष्टे निकषस्थकनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमासः । तन्निर्गताः । तत्पाणिपद्मोत्पन्नाः त्वत्कुचपत्ररेखाः भूयः तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनमि'त्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

कामोत्सवोंमें सात्त्विक भावसे उत्पन्न पसीना रूपी मोमसे सान्द्र, नलके हस्तकमलमें पहले लगकर (संसक्त होकर) उठी हुई तुम्हारे स्तनोंपर बनायी गयी पत्त्रावलियां नलके हाथसे निर्गत (नलके हाथसे बनी हुई) होनेसे फिर उसीमें प्रविष्ट हो जांय । [नल अपने हस्तकमलसे तुम्हारे स्तनद्वयपर पत्रावलियोंकी रचनाकर रति करनेके समय उन स्तनोंका स्पर्श करेंगे तो सात्त्विक भावसे उत्पन्न पसीनेसे वे पत्रावलियां उनके हाथमें उस प्रकार अङ्कित हो जायेंगी, जिस प्रकार मोमके बने ठप्पेपर कोई चित्रादि अङ्कित हो जाता है, इस प्रकार नलके हाथसे ही बनायी गयी कार्यरूपिणी पत्रावलियां पुनः कारण रूप नलके हाथमें लीन हो जावें । कारणमें कार्यका लय होना उचित ही है । तुम्हारे स्तनद्वयपर अपने हाथसे बनायी गयी पत्रावलियोंको रतिकालमें नल सात्त्विकभावसे स्वेदयुक्त हाथसे पोंछे] ॥ १२३ ॥

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

बन्धेति । किं च हे भैमि ! बन्धैरुत्तानादिकरणैः कामतन्त्रप्रसिद्धैराढ्यं समग्रं नानारतमुत्तानकादिविविधसुरतं तदेव मल्लयुद्धं तेन प्रमोदितैः सन्तोषितैः केलिवने मरुद्भिः वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पुनरुक्तं सान्द्रं यथा तथा मुक्तां

प्रसूनवृष्टिं युवतिश्च युवा च युवानौ, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः। युवां प्रतीच्छतं स्वीकुरुतम् । युद्धविक्रान्ता हि देवैः पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यन्त इति भावः ॥ १२४ ॥

हे दमयन्ति ! युवक तथा युवती तुम दोनों क्रीडावनमें (रतिकालमें किये गये) अनेक प्रकारके आसनोंसे अनेकविध सुरतरूप मल्लयुद्धसे अतिशय हर्षित वायुओं (पक्षा०—मल्लयुद्धसे हृष्ट देवों) से वारवार की गई पुष्पवृष्टिको ग्रहण करो। [क्रीडोद्यानमें रति करते हुए तुम दोनों पद्मबन्ध आदि आसनोंको करते हुए अनेक प्रकारकी रति करोगे, जो मल्लयुद्ध-सा होगा, उस समय हृष्ट देवगण वार-वार पुष्पवृष्टि करेंगे, अथ च-तुम्हारे मस्तकसे पुष्प गिरेंगे, या-वायुसे कम्पित वृक्षोंसे पुष्प गिरेंगे, उन्हें तुमलोग ग्रहण करोगे। दो शूरवीरोंके युद्धसे हर्षित देवलोग पुष्पवृष्टि करते हैं तथा उन पुष्पोंको वे शूरवीर ग्रहण करते हैं] ॥ १२४ ॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे ।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव व्यणुकक्रत्परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

अन्योन्येति । किं च, अधुना अन्योन्यसङ्गमवशाद्विकसद्विलासे वर्धमानोल्लासे तस्यापि तेऽपि नलस्य तव च मनसी मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः स्रष्टुमारब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्व्यणुकं तत्करोतीति तत्कृत् तदारम्भकं, करोतेः क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विभातां कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट्, 'तस्थे'ति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

इस समय परस्परके समागम होनेसे बढ़ते हुए विलासवाले उस (नल) का भी तथा तुम्हारा भी (एक-एक परमाणु मिलनेसे दो परमाणु मात्रावाले) मन फिर कामदेवके शरीरकी रचना करनेके लिए तत्पर पहले द्व्यणुकको बनानेवाले परमाणुद्वयके समान शोभित होवें । [मनकी मात्रा एक परमाणुके बराबर है । किसी शरीरादिकी रचना करनेके लिए सर्वप्रथम दो परमाणुओंको मिलाकर द्व्यणुक बनाया जाता है, इसी क्रमसे बढ़ाते-बढ़ाते इष्ट रचनाको पूरा किया जाता है । तुम्हारा तथा नलका इतना गाढ़ अनुराग है कि परमाणुरूप तुम दोनोंका मन एक होकर द्व्यणुकरूप हो जायेगा, और इस क्रमसे कामदेवके शरीरकी रचना पुनः हो जानेसे सम्भव है वह शरीर हो जायेगा] ॥ १२५ ॥

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

काम इति । असौ यो नलजिगीषुरिति भावः । कामः कौसुमेन चापेन दुर्जयं जितेन्द्रियत्वादिति भावः । अमुं नृपं नलं जेतुमव्रणवंशजां सत्कुलप्रसूतां दृढवेणु-

जन्याञ्च, 'द्वौ वंशौ कुलमस्कराविति' अमरः। अधिगुणामधिकलावण्यादिगुणामधिज्याञ्च निवसदनुवर्तमानं सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थायां नालान्तराले चिपिस्य सौन्दर्यं शोभा यस्यां तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरसंक्रान्तिपरीक्षार्थं कृतघर्षणरेखयेवेत्युत्प्रेक्षा। पृष्ठे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चिद्यथा तथा लम्बया स्रस्तया ग्रीवालङ्कृतिः ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णुं, ताच्छील्ये 'भुवश्चे'ति चकारादिष्णुच्। भ्राजमानां त्वामेव धनुर्वल्लीं चापलतामासाद्य माद्यति हृष्यति। श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः॥ १२६॥

कामदेव पुष्पोंके बाणोंसे दुर्जय (दुःखसे जीते जाने योग्य) इस राजा (नल) को जीतनेके लिए दोषरहित वंशमें उत्पन्न (पक्षा०—छिद्ररहित बांससे बनी हुई) तथा अधिक गुणवाली (पक्षा०—डोरी चढ़ी हुई) तुमको धनुर्लता पाकर हर्षित हो रहा है, जो धनुर्लता (तुम्हारी) पीठपर कुछ लटकती हुई कण्ठभूषणके लाल पट्टसूत्रलतासे सिन्दूरकी शोभावाली अर्थात् बांसकी परीक्षाके लिए सिन्दूर रगड़नेसे उत्पन्न लाल रेखासे युक्तके समान शोभती है। [सिन्दूर लगाकर बांसकी परीक्षा करनेके लिए धनुषको पीछे रगड़ते हैं, यदि लाल सिन्दूर की रेखा धनुषके पीछे स्थित हो तो वह बांस धनुषके लिये उत्तम होता है प्रकृतमें तुमने कण्ठभूषण पहना है, जिसकी लाल कपड़ेकी पट्टी कण्ठके पीछेसे होकर पीठपर थोड़ा लटक रही है, यही पट्टी धनुषके पीछेवाली पूर्वोक्त सिन्दूर रेखा है, जिससे परीक्षित बांसवाला धनुष शोभता है (और पक्षा०—जिसके थोड़ा पीठपर लटकनेवाली कण्ठभूषणकी लाल पट्टीसे तुम शोभती हो) ऐसी श्रेष्ठ वंशोत्पन्न गुणवती तुमको ही छिद्ररहित बांससे बनी, तथा डोरी चढ़ी हुई धनुर्लतासी पाकर कामदेव प्रसन्न हो रहा है कि पुष्प-धनुषसे दुर्जय नलको अब मैं सरलतासे जीत लूंगा]॥ १२६॥

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्तं राजहंसं विभो-
वेंध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्यासुंज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते॥ १२७॥

त्वदिति। विभोर्मनोभुवः कामस्य पत्त्रिवेद्धुरिति शेषः। तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामनः। गुटिकाः गुलिकाः विद्धि जानीहि। तं राजहंसं राजश्रेष्ठं तमेव राजहंसं कलहंसं श्लिष्टरूपकम्। 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो'रिति विश्वः। वेधितुं प्रहर्तुमर्हं वेध्यं लक्ष्यं, विध-विधाने 'ऋहलोर्ण्यत्' अनेकार्था धातवः एवमाह—वेधितच्छिद्रितावित्यत्र स्वामी। अन्ये त्वाहुः-स्वप्नेऽपि विधानार्थ एव प्रयोगाच्च विध-वेधन इत्येवाकरस्थः पाठः, पाठान्तरं तु प्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि। स्वमात्मानमपि 'स्वो ज्ञातावा-

१. '—भज्यमानम्' इति पाठान्तरम्।

त्मनि स्वमि'त्यमरः। तां वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जुं मञ्जुलां धनुर्मञ्जरीं चापवल्लरीं विद्धि, यस्याः नित्यमङ्कनिवासेन समीपस्थित्या लालिततमया अत्यादृतया ज्यया मौर्व्या भुज्यमानमनुभूयमानमखिलं विलासं शोभां ज्यारूपतामित्यर्थः। लसंस्तास्येव मध्यः बिलङ्गुलिकास्थानं यस्याः सा रोमालिस्त्वद्रोमराजिरालम्बते भजति। अत्र मौक्तिकादौ गुटिकाद्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेद्धृत्वरूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेशविवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः ॥ १२७ ॥

हे दमयन्ति ! तुम समर्थ कामदेवके, तुम्हारे बत्तीस लड़ीवाले हार[1]-विशेषके मोतियोंको (मिट्टीकी बनी हुई) गोलियाँ समझो, उस राजश्रेष्ठ (नल, पक्षा०—राजहंस पक्षी) को वेध्य (मारने योग्य शिकार) समझो तथा अपनेको मनोहर वह धनुर्लता समझो जो शोभमान नाभिरूप बिल (गोलियोंको फेंकनेके लिए धनुषमें बना हुआ छिद्र) वाली रोमपङ्क्ति जिस (धनुर्लता) के मध्यमें सर्वदा रहनेसे अतिशय लालित (नचायी गयी) डोरीसे सेवित (अनुभूत) होते हुए सम्पूर्ण विलासको प्राप्त करती है। [मिट्टीकी गोली फेंकनेवाले धनुषमें छिद्र रहता है, इसीसे गोलियोंको फेंककर लक्ष्यवेध किया जाता है। यहाँपर समर्थ कामदेव धनुर्धर, तुम्हारे हारके मोती गोली, राजश्रेष्ठ नल लक्ष्य, तुम धनुर्लता, रोमश्रेणि धनुषकी डोरी, नाभि गोली रखनेके स्थानका धनुश्छिद्र है; ऐसा समझो। इस प्रकार कामदेव नलको सरलतासे जीत लेगा अर्थात् तुम्हें लक्ष्य कर शीघ्र नल कामपीडित हो जायेंगे]॥ १२७ ॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे ।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥ १२८ ॥

पुष्पेषुरिति। यः पुष्पेषुः कामो यज्जितो येन नलेन सौन्दर्यात्पराभूतः अतएव निर्विद्य ईर्ष्यया जीवनवैयर्थ्यं मत्वेत्यर्थः। 'तत्त्वज्ञानोदितेर्ष्यादेर्निर्वेदो निष्फलत्वधी' रिति लक्षणात्। ते तव चिकुरेषु केशेषु स्वं स्वकीयं शरचयं त्वद्धृतकुसुमव्याजादिति भावः। भालमूले ललाटभागे धनुः भ्रूव्याजादिति भावः। तथा रौद्रे रुद्रसम्बन्धिनि चक्षुष्येव अनुभ्राष्ट्रमम्बरीषे, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना' इत्यमरः। तनुं शरीरं च चिक्षिपे क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धतनुव्याजा-

१. तदुक्तममरसिंहेन—'हारभेदा यष्टिभेदाद् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तनाः।
अर्द्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका ॥' इति।
(अमर २।६।१०५-१०६)

एषां यष्टिसङ्ख्याज्ञानार्थं मत्कृतममरकोषस्य 'मणिप्रभा'ख्यमनुवादम्, 'अमरकौमुद्या'ख्यां टिप्पणीञ्च विलोकयन्तु जिज्ञासव इति।

दिति भावः। त्वयि तत्रासङ्गे स पुष्पेषुर्वितनुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविजयार्थन्त्वामेवाश्रमं तपोवनमाश्रयत् आश्रितवान् तपश्चर्य्यार्थमिति शेषः। अन्यथा कथं तं जेष्यतीति भावः। अतएव त्वदुरोज एव शैलो निलयो यस्याः सा तन्निष्ठेत्यर्थः। पत्रालिः पत्ररचना पर्णचयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवाचरति ट उपमानात् कर्त्तुः क्यङ्। अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तदभेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वस्याश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ १२८॥

उस (नल) से (सौन्दर्यमें) हारे हुए जिस कामदेवने खेदसे विरक्त होकर तुम्हारे केशोंमें बाणसमूहको फेंक दिया, तुम्हारे ललाटमूलमें धनुषको फेंक दिया तथा शिवजीके (पक्षा०—दारुण = भयङ्कर) नेत्ररूप भाड़में अपने शरीरको फेंक दिया; वह कामदेव इस समय उस नलको जीतनेके लिए नितनु (विशेष दुर्बल, पक्षा०—शरीरहीन) होकर तुम्हारा आश्रय किया है और तुम्हारे स्तनरूप पर्वतपर वर्तमान पत्रालि (पत्तोंका समूह, पक्षा०—चन्दनादिरचित पत्रावलि) उस (कामदेव) की पर्णशालाके समान हो रही है। [जिस प्रकार किसी प्रबलसे पराजित दुर्बल व्यक्ति दुःखसे खिन्न होकर अपने बाण, धनुष तथा अपने शरीरतकको फेंक देता है और उस प्रबलको जीतनेके लिए किसीका आश्रयकर पर्वतपर पत्तोंकी कुटिया बनाकर तपस्या करता है; वैसे ही कार्य नलको जीतने के लिए कामदेवने किये हैं। तुम्हारे केशसमूहमें लगे हुए पुष्प कामदेवके बाण-समूह हैं, तुम्हारा भ्रू कामदेवका धनुष है, शिवजीका नेत्र भयङ्कर (शीघ्र जलानेवाला) भाड़ है, तुम्हारे विशाल स्तन पर्वत हैं तथा उनपर चन्दनादिसे बनायी गयी पत्रावलि पत्तोंकी झोपड़ी है। अब तक तो नलने कामदेवको जीत लिया था, किन्तु अब कामदेव तुम्हारे सहारेसे नलको जीतेगा अर्थात् तुम्हें पाकर नल कामके वशीभूत होंगे]॥ १२८॥

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः।
शर्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम्॥

इतीति। तत्र तस्मिन् पतत्रिणि हंसे भैमीमिति इत्थमालपति भाषमाणे सति अथास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुसन्धिरन्वेषणम्, 'उपसर्गे घोः किरि'ति किः। तत्पराः सख्यः परीयुः परिवव्रुः, इणो लिट्। हंसोऽपि 'ते तव शर्मास्तु सुखमस्तु, मां विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम॥ १२९॥

इसके बाद उस हंसके दमयन्तीसे ऐसा (३।१००-१२८) कहते रहनेपर उसे (दमयन्ती को) खोजनेमें तत्पर सखियोंने दमयन्तीको चारो तरफसे घेर लिया। वह हंस भी 'तुम्हारा कल्याण हो, मुझे छोड़ो अर्थात् विदा करो' ऐसा कहकर वेगसे नलकी राजधानी को चला॥ १२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रय-
त्प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मनः कामस्य शरप्रसूनानां शरभूतपुष्पाणां मधुभिस्तद्रसैः क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रे' इत्यमरः । व्यामिश्रतामाश्रयत् तथा मिश्रं सदित्यर्थः । असीमं निःसीमम् अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । मृष्टं शुद्धम् । अन्यत्रामलं तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च, खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः । प्रेयसो नलस्य दूतः सन्देशहरो यः पतङ्गः पुङ्गवः इव पतङ्गपुङ्गवो हंसश्रेष्ठः पुमान् गौः पुङ्गवः । 'गोरतद्धितलुकी'ति टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । सैव हैयङ्गवीनं ह्योगोदोहोद्भवं घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायामि'ति निपातः । तद्गवी तद्धेनुः तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वादं स्वादं पुनः पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्ययः । पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम् 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत' इति उपसंख्यानात् द्विरुक्तिः । तृप्तिं प्राप्तापि अपिर्विरोधे अन्तः नितान्तं तापं न प्राप अतुलां मूर्च्छामपि नानर्च्छ न प्राप, 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः । 'अत आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्रघृतस्य विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोधः । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्करः । 'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति वाग्भटः ॥ १३१ ॥

कामवाणरूप पुष्पके मधु (पराग, पक्षा०—शहद) से मिश्रित तथा इष्ट एवं सुगन्धयुक्त प्रियतम (नल) के दूत पक्षिश्रेष्ठ (राजहंस) की वाणीरूपी (पक्षा०—······की गायके) मक्खन (नेनू घी) को अपरिमित वार-वार स्वाद लेकर (खाकर, पक्षा०—हंसके वचन को आदरपूर्वक सुनकर) भी वह दमयन्ती तृप्त हो गयी और अन्तः अधिक सन्तापको नहीं पाया, तथा अपरिमित मूर्च्छाको भी नहीं पाया (अथवा—·········वह दमयन्ती तृप्त नहीं हुई; उसका अन्तःकरण अधिक सन्तापको पाया तथा अपरिमित मूर्च्छाको पाया) [घी तथा मधु समान मात्रामें मिलाकर अधिक खानेसे भी तृप्ति नहीं होती और भी खानेकी इच्छा बनी रहती है, परन्तु उसे खानेसे अन्तःकरणमें दाह होता है तथा मूर्च्छा भी आती है; वे सब दमयन्तीको नहीं हुए यह आश्चर्य है । अथवा—द्वितीय अर्थके पक्षमें हंसके वचनको दमयन्ती और भी सुनना चाहती थी, अत एव उसकी तृप्ति नहीं हुई तथा उसके चले जानेसे दमयन्तीके अन्तःकरणमें सन्ताप भी हुआ तथा वह मोहयुक्त भी हुई यह उचित ही है । 'असीमम् + इष्टसुरभिं' पदच्छेदका अर्थ ऊपर लिखा गया है, 'असीममृष्टसुरभि' समस्त एक पद को 'हैयङ्गवीनम्' का विशेषण मानकर 'अपरिमित

मधुर तथा सुगन्धियुक्त' उक्तरूप घीको बार-बार खाकर भी ...... ऐसा अर्थ भी हो सकता है]॥ १३० ॥

तस्या दृशो[1] वियति[2] बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥१३१॥

तस्या इति। वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशो भैमीदृष्टेः तद्बाष्पवारि बन्धुजनविप्रयोगजन्यं तद्दृग्जलं न चिरादचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'ति शास्त्रात्तद्दृक् सीमाभूदित्यर्थः। ततः तस्माद् बाष्पोपगमादेव हेतोरनेन हंसेन दृष्टेः पार्श्वे समीपे विप्रचकृषे विप्रकृष्टेनाभावि। बाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालभ्यतेत्यर्थः। चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन, नाभावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थः। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्वं दूरस्थस्य सन्निकृष्टत्वं चेति विरोधाभासः॥ १३१ ॥

नेत्रजल (प्रियदूत हंसके विरहसे उत्पन्न आँसू) जो आकाशमें जाते हुए बन्धु (रूप राजहंस) का अनुगमन करती हुई उस (दमयन्ती) की दृष्टिके शीघ्र ही अवधि हो गया, अत एव समीप होनेपर भी इस हंससे वह दूर हो गयी, किन्तु दूर चले जानेपर भी वह हंस दमयन्तीकी चित्तवृत्तिसे दूर नहीं हुआ। [बाहर जाते हुए बन्धुका तडाग, वाटिका, नगरसीमा आदि तक अनुगमन करनेका नियम है, अतः जब प्रियावेदक होनेसे बान्धवरूप हंस नलकी राजधानीको जाने लगा तब शीघ्र ही दमयन्तीके नेत्र उसके विरह-दुःखसे अश्रुयुक्त हो गये, अत एव नेत्राश्रु ही हंसका अनुगमन करनेवाले दमयन्ती-नेत्रको आगे बढ़नेसे रोकनेके लिए जलाशयरूप गमनावधि हो गये, इसी कारण हंसके थोड़ी दूर ही जानेपर भी वे (नेत्र) उससे दूर हो गये; किन्तु दमयन्तीने उस हंसको अन्तःकरणमें रख लिया था, अत एव हंस बहुत दूर तक जानेपर भी उसके अन्तःकरणसे दूर नहीं हुआ, उसके अन्तःकरणमें ही रहा। पाठा०—नृपति (राजा नल) के बन्धु—राजहंसका अनुगमन......अर्थ करना चाहिये]॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किन्तु मुग्धे ?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥१३२॥

अस्तित्वमिति। अथ एकः अनयोरेकतरो हंसः पक्षयोः कम्पभेदैश्चेष्टाविशेषैः कार्यसिद्धेरस्तित्वं सत्ताम् 'अस्तीत्यव्ययं विद्यमानपर्यायस्तस्मात्त्वप्रत्ययः। स्फुटं

---

१. 'दृशाऽधिपतिबन्धु—' इति पाठान्तरम्। २. 'नृपतिबन्धु—' इति पाठान्तरम्।

कथयन् वृत्तं निष्पन्नमेतत्सर्वं निषधनरपतौ नले विषये आख्यातुं तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे। अन्यां दमयन्तीं वयसा तुल्या वयस्याः सख्यः 'नौवय' इति यत्प्रत्ययः। हे प्रियसखि! मुग्धे! कान्तारे विषमे निर्गतासि सङ्कटं प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु? मा रोदीः, एहि, याम गच्छाम, इत्युपहृतवचसो दत्तवचनाः सख्यः एनां निन्युः॥ १३२॥

(उड़ते समय) दोनों पङ्खोंको कँपानेसे कार्यसिद्धिके अस्तित्वको स्पष्ट कहता (सूचित करता) हुआ उनमेंसे एक (हंस) सब वृत्तान्तको निषधेश्वर (नल) से कहनेके लिए (निषध देशको) गया तथा दूसरी (दमयन्ती) को 'हे प्रिय सखि! दुर्गम मार्गमें आ पड़ी हो। हे मुग्धे (भोली या सुन्दरी!) क्या तुम रास्ता भूल गई हो, मत रोओ, आओ चलें इस प्रकार कहती हुई उसकी सखियाँ इसे (राजमहलमें) ले गयीं॥ १३२॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम्।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः॥ १३३॥

सरसीति। हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरभाजस्तटरुहस्य ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी तत्सदृशी। पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलतल्पं पल्लवपत्रशयनं ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप॥ १३३॥

उस (हंस) ने जिस तडागपर नलको (दमयन्तीके पास जानेसे पहले) देखा था, उसीके किनारे पर स्थित जलते हुए कामबाणोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले पुष्पोंकी अधिकता से युक्त शिखर (अग्रभाग) वाले (जिसके ऊपर फूले हुए पुष्प जलते हुए कामबाणके तुल्य प्रतीत हो रहे हैं, ऐसे) अशोक वृक्षके नीचे, काम (जन्य पीडा) से चञ्चल (छटपटाते हुए) तथा नव पल्लवोंकी शय्याको (काम-सन्तापसे) मलिन करते हुए उस (नल) को पाया। [दमयन्तीके पास जानेके पहले हंसने जिस तडागपर नलको देखा था, उसीके तीरपर स्थित पुष्पित अशोक वृक्षके नोचे कामपीडासे छटपटाते हुए तथा नवपल्लवोंकी शय्याको तापसे मलिन करते हुए नलको दमयन्तीके यहाँसे लौटकर भी पाया। यद्यपि नल हंसको दमयन्तीके पास भेजकर वहाँसे उद्यानगृहमें चले गये थे (२।९३) तथापि वहाँसे लौटे हुए हंससे मिलनेके लिए उसी तडाग पर पुनः आ गये थे]॥ १३३॥

परवति! दमयन्ति! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस!।

इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

परवतीति । परवति ! पराधीने दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु हे हंस ! द्रुतं शीघ्रमुपनम आगच्छ, सा दमयन्ती मां किमाह, शंस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति सति । असौ हंसः उपनम्रः पुरोगतः सन् कार्यज्ञः तत् वृत्तं शशंस कथयामास । तथाहि–सुकृतां साधुकारिणां 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञ' इति क्विप् । प्रियमनु इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहायाः स्वेच्छाया एव विलम्बः । न त्विच्छानन्तरं तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

हे परवश दमयन्ति ! मैं तुम्हें कुछ नहीं कहता (अपने पिता आदिके अधीनस्थ होनेसे तुम्हें कोई उपालम्भ नहीं देता), 'हे हंस ! शीघ्र आवो तथा उस (दमयन्ती) ने मुझसे क्या कहा, कहो' ऐसा नलके कहते रहनेपर समीपमें आये हुए उस हंसने उस वृत्तको कहा; क्योंकि पुण्यात्माओंको अभीष्टके लिए केवल अपनी इच्छाका विलम्ब होता है । [पुण्यात्माओंको इच्छा करते ही अभीष्ट प्राप्ति हो जाती है] ॥ १३४ ॥

कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः[1]
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

कथितमिति । स नरेन्द्रः नलः कथितमपि प्रियायाः दमयन्त्याः भाषितं वचनं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेलः अतिमात्रो यः आनन्दः स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तेन मत्तः सन् अधिगतं सम्यक् गृहीतं तदुक्तं स्वयमपि शतकृत्वः शतवारं 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' । तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे अनूदितवान् । मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः ॥ १३५ ॥

राजा (नल) ने 'क्या कहा, क्या कहा ?' ऐसा पूछते हुए, कहे हुए भी प्रिया (दमयन्ती) के समाचारको हंससे बार-बार कहलवाया । तथा मर्यादातीत आनन्दरूप दाखकी बनी मदिरासे मत्त होते हुए के समान सुने हुए भी उसे (दमयन्ती-समाचारको) सैकड़ों वार वैसे ही अनुवाद किया (फिर-फिर कहा) ॥ १३५ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।

---

१. '—माध्वीक—' इति पाठान्तरम् ।

तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ।।१३६।।

श्रीहर्षमित्यादि । तृतीय एव तार्तीयीकः । 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्यः' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां 'नैषध' टीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

कविराज.........उत्पन्न किया, उसके मनोहर रचनारूप 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्यमें तृतीय सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या प्रथम सर्ग के समान जाननी चाहिये ॥ १३६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः ।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

अथ राज्ञः स्वयंवरं प्रत्युपोद्घातत्वेनास्मिन्सर्गे भैम्या मदनावस्थां वर्णयितुमारभते-अथेत्यादि। अथ भैम्याः प्रियसन्देशश्रवणानन्तरं, आत्मभूः कामः, नलस्य गुणः आत्मोत्कर्षहेतुशौर्यसौन्दर्यादिको धर्मः, तमेव गुणं मौर्वीं, विधाय। सुरभि सुगन्धि, मनोज्ञञ्च। 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः। तस्य नलस्य, यद्यशः, तदेव कुसुमं धनुर्विधाय। तथा सुमनस्तया सुमनस्कत्वेन पुष्पत्वेन च, श्रुतिपथोपगतं कर्णपथं गतं, पुनः पुनः भैम्या श्रुतमित्यर्थः। आकर्णमाकृष्टञ्च, तं नलमेव, इषुं विधाय। तां भैमीं जिगाय। तदेकासक्तचित्तां चकारेत्यर्थः। 'सन्लिटोर्जेः' इति कुत्वम्। रूपकालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

शारदाके चरण-कमलोंमें विनत प्रणिपातकर ।
राष्ट्रभाषामें लिखूं नैषधचरित अनुवाद वर ॥
पूज्य विबुधोंका सदा ही यह मनोरञ्जक बने ।
सरलतासे छात्रगणका भी यही बोधक बने ॥

कामदेवने कान तक पहुंचे (पक्षान्तर में—खैंचे) हुए, नलके गुणको धनुष की डोरी, विख्यात (पक्षान्तरमें—सुगन्धित) यशोरूपी फूलको धनुष और मनस्विता (पक्षान्तरमें—पुष्पता) होनेसे नलको बाण बनाकर उसे (दमयन्तीको) शीघ्र ही जीत लिया। [धनुर्धारी योद्धा भी कानतक प्रत्यञ्चाको खींचकर बाणप्रहारद्वारा अपने प्रतिपक्षीको जीत लेता है। नलको बाण बनाकर कामदेवने दमयन्तीके हृदयमें प्रहार किया, वह नलरूप बाण दमयन्तीके हृदयमें पहुंचकर बहुत पीडा देने लगा अर्थात् दमयन्ती नलके गुणोंको सुनकर अत्यन्त कामपीडित हो गयी] ॥ १ ॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ॥ २ ॥

यदिति। सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिकज्वरञ्च, भजतीति तद्भाक् सती। भजो ण्विः। प्रियकथैव सरसी सरः तस्यां रसो रागः, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्तिमवगाहञ्च, तनुते स्म चकारेति यत्। 'लट् स्मे' इति भूते लट्। तस्य मज्जनस्य, सपदि, चिरं दीर्घकालं, अन्तरमभ्यन्तरं, तापयतीति तत्तापिनी, विषमा उद्दीपनात्मि-

का, परिणतिः परिपाकः, समपद्यत सञ्जाता । अत एव ज्वरशान्त्यर्थाद्रसमज्जनात्तदुद्रेकरूपानर्थोत्पत्तेर्विषमालङ्कारभेदः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिस्त्रिधा ॥' इति लक्षणात् । एतेन द्वादशावस्थापक्षे नवमी संज्वरावस्थोक्ता। तदुक्तं—'चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता। जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ संज्वरः॥ उन्मादो मूर्च्छनं चैव मरणञ्चरमं विदुः।' इति ॥२॥

कामज्वर (पक्षान्तरमें-अधिक ज्वर) पीडित उस दमयन्तीने जो नल-कथारूपी तडागके जल (पक्षान्तरमें—विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस) में मज्जन (स्नान) किया अर्थात् डुबकी लगायी, उसका शीघ्र ही बहुत अधिक सन्ताप देनेवाला भयङ्कर परिणाम हो गया। [दमयन्तीने नलविरहमें कामज्वरसे पीडित होकर उसकी शान्तिके लिये सखी आदिके द्वारा नल के गुणों को प्रेमसे सुना, किन्तु कामपीडा शान्त होने के बदले और अधिक बढ़ गयी। अन्य भी कोई ज्वरसे सन्तप्त रोगी सन्ताप की शान्तिके लिये तडागके जलमें (ठंढा होनेसे सन्ताप को शान्त करनेवाला समझकर) यदि स्नान करता है, तो उसका भयङ्कर फल हो जाता है अर्थात् ज्वर-सन्ताप शान्त होने के बदले अधिक बढ़ जाता है, वही दशा दमयन्ती की भी हुई] ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः ।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः ॥ ३ ॥

ध्रुवमिति । द्व्यणुकोदरी सूक्ष्ममध्या, इयं दमयन्ती, स्थितिर्मर्यादा गतिनिवृत्तिश्च, तद्विरोधकरीं तद्विरोधहेतुमित्यर्थः । गत्युत्पत्तेस्तत्प्रागभावविरोधित्वादिति भावः। 'कृञो हेतु' इत्यादिना हेत्वर्थे टप्रत्यये ङीष् । अधीरतां चपलताम्, एकत्रानवस्थानलक्षणां, दयितदूतो यः पतन् पतत्री हंसः । 'पतत्पत्ररथाण्डजा' इत्यमरः । तस्य गतिवेगतः गमनवेगादधीतवती गृहीतवती, प्राप्तवतीत्यर्थः । एतेन चापलाख्यः सञ्चारी भाव उक्तः । 'चापलं त्वनवस्थानं रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात् । तस्य हंसपक्षवेगजन्यत्वमुत्प्रेक्षते-ध्रुवमिति । ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्पत्तिरित्याशंक्य यदनन्तरन्यायेन समर्थयति । योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहितः स तस्मादुदित उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३ ॥

कृशोदरी उस दमयन्तीने प्रिय-दूत हंसके पंखोंके वेगसे (स्त्री-)मर्यादा-विरोधिनी अधीरताको धारण किया (सीखा) अर्थात् प्रिय नल के दूत हंसके उड़कर चले जानेपर अधीर हो गयी; क्योंकि जिसके बाद जो होता है, वह उसीसे उत्पन्न समझा जाता है। [हंसका उड़ना स्थिरताविरुद्ध (चंचल = अधैर्युयुक्त) था, अत एव उसके जानेके बाद दमयन्तीको जो अधीरता हो गई है, वह मानों उसी हंस-गमन-शिक्षासे ही उत्पन्न हुई है] ॥३॥

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम् ।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः ॥ ४ ॥

अतितमामिति। तस्या भैम्याः आननं, स्मितलवस्य हासलेशस्य स्मरणेऽपि, किमुत करण इति भावः। अतितमामतिमात्रम्। 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना अव्ययादामप्रत्ययः। जडाशयं मूढचित्तं, समपादि सम्पन्नं, तदन्नं जातमित्यर्थः। 'चिण्ते पदः' इति कर्तरि चिण्। तस्या ईक्षणमेव नयनमेव, खञ्जनः खञ्जरीटः, अपाङ्ग एव निजाङ्गणं, तत्र भ्रमिर्भ्रमणं, तस्याः कणे लेशेऽपि पङ्गुरसमर्थः, अजनि जातः। 'दीपजन' इत्यादिना जनेः कर्तरि चिण्। ज्वरवेगात् स्मितवीक्षणे लुप्ते इति भावः॥ ४॥

उस (दमयन्ता) का मुख थोड़ा-सा मुस्कुराहटके स्मरण करने में भी जडताको धारण किया (नल-विरहसे पीडित दमयन्तीने लेशमात्र भी मुस्कुराना छोड़ दिया) तथा उसका नेत्ररूपी खञ्जन (खंजरीट नामक पक्षी। उसके नेत्र खञ्जन पक्षीके तुल्य थे यह भी ध्वनित होता है) नेत्रप्रान्तरूप अपने आंगन में थोड़ा-सा भ्रमण करने में भी पङ्गु हो गया (दमयन्तीके नेत्रों ने विरह के कारण कटाक्षपूर्वक देखना भी छोड़ दिया)। [अन्य भी कोई जड = मूर्ख व्यक्ति छोटी २ बातोंको भी स्मरण करने में तथा लंगड़ा व्यक्ति अपने अर्थात् अतिनिकटवर्ती आंगनमें थोड़ा भी घूमनेमें असमर्थ हो जाता है॥ नलविरह-पीडित दमयन्तीने हंसना तथा कटाक्ष करना छोड़ दिया]॥ ४॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतः स्म विगाहितुम्।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ॥५॥

अथास्याः स्मरनलयोर्निरन्तरान्तःप्रवेशमालक्ष्योत्प्रेक्ष्यते—किम्विति। तदभिकेन भैमीकामुकेन, 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति निपातितः। मखभुजामधिपेन देवेन्द्रेण, तां भैमीमाशु चिकित्सितुमगदीकर्तुं, नियोजितौ प्रेषितौ उभौ, दिवो भिषजौ स्ववैद्यावश्विनौ, स्मरनलौ सन्तौ, विगाहितुं रोगनिदानं निश्चेतुम्, तस्याः दमयन्त्याः, अन्तरन्तश्शरीरं प्रविशतः स्म किमु। प्रविश्य स्थितावश्विनावेव तौ किमित्युत्प्रेक्षा। तेनास्य मदनाश्विसमानसौन्दर्यं व्यज्यते। अत्र चिन्ताख्यः सञ्चारी भावः सूचितः। 'ध्यानञ्चिन्तेप्सितानाप्तिः शून्यता श्वासतापकृत्' इति लक्षणात्॥५॥

जो कामदेव तथा नलने दमयन्तीके अन्तःकरण (हृदय) में प्रवेश किया था, वह उस दमयन्ती के कामुक देवराज इन्द्र के द्वारा, शीघ्र चिकित्सा करनेके लिये (या उसके अन्तःकरण की स्थिति जाननेके लिये) नियुक्तस्वर्ग के वैद्य अश्विनी-कुमार थे क्या ?। [यहां 'नलकी कान्ति अश्विनीकुमारके समान थी यह तथा 'भावी दमयन्ती-स्वयंवरमें दमयन्तीको पत्नीरूपमें पानेके लिये इन्द्रका आगमन' ध्वनित होता है। अन्य भी किसी सुन्दरीका कामुक व्यक्ति "उसकी मनोवृत्ति मेरे प्रतिकूल है, या अनुकूल' यह जाननेके लिये अथवा उसके रोगी होनेपर औषधोपचारके लिये वैद्यको भेजकर अपनी मनोभिलषित प्रियाको नीरोग कराना चाहता है]॥

कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम्।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम्॥ ६॥

अथ चिन्तानुभाव सन्तापं वर्णयति—कुसुमेत्यादि। कुसुमचापजेन स्मरसमुत्थेन, तापेन समाकुलं विह्वलम्, अत एवाहरहः अहन्यहनि। अत्यन्तसंयोगे वीप्सायां द्विर्वचनम्। 'रोः सुपि' इत्यह्नो नकारस्य रेफादेशः। अभ्यधिकाधिकामत्यन्ताधिकाम्। अभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। रविरुचिग्लपितस्य अर्कांशुहतस्य, विधोरिन्दोः, विधां प्रकारं, तादृशीमवस्थामित्यर्थः। अत एव सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धान्निदर्शनालङ्कारः। वहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमलं तन्मुखमैक्ष्यत दृष्टं सखीजनेनेति शेषः। सकरुणमिति भावः॥ ६॥

काम-ज्वरसे पीडित उस दमयन्ती का कमल के समान कोमल मुख सूर्य के सन्ताप से दिनपर दिन क्रमशः क्षीणकान्ति चन्द्रमाके समान होता जाता था। [कृष्ण पक्षका चन्द्रमा जिस प्रकार दिनपर दिन सूर्यके धूप से फीका पड़ता जाता है, उसी प्रकार नल-विरह से काम-पीडित दमयन्ती का मुख भी संस्कारादि के छोड़ने से मलिन एवं क्षीण हो रहा था]॥ ६॥

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तथा।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम्॥ ७॥

तरुणतेति। तस्याः कुचावेव कुम्भौ तयोर्युगं (कर्तृ), तरुणता तारुण्यमेव, तपनद्युतिरातपस्तया निर्मितः कृतो द्रढिमा काठिन्यं यस्य तत्तथा, कुसुमचाप एव कुलालः कुम्भकारस्तस्य विलासेन व्यापारेण जातं तज्जम्, अनलसङ्गतिः नलसङ्गत्यभावः। क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समास इष्यते। अर्थाभावेऽव्ययीभावे वा नपुंसकत्वम्। सैवानलसङ्गतिरग्निसंयोग इति श्लिष्टरूपकम्, तया तापमुपैतु नो काकुः उपेयादेवेत्यर्थः। प्राप्तकाले लोट्। तथा हि—आमो घटः कुलालेन दार्ढ्याय प्रथममातपेन पक्त्वा पश्चादग्निना पच्यते। रूपकालङ्कारः॥ ७॥

उस समय कामदेवरूपी कुम्हारके विलास (क्रीडा या चाहना) से उत्पन्न (बनाया गया), तारुण्यरूप सूर्य की द्युति (शोभा, पक्षान्तरमें—घाम) से कठिन (पक्षान्तरमें-सूखकर कड़ा) हुआ, उस दमयन्तीका स्तनरूप दो घट अर्थात् स्तन-कलश-द्वय अनल-संगति (अग्निका संसर्ग) आवाँमें पड़ने (पक्षान्तरमें—नलके विरहमें रहने) के सन्तापको नहीं प्राप्त करें क्या ? अर्थात् अवश्य प्राप्त करें। ['कामदेव······उत्पन्न' यह सन्ताप का भी विशेषण हो सकता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ों को बनाकर उन्हें धूप में सुखानेसे कड़ा होनेके बाद आगमें पकाता है, उसी प्रकार कामकृत युवावस्थासे कठिनीभूत घटद्वयके समान दमयन्तीका स्तनद्वय अनल (नलका अभाव) अर्थात् नल-विरहमें सन्तप्त होते थे, यह ठीक ही है]॥ ७॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा।
स्पृशति तत्कदनं कदलीतरुर्यदि मरुज्ज्वलदूषरदूषितः ॥ ८ ॥

अधृतेति। तदा यत्तस्या ऊरुयुगं मनसिजेन विरहोष्मणि विरहदाहे मज्जितम्, अधृत अवस्थितम्। धृङवस्थान इति धातोर्लुङि तङ्। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः। कदलीतरुः, मरौ मरुदेशे ज्वलता तप्यमानेन ऊषरेणोषरक्षेत्रेण, दूषितो यदि दूषितश्चेत्। तत्कदनं, तेनोरुयुग्मेन कदनं कलहं साम्यमित्यर्थः। स्पृशति। अत्रोपमानस्य कदलीतरोरुपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपालङ्कारभेदः। 'उपमानस्याक्षेपे उपमेयत्व कल्पनं प्रतीपम्' इति लक्षणात्। ऊषरप्ररूढकदलीकाण्डकल्पं तदासीदित्यर्थः ॥८॥

कामदेवके द्वारा (नल) विरहाग्निमें डाला गया उस दमयन्तीका ऊरुद्वय (दोनों जांघें) उस समय जैसा हो रहा था, यदि मरुस्थलकी जलती हुई ऊसर भूमिमें झुलसा हुआ केलेका वृक्ष हो तो उस (दमयन्तीके दोनों जङ्घाओं) की समानता करे, [कामपीडाजन्य सन्तापसे दमयन्तीका जघनद्वय मरुस्थलकी सन्तप्त भूमिमें उत्पन्न केलेके वृक्षके समान हो गया था] ॥ ८ ॥

स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः।
अनपिधानपतत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहम् ॥ ९ ॥

स्मरेति। स्मरशराहत्या निर्मितसंज्वरं जनिततापं, दमस्वसुः करयुगं (कर्तृ) अनपिधानादनावरणात् (हेतोः), पतन् प्रविशन्, तपनातपः सूर्यातपः, यस्मिन् तत्तथा, तपेन ग्रीष्मेण निपीते शोषिते सरसि यत्सरसीरुहं पद्मं, तद्धसति स्म तत्सदृशमभूदित्यर्थः। 'हसतीर्ष्यत्यसूयती'ति दण्डिना सदृशपर्याये पठितत्वात्। अत एवोपमालङ्कारः ॥ ९ ॥

कामदेवके बाणोंके प्रहारसे उत्पन्न दाहसे युक्त, दमयन्तीके दोनों हाथ, आवरण-हीन सूर्य-सन्तापसे युक्त, घामसे सूखे हुए तडागके कमलोंको हंसते थे। [सूर्यसन्तापसे निरावरण सन्तप्त, सूखे तडागके कमलोंकी अपेक्षा कामपीडाजन्य नल-विरहसन्तप्त दमयन्तीके दोनों हाथ अधिक क्षीण कान्तिवाले हो रहे थे] ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

मदनेति। दमनस्वसुः, हृदा हृदयेन (कर्त्रा) मदनतापस्य भरेण औत्कट्येन (हेतुना) विदीर्य, नो उदपाति नोत्पतितमिति यत्, भावे लुङ्। तमनुत्पतनरूपमपराधं प्रतिबध्नती निरुन्धती, निबिडपीनकुचद्वयेन यन्त्रणा बन्धः (कर्त्री), अधात्। हृदयकृतापराधं स्वयमुवाहेत्यर्थः। अत्रातिदाहेऽप्यस्फुटनं हृदयस्यायुःशेषनिबन्धनं, तस्य कुचयन्त्रणानिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते। सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥१०॥

दमयन्तीका हृदय कामदेवजन्य सन्तापकी अधिकतासे विदीर्ण हो (फट) कर जो नहीं

उछल (बाहर निकल) गया, उस अपराधको, रोकनेवाले सटे हुए बड़े २ स्तनोंके दबावने धारण किया अर्थात् सटे हुए बड़े २ स्तनोंके बोझके कारण ही विरह–पीडामें भी दमयन्तीका हृदय फटकर टुकड़ा २ नहीं हो गया । [अन्य भी कोई वस्त्र आदि हलकी वस्तु वजनदार बड़े पत्थरोंके दबावसे ऊपरको नहीं उड़ने पाती । अथवा—'उस अपराधको रोकनेवाले सटे हुए बड़े २ दोनों स्तनोंने पी लिया' । यह भी अर्थान्तर हो सकता है] ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यधाम्[1] ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्त निविश्य हृदि स्थितः ॥११॥

निविशत इति । शूकशिखा कण्टकाग्रं, पदे चरणे निविशते प्रविशति यदि, 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदम् । सा प्रविष्टा शूकशिखा । कियतीमिव व्यथां पीडाम्, इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । कीदृशीं व्यथामित्यर्थः । न सृजति नोत्पादयति, महतीमेव सृजतीत्यर्थः । अवनिभृद्राजा नलः, पर्वतश्च । स तु, हृदि निविश्य स्थितः सन्, मृदुतनोः कोमलांग्याः, तां तथाविधां, व्यथां कथं न वितनोतु तनोत्वेवेत्यर्थः । सम्भावनायां लोट् । अत्र पदे सूक्ष्मकण्टकप्रवेशे दुस्सहा व्यथा । किमुत मृद्वंग्या हृदि महत्प्रवेशेनेति कैमुत्यन्यायेनार्थापत्तेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ११ ॥

यदि पैरमें शूक (यव या गेहूँ आदि धान्योंके बालिमें होनेवाला महीन टूंड़) का नोक भी घुस जाता है, तो वह कितनी पीडा नहीं पहुँचाता अर्थात् अत्यधिक पीडा पहुँचाता है । तब सुकुमार शरीरवाली दमयन्तीके हृदयमें घुसकर (पूर्णतया प्रवेशकर) स्थित महीभृत् (पर्वत, पक्षान्तरमें—राजा = नल) उस व्यथाको क्यों नहीं बढ़ावें ? [पैर-जैसे कठिनतम अङ्गमें सूक्ष्मतम शूकका अग्रभाग भी जब व्यथा करता है, तब हृदय–जैसे कोमलतम मर्मस्थलमें पूर्णरूपेण प्रविष्ट हुए पहाड़ (पक्षान्तरमें—नल)-जैसा विशालतम कठिन पदार्थसे सुकुमार शरीरवालीकी व्यथाका अधिक बढ़ना ठीक ही है ॥ दमयन्तीके हृदयमें नल थे, अतः उनके विरहसे वह अधिक व्यथित हो रही थी] ॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः ।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

मनसीति । मनसि सन्तं हृदि वर्तमानं प्रियमीक्षितुं स्पृहया, अन्तरुपेतयोरन्तःप्रविष्टयोरिव, इदमीययोरस्याः सम्बन्धिनोः । इदंशब्दात्यदादेः 'वृद्धाच्छः' । नयनयोः सम्मुखं पुरोदेशः वास्तु स्थानं यस्य तस्मिन्नपि पुरोवर्तिन्यपि वस्तुनि, ग्रहणशक्तिः साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत् । नलव्यासङ्गान्न किञ्चिदन्यदद्राक्षीदित्यर्थः । तद्व्यासङ्गनिमित्तस्य बाह्यादर्शनस्य चक्षुषोरन्तःप्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते । चिन्तैव सञ्चारी भावः ॥ १२ ॥

मनमें स्थित प्रिय नलको देखनेके लिये मानों भीतरको घुसी (चिन्तासे भीतरकी ओर

---

1. 'व्यथाम्' इति पाठान्तरम् ।

धँसी) हुई दमयन्तीकी आँखोंको सामने पड़ी हुई वस्तुओंको भी देखनेका सामर्थ्य नहीं रहा । [चिन्ताके कारण दमयन्तीकी आँखें भीतर धंस गई थीं तथा वे सामने भी पड़ी हुई वस्तुओंको नहीं देख सकती थीं] ॥ १२ ॥

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः ।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमितं मुखम्[1] ॥ १३ ॥

हृदीति । विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्रमुखायाः दमस्वसुः मुखम् । अश्रुझरेणाश्रुप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये, प्रतिफलत् प्रतिबिम्बितं सत्, हृदयभाजं हृदि स्थितं, नलं चुम्बितुमुपेत्य गत्वा, आगमितं सञ्जातागमनं किल, प्रत्यागतमित्युत्प्रेक्षा । तारकादित्वादितच् । किलेति सम्भावनायाम् । 'वार्तासम्भाव्योः किल' इत्यमरः । अराजत रराज । सम्भावनायामुत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

(नल-) विरहसे नीचेकी ओर मुख की हुई दमयन्तीको आँसुओंके प्रवाह (अश्रुधारा) से भींगे हुए हृदयमें (छातीपर पड़ी हुई आँसुओंकी बूंदोंमें) प्रतिबिम्बित उस दमयन्तीका मुख, मानो हृदयस्थित नलको चुम्बन करनेके लिये पास गये हुएके समान शोभामान होता था । [चिन्तासे नीचेकी ओर मुख किये दमयन्ती रो रही थी, अश्रु-प्रवाह-जन्य बूंदें छाती पर पड़ी हुई थीं, उनमें उसका मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था, उसे देखनेसे मालूम होता था कि हृदयमें रहनेवाले प्रियतम नलके पास जाकर दमयन्तीका मुख चुम्बन कर रहा है]॥

सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः ।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता ॥ १४ ॥

सुहृदमिति । गन्धवहेन बाह्यवायुना, सुहृदं सखायम् । रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यग्नेर्वायुसखत्वाभिधानात् । मृगीदृशः भैम्याः, मनसि, स्मरमेवाग्निमुदञ्चयितुमुद्दीपयितुं, निःश्वसितेन निःश्वासवातव्याजेन, विनिर्गमेण बहिर्निस्सारणेन, अनुमितं निह्नुतं, प्रागज्ञातं, यद्वेशनमन्तःप्रवेशस्तत्र मायिता मायावित्वम् । तत्कल्पनापाटवं व्रीह्यादित्वादिनिः। अकलि कलितं प्राप्तम् , नूनमिति शेषः । अग्निदो हि गूढं प्रविश्य प्रकाशं निर्गच्छति, तद्वद्वायुरपि तादृङ्निःश्वासव्याजेन तथा कृत्वा निर्गत इत्युत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

मृगनयनी दमयन्तीके निःश्वासरूपी मलय-वायुने दमयन्तीके हृदयमें रहनेवाले (या कैद) मित्रभूत कामाग्निको उत्तेजित करने (या बाहर निकालने) के लिये बाहर निकलने पर अनुमान किये गये गुप्तरूपसे भीतर प्रवेशरूप मायाको धारण किया । ['अग्निका वायु मित्र है' यह सर्वविदित है, अतः मित्र होनेके कारण दमयन्तीके हृदयरूप जेलमें कैद कामाग्निको छुड़ानेके लिये या उसको उत्तेजित करनेके लिये दमयन्तीका सुगन्धित निःश्वासरूप वायु चुपचाप उसके हृदयमें भीतर प्रवेशकर जब बाहर निकलने लगा ,तब उसका गुप्त

---

१. 'किलागमि तन्मुखम्' इति पाठान्तरम् ।

रूपसे प्रवेश करनेका कपटाचरण लोगोंको मालूम पड़ा । अथवा परमसुगन्धित मलयवायु कामदेवका मित्र है, अतः सर्वदा विरहियोंके कामको वह उत्तेजित करता (बढ़ाता) है, दमयन्तीका सुगन्धित निःश्वास मलयवायुके समान कल्पित किया गया है । दूसरा भी कोई जेल या हवालात आदिमें बन्द मित्रको छुड़ानेके लिये अवसर पाकर चुपचाप उसके पास पहुँचकर उसे छुड़ानेकी चेष्टा करता है और जब बाहर निकलते हुए उसे कोई देख लेता है तो उसके गुप्तरूपसे भीतर प्रवेश करनेके मायाचारको जान जाता है । दमयन्तीके निःश्वासके साथ ही उसका कामसन्ताप भी बढ़ गया] ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः ।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥ १५ ॥

विरहेति । तस्या दमयन्त्याः, दृग्दृष्टिरेव, लिपिकरी चित्रकरी, विरहेण पाण्डिमा शरीरश्वैत्यं, रागोऽनुरागः, स एव रागो रक्तिमा । श्लिष्टरूपकम् । तमो मोहस्तदेवमषी तस्याः शितिमा नीलिमा । तस्या भैम्याः, निजो नैसर्गिकः पीतिमा कनकवर्णः, चतुर्णां द्वन्द्वः, तैरेव वर्णकैः चित्रसाधनैः, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेषः । नलस्य रूपकैः प्रतिकृतिभिः, चित्रिताः सञ्जातचित्राः, तारकादित्वादितच् । अकल्पयदसृजत्खलु । निरन्तरचिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिशं मिथ्यानलानद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १५ ॥

दमयन्तीकी दृष्टिरूपिणी चित्रकारिणी (चितेरी—चित्र बनानेवाली) ने (उसके शरीर में) विरहसे उत्पन्न पाण्डुरता, राग (लाल रङ्ग, पक्षान्तरमें—अनुराग), मूर्च्छारूपी स्याही की कालिमा (कालारंग) और सर्वप्रसिद्ध (स्व-देह-सौन्दर्यरूप) पीलापन (पीलारङ्ग); इन रङ्गोंसे दशो दिशाओंको (सब ओर) नलके चित्रोंसे चित्रित कर दिया । [दूसरी कोई चितेरी भी श्वेत, लाल, काले और पीले रङ्गोंसे सब ओर चित्र बना देती है ॥ नलविषयक अनुरागके कारण विरहसे दमयन्तीके शरीरमें पाण्डुता, मूर्च्छा आदि विकार होने लगे और उसे सब ओर नल ही दिखलाई पड़ने लगे] ॥ १५ ॥

स्मरकृतिं हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वदन्निव निःश्वसितानिलः ।
व्यधित वाससि कम्पमदः श्रिते त्रसति कः सति नाश्रयबाधने ॥१६॥

स्मरकृतिमिति । निःश्वसितानिलः, स्मरकृतिं मदनकर्तृकसृष्टिरूपां, हृदयस्य हृत्पिण्डस्य, दशामवस्थां, बहु बहुवारं (क्रियाविशेषणम्), वदन्निव एवं कम्पत इति कथयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अदो हृदयं, श्रिते वाससि, कम्पश्चलनं, तत्कारणं त्रासश्च, मुहुः व्यधित विहितवान् । दधातेर्लुङि तङ् । 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः । तथा हि—आश्रयबाधने सति, को नाम न त्रसति । सर्वोऽपि त्रसत्येवेत्यर्थः । तद्बाधे तदाश्रितस्य स्वस्यापि बाधादिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥

(दमयन्तीकी) निःश्वासवायु उसके हृदयकी कामजन्य दशा (पीडा, अवस्था) को बारबार अधिक कहती हुईके समान (दमयन्तीके) हृदयपर स्थित वस्त्रको कम्पायमान करने

लगी। ठीक है—आश्रय को पीडा होनेपर कौन नहीं डर जाता अर्थात् सभी डर जाते हैं। [विरहावस्थासे उत्पन्न निःश्वासाधिक्यके कारण हृदयस्थित वस्त्र अधिक कम्पित होने लगा, हृदयके कम्पित होनेपर उसपर स्थित वस्त्र भी कम्पित होने लगा। एवं जो कोई व्यक्ति किसीकी अवस्थाको कहने लगता है, तब उसके ओष्ठ आदि अंग कम्पित होने ही लगते हैं॥ दमयन्तीका निःश्वास तथा हृदय-कम्पन विरहके कारण बहुत बढ़ गया]॥ १६॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे।
रविमहो बहुपीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत्॥ १७॥

करोति। करौ पदे आननं लोचने इति नामानि येषां तैः, तदाकारपरिणामात्तच्छद्मधारिभिः, शतदलैः कुशेशयैः (कर्तृभिः), चिरात् चिरात्प्रभृति, पीतचरं रसवशात् पूर्वपीतं, भूतपूर्वे चरट्प्रत्ययः। बहु भूरि, रविमहः सूर्यतेजः, सुतनो, दमयन्त्याः, विरहज्वरे ज्वरावस्थायां, अनिशतापमिषान्निरन्तरोष्मव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम्। नूनमिति शेषः। अत्र पद्मानां भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः। न रूपभेद इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः। तन्मूला चेयं पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा। सा च तापव्याजादित्यपह्नवानुप्राणितेति सङ्करः॥ १७॥

सुन्दर अङ्गोंवाली दमयन्तीके (नल-) विरहजन्य ज्वर (सन्ताप) में हाथ, पैर, मुख तथा नेत्ररूप कमल मानो पहले अधिक मात्रामें पीये हुए सूर्य-सन्तापको बहुत समयके बाद निरन्तर सन्ताप (विरहजन्य सतत ज्वर) के बहानेसे छोड़ने (वमन करने) लगे। [सर्वाङ्गसुन्दरी दमयन्तीके हाथ, पैर, मुख तथा नेत्र कमलके समान या कमलरूप ही हैं, कमलों का निरन्तर सूर्य-सन्तापसे विकसित होना स्वभाव-सिद्ध है, अतः सूर्यतापको दमयन्तीके हाथ-पैर आदि कमलोंके द्वारा पहले पीनेकी तथा अधिकताके कारण बादमें विरहजन्य ज्वर के व्याजसे वमन (उल्टी) करनेकी कल्पना की गयी है। अन्य भी कोई व्यक्ति यदि किसी वस्तुको अधिक प्रमाणमें पीता है, तो उसे बादमें वमन कर देता है॥ विरहज्वरसे दययन्ती के कमलतुल्य हाथ-पैर आदि अङ्ग अधिक सन्तप्त होने लगे]॥ १७॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत्।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः॥१८॥

उदयतीति। आलिभिः सखीभिः, तत्र तस्यां, धरणिभृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भूः भैमी तस्यां पर्वतभूमौ च विमृश्य व्याप्तिमनुसन्धाय, बाष्पनिरीक्षणादश्रुलिङ्गदर्शनात्। अन्यत्र, धूमदर्शनात्। 'बाष्पोऽश्रुण्यम्बुधूमे च' इति वैजयन्ती। अनुमितः अभ्यूहितः, अन्यत्र लिङ्गभासावधारितोऽपि तापकरः सन्तापजनकः, नलो नैषधः, अन्यत्र अनलोऽग्निः, न व्यभिचचार नान्यथा बभूवेति यत्, तदद्भुतमुदयति स्म उत्पन्नमित्यर्थः। 'अय गतौ' इति धातोर्भूते लट्। नलचिन्ताजन्योऽयं सन्ताप इत्यश्रुदर्शनात्सखीभिरूहितमहो इति परमार्थः। अम्रबाष्पलिङ्गदर्शनादनलज्ञानम्।

तच्चाव्यभिचारीति स्फुरतो विरोधस्याश्रुलिङ्गात्सन्तापकरो नलो निश्चित इत्याभासीकरणाद्विरोधाभासः। स च श्लेषानुप्राणितः। सन्तापकरो नल इति शब्दश्लेषः। अन्यत्रार्थश्लेषः। अपिर्विरोधे ॥ १८ ॥

सखियोंके द्वारा उस राजकुमारी (पक्षान्तरमें—पर्वतभूमि) में बाष्प (आंसू, पक्षान्तरमें—भाप) को देखनेसे विचारकर किया गया सन्तापकारक नल (पक्षान्तरमें—अनल = अग्नि) का अनुमान जो व्यभिचरित नहीं हुआ (ठीक निकला) यह आश्चर्य है। [जैसे पर्वतकी भूमिमें भाप देखकर किया गया अग्नि-विषयक अनुमान आश्चर्यजनक होता है, वैसे ही बाष्प देखनेसे अनुमित सन्तापकारकत्व आश्चर्यजनक है। दमयन्ती का रोना देखकर उसकी सखियोंने जो 'नल-विरहके कारण यह रो रही है' अनुमान किया, यह आश्चर्य है। पहले पाण्डुता आदिसे और बादमें रोनेसे बिना बतलाये ही सखियोंद्वारा नल-विरहजन्य सन्तापका अनुमान करना आश्चर्यजनक है]॥ १८ ॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरन् शरै रतिपतिर्निषधाधिपतेः कृते ।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥ १९ ॥

हृदीति। निषधाधिपतेः कृते नलस्यार्थं, तत्प्रहारार्थमित्यर्थः। 'अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात्। विदर्भभुवं दमयन्तीं, शरैर्हृदि प्रहरन्, नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भावः। रतिपतिः कामः, कृता तदन्तरगस्य भैमीहृद्गतस्य स्वस्य दृढव्यथा येन सः, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृतः सन्नित्यर्थः। फलन्ती अनीतिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छदवर्धत खलु। अमुह्यदिति च गम्यते। 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इत्यनुशासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदर्शनाद्रतिपतेः स्मरस्यापि प्रहार उत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः। परप्रहारोद्यतस्य स्वप्रहाररूपानर्थोत्पत्तेर्विषमभेदश्च व्यज्यते ॥ १९ ॥

निषधराज नलको लक्ष्यकर दमयन्तीके हृदयमें बाणोंसे प्रहारकर दमयन्ती-हृदय-स्थित अपनेको ही अधिक व्यथित करनेसे दुर्नीतिका फल पानेवाला कामदेव अत्यन्त मूच्छित हो गया (पक्षा० में—बढ़ गया)। [कामदेवको नलने अपनी शरीरशोभासे जीत लिया था, अतः वह कामदेवका शत्रु बन गया। दमयन्तीके हृदयमें स्थित नलको लक्ष्यकर दमयन्तीके हृदयमें बाणोंसे प्रहार करनेवाला कामदेव वहां स्वयं भी स्थित होनेके कारण स्वयं ही बहुत घायल होकर मूच्छित हो गया, यह उसने अपनी दुर्नीतिका फल पाया। नलको मारनेके लिये दमयन्तीके हृदयमें प्रहार करना भारी दुर्नीति है, क्योंकि शत्रुको छोड़कर दूसरेपर प्रहार करना अनुचित है, अत एव इस दुर्नीतिका फल कामदेवको स्वयं भोगना पड़ा। अन्य कोई योद्धा किसी दुर्ग आदि गुप्त स्थानमें छिपे हुए शत्रुपर वहां जाकर आत्मरक्षाके बाद ही प्रहार करता है, किन्तु कामदेव वैसा न कर सकनेके कारण (आत्मरक्षाऽभावरूपी) दुर्नीतिका स्वयं शिकार बन गया॥ दमयन्तीकी कामजन्य पीडा बढ़ गई। अथवा-शत्रुका

आश्रयदाता भी शत्रु हो जाता है, अतः नलको हृदय में आश्रय देनेवाली दमयन्ती भी कामदेवका शत्रु बन गयी। इस कारण दमयन्तीके हृदयमें प्रहार करने से उस कामदेवकी नीति सफल हो गयी। और वह वहां स्वयं वृद्धिको (विजय) को प्राप्त किया। यह वास्तविक फलितार्थ धातुके दूसरे अर्थमें होता है]॥ १९॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्धृदयं तथा।
अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदंशुभिः ॥२०॥

विधुरिति। तया दमयन्त्या, विधुश्चन्द्रः, भानुमान् सूर्यः, अमानि मेने यदि, विरहिणस्तन्न चित्रम्। किन्तु, सः सूर्यत्वाभिमतो विधुः, वियोग एव भरो भारस्तेनापि यदस्फुटनमविशरणं, तेन स्फुटीकृतं दृषत्त्वं सूर्योपलत्वं यस्य तत्। अन्यथातिभाराल्लोष्टादिवद्विशीर्येतेति भावः। तद्धृदयमपि भैमीहृदयरूपं सूर्यकान्तमपीत्यर्थः। कथं तथा सूर्यवत् अंशुभिः स्वतेजोभिः, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म। ज्वलतेर्णौ चङ्। अहो विधुर्विरहिणामुद्दीपकत्वात् सूर्यवत्तपतु नाम। तद्वदर्कोपलज्वलयितृत्वं तु चित्रमित्यर्थः॥ २०॥

यदि (विरहावस्थामें चन्द्रमाको देखकर सन्ताप बढ़नेके कारण) दमयन्तीने चन्द्रमाको सूर्य मान लिया है, किन्तु वह (सूर्य माना गया वास्तविक चन्द्रमा) वियोगकी अधिकता (पक्षान्तरमें—अधिक बोझ) से नहीं विदीर्ण होने (पक्षान्तरमें—फूटने) के कारण अपनेको पत्थर अर्थात् सूर्यकान्त मणि स्फुट (प्रमाणित) करनेवाले दमयन्ती-हृदयको उस प्रकार (अत्यधिक प्रमाणमें) क्यों सन्तप्त कर रहा था ?। (चन्द्रमा विरहि-विरहिणियोंका सन्तापकारक होनेसे विरहिणी दमयन्तीके लिये भी सन्ताप-कारक हो रहा था, इसी कारण वह चन्द्रमाको सूर्य मानती थी; किन्तु वह अवास्तविक सूर्य (वास्तविक रूपमें चन्द्रमा) विरहभारसे भी अविदीर्ण (अन्यथा यदि पत्थर नहीं होता तो दबावसे फूटकर चूर्ण हो जाता और सामान्य-जातीय पत्थर होनेपर भी अधिक सन्तप्त नहीं होता फिर) दमयन्ती-हृदयरूप सूर्यकान्त मणिको क्यों सन्तप्त कर रहा था ? यह आश्चर्य है। जो सूर्य नहीं, अपितु चन्द्रमा है, वह सूर्य माननेमात्रसे सूर्यकान्त मणिको कदापि सन्तप्त नहीं कर सकता, अतः वह वस्तुतः चन्द्रमा नहीं, किन्तु सूर्य ही है॥ विरहिणी दमयन्तीके हृदयको चन्द्रमा अत्यधिक सन्ताप दे रहा था]॥ २०॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि ॥ २१ ॥

हृदयेति। वियोगनिमग्नया विरहाग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्तसरोरुहया सन्तापशान्तये वक्षोनिक्षिप्तपद्मया, तया समाना दृश्यत इति सदृक् सदृशी स्त्री, समानान्ययोश्च' इत्युपसङ्ख्यानात्समानोपपदाद्दृशेः क्विन्प्रत्ययः। 'दृग्दृशवतुषु' इति समानशब्दस्य सभावः। क्वास्तु न क्वापीत्यर्थः। यद्वा रतिः कामपत्नी, हृदा वक्षसा,

प्रियस्य स्वभर्तुः, धनुःपौष्पमित्यर्थः। परिभ्य, अनुमर्तुम् अनुगमनं कर्तुं, चितार्चिषि, अशेत शयिता किम् । प्रियमनुमर्तुं चितार्चिषि शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा । तज्ज्वराग्निस्तथा प्रज्वलतीति भावः ॥ २१ ॥

विरहमें निमग्न (अत एव तज्जन्य सन्तापकी शान्तिके लिये) हृदयपर कमलको रखी हुई उस दमयन्तीके समान कहांपर (किस संसार में) कोई स्त्री है ? । प्रिय-(काम-) धनुषको हृदयसे आलिङ्गन (हृदयपर रख) कर रति प्रियतम (कामदेव) के पीछे मरनेके लिये चिताग्निपर सोई थी क्या ? अथवा-······सोई है क्या ? [दमयन्ती की स्वस्थावस्थामें कहींपर कोई भी स्त्री उसके समान सुन्दरी नहीं ही थी, किन्तु नल-विरहसे क्षीणकान्ति होकर शय्यापर पड़े रहनेकी अवस्थामें भी उसके समान कोई स्त्री नहीं थी, इतना ही नहीं, अपि तु सर्वसुन्दरी रति भी उस दमयन्तीकी समता उस क्षीणावस्थामें भी नहीं कर सकी; क्योंकि दमयन्ती तो जीवित भी प्रिय (नल) के विरह होनेसे विरहरूप चिताग्निपर सोकर मरनेके लिये तैयार हो गई थी, किन्तु प्रिय कामदेवके भस्मावशेष हो जानेपर भी रति उसके कमल=पुष्परूप धनुषको हृदयसे आलिङ्गनकर उस प्रियके पीछे मरने (सती होने) के लिये चिताग्निपर नहीं सोई थी अतएव रति भी दमयन्तीकी समानता नहीं कर सकी । अथवा—विरह—सन्तापकी शान्तिके लिये हृदयपर कमलपुष्प रखकर सोई हुई दमयन्तीको देखकर सखीजन आदिको शङ्का हो जाती थी कि—'प्रिय कामके विरह से उसका कमल-पुष्परूप धनुष हृदयपर रखकर सती होनेके लिये रति ही चिताग्निपर सोई है क्या ?' ॥ दमयन्ती विरहजन्य तापकी शान्तिके लिये शीतल कमल-पुष्पको हृदयपर रखकर लेटी हुई थी ॥ २१ ॥

अनलभावमियं स्वनिवासिनीं न विरहस्य रहस्यमबुद्ध्यत ।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यसून् ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत ॥ २२ ॥

अनलभावमिति । इयं दमयन्ती, स्वनिवासिनः स्वनिष्ठस्य, विरहस्य नलवियोगस्य, रहस्यं शमीवह्निवन्निगूढम्, अनलभावमग्नित्वं, नलरहितत्वञ्चगस्यते । नाबुद्ध्यत नाजानादित्यर्थः । कुतः, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्विरहे, ज्वलति सति, प्रशमनाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, असून् प्राणान्, तृणानि विधाय तृणप्रायान् कृत्वा तृणात्मकानिति गम्यते । उज्झितुं त्यक्तुं प्रक्षिप्तुञ्च । ऐहत एच्छत् । अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्यर्थः । विरहदुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः ॥ २२ ॥

उस दमयन्तीने अपनेमें स्थित विरहको अनलभाव (अग्नित्वरूप, पक्षान्तरमें-नलके अप्राप्तिरूप) रहस्यको नहीं समझा, क्योंकि उस अग्निके जलते रहनेपर (पक्षान्तरमें—विरहके बढ़ते रहनेपर) उसकी शान्तिके लिये उसमें प्राणोंको तृण बनाकर छोड़ना चाहा । अथवा—उस दमयन्तीने अपनेमें स्थित विरह—नलका दुर्लभत्वरूप रहस्यको नहीं समझा ? अर्थात् अवश्य समझा; क्योंकि (उस नलकी दुर्लभताको समझकर ही अन्य उपाय न होनेसे)

उस विरहकी शान्तिके लिये अपने प्राणोंको तृणोंके समान मानकर छोड़ना चाहा (जीनेकी अपेक्षा मरना ही अच्छा समझा। अथवा—अपने पासमें रहनेवालेके रहस्यको मनुष्य अवश्य समझता है, अत एव दमयन्तीने भी नलाभावरूपी विरह-रहस्यको समझकर अपने प्राणोंको तृण (तुच्छतम) मानकर प्रशमन (प्र + शमन = उद्दण्ड + यमराज अर्थात् क्रूर यमराज) के लिये देना चाहा। [प्रथम पक्षमें—यदि दमयन्ती अपनेमें निवास करनेवाले विरहके अग्निस्वरूप रहस्यको समझती तो उसकी शान्तिके लिये प्राणोंको तृण बनाकर नहीं छोड़ती, क्योंकि कोई भी समझदार व्यक्ति अग्निकी शांतिके लिये उसके जलते रहनेपर उसमें तृण नहीं छोड़ता ॥ दमयन्ती नलको दुर्लभ समझकर मृतप्राय हो गयी] ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्य न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत् ।
तदिषुभिः कुसुमैरपि धुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा ॥२३॥

प्रकृतिरिति । योषितां हृदयं मृदु नामेति यत् । नामेति प्रसिद्धौ । स इति विधेयप्राधान्यात् पुंल्लिङ्गता । प्रकृतिः प्रकृतिसिद्धः, गुणो मार्दवगुणः, इमां दमयन्तीं, कथं नैतु प्राप्नोत्वेवेत्यर्थः । कुतः ? तन्मृदुत्वं कुसुमैरपि इषुभिः, धुन्वता विबुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृतं सम्यग्व्याख्यातम् , विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थः । कुसुमादपि सुकुमारमस्या हृदयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

'क्यों स्त्रियोंका हृदय कोमल होता है' यह प्रसिद्ध है । यह (स्त्रियोंका) स्वाभाविक गुण दमयन्तीरूप स्त्रीको भी क्यों न प्राप्त हो अर्थात् प्राप्त ही है। इस बातको पुष्पबाणोंसे भी कम्पायमान ('दुन्वता' पाठभेदमें-पीडित) करते हुए देवता (पक्षान्तरमें-विशिष्ट विद्वान्) कामदेवने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया । [सर्वज्ञ देवता या विशिष्ट विद्वान् ही किसी बातको सुस्पष्ट कर सकता है, वैसे कामदेवने भी अतिसुकुमार पुष्प-बाणोंसे दमयन्ती-हृदयको कम्पित या पीडितकर उक्त बातको सुस्पष्ट कर दिया, अन्यथा यदि दमयन्तीका हृदय फूलोंसे भी अधिक कोमल नहीं होता तो वह फूलोंके बाणोंसे कम्पित या पीडित कदापि नहीं होता] ॥२३॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम् ।
इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराविशत् ॥ २४ ॥

रिपुतरेति । रिपुतराऽतिद्वेषिणी, विधुरुचिश्चन्द्रप्रभा, भवनादविनिर्यतीमनिर्गच्छन्तीं, इणश्शतरि ङीप् । तां भैमीं ज्वलयितुं सन्तापयितुं, इतरथा निजरूपेण प्रवेशे आत्मनिवारणशङ्कया स्वप्रवेशप्रतिषेधभिया, बिसवेषस्य धरा सती, गृहस्य जालबिलैर्गवाक्षरन्ध्रैः, अविशन्नु प्रविष्टा किम् । शिशिरोपचारबिसाङ्कुरा निरन्तरान्तःस्थितभैमीबाधनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविभान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥२४॥

(विरहके कारण दमयन्तीको अतिशय पीडित करनेसे) प्रबल शत्रुभूत चाँदनी, घरसे (बाहर) नहीं निकलती हुई दमन्तीको सन्ताप देनेके लिये अन्यथा (अपने वास्तविक रूपमें घरके मुख्य द्वारसे प्रवेश करनेपर) अपने निवारण (रुकने) की शङ्कासे (दमयन्ती-

सन्ताप–शान्तिके लिये उसकी सखियों द्वारा लाये गये) कमल–नालका रूप धारणकर घरकी खिड़कियोंके बिलोंसे प्रवेश किया क्या ?। [अन्य भी कोई प्रबल शत्रु अपने प्रतिपक्षीको मारनेके लिये अपने वास्तविक वेषको धारणकर द्वारमार्गसे आनेके समय अपनी रुकावटकी आशङ्काकर अपना वेष बदलकर खिड़की आदिके मार्गसे घरमें घुसकर भयसे घरसे बाहर नहीं निकलनेवाले प्रतिपक्षीपर प्रहार करता है। खिड़कियोंके बिलोंसे घरमें प्रवेश करती हुई चाँदनी हूबहू कमल–नालके समान मालूम पड़ती थी, और उसे देखकर विरहजन्य क्षीणतासे घरसे बाहर नहीं निकल सकनेवाली दमयन्तीको पीडा होती थी ॥ २४ ॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम् ।
मुखदृगोष्ठमरोपि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः ॥२५॥

हृदीति । विदर्भभुवो वैदर्भ्याः, विनमदास्यतया नम्राननत्वेन (हेतुना), अश्रूणि बिभर्तीत्यश्रुभृत्, क्विप् । तस्मिन्नश्रुसिक्त इत्यर्थः । हृदि वक्षसि, वैमल्यात् स्फुटं यथा तथा प्रतिबिम्बितं, मुखं च दृशौ च ओष्ठश्च मुखदृगोष्ठम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादेः उपमाकुसुमानि पद्मम् उत्पले बन्धूके च पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिलाः पञ्चापि शराः सदृशोपि रोपितम् । तस्यास्तथाविधे वक्षसि प्रतिफलितं मुखाद्यवयवपञ्चकं पञ्चशरनिखातम्, तदुपमानकुसुमशरपञ्चकमिवालक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ २५ ॥

अश्रुयुक्त दमयन्तीके हृदयमें (छातीपर) उस दमयन्तीके मुखके नम्र होनेसे प्रतिबिम्बित उसका मुख, दोनों नेत्र तथा दोनों ओष्ठ (१ + २ + २=५) रूप उनके उपमानभूत सब (पांचों) पुष्प–बाणोंको मानो कामदेवने सचमुच ही गड़ा दिया था। [कामदेवके पुष्पमय पाँच बाण हैं, दमयन्तीके आंसूसे भीगे हुए हृदयपर प्रतिबिम्बित उसका कमलतुल्य मुख, नील–कमल–तुल्य दोनों नेत्र, तथा दुपहरियाके फूलके समान दोनों ओठ—इस प्रकारमुख नेत्र तथा ओष्ठके उपमानभूत पांचों पुष्पमय बाण कामदेवके द्वारा विरहिणी दमयन्तीके अश्रुयुक्त हृदयमें गड़ाये गये मालूम पड़ते थे ॥ दमयन्ती विरहमें अत्यधिक रोती तथा मुखको नीचे किये रहती थी] ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः ।
अनुपलक्ष्यसितांशुतया मुखं निजसखं सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥२६॥

विरहेति । विधुः, भीमभुवः भैम्याः, विरहेण पाण्डुनि कपोलतले गण्डस्थले, प्रतिबिम्बितः सन्, अनुपलक्ष्यसितांशुतया सावर्ण्यात् दुर्लक्ष्यशुभ्रकिरणतया, सुखमनायासेन, अङ्कमृगार्पणादसितकलङ्कमृगसमर्पणात्, मुखं भैमीमुखं निजसखं स्वसदृशं, व्यधित विहितवान् । दोषिणो हि स्वदोषं निर्दोषेऽपि स्वसंसर्गिणि सङ्क्रमय्य समीकुर्वन्तीति भावः । केचित्किञ्चिद्दानेनामित्रं मित्रं कुर्वन्तीति भावं वर्णयन्ति । अत्र चन्द्रस्य कपोलसावर्ण्येन तदेकत्वकथनात् सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

विरहसे पाण्डुवर्णवाले दमयन्तीके कपोलमें प्रतिविम्बित चन्द्रमा (विरहजन्य)दमयन्ती-मुखकी श्वेततामें अपनी श्वेत किरणों (या श्वेत भाग) को नहीं मालूम पड़नेसे अपने कलङ्करूप मृग-चिह्नको समर्पणकर उस दमयन्तीके मुखको मित्र बना लिया। [पहले दमयन्तीका मुख गौरवर्ण था तथा उसमें श्वेतवर्ण चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता था तो स्पष्ट मालूम पड़ जाता था, अर्थात् दमयन्तीकी स्वप्नावस्थामें उसका मुख चन्द्रमासे भी अधिक सुन्दर था; किन्तु इस समय विरहावस्थामें मुख पाण्डुवर्ण होगया है और उसमें प्रतिबिम्बित पाण्डुवर्ण चन्द्रमा समानवर्ण होनेसे पृथक् मालूम नहीं पड़ता, केवल उसका कलङ्कभूत मृग-चिह्न मालूम पड़ता है। अन्य भी कोई चतुर व्यक्ति अपने विजेताको कोई उपहार (भेंट) देकर उसको अपना मित्र बना लेता है, यहांपर चन्द्रमा अपना मृगचिह्नरूप कलङ्क दमयन्तीके मुखको देकर उसको अपना मित्र बना लिया अर्थात् उसके मुखके समान हो गया। अथवा-अन्य कोई व्यक्ति अपने दोषको दूसरेमें भी लगाकर उसे अपने समान दोष-युक्त बना लेता है, वैसे चन्द्रमाने भी विरह-पाण्डु दमयन्ती मुखको कलङ्क=श्याम बनाकर अपने समान बना लिया॥ विरहावस्थासे दमयन्तीका मुख भी पाण्डुवर्ण हो गया था]॥

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना।
विषधराभबिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुबिभीषिकाम्॥२७॥

विरहेति। सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपांसुभिः, भस्मधवलैरिति भावः, अर्पितः सम्पादितः, पाण्डिमैव मण्डनं यस्याः सा, विषधराभं शेषाहिकल्पं, विसमेवाभरणं यस्याः सा सती, रतिपतिं स्मरं, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिकां विशेषेण भयोत्पादनं, भीषयतेर्धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्। 'सुप्सुपा' इति समासः। न तु शम्भोर्विभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमासः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति निषेधात्। दधे दधार, नूनमिति शेषः। गम्योत्प्रेक्षा॥ २७॥

विरहसे सन्तप्त रहनेवाले शरीरमें चन्दन-रेणुओंसे श्वेत भूषणको ग्रहण करनेवाली तथा सर्पके समान मृणाल-नालरूप भूषणको धारण करनेवाली दमयन्तीने कामदेवके लिए शङ्करजीकी विभीषिका (भयङ्करता-प्रदर्शक भाव) को धारण किया। [विरहसे सन्ताप-शान्ति के लिये शरीरपर लिप्त चन्दनद्रव सूखकर धूल हो गया था, वही शङ्करजीके भस्मके स्थानमें था, तथा विरहताप-शान्तिके लिये हृदयादिपर स्थापित कमल-नाल (श्वेति-मा तथा दीर्घताके कारण) शङ्करके भूषणभूत सर्प हो रहे थे, उनको धारणकर दमयन्तीने 'मैं शङ्कर हूँ' यह कामदेवके प्रति प्रमाणितकर उसे डराना चाहा, जिसमें शङ्कर समझकर कामदेव मुझसे डरकर पीडा देना छोड़ दे। शङ्करजीने अपने तृतीय नेत्रकी अग्निसे कामदेवको भस्मावशेषकर डाला था, अतः दमयन्तीने कामदेवको डरानेकेलिये उक्त प्रकारसे शङ्करका रूप धारण किया। अन्य भी कोई व्यक्ति अपने शत्रुको डरानेके लिये उससे भी प्रबल शत्रुका रूप धारणकर उसे डराना चाहता है॥ विरह-सन्तापाधिक्यसे दमयन्तीके हृदयादिपर लिप्त चन्दन-

द्रव सूखकर चूर्ण (धूलि) हो जाता था तथा मृणाल भी मुरझाकर सांपके समान संकुचित (टेढ़े-मेढ़े) हो जाते थे ॥ २७ ॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तया भृतबुद्बुदमाबभौ ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥ २८ ॥

विनिहितमिति । तया भैम्या, परितापिनि हृदये वक्षसि, विनिहितं भृतबुद्बुदम् अतिक्वाथकृपीटकं, चन्दनं सुहृदं सखायं, हृदयेशेत इति(तं)हृदयेशयं मन्मथम् 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक्। उपनमन्नुपसर्पन्, अङ्कगतोडुपरिग्रहः अन्तिकस्थतारकापरिकरः, विधुरिवाबभावित्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

उस दमयन्तीके द्वारा सन्तपनशील हृदयपर रखा चन्दनका लेप, बुदबुद (पानीका बुलबुला) बनकर हृदयमें रहनेवाले मित्र कामदेवकेपास तारारूप परिवारके सहित आये हुए चन्द्रमाके समान मालूम पड़ता था । [अन्य भी कोई व्यक्ति मित्रसे मिलनेके लिये सपरिवार आता है । अत्यन्त सन्तप्त तवे आदिपर रखे द्रव पदार्थमें भी बुद्बुद निकलने लगते हैं ॥ दमयन्तीका हृदय विरह से अत्यधिक सन्तप्त हो रहा था] ॥ २८ ॥

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥२९॥

स्मरेति । स्मरहुताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तया बहु भूरि, सरसं सार्द्रं सरसीरुहं सरोजं, मुहुः, श्रयितुं शैत्याय सेवितुम् , अर्धे पथि अर्धपथे कृतं, तत्पर्यन्तमानीतं सत् , अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनिःश्वासेन, निर्मितं मर्मरं सद्यःशोषात् कृतमर्मरशब्दं सत् , उज्झितं वैरस्यात्त्यक्तम् । तथोष्णस्तन्निःश्वास इति भावः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरः । ईदृग्धर्मासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कारः ॥ २९ ॥

कामाग्निसे सन्तप्त उस दमयन्तीने बहुतसे और अनेक बार ताजे कमलको, (तापशान्तिके लिये हृदयादिपर) रखने के लिये आधे मार्ग नें आते ही (अत्युष्ण) निःश्वास-वायुसे मर्मर (शुष्कप्राय होनेसे 'मर्मरशब्दयुक्त) होनेपर (उनके अनुपयुक्त हो जानेके कारण) फेंक दिया । [विरहाग्निसे दमयन्ती के निःश्वास अत्यन्त गर्म २ निकल रहे थे] ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किं न्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥३०॥

प्रियेति । हृदि वक्षसि, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवथुः परितापः, टुदुः टित्त्वादथुच्प्रत्ययः । तेन यत्कुड्मलनं मुकुलनं निपीड्य ग्रहणमिति । यावत् । तेन पृथुस्तनीं दमयन्तीं, तव स्तनयुगं (कर्तृ), एवमनेन प्रकारेण, प्रियकरेण ग्रहं निपीड्य ग्रहणम् । अवाप्स्यति । किं नु किमर्थं, ताम्यतीति जगदतुः ऊचतुः । नूनमिति शेषः ॥ ३० ॥

(सन्तप्त) हृदयपर रखे हुए दो कमल (अत एव तापके कारण) सङ्कुचित होनेसे

मानो विशाल स्तनोंवाली दमयन्तीसे कह रहे थे कि—'तुम्हारे दोनों स्तन इसी प्रकार (जिस प्रकार हम दोनों सङ्कुचित हो रहे हैं, उसी प्रकार) प्रिय (नल) के कर-ग्रहण (हाथसे पीडन अर्थात् मर्दन, पक्षान्तरमें—प्रिय नलके साथ पाणिग्रहण अर्थात् विवाह) को प्राप्त करेंगे, तुम क्यों खिन्न हो रही है ?।' [इस पद्यमें भी दमयन्तीके सन्तापाधिक्य का वर्णन किया गया है] ॥ ३० ॥

त्वदितरो न हृदापि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम् ।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥३१॥

त्वदिति । सा भैमी, हृदयेशयं हृदि स्थितं, नलं त्वदितरस्त्वत्तोऽन्यः, समानो वाऽन्यो वा पतिः, मया हृदापि न धृतः मनसापि न चिन्तितः, इति निजशुद्धताम् आत्मनिर्दोषतां, पाण्डुत्वञ्च । विरहपाण्डुतया तद्व्याजेनेत्यर्थः । स्मरहविर्भुजि बोधयति स्मेव मदनाग्निमग्ना सा अग्निदिव्येन[1] स्वशुद्धिं सीता राममिव नलं बोधयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्तुर्नलस्य णौ कर्मत्वम् ॥ ३१ ॥

वह दमयन्ती विरहजन्य पाण्डुतासे, हृदयस्थित नलके प्रति 'तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य पतिको मैंने हृदय अर्थात् मनसे भी नहीं ग्रहण (स्वीकार) किया है। (फिर संभाषण या हाथ आदिके द्वारा ग्रहण करनेकी बात ही क्या है ?)' इस प्रकार कामदेवरूप अग्निमें अपनी शुद्धता जना रही थी। [जगज्जननी सीताजीने भी लङ्काविजयके बाद रामचन्द्रजीके समक्ष अपने सतीत्वको अग्निमें प्रवेशकर प्रमाणित किया था। इसी प्रकार अन्य भी व्यक्ति अपनी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये अग्नि आदि देवताओंको साक्षी देते हैं] ॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः ।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्वथुं पृथुम् ॥ ३२ ॥

विरहेति । विरहतप्ते तदङ्गे भैमीशरीरे, निवेशिता निहिता, कमलिनी पद्मलता, निमिषद्भिरानमद्भिर्दलैः पत्रैरेव, मुष्टिभिः मुष्टिबन्धैः (करणैः) पृथुं तद्वथुं तस्यास्तापम्, अपनेतुमपच्छेत्तुमचेष्टत व्याप्रियत किम् । पराभवितुं तिरस्कर्तुमैहत किम् । अचेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु, न किञ्चित्कर्तुं शशाक । प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः । सोऽयं भीषकस्य भयप्रवेश इति भावः । अत एवानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः । तदुत्थापिता चेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ३२ ॥

विरहसे सन्तप्त दमयन्ती-शरीरपर स्थापित कमलिनि (सन्तापसे) सङ्कुचित होते हुए पर्णरूपी मुक्केसे उस दमयन्तीके अत्यधिक सन्तापको दूर करने (मारने) की इच्छा करती है क्या ? अथवा उसे पराभूत करने (जीतने या मोहित करने) की इच्छा करती है ? [अन्य भी कोई व्यक्ति अङ्गुलियोंको समेटनेसे मुट्ठी बांधकर शत्रुको मुक्केसे मारकर

---

१ 'अग्निदिव्य'शब्दो 'जलदिव्य'शब्देन व्याख्यातः । स च २ यसर्गस्य २७ तमश्लोकव्याख्याने द्रष्टव्यः ।

जीतना चाहती है। सन्तापाधिक्यसे दमयन्तीके शरीरपर रखी हुई कमलिनीके पत्ते मुर्झा-कर सङ्कुचित हो जाते थे]॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा ।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ॥ ३३ ॥

इयमिति । इयं भैमी, अनङ्गशरावलिरेव पन्नगाः तैः क्षतं क्षतिः, नपुंसके भावे क्तः । तेन विसारिणा व्यापिना, वियोगेनैव विषेण अवशा सती, खरांशोस्तिग्मांशोः करैरर्दिता पीडिता, शशिकलेव कं जनं करुणनीरनिधौ शोकरसाब्धौ । 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मता' इति विश्वः । न निदधौ निदधावेव, निमज्जयामासैवेत्यर्थः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

काम—बाणोंके समूहरूपी सर्पके काटने (पक्षान्तरमें—विद्ध होने) से फैलनेवाले विरह-रूपी विषसे पराधीन (मोहित) उस दमयन्तीने सूर्य-पीडित चन्द्रकलाके समान किसको करुणा-रूपी समुद्रमें नहीं डाल दिया ? अर्थात् सबको विरहिणी दमयन्तीको देखकर दया आ जाती थी ।] सांपके काटनेसे मूर्च्छितावस्थामें पड़े हुए व्यक्तिको देखकर सभी लोगोंको दया आ जाती है । अथवा—सांप जिस व्यक्तिको काटता है, वही व्यक्ति विषबाधा-शान्तिके लिये जलमें छोड़ा जाता है, किन्तु काम-बाणावलि-सर्पदष्ट होने से विरह-विषज्वालासे मोहित दमयन्तीने दूसरोंको जलमें डाल दिया यह आश्चर्य है]॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता ।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद्भुजयोर्भृशम् ॥ ३४ ॥

ज्वलतीति । तया भैम्या, मन्मथवेदनया मदनज्वरदुःखेन, ज्वलति प्रज्वलिते, निजे हृदि वक्षसि, अर्पिता आर्द्रा सरसा, मृणाललता बिसवल्ली, स्वजयिनोः स्वजेत्रोः, 'जिदृक्षि' इत्यादिना इनिप्रत्ययः । भुजयोस्तदीययोरेव, सविधस्थयोः समीपस्थयोः सतोः, त्रपया त्रपयेवेत्यर्थः । गम्योत्प्रेक्षा । भृशं मलिनतां वैवर्ण्यमभजत् । जितो जेतुरग्रे लज्जया वैवर्ण्यं भजतीति भावः ॥ ३४ ॥

उस दमयन्तीके द्वारा काम-पीडासे जलते (सन्तप्त होते) हुए हृदयपर रखी हुई कम-ललताने अपनेको जीतनेवाले समीपस्थ (दमयन्तीके) दोनों बांहोंकी लज्जासे अत्यन्त मलि-नताको धारण कर लिया । अथवा—अपनेको जीतनेवाले (दमयन्तीकी) दोनों भुजा-ओंके स्वसमीपस्थ होनेपर कमललताने लज्जासे मलिनताको धारण किया । [अन्य भी कोई व्यक्ति अपने विजेताके सामने लज्जासे मलिनमुख हो जाता है ॥ दमयन्तीके हृदयपर रखी हुई कमललता संतापसे मलिन हो जाती थी]॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ ।
सततद्धतहृच्छयकेतुना हतमिव स्वतनूवनघर्षिणा ॥ ३५ ॥

पिकेति । तया भैम्या, पिकरुतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन, कम्पिनि वेपमाने,

हृदि वक्षसि, निहितं शैत्यार्थं न्यस्तं विचलत् आधारचलनादिति भावः। शैवलं, स्वतन्वा शैवलशरीरेण सह, घनवर्षिणा भृशसङ्घर्षिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः। सततं तद्गतस्य भैमीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्येन हतं ताडितमिव, बभावित्युत्प्रेक्षा॥ ३५॥

उस दमयन्तीके द्वारा कोयलका कूजना सुननेसे कम्पित होनेवाले हृदयपर (विरहज-ताप-शान्त्यर्थ) रक्खा हुआ तथा (हृदयके कांपते रहनेसे) हिलता हुआ शेवाल ऐसा मालूम पड़ता था कि निरन्तर उस दमयन्तीके हृदय में रहनेवाले कामदेव की पाताकारूप मछली-द्वारा अपने शरीरको रगड़नेसे वह कम्पित हो रहा हो। ['मछलियां अपने शरीरकी कण्डू दूर करने के लिये शेवाल में शरीर को रगड़ती हैं' यह प्रसिद्धि है॥ दमयन्तीद्वारा हृदयपर शेवाल रखनेपर भी कोयलका कुहुकना उसे पीडितकर उसके हृदय-कम्पनको बढ़ा रहा था]॥३५

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत्।
इतरथाभ्युदये शशिनस्ततः कथमसुस्रवदश्रुमयं पयः॥३६॥

नेति। नलमनः (कर्तृ), मोहवशेन विरहप्रयुक्ताज्ञानबलेन, तदाननं भैमीमुखं (कर्म), शशिकान्तमिन्दुसुन्दरम् इन्दूपलञ्च, नाबोधि खलु नाबुद्ध किमिति काकुः। अबुध्यत एवेत्यर्थः। तच्च सत्यमिति भावः। 'दीपजन' इत्यादिना कर्तरि चिण्। इतरथा, तदसत्यत्वे शशिनोऽभ्युदये ततो भैमीमुखादश्रुमयमश्रुरूपं, पयः कथं असुस्रुवत् स्रुतं, चन्द्रोदये पयःस्रावाच्चन्द्रकान्तत्वं सत्यमित्यर्थः। चन्द्रोदये दाहोद्रेकाद्रुरोदेति भावः। द्रवतेर्लुङ णिश्रीत्यादिना च्लेश्चङि धातोरुवङादेशः॥ ३६॥

नलका मन सुन्दर दमयन्ती-मुखको मोह (अज्ञान) के कारण चन्द्रमाके समान मनोहर (पक्षान्तरमें-चन्द्रकान्त मणिरूप) नहीं समझा था, अपितु यथार्थतः समझा था। अन्यथा चन्द्रोदय होनेपर उससे आँसूरूप जल क्यों निकलता? [दमयन्ती में अधिक प्रेम होने से उसके मुखको नलके चित्तने मोहवश नहीं, अपि तु वस्तुतः चन्द्रकान्त ही समझा था। चन्द्रोदय होनेपर विरहावस्थामें चन्द्रमाके विरहवर्द्धक होनेसे दमयन्ती रोने लगती थी, चन्द्रकान्तमणि से भी चन्द्रोदय होनेपर पानी टपकने लगता है, अतः नलका दमयन्ती-मुखको चन्द्रकान्त समझना ठीक ही था। अथवा—दमयन्तीके मुखने चन्द्रमाको अपनी सुन्दरतासे जीत लिया था, अत एव वह चन्द्रमाके उदय (अभ्युन्नति) होने पर रोने लगता है। अन्य भी कोई व्यक्ति शत्रुकी अभ्युन्नति होने पर ईर्ष्यासे रोने लगता है। अथवा—दमयन्तीके मुखको नलने चन्द्रकान्त (चन्द्रमाके समान या चन्द्रमा है कान्त=प्रिय मित्र जिसका ऐसा) समझा था, अन्य भी कोई व्यक्ति प्रियमित्रकी अभ्युन्नति होनेपर आनन्दाश्रु बहाता ही है]॥३६॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुतापि तथैव सा।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितुं स ताम्॥३७॥

रतिपतेरिति। रतिपतेः कामस्य, यथेषुः विजयस्यास्त्रं विजयास्त्रं विजयसाधनमायुधं।

जयति । तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्रं सती जयति । ततस्तस्मात् (हेतोः) स कामः, स्वस्य विशिखानिषूनिव, तां भैमीं, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्याकत्वेन, मरणेन च। 'पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च' इति विश्वः । योजयितुमैहत । स्वेषु-धर्मविजयास्त्रत्वेनेव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैच्छत् । नियतं सत्यमित्युत्प्रेक्षार्थः । अन्यथा, किमर्थमेनामित्थं पीडयेदिति भावः । उपमानोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ३७ ॥

रतिपति कामदेवका विजयसाधनभूत बाण जिस प्रकार विजेता अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार भीमनन्दिनी दमयन्ती भी सर्वोत्कृष्ट विजयास्त्र है (यह बात कामदेव समझता है), अत एव वह (कामदेव) अपने अन्य बाणोंके समान उस (दमयन्ती) को पञ्चत्व (पांच संख्याओंका भाव, पक्षान्तरमें—मृत्यु) से युक्त करना चाहा । [कामदेवके सर्वविजेता बाण पञ्चता—पांच संख्या के भावसे युक्त अर्थात संख्या में पांच है, अतः दमयन्तीको भी वह पञ्चता (मृत्यु) से युक्त करना अर्थात् मारना चाहा ॥ विरह में कामपीडा के कारण दमयन्तीकी अवस्था मरणासन्न हो रही थी] ॥ ३७ ॥

शशिमयं दहनास्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी ।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

शशिमयमिति । वियोगिन्यसौ भैमी, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्'। शशिमयं शशिरूपं, मनसिजस्य दहनास्त्रम् आग्नेयास्त्रं, विमृश्यालोच्य, झटिति द्राक् । अश्रुमिषाद्वारुणं वरुणदेवताकं, 'सास्य देवता' इत्यण्प्रत्ययः । तस्याग्नेयस्योचितं प्रतीकारक्षमं, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थः । चान्द्रतापासहिष्णुरशरणा केवलमरोदीत्यर्थः । सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥

वियोगिनी दमयन्तीने चन्द्ररूप काम-बाणको दाहक अस्त्र (अग्निबाण) समझकर शीघ्र ही आँसूके व्याजसे वारुणास्त्रको धारण कर लिया । [अन्य भी योद्धा संग्राममें शत्रुके द्वारा प्रयुक्त आग्नेयास्त्रको शान्त करने के लिये वारुणास्त्र (पानी बरसाकर अग्नितापको शान्त करनेवाला अस्त्र) धारण करता है ॥ विरहिणी दमयन्ती चन्द्रमाको देखकर तापाधिक्यसे रोने लगती थी] ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेत्य सा ।
उचितमायतनिश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रमसुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

अतनुनेति । सा सुतनुर्भैमी, नवं नूतनम्, अम्बुदं मेघमेव, अतनुना अनङ्गेन, उदस्तम् उत्क्षिप्तं, आम्बुदमम्बुदसम्बन्धयस्त्रं पर्जन्यास्त्रम् अवेत्य आयतनिश्वसितच्छलाद्दीर्घनिश्वासमिषादमुमम्बुदं प्रति, उचितं प्रतीकारक्षमं, श्वसनं श्वसनात्मकमस्त्रं वायव्यास्त्रमसुञ्चत् प्रायुङ्क्त । मेघदर्शनात् दीप्तमदनज्वरा दीर्घमुष्णं च निशश्वासेत्यर्थः । अत्रापि सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

(विरहिणी) उस दमयन्तीने कामके द्वारा उठाये हुए नवीन मेघरूप वारुणास्त्रको देख-

कर निःश्वासके व्याजसे योग्य (वारुणास्त्रको शान्त करनेमें समर्थ) वायव्यास्त्रको इस (कामदेव) के प्रति छोड़ा। [अन्य भी कोई योद्धा शत्रुके वारुणास्त्र उठानेपर उसको शान्त करनेमें समर्थ वायव्यास्त्रको शत्रुके ऊपर छोड़ता है॥ वर्षा ऋतुमें उठे हुए काले २ बादलोंको देखकर विरहिणी दमयन्तीका निःश्वास अत्यन्त बढ़ गया]॥ ३९॥

रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमियं भुजगास्त्रमिवादित॥ ४०॥

रतिपतीति। सुदतीयं भैमी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहितानिलहेतितां कामप्रयुक्तवायव्यास्त्रताम्। 'हेतिः शस्त्रं प्रहरणं ह्यायुधञ्चास्त्रमेव च' इति हलायुधः। प्रतियती जानती। इणः शतरि ङीप्। तेनास्त्रेण य उरुस्तापः ततो भयात्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मयं बिसरूपं, भुजगास्त्रम् अदितेव आत्तवती किमित्युत्प्रेक्षा। भुजगानांवाताहारत्वादिति भावः। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः॥

सुन्दर दांतोंवाली दमयन्तीने मलयवायुको कामदेवके द्वारा (अपने प्रति) छोड़ा गया वायव्यास्त्र समझकर उससे उत्पन्न होनेवाले अत्यधिक सन्तापके भयसे कमलनालरूप सर्पास्त्र को धारण कर लिया। [अन्य भी कोई योद्धा अपने प्रति छोड़े गये वायव्यास्त्रसे उत्पन्न कष्टको दूर करनेके लिए सर्पास्त्र (नागास्त्र) धारण करता है॥ मलयानिलके बहनेपर विरहिणी दमयन्तीने पीडाशान्तिके लिये (सफेद तथा कुटिलाकार होनेके कारण सर्पके समान) मृणाल-नालको हृदयादिपर रख लिया]॥ ४०॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहितां च तथापि च जीवितम्।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान् रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत्॥४१॥

न्यधितेति। रतिपतिस्तद्धृदि भैमीहृदये, विरहितां विरहित्वं, च, तथापि विरहित्वेऽपि, जीवितं चेति द्वयं, शल्यं शङ्कुमिव, न्यधित निखातवानित्यर्थः। जीवतो विरहः विरहिणो जीवनं च द्वे अपि शल्यप्राये इत्यर्थः। दधातेर्लुङि तङ्। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः। अथ निखननानन्तरं, तच्छल्यद्वयं स्तनावेव बिल्वे परिणतबिल्वफले, तयोर्युगेन तत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम्। यथा लोके निखातं शङ्कुं दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भावः। पूर्वार्धे शल्यनिखननोत्प्रेक्षा। उत्तरार्धे निहत्य निहननोत्प्रेक्षा। निखातवानित्यनुवादः॥४१॥

कामदेवने उस दमयन्तीके हृदयमें दो शल्य अर्थात् कील या खूटोंके समान विरह तथा जीवन (अथवा-विरही होकर जीना एवं जीते हुए विरही होना) स्थिर कर दिया (शल्यपक्षमें-गाड़ दिया) और उन दोनों शल्योंको स्तनरूपी दो बिल्वफलों (बेलके फलों) से वहांपर (दृढताके लिये) ठोंककर स्थिर कर दिया क्या ?। [विरहिणियोंके लिये जीना और जीते हुए विरहिणी होना—ये दोनों कार्य महाकष्टकर होते हैं, उसमें युवावस्थामें तो ये अत्यन्त ही असह्य हो जाते हैं। कामदेवके द्वारा दमयन्तीके हृदयमें जीवन तथा विरहरूप दो शल्योंको

गाड़कर बिल्वरूप दोनों स्तनोंसे ठोंककर उन्हें दृढ करनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है । अन्य भी कोई व्यक्ति खूंटा या कीलको गाड़कर उसे दृढ करनेके लिये पत्थर आदि किसी कठोर पदार्थ से ठोक देता है ॥ युवावस्थामें ही स्तनका बिल्वफलके समान कठिन होना पाया जाता है । अतः इस युवावस्थामें जीनेके साथ विरह होना या विरह होनेपर जीना हृदयमें गड़े हुए दो कीलोंके समान दमयन्तीको अत्यन्त ही असह्य हो रहा था] ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

अतीति । तां दमयन्तीम् अतितरां, शरव्ययता शरव्यं लक्ष्यं कुर्वता, शरव्य-शब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लटः शतृप्रत्ययः । अत एव निखिला ये पुष्पमयाः स्वशरास्तेषां व्ययात् क्षयात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि भैमीवक्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोर्युगस्यार्पणा क्षेपः, अकारि । स्फुटमित्युत्प्रेक्षा । शरक्षये पाषाणादिनापि प्रहरन्तीति भावः ॥ ४२ ॥

उस दमयन्तीको अतिशय निशाना बनाते हुए, पुष्पमय सब बाणोंके समाप्त हो जानेसे फलोंको भी छोड़ते हुए कामदेवने मानों उस दमयन्तीके हृदयपर स्तनरूप दो ताल-फलोंको छोड़ा है । [अन्य भी योद्धा बाणोंको समाप्त हो जानेपर पत्थर आदि कठिन पदार्थों से शत्रुपर प्रहार करता है । कामदेवके पास पुष्पमय पांच ही बाण होनेसे उनका शीघ्र समाप्त हो जाने और कोमलतम तथा अल्पसंख्यक पुष्प-बाणोंसे शत्रुरूप दमयन्तीपर विजय नहीं पानेसे पत्थरके समान कठिन दो ताल-फलोंसे हृदयमें प्रहार करना उचित एवं स्वाभाविक ही है । अथ च—सभी फल पुष्पके बाद ही लगते हैं अतः उनके पुष्पोंको ही बाण बनाकर दमयन्तीपर प्रहार करनेके कारण उनके फल नहीं लगे, अत एव विना फूल लगे ही फलनेवाले तालके बड़े २ एवं कठोर फलोंसे ही दमयन्तीके कोमल हृदय अर्थात् मर्मस्थलपर प्रहारकर उसपर विजय पानेकी इच्छा करना कामदेवके लिये स्वाभाविक ही है] ॥ ४२ ॥

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४३ ॥

अथेति । अथानन्तरं, स्मरतापमये कामज्वररूपे, गदे रोगे 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । पतितया मग्नया । अत एव, मुहुः बहु बहुधा, निन्दितचन्द्रया, तस्योद्दीपकत्वादिति भावः । मुहुः स्तुतो विधुं तुदतीति विधुन्तुदो राहुर्यया तया, विधुन्तुदत्वादेवेति भावः 'तमस्तुराहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः । 'विध्वरुषोस्तुद' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । तया दमयन्त्या, अश्रुविमिश्रं मुखं यस्याः सा अनिष्टाशङ्कया रुदती सखी, निजगदे निगदिता । विप्रकृतो ह्यपकर्तारं निन्दति तदपकर्तारञ्च स्तौतीति भावः ॥ ४३ ॥

काम-सन्ताप-ज्वरमें पड़ी हुई, (अत एव दाहक होनेसे) बार २ तथा बहुत चन्द्रमा-

की निन्दा और राहुकी प्रशंसा करनेवाली वह (दमयन्ती) रोती हुई सखीसे बोली (यहांसे श्लो० ९९ तक दमयन्तीका कथन है)—। [विरहावस्थामें चन्द्रमाके अत्यन्त सन्ताप देनेके कारण उसकी निन्दा और उसको (चन्द्रग्रहण के अवसरपर) निगलनेवाले राहुकी प्रशंसा विरहिणी दमयन्ती करती थी तथा उसकी कष्टावस्था देखकर उसकी सखी रो रही थी] ॥४३॥

'नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा ।
विरहिणामपि तद्रतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे ॥ ४४ ॥

नरेति । नरसुराब्जभुवां मनुष्यदेवब्रह्मणामिव, यावता अनेहसा कालेन, यस्य जन्तोर्यद्युगं भवति, गणितागमे ज्योतिश्शास्त्रे तत्सर्वं वक्तव्यमेवेति शेषः। यथा ब्रह्मणो दिनं देवादीनां युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्यस्यापि गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भावः। ततः किमित्याशङ्क्य आह । तर्हि, विरहिणां तद्युगं कथं किमिति रतवताम-वियुक्तानां यूनां क्षणेन मितं गणितं न । अवियुक्तानां क्षणो वियुक्तानां युगमिति किमिति नोक्तमित्यर्थः । तथा तस्या एकैकक्षण एकैकयुगकल्पोऽभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

'जितने समयका मनुष्यों, देवों तथा ब्रह्माका युग-परिमाण होता है; मनुष्यों, देवों तथा ब्रह्माके युकके बराबर उन्हीं के समान सुरतक्रीडा युक्त तरुण स्त्री-पुरुषोंके तथा विरही स्त्री-पुरुषोंके क्षणकी गणना ज्योतिःशास्त्रमें क्यों नहीं की गयी है ? अर्थात् उसमें इतनी त्रुटि रह गयी है । [सुरतक्रीडायुक्त तरुण स्त्री-पुरुषों के क्षणके बराबर मनुष्य, देव तथा ब्रह्मा का युग होता है अर्थात् सुरतानन्द में आसक्त तरुण स्त्री-पुरुषों को मनुष्यों, देवों या ब्रह्माका युग के बराबर समय भी एक क्षण के समान प्रतीत होता है और इसके प्रतिकूल विरही तरुण स्त्री-पुरुषोंका क्षण भी मनुष्यादिके युगके बराबर होता है अर्थात इन विरहियों को एक क्षण भी व्यतीत करना मनुष्यादि के युगपरिमित काल के समान अत्यधिक मालूम पड़ता है ॥ विरहिणी तरुणी दमयन्तीको भी एक २ क्षण मनुष्य-देव-ब्रह्माके युगके समान प्रतीत हो रहा था] ॥ ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता ।
ज्वलति फालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥४५॥

जनुरिति। सती भवपूर्वपत्नी दक्षकन्या, स्मरतापिता विरहाग्नितप्ता सती, हिमवतो जनुर्जन्माधत्त। तस्य हिमवतो महिमा आदृतो यया सा तन्महिमादृता, आदृतन्महिमा सती तु न। आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता। न तु, तत्तपस्सामर्थ्यानुरोधादित्युत्प्रेक्षा। हरस्य फालतले लिखितो ब्रह्मणा लिखितः सतीविरह एव ज्वलति, लोचनं नेत्यारोप्यापह्नवालङ्कारः ॥ ४५ ॥

सती (दक्ष प्रजापति की कन्या—पूर्वजन्म में शङ्करजी की स्त्री) ने कामदेव से सन्तप्त होकर ही (अतिशय शीतल) हिमालय पर्वतसें उत्पन्न हुई है, उन (हिमालय पर्वत) की महिमाके आदरसे नहीं । जलते हुए शिव-ललाटमें (ब्रह्माके द्वारा) सती-विरह ही लिखा

गया है, तृतीय नेत्र नहीं (बनाया गया) है। [अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा पति शङ्करजीका अपमान देख सतीने योगाग्निद्वारा प्राणत्यागकर पति शङ्करजीके विरहमें कामदेवसे अतिशय सन्तप्त होकर उस तापकी शान्ति के लिये अत्यन्त शीतल हिमालय से जन्म ग्रहण किया है, वहां जन्म लेनेमें हिमालयकी प्रतिष्ठा आदि अन्य कोई कारण नहीं है। अन्य भी कोई व्यक्ति अधिक सन्तप्त होकर अतिशय शीतल स्थानका आश्रय करता है। इसी प्रकार—सतीके योगाग्निमें प्राणत्याग कर देनेपर ब्रह्माने शङ्करजीके ललाटमें अतिशय तापकारक सती-विरहाक्षर ही लिखा है, वह शङ्करजीकी तीसरी आँख नहीं है]॥ ४५ ॥

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥ ४६ ॥

दहनेति । दहनजा अग्निदाहजन्या, दवथुर्व्यथा तापदुःखं, पृथुः अधिका न । किन्तु विरहजैव पृथुः । ईदृशं न यदि इदमित्थं न चेत् । स्त्रियः, अपासुमपगतप्राणं मृतं, प्रियम्, उपासितुं प्राप्तुम्, उत्कृष्टा धूर्भारो यासां ता उद्धुराः अनर्गलाः सत्य इत्यर्थः । 'ऋक्पूः' इत्यादिना समासान्तोऽकारः । कथमाशु दहनं विशन्ति । अग्निदाहाद्विरहदाह एवाधिक इत्यर्थः । तस्य तत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवेशकार्येण समर्थनात् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

अग्निजन्य दाहपीडा अधिक सन्तापकारक नहीं होती, किन्तु विरहजन्य दाहपीडा ही अधिक सन्तापकारक होती है। यदि ऐसा नहीं है तब मरे हुए पतिकी सेवा (अनुगमन) करनेके लिये उल्लासयुक्त स्त्रियां अग्नि में कैसे प्रवेश करतीं ?। [विरहजन्य सन्तापपीडाको नहीं सह सकनेके कारण ही स्त्रियां पतिके मरनेपर (विरहाग्निकी अपेक्षा कम सन्ताप देनेवाली) चिताग्निमें प्रवेशकर जो सती हो जाती है उससे यह प्रमाणित होता है कि विरहजन्य दाहपीडा ही अग्निजन्य दाहपीडासे अधिक है]॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः ।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः सखि! विलोकय दुर्विनयं विधोः ॥४७॥

हृदीति । विरहिणीवधाद्यः पङ्कः पाप्मा । 'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा' इत्यमरः । तेन कलङ्किताः सञ्जातकलङ्काः, अमूः कलाः, हृदि अभ्यन्तरे नितरां लुठन्ति वर्तन्ते । कुमुदैः सख्यं कुर्वन्तीति तत्कृतः, विशुद्धा इत्यर्थः । तास्तु कलाः बहिष्कृताः । हे सखि, विधोर्दुर्विनयं, दौर्जन्यं, विलोकय । दुर्जनाः पापिष्ठानन्तःकुर्वन्ति विशुद्धान् बहिष्कुर्वन्तीति भावः ॥ ४७ ॥

हे सखि! चन्द्रमाका दुर्विनय तो देखो, कि—विरहिणियोंकी हत्यारूपी पङ्कसे मलिन इन कलाओंको तो उसने हृदयमें धारण किया है, तथा कुमुदको विकसितकर मित्रता करनेवाली उत्तम कलाओंको बाहर कर दिया है। विरहिणियोंके मारनेसे उत्पन्न पाप ही लाञ्छन रूपमें चन्द्रमाकी छाती पर दीख रहे हैं, अत एव यह बड़ी दुर्नीतिवाला है। [यदि कोई सज्जन

होता है तो वह उपकारीको हृदयसे लगाये रहता है तथा दुष्टों—पाप करनेवालोंको बाहर कर देता है, किन्तु दुष्टोंकी प्रकृति इसके विपरीत होती है, वे पापियोंको ही हृदयसे लगाते और परोपकारी सज्जनोंको बाहर कर देते हैं। अथवा—दुष्टलोग अपने पापको तो हृदयमें धारणकर छिपा लेते हैं तथा उपकार भावको बाहर प्रगट करते हैं; अतः इस दुष्ट चन्द्रमाने भी ऐसा ही किया है]॥ ४७॥

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमुदधौ जड ! वा वडवानलात् ॥४८॥

अयीति। अयि सखि ! विधुं परिपृच्छ। हे जड मूढ ! त्वया दाहवदान्यता दाहदातृत्वं दाहकत्वमित्यर्थः। किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोषितशम्भुकण्ठात्, गरलात् कालकूटात्, उदधौ वडवानलाद्वा कुतः कस्माद् गुरोः स्फुटमशिक्ष्यत शिक्षिता, अभ्यस्तेत्यर्थः॥

हे सखि ! तुम चन्द्रमासे पूछोकि—'तुमने दाहको अधिक देनेकी यह दानवीरता किस गुरुसे सिखी है ? हे जड़ ! शङ्करजीके गलाको जलानेवाले विष (कालकूट) से अथवा समुद्रमें सदा रहनेवाले वडवानलसे ?' [जो जिसके पास रहता है, वह उसीसे कोई बात सीखता है, चन्द्रमाको भी शङ्करजीके मस्तकमें रहने तथा समुद्रसे उत्पन्न (उदय) होनेके कारण क्रमशः शिवकण्ठस्थ कालकूट या उदधिस्थ वडवानलसे दाहकत्व शक्तिको सीखना सम्भव है, क्यों कि वे दोनों ही अत्यन्त दाहक हैं]॥ ४८॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥४९॥

अयमिति। अयं विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः वियोगिस्त्रीहिंसापापैः, करणैः, भ्रमिं भ्रमणम्, अवाप्य प्रापय्य आप्नोतेर्ण्यन्तात् क्त्वोल्यबादेशः। 'विभाषाऽऽपः' इति विकल्पादयादेशाभावः। शितिनिशा कृष्णपक्षरात्रिस्तस्यामेव दृषदि शिलायां स्फुटन्तः पातवेगाद्विदलन्तः तत उत्पतन्तश्च ये कणाः खण्डाः, तेषां गणैरधिकं तारकिताम्बर भूम्ना तारकवत्कृताकाशः सन्। अत एव कृष्णपक्षे तारकबाहुल्यमिति भावः। तारकवच्छब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। विण्मतोर्लुक् मतुपो लुक् दिवोऽन्तरिक्षान्निपात्यते खलु। उत्कटपापकारिणः पुरे परिभ्राम्य शिलायां निपात्य हन्यन्त इति भावः॥ ४९॥

यह (चन्द्रमा) विरहिणी स्त्रियोंके वधजन्य पापसे घुमाया जाकर काली रात्रिरूप शिला (पत्थर) पर स्वर्ग अर्थात् अत्यन्त उंचे स्थानसे गिराया जाता है, और फूटकर (चूर्ण २ होकर) ऊपर ऊछलते हुए टुकड़ों (स्वर्गपति चन्द्रमाके खण्डों) के समूहसे आकाश अधिक ताराओंसे युक्त हो जाता है। [शुक्लपक्षमें चन्द्रदर्शनसे विरहिणियोंको अधिक कष्ट होता है तथा चन्द्रप्रकाशके कारण आकाशमें तारागण भी बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं; इसके विपरीत कृष्णपक्षमें चन्द्रदर्शनके न होनेसे विरहिणी स्त्रियोंको अधिक कष्ट नहीं

होता तथा आकाशमें तारागण भी अत्यधिक संख्यामें दिखलाई पड़ते हैं, अतः मालूम पड़ता है कि विरहिणी-पापसे चन्द्रमा अँधेरी रातरूपी काले पत्थरपर पटका जाता है और ऊँचे स्थानसे पटके जानेके कारण चूर्ण होकर ऊपर उछले हुए उसके खण्ड ही तारारूपमें आकाशमें दिखलाई पड़ते हैं । अन्य भी कोई पापी व्यक्ति घुमाकर पर्वत आदि ऊंचे स्थानोंसे काले पत्थर पर पटक दिया जाता है, और उसकी हड्डियां चूर २ होकर ऊपरको उछलती हैं] ॥४९॥

त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता ॥५०॥

त्वमिति । हे सखि ! त्वं मद्गिरा विधुमभिधेहि उपालभस्व । तत्प्रकारमेवाह—त्वया महात्मनेति भावः । किं किमर्थमिदमीदृक् स्त्रीवधात्मकं (कर्म), अधिक्रियते आचर्यते ? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि मास्तु । हरशिर एव स्थितिभूर्निवासभूमिः सापि विस्मृता । महाकूलप्रसूतस्य शम्भुशिरोधृतस्य तवेदमनुचितमित्यर्थः ॥५०॥

हे सखि ! तुम मेरी ओरसे चन्द्रमासे कहो अर्थात् पूछो कि—'तुम ऐसा अर्थात् विरहिणियोंका वधरूप निन्दित कर्म क्यों करते हो (तुम्हें ऐसा करना शोभा नहीं देता, क्योंकि) तुमने समुद्रमें अपना जन्म होनेको नहीं गिना अर्थात् लक्ष्मी आदि-जैसे परोपकारियोंको जन्म देनेवाले एव स्वयं भी अत्यन्त गम्भीर समुद्ररूप पितृ-कुलकी कोई गिनती नहीं की (कुछ ख्याल नहीं किया), लेकिन शिवजीके मस्तकपर रहना भी भुला दिया ? अर्थात् तुम केवल शिवजीके साथ ही नहीं रहते हो, अपितु उन्होंने तुम्हें परोपकारिता आदि गुणोंसे युक्त समझकर अपने मस्तकपर रखा है—अपनेसे भी श्रेष्ठ माना है । [अन्य सज्जन या सामान्य भी व्यक्ति अपने कुल तथा सहवासका ख्यालकर निन्दित कार्य नहीं करता विशेषकर अत्यन्त पीडितोंकी उसमें भी दुखिया स्त्रियोंकी हत्या करना तो दूर रहा, उन्हें लेशमात्र भी पीडित करनेके लिये मनमें विचारतक नहीं करता । किन्तु तुमने तो अपने उत्तम कुल तथा सहवास—इन दोनों को भुला दिया है, अतएव तुम बड़े भारी पापी हो । महापापी चन्द्रमाके साथ साक्षात् बात करनेमें पाप समझकर सती दमयन्तीने सखीके द्वाराचन्द्रमा को कहलवाया है । अन्य भी कोई व्यक्ति महापातकियोंसे साक्षात् बात न करके दूसरेसे सन्देश कहलवाता है] ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन ! चूर्णितः ।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः ॥५१॥

निपततेति । हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थः । त्वमुदधौ निपतता । मथनसमय इति शेषः । मन्दरभूभृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णितः, पीतपयोनिधेः आचमितसमुद्रस्य मुनेः अगस्त्यस्य, जठरार्चिषि जठरानलेऽपि जीर्णतां न गतोऽसि । वातापिवदिति भावः । बतेति खेदे । मद्भाग्यविपर्यय एवायमिति भावः ॥ ५१ ॥

हे शशलाञ्छन (मृग-कलङ्कयुक्त चन्द्र) ! (अमृतमन्थनके समय) समुद्रमें गिरते हुए

(डाले जाते हुए) मन्दराचलसे भी तुम चकनाचूर नहीं हुए? अथवा समुद्रको पी जानेवाले अगस्त्य मुनिकी जठराग्निमें भी तुम गल पच नहीं गये ?। उक्त दोनों बातें नहीं होनेसे ही मुझ-जैसे विरहिणियोंको इतना कष्ट हो रहा है, यदि वैसा हो जाता तो आज मुझ जैसे लोगोंको कष्ट नहीं होता। अत्यन्त दाहक तथा पापी होनेके कारण उन दोनों (मन्दराचल तथा अगस्त्य मुनि) ने भी तुम्हें छोड़ दिया; हा ! महाकष्ट है]॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मरः ॥ ५२ ॥

किमिति। हे जड मूढ ! गलितैर्निष्क्रामितैः, असुभिः, प्राणैः, स्वमारणेनेत्यर्थः। भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत्। सम्भावनायां लोट्। इति मन्यसे किम् ? 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतिप्रामाण्यादिति भावः। सोऽपि वृथाभिमान इत्याह—स मृतमनश्चन्द्रमेतीत्येवं रूपोऽर्थोऽभिधेयो यस्यास्तां तदर्थिकां, 'शेषाद्विभाषा'इति कप्समासान्तः। 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप' इतीकारः, श्रुतिं पूर्वोक्तवेदवाक्यम्। विबुधो देवो विद्वांश्च, स्मरः, नलस्य मुखेन्दुः मुखचन्द्रः, परो मुख्यार्थो यस्यास्तां तत्पराम्। 'परं दूरान्यमुख्येषु' इति वैजयन्ती। मम आह किल ब्रूते खलु। विद्वदुक्त एवार्थो ग्राह्य इत्यर्थः। परतोऽपि मे भर्ता नल एव नान्य इति भावः॥ ५२ ॥

हे जड चन्द्र ! 'मरनेसे भीमकन्या दमयन्तीका मन मुझमें लीन हो जायेगा, अर्थात् दमयन्ती मुझे चाहने लगेगी' ऐसा समझते हो क्या ? विद्वान् वेदव्याख्यानकर्ता (पक्षान्तरमें—स्मरणशील विद्वान्, या देवता) काम ने निश्चय ही मुझसे उस श्रुति (वेदमन्त्र) का अर्थ नलका मुख रूप बतलाया है (अत एव मैं मरकर भी नलको ही जन्मान्तरमें भी चाहूंगी, तुम्हें कदापि नहीं)। ['यत्रास्य पुरुषस्याग्नि........' श्रुतिके अनुसार मृत प्राणीका मन चन्द्रमामें लीन हो जाता है, इस कारण चन्द्रमाका वैसा सोचना समझकर दमयन्तीने कहा है कि उक्त श्रुतिका 'मरनेपर प्राणियोंके मनका चन्द्रमामें लीन होना सामान्य अर्थ है। वेदव्याख्यान या पूर्वापरका स्मरण करनेवाले विद्वान् या देवता कामने उस श्रुतिका अर्थ 'मरनेपर नलरूपी चन्द्रमामें मनको लीन होना' बतलाया है। अत एव सामान्यकी अपेक्षा विशेषकी बलवत्ता होनेसे तुम्हारी आशा ('मरनेपर दमयन्तीका मन मुझ = चन्द्रमें लीन होगा' यह समझना) भूल है। सामान्य बुद्धिवाला ही मनुष्य किसी श्रुति आदिका सामान्य अर्थ ग्रहण करता है, विद्वान् तो विशेष अर्थको ही ग्रहण करते हैं अथवा—देवता कामका बतलाया हुआ श्रुतिका विशेष अर्थ ही ग्राह्य है, सामान्य अर्थ नहीं]॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाऽधुना ।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन ! मुञ्च कदर्थनाम् ॥ ५३ ॥

मुखरयस्वेति। हे हरिणलान्छन शशाङ्क ! यशसः नवडिण्डिमं कीर्तिप्रकाशकं नूतनवाद्यविशेषं मुखरयस्व मुखरं रवणं कुरु, अधुना जलनिधेस्तवजनकस्य कुलमुज्ज्वलय प्रकाशय, वधूवधपौरुषमपि स्त्रीवधशौर्यञ्च, गृहाण स्वीकुरु । किंतु, कुत्सितोऽर्थः कदर्थः पीडाकरः, 'कोःकत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः। कदर्थीकरणं कदर्थना कदर्थनशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताद्युच्। तां मुञ्च शीघ्रं मारय। न तु पीडयेत्यर्थः। अत्र वधूवधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधानात्। 'विषं भुङ्क्ष्व' इतिवन्निषेधपरो विध्याभासः। अनिष्टनिषेधाभासपराक्षेपालङ्कारभेदः। तथा चालङ्कारसूत्रम्—'अनिष्टं विध्याभासश्चे'ति॥ ५३॥

हे मृगलान्छन (कलङ्की चन्द्रमा)! अपने यशकी (पक्षान्तरमें—सु + अयश......, अर्थात् अत्यन्त अयशकी) डुग्गी पिटवावो। जलनिधि (अपने पिता) के वंशको उज्ज्वल करो (पक्षान्तरमें—अपने पिताके वंशको अधिक दग्ध करो अर्थात् जला डालो), स्त्रीहत्याकी बहादुरी लूट लो अर्थात् मुझे मार डालो; परन्तु कुत्सित अर्थना करना या अधिक यंत्रणा देना तो छोड़ दो। [पूर्वोक्त वाक्योंमें एक पक्ष काकुद्वारा निन्दापरक तथा दूसरा पक्ष वास्तविक कथनपरक है। कोई भी शूर व्यक्ति स्त्रीकी हत्या करनेसे यशकी डुग्गी नहीं पिटवाता, न उस निन्दित कर्मसे पिताके वंशको ही उज्ज्वल करता है और न तो उससे उस योद्धाको बहादुरी ही मिलती है; अपितु स्त्री-हत्यासे अकीर्ति होती है, पिताके कुलमें मानो आग लग जाती है (बचा-खुचा भी यश नष्ट हो जाता है)। किन्तु तुम जलनिधि ('ड तथा ल' में अभेद होनेसे जडनिधि अर्थात् मूर्खतम पिताके मूर्ख पुत्र हो, अतएव तुम ऐसा निन्दित कर्म करते हो, यह ठीक ही है। मूर्खसे अन्य आशा भी क्या हो सकती है ?]॥ ५३॥

निशि शशिन्! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप माम्।
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ॥५४॥

निशीति। हे शशिन् ! पाप ! क्रूर ! नृशंसो घातुकः क्रूर पापः' इत्यमरः। निशि भास्वत्यसति। कैतवभानुतां कपटसूर्यत्वं भज। मां तापय, किं त्वहश्चाहनि, अहर्पतिना सूर्येण, 'अहरादीनां पत्यादिषु'इति रेफादेशः। ते तव, निर्धुतदर्पतां निरहङ्कारताम्, अवलोकयितास्मि द्रक्ष्यामीत्यर्थः। लुटि मिपि तासिप्रत्ययः। पापिष्ठाः स्वनाशमासन्नमपश्यन्तः परान् हिंसन्तीति भावः॥ ५४॥

हे चन्द्रमा ! रातमें सूर्यके नहीं रहनेपर तुम कपटसे सूर्य बन लो और हे क्रूर ! मुझे तपाओ; किन्तु मैं कल दिनमें सूर्यसे तुम्हारे अभिमानको नष्ट हुआ अर्थात् सूर्यके सामने निष्प्रभ हुए तुमको देखूंगी। [अन्य भी दुष्ट बड़ोंकी अनुपस्थितिमें ही दुष्टता करता है, उसकी उपस्थितिमें अर्थात् सामने पड़नेपर उस दुष्टका घमण्ड दूर हो जाता है। तथा किसी के द्वारा सताया गया व्यक्ति प्रबलतम अन्य व्यक्तिके द्वारा सताने वालोंका अभिमान-नाश देखकर हर्षित होता है]॥ ५४॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः ।
तदमृतस्य तवेदृशभूतताद्भुतकरी परमूर्धविधूननी ॥ ५५ ॥

शशकलङ्केति । हे शशकलङ्क शशाङ्क ! मादृशां वियोगिनामित्यर्थः । भयं करोतीति भयङ्कर उद्वेजक! 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः । यद्यस्मात्, भूतपतिं शिवं पिशाचपतिञ्च, श्रितः सन् निशि ज्वलसि प्रदीप्यसे । तत्तस्मादमृतस्यामृतमयस्य मृतेतरस्य च, तव परेषां द्रष्टॄणां स्वाविष्टानां च, मूर्धविधूननी एकत्र विस्मयादन्यत्रावेशाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृशभूतता इत्थंभूतत्वम् ईदृशपिशाचत्वञ्च, अद्भुतकरी विस्मयकरी । हरशिरोमणेरमृतस्य इव इत्थं प्रज्वलनात्मकत्वमद्भुतमिति वाच्यार्थः । जीवत ईदृगलातपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थः ॥

हे शशकलङ्क (शश–लाञ्छनवाले) मुझ–जैसी (विरहिणियों या निरपराध अबलाओं) के भयङ्कर ! चन्द्रमा ! रातमें भूतपति (पञ्चमहाभूतोंमें प्रधान आकाश, या प्रमथादि भूतगणोंके पति भगवान् शङ्कर) का आश्रय किये हुए तुम जो जलाते (विरहिणियोंको सन्तप्त करते), हो, अमृत (अमृतमय किरणोंवाले या जीवित) तुम्हारा (भूतावेश या विरहव्यथाके कारण) दूसरोंके मस्तकको हिलानेवाला इस प्रकारका भूतपना (प्रेतपना) आश्चर्यकारक है । [कोई जीव मरनेपर प्रेत होकर रातमें चलता या ज्वलित होता है, बालकादिके लिये भयकारक होता है और जिसपर वह आविष्ट होता है उस (भूताविष्ट मनुष्य) का शिर कांपने लगता है; किन्तु अमृत अर्थात् जीवितावस्थामें स्थित किसीका वैसा करना आश्चर्यजनक है । अथवा—अमृत अर्थात् जलमय होनेसे शीतल चद्रमाका जलाना (दाहक होना) आश्चर्यकारक है । अथवा—भूतों अर्थात् प्राणियोंके पति (पालक) एवं अमृत (सुधा) रूप चन्द्रमा का दुखित अबलाओंको भय दिखाना या रातमें अपनी तेजी (बहादुरी) दिखलाना अनुचित होनेसे आश्चर्यजनक है ॥ दमयन्तीने सखीके द्वारा अपनी ओरसे चन्द्रमाके प्रति श्लो० ४८ से यहां तक उपालम्भ दिया] ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥५६॥

श्रवणेति । हे सखि ! श्रवणपूरः कर्णावतंसः, यस्तमालदलाङ्कुरस्तमालपल्लवस्तं, शशिकुरङ्गस्य मुखे वक्त्रे, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, किमपि कियदपि, तुन्दिलितस्तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतस्सन्, अमुं शशिनं, स्थगयतु छादयतु । तत्तस्माद्धेतोः, क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमः ॥ ५६ ॥

हे सखि ! कर्णपूरक तमाल–किसलय (तमालका नया पल्लव) को चन्द्रमाके मृगके मुखमें (खानेके लिये) डालो, (जिससे उसे खाकर) वह कुछ तुन्दिल (बढ़े हुए पेटवाला) होकर चन्द्रमाको आच्छादित करे तो मैं क्षणभर श्वास लूं । [चन्द्रमा मुझे इतना सताता है कि मैं तनिक श्वास भी नहीं लेने पाती] ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कूहूः ।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि ! मुखं न विधोः पुनरीक्ष्यते ॥५७॥

असमय इति । हे सखि ! असमये मतिः कार्यधीः, उन्मिषति उदेति, ध्रुवम् । न तु योग्यकाल इत्यर्थः । कुतः, यद्यस्मादियं कुहूः नष्टचन्द्रामावास्या करगता स्वायत्तैव, हस्तनक्षत्रगता च गता । तदास्तां, पुनरुपैति पुनरागच्छति चेदित्यर्थः । निरुध्य निवास्यते स्थाप्यते । तस्य फलमाह—विधोर्मुखं पुनर्नेक्ष्यते । तस्यास्तत्राशक्त्वादिति भावः । पापिष्ठस्य तस्यादर्शनमेव फलमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

हे सखि ! निश्चय ही असमयमें (बेमौके) बुद्धि स्फुरित होती (कोई आवश्यक बात सूझती) है, क्योंकि हाथमें अर्थात् अत्यन्त पासमें आई हुई (अथवा—हस्त नक्षत्रमें आयी हुई, इस पक्षमें आश्विन मासका वर्णन सिद्ध होता है) कुहू (जिसमें चन्द्रकला बिल्कुल ही नहीं दिखलाई पड़ती, वह अमावास्या तिथि) चली गयी अर्थात् बीत गयी । अस्तु । यदि वह फिर आवेगी, तब उसे (प्रार्थना आदि करके) रोक रखूंगी, जिससे फिर (पापी इस) चन्द्रमाका मुख ही नहीं देखूंगी । [अन्य भी कोई सज्जन व्यक्ति पापीका मुख देखना नहीं चाहता] ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः ॥५८॥

अयीति । अयि सखि ! एष मम चकोरशिशुर्विषपरीक्षार्थं गृहसंवर्धितो बालचकोरः । यथाह कामन्दकः—'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्' इति । पिबतीति पिबः, 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना शतृप्रत्यये पिबादेशः । सिन्धोः पिबस्य समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यतां, न व्रजतीति काकुः । व्रजतीत्यर्थः । तथा च अयं चकोरश्चन्द्रं निरशेषं पास्यतीत्याशयः, न चैतदशक्यमित्याह—अब्धिमशितुं पातुमधीतवतः अभ्यस्तवतः, अत एव, पिबतः अब्धिपानप्रवृत्तस्यास्य चकोरस्य, शशिकराः कति वा शीकराः कतिचित्कणा इत्यर्थः । अत्र समुद्रपायिनो दण्डापूपिकया शशिकरपानसिद्धेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

हे सखि ! मेरा यह चकोरका बच्चा समुद्रको पीनेवाले मुनि (अगस्त्य) का शिष्य नहीं बन जायेगा ? अर्थात् अवश्य बन जायेगा । समुद्रको पीनेकी शिक्षा पाये हुए (समुद्रको पीते हुए इसके लिये चन्द्र-किरणें कितनी बूंद होंगी अर्थात् अत्यल्प ही होंगी । [चकोरका चन्द्रिका-पान करना लोक-प्रसिद्ध होनेसे यहां 'चकोर-शिशु' कहा गया है, क्योंकि बालकको दी गयी शिक्षा उसे शीघ्र अभ्यस्त होजाती है और यह चकोर-शिशु जब शिक्षित होजायेगा तब अतिसरलतासे चन्द्रिकाको पी जायेगा, जिससे चन्द्रिकाके अभावमें मुझे सन्ताप नहीं होगा । चकोर विषपरीक्षाके लिये पाला जाता है, विषैले पदार्थको देखनेमात्रसे चकोरकी आंखे लाल हो जाती हैं] ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं बहिरितो मुकुरञ्च कुरुष्व मे।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा सखि! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥५६॥

कुर्विति। हे सखि! एकं गुरुं महान्तम् अयोघनं तप्तायःपिण्डघट्टनमयोमुद्गरं, करे कुरु बिभृहीत्यर्थः। इतोऽस्मत्साधनाद्बहिः, मे मम मुकुरं दर्पणं च कुरुष्व विधेहि। तत्र मुकुरे यदा विधुर्विशति प्रतिफलति, तदैव, सुखादनायासात्, अहितं शत्रुं, तं विधुं, द्रुतं जहि मारय। हन्तेर्लोटि सिपि हिरादेशः। 'हन्तेर्ज' इति जादेशस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वान्न हेर्लुक्। अत्र चन्द्रप्रहारादिप्रलापा मेघसन्देशादिवन्मदनोन्मादविकारा इत्यनुसन्धेयम् ॥ ५९ ॥

हे सखि! अपने हाथमें लोहेका भारी घन लो, मेरे दर्पणको इस (घर) के बाहर (आंगनमें) रखो। इस दर्पणमें जब चन्द्रमा प्रवेश करता (प्रतिबिम्बित होता) है, तब उस शत्रुको अनायास ही शीघ्र मार डालो। [अन्य भी कोई व्यक्ति किसी प्रकार घर आदिमें शत्रुके घुसनेपर लोहेके छड़ आदि भारी पदार्थोंसे उसे मारता है॥ दमयन्तीका उन्माद बहुत ही बढ़ गया है, जिसके कारण वह इस प्रकार बेसिर-पैर की बातें करती है]॥ ५९॥

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषमो वडवानलवद्विधुः।
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः॥ ६०॥

उदर इति। विषमः क्रूरकर्मा, विधुः, उदन्वता उदधिना, 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः। वडवानलवद्वडवाग्निना तुल्यं, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'। उदरे कुक्षावेव किं न धृतः। अथवा, अमुना उदन्वता उज्झितमप्यमुं विधुं विभुः समर्थः स्मरहरः, विषवद्विषेण कालकूटेन तुल्यं, पूर्ववद्वतिः। किं न बुभुजे न ग्रसतेस्म। उभयथापि स्वयं जीवेम इति भावः॥ ६०॥

समुद्रने वडवानलके समान दुःसह (पक्षान्तरमें—विषतुल्य) चन्द्रमाको पेटमें (अपने भीतर) ही क्यों नहीं धारण किया? तथा इस (समुद्र) के द्वारा विष (कालकूट) के समान छोड़े (बाहर निकाले) गये इस चन्द्रमाको काम-नाशक एवं सर्वसमर्थ वे शङ्करजी क्यों नहीं खा गये?। [लोकनाशकारी वडवानलको समुद्रने जिस प्रकार अपने भीतर रखकर जगत्का उपकार किया, वैसे ही सन्तापकारक चन्द्रमाको भी भीतर ही रख लेना उचित था। और यदि समुद्रने इस चन्द्रमाको अपने भीतर नहीं रखकर कालकूट विषके समान इसको भी बाहर कर दिया तो कामदेवको भस्म करनेवाले तथा सर्वशक्तिसम्पन्न शङ्करजीने जगत्के दाहक कालकूट विषको जिस प्रकार खाकर संसारको बचा लिया, उसी प्रकार इस चन्द्रमाको भी क्यों नहीं खाया? अतएव ज्ञात होता है कि वडवानल तथा कालकूटसे भी अधिक दाह करनेवाला यह चन्द्रमा है, इसी कारण समुद्र तथा शङ्करजीने भी इसको छोड़ दिया]॥ ६०॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष पुनर्विशदं विषम् ।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम् ।। ६२ ।।

असितमिति । आर्णवमर्णवे जातं, 'तत्र जातः' इत्यण्प्रत्ययः । असित मेचकं, विषं कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशितं गिलितमपि, पुनर्नाभून्नाजनि । एष चन्द्रो नामार्णवं विशदं विषं पुनः सितविषं तु, सुरैर्बहुभिर्देवैः, 'प्रथमां पिबते वह्नि'रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षयं कृतनाशमपि, स्वयं नवं तद्रूपेणैव, पुनरुदेत्यागच्छतीति व्यतिरेकः ॥ ६१ ॥

समुद्रसे उत्पन्न कृष्णवर्णके (कालकूट) विषको एक देवता अर्थात् केवल महादेवजीने खा लिया तो वह फिर उत्पन्न नहीं हुआ और समुद्रसे ही उत्पन्न इस (चन्द्ररूप) श्वेतवर्णके विषको बहुत देवताओंने अच्छी तरह पानकर इसका क्षय कर दिया, तब भी यह (चन्द्ररूप श्वेत विष) फिर स्वयं उत्पन्न होता है । [जिस कृष्ण वर्ण अर्थात् दुष्ट कालकूट विषको केवल एक महादेवजीने खाया अतः उसे फिर उत्पन्न होना सम्भव है, न कि श्वेत वर्ण होनेसे उत्तम चन्द्ररूप जिस विषको अनेक देवताओंने बार २ पानकर नष्ट कर दिया है, उसे बार बार स्वयं (किसीसे बिना सहायता पाये) उत्पन्न होना । अत एव चन्द्रमा ही कालकूटसे भी अधिक तीव्र विष है ॥ चन्द्रकलाको देवतालोग कृष्ण पक्षमें पान करते हैं, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है] ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ।। ६२ ।।

विरहीति । हे सखि ! विरहिवर्गवधे व्यसनेनासक्त्या, आकुलं सङ्कुलं, सशब्दम्, अशेषकलं पूर्णकलं, विधुं पापं कलय क्रूरं विद्धि । सुरैर्निपीता सुधा यस्य तं, क्षीणमित्यर्थः । शैषिकः कप्समासान्तः । 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पाद्ह्रस्वाभावः । अपाप एवापापकस्तं सौम्यं कलय । तथा कार्यदर्शनादिति भावः । किंतु ग्रहविदो दैवज्ञास्तु कथं विपरीतकथाः 'क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापास्तत्संयुतो बुधः । पूर्णचन्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहाः ॥' इत्येवं विरुद्धवाचः । अनुभवविरोधादग्राह्यं तद्वाक्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

(हे सखि ! तुम) विरही स्त्री-पुरुष-समुदायके वधरूप निन्दित कर्मवाले (पक्षान्तरमें-वधमें आसक्त अर्थात् अतिशय संलग्न) पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाको पापी और देवताओंने जिसकी कला-सुधाका पान कर लिया है, उस (कृष्ण पक्षके) चन्द्रमाको पापरहित जानो; किन्तु ज्यौतिषी लोग उल्टा (पूर्ण चन्द्र ग्रहको शुभ तथा क्षीण चन्द्र ग्रहको अशुभ) क्यों कहते हैं ? । [अथवा—अशेष (सम्पूर्ण अर्थात् ६४) कलाओंसे युक्त विधु (अच्युत) को भी परोपकारी न होनेसे पापी तथा कलाहीन परोपकारी पतित या मूर्खको भी पुण्यात्मा समझो] ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष[2] इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः [1]किममा कृता ॥६३॥

विरहिभिरिति । यः पक्षो विरहिभिः बहुमानं सत्कारमवापि प्रापितः, क्षीयमाणचन्द्रत्वादिति भावः । अवपूर्वादाप्नोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । 'गतिबुद्धि'-इत्यादिना अणि कर्तुः कर्मत्वम् । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इत्यभिधानात् । स विरहिभिर्बहूकृतः पक्ष इहास्मिन् लोके, बहु बहुकारं, लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या बहुलः 'आतोऽनुपसर्गे कः' न तु 'बहोरुलच्' इति भावः । अजनि जातः । खल्वित्युत्प्रेक्षा । किञ्च तत्रापि, यत्र यस्यां तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिभिः तदमितिस्तस्य बहुमानस्यामितिरपरिमितिर्व्यरचि अकारि । नष्टचन्द्रत्वादिति भावः । सा च तिथिः अमा अमितिर्बहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिका कृता किम् ? मातेर्भावार्थे सम्पदादिक्विपि नञ्समासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' । न त्वमा सहभावोऽस्यां सूर्याचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्त्येत्युत्प्रेक्षा । अमेति सहार्थे अव्ययं, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराट्टाप् ॥ ६३ ॥

जिस पक्षने विरहियों से अधिक सम्मान पाया, वह पक्ष इस संसार में 'बहुल' (बहुत मानको लेनेवाला) अर्थात् कृष्णपक्ष हुआ । (उसमें भी) जिसमें उन्हीं (विरहियों) ने उस सम्मानको अपरिमित (अत्यधिक होनेसे परिमाणरहित) कर दिया, वह तिथि 'अमा' की गयी अर्थात् अमवास्या कहलायी क्या ? अथवा—निश्चय ही अमा की गयी । [विरहियों के लिये कृष्णपक्ष कम चन्द्रदर्शन होने से सुखदायी होता है और अमावस्या तिथि सर्वथा चन्द्रदर्शन नहीं होनेसे अधिक सुखदायिनी होती है] ॥ ६३ ॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु विधुं ग्रसते न[2] विधुन्तुदः ।
विपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ॥ ६४ ॥

स्वेति । विधुन्तुदो राहुः, विधुं चन्द्रं, स्वरिपोर्विष्णोस्तीक्ष्णं निशितं यत् सुदर्शनं तदिति विभ्रमात् सादृश्यमूलभ्रमान्नग्रसते किमु ? तालुच्छेदभयादिति भावः । अन्यथा भयाभावे, वदने निपतितं वक्त्रान्तर्गतम् । अत एव, निजं स्वायत्तं, बलिकरम्भनिभम् उपहृतदध्युपसिक्तसक्तुसदृशं, स्वाधिष्ठितमित्यर्थः । 'करम्भा दधिसक्तव' इत्यमरः । एनमिति शेषः । कथमुज्झति उद्गिरतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

वह राहु अपने शत्रु (विष्णु) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्रका अतिशय भ्रम होनेसे चन्द्रमा को नहीं ग्रास करता (खाता) है क्या ? अन्यथा (यदि अतिशय भ्रम नहीं होता तो) मुखमें पड़े हुए अपने बलिके करम्भ (अपनी पूजाके लिये दिये गये दही और सत्तू,— चन्द्रमा भी दहीमें साने गये सत्तूके गोलेके समान श्वेतवर्ण होता है) के समान (चन्द्रमाको) क्यों छोड़ देता है ? । [मालूम पड़ता है गोलाकार चन्द्रमाको देखकर राहुको उसी तीक्ष्ण

१. 'किममीकृता' इति पाठान्तरम् । २. 'स' इति पाठान्तरम् ।

शस्त्र (सुदर्शन चक्र) का अत्यन्त भय होजाता है, उसी कारण वह अपना गला कट जानेके भयसे अपनी पूजा में प्राप्त दधियुक्त श्वेतपिण्डाकार सत्तूके समान चन्द्रमा को ग्रहणकालमें मुखमें डालकर भी बार २ छोड़ देता है। समुद्रमन्थनके बाद अमृत बांटनेके समय सूर्य-चन्द्रके बीचमें बैठकर राहुने जब अमृत पी लिया, तब उसे असुर जानकर विष्णुने उसका शिर सुदर्शन चक्रसे काट दिया]॥ ६४॥

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंशयम्।
अशित एव गलत्ययमत्ययं सखि! विना गलनालबिलाध्वना ॥६५॥

वदनेति। हे सखि! यद्वा राहुः वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्टं शशिनं निजेच्छया स्वेच्छया, नोज्झति। असंशयं संशयो नास्ति। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। किं त्वयं शशी अशितो गिलित एव अत्ययं विना अकृच्छ्रेणेत्यर्थः। 'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे, इति वैजयन्ती। गलनालबिलाध्वना कण्ठनालान्तःकुहरमार्गेण, गलति निस्सरति। राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालनिस्सृतस्याशितस्य जठराग्निसंयोगविरहादस्य पापिष्ठस्येन्दोः पुनरुदय इत्युत्प्रेक्षार्थः॥ ६५॥

राहु-मुखके भीतर गये अर्थात् खाये हुए चन्द्रमाको अपनी इच्छासे नहीं छोड़ता है, किन्तु निश्चय ही खाया हुआ यह चन्द्रमा बिना जीर्ण हुए ही (अथवा—अनायास ही) गलनालके बिलरूपी रास्तेसे निकल आता है। [राहुका केवल सिरमात्र होनेसे चन्द्रमा का बाहर निकल जाना सरल ही है, यदि उसका शरीर पूर्ण अर्थात् धड़के सहित होता तो चन्द्रमा उसके पेट में पहुँचकर जीर्ण होने (पच जाने) से बाहर नहीं निकल पाता। अन्य भी कोई व्यक्ति खाये हुए किसी पदार्थको स्वेच्छासे बाहर नहीं निकालता है]॥ ६५॥

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क नु शशी यदि तज्जठरानलः॥ ६६॥

ऋजुदृश इति। ऋजुदृशः तादात्विककार्यमात्रदर्शिनः, नत्वागामिकार्यदर्शिन इत्यर्थः। पुराविदः पुराणज्ञाः पूर्वपुरुषाः, मधुभिदं, विष्णुं, राहुशिरश्छिदं कथयन्ति किल। किलेति वार्तायाम्। विरहिमूर्धभिदं वियोगिशिरश्छिदं, न निगदन्तीति काकुः। तथैव कथनीयमित्यर्थः। कुतस्तस्य राहोर्जठरानलो यदि अस्तीति शेषः। शशी क नु? न क्वापि स्यादित्यर्थः। राहुशिरश्छेदेन तदीयजठराग्निविच्छेदकत्वाद्विरहिमारकं शशिनमुज्जीवयन्नयं विष्णुर्विरहिशिरश्छेदीत्येवं व्यपदेश्यः न राहुशिरश्छेदीत्यर्थः॥६६॥

सीधा देखनेवाले (सरलबुद्धि) पौराणिक लोग मधुसूदन (विष्णु) को राहुका सिर काटनेवाला कहते हैं, विरहियोंका सिर काटनेवाला नहीं कहते। (क्योंकि) यदि राहुका जठरानल (पूर्ण धड़के साथ शरीर होनेसे जठराग्नि होती तो चन्द्रमा कहां होता? अर्थात् नहीं होता, किन्तु राहुके जठराग्निमें ही जीर्ण हो जाता। [विष्णुद्वारा राहुका शिर काटनेके कारण ही राहुके मुखमें गया हुआ भी चन्द्रमा गर्दनके रास्ते बार २ बाहर निकल आता

है और विरही स्त्री-पुरुषोंको सताया करता है, अतः विष्णुको राहुका शिर काटनेवाला न कहकर विरहियोंका शिर काटनेवाला कहना उचित है]॥ ३६ ॥

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि संदधतुर्भिषजौ दिवः सखि! तथा तमसोऽपि करोतु कः ॥६७॥

स्मरसखाविति। रुचिभिः स्मरसखौ कायकान्तिभिः स्मरसदृशौ तन्मित्रे च, दिवो भिषजौ स्ववैद्यौ, स्मरवैरिणा हरेण, दलितं भिन्नं, मख एव मृगः तस्य मृगरूपधारिणो मखस्येत्यर्थः। शिरो यथा सपदि संदधतुः संयोजयामासतुः। यो यस्य मित्रं स तस्य वैरं निर्यासयतीति युक्तम्। किंतु, हे सखि! कस्तमसो राहोरपि तथा शिरस्सन्धानं करोतु। न कोऽपीत्यर्थः। हरस्य मखमृगशिरश्छेदे पुराणं प्रमाणम्, अश्विनोः पुनस्तत्सन्धाने 'ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' इति श्रुतिः ॥ ६७ ॥

हे सखि! शोभाओंसे कामदेवके मित्र अर्थात् कामदेवके समान शोभावाले स्वर्गके वैद्य अश्विनीकुमारोंने कामशत्रु (शङ्करजी) के द्वारा मृगरूपधारी यज्ञके शिरको जिस प्रकार शीघ्र जोड़ दिया, उस प्रकार (विरहि-वैरी विष्णुके द्वारा काटे गये) राहुशिरको कौन जोड़े ?। [यज्ञका कामदेव तथा कामदेवके अश्विनीकुमार मित्र हैं, अतः 'मित्रका मित्र भी मित्र होता है तथा वह मित्र मित्र, मित्र-शत्रुद्वारा बिगाड़े हुए कामको ठीक कर देता है' इस सिद्धान्तके अनुसार यज्ञमित्र-(कामदेव-) मित्र अश्विनीकुमारोंने मित्र-(कामदेव-) शत्रु अर्थात् शङ्करजीके द्वारा मित्र-(कामदेव-) मित्र अर्थात् यज्ञ (मृगरूपधारी यज्ञ) का काटा गया शिर तत्काल जोड़ दिया, कटे हुए अङ्गको तत्काल जोड़नेसे-उसमें भी स्वर्गके दो वैद्योंद्वारा जोड़नेसे वह बिल्कुल ठीक हो गया। विरहिणियोंका कोई दो की कौन कहे, एक भी अनुभवी चिकित्सक मित्र दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विरहि-शत्रु विष्णुद्वारा काटे गये राहुशिरको जोड़ दे, यदि ऐसा होता तो राहुके द्वारा खाया गया चन्द्रमा उसके जठरानलमें ही रह जाता और विरहि-जनोंको वह नहीं सताता]॥ ६७ ॥

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमो ग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

नलेति। अथवा, रणे नलेन, विमस्तकितस्य तथापि मृतिभिया मरणभयेन भृशमुत्पतत उद्गच्छतो रिपोः, कबन्धगलेन अपमूर्धकलेवरकण्ठेन सह तमोग्रहस्य शिरः, तस्य गलस्यासृजा रक्तेन दृढबन्धनं निबिडसंयोगं सत् किं न मिलति न सङ्गच्छते?। तथा च तज्जठराग्निना चन्द्रे जीर्येदिति भावः ॥ ६८ ॥

अथवा संग्राममें मरने ('धृतिभिया' पाठमें-नलद्वारा पकड़े जाने) के भयसे अत्यन्त ऊपर उछलते हुए (तथापि) नलके द्वारा काटे गये शिरवाले शत्रुके (शिरसे रहित) धड़की गर्दनके साथ (आकाशमें तारारूपमें स्थित) राहुका शिर उस (शिरसे हीन धड़) के रक्तसे अच्छी तरह जुड़कर नहीं मिल जायेगा क्या ?। [इसके पूर्ववाले श्लोकमें विरहिजनोंको

कोई मित्र नहीं दृष्टिगोचर होनेसे राहुशिरका उसीके धड़के साथ जोड़ने की संभावना को दमयन्तीने प्रकट किया है, फिर इस पद्यमें यदि कोई वैसा करनेवाला मिल भी गया तो भी राहुके शिरको कटे बहुत समय व्यतीत हो जानेके कारण उस जोड़को दृढ न समझकर इस श्लोकमें रक्तयुक्त नलच्छिन्नमस्तक-शत्रुके धड़के साथ राहुशिरको मिलकर दृढ होने की कल्पना दमयन्तीद्वारा की गई है। ऐसा होनेसे चन्द्रमा राहुके जठरमें जाकर गल-पच जायेगा और विरहि-जनोंको सर्वदाके लिये उससे छुटकारा मिल जायेगा]॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमशिरस्समसौ दधतापि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥६९॥

सखीति । अथवा, हे सखि ! जरां जराख्यां निशाचरीं, परिपृच्छ । असौ जरा कबन्धताम् अशिरस्कतां दधतापि केतुना समं केतुग्रहेण सह, तमसो राहोः शिरः, मगधराजस्य जरासन्धस्य, वपुर्दलयोः शरीरार्धभागयोः युग्मवत् युगलमिव, किमिति नु प्रतिसीव्यति न सन्धत्ते ?। शिरोमात्रं राहुः शरीरमात्रं केतुः तयोः सन्धाने पूर्ववत्तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः। जराकृताङ्गसन्धानो जरासन्ध इति भारती कथानुसन्धेया ॥ ६९ ॥

हे सखि ! तुम जरा-(नामकी राक्षसी) से पूछो कि राहुके शिरको कबन्धरूप केतुके साथ, मगधनरेश (जरासन्ध) के शरीरके दो खण्डोंके समान क्यों नहीं सी (कर जोड़) देती हो ? । [जिस प्रकार दो टुकड़ोंके रूपमें जन्मे हुए जरासन्धका शरीर सीकर तुमने जोड़ दिया, उसी प्रकार केतुरूप धड़ तथा राहुरूप शिरको जोड़ देना उचित है, विष्णुके द्वारा सुदर्शन चक्रसे काटनेके बाद एक ही दैत्यका शिर राहु तथा धड़ केतु नामसे प्रसिद्ध हुआ, अतः एक ही व्यक्तिके धड़ तथा शिरको जोड़ना तुम्हें अवश्यमेव उचित है। इससे जिस प्रकार विरहिजनों को लाभ होगा, वह पहलेके दो श्लोकोंमें कह दिया गया है]॥ ६९ ॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ।
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निपेव्य हि वारुणीम् ॥७०॥

वदेति । हे आलि सखि ! मदीरितैः मद्वाक्यैः, विधुन्तुदं राहुं वद, रिपुं द्विजराजश्चन्द्रो ब्राह्मणश्रेष्ठश्च, तद्धिया त्यजसि किम् ?। तन्नास्तीत्याह—यद्यस्मादेष चन्द्रो वारुणीं प्रतीचीं सुराञ्च । 'वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीचीसुरयोरपि' इति विश्वः । निषेव्य गत्वा पीत्वा च । पतितः च्युतः पातकी च। ईदृशः पतितोऽपि पुनर्दिवमन्तरिक्षं स्वर्गञ्च एति यदि किमु । द्वयोरपि पतितयोरधोगतिरेव नोर्ध्वगतिरित्यर्थः। अतः पतितस्य कुतः श्रैष्ठ्यं कुतस्तरां तद्वधे दोषश्चेति भावः ॥ ७० ॥

हे आलि ! तुम मेरे कहनेसे चन्द्रमाको पीडित करनेवाले अर्थात् राहुसे पूछो कि-'तुम

द्विजराज (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, पक्षान्तरमें—चन्द्रमा) को बुद्धिसे अर्थात् ब्राह्मण-श्रेष्ठ (पक्षान्तरमें-चन्द्रमा) समझकर शत्रुभूत इस चन्द्रमाको (ब्राह्मणको नहीं मारना चाहिये, एतदर्थक श्रुतिको स्मरणकर) छोड़ते हो क्या, फिर यदि यह ऐसा अर्थात् ब्राह्मण-श्रेष्ठ होता तो वारुणी (मदिरा, पक्षान्तरमें—पश्चिम दिशा) का सेवनकर अर्थात् मदिरा पीकर (पक्षान्तरमें—सायंकालमें पश्चिमकी ओर जाकर) पतित (मदिरा-सेवनजन्य महापातकसे युक्त, पक्षान्तरमें समुद्रमें गिरा) हुआ फिर स्वर्ग (पक्षान्तरमें—आकाश) में क्यों आता ? अर्थात् नहीं आता। ['द्विजराज' शब्दका ब्राह्मण या ब्राह्मण-श्रेष्ठ और चन्द्रमा-दोनों अर्थ है। ब्राह्मण-हत्याका वेदमें निषेध जानकर शत्रुभूत चन्द्रमाको भी ब्राह्मण-श्रेष्ठ समझकर छोड़ देना राहुको ठीक नहीं, क्योंकि जो ब्राह्मण मदिराका सेवन करता है वह पतित हो जाता है तथा फिर स्वर्ग पानेका अधिकारी नहीं रहता, किन्तु वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशाका सेवनकर सायंकालमें पश्चिम समुद्रमें गिरकर पुन प्रातःकाल उदित होता है, अतः यह ब्राह्मण है ही नहीं या ब्राह्मण है भी तो पतित ब्राह्मण है, अतः शत्रुभूत इस (चन्द्रको तुम अवश्य मारो, इससे हमलोगोंकी भी पीडा शान्त हो जायेगी] ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवासनयोज्झितः ? ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ? ॥७१॥

दहतीति । हे विधुन्तुद ! अयं विधुः द्विजवासनया द्विजत्वसामान्येनेत्यर्थः । पातित्येऽपि जातेरनपायादिति भावः । गरुडवद् गरुडस्येव 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । ते तव कण्ठं दहति खलु । विधुः तेन दाहेनोज्झितः किम् ? अस्य विप्रता का वद, न कापीत्यर्थः । तथा हि, अस्य विधोः प्रकृतिः निरागसि निरपराधायां मयि दाहिका दग्ध्री। अनपराधस्त्रीघातुकस्य कुतो ब्राह्मणत्वमित्यर्थः । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । पुरा किल क्षुधितेन गरुत्मता पित्रादेशेन म्लेच्छान् भक्षयता तन्मिलितः भ्रष्टद्विजः कश्चित् तद्दग्धगलेन सहसोद्गीर्ण इति पौराणिकी कथा । तथा माघश्चाह—'विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार' इति ॥ ७१ ॥

(अथवा) यह चन्द्रमा (खानेपर) तुम्हारे कण्ठको जलाता है, अतः ब्राह्मण समझकर गरुड़के समान इसको छोड़ देते हो क्या ? (यह ठीक नहीं, क्योंकि) इसका स्वभाव ही दाहक (जलानेवाला) है, (तुम्हीं बतलाओ कि) मुझ निरपराधिनीमें क्या ब्राह्मणत्व है (जो मुझे जला रहा है)। ब्राह्मण अपराधीको शापके द्वारा जलाता है, निरपराधी—उसमें भी दुखिया स्त्रीको नहीं, किन्तु जिस प्रकार यह मुझ निरपराधिनीको अपने स्वभावसे ही जलाता है ब्राह्मणत्वके कारण नहीं; उसी प्रकार मुखमें लेनेपर तुमको भी स्वभावसे ही जलाता हैं, अपने ब्राह्मणत्वके कारण नहीं. अब इस चन्द्रमाको खाना ही तुम्हारे लिए उचित है, गरुडके समान कण्ठमें दाह होनेमात्रसे चन्द्रमाको ब्राह्मण समझकर छोड़ना

उचित नहीं। 'एक समय माताकी दासताको छुड़ानेके लिये स्वर्गसे अमृत लानेको जाते हुए गरुडसे कश्यपने कहा था कि मार्गमें ब्राह्मणोंको छोड़कर जो जीव मिले उसे खा सकते हो, किन्तु जिसको मुखमें लेनेपर गलेमें दाह हो उसे ब्राह्मण समझकर छोड़ देना' इस आदेशानुसार मार्गमें समुद्रतटपर निषादोंमें रहनेवाले निषादाकृति ब्राह्मणको गरुडने निषाद के भ्रमसे मुखमें डाला, परन्तु गलेमें दाह होने लगा तो उसे उगल दिया' यह पौराणिक कथा है ॥ ७१ ॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः ।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

सकलयेति । विधुः सकलया कलया सकलाभिः, कलाभिरेव, दंष्ट्रया दंष्ट्राभिः ॥ दन्तविशेषैः प्रकृतिद्रव्येण । उभयत्र जात्येकवचनम् । यमाय अन्तकार्थं समवधाय सम्यगवहितीभूय, विरहिणीगणस्य चर्वणसाधनं, किञ्चिद्भक्षणसाधनं विनिर्मितः, किल ब्रह्मणेति शेषः। अतोऽस्माद्दंष्ट्राविशेषत्वाद् 'द्विजराज'इति श्रुतः, न तु विप्रविशेषत्वादित्यर्थः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । अतो नायमुपेक्ष्य इति भावः ॥

यह चन्द्रमा यमराजके लिये सावधान होकर (ब्रह्माके द्वारा) सम्पूर्ण कलारूपी दांतोंसे विरहिणीसमूहको चबानेका साधन बनाया गया है, अतएव यह द्विजराज (द्विजों अर्थात् दांतोंसे शोभनेवाला) कहा गया है । [ब्राह्मणोंमें शोभनेवाला या श्रेष्ठ होनेसे द्विजराज नहीं कहा गया है, अतः ब्राह्मण न होनेसे इसे मारनेमें राहुको कोई पाप नहीं, इस कारण इसे मार ही डालना उचित है ॥ अन्य लोगोंको भी चना आदिको चबानेके लिए सब दांतोंको दृढ रहना आवश्यक होता है ॥ ७२ ॥

स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृषे विधुः ।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाङ्कितः ॥७३॥

स्मरमुखमिति । अथ विधुश्चन्द्रो नामेदं स्मरमुखं ज्वलत् प्रज्वलदेव विधिना दैवेन हरनेत्रहुताशनाच्चकृषे मध्ये आकृष्टः । अथवा बहुविधेन वियोगिवधेन यदेनः पापं, तेनैव कालिकया श्यामिकया, शशमिषादङ्कितः । दाहकालिमा वा, पापकालिमा वा शशमिषाद् दृश्यत इति सापह्नवोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥ ७३ ॥

ब्रह्माने शिवजीके नेत्रकी अग्निसे, जलते हुए इस चन्द्ररूप काम-मुखको खींच लिया, फिर वियोगिजनोंके वधजन्य अनेक प्रकारके पापके कारण उसे शशकके बहाने से कालिमा अर्थात् कालिखसे चिह्नित कर दिया । [अन्य भी व्यक्ति अग्निमें जलते हुए किसी मनुष्यको बचानेके लिये अग्निसे खींचकर निकालता है, यदि वह अच्छा (उपकारक) होता है तो उसे रख लेता है, अन्यथा यदि वह दूसरोंके लिए हानिकारक होता है तब उसके मुखमें कालिख पोतकर उसे बाहर निकाल देता है तथा अधजली वस्तुमें भी कालिख लगी रहती है] ॥७३॥

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा।
अतितरां दधती विरहज्वरं हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥७४॥

इतीति। अतितरामतिमात्रम्, अव्ययादाम्प्रत्ययः। विरहज्वरं दधती सा दमयन्ती इतीत्थं, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विधोर्विविधोक्तिभिर्विगर्हणं निन्दा वृथेति विमृश्य, अरण्यरुदितप्रायमिति विचार्य, हृदयभाजं सन्निहितं स्मरमुपालभत निनिन्द। पात्तिकफलसम्भावनयेति भावः॥ ७४॥

अत्यधिक विरहज्वरको धारण करती हुई वह दमयन्ती 'अत्यन्त दूरस्थ चन्द्रमाकी अनेक प्रकारके कथनसे निन्दा करना व्यर्थ है (उसके स्वयं न सुननेसे मेरीकी हुई निन्दा अरण्यरोदनके समान है), ऐसा विचारकर हृदय (अत्यन्त समीप) में नित्य रहनेवाले कामदेवको उपालम्भ देने लगी (कामदेवकी निन्दा करने लगी)। [अपकारी व्यक्तियोंमेंसे दूरस्थको उलहना न देकर अत्यन्त निकटस्थ व्यक्तिको उलहना देना उचित समझा जाता है] ॥७४॥

(द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः।
विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सयास्फुरति राहुरयं न निशाकरः॥१॥) ❀

द्विजराज (ब्राह्मण, पक्षान्तरमें—चन्द्रमा) के खानेसे स्थापित (या 'अहित' पदच्छेद करनेपर 'अहितकर') पापसे उत्पन्न कोढ़से सफेद शरीरवाला (तथा इस समय) विरहिणियोंके मुखरूपी चन्द्रमाको खानेकी इच्छासे यह राहु स्फुरित हो रहा है, यह चन्द्रमा नहीं है। [अन्य भी कोई व्यक्ति ब्राह्मणके खानेसे उत्पन्न महापातकसे कुष्ठरोगी हो जाता है, किन्तु वह यदि अत्यधिक दुष्ट होता है तो अपने स्वभावसे विवश होकर फिर उसी दुष्कर्मको करता रहता है] ॥ १ ॥

हृदयमाश्रयसे बत मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग! तदेव किम्?।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क्व भवितासि? हताश! हुताशवत् ॥७५॥

हृदयमिति। हे अनङ्ग! ममेदं मामकम्। 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि ममकादेशः। हृदयमाश्रयसे। तदेवेत्थं किं ज्वलयसि दहसि? बत। हताश दुर्बुद्धे! स्वयं त्वमपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः, कर्मण्यण्। तद्वत्। क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रयः सन्नित्यर्थः। क्व भवितासि क्व भविष्यसि? न क्वापीत्यर्थः। अनद्यतने लुट्। परहिंसाव्यसनेनात्मनाशं न पश्यसीत्याशयेन हताशेत्यामन्त्रणम् ॥ ७५ ॥

हे कामदेव! यदि तुम मेरे हृदयका आश्रय करते हो अर्थात् मेरे हृदयमें रहते हो, तब उसीको इस प्रकार (अतिशय एवं निरन्तर) क्यों जलाते (अपने आश्रयस्थानको नष्ट करते) हो?। हे हताश! (निष्फल अभिलाषावाले!) क्षणभरमें अपने इन्धनको जला देनेवाले अग्निके समान स्वयं भी तुम कहाँ रहोगे?। (जिस प्रकार अग्नि अपने

❀ अयंश्लोकः 'तिलक-सुखावबोधा'ख्यव्याख्ययोरुपलभ्यत इत्यवधातव्यम्।

इन्धनको जलाकर स्वयं भी बुझ जाती है, उसी प्रकार अपने आश्रय मेरे हृदयको पीडितकर अर्थात् मुझे मारकर तुम भी कहां रहोगे ? ॥ लोकमें भी कोई व्यक्ति अपने निवासस्थानको स्वयं नष्ट नहीं करनेपर ही सुखी रहता है, अतः स्वाश्रयभूत मेरे हृदयको पीडित करना तुम्हारे लिये अच्छा नहीं होगा]॥ ७५ ॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।
स्मर ! निरैक्ष्यत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ॥७६॥

पुरभिदेति । हे स्मर ! त्वम् अक्षिगत इति शेषः । अनक्षिसन्निकृष्टस्याचक्षणा दग्धुमशक्यत्वाददृश्यस्य च दाहायोगादिति भावः । पुरभिदा हरेण, त्रिनयनत्वं त्र्यक्षत्वं, क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः । तस्य परिप्लुतिशङ्कया तृतीयाक्षिवैयर्थ्यभयेनेत्यर्थः । अदृश्यतां गमितो नाशं प्रापितः, 'गतिबुद्धि'-इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वे तत्रैव क्तः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति वचनात् । किन्तु, कस्यचनापि यस्य कस्यचिदपि जनस्याक्षिगते दृग्गोचरे द्वेष्ये च । 'द्वेष्ये त्वक्षिगतो वध्यः' इत्यमरः । त्वयि त्रिभिर्नयनैः किं न निरैक्ष्यत, किमिति न निरीक्षितम् । अतोऽस्य त्रिनयनत्वं व्यर्थमेवेत्यर्थः । स्वाक्षिगत इव मादृशाक्षिगतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणाभावादपरोपकारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च देवस्य जितकामत्वादन्येषां तु कामजितत्वादुत्प्रेक्ष्यत इति । त्वयि निरैक्ष्यतेत्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकशक्तियुक्तस्येति न्यायेन मातरि प्रहृतमित्यादिवदाधारत्वविवक्षायामविवक्षितकर्मकादीक्षतेर्भावे लकारः । 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

हे स्मर ! महादेवजीने (अपने) त्रिनयनत्वकी अर्थात् तृतीय नेत्रवाला होनेकी व्यर्थता (या अतिव्याप्तिकी) आशङ्कासे तुमको अदृश्य (नष्ट) कर दिया । (फिर) तुम्हारे प्रत्यक्ष (पक्षान्तरमें—द्वेष्य) होने पर किसे तीन नेत्र (पक्षान्तरमें—क्रोध) हुए अर्थात् किसीको भी नहीं । अथवा—अक्षिगत (द्वेष्य) होने पर कौन त्रिनेत्र अर्थात् क्रोधयुक्त नहीं हुआ, अपि तु सभी क्रोधयुक्त हुए । [महादेवजीने सोचा कि अभी तो केवल मैं ही त्रिनेत्र हूँ, पर कामदेव यदि अन्यलोगोंका अक्षिगत यानी प्रत्यक्ष (पक्षान्तरमें—द्वेष योग्य) होगा तो सभी त्रिनेत्र (पक्षा०-क्रोधी) हो जायेंगे तो हमारा त्रिनेत्र (तीन नेत्रोंवाला) होना व्यर्थ हो जायेगा । अत एव उन्होंने तुम्हें जलाकर नष्ट कर दिया कि अब भविष्यमें कामदेव न किसीको अक्षिगत (प्रत्यक्ष) होगा, न कोई त्रिनेत्र (क्रोधी) ही होगा, इस प्रकार मेरा त्रिनेत्र होना सफल होगा । यही कारण है कि तबसे कामदेवको देखकर कोई त्रिनेत्र (क्रोधी) नहीं हुआ, अपि तु कामदेवके द्वारा आनन्दलाभ किया । लोकमें भी कहा जाता है कि 'मैं' तुम्हें देखकर त्रिनेत्र (क्रोधी) हो गया, यही कारण है कि क्रोध होनेपर लोगोंकी आंख लाल हो जाती है, शिवजीकी आंखसे भी कामदेवके जलानेके समय लालवर्ण ही अग्नि निकलती थी । लोकमें अब भी क्रोधके कारण आंखसे चिनगारी निकलनेकी बात लोग कहा करते हैं]॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ? ।
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥७७॥

सहचर इति । हे स्मर ! रतेः रतिदेव्याः, सन्तुष्टेश्च सहचरोऽसीति विश्रुतिः प्रसिद्धिः । त्वयि वसति हृदयस्थे सत्यपि, मे कुतो रतिर्न ? अथवा, सम्प्रति वां युवयोः सङ्गतिर्नास्ति । कुतः, इयं रतिर्भवन्तं नानुसृता किल । किलेति वार्तायाम । अनुमरणाभावादसङ्गतिर्युक्तेत्यर्थः । अत्र प्रीतिलक्षणाया रतेर्देव्या सहाभेदाध्यवसायादयमुपालम्भः । अत एवातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ७७ ॥

तुम रति (अपनी स्त्री, पक्षान्तरमें—प्रीति) के सहचर हो अर्थात् जहाँ तुम रहते हो, वहाँ रति । (रति नाम की तुम्हारी प्रिया, पक्षान्तरमें—प्रीति) अवश्य रहती है, यह विश्रुति (लोकमें प्रसिद्धि या विशिष्ट श्रुति = विशेष वेदवाक्य) है; किन्तु तुम्हारे निवास करते रहनेपर भी मुझे रति (नलके साथ सहवासरूपी रति, पक्षान्तरमें—प्रीति) क्यों नहीं है ? (तुम्हारे रहनेपर उसे रहना उचित था) । अथवा—इस समय (शङ्करजीके द्वारा तुम्हारे जलाये जानेके बाद) तुम दोनों (रति-काम) का साथ नहीं है, पर तुम्हारे पीछे वह (रति) तो नहीं मर गयी है । (अतः तुम रतिके सहचर हो, यह वस्तुतः विश्रुति अर्थात् विपरीत जनप्रसिद्धि (पक्षान्तरमें—विपरीत वेदवचन) है] ॥ ७७ ॥

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ! किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ? ॥ ७८ ॥

रतीति । आत्मानं परञ्च न जानातीत्यनात्मपरज्ञ सर्ववातुक मार ! मामिव रतिवियुक्तं स्वमात्मानमपि तापितवानसीत्युत्प्रेक्षा । कुतः, इतरथा स्वाऽसन्तापने, अतापभृतस्तापरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कान्मम हृदयं कथं दह्यते ? तप्तस्पर्शात्तापो नातप्तस्पर्शादित्यर्थः । सन्तापनादपि, स्वयमतप्तेन त्वया परसन्तापः क्रियते, यथा तच्छीलैस्तप्तमुखैः शिलीमुखैरिति भावः ॥ ७८ ॥

हे अनात्मपरज्ञ ! अर्थात् अपना तथा पराया नहीं जाननेवाले (किसकी रक्षा करनी चाहिये तथा किसकी नहीं, यह नहीं समझनेवाले कामदेव ! रति (नलविषयक संसर्ग) से रहित मेरे समान रति (अपनी प्रियतमा) से रहित अपनेको भी क्यों संतप्त किया है ? अन्यथा (यदि तुम अपनेको भी नहीं सन्तप्त करते तब) सन्ताप-रहित तुम्हारे साथसे मेरा हृदय क्यों जल रहा है ? [कोई भी व्यक्ति अपनी रक्षा करते हुए दूसरेको संताप देता है, किन्तु तुम तो इतने दुष्ट हो कि स्वयं सन्ताप सहकर भी दूसरेको सन्तप्त कर रहे हो, अतः तुम्हारी दुष्टता अत्यधिक है ॥ लोकमें भी ठण्डे पदार्थके संसर्गसे कोई गर्म नहीं होता है]॥७८॥

अनुममार न मार ! कथं नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता ।
इयदनाथवधूवधपातकी[1] दयितयापि तयासि किमुज्झितः ? ॥ ७९ ॥

---

१. 'विरहिणीशतघातनपातकी' इति पाठान्तरम् ।

अनुममारेति । हे मार मारक ! प्रतिव्रतेति प्रथितापि सा रतिः कथं नानुममार कथं नानुमृता ? 'मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इत्यनुस्मरणादिति भावः । अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरसंख्यैरित्यर्थः । अनाथवधूनां वियोगिस्त्रीणां, वधैः पातकी त्वं, तया दयितयापि विरहमसहमानयापीति भावः । उज्झितः त्यक्तोऽसि किमुत्युत्प्रेक्षा । 'आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषित' इति स्मरणादिति भावः॥७९॥

हे घातक कामदेव ! अत्यन्त विख्यात प्रतिव्रता भी वह रति तुम्हारे बाद क्यों नहीं मर गयी 'अर्थात् मरकर सती हो गयी ? इतनी (सैकड़ों-हजारों) अनाथ स्त्रियोंके मारनेसे पातकी तुमको अतिशय प्रिया उस (रति) ने भी छोड़ दिया है क्या ? [सैकड़ों-सहस्रों अनाथ विरहिणी स्त्रियोंकी हत्या करनेसे पातकी होनेके कारण ही पतिव्रता तथा परमप्रिया होनेपर भी रतिने स्मृति (याज्ञ० १७७) वचनको मानकर ही तुम्हें छोड़ दिया, अन्यथा वह अवश्यमेव तुम्हारे मरनेके बाद सती हो जाती] ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥ ८० ॥

सुगत इति । जितेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव, विजित्य, तव उरुं महतीं कीर्तिमेव तनुं शरीरं, यद्यस्मादनाशयत् नाशितवान् । ततः कारणादवशिष्टवतीमवशिष्टां भूतमयीं पाञ्चभौतिकीं तव तनुं समिति युद्धे हरः शम्भुरहरत् भस्मीचकारेत्यर्थः । तथापि निर्लज्जः कथमित्थमस्मादृशानकरुणं व्यथयसीति विस्मिताः स्म इति भावः॥८०

जितेन्द्रिय बुद्धने ही तुम्हें जीतकर तुम्हारी बढ़ी हुई कीर्तिरूपी शरीरको जो नष्ट कर दिया; तदनन्तर जितेन्द्रिय हर (संसारका संहार करनेवाले महादेव) ने युद्धमें विजय-कर शेष पाञ्चभौतिक (पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतसे बने हुए) शरीरको हरण किया (जलाया) । [यदि जितेन्द्रिय बुद्ध तुमको जीतकर तुम्हारा यश नष्ट नहीं किये होते तो सर्व-संहार-कर्ता शिवजी भी तुम्हें नहीं जला सकते । अथवा—पहले तो बुद्धने तुम्हें जीतकर कीर्तिको नष्ट किया, फिर भूतमयी (पिशाच-रूपी) देहको महादेवजीने जलाया, इस अर्थमें यशको आत्मा तथा शरीरको पाञ्चभौतिक शरीर माना है, क्योंकि यश तथा आत्मा दोनों अमर एवं नित्य हैं, तथा आत्माके शरीरसे निकल जानेपर पाञ्चभौतिक शरीरको जला दिया जाता है । मारनेपर भूतमय अर्थात् प्रेतरूप होना लोक तथा शास्त्र में माना जाता है] ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता ।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

फलमिति । हे अनङ्ग ! विषमनेत्रं त्र्यक्षं, कुसुमैर्निगृह्णता निरुन्धता प्रहरतेत्यर्थः । त्वया यत्फलंमरणरूपमलभ्यत। ततस्तस्मात् फलादवाप्तभया प्राप्तभया नीतिः,सर्वथा साधनान्तरेणापि वैरनिर्यातनं कार्यमित्येवंरूपा (कर्त्री), कुसुमैरपि विग्रहं नेच्छति ।

अहहेत्यद्भुते। किमुत साधनान्तरैः, 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरै'रिति नीत्या कुसुमान्यपि मोक्तुं बिभेषीति भावः ॥ ८१ ॥

हे अनङ्ग ! पुष्पों (बाणभूत पुष्पों) से भी त्रिनेत्र महादेवजी पर प्रहार ('विगृह्णता' पाठमें विरोध) करते हुए जो फल (आत्मनाश) पाया, उसी से सभय होकर नीति पुष्पोंके द्वारा भी (तीक्ष्ण बाण आदि शस्त्रोंका तो कहना ही क्या ?) विरोधको नहीं चाहती ('पुष्पोंसे भी किसीको मारना श्रेयस्कर नहीं' यह नीति श्रेष्ठ मानी जाती है)। अथवा—हे 'अङ्गहीन' (जब शरीर ही नहीं तो शरीराश्रयी ज्ञान कहां रहेगा ! अतः हे मूर्ख कामदेव !) तुम ऐसे मूर्ख हो कि पुष्पास्त्र होकर भी विषम-दृष्टि (असमान नेत्रवाले अर्थात् मृत्युञ्जय) के साथ भी युद्ध करने गये, यह आश्चर्य है। अथवा—विषम अर्थात् अतितीक्ष्ण स्वभाववाले नेत्र (नायक) के साथ विरोध किया यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है]॥ ८१ ॥

अपि धयन्नितरामरवत्सुधां त्रिनयनात्कथमापिथ तां दशाम् ?।
भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तघृणः खलु नापिबः ? ॥ ८२ ॥

अपीति। हे स्मर ! इतरामरवद्देवतान्तरवत्, सुधां धयन् पिबन्नपि, धेटः शतृप्रत्ययः। त्रिनयनादीश्वरात्, कथं तां दशां मरणावस्थाम्, आपिथ प्राप्तोऽभूः ? आप्नोतेर्लिटि थलि क्रयादिनियमादिडागमः। भण वद। अथवा, रतेर्देव्याः, अधरस्यौष्ठस्य, रसे स्वादे , आदरादास्थावशात् आत्तघृणः-प्राप्तामृतजुगुप्सः सन्। 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति वैजन्ती। अमृतं नापिबः खलु। अमृतपाने कथमन्येष्वमरेषु त्वमेको मृत इति भावः ॥ ८२ ॥

अन्य (इन्द्र आदि) देवताओंके समान अमृतको पीते हुए भी तुमने शिवजीसे उस (आत्मदाहरूप) दशाको क्यों पाया ? अथवा रतिके अधरके रसमें अत्यन्त आदर (आसक्ति) होने से (अमृतके प्रति) घृणाकर अर्थात् अमृतको प्रियाके अधररसकी अपेक्षा तुच्छ समझकर (तुमने) अमृतको नहीं पिया क्या ? कहो। [यदि तुम भी इन्द्र आदि अन्य देवताओंके समान अमृतका पान करते तो शिवजी तुम्हें नहीं जला सकते, अत एव प्रियाके अधररसके लम्पट तुमने अमृतका त्यागकर महामूर्खता की यह आश्चर्य है]॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ?।
यदधुना विरहाधिमलीमसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्विधाम् ॥८३॥

भुवनेति। परेत प्रेत ! तव भुवनानां मोहनमचेतनीकरणं तज्जेनैनसा पापेन पिशाचता बभूव किम् ?। कुतः स्मर ! यद्यस्मादधुना विरहाधिना वियोगव्यथया मलीमसां मलीनां, मद्विधां मादृशीमबलामभिभवन् पीडयन्, भ्रमसि। पापिष्ठाः किल पिशाचतां गताः दुर्बलस्त्रीबालादीन् पीडयन्ति, त्वञ्च तादृक्कोऽपि पिशाच इत्युत्प्रेक्षा॥

हे प्रेत ! हे कामदेव ! संसार (में स्थित प्राणियों) को मोहित करनेसे उत्पन्न पापसे तुम पिशाच हो गये हो क्या ? जो इस समय (मरनेके बाद प्रेत बनकर) विरह-पीडासे

मलिन मुझ=जैसी (विरहिणी) को पीडित करते हुए घूमते हो [मरनेके बाद पापसे प्रेतरूप नीच योनिको प्राप्त जीव स्त्री बालक आदि मलिन लोगोंके शरीरमें प्रवेशकर उन्हें पीडित तथा उनके शरीरको कम्पित करते हैं ॥ तुम मरनेपर भी मुझ-जैसी दुखित अबलाओंको पीडित करते हो, अतः महादुष्ट हो] ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनुः करात् ।
अथ मृतोऽसि ! मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धनः॥८४॥

बतेति । हे स्मर ! मृत्युमपि न ददासि । तेन दुःखान्तो भवेदिति भावः । अथवा कृपया ते कराद्धनुरपि न स्खलति न भ्रश्यति । पूर्ववद्भावः। अथ मृतोऽसि। तथापि न स्खलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धनः अङ्गीकृतबन्धनः दृढबद्ध इत्यर्थः । 'उर्यङ्ग्यूर्युररीभ्यश्च करोति कुरुते परः' इति भट्टमल्लः । मुष्टिर्न मुच्यते खलु । बतेति खेदे । ततः कृतान्तादपि क्रूरोऽसीति भावः ॥ ८४ ॥

हे स्मर ! तुम (मुझ दुखिया अबलापर कृपाकर) मृत्युको भी नहीं देते हो (जिससे मेरा दुःख छूट जाय) कष्ट है । कृपा से (पक्षा०-अकृपासे) तुम्हारे हाथसे धनुष भी नहीं गिर जाता (जिससे तुम्हारा निरन्तर बाण-प्रहारकर पीडित करना असम्भव हो जाता), खेद है । अथवा तुम मर गये हो (अतः) मरा हुआ बाँधी हुई मुट्ठीको नहीं खोलता है । (यही कारण है कि मरनेके पहले जो तुमने धनुष लेकर मुट्ठी बांध ली है, वह मरनेके बाद नहीं खुलनी है । अन्य भी व्यक्ति यदि मुट्ठी बांधे मर जाता है, तब उसकी मुट्ठी प्रत्येक अङ्गके काष्ठवत् हो जानेसे नहीं खुलती । और जब जीते जी तुम मुट्ठी खोलकर कृपा नहीं करते तब मरने पर कहांतक कृपा करोगे ? अतः धनुष कैसे गिरे ? अन्य कृपण व्यक्ति भी जो जीते जी मुक्तहस्त होकर दान देने की कृपा नहीं करता, वह मरनेपर कहां तक मुक्तहस्त होकर दान देनेकी कृपा करेगा ? अर्थात् कदापि नहीं करेगा] ॥ ८४ ॥

दृगपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते परनिर्जरसेविता ।
अतिशयान्ध्यवपुः क्षतिपाण्डुताः स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासितः॥८५॥

दृगिति । हे स्मर ! परनिर्जरसेविता त्वत्तोऽन्यदेवतासेवको जनः, तृच् । दृशोरूप हतिः आन्ध्यम्, अपमृत्युरकालमरणं, विरूपता अङ्गवैवर्ण्यञ्च, शमयते निवर्तयति । 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । सिखाद्ध्रस्वत्वम् । भवन्तमुपासितुः त्वत्सेविनो जनस्य तु । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक'-इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अतिशयेनान्ध्यं दृष्ट्युपघातः, वपुःक्षतिः शरीरविपत्तिः, पाण्डुता वैवर्ण्यञ्च, ता भवन्तीति देवतान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्तिः फलं, त्वद्भक्तस्य तदुद्रेक इत्यहो भक्तवात्सल्यं कामदेवस्येत्युपहासः । अत्रानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेदः ॥ ८५ ॥

हे कामदेव ! तुमसे भिन्न (सूर्य आदि) देवताओंकी सेवा (आराधना) करनेवालेकी दृष्टिनाश (कम दीखना या अन्धापन), अकालमृत्यु और विरूपता (शरीरको वि-

कृत करनेवाले कुष्ठादि रोग) को शान्त करती है, किन्तु तुम्हारी सेवा (आराधना, पक्षान्तरमें-आश्रय) करनेवालेको अत्यन्त अन्धता (देखिये श्लो० १२, या ज्ञानशून्यता), शरीर-क्षति (दुर्बलता आदि, पक्षान्तरमें-अकालमृत्यु) और पाण्डुता (शरीरमें विरहजन्य पाण्डुता पक्षान्तरमें—पाण्डुरोग) होने हैं । [दूसरे सूर्य आदि देवता तो अपने भक्तोंके अन्यकृत उक्त रोगोंको भी शान्त कर देते हैं,, किन्तु तुम अपनी सेवा करनेवालोंके अन्यकृत रोगोंको शान्त करना तो दूर रहा, उल्टे स्वयं ही इन रोगोंको उत्पन्न कर देते हो, धन्य है तुम्हारा देवत्व !] ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुर्दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद्व्रजेत् ॥८६॥

स्मरेति । हे स्मर ! नॄन् शंसति हिनस्तीति नृशंसो घातुकः, शंस हिंसायाम्' इति धातोः पचाद्यच् । त्वमतिनृशंसतमः, अतो (हेतोः) विधिः स्रष्टा, सुमनसः, पुष्पाणि, भवतः आयुधं कृतवान् । तव दृढं धनुरायसमयोमयम् आशुगं शरञ्च सृजेद्यदि । त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् (कर्तृ), प्रलयं विनाशं व्रजेत् । तव पापिष्ठतां दृष्ट्वा विदुषा परमेष्ठिना सम्यगनुष्ठितमिति भावः ॥ ८६ ॥

हे कामदेव । तुम अत्यन्त क्रूर हो, अत एव ब्रह्माने तुम्हारे शस्त्रको फूलका बनाया । यदि उसने तुम्हारा धनुष दृढ तथा बाण लोहेका बनाया होता तो तीनों लोकोंका प्रलय हो जाता । [इस प्रकार ब्रह्माकी बनी-बनाई सृष्टि अनायास ही नष्ट हो जाती, अतः तुम्हारी क्रूरताको देखकर चतुर ब्रह्माजीने अपनी रची सृष्टिकी रक्षाका प्रबन्ध पहलेसेसे ही कर लिया] ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।
इति विधिस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः ॥८७॥

स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेर्हरस्य रोपशिखी बाणाग्निः । 'पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । पुरां त्रयमिव ते तव रोपशिखी जगतां त्रयं मा दहत्विति मत्वेति शेषः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । विधिः स्रष्टा, अनिर्वृतस्त्वां कुसुमेषुं कृत्वाप्यपरितुष्टः सन्, त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दैः, अन्तरसिञ्चत् अग्निशान्त्यर्थमौक्षत् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा पापिष्ठस्य ते को वारयितेति भावः ॥ ८७ ॥

जैसे काम-रिपु महादेवजीने त्रिपुर (त्रिपुरासुर, पक्षान्तरमें-तीन नगर) को जलाया था, वैसे ही तुम्हारे बाणोंकी अग्नि तीनों लोकोंको न जलावे, इस कारण चिन्तित ब्रह्माने तुम्हारे बाणभूत पुष्पोंको भीतरमें मधु (पुष्परस अर्थात् पुष्पराग) से सिक्त (आर्द्र) कर दिया क्या ?] रससे सिक्त होनेसे आर्द्र पदार्थकी दाहक शक्ति कम हो जाती है, जैसे गीले इन्धन आदि की । पहले महादेवजीने तीन नगरों (पक्षा०-त्रिपुरासुर) को जला दिया अतः यह दुष्ट कामदेव कहीं तीनों लोकों को न जला दे, इससे ब्रह्माने पहले तो उसके धनुष तथा

बाणको ही कोमल पुष्पोंका बनाया और इतना करनेपर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, अतः उन्हें (कामके बाणभूत पुष्पोंको) भीतरमें पुष्परस (पक्षा०-जल) से भिंगा दिया। भीतरमें भींगायी वस्तुमें ऊपर २ से भिंगायी वस्तुकी अपेक्षा दाहक शक्तिका बहुत ही कम हो जाना लोकानुभवसिद्ध है]॥ ८७।

विधिरनङ्गमभेद्यमवेद्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत् ।
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि ॥८८॥

विधिरिति। विधिर्ब्रह्मा अनङ्गमनवयवम् । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः । अत एवाभेद्यमवेद्य, निरवयवद्रव्यत्वादविनाश्यं निश्चित्य, जनमनः, ते तव, लक्ष्यमकल्पयदित्युत्प्रेक्षा । सावयवलक्ष्यदानपक्षे, स विधिर्वज्रमदास्यत चेद्दद्याद्यदि, तदा त्वदिषुभिरसौ वज्रोऽपि व्यदलिष्यद्विशीर्णो भवेत् । अतो युक्तकारी स्रष्टेति भावः ॥

ब्रह्माने अखण्ड (परमाणुरूप होनेसे फिर खण्डित नहीं होनेवाले । अतएव) अभेद्य, मनुष्यके मनको देखकर (उसे ही) तुम्हारा लक्ष्य कल्पित किया । यदि वह ब्रह्मा वज्रको भी (तुम्हारा लक्ष्य बनानेके लिये) देता तो वह (अत्यन्त कठिन वज्र) भी चूर्ण हो जाता है । [जीवके मनका प्रमाण परमाणुके बराबर बतलाया गया है, उसका कोई खण्ड न हो सकनेसे वह अभेद्य—नहीं तोड़ने योग्य, माना गया है । ब्रह्माने बहुत विचारकर तुम्हारे लक्ष्यका निर्णय किया है, अन्यथा तुम ऐसे महाक्रूर हो कि दूसरा कठिनसे कठिन भी कोई बड़े आकारका पदार्थ लक्ष्य रहता तो उसे भी चकनाचूर कर देते] ॥८८॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान् ।
अदित पञ्च हि ते स नियम्य तान् तदपि तैर्बत जर्झरितं जगत् ॥८९॥

अपीति । हे स्मर ! विधिः कुसुमान्येव तवाशुगान्विधायापि, निर्वृतिं कृतकृत्योऽस्मीति परितोषं नाप्तवानित्युत्प्रेक्षा । कुतः, हि यस्मात् सोऽनिर्वृतो विधिस्तान् कुसुमान्याशुगानपि, नियम्य इयन्त एवेति नियमं कृत्वा । ते तव, पञ्चैवादित दत्तवान् तदपि तथापि तैः पञ्चभिरेव जगत् जर्झरितंजर्झरीकृतम् । बतेति खेदे । विश्वनियन्ताप्येवं विफलयत्नः, कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भावः ॥ ८९ ॥

हे स्मर ? ब्रह्मा तुम्हारे बाणोंको पुष्पमय बनाकर भी निश्चिन्त नहीं हुए, अत एव उन्होंने नियमितकर केवल पांच ही बाण दिये, किन्तु खेद है कि उन (रससे अन्तःसिक्त पुष्पमय पांच बाणों) से ही संसार जर्जरित हो रहा है । [तुम इतने क्रूर हो कि ब्रह्माके इतने (श्लो० ८६-८९) प्रयत्नको भी असफल कर रहे हो, हा खेद !] ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वणः सुमनसः कति पञ्च सुरद्रुमाः ? ।
तव तु हीनतया पृथगेकिकां धिगियतापि न तेऽङ्गविदारणम् ॥९०॥

उपहरन्तीति । हे स्मर ! पञ्च सुरद्रुमाः मन्दारादयः, कस्य सुपर्वणः कति सुमनसः कियन्ति कुसुमानि, नोपहरन्ति नोपायनोकुर्वन्ति ? सर्वस्याप्यमितमुपहरन्ती-

त्यर्थः । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । तव तु हीनतया नीचतया, पृथक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैकां सुमनोव्यक्तिमुपहरन्तीत्यर्थः । अत एच पञ्चबाणत्वं तवेति भावः । 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्यये पूर्वस्येकारः । इयता एतावदवमानेनापि ते तवाङ्गविदारणं शरीरविपत्तिर्नास्ति । धिक् । अवमतस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः ॥ ९० ॥

(मन्दार आदि स्वर्गीय) पांच देववृक्ष किस देवताको कितने पुष्प उपहार (भेंट) नहीं देते ? अर्थात् सब देवताओंको असंख्य पुष्प वे भेंट करते हैं, किन्तु हीनता (अनङ्गभाव, पक्षा०-नीच) होनेके कारण वे तुमको पृथक् २ केवल एक २ ही पुष्प उपहार देते हैं। इतने (बड़े अपमान) से भी तुम्हारा अङ्ग (हृदय या शरीर) विदीर्ण नहीं हो जाता, (अथवा-अनङ्ग अर्थात् जो अङ्गरहित है, उसका अङ्ग विदीर्ण कहांसे होगा ? अतः 'अङ्ग' शब्दको सम्बोधन मानकर 'हे अङ्ग ! हृदयस्थ होनेसे निकटतम मित्र !) तुम्हारा विदारण अर्थात् विध्वंस या विदारण = चूर २ होना नहीं हो जाता ! ऐसे निर्लज्ज तुमको धिक्कार है । 'अङ्गविधारणम्' पाठमें—शरीरधारण करना तुम्हें धिक्कार नहीं है ? अर्थात् अवश्य धिक्कार है) ॥ ९० ॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत् ।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनापि नलभ्रुवोः ॥ ९१ ॥

कुसुममिति । विधिः कुसुममपि दुर्बलमपीत्यर्थः । अतिदुर्नयकारि अनर्थकारकं धनुस्ते तव वितीर्य दत्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्जहार किमित्युत्प्रेक्षा । पापीयसे दत्तं हर्तव्यमेवेति भावः । किन्त्वेष विधिः, किमकृत अकार्यमेव कृतवानित्यर्थः । कुतः, यद्यस्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रुवोर्द्वयमभूद्धि। तेनैव धनुषा नलभ्रुवौ द्वे निर्मितवता तेन कण्टकमुद्धृत्य शल्यमारोपितं यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्यं सम्पादितमिति भावः ॥ ९१ ॥

ब्रह्माने पुष्पमय होनेपर भी अत्यन्त दुर्नीति (अबलादिपीडन आदि) करनेवाले तुम्हारे धनुषको देकर (फिर वापस) ले लिया क्या ?, (किन्तु) इस (ब्रह्मा) ने तुम्हारा क्या (अपकार, अथवा—हम विरहिणियोंका उपकार) किया ? अर्थात् कुछ नहीं ; क्योंकि इस समय तुम्हारे उस एक धनुषके स्थानपर नलका भ्रूरूप दो धनुष हो गये । [परोपकारकी भावनासे किया हुआ ब्रह्माका कार्य संसारके अभाग्यसे प्रतिकूल हो गया, हा खेद !] ॥९१॥

षड्तवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः ।
ददति षड् भवते कुरुते भवान्धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तैः ॥ ९२ ॥

षडिति । अक्रमेण यौगपद्येन, नन्दितनन्दनाः प्रकाशितसुरोद्यानाः, युगपन्निजकुसुमदानसमर्था इत्यर्थः । षड्तवो वसन्तादयः, कृपया, न तु प्रीत्येति भावः । स्वकं स्वसम्बन्धिनम्(न्धि) एककमेकैकमेव, असहाये कन्प्रत्ययः । कुसुमं ददाना इति शेषः ।

तथा चोक्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदानान्मिलित्वा, षड्, भवते तुभ्यं ददति। तैः षड्भिः कुसुमैरेकं धनुरिव, एकेनेति शेषः। पञ्चेषूनिव, पञ्चभिरिति शेषः। भवान् कुरुते। अहो! अवमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः॥ ९२॥

एक साथ नन्दन (स्वर्गके उपवन को समृद्धिशाली बनानेवाले हेमन्त आदि छः ऋतु कृपासे (तुम्हारे गौरवके कारण, आदर या प्रेमसे नहीं) अपने २ एक २ पुष्पको तुम्हें देते हैं, उनसे तुम विभाग करके एक पुष्पसे धनुष और शेष पाँच पुष्पोंसे पांच वाणोंको समान बनाते हो। [नन्दन वनमें सब ऋतु पर्याय-क्रमका त्यागकर एक साथ उसे फूल आदिसे हरा-भरा बनाते हुए सब देवताओंको आदरपूर्वक असंख्य पुष्प देते हैं, किन्तु तुम्हारा कोई गौरव न मानकर कृपाकर केवल १-१ पुष्प देते हैं, इन्हें भी तुम अपने उपभोगमें न लाकर व्याधके समान दूसरोंको पीडित करनेके लिये एक पुष्पसे धनुष तथा शेष पांच पुष्पोंसे वाण बनाते हो, अतः तुम बहुत बड़े नीच हो। अथवा-जिस प्रकार लोग भिक्षुकके ऊपर कृपाकर उसे एक २ पदार्थ अलग २ देते हैं और वह भिक्षुक उन्हें विभक्तकर एकत्रितकर अपनी आवश्यकताके अनुसार इतनेसे अमुक कार्य करूंगा और इतनेसे अमुक कार्य, इत्यादि मनोरथ करता है, वैसे ही ऋतुओंके दिये गये कुल केवल ६ पुष्पोंमेंसे विभागकर तुम काम चलाते हो; अत एव देवता होकर अपमानित होते हुए भी तुम्हारी वृत्ति व्याध या भिक्षुकके समान अत्यन्त निन्दनीय है]॥ ९२॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क स मुनिस्तव यः सहते क्षतीः।
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे॥ ९३॥

यदिति। हे मार! त्वमतनुरशरीरीति यत्तदिदमतनुत्वं जगते हितं 'हितयोगे च' इति चतुर्थी वक्तव्या। तथाहि, विशिखं वाणमविचलद्भुजमकम्पहस्तं यथा तथा आश्रवणं परिपूर्याकर्णमाकृष्य उज्झितुं मोक्तुमीशिषे शक्नोषि चेद्यस्तव क्षतीः प्रहारान् सहते, स मुनिः क, न क्वापीत्यर्थः। अनङ्गत्वेऽप्येवं जगद्द्रोहिणस्तव धानुष्कान्तरवत् कायव्यापारे जगति जितेन्द्रियकथैवास्तमियादित्यनङ्गत्वमेव जगद्धितमित्यर्थः॥९३॥

जो तुम अनङ्ग (शरीररहित हो,) यह संसारके लिये हितकारक है। (अन्यथा शरीरयुक्त होकर) यदि तुम कानतक वाणोंको खींचकर तथा हाथ को स्थिर रखते हुए वाण छोड़ना चाहते तो वह मुनि कहां है? जो तुम्हारे प्रहारोंको सह लेता? [यदि तुम सशरीर होते तो संसारमें कोइ मुनि भी तुम्हारे वाणप्रहारको सहन नहीं कर सकता, तब हमलोगों की कौन गणना है? अतः महादेवजीने तुम्हें जलाकर संसारका बड़ा उपकार किया है]॥९३॥

सह तया स्मर! भस्म झडित्यभूः[1] पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः॥९४॥

सहेति। हे स्मर! पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीस्तया सह झडिति सहसा भस्माभूः।

१. 'झटित्यभूः' इति पाठान्तरम्।

अधुना वितनोरनङ्गस्य तव पिकस्वरः कोकिलालाप एव, सः दग्धः पञ्चमः, पञ्चसङ्ख्यापूरणः शरोऽभूत् । ध्रुवम् । अत एव, 'पिकः कूजति पञ्चम'मित्यादौ पिकस्वरे पञ्चमसंज्ञाप्रवृत्तिश्चेति भावः । 'पञ्चमो रागभेदे स्यात् पञ्चानामपि पूरण' इति विश्वः। शरकार्यकारित्वात् पिकस्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

हे स्मर ! शिवजीके प्रति तुमने जिस बाणको (मारनेके लिये) ग्रहण किया, वह तुम्हारे साथमें ही 'धक्' से (पाठान्तरमें—शीघ्र) भस्म हो गया । शरीरहीन तुम्हारे वे ही पांच बाण इस समय निश्चय ही कोयलके शब्द हो गये हैं । [कोयलका शब्द भी विरही लोगोंके लिये सन्तापकारक होता है । कोयल पञ्चम स्वरसे बोलता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है] ॥ ९४ ॥

स्मर ! सम दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः ।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

स्मरेति । हे स्मर ! भगवतो हरस्यापि, दुरितैः समं भवत्पापैः सह, भगवद्दृष्टिपातस्य पापहरत्वादिति भावः । भवद्दहनश्रमोऽफलीकृतो निष्फलीकृतः, सुरहिताय हुतात्मतनुर्हरकोपानले त्यक्तस्वदेहः सन् , तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । दिवि द्युलोके, पुनर्जनुः पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु प्राप्नोषि खलु । सुरप्रार्थितात्तस्मादेवेति शेषः । तच्चास्मत्पापफलमिति भावः ॥ ९५ ॥

हे स्मर ! हमारे पापोंने भगवान् शङ्करजीके तुम्हें जलानेके परिश्रमको भी निष्फल कर दिया क्या ? (अथवा—निष्फल कर दिया); क्योंकि देवताओंके उपकारके लिये (शिव-नेत्र-अग्नि) में अपने शरीरको हवन करने (जलाने) वाले तुमने तत्काल ही स्वर्गमें जन्म पा लिया । [अन्य भी व्यक्ति परोपकारके लिये अपना शरीर त्यागकर (मरकर) तत्काल स्वर्गमें देवता बन जाता है । तुम एकमात्र देवकार्यसाधनरूप परोपकारके लिये अग्निमें जलकर मरनेपर भी तत्काल देव बन गये हो, अन्यथा तुम-जैसे पापी एवं अग्निमें जलकर अकाल मृत्युसे मरनेवाले व्यक्तिको स्वर्गप्राप्ति कदापि उचित नहीं है । तारकासुर पीडित देवताओंकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर ब्रह्माने पार्वती गर्भज शिवपुत्रको सेनापति बनाकर युद्ध करनेसे देवताओंका दुःख दूर होनेका उपाय बतलाया । तदनुसार इन्द्रके आदेशसे कामदेव हिमालयपर तपस्या करते हुए शिवजीको उनकी सेवामें लगी हुई पार्वतीपर आकृष्ट करनेके लिये गया, किन्तु उक्त देवकार्य सिद्ध होनेके पहले ही शिवजीका कोपभाजन बनकर जल गया, यह पौराणिक कथा है ।]

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः ।
सुमनसो नमयन्नटनौ धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

विरहिण इति । हे शूर ! तवासौ बाहुर्यदि विधूदये चन्द्रोदये सहायलाभे सती-

त्यर्थः । सुमनसः पुष्पं नाम धनुः, अटनौ कोटौ । 'कोटिरस्याटनिर्गोधा' इत्यमरः । नमयन् दक्षिणो विरहिजनप्रहारदक्षः स्यात्, प्रहर्तुं प्रवृत्तश्चेदित्यर्थः । 'सव्येतरश्च' इति ध्वनिः । तदा विमुखस्य विह्वलमुखस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहिणो वियोगिजनस्य स दक्षिणत्वेन प्रसिद्धः शमनदिक्पवनो याम्यदिङ्मारुतः, दक्षिणो दाक्षिण्यवान् सव्येतरश्च न । किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वान्निर्दयप्रहर्तैवेत्यर्थः, अतः सर्वानर्थमूलत्वात् त्वमेव पापिष्ठ इत्यर्थः । प्रत्यङ्मुखस्य दक्षिणोऽपि वाम इति ध्वनिः । शमनदिक्पवनोऽपि न दक्षिण इति स्फुरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९६ ॥

चन्द्रमाके उदय होनेपर पराङ्मुख (सन्तापकारक चन्द्रमाको नहीं देखनेके लिये पश्चिमाभिमुख) हुए विरहीके लिए यम-दिशा (दक्षिण दिशा) की मलय-वायु दक्षिण (अनुकूल, पक्षान्तरमें-दहने भागमें) नहीं होगी अर्थात् वाम (प्रतिकूल, पक्षा०-बायें) भागमें पड़ेगी, यदि उसे दक्षिण होनेका ही अभिमान है तो पुष्पमय धनुषकी कोटिपर प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) को चढ़ाते हुए तुम्हारा बाहु तो दक्षिण (अनुकूल, पक्षा०-दहने भागमें) होगा, अर्थात् विरुद्ध लक्षणासे जिस प्रकार तुम्हारा बाहु प्रतिकूल होगा उसी प्रकार मलयवायु भी प्रतिकूल होगी । (अथवा—तुम जिस प्रकार पुष्पमय धनुषपर प्रत्यञ्चाको चढ़ानेके लिये उसे (पुष्पमय धनुषको) झुकाते हो, उसी प्रकार मलयवायु भी पहले पुष्पोंके अग्रभागको झुका देता है । अथवा—शमन अर्थात् सबको मारनेवाले यमराजकी दिशावाला मलयवायु भी मारनेवाला ही होनेसे दक्षिण अर्थात् अनुकूल न होकर वाम अर्थात् वक्र या प्रतिकूल ही होगा । अथवा—वह मलय वायु (रूपीयोद्धा) युद्धसे पराङ्मुख होनेवालेपर प्रहार करनेसे दक्षिण अर्थात् धर्मानुकूल युद्ध करनेवाला चतुर योद्धा नहीं होगा) । [चन्द्र पूर्व दिशामें उदित होकर विरही जनको जब सन्ताप देने लगेगा, तब उसको न देखनेके लिये विरही व्यक्ति पश्चिमाभिमुख हो जायगा, अत एव पश्चिमाभिमुख उस व्यक्तिके लिये दक्षिण दिशाकी ओर बहनेवाला मलयवायु दहनी ओर नहीं पड़ेगा, अपि तु बांयी ओर पड़ेगा । आशय यह है कि-कामजन्य तथा चन्द्रोदयजन्य विरहपीडा तो किसी प्रकार सह्य हो भी सकती है, परन्तु मलयानिलजन्य विरहपीडा किसी प्रकार भी नहीं सही जाती] ॥ ९६ ॥

किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम् ।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

किम्विति । हे मदन ! उमापतिः मदश्च मुच्च द्वन्द्वैकवद्भावः । तेन मदमुदा मदानन्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धकम् । 'अन्ध दृष्टिपतीघाते' इति धातोश्चौरादिकात् पचाद्यच् । अयोगिजनान्तकं वियोगिजनमृत्युम्, एककमेकाकिनं, भवन्तमेव अजयदिति यत् । तत एव स भगवान् उमापतिः । मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिन्मृत्युजिदिति गीयते किमु, गीयत एवेत्यर्थः । मदनवदन्धकमृत्यू अपि त्वत्तोऽन्यौ न स्त इति भावः । अत्र मदनादीनां मिथा भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९७ ॥

उमापतिने मदके नशेमें अन्धे तथा विरहीलोगोंके अन्त करनेवाले (यमराजतुल्य) अकेले तुमको जो जीत लिया, इसी कारणसे उन्हें 'मदनजित्, अन्धकजित् तथा अन्तकजित् (मृत्युञ्जय)' कहा जाता है क्या ? । [शङ्करजीने मदन अर्थात् कामदेव, अन्धकासुर तथा अन्तक अर्थात् मृत्युको जीत लिया है, अत एव उनके उक्त तीनों नाम प्रसिद्ध हुए हैं। इस पद्यमें "कामदेवमें ही 'मदनत्व, अन्धकत्व तथा अन्तकत्व' ये तीन गुण हैं, अतः एक तुम्हींको जीतकर शङ्करजीने उक्त तीनों नाम प्राप्त किये हैं" ऐसी उत्प्रेक्षात्मक कल्पना की गयी है। अन्य कोई योद्धा जिस व्यक्तिको जीतता है, वह केवल उसी एकका विजेता कहा जाता है, पर शिवजी केवल एकमात्र तुम्हें जीतकर तीनका विजेता कहलाये यह आश्चर्य है]॥९७॥

त्वमिव कोऽपि परापकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ ! शुश्रुवे ।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलतात्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ॥ ९८ ॥

त्वमिति । हे मन्मथ ! त्वमिव परापकृतौ परापकारे कृती कुशलः कोऽपि न ददृशे न दृष्टः, न शुश्रुवे न च श्रुतः, यः अपकर्ता दहनादग्निसंयोगात्, ज्वलता प्रज्वलता आत्मना स्वाङ्गेन जगन्ति परिरभ्याश्लिष्य ज्वलयितुं दग्धुं, स्वमात्मानमदहत् । परिरभ्य परगात्रदूषणाय स्वगात्रे पङ्कलेपवत्, परदाहव्यसनादेवात्मदाहाङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यसनमिति भावः ॥ ९८ ॥

हे मन्मथ ! (विरहियोंके मनको मथन करनेवाले कामदेव !) दूसरेका अपकार करनेमें तुम्हारे समान कोई भी न देखा गया और न सुना गया। जो अपकारी अपने जलते हुये स्वरूपके साथ (तीनों) लोकोंका अलिङ्गनकर जलानेके लिये अपनेको (शिवजीके नेत्रकी) अग्निमें जला डाला। [कोई भी व्यक्ति किसीको पीडा देते समय अपनी रक्षा करता है, किन्तु तुमने तो संसारको पीडा देनेके लिये अपनी भी रक्षा नहीं की, अत एव तुम महान् दुष्ट हो]॥ ९८ ॥

त्वमुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः ।
तव वयस्यमपास्य मधुं मधुं हतवता हरिणा बत किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

त्वमिति । हे वीर ! शम्भुना नयनार्चिषि नेत्राग्निशिखायां त्वं भुवनानां शान्तिके शान्तिप्रयोजके । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । होमहविराहुतिः कृतः । उचितं वध्यस्य वधादिति भावः । तव वयस्यं सखायं, मधुं वसन्तम् अपास्योपेक्ष्य मधुं मध्वाख्यं, दैत्यं हतवता हरिणा किं कृतम् ? बतेति खेदे । वध्यवधाद्धरः साधुकारी । हरिस्तदुपेक्षणादसाधुकारीत्यर्थः । समित्रः स्मरो वध्य इति भावः ॥ ९९ ॥

शम्भु (मङ्गलके उत्पन्न करनेवाले शिवजी) ने नेत्राग्निज्वालामें तुमको ठीक ही संसारकी शान्तिरूपी हवनका हविष्य (हवन करनेके योग्य आहुति) बना लिया (अथवा–शम्भुने जो नेत्राग्नि……हविष्य बनाया) यह उचित कार्य किया; किन्तु खेद है कि विष्णुने

तुम्हारे मित्र मधु अर्थात् वसन्त ऋतुको छोड़कर 'मधु' नामक दैत्यको मारकर क्या किया? अर्थात् कुछ नहीं। (अथवा—अच्छा नहीं किया जो वसन्तको छोड़कर मधुदैत्यको ही मारा)। [जिस शिवजीका अवतार संसारका संहार करनेके लिये माना जाता है, उन्होंने तो मदनको जलाकर संसारका पालन किया, किन्तु जिस विष्णु भगवान्‌का अवतार संसारकी रक्षा करनेके लिये माना जाता है, उन्होंने मदन-मित्र वसन्तको छोड़कर 'मधु' दैत्यको मारकर कुछ नहीं किया। मधु दैत्यसे भी संसार बहुत पीडित था, अतः उसे मारकर भी यद्यपि विष्णु भगवान्‌ने संसारका उपकार ही किया है, किन्तु यह मदन-मित्र वसन्त उस (मधुदैत्य) से भी अधिक संसारको सता रहा है, अतः पहले उसे ही मारना आवश्यक था]॥ ९९॥

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव ॥ १००॥

इतीति। प्रियस्य नलस्याधरमोष्ठं पिपासु पातुमिच्छु 'मधुपिपासुप्रभृतीनां गम्यादिपाठात् समास' इति वामनः। तत् प्रसिद्धम्, तस्या भैम्या आननम्, इतीत्थं, कियद्वचसैव, अप्रियवाग्भिर्निष्ठुरोक्तिभिः, ज्वलतः क्रुध्यतो मदनस्य यः शोषणबाणः तस्य हतेः प्रहारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। आशु भृशं, पांसुलं पांसुमद् द्रवम् अजनि जातम्॥

प्रिय नलके अधर (रस) को पीनेकी इच्छा करनेवाला वह प्रसिद्ध सुकोमल सर्वसुन्दर तथा सरस (या विरहपाण्डुर एवं क्षीण) उस दमयन्तीका मुख इन कुछ (चन्द्रमा, कामदेव, वसन्त तथा मलयवायुके प्रति उपालम्भरूपमें (श्लो० ४४-९९) कहे गये थोड़े ही वचनसे मानो अप्रिय कहनेसे (क्रोधकर) जलते हुए कामदेवके शोषण बाणके प्रहारके कारण अत्यन्त सूख गया (पक्षान्तरमें—धूलियुक्त हो गया)। [अन्य किसी प्यासे व्यक्तिका भी मुख थोड़ा बोलनेसे भी सूख जाता है, और वह अधिक बोलनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है। इस पद्यमें दमयन्तीकृत आत्मनिन्दा सुनकर कामदेवके द्वारा छोड़े गये शोषण बाण प्रहारको दमयन्तीके मुखको सूखनेमें हेतु कहा गया है। और पहलेसे ही क्षीण (थोड़े जलवाले) तडाग आदिमें शोषण कारक तीव्र सन्तापसे धूल उड़ने लगती है। लोकमें भी 'बहुत देरसे प्यास लगनेके कारण मेरे मुखमें धूल उड़ रही है, मैं अधिक बोल नहीं सकता' ऐसा कहते हैं॥ विरह-क्षीण दमयन्ती इतना कहनेके बाद अधिक बोलनेमें असमर्थ हो गयी]॥ १००॥

प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा ॥ १०१॥

प्रियसखीति। अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततमा गाढं प्रहृता। अत एव बहु भाषितुं प्रपञ्च्य वक्तुमक्षमा सती, प्रियसखीनिवहेन सह आप्तसखीसङ्घेन सार्धम्, अर्धरूपया समस्यया सङ्ग्रहकारिकया। 'समस्या तु

समासार्था' इत्यमरः । 'संज्ञायां समजनिषदे'त्यत्र संपूर्वादस्यतेर्बाहुलकः क्यङ्, इति क्षीरस्वामी[१] । गिरं व्यरचयत् । पूर्वार्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं स्वयमरचयदित्यर्थः ॥ १०१ ॥

इसके बाद हृदयरूप मर्मस्थलमें मन्मथ (मनको मथन करनेवाले कामदेव)के बाणोंसे अतिशय घायल होकर बोलनेमें असमर्थ वह दमयन्ती प्रिय (अतएव दमयन्तीके मनोगत भावको समझनेवाली) सखी-गणके साथ आधी समस्यासे बोलने लगी (आधी बात सखी-गणके कहनेपर शेष आधी बातको दमयन्ती पूरा करने लगी । [जो विषय या श्लोकादिका अंश अपूर्ण रहता है, उसको अन्य व्यक्ति पूरा करता है । और स्वयं अधिक बोलनेमें अशक्त होनेपर अपने वक्तव्य विषयको वह असमर्थ व्यक्ति समास अर्थात् संक्षेप करता है ॥१०१॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मनः ।
असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि! रक्षितुमात्थ माम् ?॥

अकरुणादिति । हे भमि ! आपदि सहजया धीरतया धैर्येण । 'विपदि धैर्यमिति नीतेरिति भावः । अकरुणान्निर्दयाद् सूनशरात् कुसुमेषोः, आत्मनः स्वस्यासून् प्राणान् अव रक्ष । अद्येदानीमसव एव मम विरोधिनः शत्रवः । तन्मूलत्वाद् दुःखसंवेदनस्येति भावः । हे सखि ! मां कथमरीन् रक्षितुमात्थ ब्रवीषि ? 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इति साधुः । सम्प्रति मे प्राणरक्षणमाशीविषपोषणं पयोभिरिति भावः ॥ १०२ ॥

(अब यहांसे आरम्भकर श्लो० १०९ तक प्रथम वाक्य दमयन्तीके सखियोंका तथा अन्तिम वाक्य उत्तररूपमें कहा गया दममन्तीका समझना चाहिये)

सखी कहती है कि—हे सखि दमयन्ती ! निर्दय पुष्पबाण (कामदेव) के बाणोंसे अपने प्राणोंको आपत्तिमें अपनी स्वाभाविक धीरताके द्वारा बचावो ।

दमयन्ती कहती है कि—हे सखि ! आज मेरे प्राण ही विरोधी हैं, (अतः तुम) शत्रुओंको बचानेके लिये मुझसे क्यों कह रही हो ?

[कोई तटस्थ व्यक्ति भी शत्रुओंको बचानेके लिये नहीं कहता, तब तुम प्रिय सखी होकर ऐसा क्यों कह रही हो ? यदि मेरे प्राण नहीं रहते अर्थात् मैं मर जाती तो मुझे इतनी व्यथा नहीं सहनी पड़ती, अत एव शत्रुरूप इन प्राणोंको बचानेका परामर्श देना तुम्हारी-जैसी प्रिय सखीको उचित नहीं जचता] ॥ १०२ ॥

---

१. 'क्यप्' इत्युचितस् तेन क्यङोऽविधानात् । अमर (नामलिङ्गानुशासन)स्य 'समस्या' शब्दव्याख्याने च 'अपूर्णत्वाद्विक्षिप्तं (विवक्षितं) समस्यते संक्षिप्यतेऽनया समस्या, 'संज्ञायां समजे'ति बाहुलकात् क्यप्, ऋहलोर्ण्यत् वा, संज्ञापूर्वकत्वाद्वृद्ध्यभावः । समात्क्यचि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो' सुच् इत्येके, ततः अप्रत्ययात् । यथा—दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा । दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥' इति क्षी० स्वा० व्याख्या दृश्यते ।

हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः ।
सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम् ॥

हितगिरमिति । आशृणोति वाक्यमिति आश्रवा । पचाद्यच् । हे आश्रवे ! वाक्यकारिणि ! 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । प्रसभं बलादप्यात्मनो जीवितं प्राणमव रक्ष । 'एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि' इति न्यायादिति भावः । हितगिरमाप्तवाक्यं किं न शृणोषि ? । हे सखि ! या त्वमदरिं मम जीवितमिच्छस्य पेक्षसे । इदृशीत्थं शत्रुवृद्धिमीहमानापि, मे हिता भवसि यदि । न तु भवसि । अतो न शृणोमीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

सखी—सर्वदा मेरी बातको सुनने तथा माननेवाली हे दमयन्ती ! मेरी हितकारी बात क्यों नहीं सुनती ? बलपूर्वक (कष्ट सहकर) भी अपने जीवनकी रक्षा करो ।

दमयन्ती—हे सखि ! तुम मेरी ऐसी हितैषिणी होती हो, जो (तुम) मेरे शत्रुरूप जीवनको चाहती हो (अतः तुम मेरी हितैषिणी सखी नहीं हो अर्थात् सखी होकर तुम्हें ऐसा चाहना शोभा नहीं देता) ॥ १०३ ॥

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ? ।
यदि भवन्ति मृताः सखि ! चन्द्रिकाः शशभृतः क्व तदा परितप्यते ?॥

अमृतदीधितिरिति । हे विदर्भजे दमयन्ति ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः । अमृतदीधितिः सुधांशुः । अमुष्य सुधांशोरंशुभिः किमिति तापं भजसि ? अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे सखि ! शशभृतश्चन्द्रिकाः मृताः भवन्ति यदि, तदा क्व परितप्यते ? न क्वापीत्यर्थः । अस्यामृतदीधितित्वादेवेदं दुःखं, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टशान्तिः स्यादिति भावः । अत्र अमृतेति सुधाविवक्षया प्रयुक्तस्य मृतेतरार्थत्वेन योजनाद्वक्रोक्तिरलङ्कारः । 'अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत् । अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ॥' इति ॥

सखी—हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! यह अमृतकिरण (सुधारश्मि अर्थात् चन्द्रमा) है, इसके किरणोंसे क्यों सन्तप्त होती हो ?

दमयन्ती—हे सखि ! यदि शशाङ्क (चन्द्रमा) की किरणें मृत (नष्ट) हो जातीं अर्थात् नहीं रहतीं, तब कहां सन्ताप होता ? अर्थात् चन्द्रमाके किरणोंके अमृत (मरण—रहित = जीवित अर्थात् सर्वत्र फैली हुई) होनेसे ही सन्ताप हो रहा है, इसके अभावमें कदापि सन्ताप नहीं होता ॥ १०४ ॥

व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ।
ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मरैरनुभवं वचसा सखि ! लुम्पसि ॥१०५॥

व्रजेति । (हे मुग्धे !), धृतिं व्रज धैर्यं भज । अहेतुकां भीतिं त्यज । अयम-

चण्डमरीचिः शीतांशुरुदञ्चत्युदेति, न चण्डांशुरित्यर्थः। आतपैरेव मुर्मुरैस्तुषानलैः। 'मुर्मुरस्तु तुषानल' इति वैजयन्ती। स्फुटं प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति दहति। हे सखि! अनुभवं प्रत्यक्षं वचसा आगमेन लुम्पसि बाधसे। तदयुक्तं ग्रावप्लवनवाक्यवत्, प्रत्यक्षेणैवास्य बाधादित्यर्थः। अत्राचण्डकरे चण्डकरभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः॥ १०५॥

सखी—धैर्य ग्रहण करो, निष्कारण भयको छोड़ो; क्योंकि यह अचण्डदीधिति (शीतरश्मि) अर्थात् चन्द्रमा उदय हो रहा है। [चन्द्रमामें सूर्यबुद्धि करनेसे जो निष्कारण भय कर रही हो, उसे छोड़ धैर्य-धारण करो]।

दमयन्ती—हे सखि! यह धूपरूपी मुर्मुरों (कंडेके निर्धूम अंगारों) से मुझे प्रत्यक्ष ही जला रहा है, मेरे इस प्रत्यक्ष अनुभवको (शास्त्र-) वचनसे लुप्त करती रही हो ?। [बातों की अपेक्षा अनुभव ही सत्य एवं प्रामाणिक माना गया है। अतः मेरे प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है कि यह चण्डरश्मि (सूर्य) ही है]॥ १०५॥

अयि! शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः।
रुचिफलं सखि! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून्॥ १०६॥

यदुक्तमयमचण्डमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अयीति। अयि (मुग्धे) भैमि! विश्वसिहीति शेषः। विधोश्चन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो नासि यदि, त्वदङ्गसङ्गीदं तेजश्चान्द्रं न चेदित्यर्थः। तर्हि तवैव हृदयाय शपे। त्वज्जीविताय द्रुह्यामीत्यर्थः। 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तर्हि, सखि! रुचिफलमेव तेजोमात्रकार्यमेव दृश्यते। न तु चन्द्रकार्यम्। मद्भाग्यविपर्ययेणाभिभवनिवृत्तेरिति भावः। कुतः, यद्यस्मात्त्वचं ज्वलयति दहति। असून् प्राणान् उल्ललयति उन्मूलयति। सर्वं तेजः उष्णत्वाद्दाहकमेव, अभिभवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिनः॥

सखी—अयि! दमयन्ती! मैं तुम्हारे ही हृदय की सौगन्ध खाती हूँ-जो तुम चन्द्रमा की रुचि (चांदनी) में न हो।

दमयन्ती—हे सखि! रुचिका फल (कार्य) तो दिखलाई ही दे रहा है कि वह (मेरे शरीरके) चमड़ेको जला (सन्तप्त कर) रही है और प्राणोंको ऊपर उठा अर्थात् उत्ताल (व्याकुल कर) रही है।

[दमयन्तीको विश्वास दिलानेके लिये उसकी सखीने दमयन्तीका हृदय छूकर शपथ किया कि तुम चाँदनीमें ही हो, इस उक्तिमें 'रुचि' शब्दका अर्थ प्रकाश लेना चाहिये। किन्तु दमयन्तीने सखीकी शपथ-पूर्वक कही गयी बातको स्वीकार करती हुई 'रुचि' शब्दका अर्थ दाहक तेज मानकर उसके सर्वथा प्रतिकूल उत्तर दिया]॥ १०६॥

विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम्?।
सखि! किमर्थगवेषणया? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि॥ १०७॥

विध्विति । अयि भैमि ! विधुविरोधितिथेः कुह्वाख्याया नष्टेन्दुतिथेरभिधायिनीं, तदभिधायककुहूशब्दोच्चारिणीं 'कुहू कुह्वि'ति नामग्राहं तदाह्वायिनीमित्यर्थः। कोकिलां पुनः किं नेच्छसि। मा भूच्चन्द्रः तद्विरोधिनीमेनां किं नेच्छसीत्यर्थः ?। हे सखि ! अर्थगवेषणया कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरर्थः इति विचारेण किम् ? तत्साध्यं किमपि नास्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया। कुतः, सेयं कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदभिधेयवती न भवतीत्यनर्थमयी, रथघोषादिवदर्थशून्यत्वात् । किञ्च, अनर्थमयी अशनिघोषवदापद्रूपा च, ताम्। अनर्थशब्दान्मयट्प्रत्ययः। गिरं किरति विक्षिपति ॥ १०७ ॥

सखी—चन्द्र-विरोधिनी तिथि 'कुहू' (चन्द्रकलाका दर्शन जिसमें न हो वह अमावास्या तिथि) को कहने अर्थात् बुलानेवाली कोयल को तुम क्यों नहीं चाहती ? [शत्रुभूत चन्द्रकी विरोधिनी कोयलको चाहना उचित है]।

दमयन्ती—हे सखि ! अर्थके ढूँढ़नेसे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं, क्योंकि यह कोयल मेरे विषय में (या पासमें) अनर्थकारी बात ('कुहू' शब्दार्थ के प्रतिकूल वाणी) कहती है । [यह कोयल सचमुच 'कूहू'को नहीं बुलाती, अपितु अनर्थ (अनिष्ट) कारक (पक्षान्तर में—प्रतिकूलार्थक) वाणी बोलने से धूर्त है ॥ कोयलका कुहूंकना भी मुझे पीडित करता है] ॥ १०७ ॥

हृदय एव तवास्ति स वल्लभस्तदपि किं दमयन्ति ! विषीदसि ? ।
हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि ! यतस्तत एव विषद्यते ॥१०८॥

हृदय इति । हे दमयन्ति ! सः ते वल्लभः नलः तव हृदय एवास्ति वर्तते। तदपि तथापि किं विषीदसि खिद्यसे ? हे सखि ! यतो हृदि परं हृद्येव वर्तते वहिर्न वर्तते खलु। तत एव विषद्यते खिद्यते। सदेर्भावे लट्। यतः स्मर्यत एव, न तु दृश्यते; अतो मे विषाद इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

सखी—हे दमयन्ती ! तुम्हारा प्रिय नल हृदयमें (अत्यन्त समीपमें) ही है, तथापि क्यों विषाद करती हो ? [अत्यन्त निकटवर्ती प्रियके रहने पर उसके लिये कोई भी विषाद नहीं करता है]।

दमयन्ती—क्योंकि वह प्रिय नल केवल हृदयमें ही है, निश्चय ही बाहर नहीं है, इसी कारण विषाद करती हूँ । [अतिशय प्रिय नलके हृदयस्थ होनेसे उनका एकमात्र स्मरण ही होता है, दर्शन नहीं और परम प्रिय के विना दर्शन हुए स्मरणमात्र से किसी को पूर्ण हर्ष नहीं होता, यही मेरे विषाद का कारण है] ॥ १०८ ॥

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलंकृतमद्य ते ।
सखि ! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः' ॥१०९॥

स्फुटतीति । हे भैमि ! मदनोष्मणा कामज्वरेण, हारमणौ हृदयालङ्काररत्ने स्फुटति विदलति सति, अद्य ते तव हृदयं वक्षोऽपि अलंकृतं न भवतीत्यनलङ्कृतम् अपरिष्कृतं जातम् । अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनलं नलरहितं कृतमित्यर्थान्तरं मत्वोत्तरमाह-हे सखि ! स प्रियतमः, मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत् । दधातेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अर्तिहा' इत्यादिना पुगागमः । तदा हतास्मि । वक्रोक्तिरलङ्कारः । लक्षणमुक्तम् ॥ १०९ ॥

सखी—कामज्वर (कामजन्य विरह-सन्ताप) से हारमणिके फूटते रहनेसे आज मैंने तुम्हारे हृदयको भी अनलङ्कृत (भूषित नहीं, पक्षान्तरमें—नलरहित) किया है [पहले तुम्हारे मुख आदि तो अलङ्कार शून्य थे ही, किन्तु आज हृदयको भी अलङ्कार से युक्त नहीं किया यह 'अपि' शब्दसे ध्वनित होता है मुक्ताका अग्नि तापमें पड़कर फूटना स्वाभाविक है] ।

दमयन्ती—हे सखि ! यदि मेरे हृदयसे भी उस प्रियतम (नल) को व्यवहित (पृथक्) कर दिया तब तो हाय ! मैं मारी गयी । (पहले प्रियतमका दर्शन बाहरमें न होनेपर भी 'हृदयमें वे हैं, तब कभी न कभी वे अवश्य ही मिलेंगे' यह मानकर ही मैं सन्तोष करती थी, किन्तु आज तुमने जब हृदयसे भी उस प्रियतम नलको अलग कर दिया, अतः मैं मारीगयी) ।

[पहले सखीने तो 'न+अलङ्कृत=अनलङ्कृत अर्थात् मण्डनरहित' अर्थ मानकर 'अनलङ्कृत' शब्दको कहा, किन्तु दमयन्तीने 'अ+नलङ्कृत=अनलङ्कृत अर्थात् नलशून्य किया यह अर्थ 'अनलङ्कृत' शब्दको मानकर घबड़ाकर उक्त उत्तर दिया] ॥ १०९ ॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्छ सा मनसि मूर्छितमन्मथपावका ।
क सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि[1] दुःखिता ॥ ११० ॥

इदमिति । सा भैमी, इदं पूर्वोक्तं 'सखि ! हतास्मी'ति वाक्यम् उदीर्य उच्चार्य, तदैव मनसि मूर्छितमन्मथपावका प्रवृद्धकामानला सती, मुमूर्छ मुमोह । मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोरित्यर्थद्वयेऽपि धातोः स्मरणात् । तथाहि, दुःखिता सञ्जातदुःखा, दुःखिनी सा । अनुपपत्तिमतीमनलङ्कृतमिति श्लेषशब्दश्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वादनुपपन्नामपीत्यर्थः । अवलम्बलवस्य हृदयसङ्गतिमात्रलक्षणस्य प्राणाधारलेशस्यापि छिदामुच्छेदकं क सहतां, कथं सहेतेत्यर्थः । दुःखोद्विग्नस्य भ्रान्तमभ्रान्तं वानिष्टसंवेदनमतिदुःसहमतो युक्तमस्या मूर्छनमिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥

ऐसा कहकर मनमें बढ़ी हुई कामाग्निवाली वह दमयन्ती उसी समय मूच्छित हो गई । अत्यन्त दुखिया (वह दमयन्ती) असत्य भी अर्थात् श्लेषोक्त सखी-वचनके भिन्नार्थक होनेसे हृदय-गत-नलाभावरूप घटनारहित भी अवलम्ब (हृदयस्थित प्रिय कभी न कभी

---

१. '—मतिदुःखिता' इति पाठान्तरम् ।

अवश्यमेव मिलेगा' ऐसी आशारूप सहारा) के लेश (कुछ भाग) के नाश (जब हृदयमें भी प्रिय नहीं रहा तब वह कैसे मिलेगा इस प्रकार विचार आनेपर आशाके टूट जाने) को कैसे सहन करे ? । [अतिदुःखित व्यक्ति सत्य-असत्य, घटित-अघटित, श्लेषादिके तदर्थ या अन्यार्थक आदि बातों का विचार नहीं कर सकता, किन्तु जैसा सुनता है, उसका वैसा ही सीधा अर्थ मानकर तदनुसार निर्णय कर लेता है, अतः अतिपीडित सुकुमारी दमयन्तीको भी सखीके द्वारा कही गयी श्लेषोक्तिसे अपने हृदयको नलरहित समझकर मूच्छित होना उचित ही था] ॥ ११० ॥

अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं[1] सुतनोस्तनौ ॥

अधितेति । कापि सखी सुतनोर्भैम्या मुखे सलिलम् अधित आहितवतीत्यर्थः । कापि स्तनौ सरोजदलैः प्यधित पिहितवती, 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः । कापि हृदि व्यजनानिलं व्यधित विहितवती । तालवृन्तेन वीजयामासेत्यर्थः । कापि तनौ शरीरे हिमं चन्दनम् । 'चन्दनेऽपि हिमं विदुः' इति विश्वः । न्यधित निहितवती ॥ १११ ॥

(यह देख) किसी सखीने सुन्दर शरीरवाली दमयन्तीके मुखपर पानी (का छींटा) दिया, किसीने कमलिनीपत्रोंसे उसके स्तनोंको ढक दिया, किसी सखीने हृदयपर पंखेकी हवा की और किसी सखीने उसके शरीरपर चन्दनलेप लगाया ॥ [दमयन्तीको मूच्छित देख सब सखियां एक साथ ही शीतलोपचारद्वारा उसकी मूर्च्छा दूर करनेमें जुट गयीं ॥

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः ।
प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥११२॥

उपचारेति । स प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः जलजजालैः पद्मसमूहैः, मृणालैः, जलैः । आदिशब्दाद्व्यजनादिसाधनविशेषैः क्रमाच्चिरं तथोपचचार, यथेयं भैमी लघु क्षिप्रं चेतनां संज्ञामवाप ॥ ११२ ॥

उस प्रिय सखीवर्गने कोमल और ठंढे कमल, (पाठभेदसे—कमलसमूह-कमलनाल), बिसलता और जल आदि (चन्दन, खश आदि) से क्रमशः बहुत समय तक ऐसा उपचार किया, जिससे यह दमयन्ती थोड़ा होशमें आ गयी । ['लघु' शब्दका शीघ्र अर्थ करना प्रकृतपद्यके प्रथमपादस्य 'चिरम्' पदसे विरुद्ध होनेके कारण तथा सुकुमारी दमयन्तीको चिरकालज नल-विरहजन्य पीडा होनेसे 'शीघ्र होशमें आ गयी' ऐसा अर्थ करनेकी अपेक्षा 'कुछ (थोड़ा) होशमें आ गयी' यही अर्थ अधिक सङ्गत है, और इस अर्थके करनेसे अग्रिम दो श्लोकोंके साथ भी विरोध नहीं होता ॥ ११२ ॥

---

१. 'विषं' इति पाठान्तरम् । २. 'नाल' इति पाठान्तरम् ।

(युग्मम्)

अथ 'कले ! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पद्म चले ! परिभावय ।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥११३॥
रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृतिं गणय केशिनि ! कैश्यमसंयतम् ।
अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिरः ॥११४॥

अथ भैम्याः कलादयः सप्त सख्यस्तासां तद्दशापरीक्षाग्यप्राणां मिथः कलकलं श्लोकद्वयेनाह—अथेति । अथानन्तरम्, इति गिरः शुश्रुविर इति सम्बन्धः । ता एवाह-हे कले ! स्फुटं व्यक्तं, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय । हे चले ! पद्म नेत्रलोम, चलति चक्षुरुन्मिषतीत्यर्थः । परिभावय परामृश । हे मेनके ! अधर-कम्पनमोष्ठचलनमुन्नय तर्कय । हे कल्पलते ; किमपि जल्पति, शृणु ॥११३॥

रचयेति । हे चारुमते ! स्तनयोर्वृतिमावरणं रचय । हे केशिनि ! असंयतं विस्रस्तं, कैश्यं केशसमूहं, 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः । गणय चिन्तय । बधानेत्यर्थः । हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझरावश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण बधान । इति गिरः शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ११४ ॥

इसके (कुछ होशमें आनेके) बाद 'हे कला ! देखो साफ २ श्वास ले रही है, हे चला ! इसके पलक चल रहे हैं, यह तुम विचार करो; हे मेनका ! इसका ओष्ठ हिल रहा है, यह तुम अनुमान करो; हे कल्पलता ! कुछ (अस्पष्ट तथा धीरेसे) कह रही है, तुम सुनो; हे चारुमती ! इसके स्तनोंको ढंकदो; हे केशिनी ! खुले हुए (इसके) केश-समूहको वांध दो; हे तरङ्गिणी ! नेत्रोंमें निकले हुए आंसूकों पोंछ दो;' इस प्रकार (सखियोंका परस्पर में कहना सुनाई दिया ॥ ११३-११४ ॥

कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितैः ।
यमधिगम्य सुतालयमेतवान्[1] द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

कलकल इति । तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनाननात् सखीमुखात्वरितैः सम्भ्रमोक्तिभिः, विपुलो महान्, सः कलकलः उदलसदुत्थितः । यं कलकल-मधिगम्याकर्ण्य, स विदर्भपुरन्दरः भीमभूपतिः द्रुततरोऽतित्वरितः, सुतालयमेत-वान् कन्यान्तःपुरं प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

इस प्रकार आपसमें जल्दी २ कहनेसे सखी-समुदायके मुखसे निकला हुआ वह महान् कोलाहल अधिक बढ़ गया (अथवा—धावकों अर्थात् दौड़कर दमयन्ती-मूर्छाकी खबर पहुँचानेवालोंके कहनेसे सखी-समुदाय······) जिसे सुनकर विदर्भनरेश (राजा भीम)

---

1. '—मीयिवान् धृतदरः' इति पाठान्तरम् ।

भययुक्त हो कन्या (दमयन्ती)के महलमें पहुँच गये । [पुत्रीकी मूर्च्छाका समाचार सुनकर पिताका भययुक्त होना एवं तत्काल ही उसके महलमें पहुंचना स्वाभाविक ही है] ॥११५॥

कन्यान्तः पुरबोधनाय[1] यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥११६॥

कन्येति । कन्यान्तःपुरस्य बोधनाय योगक्षेमानुसन्धानाय, यदधीकाराद्ययोर्मन्त्रिवैद्ययोरधीकारान्नियोगात् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः । दोषाः परपुरुषप्रवेशादयो वातादयश्च, न सन्तीति शेषः । अस्तिर्भवतिपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात् । तौ मन्त्रिप्रवरश्च अगदमपरोगं करोतीत्यगदङ्कारो वैद्यश्च । रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सक'इत्यमरः । 'कर्मण्यण्' 'कारे सत्यागदस्य' इति सुमागमः । द्वौ नृपं तुल्यमेकवाक्यमूचतुः । देव राजन्! आकर्णय, सुश्रुतेन सम्यक्छ्रुतेन, चर एव चरको गूढचारः, तस्योक्तेन वाक्येन । अन्यत्र सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिलं तापनिदानं, जाने। अस्यास्तापस्य दलनेनिवर्तने, नलंराजानं ददातीति नलदं, तत्संघटकं विना। 'आतोऽनुपसर्गे कः' । अन्यत्र, नलदमुशीरं विना । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् । अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः । कोऽपि क्षमो न स्यात् । 'शकि लिङ्' इति शक्यार्थे लिङ् । अत्र द्वयोरपि नलदयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कारः ॥ ११६ ॥

जिस (प्रधान मन्त्री)के अधिकारसे कन्याके अन्तःपुरके योगक्षेममें (बाधाकेलिये कोई दोष (परपुरुषसंसर्गजन्य व्यभिचार आदि) समर्थ नहीं होते राजवैद्यपक्षमें-जिस (राजवैद्य) के अधिकार अर्थात् निरन्तर देखरेख रखनेसे कन्याके शरीरको रक्षित करने(में बाधा)के लिये कोई दोष (वात-पित्तादि) समर्थ नहीं होते; उन दोनों (मुख्यमन्त्री तथा राजवैद्य) ने समान (परस्पर अविरुद्ध) वचन कहे । (प्रधान मन्त्रीने कहा कि—'सरकार ! सुनिये, अच्छी तरह सुने हुए दूतके कहनेसे मैं सब जानता हूँ कि—) नलके लिये देने (नलके साथ विवाह करने के अतिरिक्त इस दमयन्तीके सन्तापकी शान्तिके लिये कोई भी (अन्य राजादि) समर्थ नहीं है, राजवैद्यके पक्षमें वैद्यने कहा कि—'हे सरकार ! सुश्रुत तथा चरक (नामक चिकित्साशास्त्रके रचयिता प्रधान दो आचार्यों)के कहनेसे मैं सब जानता हूँ कि नल अर्थात् खश देनेके अलावे इसके तापकी शान्तिके लिये अन्य कोई (क्वाथ, रस, भस्म आदि औषध) समर्थ नहीं है । (अथवा-राजा 'नल'की प्राप्तिके पहले 'खश' देनेके अतिरिक्त इसके तापकी शान्तिके लिये ब्रह्मा भी समर्थ नहीं हैं, तब दूसरेकी बात ही क्या है ? अतः शीघ्र ही राजा नलके साथ विवाह करनेका तथा उसके पहले खशद्वारा उपचार करनेका प्रबन्ध होना

[1] 'बाधनाय' इति पाठान्तरम् ।

चाहिये । [प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्यको राजकुमारीकी मूच्छर्छा सुनकर अन्तःपुरमें पहुंचना उचित ही है] ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं [1]भेदव्ययाकृति मिथःप्रतिघातमेव ।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ॥११७॥

ताभ्यामिति । ताभ्यां मन्त्रिभिषग्भ्यां, भेदव्ययो नामाभेदः स एवाकृतिर्यस्य तत् भेदव्ययाकृति, अभिन्नाकारमेकरूपं यथा तथा, युगपदेकदा, अभिधीयमानं नलदादिवाक्यमिति शेषः। मिथोऽन्योन्यं प्रतिघातो विरोधो यस्य तन्मिथःप्रतिघातं मिथोभिन्नमेवाभूत् । अभिधानयौगपद्यादेकशब्दाच्चाभिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमानमपि तत् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमेवासीदित्यर्थः । राज्ञस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह—भैम्यां विषये अनिष्टशतशङ्कितया अनिष्टानेकशङ्कावत्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भावः। तस्य नृपतेः भीमस्य श्रोत्रे तु किञ्चिन्न पपतुः न किञ्चिदर्थं जगृहतुः । व्याकुलान्तःकरणतया तद्वाक्ये नातीव कर्णं दत्तवानित्यर्थः ॥ ११७ ॥

उन दोनों (प्रधान मन्त्री तथा राजवैद्य) के द्वारा एक साथ कहा गया भेदरहित भी वह वचन परस्परमें प्रतिघातक (एक दूसरे का बाधक) ही हुआ, इस कारण दमयन्ती के विषय में सैकड़ों अनिष्टों की शङ्का होने से राजा के दोनों कान कुछ भी (किसी एक के वचन को भी) नहीं पान किये अर्थात नहीं सुने । [एक साथ दो व्यक्तियों के कहे गये वचनों को कोई भी घबड़ाया हुआ व्यक्ति नहीं सुन सकता, अतः प्रधान मन्त्री तथा राज-वैद्य के एक साथ कहे गये भेदरहित वचनको भी परस्पर बाधक (भीम राजाके द्वारा एक दूसरे की बातको नहीं सुनने में कारण) होना स्वभाविक ही है । अतः उनके वचनको न सुन सकनेसे दमयन्तीके नाना प्रकारकी अनिष्ट शङ्काओंसे भीम राजा घबड़ा गये] ॥११७॥

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम् ।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥११८॥

द्रुतेति । नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नां द्रागपसारितशिशिरोपचारचिह्नामपि, पदे प्रणम्रां पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । तनयामसमाशुगाधिमग्नां मदनव्यथामग्नाम् अकलयन्निश्चिकाय । तथाहि, विज्ञाः प्रवीणाः । 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । झटित्यविलम्बेन, पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परेङ्गितं निश्चिन्वन्तीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ११८ ॥

राजा (भीम) ने विरहचिह्न से रहित । चन्दनलेप, कमल, मृणाल आदि नहीं धारण

---

१. 'भेदव्ययाकृति' इति पाठान्तरम् ।

सी हुई) भी पैरोंमें प्रणाम करती हुई दमयन्तीको कामदेव-बाणप्रहारजन्य मानसिक व्यथामें मग्न अर्थात् अत्यन्त कामपीडित समझ लिया, क्योंकि चतुरलोग दूसरोंके आशयको शीघ्र जानने-वाले होते हैं। [अन्तःपुरमें राजाका आना सुनकर सभय सखियोंने या कुछ स्वस्थ हुई स्वयं दमयन्तीने ही कमल, मृणाल, बिस आदि विरह-ताप-शान्तिकारक चिह्नोंको दूर कर दिया। तब दमयन्तीने आकर पिताके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया। विरहचिह्नों को दूरकर आयी हुई भी पुत्रीको चतुर राजा भीमने कामबाणसे पीडित समझ लिया। यहां दमयन्ती काम-पीडासे इतनी क्षीण हो गयी थी कि विरहचिह्न को दूर हटाकर भी समीप में आयी विनम्र दमयन्तीको कामपीडित समझनेमें चतुर राजाको कुछ विलम्ब नहीं लगा]॥ ११८॥

व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम्।
'दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः' ॥ ११९॥

व्यतरदिति। अथ पिता भीमः, नतशिरसे लज्जानतमुखायै सुतायै दमयन्त्यै, मौलिं मुखमुन्नमय्य, हे वत्से! कियद्भिः कतिपयैरेव वासरैः स्वयंवरे त्वं गुणमयं गुणाढ्यमभिमतं दयितमाप्नुहीत्याशिषं मुहुर्व्यतरत्॥ ११९॥

इसके (चरणोंमें दमयन्तीके प्रणाम करनेके) बाद पिता (राजा भीम) ने नतमस्तक कन्या के लिये प्रेमाधिक्य से झट (पादप्रणत उसके) मस्तक को उठाकर आशीर्वाद दिया कि-'स्वयंवरमें (अथवा हे स्वयंवरे ! पति को स्वयं वरण अर्थात् चुनकर स्वीकार करने-वाली !) तुम कुछ (थोड़े) ही दिनों में बहुत गुणी अपने अभिलषित प्रियतमको प्राप्त करो।' [इस पद्य में 'स्वयंवरे, अभिमतम्, कियद्भिः वासरैः' पदों से राजा भीम ने पुत्री दमयन्तीकी कामपीडितावस्था जानकर आश्वासन दिया कि 'तुम्हें अभिलषित प्रियतम पति शीघ्र ही पाने के लिये मेरी परतन्त्रता नहीं रहेगी, अपितु तुम स्वेच्छानुसार पति को स्वयंवर में स्वयं ही स्वीकार करने में स्वतन्त्र रहोगी]॥ ११९॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥१२०॥

तदन्विति। तदनु आशीर्वादानन्तरम् 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। स नृपस्तनुजासखीः सुतावयस्याः, अवादीदूचे। किं तत्तदाह—हि यस्मात्, तुहिन-ऋतौ शिशिरकाले, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। गते निर्गत एव, वसन्ते पुष्पपरि-णामात्तापस्य दुःसहत्वाच्चेति भावः। इदृशीनां कोमलाङ्गीनां यौवनप्रविष्टानां शरीरे कुसुममपि शरायते शरवदाचरति, तद्वद्दुःसहं भवति। एकत्र गात्रमार्दवादन्यत्र मदनबाणत्वाच्चेति भावः। तत्तस्मादस्यां कोमलाङ्ग्यां युवत्यां च, उचितं योग्यमु-पचारं प्रतीकारमाचरत॥ १२०॥

उसके (दमयन्तीको आशीर्वादरूप में आश्वासन देने के) बाद उस (राजा भीम) ने

पुत्री दमयन्तीकी सखियोंसे कहा—'शिशिर ऋतुके बीतते ही अर्थात् वसन्त ऋतुका आरम्भ ही ऐसी (कोमलाङ्गी युवतियों या विरहपीडिताओं) के शरीरमें फूल भी बाणके समान व्यवहार करता है, अत एव (तुमलोग) इस दमयन्तीके विषयमें योग्य उपचार करो। [ऐसी कोमलाङ्गियोंके शरीरमें फूलसे मारनेपर भी बाणसे मारनेके समान पीडा होती है, फूलको कामबाण होनेसे विरहिणियोंके लिये तो पीडा होना स्वाभाविक ही है] ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।
कृशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाभिधाभिः[1] ॥१२१॥

कतीति । किंच, कतिपयदिवसैः अल्पदिनैरेव, वो युष्माकं, वयस्यया सख्या भैम्या, वरीयान् श्रेष्ठः पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा वरिष्यते । यं कामयते तं वरिष्यतीत्यर्थः । तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दमयन्त्या (कर्त्र्या), भवतीनां विधेव विधा यासां तासां भवद्विधानां सखीनां, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । अभिधाभिरुक्तिभिर्या कृशिमशमना कार्श्यनिवर्तना, तया उपायभूतया रुचिः कान्तिः प्रीतिश्च, आप्तुमुचिता आप्तव्या, स्वयंवरपर्यन्तं भवदुपलालनावचनैः खेदं विहाय प्रसन्नया सन्तुष्टया च स्थातव्यमित्यर्थः । द्रुतेत्यादिश्लोकचतुष्टयं पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥

तुमलोगोंकी सखी यह दमयन्ती कुछ (थोड़े) ही दिनोंमें स्वयं अभिलाषा करके अत्यन्त उत्तम (पतिको) स्वीकार करेगी (जिसे यह हृदयसे चाहती है, उसे ही स्वयंवरमें स्वयं वरण करेगी, इस कार्यमें पिता होनेके कारण मैं किसी प्रकारका बाधक नहीं बनूंगा) । इस कारण इस समय इस दमयन्तीकी दुर्बलता दूर करनेवाली रुचि (विरहावस्थाके पहले वाली सुन्दरता, या इच्छा), तुमलोगोंके समान (हितैषिणी सखियों) के कहने अर्थात् समझाने (पाठभेदसे—उपचारोंसे) प्राप्त करना उचित अर्थात् आवश्यक है।' ['कृशता दूर करनेवाली' यह विशेषण प्रथमान्त मानकर दमयन्ती पक्षमें भी लग सकता है ॥ इसका शीघ्र ही स्वयंवर होनेवाला है, अत एव तुम लोग ऐसा उपचार करो; जिससे यह दमयन्ती कृशता दूरकर पहलेके समान सुन्दर हो जावे] ॥ १२१ ॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जापदं[2]
यन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः ।
यच्चाशीः कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना
तन्मत्वालिजनो मनोऽधिमतनोदानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

एवमिति । एवं वदता नृपेण, तनया दमयन्ती, लज्जापदं लज्जाहेतुं, नापृच्छि न पृष्टेति यत् । ज्ञातांशे प्रश्नायोगादिति भावः । पृच्छेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लुङ् । मोहो मूर्च्छा च वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिर्लिङ्गैः स्मरभूः कामजोऽकल्पि निश्चित

१. 'विधाभिः' इति पाठान्तरम् । २. 'लज्जास्पदम्' इति पाठान्तरम् ।

इति यत् । तत्र तस्यां पुत्र्यां, सदृशी अनुरूपा या सान्त्वना लालनोक्तिः स्यात्, सा चाशीः कपटाद्दयितमाप्नुहीत्याशीर्वादव्याजादवादीति च यत्, तत्सर्वं मत्वालोच्य, आलिवर्गः मनः स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयोः अब्धिमतनोत् । लज्जानन्दसागरीचकारेत्यर्थः स्वेष्टसिद्धेरानन्दः स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२ ॥

इस प्रकार (श्लो० ११९—१२१) कहते हुए राजा भीमने कन्या दमयन्तीसे लज्जाविषयक बातको (पाठभेदसे–सलज्ज दमयन्तीसे पीडाविषयक बातको) तथा कामदेवने शरीर के पाण्डुत्व और सन्ताप आदिसे जो मूर्च्छा उत्पन्न कर दिया था उसको जो नहीं पूछा, और आशीर्वादके बहानेसे (श्लो० ११९ में) दमयन्तीसे योग्य वर पानेको तथा सखियोंसे उसका योग्य उपचार करनेको कहकर जो शान्त्वना दी, उसे जानकर सखियोंने मनको आनन्द तथा लज्जाका समुद्र बना दिया । [राजाने पिता होनेके नाते कामपीडित कन्यासे जो लज्जाजनक पाण्डुतापादिजन्य मोह आदिकी बात नहीं पूछी और आशिर्वाद देकर तथा सखियोंसे उचित उपचार करनेके लिये कहकर कन्या तथा उसकी सखियोंको पूर्ण सान्त्वना दे दी, यह योग्य एवं चतुर पिताके लिये उचित ही था । सखियां भी 'पिताजीने सखी दमयन्तीका, स्वयंवर शीघ्र ही करने का निश्चय कर लिया' यह जानकर हर्षित तथा कामपीडाविषयक बात पिताजीने मालूम कर लिया' यह जानकर एक साथ ही मनमें अत्यन्त लज्जित भी हुई । अन्य किसी भी पिता एवं कन्याके लिये ऐसा ही करना स्वभाविक है]॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १२३ ॥

श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगतम् । तुर्यश्चतुर्थः । 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इति साधुः । स्थैर्यविचारणं नाम स्वप्रणीतप्रकरणं तद् भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥

कवीश्वरसमूहके मुकुटालङ्कारमें जड़े गये हीरेके समान पिता 'श्रीहरि' तथा माता मामल्ल देवीने इन्द्रिय-समूहको जीतनेवाले जिस 'श्रीहर्ष'नामक पुत्रको उत्पन्न किया, उसके रचित 'स्थैर्यविचारण' (क्षण-भङ्गके खण्डनसे स्थिरताका विचारणसूचक ग्रन्थविशेष) नामक प्रकरणका सहोदर (समान, पक्षान्तरमें—दोनों ग्रन्थोंका एक निर्माणकर्ता होनेसे सहज भाई), सुन्दर, नलके चरित अर्थात् 'नैषधचरित' नामक महाकाव्यमें स्वभावतः निर्मल (दोषहीन) चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित'का चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेंद्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः ।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

अथ दमयन्तीस्वयंवराय इन्द्राद्यागमनं वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्येन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति । अथ स महीन्द्रो भीमभूपतिः, स्वयंवरमहाय स्वयंवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानयनेन विलम्बत इत्यर्थः । 'आगमे क्षमायामात्मनेपदं वक्तव्यम्' । 'क्षमोपेक्षा कालहरणमि'तिकाशिका । तावदेव ऋषिर्नारदः, 'ऋत्यक' इति प्रकृति भावः । इन्द्रं दिदृक्षुरिन्द्रदिदृक्षुः सन्, मधुपिपासुवत् गम्यादिपाठाद् द्वितीयासमासः । त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम । सर्गेऽत्र स्वागता वृत्तम् । 'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

दमयन्तीको आश्वासन देनेके बाद राजा भीम जब तक (स्वयंवरका निमन्त्रण भेजकर) राजाओंकी प्रतीक्षा करते थे, तब तक नारदजी इन्द्रको देखने (उनसे मिलने) की इच्छासे स्वर्गको गये ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः ।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गगनं विललङ्घे ॥ २ ॥

अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकारं वर्णयति—नेत्यादि। पर्वतो नारदसखो मुनिः शैलश्च। 'पर्वतः शैलदेवर्ष्योः' इति विश्वः । तं नारदमनु प्रययाविति यत् अत्र चित्रमाश्चर्यं न । कुतः, स पर्वतस्तस्य नारदस्य सपक्षः सखा खलु पक्षवांश्चेति गम्यते । उभयथाप्यनुयानं युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थः । किंतु, जगतो लोकस्य, उच्चैरुन्नतः, गुरुराचार्यः तस्मादलघुश्च, स नारदस्तु, विस्मयाय गगनं विललंघे लंघयामास । तल्लंघनं विस्मयाय भवतीत्यर्थः । गुरुद्रव्यस्य पतनार्हस्य उत्पतनं विरुद्धमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

उन नारदजीके सपक्ष (मित्र, पक्षान्तरमें—पंखसहित) पर्वत ऋषि (पक्षान्तरमें—पहाड़) जो पीछे २ गये, इसमें आश्चर्य नहीं है; किन्तु संसारके (पक्षान्तरमें—संसारसे अर्थात् सबसे) गुरु (आचार्य होनेके कारण गौरवयुक्त, पक्षान्तरमें—भारी) नारदजी जो अत्युन्नत आकाशको लांघ गये, यह आश्चर्य है । अथवा-गुरु अर्थात् गौरवयुक्त (पक्षान्तरमें—भारी) नारदजी संसारके आश्चर्यके लिये उच्चतम आकाशको लांघ गये, अथवा—संसारके गुरु नारदजी जो आकाशको लांघ गये, यह 'वि' अर्थात् पक्षियोंके

भी स्मय (आश्चर्य) के लिये हुआ (पक्षियोंने भी गुरुतम नारदजीको आकाश लांघते (ऊपर जाते) देखकर बड़ा आश्चर्य किया कि इस प्रकार शीघ्र हमलोग भी नहीं उड़ सकतीं) । [जो पर्वत अचल है, उसका नारदजीके साथ ऊपर आकाशको जाना आश्चर्य कारक होना चाहिये था, वैसा नहीं हुआ; क्योंकि वह पंखसहित था—जैसा कि रामायणमें मैनाक पर्वत तथा हनुमानजीके संवादसे और पुराणवचनोंसे पर्वतोंके पंखयुक्त होनेसे आकाशमें उड़नेका प्रसङ्ग आया है। अथवा-यह नारदजी उसके (पर्वतके) सपक्ष अर्थात् पक्षमें थे या मित्र थे, अतः वे सब कुछ उसके वास्ते कर सकते थे, अतः उसका आकाशमें गमन करना कोई भी आश्चर्यकी बात नहीं । संसारके उपदेष्टा होनेसे गौरवयुक्त (पक्षा०—अति भारयुक्त) नारदजी जो आकाशको लांघ गये-धीरे २ नहीं गये किन्तु उछलकर लांघ गये—यह आश्चर्यके लिये हुआ, क्योंकि जो जगद्गुरु है, वह स्वयं अपने लिये कोई अतिमर्यादित काम नहीं करता ॥ नारदजीके साथ उनके मित्र पर्वत ऋषि भी स्वर्गको गये] ॥ २ ॥

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे ।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥३॥

गच्छतेति । पथि विमानं व्योमयानं विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम विजगाहे प्रविष्टम् । तथा हि, साधने उपाये नियमोऽवश्यंभावः क्रियासिद्धौ नियमेन साधनान्तरापेक्षेत्यर्थः । अन्यजनानामस्मदादीनां, योगिनाम् तु, तपसा योगधर्मेणैवाखिलसिद्धिः सर्वकार्यसिद्धिर्हि । तस्मान्महायोगिनोऽस्य किं विमानेनेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३ ॥

विना विमानके ही जाते हुए उस नारदजीने आकाशको आलोडित कर दिया (अथवा—······अपरिमित आकाशको आलोडित कर दिया । अथवा—पक्षीके समान जाते हुए···) । क्योंकि अन्य साधन (रथ, घोड़ा, विमान आदि) की आवश्यकता साधारण लोगोंको होती है (विना साधनके साधारण लोग कुछ नहीं कर सकते), योगियोंको तो तपस्यासे ही सब सिद्धि होती है, (किसी अन्य साधनके विना उनका कोई काम नहीं रुकता) ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाँल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान् ।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरंघ्रिविनम्रैः ॥ ४ ॥

खण्डितेति । एष मुनिः, खण्डितो निरस्तः, इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽहङ्कारो यैस्तान्, ततोऽपि समृद्धानित्यर्थः । विमानान् देवगृहान्, लङ्घते स्म अतिचक्राम । किं बहुना, अङ्घ्रिविनम्रैः, पादपतितैः, तत्पतिभिर्विमानाध्युषितैर्देवैः अर्थितः प्रार्थितोऽपि, आतथितामातिथ्यं, नैवानुमेने । एतन्मात्रविलम्बं च नासहिष्टेत्यर्थः ॥ ४ ॥

यह मुनि नारदजी इन्द्रभवनके अभिमानको भी सुन्दरतासे चूर करनेवाले अर्थात् इन्द्रभवनोंसे भी अधिक सुन्दर ('खण्डितेन्दु' पाठभेदसे—'चन्द्रशाला'संज्ञक भवनविशेषोंसे

भी अधिक सुन्दर, या अत्यन्त ऊंचे स्तरपर उड़नेसे चन्द्रभवन (चन्द्रनिवासस्थान-चन्द्रलोक) के भी अभिमानको चूर करनेवाले) विमानोंको लांघ गये थे (उन विमानोंकी अपेक्षा भी तीव्र वेगसे चलते थे, अथवा उनसे भी ऊंचा पहुँच गये थे)। चरणपर प्रणामकर विमानों-के स्वामियोंके प्रार्थना करनेपर भी ('पैदल क्यों जा रहे हैं? आकर मेरे विमानपर चढ़कर चलिये, ऐसा निवेदन करनेपर भी विलम्ब होनेकी आशङ्कासे) उन (विमान-स्थित देवताओं) का आतिथ्य ग्रहण नहीं किया (उनके विमानपर नहीं बैठे) ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वं तावदेव समकोचयदर्चिः ।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

तस्येति । तपनोऽर्कः, तस्य मुनेः (कर्मणः), तापनाद्भिया, सन्तापोऽस्य भवि-ष्यतीति भयेन स्वमात्मीयमर्चिस्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोचयत् सङ्कोचितवान् । यावदेष तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वौजसा, शशीव, तन्महसा यस्य तेजसेव, द्राक् सपदि, स्वयमेव नातप्यत, मुनितापनादात्महानेर्वरमात्मसङ्कोच इति मत्वा मन्दप्रकाशः स्थित इत्यर्थः । तथा च सूर्यादपि तेजिष्ठो मुनिरिति भावः ॥ ५ ॥

सूर्यने नारदजीको सन्ताप होनेके भयसे अपने तेजको तब तक (अथवा-उतना, अथवा-पहले) ही कम कर लिया, जब तक (अथवा—जितनेसे) दिनके द्वारा चन्द्रमाके समान उन (नारदजी) के तेजसे ही स्वयं तप्त नहीं होने लगे । [सूर्यको दो प्रकारके भय थे-एक यह कि यदि मैं तापको कम नहीं करूंगा तो मुझको नारदजीसे संताप होगा और वे मुझे क्रोधसे शाप दे देंगे, दूसरा यह कि यदि मैं अपने तेजको अधिक कम कर लूंगा तब उनके तेजसे मैं स्वयं ही सन्तप्त होने लगूंगा, जैसे मेरे (सूर्यके) तेजसे चन्द्रमा सन्तप्त (कान्ति हीन) होता है । अतः सूर्यने तब तक या उतना ही अपना तेज कम किया, जिससे उनके तेजसे न तो नारदजी सन्तप्त हुए और नारदजीके तेजसे स्वयं वे (सूर्य) ही सन्तप्त (क्षीणकान्ति) हुए ॥ नारदजीका तेज सूर्यके समान था]॥ ५ ॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन तदा तम् ।
पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥ ६ ॥

पर्यभूदिति । दिनमणिः सूर्यः, द्विजराजं चन्द्रं ब्राह्मणोत्तमञ्च, करैरंशुभिः हस्तैश्च, पर्यभूत् परिभूतवानिति यत् । तेन परिभवेन (हेतुना) तदा नारदागमनकाले, तं दिनमणिं, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्चन्द्रश्च, करैरंशुभिर्हस्तैश्च, पर्यभूत् । अहह अद्भुतम् । 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः । तथा हि, अत्र जीवल्लोके कः स्वकृतं (कर्म) न भुङ्क्ते । सर्वेणापि स्वकर्म-फलमनुभाव्यमेवेत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

सूर्यने करों (किरणों, पक्षान्तरमें—हाथों) से द्विजराज (चन्द्रमा, पक्षान्तरमें—

ब्राह्मणश्रेष्ठ नारदजी) को जो परिभूत (तेजसे हीन, पक्षान्तरमें—सन्तप्त) किया, तब उस कारणसे द्विजराज (चन्द्र, पक्षान्तरमें—ब्राह्मणश्रेष्ठ नारदजी) ने उस (सूर्य) को करों (किरणों, पक्षान्तरमें—अपने तेज) से परिभूत (तेजोहीन, पक्षान्तरमें—सन्तप्त) किया। आश्चर्य या खेद है—इस संसारमें अपने किये गये कर्म (के फल) को कौन नहीं भोगता ? अर्थात् सभी भोगते हैं। [सूर्यके तापसे चन्द्रमाका निस्तेज होना सर्वप्रत्यक्ष है, अतः द्विजराज नारदजीने भी अपने तेजसे सूर्यको तपाया) अथवा—द्विजराज नारदजीको जो सूर्यने अपने किरणोंसे सन्तप्त किया, अत एव क्रुद्ध द्विजराज नारदजीने भी उस सूर्यको सन्तप्त किया, इसी कारण नारदजीके आकाशमें पहुंचनेपर सूर्य निस्तेज हो गये, जैसा पूर्व श्लोकमें कहा गया है। [नारदजीका तेज सूर्यके तेजसे भी अधिक था] ॥ ६ ॥

विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः ।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

विष्टरमिति । अथ स्वर्गसिन्धुर्मन्दाकिनी, अतिथये अस्मै नारदाय, तटकुशानां मालिभिरावलिभिर्विष्टरमासनं, 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वनिपातः, अद्भिः पाद्यं पादार्थं जलं, कच्छरुहाभिर्जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिर्लताभिः, अर्घ्यम् अर्घार्थं पुष्पफलादि, 'पादार्घाभ्याञ्च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः । पद्मवृन्दानां मधुभिर्मकरन्दैः, मधुपर्कञ्च अदित दत्तवती । ददातेर्लुङि तङ् ॥ ७ ॥

इसके बाद (स्वर्गमें पहुँचनेपर) मन्दाकिनी अर्थात् स्वर्गगङ्गाने अतिथि इस नारदजीके लिये किनारेमें उत्पन्न कुशाओंसे आसन, जलसे पाद्य (पैर धोनेके लिए) जल, अपने समीपकी जलप्राय भूमिकी दूबोंसे अर्घ्य और कमलसमूहके मधु अर्थात् मकरन्दसे मधुपर्क दिया। [अन्य सज्जन व्यक्ति भी अपने यहाँ आये हुए अतिथिके लिए प्रसन्न होकर आसन, पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्क देते हैं और वह अतिथि भी उनके आतिथ्यसे प्रसन्न होता है ॥ मन्दाकिनी नारदजीको और नारदजी मन्दाकिनीको देखकर प्रसन्न हुए] ॥७॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप ।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुम[1]नादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

स इति । स मुनिः, अगाधं, वियदन्तर्नभोऽभ्यन्तरं व्यतीत्य, नाकनायकनिकेतनम् इन्द्रभवनं, यती योगी, अनादिं, भवसिन्धुं संसाराब्धिम् , सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु परमानन्दसुन्दरं, ब्रह्म परमात्मानमिव आप ॥ ८ ॥

वह (नारदजी) बीच में अगाध (अपरिमित) आकाशको पारकर देवराज इन्द्रके भवन (वैजयन्त नामक महल) को प्राप्त किये, जिस प्रकार योगी (या परमहंस) अनादि (प्रवाहसे युक्त) संसारसागरको पारकर आनन्दातिशय रमणीय ब्रह्मको प्राप्त करता है।

---

१. '—मनादिं' इति पाठान्तरम् ।

[अन्तः तथा अगाध शब्द भवसागरके, अनादि शब्द वियत्के और शर्मभरचारु शब्द इन्द्रभवनके भी विशेषण हो सकते हैं ॥ नारदजी इन्द्रभवनमें पहुंच गये] ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः ।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय ॥ ९ ॥

अर्चनाभिरिति । इन्द्रः, तमतिथिं मुनिम्, उचिताद्विहितात्, उच्चतराभिरधिकाभिः, अर्चनाभिः पूजाभिः, चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान्, आदृतवानित्यर्थः । 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातनात् प्राक् प्रयोगः । अधिकाचरणे हेतुमाह—यावदर्हं यावदुक्तम् 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः । 'यावदर्हस्य करणम्' इति षष्ठीतत्पुरुषः । साधोः श्रद्धालोः प्रत्यवायधुतये अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्कर्षाय न किल खलु । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ९ ॥

इन्द्रने अतिथि उस नारदजीका उचितसे अधिकतर पूजाओं द्वारा सत्कार किया । उचित पूजा करना सज्जनके प्रत्यवाय (नहीं पूजा करनेसे होनेवाले दोष) की शान्तिके लिये होता है, (पूजा करनेवालेके) गुणके लिये नहीं । अथवा—सज्जनकी उचित पूजा करना पूजनकर्ताके प्रत्यवायशान्तिके लिये होता है, गुणके लिये नहीं । अथवा—सज्जनके गुणके लिये नहीं होता ॥ [देवराज इन्द्रने श्रेष्ठतम अतिथिरूपमें उपस्थित नारदजीका आतिथ्य बड़ी ही श्रद्धा एवं भक्तिके साथ किया] ॥ ९ ॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक् ।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाधिपलम्भी ? ॥१०॥

नामधेयेति । अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्रः, अद्रेः पर्वतस्य, नामधेयसमतया नामसामान्येन सखायं तत्सखं मुनिं पर्वताख्यं, द्राक् द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान् । पर्वतः पर्वतारेः कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—पर्वतोऽपि स द्विजो विबुधाधिपं देवेन्द्रं पण्डितोत्तमं च, लभते प्राप्नोतीति तल्लम्भी । 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः । स मुनिः, कथमर्चां पूजां, न लभतां ? लभतामेवेत्यर्थः । द्विजोऽभ्यागतो महतः प्रतिपक्षादपि विवेकिनः पूजां लभत इति भावः ॥ १० ॥

पर्वतोंका भेदन करनेवाले इन्द्रने इस नाममात्रसे (कर्मसे नहीं) पर्वत पर्वत मुनिका शीघ्र सत्कार किया । विबुधप्रभु (देवताओंके स्वामी, पक्षान्तरमें—विशिष्ट विद्वानोंमें श्रेष्ठ) को प्राप्त करनेवाला द्विज (ब्राह्मण) पर्वत भी पूजाको क्यों नहीं प्राप्त करे अर्थात् अवश्य प्राप्त करे । [यद्यपि इन्द्र पर्वतोंका भेदन करनेवाले हैं किन्तु देवराज या विशिष्ट विद्वानोंमें श्रेष्ठ होनेसे अपने यहां आये हुए पर्वत (शत्रु) का भी क्यों सत्कार न करें ? उसमें भी यह द्विज है, तथा केवल नामसे ही पर्वत है वास्तविक पर्वत नहीं, अत एव अवश्य सत्कार पानेके योग्य है । अथवा—पर्वतरूप (पत्थरके समान) अर्थात् महामूर्ख भी ब्राह्मणको विद्वच्छ्रेष्ठ

के यहां आकर पूजा प्राप्त करना उचित ही है ! द्वारपर आया हुआ शत्रु हो, या महामूर्ख भी ब्राह्मण हो तो उसका विद्वान्लोग आदर-सत्कार अवश्य ही करते हैं]॥ १० ॥

तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद्द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः ।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥११॥

तदिति । मुनीन्द्रो नारदस्तान्, प्रसिद्धान् द्योद्रुमान् कल्पवृक्षानपि, अतिवितीर्णसपर्यादतिमात्रदत्तपूजात्, तस्येन्द्रस्य, भुजाद्धस्तादेव, गुरोः स्वः स्वर्गे, सहस्थित्या सहवासेन, सुशिक्षितया स्वभ्यस्तया, दानपारमिता नाम दानकर्तव्यताप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः, तयैव कारणेन वदान्यान् विवेद । इन्द्रहस्तः कल्पवृक्षाणामपि दानविद्योपदेष्टेत्युत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । कल्पवृक्षातिशाय्यौदार्यमस्येति भावः ॥ ११ ॥

मुनिराज नारदजीने अतिशय दानशीलतासे (अथवा-अधिक दानशीलताका प्रतिपादक 'दानपारमिता' नामक ग्रन्थ-विशेषसे) ही अत्यधिक पूजन (आदर-सत्कार) करनेवाले (गुरुरूप) इन्द्रके हाथोंसे स्वर्गमें नित्य साथ रहनेसे शिक्षा ग्रहण किये (सीखे) हुए, स्वर्गवृक्ष अर्थात् कल्पवृक्ष आदिको अतिशय दान देनेसे वदान्य (अतिशय दान करनेवाला) जाना । ['संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' उक्तिके अनुसार जो जिसके साथ सदा रहता है, वह विना सिखाये भी उसके गुणोंको सीख लेता है, यहां देवर्षि नारदजीने दानवीर इन्द्रके हाथोंसे अत्यधिक आदर-सत्कार पाकर यह निश्चय किया कि कल्पवृक्षोंकी दानशीलता स्वभावज नहीं, किन्तु महादानी इन्द्रके सहवाससे है ॥ इन्द्र कल्पवृक्षोंसे भी अधिक दानी थे]॥

मुद्रितान्यजनसंकथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत् ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः ॥ १२ ॥

मुद्रितेति । बलरिपुरिन्द्रः, मुद्रितान्यजनसंकथनो निवारितेतरजनालापः सन्, नारदं समवादीत्, तेन सह संलापमकार्षीदित्यर्थः । किं संवाद्यं तदाह—प्रायशः सुहृदोर्मित्रयोः सहवासः सङ्गमः, स्वे आत्मीयाः परे च स्वपरे तेषां याः भूरयः कथाः प्रसङ्गास्तासाम् आकरः खनिर्हि । इष्टालापानामियत्ताभावात् संवादसिद्धिरित्यर्थान्तरन्यासाभिप्रायः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः ॥ १२ ॥

बल दैत्यके शत्रु इन्द्रने दूसरे लोगोंकी या दूसरे लोगों के साथकी बातचितको रोककर नारदजीसे कहा—क्योंकि दो मित्रोंका सहवास प्रायशः अपनी तथा दूसरोंकी बहुत-सी कथाओंकी खान होता है । [दो मित्रोंके मिलनेपर अपनी २ हार्दिक रहस्यमयी बातें तथा अन्यान्य विविध संभाषण निरन्तर हुआ करते हैं, इसी कारण इन्द्र दूसरे लोगोंसे संभाषण करना आदि कार्य रोककर स्वयं नारदजीके साथ सम्भाषण करने लगे]॥ १२ ॥

तं कथानुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम् ।
भूभृतां चिरमनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः ॥ १३ ॥

तमिति। शतमन्युः शतक्रतुः। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। आलपन-कौतुकितायामाभाषणोत्कण्ठायां, दूरं कथानुकथनप्रसृतायाम् उत्तरप्रत्युत्तराभ्यां दूरं गतायां सत्यां, प्रसक्तानुप्रसक्तया सङ्गत्येत्यर्थः। चिरं चिरात्प्रभृति। भूभृतां राज्ञाम्, अनागमनहेतुं ज्ञातुमिच्छुः सन्। तं नारदं, अवददपृच्छदित्यर्थः॥ १३॥

संभाषण-कौतुकके परस्पर कथनानुकथन (एक दूसरेके कहने तथा सुनने) के बहुत अधिक बढ़ जानेपर बहुत दिनोंसे राजाओंके स्वर्गमें न आनेके कारणको जाननेकी इच्छा करनेवाले शतमन्यु (सैकड़ों क्रोधवाले अर्थात् अत्यन्त क्रोधी=इन्द्र) ने उन नारदजीसे पूछा—[पहले भूलोलमें रणके सम्मुख मारे गये बहुत-से राजालोग स्वर्गमें आया करते थे, इस समय बहुत दिनोंसे किसी युद्धहत राजाके स्वर्गमें नहीं आनेका क्या कारण है ?' यह जाननेकी प्रबल इच्छा इन्द्रके मनमें थी, सर्वत्र घूमनेवाले नारदजी इस बातको अवश्य बतलायेंगे, ऐसा समझकर उनसे पूछा। अत्यधिक क्रोधी इन्द्रका युद्धप्रिय होना तथा तद्विषयक प्रश्न करना स्वाभाविक ही था]॥ १३॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किन्नु सम्प्रति न वीरकरीरान् ?।
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति॥ १४॥

प्रागिति। नृपवंशाः राजकुलानि, नृपा एव वंशाः वेणवश्च। 'वंशो वेणौ कुलेवर्गे' इति विश्वः। प्राक् पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरानेव करीरानङ्कुरान्। 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः। न प्रसुवते न जनयन्ति। किं नु? किं तैरत आह-य इति। ये वीरकरीराः, परिणामे परिपक्वावस्थायां, परेषामरीणाम् अन्येषां च। 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती। प्रहरणैरायुधैः दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्तः क्षितितले निपतन्ति॥ १४॥

राजवंश (राजाओंके कुल, पक्षान्तरमें—राजारूपी बाँस) इस समय पहले के समान वीरकरीरों (हाथियोंको भी गिराने या कम्पित करनेवाले वीरों, पक्षान्तरमें—वीररूप करीरों अर्थात् बाँसके कोपलों) को नहीं उत्पन्न करते हैं क्या ? जो (वीरकरीर) युवावस्थामें (पक्षान्तरमें—पकनेपर) शत्रुओंके (पक्षा०—दूसरोंके) बाण-खड्गादि शस्त्रोंसे (पक्षान्तरमें—कुल्हाड़ी आदिसे) विक्षत होकर (अत्यन्त घायल होकर, पक्षा०—कटकर) भूतलपर गिरते हैं (किसी रोगसे पीडित होकर बुढ़ापेमें नहीं मरते)॥ जिस प्रकार बांस उन वंशाङ्कुरोंको पैदा करता है, जिन्हें पक जाने पर अन्यलोग कुल्हाड़ी आदिसे काटकर ले जाते हैं, उसी प्रकार राजकुल हाथियोंको भी कंपा देनेवाले वीरोंको नहीं जन्माते क्या ? जो बुढ़ापेमें किसी रोगसे आक्रान्त होकर नहीं मरते, अपितु पूर्ण युवावस्थामें युद्धमें शत्रुओंके शस्त्रप्रहारसे ही भूमिपर गिरकर प्राणत्याग करते हैं]॥ १४॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम्॥ १५॥

ततः किमत आह–पार्थिवमिति । वीराः पूर्वोक्ता रणपातिनः, पार्थिवं पृथिवीविकारम्, अत एव गौरवात् गुरुत्वगुणयोगित्वात् , ऊर्ध्वगमनस्योत्पतनकर्मणः, पार्थिवत्वादूर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरमत्यन्तं विरोधि निजं वपुः, आजिषु युद्धेषु अपास्य सत्कृतामतिथिसत्कारस्तस्य ऋद्धिम्, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भजन्ते हि । तादृग्वीरालाभे स्वस्यातिथिलाभो न स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

वीरलोग पार्थिव (नृपभावापन्न, अथवा—मिट्टीसे बने) अत एव गौरव (बड़प्पन, अथवा—भारीपन) से अत्यन्त दूर ऊपर जानेमें असमर्थ अपने शरीरको छोड़कर (अथवा-भारी होनेसे ऊपर उठने अर्थात् स्वर्ग जानेमें असमर्थ अपने पार्थिव शरीरको दूर (भूतल पर) ही छोड़कर मुझसे अतिथि-गौरवोन्नतिको प्राप्त करते हैं। [अन्य भी व्यक्ति दूर जानेके लिये भारी बोझको छोड़ देता है । पार्थिव अर्थात् मिट्टीसे बनी वस्तुको छोड़कर इन्द्रकृत गौरवमयी समृद्धिका सबके लिये प्रिय होना उचित ही है। भारी वस्तुको छोड़कर अधिक भारी तथा अपनी वस्तुको छोड़कर दूसरेकी वस्तु ग्रहण करना कौन नहीं चाहता ? अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा—वे वीर वैसे अपने शरीरको छोड़कर गौरव (महत्त्व) के कारण मुझसे की गयी गौरवपूर्ण अतिथिसत्काररूपी समृद्धिको पाते हैं इत्यादि यथाज्ञान अन्य भी अर्थ कर लेना चाहिये (जब ऐसे वीरोंके लिए स्वर्गाधीश देवराज इन्द्र भी तरसते हैं तो वे वीर धन्य हैं)। उन वीरोंके इस समय स्वर्गमें अतिथि-सत्कारसे प्राप्त होनेवाले पुण्यातिशयसे मैं वञ्चित रह जाता हूँ, अत एव उन वीरोंके विषयमें पूछ रहा हूँ]॥ १५ ॥

साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।
तेन न श्रियमिमां बहुमन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् ॥ १६ ॥

ननु तदलाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न कदाचित् क्षतिरित्यत आह—साभिशापमिति । हे भगवन् मुने ! ते वीराः अतिथयः, अभिशापेन सह वर्तत इति साभिशापं मिथ्याभिशस्तमिव । 'अथ मिथ्याभिशंसनम् । अभिशापः' इत्यमरः । मामद्य नोपयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यैकस्यैव, भृतिकार्येण, पोषणकृत्येन, कदर्यां कृपणाम् । 'कदर्ये कृपणः क्षुद्र' इत्यमरः । 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृतः ॥' इति च । इमां श्रियं न बहु मन्ये । अतिथिसत्कारशून्यस्य श्रीवैफल्यमेव क्षतिरिति भावः ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! वे वीर अतिथि जो आज (इस समय) महापातक आदिसे कलङ्कितके समान मेरे यहां नहीं आते हैं, उससे केवल अपने पेट भरनेके कार्यसे तुच्छ (या कृपण) इस (स्वर्गैश्वर्यरूप) लक्ष्मीका मैं अत्यन्त आदर नहीं करता अर्थात् उसे अच्छा नहीं मानता । [धन होनेका मुख्य फल अतिथि-सत्कार होनेसे इस समय उसका लाभ न होने के कारण स्वर्गका यह ऐश्वर्य मुझे अच्छा नहीं लगता है]॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ १७॥

पूर्वेति। पूर्वपुण्यविभवस्य व्ययेन लब्धाः सम्पदो विमृष्टाः विचारिताः विपद एव। सद्यः स्वोदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भावः। तासु विपत्सु सम्पद्रूपास्वापत्सु। आसां सम्पदां, पात्राणां विद्याजातितपोवृत्तसम्पन्नानां पाणिकमलेष्वर्पणं दानमेव विधिदृष्टः शास्त्रदृष्टः, शान्तिकविधिः शान्तिकर्मानुष्ठानम्, नष्टसुकृतादपि अत्युत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भावः। अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्तः॥ १७॥

पूर्व पुण्यैश्वर्यके व्ययसे मिली हुई अधिक सम्पत्तियाँ (अथवा—लक्ष्मीरूप भार या लक्ष्मीका भार) विचार करनेपर विपत्ति ही हैं। उन विपत्तियोंमें इन सम्पत्तियोंका सत्पात्रोंके करकमलमें समर्पण करना (देना) ही शास्त्रमें देखा गया अर्थात् शास्त्रोक्त (अथवा—ब्रह्माके द्वारा वेदोंमें देखा गया) शान्तिके लिये विधान है। (अथवा—सत्पात्रके हाथपर दान-सम्बन्धी) जलका समर्पण···। [कमलमें लक्ष्मीका निवास रहना शास्त्र-प्रसिद्ध है, अत एव सत्पात्रके करकमलमें लक्ष्मीको समर्पण करनेका अर्थ लक्ष्मीको उनके निवास स्थानपर बैठाकर उसे स्थिर करना है। अन्य भी व्यक्ति विपत्ति कालमें शास्त्रोक्त हवन दान आदि शान्तिक विधिका अनुष्ठान करते हैं]॥ १७॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः॥ १८॥

तदिति। तत्तस्मात्, तत्र विषये अस्मिन्नर्थे, मम, संशयस्य शिल्पि तज्जनकं, स्फीतं प्रभूतम्, अघमेनः, तन्मूलत्वान्मिथ्याज्ञानस्येति भावः। यद्वा, संशयः शिल्पी जनको यस्य तदघं दुःखं, दुःखहेतुत्वात्संशयस्येति भावः। 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती। सहसा विमृज्य निवर्त्य, भगवतो वाग्भिरद्य श्रुतिसारैर्वेदसारः, कर्णामृतैश्च। अघमर्षणऋग्भिः अघमर्षणीभिः। ऋग्भिः। 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। भूयताम्। भावे लोट्। राज्ञामनागमनकारणमसंदिग्धं ब्रूहीत्यर्थः। अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अघमर्षणत्वस्य प्रकृतावहरणोपयोगात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात्॥१८॥

इस कारणसे कानोंमें सुधावर्षक अर्थात् कर्ण-सुखकर (पक्षान्तरमें—वेदोंका सारभूत) आपके वचन इस समय, (राजालोग युद्धमें वीरगतिको प्राप्त कर स्वर्गमें क्यों नहीं आते?) इस विषयमें बढ़े हुए तथा संशय पैदा करनेवाले (अथवा—संशयका कारण बने हुए) मेरे दुःख (पक्षान्तरने—पाप) को सहसा दूर कर अघ-मर्षण-ऋक् (मेरे दुःख या पापको धोने अर्थात् साफ करनेवाले ऋङ्मन्त्र, पक्षान्तरमें—ऋग्वेदोक्त 'अघमर्षण' नामक ऋचा—'ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धा·····' ऋ० ८।८।४८) होवें। [जैसे वेदोक्त

अघमर्षण मन्त्रके सुननेसे पाप दूर हो जाते हैं, वैसे ही आपके वचनोंको सुननेसे वीरोंके स्वर्गमें न आनेका कारण जानकर मेरे दुःख दूर होवें]॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्धिं वर्धयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १९ ॥

इतीति । मघवा इन्द्रः, इत्युदीर्य, अवहितत्वभरेण एकाग्रतातिशयेन, विनयर्धिं विनयातिशयं, वर्धयन्ननिमेषां चक्षुषां दशशतीं दशानां शतानां [समाहारः दशशतीं सहस्रं, 'तद्धितार्थ-' इत्यादिना समाहारे द्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रियां 'द्विगोः' इति ङीप् । एतेन शतमखी व्याख्याता । मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् तस्थौ । लिटः क्वसुरादेशः ॥ १९ ॥

यह (श्लोक १४-१८) कहकर अधिक सावधानीसे विनय-समृद्धिको बढ़ाते हुए इन्द्र मुनि नारदजीके मुखको निमेषरहित हजार आँखोंसे देखते हुए चुप हो गये । [अधिक सावधानी तथा देव होनेसे इन्द्र विना पलक गिराते (एकटक मुनिराजके मुखकी ओर उत्तरकी प्रतीक्षामें देखते) हुए चुपचाप बैठे रहे । अत्युत्कण्ठित अन्य कोई भी व्यक्ति उत्तर देनेवालेकी ओर एक टक देखता हुआ चुपचाप बैठ जाता है]॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाकं पाकशासनपदं स्पृशतोऽपि ।
नारदः प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरस्सरमाख्यत् ॥ २० ॥

वीक्ष्येति । नारदः पाकशासनपदं स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि । तस्येन्द्रस्य, विनये परिपाकं प्रकर्षं, वीक्ष्य विस्मितः सन् सविस्मयः सन् , कर्तरि क्तः । प्रमद-गद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सरं स्मितपूर्वमाख्यदाचचक्षे । 'अस्यति-वक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः ॥ २० ॥

इन्द्रासनपर बैठे हुए भी उस इन्द्रके अधिक विनयको देखकर आश्चर्यित नारदजी हर्षा-धिक्यसे गद्गद वचन मुस्कुराकर बोले—[कोई दूसरा व्यक्ति थोड़ी-सी सम्पत्तिको पाकर भी विनयसे रहित हो जाता है, और ये इन्द्रपदपर बैठे हुए भी इतना अधिक विनय कर रहे हैं, यही नारदजीके आश्चर्य एवं हर्षका कारण था ॥ अन्य भी कोई व्यक्ति आश्चर्यचकित तथा हर्षित होनेसे कोई बात गद्गद होकर ही कहता है]॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकादरदं तु ॥ २१ ॥

भिक्षितेति । शतानां मखानां समाहारः शतमखी (दात्री), यत् सुकृतं भिक्षिता याचिता । भिक्षेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । तत्फले तस्य सुकृतस्य फले, स्ववि-भूतौ निजैश्वर्ये हेला अवज्ञा अनास्था यदि, 'हेलाऽवज्ञा' इति वैजयन्ती । तत्परिश्रम-

विदो याच्ञाक्लेशाभिज्ञस्य तव परं केवलं तवैव। नान्यस्येत्यर्थः। 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवले' इति विश्वः। याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः। ननु धनिनां दातृत्वं किं चित्रं तत्राह—क्लेशेति। सत्यं क्लेशलब्धं तु अधिकादरदम् अतिलोभकारि दुस्त्यजम्। त्वं तु मखशतक्लेशलब्धमप्यैश्वर्यमर्थिसात्करोषीति कथं न चित्रमित्यर्थः। अत्र क्लेशवाक्येन हेलात्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्॥ २१॥

'आपने सौ अश्वमेध यज्ञरूप पुण्यकी जो भिक्षा प्राप्त की है उसके (पानेमें) परिश्रम को जाननेवाले उस पुण्यके फल अपने (इन्द्रपदरूप) ऐश्वर्यमें, यदि अनादर (श्लो० १६) है तो केवल आपको है (अन्य किसीको नहीं। अथवा—यदि अधिक अनादर है तो आपको है। कष्टसे प्राप्त हुई वस्तु तो अधिक आदरके योग्य होती है। [भिक्षामें प्राप्त इतने बड़े ऐश्वर्यका केवल आप ही अनादर कर सकते हैं, भिक्षाके कष्टको समझनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति थोड़ी-सी सम्पत्ति पाकर भी उसका अनादर नहीं करता, फिर इतनी बड़ी—इन्द्रपदरूप सम्पत्तिके अनादर करनेकी बात ही कौन कहे ?। भिक्षाप्राप्त इतनी बड़ी सम्पत्तिको भी आप जो अतिथिके सत्कारमें लगाना चाहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥

सम्पदस्तव गिरामपि[1] दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः॥ २२॥

सम्पद इति। किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूराः अगोचराः, कुतः, यद्यस्माद्विनयं न विनयन्ते नाम न लुम्पन्ति खलु। नयतेर्लट्। 'स्वरित—' इत्यादिना आत्मनेपदम्, 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित्। तदसत्। सम्पदां कर्तृणाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृस्थत्वादिति। अतः स्तोतुमशक्या इत्यर्थः। किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्तः प्रमाणभूतः साक्षादनुभवः प्रत्यक्षानुभवसिद्धः, नाह चेत् क इव को वा, श्रद्दधाति विश्वसिति, न कश्चिदित्यर्थः। त्वत्सम्पदां विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवतां मादृशामेव श्रद्धा जायते नान्येषां, प्रायेणान्यत्र सम्पदां विनयहारित्वात्। किं बहुना, वयमपि न श्रद्दध्म इति भावः। अत्र सम्पदां वागगोचरत्वेऽपि तदगोचरत्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः॥ २२॥

वचनके अविषय अर्थात् अवर्णनीय ('इतनी सम्पत्ति है' ऐसा नहीं बता सकने योग्य) सम्पत्तियां जो तुम्हारे विनयको नहीं दूर करती हैं, इसमें यदि अत्यन्त आप्त (परम मित्र, अथवा—राग-द्वेषसे रहित कोई परम प्रामाणिक व्यक्ति, अथवा—कभी नहीं व्यभिचरित अर्थात् दूषित होनेवाला) अनुभव साक्षात् नहीं कहता है तो कौन श्रद्धा करता है अर्थात् कोई नहीं। [अथवा-इस विषयमें यदि परम आप्त साक्षात् अनुभव कहता है तो कौन विश्वास

---

१. 'मति—' इति पाठान्तरम्।

नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं (क्योंकि साक्षात् अनुभूत विषयमें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं होता है)। अथवा-संसारमें लोग प्रायः श्रीमान् व्यक्तियोंकी झूठी प्रशंसा किया करते हैं, किन्तु तुम्हारी झूठी प्रशंसा नहीं करते, ऐसा कोई परममित्र या आप्त या अनुभव ही साक्षात् कह रहा है तो कौन विश्वास नहीं करेगा ? अर्थात् सब करेंगे ॥ अन्य व्यक्ति सम्पत्ति होनेपर विनयको छोड़ देते हैं, किन्तु तुम इतनी अपार संम्पत्ति पाकर भी विनयी हो, यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे ही विश्वासके योग्य है] ॥ २२ ॥

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति ।
पश्यतो बहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

श्रीभरानिति । श्रीभरान् सम्पदुच्छ्रयान् , अतिथिसात् दानेनातिथ्यधीनं, 'देये त्रा च' इति चकारात् सातिप्रत्ययः । करवाणि कुर्याम् । विध्यर्थे लोट् । 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति मेर्निः । स्वोपभोगपरता आत्मम्भरित्वं, न हिता न श्रेयस्करीति पश्यतो जानतः प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव अन्तरात्मन्यपि कापीयं दृष्टिसृष्टिः ज्ञानसृष्टिरक्षिसृष्टिश्च । 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिदर्शने' इत्यमरः । अधिका असाधारणी, द्वयोरपि दृष्टयोः श्लिष्टशब्दोपात्तयोरभेदाध्यवसायेन बहिरिवेत्युपमा ॥ २३ ॥

'समस्त सम्पत्तिको दान देकर अतिथियोंके अधीन कर दूं, उनका अपने लिये ही उपभोग हितकर नहीं है' इस प्रकार अन्तःकरणमें भी बाहरके समान देखते हुए कोई अर्थात् लोकोत्तर या अनिर्वचनीय तुम्हारी दृष्टि-रचना है। [जिस प्रकार सहस्र नेत्र होनेसे बाहरमें तुम्हारी दृष्टि-रचना लोकत्तर है, उसी प्रकार मनमें उक्त उत्तम विचार करनेसे तुम्हारी ज्ञानदृष्टि भी लोकत्तर अनिर्वचनीय है, तुमसे अधिक कोई विचारवान् नहीं है] २३

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रशाधि गलितावधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः ! ॥२४॥

आ इति । विडं भेदकम् । बिड भेदने । इगुपधलक्षणः कः तदोजो यस्य तस्य सम्बुद्धिः हे विडौजः !, स्वभावमधुरैः निसर्गरमणीयैः, तवेमे तावकाः 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि तवकादेशः । तैरनुभावैरैश्वर्यैरतितरामत्यन्तम्, अव्ययादामुप्रत्ययः । तरलाः लोलाः आनन्दलहरीमग्नाः स्म इत्यर्थः । आ इत्यानन्दास्वादानुकारः । गलितावधिकालमनन्तकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । द्यां स्वर्गं साधु प्रशाधि पालय । साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो भव । 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम् ॥ २४ ॥

हे विडौजा ! (व्यापक तेजवाले इन्द्र !) स्वभावतः मधुर (दिखावटी नहीं) तुम्हारे प्रभावों (या भावप्रकाशन या प्रत्यक्षतः अनुभव किये गये कार्यों) से आः मैं अत्यन्त चलायमान या आश्चर्यित हूँ। अवधिरहित (अनन्त) समयतक अच्छी तरह स्वर्गका शासन करो और

अच्छी तरह विजय करो। [यद्यपि मुनि होनेके कारण किसीका गुण या दोष देखकर मुझे विचलित या आश्चर्यित नहीं होना चाहिये, तथापि तुम्हारे स्वाभाविक अर्थात् निष्कपट एवं शाश्वत मधुर प्रभावसे हम चञ्चल या आश्चर्यित हो रहे हैं। अतः महाहर्षाधिक्यसे 'आः' शब्दका प्रयोग हुआ है]॥ २४ ॥

सङ्ख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनाम् ।
यत्त्विहानुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगद्युवमुदं तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नस्योत्तरमाह—सङ्ख्येति। सङ्ख्ये समरे, विक्षताभ्यः प्रहृताभ्यः तनुभ्यो गात्रेभ्यः, स्रवद्भिरस्रैरसृग्भिः क्षालितानि निर्णिक्तानि अखिलानि निजान्यघानि येषां तेषामत एव लघूनां निर्भाराणां राज्ञां यद्यस्मात् कारणादिह स्वर्गेऽनुपगमो नागमः तत्कारणभूतं जगत्सु ये युवानः तेषां मुदमानन्दकारणम् असाधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेशः। तं प्रसिद्धम् उदन्तं वार्ताम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः' इत्यमरः। शृणु। अत्र क्षालिताघपदार्थस्य विशेषणगत्या लघुत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ २५ ॥

युद्धमें घायल शरीरसे बहते हुए रक्तद्वारा धो दिये गये हैं सब पाप जिनके, ऐसे होनेसे हलके (अथवा—...धोये गये सब पापोंके कारण हलके। 'हलका' होनेसे अत्यन्त ऊंचे आनेमें समर्थ) राजालोगोंका यहां (स्वर्गमें) आगमन नहीं होता है, संसारके अत्यन्त हर्षप्रद उस वृत्तान्तको सुनो। [हलकी वस्तु सरलतासे अत्यधिक ऊंचे स्थानको जा सकती है, युद्धमें घायल होने या मरनेसे वीरोंको पुण्यातिशयलाभ होता है तथा उनके पाप नष्ट हो जाते हैं, पापका भार अत्यन्त भारी (ढोनेमें अशक्य) तथा पुण्यका भार अत्यन्त हलका (सर्वत्र ले जानेयोग्य) होता है, हलके भार (बोझे) वाला व्यक्ति सरलतासे पर्वतादि ऊंचे स्थानोंमें चढ़ सकता है। सब पाप नष्ट होनेसे पुण्यात्मा वीर राजाओंका भी स्वर्गमें पहुंचना अनायाससाध्य है]॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममोघम् ॥ २६ ॥

सेति। भुवो भूषणं किमप्यनर्घममूल्यं रत्नम्। असाधारणं स्त्रीरत्नमित्यर्थः। कुमारी कन्या, अनूढेत्यर्थः। सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति। सर्वोत्कर्षेण जागर्ति, या अमोघं मदनशस्त्रम् ॥ २६ ॥

वहां (भूतलपर) पृथ्वीका भूषण अमूल्य कोई (अनिवर्चनीय अर्थात् जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, अथवा—जिस रत्नका नाम नहीं बतलाया जा सकता) रत्न राजा भीमकी कन्या दमयन्ती नामकी कुमारी सर्वश्रेष्ठ है, जो कामदेवका अमोघ (कभी

निष्फल नहीं होनेवाला) शस्त्र है । [उससे पृथ्वी अलंकृत है, कुल नाम तथा कुमारी कहने से वह विवाहके योग्य है, इच्छा हो तो तुम भी उसके लिये उपाय करो, ऐसा संकेत है] ॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती ।
आशिखं सुकृतसारभृते सा कापि यूनि भजते किल भावम् ॥२७॥

अथेन्द्रस्य मात्सर्योत्पादनाय तस्याः पुरुषान्तरासक्तिञ्च वक्ति-सम्प्रतीति । सम्प्रतीदानीं, सा दमयन्ती, यौवनस्य जवेनोद्भववेगेन, प्रतिमुहूर्तं काप्यपूर्वा लावण्यमयावयवपोषविशेषेणान्येव भवन्ती । आशिखं शिखापर्यन्तम्, अभिविधावव्ययीभावः । सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदृग्भाग्यसम्पन्न इत्यर्थः । क्वापि कस्मिन्नपि यूनि भावमनुरागं भजते । किलेत्यैतिह्ये ॥ २७ ॥

इस समय प्रत्येक क्षणमें यौवनके वेगसे कोई अपूर्व अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी होती हुई वह दमयन्ती एड़ीसे चोटी तक पुण्यके सारसे परिपूर्ण किसी युवकमें अनुराग कर रही है । जगत्सुन्दरी वह दमयन्ती स्वयं जिसे चाहती है, उस युवकके पुण्यजन्य भाग्यातिशयका क्या वर्णन किया जाय ? अर्थात् वह अत्यन्त भाग्यशाली है । प्रतिक्षण उसके सौन्दर्यकी वृद्धिका वर्णन करते हुए नारदजीने उस दमयन्तीका किसी भाग्यशाली युवक में स्वयं प्रेम करना कहकर अहल्या आदिकी इच्छा करनेसे कामवासनामें प्रसिद्ध इन्द्रकी उत्कण्ठाको अधिक बढ़ा दिया है] ॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठ ? ।
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥२८॥

कथ्यत इति । किञ्च, चलदोष्ठस्त्वं स युवा कतम इति मां विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरसि किम् । तर्हि अर्धवर्त्मन्यर्धोक्ते पृच्छां प्रश्नम् । भिदादित्वादङ् । न रुणत्सीति काकुः । एनां पृच्छां निर्गमेनोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय । कुतः न कथ्यते । यतः पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

हिलते हुए ओठवाले तुम 'वह युवक कौन है' यह (मुझसे) पूछना नहीं चाहते हो क्या ? अर्थात् अवश्य हां पूछना चाहते हो । आधे मार्गमें अपने प्रश्नको नहीं रोकते हो ? अर्थात् रोकते ही हो, उसको (मुखसे) बाहर निकालकर अर्थात् उस प्रश्नको पूछकर, उसे मत थकावो (मत पूछो, क्योंकि मैं उसे) नहीं कहूँगा । (अथवा – हिलते हुए ओठवाले तुम 'उस (दमयन्तीके अनुरागभूत युवक को आप नहीं कहेंगे क्या ?' इस प्रकार पूछनेके इच्छुक नहीं हो क्या ?··· । [तुम्हारे ओठके हिलनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि तुम दमयन्तीके अनुराग विषयभूत स युवकका परिचय पूछना

---

१. '—भरेण' इति पाठान्तरम् ।

चाहते हो, लेकिन उसे पूछना व्यर्थ है, उसका परिचय मैं नहीं दे सकता॥ अन्य भी व्यक्ति किसीके प्रश्नका उत्तर नहीं देना चाहता है तो उसके ओठका हिलना देखकर उसे प्रश्न करनेका इच्छुक समझकर उसे प्रश्न करनेके पहले ही रोक देता है]॥ २८॥

यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम्॥ २९॥

किं कपटादकथनं, नेत्याह—यत्पथेति। परमो अणुर्यस्या योगिधियः पन्थाः, यत्पथस्तस्यावधिः सीमा, सा योगिधीरपि। बालया निजमन एव परमाणुः। 'अणुपरिमाणं मनः' इति सूत्रणात्। तस्मिन् ह्रीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृतं, तद्गतसिंहीकृतम्, एनं युवानं, यस्मान्न पश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वेणान्वयः। योगिबुद्धेरपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेशे शक्तिरित्यज्ञानादकथनं, न कपटात्। सा तु मन्दाक्षमन्थरतया न कथयतीत्यर्थः॥ २९॥

परमाणु योगियोंकी बुद्धिके मार्गकी अन्तिम अवधि है अर्थात् योगीलोग अधिकसे अधिक सूक्ष्म पदार्थ परमाणु तक ही देख सकते हैं; बाला (दमयन्ती) के द्वारा अपने मनोरूप परमाणुमें लज्जारूपी गुहामें सोनेवाले सिंह बनाये गये इसे (युवकको) वह योगिबुद्धि भी नहीं देखती है। [जिस प्रकार गुहामें सोए हुए सिंहको अन्धकार होनेसे कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार दमयन्ती-मनोरूप परमाणुमें उसे रखती है और गुहाके समान विशाल और अन्धकार युक्त लज्जामें सिंहके समान छिपा रखा है अर्थात् लज्जाके कारण उस युवकका नाम अपने मनमें ही रखती है, किसीसे बतलाती नहीं; अत एव उस युवकका नाम कोई नहीं जानता जो आपसे बतला सके। योगीलोग मनके बराबर परिमाणवाले परमाणु तकका प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु वह युवक दमयन्तीके परमाणु परिमाण मनके भी भीतर रहनेसे उस मनसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अज्ञेय है। यही कारण है कि योगके बल पर भी मैं उसका नाम नहीं बतला सकता]॥ २९॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवाचिभिरङ्गैः।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम्॥ ३०॥

तर्हि कामुकीत्वमात्रं वा कथमस्याः प्रतीतमत आह—सेति। सा भैमी, विरहवाचिभिः विरहव्यञ्जकैरङ्गैः कार्श्यपाण्डिमादिपरिक्लिष्टैरिति भावः। कुसुमशरस्य कामबाणस्य शरव्यं लक्ष्यं, सूचिता। कुत्रचिद्युनि बद्धभावेत्येतावन्मात्रमवगतेत्यर्थः। तर्हि तत्पित्रा वा वरविशेषज्ञानं विना विवाहोपायः कथं चिन्तितस्तत्राह—तातचित्तमपि (कर्म), स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायमधत्त अकरोत्। सहकारीचकारेत्यर्थः। तत्पित्रापि धातृप्रेरणया स्वयंवर एवोपायश्चिन्तित इति भावः॥ ३०॥

(पाण्डुता, दुर्बलता आदिके द्वारा) विरहको बतलानेवाले कामबाणका लक्ष्य

(निशान।) बनी हुई अपनेको प्रकट करनेवाली वह (दमयन्ती) पिताके चित्तको भी स्वयंवरोत्सवके लिये भाग्यका सहायक बना दिया है । [दमयन्तीके पिताने उसके अङ्गोंमें पाण्डुता, दुर्बलता आदि विरहचिह्नोंको देख 'यह कामबाणपीडित हो रही है' यह समझ 'जैसा ब्रह्मा करेंगे वैसा होगा' यह विचारकर उसके स्वयंवरोत्सवकी तैयारी की है] ॥३०॥

मन्मथाय यदथादित राज्ञां हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति ॥ ३१ ॥

अस्तु राज्ञामनागमे किं कारणमुक्तं तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिर्विधाता, राज्ञां हूतिः स्वयंवराह्वानं, तदेव दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भावकर्मणोः' इति यत्प्रत्ययः । तस्य विधये करणाय मन्मथायाज्ञामादेशमदित दत्तवानिति यत् । तेनाज्ञादानेन तत्परवशाः मन्मथपरतन्त्राः । शिवभागवतवत्समासः । पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति विषमिव मन्यन्ते । 'विषं स्याद्गरलं गरः' इति हलायुधः ॥ ३१ ॥

इस (दमयन्तीके स्वयंवरके लिये प्रेरित होने) के बाद ब्रह्माने राजाओंको आह्वान (बुलाना) रूपी दूतकार्यके लिये मन्मथ (मनको मथन करनेवाले) कामदेवको आज्ञा दी है, उस कारण उस मन्मथ (कामदेव) के पराधीन राजालोग युद्धको विषके समान मानते हैं । [स्वयंवरका समाचार सुनकर कामके वशीभूत सब राजा वहां जानेकी तैयारीमें हैं, युद्ध करना कोई भी नहीं चाहता । जिस प्रकार एकके ही प्राणघातक विषको सेवन करना कोई साधारण बुद्धिवाला भी नहीं चाहता, उसी प्रकार अनेकोंके प्राणघातक संगर (सम्यक् गर = महाविष) अर्थात् युद्धको भी कोई राजा नहीं चाहता] ॥ ३१ ॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।
तत्र तत्र कलयापि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूषणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु दयादाक्षिण्यादिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूषणेषु गुणेषु च कलयामात्रयापि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि स एव । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । पुरुषार्थः प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भैमीमनोरञ्जनमेव पुरुषार्थो न तु क्षत्राधर्मः सङ्गर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

दमयन्ती जिन २ भूषणों (हार, मुकुट केयूर आदि) में अथवा गुणों (शोभाविलास आदि आठ पुरुष-गुणों, या उदारता-दया आदि गुणों) में अनुराग करती है, उन २ (भूषणों या गुणों) में (एक दूसरे की अपेक्षा) थोड़ी-सी भी विशेषता लाना ही राजाओंका पुरुषार्थ हो रहा है । [पहले राजालोग जो युद्धके लिये पुरुषार्थका संग्रह करते थे, वे अब दमयन्तीके प्रिय भूषणों तथा शोभा आदि गुणोंके संग्रहमें दत्तचित्त हैं, अत एव युद्धमें पुरुषार्थ दिखाकर प्राणत्यागपूर्वक स्वर्गलाभ करना कोई राजा नहीं चाहता है] ॥ ३२ ॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

शैशवेति । कुसुमेषोः कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे राजसमूहे विषये, तस्याः भैम्याः, शैशवव्ययदिनं बाल्यापगमदिनम्, अवधिः सीमा यस्मिंस्तत्तथा, तद्दिनमारभ्येत्यर्थः। अहरहः प्रत्यहम् । वीप्सायां द्विर्भावः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आदरात् मृगयायामभिनिवेशः आग्रहः । उल्ललास वधृधे । सर्वेषामपि यूनां भैमीयौवनोद्भेदात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थः ॥

उस दमयन्तीके बचपन बीतनेके दिनसे लेकर अर्थात् युवावस्था प्रारम्भ होनेके दिनसे, युवावस्था प्राप्त करते हुए (अथवा—युवावस्था तथा ऐश्वर्य-समृद्धिवाले) राज-समुदाय में कामदेवकी मृगया (शिकार) का आग्रह प्रतिदिन अधिक बढ़ रहा है । [दमयन्तीके युवती होनेके दिनसे युवक राज-समुदाय कामदेवके शिकार (वशीभूत) हो रहे हैं] ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथिर्भवितुं न ।
भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

इतीति । इतीत्थममी नृपाः वसुमत्याः कमितारः कामयितारः सन्तः तृच् । वसुमतीं वा कमितारः । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि णिजभावः । त्वदतिथिर्भवितुं सादराः साकाङ्क्षा न । तथा हि, नृपतीनां भीमभूः भैमी सुरभूः द्यौस्तयोरभिलाषे तद्विषयानुरागे दूरमन्तरं महत्तारतम्यम्, अहो, स्वर्गेऽप्यरुचिरित्याश्चर्यम् । एतेन सुराङ्गनातिशायिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते । भीमदेशसुरदेशयोः महान् विप्रकर्ष इत्यर्थान्तरप्रतीतिः। अत्रोत्तरवाक्यार्थेन स्वर्गारुच्या पूर्ववाक्यार्थातिथ्यानादरस्य समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३४ ॥

इस कारण पृथ्वीको चाहनेवाले पृथ्वीको चाहते हैं (दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये पृथ्वीपर ही रहना चाहते हैं), तुम्हारे अतिथि होनेके लिये (युद्धमें प्राणत्यागकर स्वर्गमें आनेके लिये) आदर नहीं करते (स्वर्गमें आना नहीं चाहते)। अथवा—इस प्रकार दमयन्तीके इच्छुक पृथ्वीको चाहनेवाले (पहिले युद्धमें शत्रुको जीतकर भूमिको चाहनेवाले) ये (राजालोग) तुम्हारे अतिथि होनेके लिये आदर नहीं करते (युद्धमें मरकर स्वर्ग पाना नहीं चाहते)। अहो ! भीमनगरी (कुण्डिनपुरी), तथा देवभूमि (स्वर्ग) को राजाओंके चाहनेमें बहुत दूरका अन्तर है, भीमकी राजधानी कुण्डिनपुरीको स्वर्गकी अपेक्षा पास होनेसे राजालोग समीपस्थ कुण्डिनपुरीको ही जाना चाहते हैं, स्वर्गको नहीं । अथवा—भीमकन्या (दमयन्ती) और देवकन्या (अमराङ्गना) को राजाओंके चाहनेमें बहुत दूरका अन्तर है अर्थात् राजालोग देवाङ्गनाओंसे भी अधिक सुन्दरी दमयन्तीको ही चाहते हैं,

देवाङ्गनाओंको नहीं। [अन्य भी कोई व्यक्ति कष्ट उठाकर (युद्ध करनेमें तथा दूर देश जानेमें बड़ा कष्ट होता है) एवं प्राणोंको देकर बहुत दूरदेश (जैसे स्वर्ग) में जाकर वहां तुच्छ वस्तु (देवाङ्गना) को प्राप्त करने की चाहना छोड़कर जीते जी आनन्दपूर्वक थोड़ी दूर (भूमिपर स्थित कुण्डिनपुर) जाकर सर्वोत्तम वस्तु (दमयन्तीरूप अमूल्य स्त्रीरत्न) पानेकी चाहना करनेमें अधिक आदर करता है, यह उचित है] ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां सङ्ख्यसौख्यमनुसर्तुमनु त्वाम् ।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥ ३५ ॥

एवं राज्ञां स्वर्गानागमने हेतुमुक्त्वाथ स्वस्यागमने हेतुमाह-तेनेति । यद्यस्माद्भुवि लोके भूलोके, तस्यां दमयन्त्यां, निमग्नमनसाम् आसक्तचेतसां क्षितिभृतां मृधं युद्धं, न विलोके न पश्यामि। तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृतिः संमूर्छदसन्तोषः असन्तुष्टः सन्, सङ्ख्यसौख्यं युद्धसुखम् । 'मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्' इत्यमरः । अनुसर्तुमनुभवितुं, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिवं स्वर्गमागाम् ॥ ३५ ॥

उस दमयन्तीमें आसक्त चित्तवाले राजाओंका युद्ध भूलोकमें मैं नहीं देखता हूं, उससे बढ़ते हुए असन्तोषवाला (अथवा—असंतुष्ट अधैर्ययुक्त, अत एव जागरूक) मैं युद्धजन्य सुखको प्राप्त करनेके लिये तुम्हारे पास स्वर्गमें आया हूं। [नारदजी सदा कलहप्रिय हैं, उनका यही काम ही है कि इधर-उधर कर परस्परमें लोगोंको लड़ा दें, इसीसे लोकमें किसी झगड़ा लगानेवाले व्यक्तिको देखकर लोग कहते हैं कि—'देखो ये नारदजी आगये'। यहां नारदजीका इन्द्रके पास पहुंचनेका यह आशय है कि—इन्द्र ही कोई उपाय करें, जिससे राजओंमें युद्ध छिड़ जाय] ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्तं हन्त हन्त्रकरुणं विरुणद्धि ।
पृच्छ्यसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः ॥ ३६ ॥

वेदेति । हन्तृष्वकरुणं समूलघातं हन्तारं भवन्तं कोपि न विरुणद्धि न विगृह्णाति । हन्तेति हर्षे । वेद यद्यपि एतावद्वेद्म्येव । 'विदो लटो वा' इति विदो णलादेशः । यद्यपीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छ्यसे । अज्ञः पृच्छति न विद्वानत आह—येन कारणेन विषये भोग्ये रससेको रागानुबन्धो जलसेकश्च विवेकस्य विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य च प्रोञ्छनाय प्रमार्जनाय, विषयतृष्णालुप्तविवेकः पृच्छामीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

यद्यपि 'प्रहार करनेवालोंमें तुम निर्दय हो (प्रहार करनेवालोंको निर्दय होकर नष्ट कर देते हो, अतः) तुमसे कोई वैर नहीं करता है, यह मैं जानता हूँ; तथापि तुमसे पूछता हूँ (कि—युद्ध होगा या नहीं । अथवा—युद्धके लिये तुमको उत्साहित करता हूं), क्योंकि अभिलषित विषयमें अधिक अनुराग (पक्षान्तरमें—जलके द्वारा धोना) ज्ञानाभावके लिये

(पक्षान्तरमें—पङ्क आदिको धोनेके लिये) होता है, यह आश्चर्य है अर्थात् अत्यन्त अभीष्ट वस्तुमें अधिक स्नेहके कारण ज्ञानकी कमी हो जाती है' [विषयको जानते हुए भी लोग अत्यधिक अनुरागके कारण उसमें अपनी अजानकारी व्यक्त करते हुए उस विषयको अधिक स्पष्ट कराना चाहते हैं] ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः ॥ ३७ ॥

एवमिति । देवऋषीन्द्रे नारदे । 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । एवमुक्तवति सति, मघोनः आनने मुद्रा मौनं मघवाननमुद्रा । 'मघवा बहुलम्' इति विकल्पान्मतुबादेशाभावः । द्राक् झटित्यभेदि स्वयमेव भिद्यते स्म । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्तुः कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तरि लुङ्' । तङादिकार्यं 'यगात्मनेपदचिण्चिण्वद्भावाः प्रयोजनम्' इति वचनात् । 'क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरैः स्वगुणैर्यस्मात् कर्मकर्तेति तं विदुः ॥' इति ॥ तथाहि, विभूनां प्रभूणां, कोऽपि मञ्जुलतमोऽतिहृद्यः क्रमवादः प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्तिः । उत्तरोत्तरशुभः उपर्युपरि सुभगो हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

देवर्षिनारदजीके ऐसा (श्लो० २१-३६) कहनेपर इन्द्रकी मुखमुद्रा (मौन रहना) शीघ्र भङ्ग हो गयी अर्थात् इन्द्र शीघ्र बोले । उत्तरोत्तर शुभ (अथवा=उत्तर प्रत्युत्तरसे शुभ) बड़े लोगोंका क्रमशः कुछ बोलना अत्यन्त मनोहर होता है । (अथवा—बड़े-लोगोंका अत्यन्त मनोहर कुछ भी क्रमसे बोलना उत्तरोत्तर शुभ या उत्तर प्रत्युत्तरसे शुभ होता है । अथवा—बड़ेलोगोंका बोलना क्रमशः कुछ अनिर्वचनीय उत्तरोत्तर शुभ अतिशय मनोहर होता है । [बड़ेलोग जैसा क्रमबद्ध उत्तर प्रत्युत्तररूपसे अत्यन्त मनोहर बातचीत करते हैं, वैसा साधारण व्यक्ति नहीं करता । अथवा—बड़ेलोगोंका अतिशय मनोहर क्रमबद्ध भाषण पहले या बादमें शुभकारक होता है, अतः इन्द्र फिर भी बोले] ॥ ३७ ॥

कानुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।
यद्भुजाङ्कमुपधाय जयाङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

कानुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारौ उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता का ? न कापीत्यर्थः । जयोऽङ्कश्चिह्नं यस्य तं तद्भुजाङ्कं, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुपधायोपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्कः सन् शर्मणा सुखेन स्वपिमि शये । यथा रक्षिजने जाग्रति राजा शय्यागारे सुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भावः । इह निरातङ्कवृत्तिस्सुप्तिः अस्वप्नत्वादमराणाम् ॥ ३८ ॥

अपने (मेरे) घरमें (अथवा—मेरे रक्षक, अथवा—आत्मीयजनों अर्थात् देवोंके रक्षक)

अपने छोटे भाई दानवशत्रु (विष्णु) के सावधान (या जागरूक, या योगक्षेमके लिये तत्पर रहनेपर, पक्षान्तरमें—जागते रहनेपर) मुझे युद्धकी क्या बात (या चिन्ता) है ? विजयरूप चिह्नसे (अथवा—विजयसूचक शङ्ख-चक्र आदिसे) चिह्नित जिसके बाहुमध्यको तकिया बनाकर निर्भय मैं सुखपूर्वक सोता हूँ । [अन्य भी व्यक्ति रक्षकके जागते रहनेपर निर्भय हो सुखपूर्वक सोता है ॥ आत्मीय-रक्षक विष्णुके जागरूक रहनेपर युद्धकी कोई चर्चा नहीं है, जिसे देखकर आप प्रसन्न होंगे] ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय ॥ ६ ॥

विश्वेति । तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकलनात् सर्वार्थसाक्षात्करणात्, यद्वा एकत्र मत्स्यकूर्माद्यनन्तरूपधरणादन्यत्र विश्वार्थरूपणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि तत्प्रणयनात् (हेतोः), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम् । इण् गतौ कर्तरि लिट् । उपपन्नं तच्च युक्तमित्यर्थः । कुतः, स उपेन्द्रः, मखभुजां विग्रहं विरोधमन्यत्र शरीरम्, असहिष्णुर्मदशनिं मम वज्रायुधम्, नन्यत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दर' इत्यादिवाक्यजातं, व्यर्थतां स्वायुधेनैव तत्कार्यकरणान्निष्प्रयोजनत्वम्, अन्यत्र विग्रहवद्देवतानिरासेन अर्थवादत्वान्निरभिधेयत्वं च निनाय । अतो जैमिनिमुनित्वं युक्तमित्यर्थः । प्रकृताप्रकृतश्लेषः ॥

उस विष्णुके ('सर्वं विष्णुमयं जगत्' इस वचनके अनुसार) विश्वरूपको स्वीकार करनेसे (पक्षान्तरमें—जैमिनीके द्वारा 'विश्वरूप' नामक सूत्रग्रन्थ बनानेसे सिद्ध जैमिनिमुनित्व उत्पन्न होता है (विष्णु विश्वरूप हैं तथा जैमिनि मुनि विश्वमें हैं; अतः उनका जैमिनिमुनित्व सिद्ध होना संगत ही है), क्योंकि देवताओंका (असुरोंके साथ) युद्ध होना नहीं सहते हुए (अपने सुदर्शन चक्रसे असुरोंका संहारकर युद्धको समाप्त करते हुए) उस विष्णुने मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया है (असुर-संहाररूप मेरे वज्रका काम वह विष्णु ही कर देते हैं, अतः मुझे वज्र उठाना ही नहीं पड़ता । पक्षान्तरमें-देवताओंके शरीरको नहीं सहनेवाले (जैमिनि मुनिके मतमें देवता शरीरधारी नहीं है) उस जैमिनी मुनिने मेरे वज्रको आरोपितार्थक (अथवा जैमिनी, सुमन्तु आदि ६ को वज्रधारी बतलाकर 'वज्रपाणि इन्द्र है' इस वचनसे सिद्ध मेरे वज्रको निष्फल अर्थात् असत्य) कर दिया है । [जैमिनि मुनि देवशरीर को नहीं मानते, किन्तु मन्त्रमय देवताशरीर मानते हैं और इन्द्रके आयुध वज्रको भी अर्थवादमात्र मानते हैं । विशेष प्रपञ्च इस श्लोककी टीकामें या जैमिनी मुनिके रचित ग्रन्थोंमें ही देखना चाहिये, विस्तार-भयसे उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है] ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयाब्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य ।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः ॥ ४० ॥

ईदृशानीति । विनयाब्धिः स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि वचनानि

उपहृत्य समर्प्य, तस्थिवान् तूष्णीं स्थितः। अथ नारदस्य प्रांशुनिःश्वसितस्य पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरी पश्चाद्गामिनी दीर्घनिश्वासपूर्विकेत्यर्थः। चरेष्टः। निरोजाः दीना वाक् निरियाय निर्जगाम ॥ ४० ॥

विनयके समुद्र इन्द्र ऐसी बातें (श्लो० ३८-३९) मुनि नारदजीसे कहकर चुप हो गये। (फिर युद्धकी आशा नहीं होनेसे) लम्बी सांस लेकर वह (नारदजी) दीन वचन बोले। [अन्य कोई व्यक्ति भी अपनी अभीष्ट सिद्धिको नहीं पूरी होती देखकर लम्बी सांस लेकर दीन वचन बोलता है]॥ ४० ॥

स्वारसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम् ।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥ ४१ ॥

स्वरिति। वसुमत्यां भूलोके वसन् स्वश्च रसातलं च स्वारसातले स्वर्गपाताले 'रो रि' इति रेफलोपे दीर्घः। तयोर्भवमाहवं शङ्कत इति तच्छङ्की सन्। न निर्वृणोमि न सन्तुष्यामि। द्यां स्वर्गं गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भूपाताले। 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्को युद्धशङ्का दुरुदर्को दुरुत्तरः। 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः। एवं पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्क इति शेषः॥४१॥

मृत्युलोकमें रहता हुआ मैं स्वर्ग तथा पातालमें होनेवाले युद्धकी शङ्कासे सुखी नहीं होता हूँ, स्वर्गमें आये हुए मेरा मृत्युलोक तथा पातालमें वीरोंके युद्ध करनेका वितर्क करना निष्फल है। [परिशेषात्—पातालमें गये हुए मेरा स्वर्ग तथा मृत्युलोकके वीरोंको परस्परमें युद्ध करनेका वितर्क भी निष्फल है। प्रत्यक्ष युद्धको देखनेसे ही मुझे सुखप्राप्ति होती है, अतः मृत्युलोकमें रहता हुआ स्वर्ग तथा पातालके वीरोंका, स्वर्गमें रहता हुआ मृत्युलोक तथा पातालके वीरोंका और पातालमें रहता हुआ स्वर्ग तथा मृत्युलोकके वीरोंका युद्ध होनेका वितर्क कर मैं सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि मैं किसी एक लोकमें रहकर अन्य लोकमें होनेवाले युद्धको प्रत्यक्ष नहीं देखनेके कारण सुखी नहीं हो सकूंगा]॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगता विवदन्ते ॥ ४२ ॥

वीक्षित इति। त्वं वीक्षितोऽसि। एतदेवागमनफलमित्यर्थः। तत्तस्मात्फलान्तराभावात्। अथानन्तरं मां मनुष्यजगते गन्तुं मर्त्यलोकं गन्तुमित्यर्थः। 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी। अनुमनुष्व अनुजानीहि। तत्र मर्त्यलोके, तां दमयन्तीं, विवोढुं परिणेतुम् उपगता भुवः परिवृढाः, प्रभवो भूपतयः 'प्रभौ परिवृढः' इति निपातः। न विवदन्ते न कलहायिष्यन्ते किम्? अपि तु सर्व एव विवादं करिष्यन्तीति भावः। सामीप्ये लट्। भावनादिसूत्रेण वदेरकर्मकत्वात् विम-

तावात्मनेपदम् । भैमीं परिणेतुमागतानां राज्ञां तत्सौन्दर्यमुग्धानामहमेवास्या अनुरूप इत्यादि विवादो भविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥

तुम्हें मैंने देख लिया अर्थात् तुमसे भेंट-मुलाकात हो गयी, अब मुझे मर्त्यलोकमें जानेके लिये छुट्टी दो। वहां (मर्त्यलोकमें, अथवा—कुण्डिनपुरमें) उस (दमयन्ती) के साथ विवाह करनेके लिये आये हुए राजालोग क्या विवाद नहीं करेंगे ? [उस सुन्दरीके नहीं मिलनेपर उसको पानेवाले राजाके साथ अवश्यमेव अन्य राजालोग युद्ध करेंगे, अतः युद्ध देखनेका आनन्द मुझे अनायास ही मर्त्यलोकमें मिल जायेगा, इस कारण अब मुझे वहां जाने दो] ॥ ४२ ॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य[1]जवेन ।
वारितोऽप्यनुजगाम स[2] यान्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

इतीति । स मुनिरित्युदीर्य स्वर्पतिमिन्द्रम्, 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति वैकल्पिको रेफादेशः । प्रतिनिवर्त्य जवेनोर्वीं ययौ । स इन्द्रो वारितो निवर्तितोऽपि यान्तं गच्छन्तम् । इणो लटः शत्रादेशः । तं मुनिमपराण्यपि कियन्ति कतिचन पदानि । आसीममित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अनुजगाम ॥ ४३ ॥

यह (श्लो० ४१-४२) कहकर वह मुनि (नारदजी) इन्द्रको लौटाकर वेगसे भूलोकको चले (पाठभेदसे—इन्द्रको बलपूर्वक लौटाकर भूलोकको चले)। मना करनेपर भी (वह इन्द्र) कुछ पैर (कदम) जाते हुए (नारदजीकी इच्छा न होनेपर भी बलपूर्वक) उनके पीछे चले। ('सयत्नं' पाठमें यत्नपूर्वक वह इन्द्र) जाते हुए नारदजीके पीछे चले। 'सजन्तां' पाठमें—मना करनेपर भी कुछ और पैर (कदम) पीछे २ लगते अर्थात् चलते हुए इन्द्रको बलात् लौटाकर नारदजी भूलोकको चले) ॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे ।
स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्षः ॥ ४४ ॥

पर्वतेनेति । पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीरं, नारदीयमुदितं नारदवाक्यं, परिपीय प्रतिनेदे प्रतिदध्वने तदेवानुकृतमित्यर्थः । पर्वते सन्निकृष्टे प्रतिनादो युक्त इति भावः । नदेर्लिट् । 'अत एकहल्मध्येनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । स्वयं तु न किञ्चिन्निवेदितवानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदिनीन्द्रे स्वस्य कश्चिदपि पक्षः साध्यं प्रयोजनं गरुच्च । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । स्वयं नादर्शि न दर्शितः । तत्साहचर्यमात्रलोभादागत्य स्वस्य पृथक्साध्याभावात्तदुक्तमेवानुकृतम् । नतु पृथक्किञ्चिन्निवेदितमित्यर्थः । पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनिः ॥ ४४ ॥

---

१. 'बलेन' इति पाठान्तरम् । २. 'सयत्नं, 'स यन्तं' सजन्ताम्' इति पाठान्तराणि ।

पर्वत मुनिने (पक्षान्तरमें—पहाड़ने) नारदजी (पक्षान्तरमें—जलद अर्थात् मेघ) का गम्भीर (अर्थगम्भीर, पक्षान्तरमें—उच्च) कथन (पक्षान्तरमें—गरजना) सुनकर प्रतिनन्दन (नारदजीका कथन ठीक है, ऐसा स्वीकार; पक्षान्तरमें—प्रतिध्वनि) किया। पर्वतोंके सिद्धान्तका खण्डन करनेवाले, (पक्षान्तरमें—पहाड़ोंका पंख काटनेवाले; इन्द्र) में अपना कोई भी पक्ष (सिद्धान्त, पक्षान्तरमें-पंख नहीं दिखलाया। [पर्वत मुनि नारदजीके साथ स्वर्गमें गये थे, अतः मित्रकी बातका समर्थन किया, पक्षान्तरमें मेघकी गरजना सुनकर पहाड़ने (गुफासे) प्रतिध्वनि की। अपने सिद्धान्तका इन्द्रके द्वारा खण्डन किये जानेकी आशङ्कासे पर्वत मुनिने स्वयं अपना कोई मत वहां नहीं दिया। बुद्धिमान् कोई भी व्यक्ति अपने मतको खण्डित होनेवाला मानकर चुप ही रह जाता है, वहां अपने मतका प्रतिपादन नहीं करता। पक्षान्तरमें—इन्द्र जब पर्वतोंका पंख काटते हैं तब पर्वतको अपना पंख इन्द्रके द्वारा काटनेके भयसे नहीं दिखाना स्वाभाविक ही है] ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीतकोमलकरग्रहणार्हम् ।
भेषजं [1]चिरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः ॥ ४५ ॥

इन्द्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति। अथ नारदनिर्गमनान्तरं, रतीशः कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये चिरचितानां चिरसञ्चितानाम् , अशनिवासेन वज्राग्निसम्पर्केण याःव्यापदो विदाहाः तासां भैमीशीतकोमलकरस्य ग्रहं ग्रहणमेवार्हं योग्यं, भेषजमौषधमुपदिदेश। वीराभिभवेन श्रृङ्गारः प्रवृद्ध इति भावः। अत्र कामनिबन्धस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगादुगम्या ॥

इस (नारदजीके जाने) के बाद कामदेवने इन्द्रके हाथके लिये चिरकालतक वज्रके सञ्चित (पाठा० ग्रहण किये रहनेसे उत्पन्न) महान् रोगके योग्य, दमयन्तीके ठंडे तथा कोमल हाथका ग्रहण अर्थात् विवाह करना औषध बतलाया। [इन्द्रके हाथमें सर्वदा दाहक एवं कठोर वज्र रखनेसे दाह तथा कर्कशतारूप महान् रोग हो गया, उसको दूर करनेके लिये कामदेवरूपी वैद्यने भैमीके शीतल तथा कोमल हाथको ग्रहण करना योग्य औषध बतलाया अर्थात् इन्द्र दमयन्तीको पानेके लिए कामपीडित हो गये। अन्य भी व्यक्ति कर्कशता तथा दाहकता शान्त करनेके लिए ठंढा तथा कोमल पदार्थका उपयोग करते हैं]॥

नाकलोकभिषजो सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव ।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसंक्रमितवैद्यकविद्यः ॥ ४६ ॥

ननु कामस्य कुतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति। नाकलोकभिषजोरश्विनोर्या सुषमा सौन्दर्यं सैव पुष्पचापं काममपि चुम्बति स्पृशति=तस्मादपि। तावेव सुष-

---

१. 'चिरधृता—' इति पाठान्तरम् ।

मावन्ताविति भावः । असौ कामः सा सुषमैव द्वारं तेन सङ्क्रमिता वद्यकं वैद्यस्य भैषज्यम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' । तदेव विद्या यस्मिन् सः । अतएव तादृक् स्ववैद्यसदृशः सन् अभिषज्यत् चिकित्सितवान् । भिषज्यतेः कण्ड्वादियगन्ताल्लङ् । वेञ्मीत्युत्प्रेक्षायाम् । वाक्यार्थः कर्म ॥ ४६ ॥

स्वर्गलोकके दोनों वैद्यों (अश्विनीकुमारों) की जो श्रेष्ठ शोभा है, वह कामदेवको स्पर्श करती है (अश्विनीकुमारोंके समान कामदेव भी अत्यन्त सुन्दर है) उस (श्रेष्ठ शोभा) के द्वारा वैद्यक विद्याको प्राप्त करनेवाला यह कामदेव वैसा (अश्विनीकुमारोंके समान, अथवा-इन्द्रके हाथके लिए दमयन्तीका पाणिग्रहण रूप) चिकित्सा किया । [कामदेवको स्वर्गवैद्य अश्विनीकुमारोंके समान होनेके कारण कामदेवका वैद्य होकर इन्द्रके लिए औषध बतलाना असङ्गत नहीं है । अन्यत्र भी किसी व्यक्तिमें किसी दूसरे व्यक्तिके एक गुणके साथ दूसरा गुण भी पहुंच जाता है] ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी ।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या ॥ ४७ ॥

अथेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह—मानुषीमिति । अथेन्द्रस्य भैमीरागान्तरं, मघोनः स्त्री मघोनी शची । 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीप् । 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे गुणः । पत्यौ खर्वभावं नीचत्वमवलम्ब्य मानुषीं मानुषस्त्रीं, 'जातेरस्त्री' इत्यादिना ङीप् । अनुसरत्यनुवर्तमाने सति, आननसरोरुहनत्या शिरोनमनेन, उच्चैरुन्नतं निजं मानं सर्वोत्तरत्वाहंकारं खण्डितं भग्नमसूचयत् । आकारेणैव निर्जनिर्वेदमवेदयत् । न तु वाचा किञ्चिदूचे । गम्भीरनायिकत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

इस (इन्द्रको दमयन्तीकी इच्छा होने) के बाद इन्द्राणीने नीचताका अवलम्बनकर मानुषी (दमयन्ती) के पीछे पति इन्द्रके चलनेपर (इन्द्रद्वारा दमयन्तीको चाहने पर) मुखकमलको नम्रकर (अधोमुखी होकर) अपने उच्च मान (पतिकृत अत्यधिक आदर या इन्द्राणीरूप उच्चपद, पक्षान्तरमें—ऊंचा प्रमाण) को खण्डित हुआ बतलाया । अथवा—नीचताका अवलम्बनकर मुखकमलको नम्रतासे पतिको मानुषीका अनुगमन करनेसे इन्द्राणी ने अपने उच्च मानको खण्डित बतलाया । अथवा-पतिके मानुषीके पीछे गमन करनेपर इन्द्राणीने खर्वभाव (दीनभाव) को अवलम्बनकर मुख-कमलके नीचा करनेसे मान (पतिकृत आदरपूर्वक स्नेह) को खण्डित बतलाया । यहां प्रथम अर्थमें—जिस इन्द्रने वामन भाव (नीचता] को ग्रहण किया, उसी इन्द्र का मान [ऊँचाई) घटना चाहिये, किन्तु इन्द्रका मान न घटकर इन्द्राणीका घटा, यह आश्चर्य है । द्वितीय अर्थमें—इन्द्र यह समझते थे कि मैं इन्द्राणीको छोड़कर एक मानुषी (कोई अन्य देवाङ्गना नहीं] के पीछे चल रहा हूँ (पीछे चलनेसे दासभाव प्रकट होता है] अतः इन्द्राणीके सामने अपना मुख भी ऊंचा नहीं कर पाते थे । तृतीय अर्थमें—पतिको मानुषीके अनुगमन करनेसे इन्द्राणीको पतिका

विरह तथा सपत्नीका अनुगमनके समाचारसे अपार दुःख हुआ, अत एव उसका दीनभाव होना एवं लज्जा तथा कष्टके होनेसे उल्लासहीन होनेसे मुखको नीचा किये रहना स्वाभाविक ही है]॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमालमलम्भि ।
वर्ण एव स खल्वूज्ज्वलमस्याः शान्तमन्तरमभाषत भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

अथान्यासामपि कासांचिदप्सरसामीर्ष्यानुभावानाह—य इत्यादि । मघोनीन्द्रे, 'श्वयुवमघोनाम्' इत्यादिना सम्प्रसारणे गुणः । दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उत्पतति सति, 'उदश्चरः सकर्मकात्' इत्यात्मनेपदम् । रम्भया यो मलिनिमा मालिन्यम्, अलमत्यन्तम्, अलम्भि अलाभि । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति वा नुमागमः । स वर्णो मलिनिमैव, अस्या रम्भायाः, अन्तरमन्तरङ्गम्, उज्ज्वलं रोषादत्युज्ज्वलं प्रज्वलितं सत् भङ्ग्या कयाचिद्रीत्या भवितव्यताप्राबल्यधियेत्यर्थः । शान्तं शमितं निर्वापितमित्यर्थः । 'वा दान्त' इत्यादिना निपातः । अभाषत खलु । निर्वाणालातमलिनमित्याख्यदित्यर्थः । अन्तःकरणवैवर्ण्यमूलत्वाद्बाह्यवैवर्ण्यस्येति भावः ॥४८॥

इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर चलनेपर रम्भाको जो मलिनता (उदासी, पक्षान्तरमें—कालिमा) हुई, वह वर्ण (उदासी या कालिमा) ही प्रकारान्तरसे इस (रम्भा) के निर्म्मल (पक्षान्तरमें—शृङ्गार-रस-युक्त) अन्तःकरणको शान्त (नष्ट अर्थात् कालिमायुक्त, पक्षान्तरमें—शान्त-रस-युक्त) बतलाया । (अथवा—......उसके शान्त अन्तःकरणको जलता हुआ (इन्द्र-विरह-जन्य दुःख या इन्द्रके नीच कर्मसे सन्तप्त) बतलाया । [उज्ज्वलमें थोड़ी-सी भी कालिमा शीघ्र मालूम पड़ने लगती है । अथवा—जो शृङ्गार रससे युक्त है वह शान्तरससे युक्त हुआ यह आश्चर्य है ॥ जब इन्द्र दमयन्तीको पानेकी इच्छाकर स्वर्गसे मर्त्यलोक जाने लगे तब रम्भा भी खिन्न हो गयी] ॥ ४८ ॥

जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमती नः ।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन ॥ ४९ ॥

जीवितेनेति । अप्सरसां नोऽस्माकं जीवितेन कृतं, कष्टत्वादिति भावः । तत्तस्मादिहास्मिन्समये प्राणमुक्तिः, प्राणत्याग एव युक्तिमती युक्तेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनिःश्वसितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोगं, यथा तथा अवाचि । वचेर्ब्रूञो वा कर्मणि लुङ् । उक्तमिवेत्यर्थः । अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

'(अब) हम अप्सराओंका जीना व्यर्थ है, अत एव प्राणोंका छूट जाना (मर जाना)

---

१. 'खल्वूज्ज्वलदस्याः' इति पाठान्तरम् ।

ही ठीक है' इस प्रकार घृताचीने लम्बा श्वास निकलनेसे मुखसे विना बोले ही कह दिया। [प्राण भी श्वासरूप हैं, अतएव अधिक दुःखके कारण लम्बा श्वास निकलनेसे मानो प्राणोंका बाहर निकल जाना (मेरा मर जाना) ही अच्छा है, ऐसा विना मुखसे कुछ कहे केवल संकेतसे ही घृताचीने कह दिया। अन्य किसी मरणासन्न व्यक्तिका जब श्वास अत्यधिक बढ़ जाता है, तब वह मुखसे कुछ कहे विना ही हाथ आदिके संकेतसे अपना मनोगत भाव कह देता है ॥ इन्द्र-विरहकी भावी आशङ्कासे घृताची लम्बा श्वास लेने लगी] ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयापि ।
चामरस्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलनव[1]लद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

साध्विति । तिलोत्तमयापि देव्या तस्य चामरस्य विलोलनेन आन्दोलनेन वलन् वलमानो भुजो बाहुरेव नालो यस्य तस्मात्, 'वलतेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्' इत्याह वामनः । चक्षिङो ङित्करणं ज्ञापकम् । कराब्जात् पाणिकमलाच्चामरस्य पतनेन, अवयवपारवश्यादिति भावः । एवञ्चामरवदेव नोऽस्माकमपि इतः स्वर्गात् पतनमेव साधु स्यादित्यभण्यत । भणितमिवेति पूर्ववदुत्प्रेक्षा भुजनालात् कराब्जादिति सावयवरूपकेण संसृष्टा ॥ ५० ॥

चामर डुलानेसे चञ्चल भुज-नालवाले हाथसे चामरके गिर जानेसे 'हमलोगोंका यहां (स्वर्ग) से पतन हो जाना ही अच्छा है' ऐसा तिलोत्तमा नामकी अप्सराने भी कहा। [इन्द्रके भावी विरहकी आशङ्कासे इन्द्रको चामर डुलाती हुई तिलोत्तमाके हाथसे चिन्ताजन्य परवशताके कारण चामर गिर पड़ा] ॥ ५० ॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम् ।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्कलिप्तिमसृजद्बहिरुत्थाम् ॥ ५१ ॥

मेनकेति । मेनका नाम काचिद्देवी मनस्युदीतमुत्पन्नं, तापमाधिं, पिधित्सुः पिधातुमिच्छुः सती, अवहित्थामाकारगुप्तिमकरोदिति यत्, तदाकारगोपनमेव, निजहृदः स्वमनसः, पुटपाके गूढपाके, बहिरुत्थामुत्थितां, बाह्यामित्यर्थः । 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्तरि क्तप्रत्ययः । पङ्कलिप्तिं पङ्कलेपं, स्फुटमसृजत् । पुटपाके बाह्यः पङ्कलेपोऽन्तः पच्यमानद्रव्यस्येवाकारगोपनमेव बलात् क्रियमाणं गोप्यस्यान्तस्तापस्य व्यञ्जकमभूदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

मेनकाने मनमें उठे हुए (पाठान्तरसे—बढ़े हुए] सन्तापको बन्द रखने [छिपाने, पक्षान्तरमें—रोकनेकी इच्छा करती हुई जो आकारगोपन किया [भावको छिपाया], वह अपने हृदयके पुटपाकमें मानो बाहरसे कीचड़को लपेटा। [किसी औषधका पुटपाक

---

१. 'चलद्-' पाठान्तरम् ।

करते समय उसका कोई लेशमात्र भी तत्त्व बाहर न निकल जाय, इसलिये उस औषधको दो सकोरोंमें बन्दकर ऊपरसे कपड़कूट मिट्टीका लेप कर देते हैं, तब वह औषध लेशमात्र भी बाहर नहीं निकलने पाता और भीतरमें तप्त होकर जलता है। इसके प्रतिकूल किसी वस्तु या औषधका खुला पाक करते हैं तो उसकी सुगन्ध आदि बाहर फैल जाता है तथा वह वस्तु भी जल जाती है। इसी प्रकार प्रकृतमें मेनकाने सन्ताप तथा आकारगोपनरूप दो सकोरोंके मध्यमें स्थित अपने हृदयरूपी औषधको पकाते हुए बड़े कष्टका अनुभव किया तथा वह कष्ट देर तक होता रहा, खुले हुये पाकके समान शीघ्र नष्ट नहीं हुआ॥ मेनकाको इन्द्रके भावी विरहसे अत्यन्त कष्ट हुआ]॥ ५१॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन ।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषैव ॥ ५२॥

उर्वशीति । गुणैः सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, यः स्तिमितभावः स्तैमित्यं निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मिषेण। 'मिषं निभञ्च निर्दिष्टम्' इति हलायुधः। वपुषैव सुहृदयशब्दाद्युवादित्वादण्प्रत्यये हृद्भावान्नोभयपदवृद्धिः। अत एव 'सौहृददौर्हृद-शब्दावणि हृद्भावौ' इति वामनः। शक्रसौहृदस्य समापनसीम्नि समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाड्यकृत्यं, स्थूणाकृत्यञ्च, अपुषत्। 'स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः' इति विश्वः। स्तम्भोत्थानावधिकं मे शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थः। 'पुषादि' इत्यादिना च्लेरङादेशः॥ ५२॥

गुणसे संसारको वशीभूत करनेवाली उर्वशीने उस समय (इन्द्रका मानुषीकी चाहना करनेकी बात सुननेके समय) जड़ताके व्याजसे इन्द्रके अनुरागकी समाप्तिकी सीमाके स्तम्भ (स्तम्भरूप सात्त्विक भाव, पक्षान्तरमें—पत्थर आदिका खम्बा) को शरीरसे ही बतला दिया। [जिस प्रकार लोकमें किसी सीमाका निश्चय करनेके लिये वहां पत्थर आदिका खम्बा गाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रकी भावी विरहको सुनकर उर्वशी स्तम्भ नामक सात्त्विक भावको व्यक्त किया॥ उर्वशी इन्द्रके भावी विरह-कल्पनासे जड़ हो गयी]॥५२॥

कापि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित् ।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः [1]शतयज्ञः॥ ५३॥

अथ कासाञ्चिदप्सरसां वागारम्भानाह—कापीत्यादि। कापि देवी, बुभुत्सुमिन्द्रं, जिगमिषितं देशं जिज्ञासमानां कामपि देवीं त्रिदशभर्तरि इन्द्रे शृण्वति सत्येव। तच्छ्रवणार्थमेवेत्यर्थः। किञ्चिद्बभाण। किं तदाह—कश्यपसुतः शतयज्ञो बहुयाजी एष इन्द्रः, कश्यपसुतां काश्यपीं, क्षितिमभिगन्ता अभिगमिष्यति। गमेर्लुट्। पश्य। दिवं विहाय

---

१. 'शतमन्युः' इति पाठान्तरम्।

भुवं गच्छतीत्याश्चर्यं पश्येत्यर्थः। स्वयं कश्यपसुतस्तत्सुतां भगिनीमेव गच्छतीत्याश्चर्यं व्यज्यते ॥ ५३ ॥

देवराज इन्द्रके सुनते रहनेपर किसी देवाङ्गनाने इन्द्रके विषयमें जाननेकी इच्छा करनेवाली किसी अन्य देवाङ्गनासे कहा—सौ (अश्वमेध) यज्ञ करनेवाला यह कश्यप मुनिका पुत्र (इन्द्र) कश्यपपुत्री अर्थात् काश्यपी (पृथ्वी) को जाना चाहता है, देखो'। (एक मुनिका पुत्र जिसने सौ अश्वमेध यज्ञके फलस्वरूप दुर्लभ इन्द्रपद प्राप्त किया, वह पुन; पृथ्वी को जाना चाहता है, यह बड़ी मूर्खताकी बात देखो। अथवा—एक महामुनिका पुत्र उसमें भी सौ यज्ञ करनेवाला यह कश्य+प=कश्यप (मद्यपी) की पुत्रीके साथ संगम करना चाहता है, यह देखो, ऐसा तो एक पामर भी नहीं करेगा, उसमें भी एक मुनिपुत्र और महायाज्ञिक ऐसा काम करे, यह बड़े खेद तथा आश्चर्यकी बात है। अथवा—कश्यप मुनिका सौ यज्ञ करनेवाला यह पुत्र कश्यप मुनिकी पुत्री (अपनी बहन) के साथ संगम करना चाहता है, इसका महानीचतापूर्ण यह कार्य देखो। अथवा—मद्यपानकर्ताका पुत्र मद्यपानकर्ताकी पुत्रीके साथ संगम करना चाहे, यह कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि मद्यपानकर्ताके पुत्रका महायाज्ञिक होकर भी ऐसा कार्य करना कोई आश्चर्य नहीं होता। वह पतित होनेसे जो कुछ नीचतम कार्य कर दे, वह थोड़ा ही है। पाठभेदमें—सौ क्रोध (पक्षान्तरमें—सौ यज्ञ) लक्षणासे तज्जन्य सौ अपराध करनेवाला व्यक्ति ऐसा नीच कार्य करे यह कोई आश्चर्य नहीं है॥ इन्द्रने लोकापवादकी भी कोई चिन्ता नहीं की]॥ ५३॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा कापि शृण्वति मघोनि बभाषे।
वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन ॥ ५४॥

आलिमिति। आत्मनः सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनीत्यर्थः। कापि, मघोनि शक्रे शृण्वति सत्येव, आलिं सखीं बभाषे। तदेवाह—नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि। किमुत सङ्गताविव्यर्थः। सघृणा सजुगुप्सासि। सा त्वमपि सार्थगुणेन सङ्घधर्मेण, गतानुगतिकस्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत्। न यासि किम्? विवेकेन चेन्न यास्येवेत्यर्थः॥

इन्द्रके सुनते रहनेपर अपने सौन्दर्यका अभिमान करनेवाली किसी देवाङ्गनाने सखीसे कहा—'मनुष्योंको देखनेमें भी घृणा करती हो? (फिर सङ्गति करना कैसे सम्भव है?), तुम भी इन्द्रके सहचर-समुदायके गुणसे अर्थात् सहचर बनकर (भूलोकमें) क्यों नहीं जाती हो? अर्थात् जावो। [जो तुम मनुष्योंमें घृणाकर मर्त्यलोकको इन्द्रके साथ नहीं जाती और इन्द्र उसी मानुषीके साथ विवाह तक करनेके लिए (केवल देखने या सम्भाषणमात्र करनेके लिये ही नहीं) जा रहा है, अतः तुम इन्द्रसे भी अच्छी हो। अथवा—......क्या तुम गुण (प्रेमरूप रस्सी) से बंधकर इन्द्रके साथ नहीं जावोगी अर्थात् अवश्य जावोगी। अथवा—सहचर गुणसे (गतानुगतिक न्यायसे इन्द्रके साथ) नहीं जावोगी क्या? अर्थात्

कुछ भी विचार होगा तो नहीं जावोगी। थोड़ा भी विवेक रखनेवाला व्यक्ति गतानुगतिकताको छोड़कर विवेक द्वारा काम लेता है, कामान्ध इन्द्र वैसा नहीं करनेसे विवेकशून्य हो रहा है] ॥ ५४ ॥

अन्वयुर्द्युतिपयःपितृनाथास्तं मुदाथ हरितां कमितारः ।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः ॥ ५५ ॥

अन्वयुरिति। अथेन्द्रप्रयाणानन्तरं, हरितां कमितारो दिशां कामयितारो दिक्पतयः, इन्द्रानुयानार्हा इत्यर्थः। व्याख्यातमेतत्। द्युतिपयःपितॄणां नाथा वह्निवरुणयमाः, तमिन्द्रं, मुदा औत्सुक्येन, अन्वयुरनुयाताः। 'लङः शाकटायनस्यैव' इति झेर्जुसादेशः। तथा हि, एकः परमेक एव पुरः, वर्त्म कर्षतु मार्गं करोतु। न तस्य मार्गकर्तुः गतमनुगतिर्यस्य स महार्घो महामूल्यः दुर्लभ इति यावत्। न भवति। पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुयायिनस्तु सर्वत्र सुलभा एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

इसके (इन्द्रके दमयन्तीके साथ विवाहार्थ स्वर्गसे प्रस्थान करनेके) बाद दिक्पाल द्युतिपति, पितृपति तथा जलपति (क्रमशः—अग्नि, यम और वरुण) भी हर्षसे (दमयन्तीको देखने) उस इन्द्रके पीछे चले। कोई एक व्यक्ति किसी नये मार्गको चालू कर दे, फिर उसके पीछे चलनेवाले व्यक्ति दुर्लभ नहीं हैं। [जो सर्वप्रथम किसी नये रास्तेको चालू करता है, संसारमें वही व्यक्ति दुर्लभ है, बादमें उसके पीछे चलनेवाले अनेकों हो जाते हैं ॥५५॥

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः ।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः ॥५६॥

प्रेषिता इति। अथो अनन्तरं, तैरिन्द्रादिभिः, चित्तचौर्ये दमयन्त्याश्चित्ताकर्षणे, चतुरा निजदूत्यः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिताः। तद्गुरुं तत्पितरं भीमञ्च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढाः गुप्ताः, उपहारा उपायनानि प्रेषिताः ॥ ५६ ॥

इसके बाद उन लोगों (इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा यम) ने दमयन्तीके पास चित्तको वशीभूत करनेमें चतुर अपनी २ दूतियोंको (परस्पर में) गुप्त रूपसे अलग २ भेजा—अथवा राजा या उस नगरवासियोंसे छिपाकर······दूतियों को भेजा। और उस दमयन्तीके पिताके लिये मित्रके सुखभाव या सुखाधिक्यके व्याजसे (बहुमूल्य होनेके कारण) चित्तको लुभानेवाले परस्परमें छिपाकर (एक दूसरेको न जनाकर) उपहार (रत्न आदिका भेंट) भी भेजा। [उनमें प्रत्येक लोकपालने यही सोचा कि मेरा दूती तथा उपहारका भेजना अन्य तीनों सहागत लोकपालोंको मालूम नहीं है। लोकमें भी एक वस्तुके लिये इच्छा करनेवाले जब कई व्यक्ति होते हैं, तब वे परस्परमें एक दूसरेसे छिपाकर उसको पानेका यत्न करते हैं] ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवास्ति निरूढा सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

चित्रमिति। विबुधैर्देवैः विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्व स्वर्ग, विहाय, बत हन्त, भूरनुसस्रे अनुसृतेति यत्। अत्र चित्रं काकुः, न चित्रमित्यर्थः। कुतः, अथवा द्यौः स्वर्गश्च, काचिदपि निरूढा प्रसिद्धा नास्ति। किन्तु यत्र चित्तं चरति रमते, सैव सा द्यौर्हि ॥ ५७ ॥

देवता (पक्षान्तरमें—विशिष्ट विद्वान्) भी उन लोगोंने जो स्वर्ग छोड़कर पृथ्वीका अनुसरण किया अर्थात् पृथ्वीपर आये, इसमें आश्चर्य है। (जब साधारण ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति भी पृथ्वीको छोड़ स्वर्गलाभ करनेका प्रयत्न करता है, तब विशिष्ट ज्ञानवान् इन लोगोंने उल्टे स्वर्गको छोड़कर पृथ्वीपर आगमन किया, यह आश्चर्यका विषय है। अथवा—.........आगमन किया, इसमें आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं (क्योंकि-) 'स्वर्ग' इस नामसे प्रसिद्ध कोई (स्थान आदि) नहीं है, किन्तु जहांपर जिसका मन चलता है अर्थात जिस स्थानादिमें मन अनुराग करता है, उसके लिये वही स्वर्ग है। (अतः देवताओंका स्वर्ग छोड़कर भूमिपर आना उचित ही है) ॥ ५७ ॥

शीघ्रलंघितपथैरथ वाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

शीघ्रेति। शीघ्रं लंघितपथैरतिक्रान्ताध्वभिः, रथवाहै रथाश्वैर्भुवं लम्भिताः प्रापिताः, अमी सुरसाराः सुरश्रेष्ठाः, वक्रिताश्चलिताः, उन्नमिताश्च कन्धराः ग्रीवाः, यस्मिन् स बन्धः कायसंस्थानविशेषो येषां ते सन्तः, अध्वनि दूरं ध्वनिं शुश्रुवुः॥५८॥

इसके बाद शीघ्र रास्ता तय करनेवाले घोड़ों (या विमानादि सवारियों) से भूमिपर पहुँचे हुए उन श्रेष्ठ देवताओंने गर्दनको थोड़ा टेढ़ाकर ऊँचा किये हुए, दूरके शब्दको सुना (अथवा—अन्य वार्तालापको छोड़कर अर्थात् चुपचाप होकर दूरकी ध्वनिको सुना ॥५८॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

किमिति। ते देवाः, किं घनस्य ध्वनितम्, मेघस्तनितम्, अथवा जलधेः ध्वनितम्, एवं संशयितुमपि नालभन्तैव। एतावन्मात्रविलम्बोऽपि नास्तीत्यर्थः। 'शक-धृष' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः। किन्तु, निःस्वनस्य पूर्वोक्तध्वनितस्य, श्रुत्या श्रवणेन, सहोपनतं प्राप्तम्, अदूरमासन्नं, स्यन्दनं परं रथमेवापश्यन्निति रथवेगोक्तिः। अत्र सन्देहसहोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ५९ ॥

ये देवता जब तक 'यह मेघका शब्द है ? या समुद्रका' ऐसा संदेह करने के लिये भी

समय नहीं पा सके, (तब तक) ध्वनि सुननेके साथ ही पहुंचे हुए अत्यन्त समीपमें रथ को देखा। [ध्वनिके साथ ही रथके आनेसे उसका शीघ्र चलना तथा गम्भीर शब्द होना व्यक्त होता है] ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभावं भावबोधचतुरं तुरगाणाम् ।
तत्र नेत्रजनुषः फलमेते नैषधं बुबुधिरे विबुधेन्द्राः ॥ ६० ॥

सूतेति। एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथेः, विश्रमदो विश्रान्तिप्रदः, कौतुकिभावो विनोदित्वं यस्य तं, विनोदार्थं स्वयं प्रतिपन्नसारथ्यमित्यर्थः। अत्र हेतुः तुरगाणां भावबोधचतुरम् अश्वहृदयवेदिनं, नेत्रजनुषो नेत्रसत्तायाः फलं, लोचनासेचनकमित्यर्थः। नैषधं निषधानां राजानं नलम्। जनपदशब्दात् क्षत्रियादण्। बुबुधिरे ज्ञातवन्तः ॥ ६० ॥

इन देवेन्द्रोंने उस रथपर सारथिको विश्राम देनेके कौतूहलवाले तथा घोड़ोंके भावज्ञानमें चतुर और नेत्रके जन्म लेनेका फलभूत नलको जाना। [सारथिको हटाकर स्वयं रथ हांकते हुए, घोड़ोंके हृदयङ्गत आशयके ज्ञाता और नेत्रप्राप्तिका फलरूप अर्थात् नेत्रोंको आनन्दित करनेवाले नलको उस रथपर देवताओंने देखा] ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्वं यद्बभार निबिडं जडभूयम् ।
नौचिती जडपतेः किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥६१॥

वीक्ष्येति। वरुणस्तस्य नलस्य, तरुणत्वं तारुण्यं, तारुण्यभूषितरूपमित्यर्थः। वीक्ष्य यन्निबिडं जडभूयं जडत्वं स्तम्भाख्यं सात्विकमित्यर्थः। 'भुवो भावे' इति क्यप्। बभार। प्राज्येन प्रभूतेन, विस्मयरसेनाद्भुतरसेन, जलेन च। स्तिमितस्य निश्चलस्य, जलपतेः स्तब्धपतेश्चेति डलयोरभेदात्, सा जडभूयं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। औचिती उचितकर्म, न किमु? भवत्येवेत्यर्थः। विस्मयरसाविष्टस्य स्तम्भसत्त्वादिति भावः। जलसिक्तस्य स्वयं जडभावस्य जाड्यमुचितमिति व्यज्यते ॥ ६१ ॥

वरुण नलका सौन्दर्य देखकर जो अत्यन्त जडता (स्तब्धता, दीनता जलरूपता) धारण कर लिये वह अत्यधिक आश्चर्य रससे स्तब्धीभूत जलपति (जलाधीश, पक्षान्तरमें—जडाधीश अर्थात् मूर्खराज) के लिये उचित नहीं था क्या ? अर्थात् उचित ही था। [वरुण नलके तारुण्य-सौन्दर्यको देखकर दमयन्तीके पानेकी आशा छोड़कर खिन्न हो गए, अथवा—चिन्ताके कारण उत्पन्न जडतासे स्तब्ध हो गये। जडाधीश (मूर्खराज पक्षा०—जलपति) वरुणके लिये जडभाव (जडता, पक्षा०—जलत्व) धारण करना उचित ही है ॥ ६१ ॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथातिम्लानिमाप रविवंशवतंसः ।
कीर्त्यते यदधुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन ।। ६२ ।।

रूपमिति । रविवंशवतंसो यमः, अस्य नलस्य, रूपं सौन्दर्यं, विनिरूप्य विभाव्य । तथा तेन प्रकारेण, अतिम्लानिमतिवैवर्ण्यम् , अतिकालिमानमित्यर्थः । आप । यद्यथा, अधुनापि स देवो यमः, सकलेन जनेन । काल एव काल इत्येव, कीर्त्यते । तथा म्लानिमापेति पूर्वेणान्वयः । नलेर्ष्यानुभावकालिमयोगादयं कालो न तु प्राण्यायुःकलनादिति भावः । अत्र यच्छब्दस्य कारणपरत्वेन व्याख्याने त्वन-पेक्षितार्थाभिधामनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे तु न कश्चिद्विरोधः । प्रकारार्थत्वञ्च निपातानामनेकार्थत्वादविरुद्धमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सूर्य-कुल-भूषण यमने इस नलके रूपको अच्छी तरह देखकर उस प्रकारकी अत्यन्त कालिमाको प्राप्त किया, जिससे आज भी उस देव (यम) को सब लोग 'काल' (काला, पक्षान्तरमें—'काल' नामवाले) ही कहते हैं । [जो सूर्य-कुलभूषण है, उसको अत्यन्त प्रकाशमान उज्ज्वल होना चाहिये, किन्तु उस यमको इसके विपरीत काला होनेमें तात्कालिक नलको देखनेसे उत्पन्न अतिशय मलिनता ही कारण है ॥ यम भी नलको देखकर दमयन्तीको पानेकी आशा छोड़ अत्यन्त खिन्न हो गये] ॥ ६२ ॥

यद्बभार दहनः खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतुः ।। ६३ ।।

यदिति । दहनोऽग्निरस्य नलस्य, रूपमेव रूपधेयं सौन्दर्यम् । 'नामरूपभा-गेभ्यः स्वार्थे धेयो वक्तव्यः' इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः । तस्य भरं समृद्धिं, विमृश्य विचार्य, तापं बभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता अग्नित्वं, जनिकर्त्री जन्मकरी, उत्पादिका मा भूत् । नलरूपदर्शनजन्यतापे तस्या अप्रयोजकत्वादिति भावः । किन्तु तदपि तथापि चित्रमनलतैवाग्नित्वमेव हेतुरिति विरोधः । नलत्वा-भावहेतुरिति परिहारः । अतएव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६३ ॥

अग्निने इस नलके अत्यन्त सौन्दर्यको देखकर जिस सन्तापको ग्रहण किया, उसका उत्पादक अनलता (अग्नित्व) नहीं हुआ (स्वयं अपनेको सन्तप्त करना अर्थात् एक अग्नि का ही कर्ता तथा कर्म होना असम्भव है), तथापि अनलता (अ + नलता अर्थात् नलाभाव ही उसका कारण हुआ । [अग्निने यह सोचकर सन्ताप धारण किया कि—यदि मैं नल होता तब दमयन्ती मुझे ही वरण करती, अब मुझे नल नहीं होनेसे वह इस नलको वरण करेगी, अतः नलाभाव ही उस अग्निका सन्ताप-कारण हुआ, अग्नित्व नहीं] ॥ ६३ ॥

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ।।६४।।

कामनीयकमिति । कौशिक इन्द्रः, अधःकृतकामं तिरस्कृतमदनं, तदीयं नलीयं, कामनीयकं कमनीयत्वं सौन्दर्यम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' । कामं प्रकाममक्षिभिः । सहस्रेणेति भावः । अवेक्ष्य, अथ स्वमात्मानमखिलं यथा तथा, साकल्येनेत्यर्थः । परिपश्यन् कौशिकमुलूकमेव । 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । मन्यते स्म खलु । नलस्यात्मनश्चैतावदन्तरमित्यमंस्तेत्यर्थः । तथा चास्य भैमीनिराशं मनो बभूवेति भावः ॥ ६४ ॥

कौशिक (इन्द्र) ने कामदेवको तिरस्कृत करनेवाली नलकी सुन्दरताको नेत्रों (सहस्र-नेत्रों) से अच्छी तरह देखकर अपनेको सर्वत्र अच्छी तरह देखते हुए कौशिक (उल्लू) ही मानते थे । ['नलके सामने मैं उल्लूके समान ही हूँ' ऐसा इन्द्र समझते थे । कौशिकका कौशिक होना उचित ही है । सहस्र नेत्र होनेसे नलकी सुन्दरता तथा अपनेको अच्छी तरह देखकर इन्द्रका वैसा मानना भ्रमशून्य ही था] ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य ।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुराः प्रबभूवुः ॥ ६५ ॥

रामणीयकेति । सुरा इन्द्रादयः, अमुं नलं, मूर्तं मूर्तिमन्तम् , उत्थितमुत्पन्नं रामणीयकं सौन्दर्यं, कामनीयकवत्सिद्धं, तदेव गुणस्तस्याद्वयमेकमेवेति वादं प्रवादं, परिभाव्य त्रिजगदेकसुन्दरं मत्वेत्यर्थः । हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भुतरसाय, वितेरुर्ददुः । तेन दानेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रबभूवुः तेषां नेशिरे । दत्तद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तेरिति भावः । विस्मयाकृष्टचित्ता बभूवुरिति परमार्थः ॥ ६५ ॥

(इन्द्र आदि चारों) देवोंने सौन्दर्यगुणक अद्वैतवादरूप उत्पन्न मूर्तिमान् इस (नल) को विचारकर ('ऐसा सौन्दर्य संसारमें कहीं नहीं देखा या सुना' ऐसा विचारकर । अपने अपने) हृदयको आश्चर्यके लिये दान कर दिया अर्थात् वे आश्चर्ययुक्त हो गये, उस कारण उन (अपने अपने हृदय) पर उनका अधिकार नहीं रहा अर्थात् हृदयशून्य होकर वे देव यह नहीं सोच सके कि 'अब हमें क्या करना चाहिये ? ।' [अन्य भी कोई व्यक्ति किसीको अपनी कोई वस्तु देकर फिर उसका अधिकारी नहीं रहता, अतएव अपने अपने हृदय को विस्मयके लिये दानकर (समर्पितकर) विचारक हृदयपर उनका अधिकार न रहनेसे उनका विचारशून्य होना उचित ही है ।] ॥ ६५ ॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वैः ।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

प्रैयरूपकमिति । अमरा इन्द्रादयः, श्रुतपूर्वैः पूर्वं श्रुतैः, 'सुप्सुपा' इति समासः । सम्प्रति, संवदद्भिः प्रत्यक्षसंवादं व्रजद्भिः, प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकं सौन्दर्यम् । सनो-

ज्ञादित्वाद् वुञ् । तस्य विशेषेषु तत्तदवयवेषु । 'विशेषोऽवयवे व्यक्त' इत्युत्पलमालायाम् । निवेशैस्संस्थानैर्लिङ्गैः सः श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति हस्तनिर्देशः । इतीदं वाक्यं मन्दमन्दं मन्दप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । इतरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

(इन्द्र आदि चारों) देव पहले (लोगोंसे) सुने गये (और इस समय) आपसमें मिलते-जुलते हुए सुन्दर रूपकी अधिकता होनेसे 'वह नल यही है क्या ?' ऐसा आपस में धीरे धीरे कहने लगे ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स समयः स रथाध्वा ।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः ॥ ६७ ॥

तेष्विति । तस्य भूपतेर्नलस्य, सा प्रसिद्धा विधा प्रकारः सौन्दर्याद्यसाधारणधर्मो यस्यास्तस्या वध्वाः वरणे अर्हमुचितं भूषणं, स समयः स्वयंवरकालः, कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् , तदभिमुखः स रथाध्वा च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु तानधिकृत्य शशंसुः तेभ्यः शशंसुरित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । एतैर्लिङ्गैरेतस्य स्वयंवरयात्रेयमिति निश्चिक्युरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

उस प्रकारकी (सर्वलोकप्रसिद्ध) वधूको वरण करनेके योग्य भूषण, वह (स्वयंवरका) समय और कुण्डिनपुरको जानेवाले उस नलके रथका, मार्ग उस राजा नलके प्रयत्नोंको देवताओंसे बतला दिया । [नलके भूषण, स्वयंवरका समय तथा उधर जाते हुए उनके रथको देखकर देवताओंने समझ लिया कि नल स्वयंवरमें ही जा रहे हैं] ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहुताशैः प्राणतां श्रितममुं जगतस्तैः ।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेतदचिन्ति ॥ ६८ ॥

धर्मेति । जगतः प्राणतां प्राणत्वं जगज्जीवनत्वं, तत्प्रियतां वा । श्रितममुं नलं, प्राप्यासाद्य, हृष्टाः जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्सन्तुष्टाः, चलास्तल्लावण्यदर्शनाद्ध्वैर्याच्छ्लथानुरागाः, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तथोक्तैस्तैः प्रकृतैर्धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा, निभृतं निगूढम् । एतदनन्तरश्लोकत्रये, वक्ष्यमाणमचिन्ति चिन्तितम् । अत्र यमो हृष्टो वरुणश्चलो वह्निर्विस्तृततापः, क्रमात्तत्प्रतिपादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति केश्चिद्[1] व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतेषामेते धर्माः प्रतिनियताः । किंतु, त्रयाणामेकाभिप्रायेणाप्येते धर्मास्साधारणाः, अत एवोत्तरश्लोकत्रयमपि सर्वविषयम् । अत एवानन्तरश्लोके 'नः' इति बहुवचनोपादानम् । यदपि तदनन्तरश्लोकद्वये एकवचनोपादानम् , तदपि प्रत्येकाभिप्रायादविरुद्धम् । किञ्च, इत्य-

---

१. 'प्रकाश' व्याख्याकारै'र्नारायणै'रित्यवधेयम् ।

चेत्य मनसेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकाभिप्रायावगमाच्च अस्मदुक्तमेव युक्तमुत्पश्यामः ॥ ६८ ॥

संसारके प्राणरूप (सौन्दर्यादिसे प्राणवत् प्रिय, अथवा-पालनादिके द्वारा प्राणदानकर्ता, अथवा—श्वासवायुरूप) नलको पाकर प्रसन्न, चञ्चल और अधिक सन्तापयुक्त धर्मराज (यम), वरुण तथा अग्निने चित्तमें गुप्त भावसे यह विचार किया—[अथवा-नलको जगत्का उक्तरूप होनेसे यमादिको ऐसे सुन्दर व्यक्तिके देखनेसे हर्ष, 'हम स्वयवरमें अब संमिलित हों या नहीं यह विचार आनेसे चञ्चलता, और 'अब दमयन्ती इस नलको छोड़कर हमलोगोंको नहीं वरण करेगी' इस विचारसे अधिक सन्ताप हुआ। अथवा—नलके संसारका प्राणरूप तथा धर्मराजका लोकप्राणका अपहरणकर्ता होनेसे हर्षित होना, जलरूप वरुणका प्राण अर्थात् जगत्प्राण नलरूप वायुको प्राप्तकर मेवके समान चञ्चल होना, और अग्निका जगत्प्राण नलरूप वायुको प्राप्त करनेसे सन्ताप बढ़ना (अधिक प्रज्वलित होना) युक्तियुक्त ही है अर्थात् नलको स्वयंवरमें जाते देख यमको क्रोध, वरुणको घबड़ाहट तथा अग्निको अधिक सन्ताप हुआ और वे मनमें इस प्रकार सोचने लगे यहां क्रमशः यमका हर्षित, वरुणका चञ्चल और अग्निका सन्तप्त होना नारायणसम्मत यह अर्थ मल्लिनाथको अभीष्ट नहीं है; परन्तु अपने मत के पुष्टयर्थ जो हेतु प्रदर्शित किये हैं, वे कहाँ तक युक्तियुक्त हैं, यह विचारक विद्वान् ही विचार करें] ॥ ६८ ॥

नैव न प्रियतमोभयथासौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा।
एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यतः कथमदःप्रतिलम्भः ॥ ६९ ॥

चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण। असौ दमयन्ती, अमुं नलं, यदि न वृणुते वृणुते वा। उभयथापिपक्षद्वयेऽपि, नोऽस्माकंप्रियतमा न भवत्येव। कुतः, हि यस्मादेकतः प्रथमपक्षे अगुणज्ञाममूं धिक्। तत्सङ्गतेरसुखावहत्वादिति भावः। अन्यतो नलवरणपक्षे कथमदःप्रतिलम्भः अमुष्याः परिग्रहः। परदारत्वादिति भावः॥

'यदि यह दमयन्ती इस नलको नहीं वरण करती है, अथवा वरण करती है' दोनों प्रकारसे वह मेरी प्रियतमा नहीं होगी, क्योंकि प्रथम पक्षमें अर्थात् नलको नहीं वरण करती है तो गुणको नहीं पहचाननेवाली इस दमयन्तीको धिक्कार है (ऐसी गुणकी अनभिज्ञा दमयन्तीको मैं वरणकर कोई आनन्द नहीं कर सकूंगा) तथा दूसरे पक्षमें अर्थात् यदि दमयन्ती नलको वरण करती है तब इस दमयन्तीकी प्राप्ति मुझे किस प्रकार होगी ? ॥६९॥

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम्।
ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ॥७०॥

मामिति। इयं दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्सकाशान्महत्त्वमाधिक्यं, न वेद यदि, तदा मामुपैष्यति। तर्हि त्वद्गतदेवत्वाद्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव वरि-

व्यतीत्यत आह—ईदृशीति । ईदृशी सर्वापरोक्षनलगतविशेषानभिज्ञा नृपपुत्री, अपरादपरस्मान्नलादित्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पात्स्मादादेशः । मद्विशेषं मदीयोत्कर्षं च कथमाकलयित्री ज्ञात्री । तृन्नन्तादीकारः । 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः ॥ ७० ॥

यदि यह दमयन्ती इस नलके इस महत्त्वको नहीं जानती है, तब मुझे वरण करेगी । (किन्तु) ऐसी (विशेष गुणको नहीं जाननेवाली) राजकुमारी दमयन्ती अन्य राजाओंसे मेरी विशिष्टताको कैसे समझेगी ? [यदि दमयन्ती मुझसे उत्कृष्ट गुणोंवाले नलको नहीं वरण करेगी, तो अन्य राजाओंसे उत्कृष्ट गुणवाले मुझे वरण करेगी ? इसकी क्या आशा की जाय ? अर्थात् दमयन्तीको पाना अब असम्भव-सा मालूम होता है] ॥ ७० ॥

नैषधे बत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि ।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

नैषध इति । किंच, दमयन्त्या नैषधे नले, वृते सति, व्रीडितः सन् बहिस्तावन्न भवितास्मि हि । बहिः क्वापि जनसमक्षं स्थातुं न शक्ष्यामीत्यर्थः । भवतेर्लुट् । बतेति खेदे । गृहेऽपि, स्वां वनितां भार्यां, ह्रिया निमीलति संकुचतीति ह्रीनिमीलि । णिनि-प्रत्ययः । आस्यं कथं खलु दर्शयिताहे दर्शयिष्यामि । दृशेर्ण्यन्तात्कर्तरि लुट् । अभि-वादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् इत्यणि कर्त्र्या वनितायाः वैकल्पिकं कर्मत्वम् । अत्र णेरणादिसूत्रस्थयद्ग्रहणसामर्थ्यलब्धाश्रूयमाणकर्मत्वाभावेन तदविषयत्वात् 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदमिति केचित् । अणिकर्तृकर्मश्रवणेऽपि तदतिरिक्तकर्मा-श्रवणादश्रूयमाणकर्मत्वमस्त्येवेति णेरणादिसूत्रविषयत्वमेवेति भाष्यकारः । तदे-तत्सम्यग्विवेचितमस्माभिः किरातार्जुनीयव्याख्याने घण्टापथे 'स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः' इत्यत्र ॥ ७१ ॥

दमयन्तीके द्वारा नलको वरण करनेपर लज्जित मैं बाहर नहीं होऊंगा और लज्जासे सङ्कोचयुक्त अपना मुख घरमें अपनी स्त्रीको भी कैसे दिखलाऊंगा ? ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसात्मविधेयं किञ्चन त्रिविबुधी बुबुधे न ।
नाकनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२ ॥

इतीति । त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेवत्रयम् , इति पूर्वश्लो-कत्रयोक्तप्रकारेण । मनसाऽवेत्यालोच्य, किञ्चनात्मविधेयं स्वकर्तव्यं, न बुबुधे न वि-वेद । किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेकं नाकनायकमिन्द्रमपास्य अपवार्य, परस्परमास्यं पश्यति स्म । इतिकर्तव्यतामूढास्त्रयोऽपि केवलमन्योन्यमुखान्यपश्यन्नित्यर्थः ॥७२॥

इस प्रकार (श्लो० ६९-७१) तीनो देवों (यम, वरुण तथा अग्नि) ने मनमें विचार

कर अपना कर्तव्य नहीं समझा । (पाठभेदसे—इस प्रकार तीनों देवोंने मनमें अपना विशेष अर्थात् नलसे अपने सौन्दर्यादिमें कमी समझकर (क्या करना चाहिये, क्या नहीं) कुछ भी नहीं समझा । (किन्तु) एक उस स्वर्गाधिपति इन्द्रको छोड़कर वे तीनों एक दूसरे का मुख देखते रहे (अथवा—एक उस स्वर्गाधिपति इन्द्रको छोड़ इस प्रकार मनमें विचार कर उन तीनोंने अपना कर्तव्य नहीं समझा, किन्तु परस्परमें एक दूसरे का मुख देखते रहे ॥ वे तीनों किंकर्तव्यमूढ होकर एक दूसरेका मुंह ताकने लगे ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः ।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

किमिति । कपटे परवञ्चने, पटुः, ऋभुक्षा इन्द्रः । अधुना किं विधेयमिति विमुग्धमितिकर्तव्यतामूढम् । स्वस्यानुगानामनुयायिनां यमादीनामाननमवेक्ष्य तेषां दैन्यं दृष्ट्वेत्यर्थः । नलस्य वञ्चनं समभिलष्य अभिसन्धाय । उच्चैः शंसति स्म जगाद ।

कपट करनेमें बहुत चतुर इन्द्र 'इस समय क्या करना चाहिये इस विषयमें ज्ञानशून्य अपने अनुगामियों (यम, वरुण तथा अग्निरूप साथियों) को देखकर नलको वञ्चित करने का लक्ष्यकर कहने लगे—[अन्य भी कोई धूर्त मनुष्य अपने साथियोंको कर्तव्यमें मोहित जानकर उनको छोड़कर किसी प्रकार केवल अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है] ॥७३॥

सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः ।
स्वासनार्धसुहृदस्तत्र रेखां वीरसेननृपतेरिव विद्मः ॥ ७४ ॥

सर्वत इति । सर्वतः सप्तस्वङ्गेषु, कुशलभागसि कच्चित् । 'कच्चित् कामप्रवेदने,' इत्यमरः । न च त्वां न वेद्मीत्याह—त्वं स प्रसिद्धो नैषधः नल इति नोऽस्माकं, (प्रतिभा) प्रतीतिः । कुतस्तव, रेखामाकृतिं, स्वासनार्धसुहृदो ममार्धासनभाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्सदृशीं विद्मः तत्सादृश्यात्तत्पुत्रो नलस्त्वमिति प्रतीम इत्यर्थः॥७४॥

'तुम सब प्रकार (अपने सप्ताङ्ग राज्यादि, अथवा शरीरादिके विषयमें) कुशलयुक्त तो हो न ?। 'तुम वह (लोक-प्रसिद्ध) नैषध (निषधपति नल) हो' यह हम लोगोंका अनुमान है । (हमलोग) अपने (इन्द्रके) आधे आसनके (ऊपर बैठनेसे) मित्र वीरसेन राजाके तुल्य लक्षण तुममें देखते हैं । [एक दीपकसे जलाये गये दूसरे दीपकके समान-पिताकी आकृति पुत्रमें होनेसे तुम्हारे पिता जो वीरसेन राजा स्वर्गमें मेरे साथ आधे आसनपर बैठनेसे मित्र थे, उनके लक्षण तुम्हारेमें दीख पड़ते हैं, अतः मित्रपुत्र होनेके कारण अपरिचित भी तुमसे कुशल-पूछना अनुचित या आश्चर्यकारक नहीं है] ॥ ७४ ॥

क्व प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि यन्नः ।
तत्तयैव फलसत्वरया त्वं नाध्वनोर्धमिदमागमितः किम् ॥ ७५ ॥

केति । हे नल, क्व प्रयास्यसीत्युक्त्वा पृष्ठा अलं, न प्रष्टव्यमित्यर्थः । 'अलं खल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः । कुतः, यद्यस्मान्नोऽस्माकमत्र यात्रया इहागमनेन, शुभया त्वद्दर्शनेन सफलया, अजन्यभावि । भावे लुङ् । तत्तस्मात्, फलेन सत्वरया फलार्थिन्या तया, यात्रयैव कर्त्र्या, त्वमिदमध्वनोऽर्धमर्धमार्गमागमितो न किम् ? । अस्मदर्थमेवेदं तवागमनमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

'हे नल ! कहां जावोगे' यह कहना निरर्थक है, क्योंकि हमलोगोंकी यहांपर (इस मार्गमें या इस कार्यारम्भमें) यात्रा शुभ हो गयी । सो तुम्हें फलमें शीघ्रता करनेवाली अर्थात् शीघ्र सफल होनेवाली इस यात्राने ही यहां आधे रास्तेमें नहीं ला दिया है क्या ? [तुम्हारी सहायतासे शीघ्र सफल होनेवाली हमलोगोंकी यात्राने ही हमारा सहायक बननेके लिये यहां बीच रास्तेमें तुम्हें ला दिया है, इससे 'कहां जावोगे ?' यह पूछना व्यर्थ है ॥ लौकिक व्यवहारके अनुसार भी कहीं जाते रहनेपर 'कहां जावोगे' इस प्रकार पूछना अशुभ माना जाता है] ॥ ७५ ॥

एष नैषध ! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः ।
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

के यूयमत आह—एष इति । हे नैषध ! नल ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः । स प्रसिद्धो दण्डभृद्यमः, एष ज्वालजालैर्जटिलो जटावान् । ज्वालामालाकुलीत्यर्थः । 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः । पिच्छादित्वादिलच् । स हुताशोऽग्निः, एष च स यादसां पतिर्वरुणः, शेषं शिष्टं त्वमित्यर्थः । सुराणां शासितारम् अवगच्छ देवेन्द्रं विद्धि ॥ ७६ ॥

हे नल ! यह दण्डधारी (यम) हैं, ज्वाला-समूहरूप जटाको धारण किये हुए ये अग्नि हैं, ये जलाधीश (वरुण) हैं और शेष (मुझे) देवताओंका शासक अर्थात् देवराज इन्द्र समझो । ['दण्डभृत्' आदि विशेषण उनके प्रति आदराधिक्य दिखाने या 'इनकी आज्ञा अनुल्लङ्घनीय है' यह नलको संकेत करनेके लिये हैं, साथ ही अपनेको सब देवोंका भी शासक बतलाकर इन्द्रने 'मेरी आज्ञा विशेष रूपसे अनुल्लङ्घनीय है, अतः मैं भविष्यमें जो दूत-कार्य करनेको कहूँ, उसे तुम्हें अवश्य स्वीकार करना चाहिये । अन्यथा तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा, क्योंकि 'जो देवोंका शासक है, उसे मनुष्यका शासन करना अत्यन्त सरल है' इस बातकी ओर नलको सङ्केत किया है] ॥ ७६ ॥

अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि ।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

अर्थिन इति । हे नल ! अमी वयमर्थिनः सन्तस्त्वां समुपैमः किल प्राप्नुमः खलु ।

उपपूर्वादिणो लटि मस् । इति फलितार्थमवेहि विद्धि । ऋणमध्वनः खेदमपास्य अध्वश्रमं नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेदं कार्यविशेषनिवेदनम् । विदेर्ण्यन्ता- दन्प्रत्ययः । कुर्महे ॥ ७७ ॥

संक्षेपमें फलितार्थ कथन यह है कि ये हमलोग याचक होकर तुम्हारे पास आ रहे हैं। कुछ समय तक रास्तेकी थकावट दूरकर (थोड़ी देर सुस्ताकर) आपसे हमलोग अपने कार्यकी प्रार्थना करेंगे' ॥ ७७ ॥

ईदृशीं गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे ।
नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य ॥ ७८ ॥

ईदृशीमिति । बिडौजाः इन्द्रः, ईदृशीं सामान्यनिर्दिष्टां, गिरमुदीर्य जोषं मौन- माप । 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्' इति हलायुधः । विशिष्य विविच्य, न बभाषे विशेषं नाचष्टेत्यर्थः । अत्रास्मिन्नभिधाकुशलत्वे उक्तिचातुर्ये, चित्रं विस्मयो न । कुतः, अस्येन्द्रस्य शैशवमवधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदारभ्येत्यर्थः । गुरुरा- चार्यो गुरुर्बृहस्पतिः । वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्मित्वं किं चित्रमित्यर्थः । 'गुरुर्गीष्पति- पित्रादौ' इति वैजयन्ती ॥ ७८ ॥

ऐसा वचन (श्लो० ७४-७७) कहकर इन्द्र चुप हो गये, विशेष रूपसे (दमयन्ती के लिये मेरा दूत बनो' इस प्रकार स्पष्ट रूपसे) नहीं कहे । (इन्द्रके) इस प्रकार कहने की चतुरतामें कोई आश्चर्य नहीं है, जिसके शिक्षक बचपनसे ही बृहस्पति हैं ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम् ।
अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

अर्थीति । अर्थिनाम्ना अर्थिनामश्रवणेन, हृषिताखिललोमा रोमाञ्चिततनुः, 'हृषेर्लोमसु' इति वैकल्पिक इडागमः । नृपः, स्वमात्मनं, तच्चरणानामर्चनार्थं स्फुटकदम्बकदम्बं विकसितनीपकुसुमवृन्दमिवेत्युत्प्रेक्षा । प्रणामकरणात्तद्व्याजादुप- निन्ये समर्पयामास ॥ ७९ ॥

'अर्थी' अर्थात् इन्द्रादि याचकोंके नाम (अथवा-'याचक' इस शब्द) से रोम-रोममें हर्षित नलने हर्षसे खिले हुए कदम्ब-समूहके समान अपनेको मानो उनकी पूजा करनेके लिये प्रणाम करनेसे चरणोंको समर्पण कर दिया । ['अर्थी' का नाम सुनकर हर्षसे नल विकसित कदम्बके समान रोमाञ्चित हो गये । फिर जैसे कोई देवताओंके चरणोंमें पुष्प समर्पण कर उनकी पूजा करता है । वैसे ही पुष्पित कदम्ब-समूहके समान अपने शरीरको साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेसे उनके चरणोंपर रख दिया] ॥ ७९ ॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो मदधीनम् ।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥ ८० ॥

दुर्लभमिति । दिगधिपैरमीभिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभं किं तादृशं दुर्लभं वस्तु कथं मदधीनं मदायत्तम्, अहो, ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य निधाय । 'अनत्याधान उरसि-मनसी' इति गतिसंज्ञापक्षे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे क्त्वो ल्यबादेशः । नैषधेन नलेन, चिराय चिरं समशायि संशयितम् । विचारितमित्यर्थः । भावे लुङ् ॥ ८० ॥

'(मेरे याचक बननेवाले) इन दिक्पालोंको क्या दुर्लभ है ? अर्थात् कुछ नहीं, (क्योंकि अपने प्रभावसे या स्वर्गस्थ कल्पवृक्षादिके द्वारा सब कुछ इनको सुलभ ही है) और वैसी (इन देवताओंसे दुर्लभ) वस्तु मेरे अधीन कैसे है ?' ऐसी विरुद्ध बातों को मनमें रखकर बहुत देर तक नल संशय में पड़े रहे ॥ ८० ॥

जीवितावधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत् ।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य [1]परितुष्यतु चेतः ॥ ८१ ॥

विचारप्रकारमेवाह द्वादशश्लोक्या—जीवितेत्यादि । यद्यस्मादखिलैर्वनीपकमात्रैः कैश्चिद्याचकैः । 'वनीपको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः । जीवितावधि प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं वस्तु सुलभम् । सुराणां परिवृढाय प्रभवे अर्थिने । किं वस्तु वितीर्य दत्त्वा, चेतः परितुष्यतु सन्तुष्येत् । प्राणान्तं वस्तु सर्वार्थिसाधारणं ततोऽधिकमिन्द्राय देयं किमस्तीति विचारितमित्यर्थः । वितरणे चेतसः कर्तृत्वविवक्षया वितरणपरितोषयोः समानकर्तृकत्वसिद्धिः ॥ ८१ ॥

जब सब याचकोंको मांगे गये (मेरे) प्राणतक सुलभ हैं (योग्य एवं अयोग्य पात्रका विना विचार किये ही मैं सामान्य याचकोंको भी सरलतासे अपने प्राण भी दे सकता हूँ) तब याचक देवराज (इन्द्र) के लिये क्या (प्राणोंसे भी अधिक कौन-सा पदार्थ) देकर (मेरा) चित्त सन्तुष्ट होवे ? [संसारमें जीवन ही सर्वश्रेष्ठ पदार्थ माना गया है, उसे जब मैं सामान्य याचकको भी अनायास ही दे सकता हूँ, तब अत्यन्त उत्तम पात्र याचक देवराज इन्द्रके लिये प्राणोंसे भी उत्तम वस्तु देना उचित है, किन्तु प्राणाधिक कोई वस्तु देने योग्य नहीं दीख पड़नेसे नल संशयमें पड़े रहे]॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी ।
न स्वमेव मम सार्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी ॥ ८२ ॥

नन्वस्ति लोकोत्तरं वस्तु भैमी, सा दीयतामित्यत आह—भीमजेति । उर्वी भूर्यस्या भैम्याः षोडशीमपि कलां नार्हति षोडशांशसाम्यमपि न प्राप्नोतीत्यर्थः ।

---

1. 'मम तुष्यतु' इति पाठान्तरम् ।

अत एव धनादपि। किं बहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिका सा भीमजा दमयन्ती च। मे हृदि हृदये, परं सम्प्रत्यास्ते। किंतु मम स्वमेव न भवति। अद्याप्यस्वकरणादस्वस्यादेयत्वात्। स्वत्वेऽपि 'देयं दारसुतादृते' इति दाराणां दाननिषेधाच्च विचारस्तदवस्थ एवेति भावः॥ ८२॥

धन तथा मेरे प्राणोंसे भी श्रेष्ठ भीमकुमारी दमयन्ती केवल मेरे हृदयमें है (बाहरमें नहीं है तथा बाहरमें स्थित वस्तुको ही किसीके लिये दिया जा सकता है, अथ च) पृथ्वी—(विशालतम) भी जिसके सोलहवें भागके (रूपयेमें एक आना) भी योग्य नहीं, वह दमयन्ती मेरा धन नहीं है। [वह दमयन्ती मेरे हृदयमें बसी हुई है, किन्तु विधिवत् पिताके द्वारा कन्यादान (या उसके द्वारा स्वयंवरण) न करनेतक उसपर मेरा अधिकार नहीं है, अपने अधिकारकी वस्तुको ही कोई किसीके लिये दे सकता है, अधिकारसे बाहरकी वस्तुको नहीं। अथवा—जिस दमयन्तीके सोलहवें भागके योग्य मेरा स्वरूप ही नहीं, है, फिर सम्पूर्ण पृथ्वी कैसे होगी? अथवा—मेरे जीवन तथा पृथ्वीरूप धनसे भी अधिक वह दमयन्ती मेरे हृदयमें ही रहती है, अत एव तथा स्त्री-पुत्रके दानका शास्त्रीय निषेध होनेसे उसे नहीं दिया जा सकता—इन्द्र उसे नहीं पा सकते]॥ ८२॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां [1]द्रुतमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ ८३॥

पुनर्विचारमेवाह—मीयतामिति। एषामभीप्सितं वस्तु कथं मीयतां ज्ञायेत। ज्ञानस्योपयोगमाह-अयाचितं यथा तथा द्रुतं कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थः। तर्हि, अर्थिवाचैव विज्ञाय दीयतामित्यत आह—यो दाता वाच्छामर्थ्याकाङ्क्षां कलयन् जानन्नपि। अर्थिवागवसरं सहते याञ्चाकालं प्रतीक्षते, तं दातारं धिगस्तु स गर्ह्य इत्यर्थः॥ ८३॥

इन (इन्द्रादि) का इष्ट कैसे जाना जाय? (या विना जाने ही) शीघ्र दे दिया जाय, ('द्रुतं' के स्थानपर 'कथं' पाठ ठीक है, उसी पाठमें 'विना जाने कैसे दे दिया जाय?' यह अर्थ प्रकरणसंमत होता है)। याचकोंकी इच्छा ('यह मुझसे मांगना चाहता है' ऐसी इच्छा) को जानता हुआ भी जो 'दाता' याचकके कहनेकी प्रतीक्षा करता है, उस दाताको धिक्कार है। [श्रेष्ठ दातालोग 'याचक मुझसे मुंह खोलकर किसी वस्तुको मांगे, तब मैं उसको दूंगा' ऐसा नहीं करते, किन्तु 'यह मुझसे मांगना चाहता है' इतना ही जानकर उसके लिये अपरिमित दान दे देते हैं, क्योंकि वे याचकके याचनाजन्य दीन वचनको सुनना पसन्द नहीं करते]॥ ८३॥

---

१. 'कथ-' इति पाठान्तरम्।

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ॥ ८४ ॥

शीघ्राप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुभ्यां चटूक्तिकाकुयोगाभ्यां करणाभ्यां, विडम्बं विडम्बनां हास्यत्व, प्रापितेन, दात्रेति शेषः । बह्वधिकं, यथा तथा याचनेन देहीति वादेन, लज्जां लम्भितेन प्रापितेन, अत्रापि दात्रेति शेषः । अर्थिना करणभूतेन, उक्तरूपेणार्थिपीडनेनेत्यर्थः । दाता यदघं पापमर्जति सम्पादयति, विलम्ब्य ददानो दाता, तदघं न लुम्पति न विहन्ति । तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

विलम्बसे दान देनेवाला दाता चाटु ('मुझे कुछ दान दीजिये' इस प्रकार बार बार कहना अथवा—प्रियभाषण यथा—'आप बड़े धर्मात्मा हैं, दानी हैं' इत्यादि वचन) तथा काकु (दीनतापूर्ण वचन, यथा—आप कृपापूर्वक मुझे कुछ देवें, मैं बहुत निर्धन एवं दुखित हूँ' इत्यादि वचन) से हास्यपात्रता (या पराभव) को प्राप्त करानेवाला और बहुत याचना करनेसे लज्जाको प्राप्त करानेवाला (दाता) याचकके द्वारा (या याचकके कारणसे) जिस पापको प्राप्त करता है, उसे (दानके द्वारा) दूर नहीं करता (दान करनेसे उस पापका प्रायश्चित्त नहीं होता) । ['प्रकाश' टीकाकारने—तृतीयान्त पदोंको अर्थीका विशेषण मानकर—'चाटु तथा दीन वचन कहनेसे पराभूत तथा अनेक बार याचना करनेसे लज्जित दाता अर्थीसे जो पापार्जन करता है उस पापको दूर नहीं करता है । विलम्बसे दानको देनेवाला पुण्यार्जनके स्थानपर पापार्जन करता है । अतः शीघ्रातिशीघ्र दान करना ही श्रेयस्कर है] ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितमेतत्[1] ॥ ८५ ॥

यदिति । वदान्यैर्दातृभिः, प्रदेयं देयद्रव्यमुपनीयार्थिजनाय सलिलं दीयत इति यत् । एतत्सलिलदानं याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कया देहीति वादवैफल्यशङ्कया त्रासो भयं तेन यन्मूर्च्छनं तस्य चिकित्सितमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा किमर्थं तत्सलिलदानमिति भावः ॥ ८५ ॥

दान योग्य वस्तुको (याचकके) समीप लाकर दान करनेवाला जो याचकके लिये (उसके हाथपर सङ्कल्पका) जल देता है, वह (जलदान कार्य) याचनाकी उक्तिके निष्फल होनेकी शङ्कासे उत्पन्न भयसे होनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा है । (पाठभेदसे—प्रार्थना (या-वह याचना) की उक्तिकी निष्फलताकी शङ्कासे बढ़नेवाली अकाल मृत्युकी चिकित्सा है) । [मूर्च्छा आनेवाले व्यक्तिपर पानी छिड़ककर जिस प्रकार उसकी मूर्च्छाकी चिकित्साकर

१. 'त्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा' इति पाठान्तरम् ।

मूर्छा दूर करते हैं, उसी प्रकार 'हमारा मांगना व्यर्थ न होवे' इस प्रकारके सन्देहसे उत्पन्न भयसे आनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा दान देते समय याचकके हाथपर दिया गया संकल्पका जल होती है। अर्थात् उस सङ्कल्पजलके हाथमें आते ही याचको अपनी याचनाकी सफलता होनेसे संसय दूर हो जाता है]॥ ८५॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुसवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥ ८६ ॥

अर्थिन इति। कुशवतो जलस्य दायो दानम्। ददातेर्घञ्। युगागमः। स प्रतिपाद्यतया अस्मिन्विधावस्तीति कुशवज्जलदायी सकुशजलदानप्रतिपादक इत्यर्थः। अत एवोक्तिविदग्धः। अभिधाव्यापारमन्तरेणार्थादेवार्थान्तरप्रतिपादनचतुरः इत्यर्थः। द्रव्यदानविधिर्धनदायकशास्त्रमेवमाह। किमिति अर्थिने धनमात्रं धनमेव। 'मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे' इत्यमरः। तृणवत्तृणमिव न प्रतिपाद्यं न देयम्। किंतु जीवनम्ं जीवितमपि तथा देयमिति। सकुशं जलं देयमिति च गम्यते। अर्थ्यनपेक्षितकुशजलदानं विदधतो द्रव्यदानविधेरयमेवाभिप्राय इति भावः॥ ८६॥

पवित्र कुशके साथ संकल्पजलको दिलानेवाली, बोध करानेमें चतुर वस्तुको दान करानेकी विधि अर्थात् शास्त्रीय विधान, 'याचकके लिये तृणके समान धनको ही नहीं, अपितु प्राणोंको भी देना चाहिये' ऐसा कहता है। ['कुशवत्सलिलोपेतं दानं सङ्कल्पपूर्वकम्'] (कुश तथा जलसे युक्त सङ्कल्पपूर्वक दान करे) इस शास्त्रीय वचनमें पवित्र कुशाके साथ जल लेकर दान करनेका विधान है, अतः इस शास्त्रीय वचनका यह आशय है कि-दाता जिस प्रकार तृणवत् (तृणके समान, पक्षान्तरमें—तृणयुक्त) धनको तुच्छ समझकर याचकके लिये देता है, उसी प्रकार जीवन (प्राण, पक्षान्तरमें—सङ्कल्पजल) भी याचकके लिये देना चाहिये अर्थात् याचकके लिये तृणवत् (कुशायुक्त) जलको। पक्षान्तरमें—तृणके समान प्राणोंको) भी देना चाहिये]॥ ८६॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रियः कमलमाश्रयणाय ।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

पङ्केति। पङ्कः पापं कर्दमश्च। 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः' इति वैजयन्ती। तत्सङ्करेण विगर्हितं, कमलं श्रियः आश्रयणाय नार्हम्। तत्तस्मात्सुधीर्विमलं निष्पङ्कमर्थिपाणिकमलं तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्थानं, विदधीत। सर्वथा धनं पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्तव्यम्। न तु भूमाविति भावः॥ ८७॥

कीचड़ (पक्षान्तरमें—पाप) के संसर्गसे दूषित (पक्षान्तरमें-निन्दित) कमल लक्ष्मी (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) का आश्रय अर्थात् निवासस्थान नहीं है, अत एव विद्वान् (दाता) निर्मल (पक्षान्तरमें—सुपात्र होनेसे अनिन्दित) याचकके हस्तकमलको उस

लक्ष्मी (पक्षान्तरमें—सम्पत्ति) के रहनेका घर बनावे। ['लक्ष्मीका वासस्थान कमल है' यह शास्त्रवचन जलाशयमें उत्पन्न कीचड़युक्त मलिन कमलको लक्ष्मीका वासस्थान नहीं बतलाता, किन्तु सत्पात्र होनेसे अनिन्दित याचकके करकमलको लक्ष्मीका वासस्थान बतलाता है, अतः विद्वान्को अपना धन भी सत्पात्रके करकमलमें देना चाहिये। कोई सामान्य भी व्यक्ति कीचड़से युक्त स्थानको अपना वासस्थान बनाना पसन्द नहीं करता, तो लक्ष्मीको कीचड़युक्त कमल क्यों पसन्द होगा ? अर्थात् कदापि नहीं होगा]॥ ८७॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः॥ ८८॥

याचमानेति। यस्य धनिनो जन्म याचमानजनमानसवृत्तेरर्थिजनमनोरथस्य पूरणाय न भवति। बतेति खेदे। तेनैकेनैव पापीयसा। इयं भूमिरतिभारवती। न द्रुमादिभिर्बहुभिरपीत्यर्थः। तेभ्यः प्रजानां बहूपकारलाभादिति भावः॥ ८८॥

जिसका जन्म याचना करते हुए मनुष्यके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये नहीं है, खेद है कि एक उसीसे यह पृथ्वी भारवाली है; वृक्षोंसे नहीं, पहाड़ोंसे नहीं और समुद्रोंसे नहीं। [क्योंकि जड़ होते हुए भी वे वृक्षादि फल-फूल, धातु-औषध तथा रत्न आदिके द्वारा दान देते ही हैं॥ मनुष्यको अपना जन्म दान देकर सफल बनाना चाहिये]॥ ८८॥

मा धनानि कृपणः खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै।
तत्र नैष कुरुते मम चित्रं यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि॥ ८९॥

मेति। कृपणः कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन्, तृष्णया अतिगर्धनेन, जातु कदापि, परस्मै याचमानाय धनानि, ना (मा) र्पयतु न प्रयच्छतु। एष कृपणस्तत्र जीवन-दशानर्पणे, मम चित्रं विस्मयं, न कुरुते। किंतु, मृतोऽपि तानि धनानि, नार्पयति न प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्रं कुरुते विरोधात्। नार्पाणि नृपसम्बन्धीनि कुरुत इति तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ८९॥

कृपण जीते-जी लोभसे धनको कभी किसीके लिये भले नहीं दे, उसमें मुझे आश्चर्य नहीं होता, किन्तु मरकर भी उस धनको जो नहीं देता है (पक्षान्तरमें—राजाके अधीन करता है) यह आश्चर्य है। [यहांपर 'नहीं देता है' इस पक्षमें मरनेके बाद नहीं देनेसे आश्चर्य होना विरोध है, क्योंकि मरनेपर कुछ भी वस्तु किसीको दे सकना अशक्य है, 'राजाके अधीन कर देता है (मरनेपर शास्त्रीय वचनानुसार राजा उसकी सम्पत्तिको अपने अधीन कर लेता है) यह विरोधका परिहार है। अथवा—जो जीता हुआ किसीको नहीं देता, वह मरनेपर राजाके लिये दे देता है, यह आश्चर्य है॥ जब मरनेपर लोभसे संचित धनको राजा ले ही लेता है और उससे कोई पुण्य या आत्मस्वार्थकी सिद्धि भी नहीं होती, तब जीते ही लोभ छोड़कर मनुष्यको दान करना चाहिये]॥ ८९॥

मामभीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

मामिति । जगत्यां भुवि भुवने वा । 'जगती भुवने भूम्याम्' इति विश्वः । दातृजातमवमत्यावधीर्य, मां याचितवद्भिरमीभिर्देवैर्यद्यशो मयि निवेशितं स्थापितम्, एतन्निष्क्रयः एतस्य यशसो निष्क्रयः प्रतिनिधिभूतः । कतमस्तु पदार्थस्तदीयोऽस्तु इन्द्रादिसम्बन्धी स्यात् । किं वितीर्य अनृणो भविष्यामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

इस संसारमें अन्य दाताओंके समुदायको छोड़कर मुझसे याचना करनेवाले इन्होंने (इन्द्रादिने) मेरे जिस यशको स्थापित किया है (अथवा—कल्पवृक्ष आदिके रहते उनको छोड़कर इस लोकमें मेरे जिस यशको स्थापित किया है), उसका बदला (देनेके योग्य) कौन वस्तु हो ? । ['भूमिस्थ अन्यान्य दाताओंको या स्वर्गस्थ कल्पवृक्ष आदिको छोड़कर कहीं कभी नहीं याचना करनेवाले इन्द्रादिने भी नलसे याचना की थी, इस प्रकार जो मेरे अत्यन्त श्रेष्ठ यशको स्थापित किया है, उसका बदला चुकानेके लिये कोई वस्तु नहीं दीखती, जिसे देकर मैं इनसे ऋणमुक्त होऊँ । अधिक देना तो दूर रहा, याचना करनेपर भी इनके द्वारा स्थापित महान् यशका बदला चुकाना ही मेरे लिये अशक्य प्रतीत हो रहा है] ॥ ९० ॥

लोक एष परलोकमुपैता हा विहाय निधने धनमेकः ।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

लोक इति । एष लोको जनः, हा कष्टं, निधने अन्त्यकाले, धनं विहाय, एकः एकाकी, परलोकमुपेता उपैष्यति । इणो लुट् । इति हेतोरुदयद्दयमुद्यत्कृपाञ्चितं यस्य सोऽर्थ्येव, बन्धुरस्य लोकस्य, तद्धनम् अमुं परलोकं, निनीषति नेतुमिच्छति खलु । अन्ये तु बन्धवः स्वयमेव सर्वस्वं गृह्णन्ति । नैनं प्रापयन्तीत्ययमेवापद्बन्धुः सङ्ग्राह्य इति भावः ॥ ९१ ॥

यह जन मरनेपर धनको छोड़कर अकेला (असहाय) परलोकको जायेगा, हा कष्ट है; अतः दयायुक्त चित्तवाला याचक-बन्धु उस (परलोकगत व्यक्ति) के इस धनको इसके पास (या—परलोकमें) पहुंचाना चाहता है । जैसे कोई व्यक्ति अपना सामान छोड़कर कहीं बाहर जाता है तो उसके सामान (सब वस्तुओं) को उसके प्रिय बन्धु दयाकर उसके पास पहुंचा देते हैं, उसी प्रकार याचक भी अकेले परलोक में गये (मरे) हुए व्यक्ति के सामानको 'दान की हुई वस्तु ही मरनेपर परलोकमें जीवको मिलती है' इस शास्त्रीय वचन के अनुसार स्वर्ग में पहुंचा देता है । अथवा—पुत्र-पौत्रादि बान्धव तो मरे हुए व्यक्ति के धनको स्वयं ले लेते हैं, किन्तु दयालु याचकरूप बन्धु उक्त शास्त्र-वचनानुसार उसे परलोकगत व्यक्तिके पास पहुंचा देता है, अतः पुत्र-पौत्रादिसे भी याचक बन्धु ही श्रेष्ठ है, इस कारण याचकको तो अवश्य ही दान देना चाहिये] ॥ ९१ ॥

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि कोटिगुणितं दिवि दायि ।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत ॥ ९२ ॥

दानेति । साधुः सज्जनो वार्धुषिकश्च । 'साधुः त्रिषु हिते रम्ये वार्धुषौ सज्जने पुमान्' इति वैजयन्ती । इहास्मिन् लोके, एकं गृह्णातीत्येकग्राही । दिवि परलोके, एकं कोटिगुणितं कोटिश आवृत्तं, दायि दातृ । 'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा मता' इति लोके वृद्धेः परिमितिरस्ति । इदं त्वपरिमितदायीत्यर्थः । 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिप्रत्ययः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । दानपात्रं नामाधमर्णं धनग्राहीति रूपकम् । 'उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात्' इत्यमरः । सुकृतैरेति यदि । तदा असीददविनश्यत् । परलोके भवं पारलौकिकं, 'परलोकाच्चेति वक्तव्यम्' इति भवार्थे ठक्प्रत्ययः । कुसीदं वृद्धिजीवनं कर्तुः अलमिति शेषः । 'कुसीदं वृद्धिजीविका' इत्यमरः । 'नादत्तमुपतिष्ठते, इति न्यायाददातुः न किञ्चिदामुष्मिकं सुखम् । दातुः पुनरनन्तमिति सर्वथा अर्थिने दातव्यमिति भावः ॥ ९२ ॥

एक लेकर स्वर्गमें करोड़गुना देनेवाले दानपात्ररूप अधमर्ण (ऋण लेनेवाले) को पारलौकिक व्याजको विनाशरहित करनेके लिये पुण्योंके द्वारा यदि कोई प्राप्त करता है तो सज्जन ही प्राप्त करता है । इस लोकमें ऋण लेनेवाला कोई भी व्यक्ति मूल धन का व्याज दुगुना-चौगुना ही देता है तथा किसीके मर जानेपर वह मूल धन भी नहीं मिलता; किन्तु याचकरूप ऋण-गृहीता यहां पर एक लेकर 'पात्र के लिये दिया गया दान परलोक में अनन्तगुना प्राप्त होता है' इस शास्त्रीय वचनके अनुसार परलोक में करोड़ोंगुना एवं कभी नष्ट नहीं होनेवाला व्याज देता है, अतएव ऐसा उत्तम ऋण-ग्रहीताको बड़े भाग्यसे कोई सज्जन ही प्राप्त करता है ॥ अत एव सत्पात्रमें अवश्य दान देना चाहिये] ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम् ।
अर्थिदुर्लभमवाप्य च हर्षाद्याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥ ९३ ॥

एवमादीति । स निषधानां पतिः नलः, एवमादि मुहूर्तमल्पकालं, विचिन्त्य । अर्थिभिर्दुर्लभं हर्षादुल्लसितश्रि वर्धमानश्रीकं, प्रसन्नमित्यर्थः । शैषिकस्य कपो वैभाषिकत्वान्नपुंसकत्वं ह्रस्वत्वम् । याच्यमानमुखं दातृमुखं चावाप्य प्रसन्नमुखो भूत्वेत्यर्थः । तानिन्द्रादीनवोचत ॥ ९३ ॥

निषध देशवासियोंके राजा 'नल' इस प्रकार (श्लो० ८१-९२) मुहूर्तमात्र विचार कर याचकों से दुर्लभ, याच्यमान (दाता) के मुखको अत्यन्त शोभासम्पन्न (हर्षित) देखकर याचना करनेकी बात सुनकर नलके प्रसन्न मुखको देखकर ('हमारा कार्य सिद्ध होगा' इस आशासे हर्षित) हुए उन (इन्द्रादि देवों) से बोले—॥ ९३ ॥

नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः ।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादां दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥ ९४ ॥

नास्तीति । जन्यजनकयोः कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति, कार्यं स्वोपादानादभिन्नमित्यर्थः । जनदेहः अन्नजनितः भुक्ताहारपरिणामश्चेत्येतदुभयं सत्यमित्यर्थः । कुतः, अमृतमदन्तीत्यमृतादः । 'अदोऽनन्ने' इति खच्प्रत्ययः । तेषाममृतादाममृतभुजां, वो युष्माकं, तनूं मूर्तिं, वीक्ष्य दृष्टिः सुधायां निमज्जमुपैति खलु सुधामज्जनसुखमनुभवतीत्यर्थः । जनदेहानामन्नजन्यत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे कथमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः । युष्मदर्शनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥

'जन्य तथा जनक अर्थात् कार्य तथा कारणमें भेद नहीं है यह, और जन–शरीर अन्न (भक्ष्य पदार्थ) से उत्पन्न है, यह (ये दोनों) कथन सत्य है । अमृतको खानेवाले आपलोगोंके शरीरको देखकर (मेरी) दृष्टि अमृतमें निमग्न हो रही है अर्थात् अमृतमें स्नान करनेसे जो सुख मिलता है, वह सुख आपलोगोंको देखनेसे मिल रहा है । [यहां अमृत कारण तथा उन इन्द्रादिका शरीर अमृत–भक्षण करके उत्पन्न होनेसे कार्य है; अतः उस अमृतभक्षी शरीरके देखनेसे अमृतदर्शनके समान आनन्द होना स्वाभाविक ही है । अथवा–अन्नजन्य जन–देह जन्य-जनक भेदसे रहित है] ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनु क्व फलं वा[1] यूयमीक्षणपथं व्रजथेति ।
ईदृशान्यपि[2] दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

मदिति । तनु स्वल्पं मत्तपः क्व ? । यूयमीक्षणपथं व्रजथेति फलं युष्मद्दर्शनरूपं महाफलं वा क्व ? । वैरूप्यादिति भावः । अत एव विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः । अथवा ईदृशानि ईदृङ्महाफलान्यपि दधन्ति पुष्णन्ति । 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः । पुनः शब्दो वाक्यालङ्कारे नोऽस्माकं पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं फलन्तीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

मेरा थोड़ा-सा तप कहां? (महापुण्यसे प्राप्त होने योग्य) आप लोग जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं, यह फल कहां ? (थोड़ेसे पुण्यके द्वारा अधिक पुण्यके मिलने योग्य आपलोगोंका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है) । ऐसे (आपके दर्शनरूप फलको उत्पन्न करनेवाले । अथवा — ऐसे फलरूपमें परिणत हुए), हमारे पूर्वजोंके पुण्य ही सर्वोत्कृष्ट हो रहे हैं (जिनके प्रभावसे आपलोगोंके दर्शनका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है । अथवा—सर्वोत्कृष्ट, हमारे पूर्वजोंके पुण्य ऐसे (आप लोगोंके दर्शनरूप फलमें) परिणत हो रहे हैं) । ['ईदृशान्यपि फलानि ददन्ति' पाठान्तरमें—

---

१. 'यत्' इति पाठान्तरम् । २. ईदृशान्यपि फलानि ददन्ति' इति 'ईदृशं परिणमन्ति फलं नः' इति पाठान्तरे ।

ऐसे (दुर्लभ आपलोगोंके दर्शनरूप) फलोंको देते हुए, मेरे पूर्वजोंके पुण्य उत्कृष्ट हो रहे हैं 'परिणमन्ति फलं नः' पाठान्तरमें—ऐसे फलको परिणत होते हुए......] ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म ।
यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥ ९६ ॥

प्रतीति । इलां देवीं भूदेवतां, सर्वसहनं विश्वावमानसहनमेव व्रतं येन सा सर्वंसहेति ख्यायते । तस्माज्जन्म यस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । क्रियत इति कर्म सुकृतं (कर्तृ) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु । 'तिष्ठतेरित्' इति णौ चङ्युपधाया इकारः । यद्यस्माद्यूयमपि निजैः पादैरेव पयोजैरिति रूपकम् । अस्या इलायाः पूजनं पूजां सृजथ । कुरुध्वमित्यर्थः । अहहेत्यद्भुते ॥ ९६ ॥

सबके भारको सहन करनेके व्रतसे उत्पन्न कर्म (पुण्य) ने इस (पृथ्वी) देवीको निश्चय ही प्रतिष्ठायुक्त कर दिया, यह आश्चर्य है ! क्योंकि (पृथ्वीको कभी भी स्पर्श नहीं करनेवाले दिक्पालरूप) आपलोग भी अपने चरण-कमलोंसे इस (पृथ्वी देवी) का पूजन कर रहे हैं । [पृथ्वीने सबके भारको सहन करनेका व्रत ग्रहणकर उससे उत्पन्न पुण्यसे देवी पदको प्राप्त किया, इसी कारण चरणसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं करनेवाले आपलोग आज अपने चरण-कमलसे देवीपदपर प्रतिष्ठित पृथ्वीकी पूजा कर रहे हैं । [अन्य भी व्यक्ति किसी देवीका पूजन कमलोंसे करता है ॥ इस वाक्यसे आपलोगोंको इस भूलोकमें आनेका क्या उद्देश्य है ? यह प्रश्न ध्वनित होता है] ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् ।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९७ ॥

जीवितेति । इतो नरडिम्भान्मानुषशिशोः, जीवितावधि प्राणान्तं, ततोऽधिकं वा किमपि मनीषितमीप्सितं यद्वस्तु सोऽयं नरडिम्भः, तेन वस्तुना, वश्चरणमर्चतु पूजयतु । ईदृगलभ्यं वस्तु पुनः किमस्तु किं स्याद्, ब्रूत ॥ ९७ ॥

इस मानव-बालकसे प्राणोंतक या इससे भी अधिक जो अभिलषित (आपलोगोंका) हो, उस (अभिलषित वस्तु) से यह मानव-बालक आपलोगोंके चरणका पूजन करे, किन्तु ऐसी वह वस्तु कौन-सी है ? कहिये । [प्राणों तक या प्राणाधिक भी कोई वस्तु इस मानवबालक अर्थात् मुझसे जो वस्तु आपलोगोंको अभिलषित हो, निःसङ्कोच होकर मांगें, मैं साधारण मानव-बालक होकर भी उस वस्तुको आपलोगोंके चरणमें समर्पित करूँगा । [आपलोग मुझसे क्या चाहते हैं ? यह बतलाइये, मैं उसे अवश्य दूंगा]' ॥ ९७ ॥

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन ।
वक्रभावविषमाममथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ॥ ९८ ॥

एवमिति । एवं वीरसेनतनये नले, विनयेन अकपटेन, मुक्तविशङ्के विस्रब्धमुक्तवति सति । अथ कार्येषु कर्तव्यार्थेषु यानि कैतवानि कपटानि तेषां गुरुरुपदेष्टा शक्रः । वक्रभावः प्रतिकूलाभिप्रायः, तेन विषमां प्रतिकूलां गिरमूचे उवाच ॥ ९८ ॥

इस प्रकार वीरतनय नलके निर्भय होकर विनयके साथ कहनेपर काममें कपटाचार्य (अथवा—कार्यमें कपट करनेमें गुरुरूप) इन्द्रने कुटिलतासे विषम (विषतुल्य) वचन कहा ॥ ९८ ॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो ! ।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥ ९९ ॥

पाणीति । हे महीमिहिकांशो भूतलहिमांशो ! 'प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः । वयं दमयन्त्याः पाणिपीडनमहं विवाहोत्सवं कामयेमहि अभिलषेमहि । हे निर्जितस्मर ! अत एव स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य दूरतो निरस्येत्यर्थः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । अत्रोद्वाहकृत्ये नोऽस्माकं दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः । कुरु ॥ ९९ ॥

हे पृथ्वीचन्द्र नल ! हमलोग दमयन्तीका विवाहोत्सव चाहते हैं । (देहसौन्दर्य और जितेन्द्रिय होनेसे) कामको जीतनेवाले ! बहुत कालसे काम-भय (कामजन्य विरहपीडा) को छोड़कर इस दमयन्तीके विवाहोत्सवरूप कार्यमें हमलोगोंका दूत-कर्म करो । [जितेन्द्रिय एवं सुन्दरतम होनेसे तुमने काम-विजय कर लिया है, अतः तुम्हें दमयन्ती-विरहसम्बन्धी कामपीडा नहीं होनी चाहिए, तथा उक्त गुणके कारण काम-विजयी होनेसे तथा काम-भयका त्याग कर देनेसे दूत-कर्मके समय दमयन्तीको देखकर भी तुम्हारे मनमें कोई कामज विकार नहीं होगा और न तो कामजन्य पीडाका ही कोई भय रहेगा । अतः दमयन्तीके यहाँ हमलोगोंका दूत-कर्म करनेके योग्य हो और पृथ्वीचन्द्र होनेसे तुम हमलोगोंका दूत-कर्म करके हमारे सन्तापका नाश करो । पक्षान्तरमें—इन्द्र अपने साथी यम आदि तीनों देवोंसे भी कपटकर केवल अपना दूत-कर्म करनेके लिए नलसे कह रहे हैं, यथा—हे पृथ्वीचन्द्र (नल) ! मैं उत्सववाले दमयन्तीके विवाहको चाहता हूँ, हमलोगोंमें-से (मेरा) दूत-कर्म करो, हे काम-विजयिन् ! इस विषयमें भयको छोड़ो (अथवा—विलम्बको छोड़ो अर्थात् दूत-कर्म करनेमें विलम्ब मत करो), मुझसे भयको स्मरण करो अर्थात् दूत-कर्म नहीं करनेपर या इस कार्यमें विलम्ब करनेपर मैं तुम्हें शाप दूँगा, इस भयको तुम स्मरण रखो] ॥ ९९ ॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽस्ते ॥१००॥

आसत इति । अधिक्षिति क्षितौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शतं भूपाः आसते

अपरिमिताः सन्तीत्यर्थः । अत्र त्वं तोयराशिरसि । ते भूपाः कूपाः खलु, भूपत्वसाम्येऽपि तेषां तव च समुद्रकूपयोरिव महदन्तरमित्यर्थः । तथाहि-दिव्याकाशे । ते ते ग्रहाश्चन्द्रादयो न जाग्रति न प्रकाशन्ते किम् ? किंतु कतमो ग्रहो भास्वतस्तुलया साम्येनास्ते । न कोऽपीत्यर्थः । तद्वत्त्वापि न कोऽपि भूपस्तुल्य इति दृष्टान्तालङ्कारः ॥

भूतलपर सैकड़ों राजा हैं, किन्तु (गाम्भीर्य, औदार्य आदि गुणोंके कारण) तुम समुद्र हो, तथा वे (अन्य राजा) कूप हैं । स्वर्गमें क्या वे-वे ग्रह नहीं चमकते हैं, किन्तु सूर्यके समान कौन ग्रह है ? अर्थात् कोई भी नहीं है । [जिस प्रकार समुद्रकी अपेक्षा कूप अत्यन्त तुच्छ हैं, उसी प्रकार गाम्भीर्य और औदार्य आदि गुणोंसे युक्त तुम्हारी अपेक्षा अन्य सैकड़ों राजा अत्यन्त तुच्छ हैं तथा जिस प्रकार स्वर्गमें सूर्यके समान कोई ग्रह नहीं, उसी प्रकार भूलोकमें तुम्हारे समान कोई राजा भी नहीं । यही कारण है कि अन्य सैकड़ों राजाओंको छोड़कर 'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' (गुणी दातामें निष्फल भी याचना अच्छी है, किन्तु गुणहीन दातामें सफल भी याचना अच्छी नहीं) इस नीतिके अनुसार हमलोग तुम्हींसे याचना कर रहे हैं] ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः ।
त्वामिहैव[1] विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥१०१॥

विश्वेति । विश्वं पश्यन्तीति विश्वदृश्वानि सर्वदर्शीनि । दृशेर्ण्यन्तात् क्वनिप् । तानि नयनानि येषां ते वयमेवागाधं गम्भीरम्, तव गुणाः दयादाक्षिण्यवशित्वसत्यसन्धत्वादयः, तानेवाम्बुधिमवेमः अवगच्छामः । इणो लटो मस् । हि यस्मात् , इहास्मिन् , रहस्ये रहस्यकृत्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वयं निर्वृतिं सुखं न लभेमहीति काकुः । लभेमह्येव, प्रागुक्तगुणाढ्यत्वादिति भावः ॥ १०१ ॥

विश्वदर्शी नेत्रवाले अर्थात् सर्वज्ञ हमलोग ही तुम्हारे अथाह (औदार्य आदि) गुणरूप समुद्रको जानते हैं । हम सब तुमको इस (दमयन्तीके पास दूत-कर्मरूप) गुप्त कार्यमें नियुक्तकर सुख नहीं पायेंगे क्या ? अर्थात् अवश्य सुख पायेंगे (पाठभेदसे—हम सब तुमको इस गुप्त कार्यमें इस प्रकार बिना नियुक्त किये सुख नहीं पायेंगे) । [अतः तुम हमारे दूत-कर्मको करके हमें सुखी करो, अन्यथा यदि तुम दूत-कर्म नहीं करोगे तो हमें कष्ट होगा और उस अवस्थामें हम तुम्हें शाप दे देंगे । 'पूर्वोक्त कपटपूर्ण इन्द्रके वचनको अन्य यमादि देवता समझ न लें, इस कारण यहाँपर कपटाचार्य इन्द्रने 'सर्वे' (हम सब) पद कहा है] ॥ १०१ ॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः ।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाजनि वक्रः ॥ १०२ ॥

---

1. 'त्वामिहैक—' इति पाठान्तरम् ।

शुद्धेति। शुद्धे अव्रणे, वंशे कुले, वेणौ च। जनितोऽपि। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः। गुणस्य शौर्यादेः मौर्व्याश्च। 'सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोज्ञाः। गुणशब्दः शिञ्जिन्याम्' इति हलायुधः। स्थानतामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्रः ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रञ्च। सपक्षं सुहृदं सपत्रं च, एनं नलं, सायकं धनुश्चाप इव।'अथास्त्रियौ धनुश्चापौ—' इत्यमरसिंहाभिधानात्पुँल्लिङ्गप्रयोगः। अथवायं शब्द-उकारान्तोऽप्यस्तीति उणादौ अमशक्यादिसूत्रेण धनधातोः सौत्रे उप्रत्ययविधानात्। आशु। क्षिप्नुः क्षेप्ता सन्, क्षिपेः क्नुः। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव। वक्रो जिह्मोऽजनि। श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित्। प्रकृताप्रकृतश्लेष इत्यन्ये॥

उत्तम कुल (कश्यप मुनिके वंश) में उत्पन्न भी, गुण (दया, दाक्षिण्य आदि) की आश्रयताको जानते हुए (नल गुणी हैं, अतः इनके साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, यह बात समझते हुए) भी, (शुद्ध अन्तःकरण होनेसे) सरल तथा आठों दिक्पालोंके अशंभूत होनेसे (या यज्ञ आदि द्वारा सर्वदा देवोंको सन्तुष्ट करनेसे) अपने पक्षको अर्थात् मित्र इस (नल) को (अपने दूत-कर्मके लिए दमयन्तीके पास) भेजते हुए इन्द्र धनुषके समान कुटिल (कपटी) हो गये। धनुषपक्षमें—जैसे-दृढ़ बांससे बना हुआ भी, डोरी (प्रत्यञ्चा) के स्थानको प्राप्त किया हुआ भी सीधे तथा पंखोंसहित बाणको फेंकनेवाला धनुष टेढ़ा हो जाता है, (वैसे इन्द्र भी टेढ़े अर्थात् कपटयुक्त हो गये)। [नलको दमयन्तीके स्वयंवरमें स्वयं सम्मिलित होते हुए जानकर भी इन्द्र ने उन्हें अपना दूतकार्य-करनेके लिए दमयन्तीके पास भेजते हुए महाकपटपूर्ण कार्य करना चाहा]॥ १०२॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः॥ १०३॥

तेनेति। उच्चैः पटुरतिकुशलः, स नलः, तेन तेन वचसैव मघोनः इन्द्रस्य कपटं वेद स्म विवेद। अथ वेदानन्तरं, तदुचितां तस्य कपटस्योचितामनुरूपां वाणीमाचरत्। स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थः। तथाहि—कुटिलेषु विषये, आर्जवमकौटिल्यं नीतिर्न हि। ततः कुटिलेनैव भवितव्यम्। अन्यथा महान्तमनर्थमृच्छेदिति भावः॥ १०३॥

(श्लेषोक्ति तथा वक्रोक्तिको समझनेमें) अत्यन्त चतुर उस नलने इन्द्रकी उन-उन बातों (श्लो० ९९-१०१) से ही कपटको जान लिया। (अथवा—चतुर नलने उन २ बातोंसे ही इन्द्रके कपट अर्थात् धूर्तताको जान लिया) इसके बाद उस(कपटव्यवहार)के योग्य वचन कहा; क्योंकि कुटिलोंमें सरलता रखना नीति नहीं है। ['शठे शाठ्यं समाचरेत्' (शठमें शठता करनी चाहिए)' नीतिके अनुसार नल भी कपटी इन्द्रसे उपयुक्त वचन बोले—]॥ १०३॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम् ।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

सेयमिति । सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, मयैव कृतानां दुरितानामुच्चतरता महत्ता । तया किमपराद्धं, तदाह–या पापमहत्ता कथापथस्य वाग्वृत्तेः, पारं दूरमवाच्यमित्यर्थः । युष्मदीयमपि महिमानं प्रभावमाज्ञारूपं जेतुमुल्लङ्घितुमिच्छति । पापातिरेकाद्युष्मदाज्ञोल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्तिः । सर्वथा युष्मन्नियोगो न क्रियत इति परमार्थः ॥ १०४ ॥

दूसरे जन्ममें मेरे ही (पूर्वजोंके नहीं) द्वारा किये गये पापोंकी यह अधिकता है, जो (मेरे जन्मान्तरीय पापोंकी अधिकता) अत्यधिक एवं सर्वपूजित होनेसे (पक्षान्तरमें—अतिनिन्दनीय होनेसे) कहनेमें भी अशक्य आपलोगोंकी महिमा (पक्षान्तरमें—उत्साहपूर्ण दमयन्तीकी प्राप्ति करनेके अभिमान) को जीतना चाहती है । [आप जैसे श्रेष्ठ दिक्पालों एवं देवेन्द्रकी आज्ञाके पालनका सुअवसर यद्यपि बड़े भाग्यसे मनुष्यको प्राप्त होता है, किन्तु मैं पूर्वजन्मकृत अपने ही पापाधिक्यके कारण उसका पालन नहीं कर सकता हूँ । पक्षान्तरमें—यह मेरा पूर्वजन्मकृत पापाधिक्य है कि आप जैसे श्रेष्ठ दिक्पाल तथा देवराज इन्द्रतक भी ऐसे कपटपूर्ण बातोंको कह रहे हैं, अतः उन्हें समझ जानेके कारण मैं उनका पालन नहीं करूँगा, एवं दमयन्तीको पानेका जो उत्साहपूर्ण अभिमान आपलोगोंको है, उसे मैं नष्ट करूँगा । पहले (श्लो० ९५) नलने देवोंको याचनारूप सत्फल प्राप्त करनेमें अपने पूर्वजोंके तपको कारण बतलाया, और यहाँ उसके सर्वथा विपरीत देवोंकी बात न मानना रूप असत्कार्यमें अपने ही पूर्वजन्मकृत पापोंको कारण बतलाया, इससे नलका श्रेष्ठ विवेक सूचित होता है] ॥ १०४ ॥

वित्त चित्तमखिलस्य न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम् ।
ह्रीगिरास्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

ननु कुटिलोक्तेर्वरं मौनमत आह—वित्तेति । हे देवाः, अखिलस्य जनस्य, चित्तं वित्त विदित्वा ब्रूतेत्यर्थः । तर्हि, कीदृक् चित्तं तदाह–धुर्येति । धुर्यस्य इष्टसाधनसमर्थस्य, कार्यस्योपायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौनं तु न कुर्याम् । किंतु गिरा परिहारोक्त्या ह्रीरस्तु । वरम्, कार्यविरोधिनो मौनाल्लज्जावहमपि परिहारवचनमेव साध्वित्यर्थः । तर्हि मौनादेव परिहारे किं प्रतिषेधरौक्ष्येण तत्राह—परेति । परस्य वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रतिषिद्धा सती, स्वीकृतैव पुनः । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति न्यायादङ्गीकृतैव तु मास्तु ॥ १०५ ॥

(यद्यपि आपलोग) सबके मन (मनोगत भाव) को जानते हैं, (तथापि मैं) अभिलषित या श्रेष्ठ कार्य (दमयन्तीकी प्राप्तिरूप) का बाधक मौन-धारण नहीं करूँगा ।

(मेरे निषेध) वचनसे लज्जा भले ही हो, (किन्तु) निषेध नहीं किया गया दूसरों (आप लोगों) का वचन स्वीकृत न होने पाये। [यदि मैं निषेध नहीं करूँगा, तब 'मौनं स्वीकार-लक्षणम्' सिद्धान्तके अनुसार आपलोगोंके कहे हुए दमयन्तीके पास जाकर दूतकार्य करनेका वचन स्वीकृत समझा जायगा, अतः निषेध करना मेरे लिए लज्जाजनक भले ही हो, किन्तु दमयन्तीकी प्राप्तिमें बाधक मौन-धारण नहीं करूँगा]॥ १०५॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम्।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥ १०६॥

तत्र तावत्तानुपालभते—यदिति। येषां वो मतावेव विमलदर्पणिकायां निर्मलादर्शे, अखिलं तत्त्वं वस्तु सम्मुखस्थं प्रत्यक्षं खलु। ते सर्वज्ञा अपि यूयमीदृशमुक्तप्रकाराम्। 'त्यदादिषु—' इत्यादिना दृशेः कञ्प्रत्ययः। आज्ञां किं वितरथ दत्त। कीदृश्यत आह—येति। या यस्य मे वितरीतुं दातुं, सदृशी योग्या न। तस्माद्यूयमसोपालभ्या इत्यर्थः॥ १०६॥

निर्मल दर्पणरूप, जिन आपलोगोंकी बुद्धिमें सम्पूर्ण तत्त्व (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्य) प्रत्यक्ष हैं, वे आपलोग, जिसे जो आज्ञा देना ठीक नहीं है, उसे (मुझे) वह आज्ञा क्यों देते हैं? [सुन्दर, युवा तथा दमयन्तीका कामुक मेरे लिए दमयन्तीके पास आपलोगोंका दूत-कर्म करनेकी आज्ञाका पालन करना अयोग्य होनेपर भी उक्त आज्ञा आपलोग क्यों मुझे दे रहे हैं? यह आज्ञा मुझे देना आपलोगोंको उचित नहीं है]॥ १०६॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः।
ईदृशां न महतां बत जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणापि ॥ १०७॥

अथाष्टभिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि। इहास्मिन् समये, यां भैमीं वरीतुम्। 'वृतो वा' इति दीर्घः। यामि गच्छामि। तद्दूततां तु तस्यामेव विषये दूत्यं तु कथं वः करवाणि। अहो ईदृशां महतां वः। तृणस्य तृणकल्पस्य, मम वञ्चने प्रतारणे, घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता। बतेति खेदे॥ १०७॥

जिस दमयन्तीका वरण करनेके लिए मैं जा रहा हूँ, वह मैं उस दमयन्ती का दूत-कर्म कैसे करूँगा? अर्थात् कभी नहीं करूँगा, अहो (आपलोगोंका ऐसा कहना आश्चर्य है)। ऐसे (सर्वज्ञ एवं दिक्पाल होनेसे विश्वपूज्य) बड़े आपलोगोंको तृण (रूप मुझ नल) को ठगनेमें दया (या घृणा) नहीं हुई? खेद!। [बड़े लोगोंको पहले तो उचित है कि वे किसीको ठगनेका विचार ही न करें, यदि करें भी तो उन्हें बड़े लोगोंको ही ठगना चाहिए। मनुष्य होनेसे देवताओंकी अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ मुझे ठगनेमें तो आप जैसे देवताओंको दया होनी चाहिए 'ऐसा तुच्छ काम मैं क्यों करूं' इस विषयमें घृणा होनी चाहिए। अथवा—कपटका उत्तर कपटसे ही नल दे रहे हैं कि—बड़े लोगोंके समुदायमें

ऐसे (दूसरोंको ठगनेवाले) आपलोगोंकी पूजा करनेमें तृणवत् तुच्छ मुझे घृणा नहीं आती ? अर्थात् अवश्य आती है (ऐसे निन्दित कर्म करनेवाले आपलोगोंकी बड़ोंके साथमें पूजा करनेमें जब मुझ-जैसे तुच्छ मनुष्यको भी घृणा हो रही है तो बड़े लोग आपलोगोंकी पूजा कैसे करेंगे ? अर्थात् कदापि नहीं करेंगे)। अथवा—ऐसे परवञ्चक अत एव असाधु आपलोगोंकी पूजा तृणकी जाति (तुच्छोंके बीच) में भी करते मुझे घृणा होती है । आपलोग तृणके समान भी पूज्य नहीं है अर्थात् दूसरेको ठगनेके कारण अमहान् (तुच्छ) आपलोगोंसे तृण अधिक पूज्य है, परन्तु आपलोग नहीं] ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः ।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८ ॥

उद्भ्रमामीति । किञ्च, योऽहमस्या भैम्याः विरहान्मुहुरुद्भ्रमामि उन्माद्यामि मुहूर्तमीषत्कालं, मोहं मूर्च्छां च एमि प्राप्नोमि। ईदृगवस्थः सोऽहं, वो युष्माकं, रहस्यं रक्षितुं गोप्तुं, कथं प्रभवितास्मि प्रभविष्यामि, न शक्ष्यामीत्यर्थः । ब्रूत । ब्रुवो लोट् ॥

जो (मैं) इस (दमयन्ती) के विरहसे उन्मादयुक्त अर्थात् पागल और दो घड़ी तक मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी अवस्थावाला मैं आपलोगोंके गुप्त सन्देशको छिपानेके लिए कैसे समर्थ होऊँगा ? कहिये । [जैसे कोई पागल व्यक्ति किसीकी गुप्त बातको भी सबके समक्ष प्रकाशित कर देता है तथा मूर्च्छित व्यक्ति किसी आवश्यक बातको भी होशमें नहीं रहनेसे भूल जाता है; वैसे ही मैं भी आपलोगोंका रहस्य (दमयन्तीको वरण करनेकी इच्छा) को नहीं छिपा सकूँगा या भूल जाऊँगा, अतः मुझे दूत बनाकर वहाँ भेजनेसे आपलोगोंका कार्य सिद्ध होना तो दूर रहा, पहले ही सबको विदित होनेसे बिगड़ जायगा]॥

यां मनोरथमयीं हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे ।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥ १०९ ॥

यामिति । योऽहं मनोरथमयीं सङ्कल्परूपां, यां भैमीं, हृदि कृत्वा श्वसिमि प्राणिमि । अथ सोऽहं तदग्रे तस्याः भैम्याः पुरः, भावगुप्तिं कामविकारगोपनमवलम्बितुं, कथमीशे शक्नोमि । तथाहि । विदुषा विवेकिनापि विषया शब्दादयो दुर्जया इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ १०९ ॥

जो (मैं) सङ्कल्परूप जिस दमयन्तीको हृदयमें करके जीता हूँ, वह मैं उस दमयन्तीके आगे (अपने रोमाञ्च, स्वेद, स्तम्भ, स्वरभङ्ग, शरीरकम्पन, विवर्णता और रोदनरूप सात्त्विक) भावोंको कैसे छिपा सकूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं छिपा सकूँगा, क्योंकि विद्वान् भी विषयोंको दुःखसे जीतते हैं। [अत एव मैं आपलोगोंका कार्य करनेके योग्य कदापि नहीं हूँ] ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः ।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी ॥ ११० ॥

यामिकानिति । किञ्चेति चार्थः । मादृक् मद्विधः, क्षत्रिय इत्यर्थः । कः यामान्-रक्षन्तीति यामिकाः प्रहररक्षकाः 'रक्षती'ति ठक् ।ताननुपमृद्य अहत्वा । तां भैमीं, निरीक्षितुमपि क्षमते । किं पुनराभाषितुमिति भावः । तथैव क्रियतां तत्राह—रक्षीति । रक्षिणां लक्षाणि तेषां जयेन मर्दनेन चण्डचरित्रे क्रूरकर्मणि, पुंसि कुमारी कन्या, कुत्र विश्वसिति, न कुत्रापीत्यर्थः । क्वोद्वाहप्रसङ्गः । क्व चान्तःपुरमर्दनमिति भावः ॥ ११० ॥

मेरे-जैसा (सुन्दर या क्षत्रिय) कौन पुरुष, पहरेदारोंको बिना मारे (अन्तःपुरमें रहनेवाली) उस (दमयन्ती) को देख भी सकेगा ? (बिना पहरेदारोंको मारे सुरक्षित अन्तःपुरमें रहनेवाली दमयन्तीको देखना भी असम्भव है, उससे बात करनेकी कौन कहे ?) । लाखों पहरेदारों या रक्षक पुरुषोंको जीतनेसे प्रचण्ड आचरणवाले पुरुषमें कुमारी (कोमल हृदयवाली दमयन्ती) विश्वास कैसे करेगी ? अर्थात् कदापि ऐसे दारुण पुरुषमें विश्वास नहीं करेगी । [अथवा—······आचरणवाले किस पुरुषमें कुमारी दमयन्ती विश्वास करेगी ? अर्थात् किसी भी पुरुषमें विश्वास नहीं करेगी, अतः मुझसे दूत-कर्म कराना आपलोगोंकी स्वार्थहानि करनेवाला है] ॥ ११० ॥

आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत् ।
आददे कथमहं प्रियया तत्प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥ १११ ॥

आदधीचीति । प्राणमात्रं जीवितमेव, पणसीमा मूल्यावधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'पणो मूल्ये ग्लहे माने' इति वैजयन्ती । आदधीचि दधीचिमारभ्य अभिविधावव्ययीभावः । किलेति प्रसिद्धौ । दातृभिर्वदान्यैः कृतार्घं निश्चितमूल्यम् । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । यद्यशः तद्यशः प्राणतो जीवाच्छतगुणेन प्रिययैव, पणेन मूल्येन, अहं कथमाददे स्वीकरिष्यामि । हीनक्रयस्य परावर्त्यत्वादिति भावः । अत्र परिवृत्तिरलङ्कारः । 'समन्यूनाधिकानाञ्च यथा विनिमयो भवेत् । साकं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता ॥' इति लक्षणात् । तत्र प्राणैर्यशसो न्यूनपरिवृत्तिः, हानमूल्यत्वात् । प्रियया यशसोऽधिकपरिवृत्तिरधिकमूल्यत्वादिति भावः ॥ १११ ॥

दधीचितक दाताओंने जिस यशका मूल्य—प्राणमात्र-दानस्वरूप सीमा निश्चित की है, उस यशको मैं प्राणोंसे चौगुने मूल्यसे अर्थात् दमयन्तीके दान करनेसे क्यों लूँ ? । [दधीचितक दातालोगोंने भी अधिकसे अधिक अपना प्राण दान करके जो महादानी होनेका यश पाया है, उसे प्राणोंसे सैकड़ोंगुनी प्रिय दमयन्तीको (उसके यहाँ आपके दूतकर्मद्वारा) देकर नहीं लेना चाहता । कोई भी चतुर व्यक्ति किसी वस्तुको उसके नियत मूल्यसे सौगुना

मूल्य देकर उसे कदापि नहीं लेता है। अतः मैं आपका दूत-कर्म नहीं करूंगा। और याचक होकर आपने ब्राह्मण दधीचिके भी प्राण ले लिये अर्थात् ब्रह्महत्या करनेमें भी कुछ सङ्कोच नहीं किया, तब मुझ क्षत्रियकी बात ही क्या है ?] ॥ १११ ॥

अर्थना मयि भवद्भिरिवास्यै कर्तुमर्हति मयापि भवत्सु ।
भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयमेव गुरवः करणीयाः ॥ ११२ ॥

अर्थनेति । अस्यै दमयन्त्यै । तादर्थ्ये चतुर्थी । मयि विषये, भवद्भिरिव मयापि भवत्सु विषये अर्थना प्रार्थना कर्तुमर्हति कर्तव्येत्यर्थः । अथ कथं कामुकमुखात्कामिनीढिप्सेति चेद्यथा भवता तथेत्याह–भीमजेति । भीमजार्था या परयाचनचाटुः परप्रार्थनारूपा प्रियोक्तिस्तस्यां यूयमेव गुरवः उपदेष्टारः करणीयाः । करोमि चेति भावः ॥ ११२ ॥

इस दमयन्तीके लिए जिस प्रकार आपलोगोंने मुझसे याचना की है, उसी प्रकार मैं आपलोगोंसे याजना करता हूँ। भीमकुमारी (दमयन्ती) के लिए दूसरेसे याचना एवं दीन वचन कहनेमें (दीन वचन कहकर दमयन्तीकी याचना करनेमें) आपलोग ही गुरु बनानेके योग्य हैं । [यदि आपलोग देवता होकर भी मुझ-जैसे एक सामान्य मनुष्यसे भी दमयन्तीके लिए याचना करते हैं, तब मैं एक साधारण मानव होकर दिक्पाल एवं देवाधिपति होनेके कारण श्रेष्ठ आपलोगोंसे ही दमयन्तीकी याचना करता हूँ, क्योंकि नीति भी कहती है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः'] ॥ ११२ ॥

अर्थिता प्रथमतो दमयन्तीं यूयमन्वहमुपास्य मया यत् ।
ह्रीर्न चेद्व्यतियतामपि तद्वः सा ममापि सुतरां न तदस्तु ॥ ११३ ॥

अथ प्रथमप्रार्थकत्वाभिमानः, तर्हि स्वयमेव प्रथम इत्याह—अर्थिता इति । मया अन्वहमनुदिनम् । 'अनश्च' इत्यव्ययीभावः, समासान्तष्टच् । यूयमुपास्य प्रथमतो दमयन्तीमर्थिताः । अर्थयतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । इति यत् तत्, प्रथमप्रार्थनं व्यतियतां व्यतिक्रमतामपि । इणो लटः शत्रादेशः । वः ह्रीर्न चेत्तर्हि सा ह्रीर्ममापि सुतरां नास्तु मा भूत् ॥ ११३ ॥

(यदि आपलोग यह कहें कि हमने दूत-कर्मके लिए पहले याचना की है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि) पहले प्रतिदिन पूजा करके आपलोगोंसे मैंने दमयन्तीकी याचना की है, उस (दमयन्तीके लिए मेरी याचना) का उल्लङ्घन करनेवाले आपलोगोंको यदि लज्जा नहीं है तो वह (लज्जा) मुझे भी स्वतः नहीं हो । [यदि आप-जैसे महान् दिक्पालोंको भी मेरी याचनाको पूर्ण न करनेमें लज्जा नहीं आती है तो भक्त होनेके कारण आपलोगोंसे छोटे मुझको भी लज्जा आना उचित नहीं, क्योंकि गीतामें भी भगवान् कृष्णने कहा है—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'] ॥ ११३ ॥

कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते ।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ॥११४॥

कुण्डिनेति। कुण्डिनेन्द्रसुतया दमयन्त्या। 'न लोक–' इत्यादिना निष्ठायोगे षष्ठीप्रतिषेधात् कर्तरि तृतीया। पूर्वमेव मां वरीतुमुररीकृतमङ्गीकृतमास्ते। तथा मद्वरणमङ्गीकृतं किलेत्यर्थः। किलेति वार्तायाम्। कर्मणि क्तः। अङ्गीकारस्य कथञ्चिदिच्छार्थत्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुन्प्रत्ययः। ततो मयि दृष्टे परं व्रीडमेष्यति। एवं च सा युष्मान्न स्वीकरिष्यति खलु ॥ ११४ ॥

'कुण्डिनपुराधीशकी कन्या दमयन्तीने पहलेसे ही मुझे वरण कर लिया है, ऐसा निश्चित है। (अतः सहसा) मुझे देखनेपर वह (सात्त्विक भावोंके उदय होनेसे) लज्जित हो जायेगी और निश्चय है कि आपलोगोंको वरण नहीं करेगी। [जब दमयन्तीने पहलेसे ही मुझे वरण कर लिया है, तब मेरा साक्षात्कार होनेपर आपलोगोंको वरण करना तो दूर रहा, आपलोगोंके वरण करनेके प्रस्तावको भी नहीं सुनना चाहेगी, अतः उसके लिए आपलोगों को इच्छा करना व्यर्थ ही है] ॥ ११४ ॥

तत्प्रसीदत विधत्त न खेदं दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम् ।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

तदिति। तत्तस्मात्, प्रसीदत प्रसन्नाः स्थ, खेदं क्लेशं, न विधत्त न कुरुत। ममेदं दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्यं, हि। कुतः? अनौपयिकेन अनुपायेन, उपायं विनेत्यर्थः। 'उपायाद्ध्रस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ठक् ह्रस्वत्वं च। तद्दूत्यं विधित्सुभिश्चिकीर्षुभिर्हास्यतैव सुलभा, साध्यं प्रयोजनन्तु न सुलभम्। अनुचितकर्मारम्भोऽनर्थाय भवेन्न फलायेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

इस कारण आपलोग (मेरे ऊपर) प्रसन्न होवें, ('इस नल ने हमारा दूत-कर्म नहीं किया इस कारण अपने मनमें) खेद न करें। क्योंकि यह (दूत-कर्म) मेरे लिए अत्यन्त अनुचित है। अनुचित उस (दूत-कर्मरूपी कार्य) को करनेकी इच्छा करनेवाले आप लोगोंका (जन-समाजमें) उपहास ही सुलभ होगा (दमयन्तीकी प्राप्तिरूप), कार्य सुलभ नहीं होगा ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारिः ।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोलः ॥ ११६ ॥

ईदृशानीति। स बलारिः इन्द्रः, तदानीं नलस्येदृशानि गदितानि वाक्यानि, आकलय्य आकर्ण्य। स्मयमानो मन्दं हसन्। स्वानुगानां यमादीनाम्, आनन-

विलोकने लोलो लोलुपस्सन् । स्ववाक्यानुमोदनार्थमिति भावः । किमपि किञ्चिद्वाक्यं शंसति स्म शशंस ॥ ११६ ॥

उस समय नलके ऐसे (श्लो० १०४–११५) कथनोंको सुनकर अपने अनुगामियों (यमादि तीनों दिक्पालों) का मुख देखते हुए (देखिये, यह नल मनुष्य होकर भी तथा पहले हमलोगोंकी याचना स्वीकार करके भी अब उसे पूरी नहीं कर रहा है, अतः अब आपलोगोंकी इस विषयमें क्या इच्छा है ?, अथवा—यह नल इतनी चतुरतासे बोल रहा है, इस अभिप्रायसे अपने साथियोंका मुख देखते हुए) तथा कुछ मुस्कुराते हुए इन्द्र बोले, (अथवा मुस्कुराते हुए कुछ बोले)— ॥ ११६ ॥

नाभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभवेन ।
लज्जते न रसना तव वाम्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७ ॥

नेति । हे नृपते ! भवता इदम् । सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेधवाक्यम् । रोहिणीरमणवंशभवेन सोमवंश्येनेव नाभ्यधायि । किंत्वसोमवंश्येनेवाभिहितमित्यर्थः । प्रतिश्रुतपरित्यागादिति भावः । कुतः, अर्थिषु विषये स्वयमुरीकृतकाम्या अङ्गीकृतमनोरथपूरणा तव रसना, वाम्यात् प्रातिकूल्यान्न लज्जते । ततो न सोमवंश्य इव प्रतिभासीत्यर्थः ॥ ११७ ॥

"हे राजन् ! चन्द्रवंशोत्पन्न आपने यह (श्लो० १०४–११४) नहीं कहा ? अर्थात् अवश्य कहा । स्वयं (हमलोगोंकी) कामना अर्थात् याचनाको स्वीकार करनेवाली आपकी जिह्वा आपके (हमलोगों) से प्रतिकूल होने (पहले स्वीकार कर फिर बदल जाने) से नहीं लज्जित होती ? अर्थात् उसे अवश्य ही लज्जित होना चाहिए। [चन्द्रवंशोत्पन्न व्यक्ति किसीकी याचनाको अस्वीकार नहीं करता और उसे स्वीकार कर यथावत् पालन भी करता है, आपने तो मानो 'आप चन्द्रवंशोत्पन्न ही नहीं हैं' ऐसी बात कही । अथवा—रोहिणीरमण अर्थात् बैलके वंशमें उत्पन्न (पशु) आपने यह नहीं कहा ? आप पहले स्वीकारकर अब जो अस्वीकार कर रहे हैं, यह पशुके समान कार्य है, पशु भी पहले खाये हुए घास आदिको फिर जुगाली करनेके लिए पेटसे बाहर वमन करता (निकालता) हुआ लज्जित नहीं होता, वैसे ही आप कर रहे हैं । अथवा—रोहिणीरमण (मद्य पीनेवाले बलराम) के वंशमें उत्पन्न आपने यह नहीं कहा ? ठीक है जो मद्य पीनेवालेके वंशमें उत्पन्न व्यक्ति है, पहले यह किसी बातको स्वीकार कर बादमें अस्वीकार करनेमें लज्जित नहीं होता । अतः शुद्ध चन्द्रवंशोत्पन्न आपको ऐसा करना उचित नहीं है] ॥ ११७ ॥

भङ्गुरञ्च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम् ।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो चलति धीर ! तवापि ॥ ११८ ॥

भङ्गुरमिति । हे धीर विद्वन् ! इमं जीवलोकं प्राणिजातम् । भङ्गुरं विनश्वरं,

'भ्रभ्रभासमिदो घुरच्'। वितथं दुःखमयत्वाद्विफलञ्च। कथं वा नावलोकयसि न पश्यसि, न जानासीत्यर्थः। येनाज्ञानेन तवापि धीर्धर्मयशसी। अभंगुरावितथे अपीति भावः। परिहातुं चलति। अहो अस्थिरविषयलौल्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो भवादृशामनुचित इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

हे धीर नल ! तुम इस प्राणि-समूहको विनाशशील (स्वप्नके समान) निष्फल क्यों नहीं देखते हो ? जिससे धर्म और यश (दोनों) को छोड़नेके लिए तुम्हारी बुद्धि चलायमान हो रही है, अहो ! आश्चर्य है। [संसारको विनश्वर एवं स्वप्नके समान असत्य जाननेवाले आपको, धर्म तथा यश दोनोंको तिलाञ्जलि देनेका विचार करना कदापि शोभा नहीं देता। अतः आपको हमारा दूत-कर्म अवश्य करना चाहिए]॥ ११८ ॥

कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

क इति। जगन्मुकुटे जगद्भूषणे, वः कुले प्रार्थकेप्सितमर्थिमनोरथः येन नापूरि न पूरितम्। स कोऽजनि जातः, न कोऽपीत्यर्थः। 'दीपजन—' इत्यादिना कर्तरि लुङि च्चिण्। आदिर्युष्माकं कूटस्थ इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट जातः। कष्ट ! अत्र लोके भवानपि सकलङ्को मा भूत्। अपकीर्तिं मा कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ११९ ॥

आपके, संसारमें मुकुटरूप वंशमें कौन पैदा हुआ, जिसने याचककी अभिलाषा पूरी नहीं की ? अर्थात् सभीने याचकोंकी अभिलाषा पूरी की है। सर्वप्रथम चन्द्र ही कलङ्की (कलङ्कवाला, पक्षा०—मृगचिह्नित) हुआ, कष्ट है ! अब आप भी वह (कलङ्कयुक्त) न होइये। [आपके जिस कार्यसे कुलमें कलङ्क न लगे, ऐसा काम कीजिये। अथवा—आपके कुलमें आदि पुरुष अर्थात् केवल चन्द्रमा ही कलङ्की हुआ दूसरा नहीं, अतः आप हमलोगोंकी याचनाको अस्वीकारकर कलङ्की मत बनिये। अथवा—जब आपके कुलका आदि पुरुष ही कलङ्की है, तब आपको भी हमारी याचनाको पहले स्वीकार करनेके बाद फिर अस्वीकार करनेसे कलङ्की बनना आश्चर्य नहीं है॥ आप हमारी याचनाको अस्वीकृत न करें]॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टिः।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

अथ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति। त्वादृशस्य याचमानमनु अर्थिनं प्रति, याप्यपदृष्टिर्विकृतदर्शनं, या च मुखमुद्रा मौन, या न तुष्टिरसन्तोषश्च, स सकलो विकारः कलङ्कः। शीतभासि चन्द्रे, शशकः परं केवलमङ्कः श्रीवत्सादिवत् चिह्नं, न तु कलङ्क इत्यर्थः ॥ १२० ॥

याचकको देखकर जो दुर्दृष्टि (बुरी निगाहसे देखना), जो मौन और जो सन्तोषाभाव है; वही तुम्हारे जैसे (धर्मात्मा एवं धैर्यशाली पुण्यश्लोक) व्यक्तिके लिए सम्पूर्ण कलङ्क है।

(वस्तुतः) चन्द्रमा (तुम्हारे वंशका आदि प्रवर्तक) में भी कोई कलङ्क नहीं है, (किन्तु वह) केवल शशक (का चिह्न) है। [तुम्हारा वंशप्रवर्तक चन्द्रमा कलङ्की नहीं, किन्तु याचकोंको देखकर जो तुम प्रसन्न दृष्टिसे नहीं देखते, याचना पूरा करनेके लिए स्वीकार करके भी फिर उसे पूरा नहीं करते और जो सन्तुष्ट नहीं होते; यह सब तुम्हारे-जैसे व्यक्तिके लिये कलङ्क है, अतः तुम्हें हमलोगोंके प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए] ॥ १२० ॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथ वा पठितोऽपि ।
इत्थमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥ १२१ ॥

किञ्चेदमर्थिषु ते नास्तिवाद इत्याह—नेति । अक्षराणि पठता शैशवे मातृकाक्षराण्यभ्यस्यता भवता, नकारो निषेधवाची नशब्दो नापाठि किम् । अथवा, पठितोऽपि प्रस्मृतो विस्मृतः । इत्थमर्थिजनस्य संशय एव दोला तया खेलनं क्रीडाम् । नकारश्चकार । अत्रार्थिनामीदृक्संशयासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । स चोक्तसंशयोत्थापित इति सङ्करः ॥ १२१ ॥

अक्षरों (वर्णमाला) को पढ़ते हुए तुमने 'न' अक्षरको नहीं पढ़ा क्या ? अथवा पढ़कर भी भूल गये । इस प्रकार 'न' कारने याचक लोगोंके सन्देहरूपी झूलेकी क्रीडा कर दी । [झूलेमें दोनों ओर दो रस्सियाँ रहती हैं, पर 'यहाँ आपने 'न' अक्षरको नहीं पढ़ा या पढ़कर उसे भूल गये ?' ये दो संदेह ही दो रस्सियाँ हैं, उस प्रकारके झूलेपर 'न'कार मानो क्रीडा कर रहा है ॥ आपने अब तक किसीको याचना करनेपर 'नहीं' नहीं कहा, अतः अब भी हमलोगोंको 'नहीं' मत कीजिये]' ॥ १२१ ॥

अब्रवीत्तमनलः क नलेदं लब्धमुज्झसि यशः शशिकल्पम् ।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्यः ॥ १२२ ॥

अब्रवीदिति । अथानलोऽग्निस्तं नलमब्रवीत् । हे नल ! इदं वक्ष्यमाणं, लब्धं हस्तप्राप्तं, शशिकल्पं चन्द्रप्रतिमं, यशः, क्वोज्झसि कुत्र त्यजसि । किं तद्यशस्तदाह–इह लोके, अन्यस्त्वद्व्यतिरिक्तः, कोऽपि कल्पवृक्षपतिमनन्यार्थिनमित्यर्थः । एनं शतमन्युमिन्द्रं, अर्थिनं नाप । तदेतद्धस्तगतमिन्द्रयाच्यत्वयशो वृथा मा विनाशयेत्यर्थः ॥ १२२ ॥

अग्नि उस नलसे बोले—'हे नल ! चन्द्रमाके समान (अत्यन्त निर्मल) प्राप्त यशको कहाँ छोड़ रहे हो ? इस लोकमें दूसरे किसीने (व्यक्तिने) भी कल्पवृक्षके स्वामी इस इन्द्रको याचक रूपमें नहीं पाया है । [यदि तुम इन्द्रकी याचना पूरी नहीं करोगे तो ये दूसरे किसीसे याचनाकर दमयन्तीके यहाँ दूत-कर्मके लिए भेजेंगे, इस अवस्थामें 'कल्पवृक्षका स्वामी अर्थात् कल्पनामात्रसे दूसरेकी इच्छा पूर्ण करनेवालेका स्वामी / तथा सौ यज्ञोंको करनेवाले, अतः सत्पात्र इन्द्र भी नलसे याचना किये थे' ऐसा निर्मल यश इस

समय जो तुम्हें प्राप्त हो रहा है, वह दूसरेको प्राप्त हो जायेगा; अतः ऐसा (मिलते हुए उत्तम यशका त्याग) करना तुम्हें उचित नहीं। और कदाचित् ये इन्द्र कल्पवृक्षसे ही दमयन्तीको चाहेंगे तो वह अपनी दानशीलतावश तथा अपना स्वामी होनेके कारण इनके लिए दमयन्तीको अवश्य दे देगा, इस अवस्थामें तुम्हें दमयन्ती नहीं मिल सकेगी, इस प्रकार तुम उक्त यशोलाभ तथा दमयन्तीलाभ दोनोंसे हाथ धो बैठोगे। इस कारण भी तुम्हें इनकी याचना पूरी करनी चाहिए। और भी-यदि तुम इनकी याचना पूरी नहीं करोगे, तब शतमन्यु अर्थात् सैकड़ों क्रोधवाले होनेसे ये तुम्हें शाप भी दे देंगे, इस कारण भी इनकी याचना तुम्हें पूरी करनी चाहिए। यहाँ अग्नि भी इन्द्रके साथ कपटपूर्ण व्यवहार कर नलसे कहते हैं कि—'ये इन्द्र कल्पवृक्षके पति हैं अर्थात् कल्पवृक्षसे भी अपना काम पूरा करा सकते हैं तथा सैकड़ों क्रोध करनेवाले हैं, अतः महाक्रोधी होनेसे अपात्र हैं, अतः जिसकी याचना दूसरे भी पूरी कर सकें तथा महाक्रोधी होनेसे जो अपात्र है, उसको दान न देकर जिसको कोई देनेवाला नहीं तथा जो सत्पात्र है, उसको अर्थात् मुझे दान देना चाहिए अर्थात् आप मेरा दूत-कर्म करें]॥ १२२॥

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः।
तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२३॥

नेति। स्वःसदः स्वर्वासिनः। 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप्। तेषां नः सम्बन्धी योऽभिलाषो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिध्या सन्तोषमावहन्, कदापि न व्यहन्यत न विहतः। अद्य, तत्पदे तद्व्यवसिते, तत्सम्पादकाधिकार इत्यर्थः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। त्वदभिषेककृतां त्वां स्थापयतां, नः सम्बन्धी सोऽभिलाषः। असमता असाधारण्यं, स्वसिद्धावनन्यापेक्षत्वमिति यावत्। तन्मदं त्यजतु। अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने स्वयमेव समर्थाः सुरा इत्यहङ्कारं मुञ्चाम इत्यर्थः॥ १२३॥

स्वर्गनिवासी हम लोगोंकी जो अभिलाषा कभी नष्ट नहीं हुई, उसके स्थानपर आपको अभिषिक्त करते हुए हमलोगों की वह अभिलाषा आज असमानता (मेरे समान कोई नहीं है ऐसे) के अभिमानको छोड़ दे। [हमलोगोंकी अभिलाषा आजतक यह समझती थी कि मैं स्वतः पूरी होकर स्वर्ग-निवासी देवताको हर्षित करती हूँ, अत एव मेरे समान कोई नहीं है, ऐसा उसको अभिमान हो गया, किन्तु आज आपसे याचना करनेके कारण उस अभिलाषाको अपना उक्त अभिमान छोड़ देना चाहिए॥ आप हमलोगोंकी अभिलाषा पूरी करें]' १२३

अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप! तमस्त्वाम्।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ॥ १२४॥

अब्रवीदिति। अथ यमः अहृष्टमसन्तुष्टं, तं नलमब्रवीत्। हे वीरसेनकुलदीप!

किमपि यत्तमो मोहोऽन्धकारश्च त्वामभिबुभूषति अभिभवितुमिच्छति । तच्चन्द्रवंशे वसतिः स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम् । न हि चान्द्रस्य तेजसस्तमसाभिभवो युक्त इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

इसके बाद (दमयन्तीकी प्राप्तिमें बाधा आ जानेसे) हर्षरहित उस नलसे यम बोले—"हे वीरसेन वंशके दीपक नल ! तुमको जो कुछ (थोड़ा सा अतर्कनीय) तम (अज्ञान, पक्षान्तरमें—अन्धकार) पराजित करना चाहता है, वह चन्द्रवंशमें रहनेवाले अर्थात् चन्द्रवंशोत्पन्न तुम्हारे लिए योग्य है क्या ? अर्थात् कदापि नहीं । [चन्द्रवंशी राजा लोग प्राण देकर भी याचकोंकी आशा पूरी करते थे, अतः तुम्हें भी हमलोगोंको निराश नहीं करना चाहिए। तथा-दीपकके पास एवं चन्द्रमामें रहनेवालेके पास अन्धकार होना उचित नहीं है, अतः तुम्हें भी अज्ञानमें न पड़कर हमलोगोंकी याचना पूरी करनी चाहिए । अथवा—चन्द्रको तम अर्थात् राहुसे पराजित होनेके समान तुम्हारा ऐसा करना उचित ही है] ॥१२४॥

रोहणः किमपि यः कठिनानां कामधेनुरपि या पशुरेव ।
नैनयोरपि वृथा भवदर्थी हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १२५ ॥

रोहण इति । यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रिः, सोऽपि कठिनानां मध्ये किमपि कठिनः । या कामधेनुः सापि पशुरेव । एनयोः पशुपाषाणयोरपि सम्बन्धी । 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' इतीदंशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये एनादेशः । अर्थी वृथा विफलो नाभवत् । हे वत्स, किमेतद्विधित्सुर्विधातुमिच्छुरसि । हेति विषादे । हा कष्टं पशुपाषाणाभ्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थः ॥ १२५ ॥

जो कठिनों (पक्षान्तरमें—निष्ठुरों) में रोहण (रोहण नामक पर्वत, सुमेरु अथवा रत्नोंका उत्पत्तिस्थान वैदूर्य पर्वत) है, वह कुछ (अत्यन्त कठोर या अत्यन्त निष्ठुर या अत्यन्त कृपण) है, तथा जो कामधेनु है, वह पशु (ज्ञानशून्य, पक्षान्तरमें-मूर्ख ही) है । इन दोनोंके यहाँ भी कोई याचक निराश नहीं हुआ, तो हा ! हे वत्स ! तुम यह क्या करना चाहते हो ? [अत्यन्त निष्ठुर तथा कृपण वैदूर्य या मेरु पर्वत और पशु एवं मूर्ख कामधेनु भी यदि अर्थियोंको निराश नहीं करते तो अत्यन्त कोमल स्वभाववाले तथा विद्वान् तुमको ऐसा करनेकी (याचना पूरी न करनेकी) इच्छा करना उचित नहीं है, 'चूँकि तुम बच्चे हो और बच्चेको सावधान कर देना बड़ोंका धर्म है; अतः हम तुम्हें सावधान कर रहे हैं', यह 'वत्स' शब्दसे ध्वनित होता है] ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क नु धीरः प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः ।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥१२६॥

याचित इति । क नु कुत्र, धीरः सुधीर्याचितः सन् चिरयति विलम्बते । न कुत्रापि विलम्बत इत्यर्थः । कुतः, क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूर्लग्नकः कः, न

कोऽपीत्यर्थः। द्राङ्निमेषमिषेण शीघ्रपक्ष्मपातव्याजेन, घूर्णनेन कनीनिकाभ्रमणेन पूर्णा द्वितयनी नयनद्वन्द्वमेव, दृढनिद्रां मरणं, शंसति। नयनघूर्णनवत्क्षणिकं जीवनमित्यर्थः ॥ १२६ ॥

याचना करनेपर धीर दाता कहाँ विलम्ब करता है ? अर्थात् कहींपर कोई धीर दाता विलम्ब नहीं करता, किन्तु याचना करते ही तुरन्त दे देता है। क्षणमात्र भी जीनेमें कौन मध्यस्थ (जिम्मेदार) है ? अर्थात् किसी व्यक्तिके क्षणमात्र जीनेकी जिम्मेदारी कोई नहीं उठा सकता। शीघ्र निमेष (पलक गिरना) के व्याजसे घूरनेसे परिपूर्ण दोनों नेत्र महानिद्रा अर्थात् मरणको कह रहे हैं। [जितने समयमें निमेष होता है, उतने ही समयमें मरण हो जाता है, अत एव बुद्धिमान्को विना विलम्ब किये याचककी अभिलाषा पूरी करनी चाहिए] ॥ १२६ ॥

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्थिनः विमुखता यदभाजि ।
स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेन ग्लानिरुल्लसति तद्घनसङ्घे ॥ १२७ ॥

अभ्रपुष्पमिति। शीतं शीतलमभ्रपुष्पमुदकम्। 'मेघपुष्पं घनरस' इत्यमरः। तद्घनपुष्पं, तद्वद्दुर्लभं वस्त्विति च गम्यते। दित्सति दातुमिच्छत्यपि। न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थः, घनसङ्घे मेघवृन्दे, अर्थिना याचकेन, स्तोककस्य चातकस्य। 'अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समौ' इत्यमरः। चञ्चुपुटेन सा प्रसिद्धा विमुखता। पक्षिमुखत्वं पराङ्मुखत्वञ्च। अभाजीति यत्। तत्तस्माद्वैमुख्यभजनात्। ग्लानिर्जलभरमन्थरत्वं वैवर्ण्यं चोल्लसति स्फुरति। अत्रार्थिन एव वैमुख्ये दातुरियं ग्लानिः किमुत दातृवैमुख्ये। तस्मात्तादृशस्य तवेदमर्थिवैमुख्यमनुचितमिति भावः ॥ १२७ ॥

चातकके याचक मुखमें (विलम्ब होनेसे) जो विमुखता (पक्षीके मुखका भाव) हुई, उस कारण ठंडा जल देनेवाले मेघ-समूहमें मलिनता दिखलाई पड़ती है। पक्षान्तरमें—अल्पके याचकने जो विमुखता (निराशता) धारण की, इस कारणसे दुर्लभ आकाश-पुष्प (वर्षाजल) देनेकी इच्छा करते हुए मेघ समूहमें कालिमा अर्थात् जन्मभरके लिए कलङ्क हो गया है। [तुच्छ तिर्यक् योनिमें उत्पन्न चातकके याचना करनेपर थोड़ा विलम्बकर दुर्लभ आकाश-पुष्प (पक्षा० —ठंडा जल) देनेके इच्छुक मेघ-समूहमें भी जब कालिमारूप कलङ्क हो गया, तब हमलोग-जैसे सत्पात्रोंको पहले देनेको कहकर फिर निराश करनेपर तुम्हें बड़ा कलङ्क लगेगा, अतः शीघ्र ही हमलोगोंकी याचना तुम्हें पूरी कर देनी चाहिए] ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य ।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

ऊचिवानिति। पाशपाणिर्वरुणोऽपि, पाणिमुदस्य उद्यम्य, एनं नलम्, उचितं युक्तम्, अक्षरं वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान्। यदुक्तं तदाह—कीर्तिरिति। दाननीराणां झरः

दानजलप्रवाहः, स एव मौक्तिकहारो यस्यास्तथोक्ता कीर्तिरेव भवतां युष्माकं, प्रियदाराः प्रियकलत्रम् । 'पुं भूम्नि दाराः' इत्यमरः । एतेन भार्याया अपि कीर्तिः प्रियतमेति भावः । अतो दमयन्तीलोभान्न कीर्तिं जहीत्यर्थः । अत्र रूपकालङ्कारः ॥ १२८ ॥

हाथमें पाश धारण करनेवाले अर्थात् वरुण भी हाथ उठाकर इस नलसे उचित बात कहे-'आप (-जैसे राजा, पाठान्तरमें—राजाओं) की दानमें दिये जानेवाले सङ्कल्पजल-प्रवाहरूपी मुक्ताहारयुक्त कीर्त्ति ही प्रिय स्त्री है । [अतः तुम्हें दमयन्तीको वरण करनेकी अभिलाषा छोड़कर हमलोगोंका दूत-कर्म करके कीर्त्ति (-रूपा उत्तम स्त्री) को प्राप्त करना चाहिए]॥ १२८ ॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत् ।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥ १२९ ॥

चर्मेति । यस्य कर्णस्य चर्म त्वक् नभेद्यमभेद्यम् । नञर्थस्य न शब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः । वर्म कवचं किल । यस्य दधीचेरस्थि च वज्रमयं किल । किलेति प्रसिद्धौ । तौ महासत्त्वशालिनौ कर्णदधीची । इह जगति, स्थायिनौ न चेत् । तत्तर्हि, हे धीर धीमन् ! धर्मं नावधीरय नावमन्यस्व । कर्णादीनामस्थिरत्वम् । तद्धर्मस्य च स्थैर्यं दृष्ट्वा त्वमपि तथैवाचरेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

जिस (कर्ण) का चमड़ा अभेद्य कवच होगा तथा जिस (दधीचि) की अभेद्य हड्डी वज्रमय थी, वे कर्ण तथा दधीचि इस संसारमें स्थिर नहीं (क्रमशः होंगे और हुए), इस कारणसे हे धीर ! (बुद्धिमान् नल !) धर्मका त्याग मत करो । [द्वापर युगमें होनेवाले राजा कर्ण अभेद्य कवच बनानेके लिए अपने शरीरका चमड़ा इन्द्रको दे देंगे, तथा सत्य युगमें हुए महर्षि दधीचिने वृत्रासुरको मारनेके लिए इन्द्रके याचना करनेपर वज्र बनानेके लिये अपनी हड्डी दे दी थी, वे दोनों (कर्ण तथा दधीचि) इस संसारमें क्रमशः स्थिर नहीं रहेंगे और न रहे । यहाँ कर्ण तथा दधीचिको क्रमशः द्वापर तथा सत्य युगमें होना मानकर उक्त व्याख्या की गयी है । किसी-किसी व्याख्याकर्ताका कल्प-भेद मानकर कर्ण तथा दधीचि—दोनोंको ही भूतकालके अभिप्रायसे ही एक साथ वर्णन करना विरुद्ध नहीं है । इस व्याख्यामें दोनोंको मृत्युने नहीं छोड़ा, अतः तुम्हें भी हमलोगोंकी याचना पूरीकर धर्मार्जन करना चाहिए । यह अर्थ समझना चाहिए]॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ ।
आश्रुतावितथतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥ १३० ॥

अद्येति । येन सत्यसन्धत्वपाशेन, निबद्धौ बलिर्वैरोचनिः स च विन्ध्यश्च तौ । अद्य यावदेतद्दिनपर्यन्तं, विचलितुमपि प्रभू समर्थौ न स्तः । आश्रुतस्य प्रतिज्ञा-

तार्थस्य अवितथता सत्यता, सैव गुणः उत्कृष्टधर्मः स एव पाशो बन्धः, त्वादृशेन विदुषा स दुरपासः दुरुच्छेदः। बलिविन्ध्यादिदृष्टान्तेन यावज्जीवनिर्बन्धेनापि प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहः कार्य इत्यर्थः॥ १३०॥

दैत्यराज वलि तथा विन्ध्य पर्वत जिस (सत्यप्रतिज्ञत्वरूप गुणपाश) से बँधे हुए आज तक भी विचलित होने (अपनी स्वीकृत बातको झूठा करने) में समर्थ नहीं हुए अर्थात् जिस बातको स्वीकृत किये, उसका आजतक पालन कर रहे हैं; तब तुम्हारे-जैसे ('आस्थित' पाठमें-वैसे सुप्रसिद्ध) विद्वान्को उस सत्यप्रतिज्ञत्व-गुण-पाशका त्याग नहीं करना चाहिये। [जब अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभाववाले दैत्योंका राजा बलि तथा जड़ एवं कठोरतम विन्ध्य पर्वत भी स्वीकार की हुई अपनी बातपर आजतक डटे हुए हैं (उसे झूठा नहीं करते, तब आप भी हमलोगोंके दूत-कर्मको स्वीकृतकर 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' नीतिको स्मरणकर अब उससे पराङ्मुख मत होइये॥ पहले राजा वलि वामन भगवान्को तीन पैर भूमि दानकर उनसे वचनबद्ध होकर आजतक पाताललोकमें रहते हैं, तथा सुमेरु-को जीतनेकी इच्छासे बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वतको देख सूर्य-मार्ग रुकनेकी आशङ्कासे युक्त देवोंकी प्रार्थनासे दक्षिण दिशाको जाते हुए अपने गुरु अगस्त्य मुनिको साष्टाङ्ग दण्डवत् करनेवाला विन्ध्यपर्वत उनके कहनेसे आजतक वैसे ही पड़ा हुआ है, ये दोनों पौराणिकी कथायें जाननी चाहिये]॥ १३०॥

प्रेयसी जितसुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम्॥ १३१॥

प्रेयसीति। प्रेयसी प्रियतमा, जिता सुधांशुमुखानां चन्द्रादीनां श्रीर्यया सा। अन्यत्र, जितसुधांशुमुखश्रीर्यस्याः सा तथोक्ता। या कीर्तिर्दिगन्तगतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति। तामपि कीर्तिं भङ्गिसङ्गमः भङ्गुरसङ्गतिर्यस्या-स्तस्याः कुरङ्गदृशोऽर्थे तदर्थम्। तादर्थ्येऽव्ययीभावः। कुत्सितोऽर्थः कदर्थः। 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः, तं करोति कदर्थयति व्यर्थयतीत्यर्थः। को नामास्थिरार्थे स्थिरं जह्यादिति भावः॥ १३१॥

चन्द्रमा आदिकी शोभाको जीतनेवाली (पक्षान्तरमें—चन्द्रमुखी अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभायुक्त मुखवाली स्त्रीकी शोभाको जीतनेवाली) जो परमप्रिया (कीर्तिरूपिणी स्त्री) दिशाओंके अन्त अर्थात् बहुत दूरतक जाकर भी (पतिको) नहीं छोड़ती, उस कीर्ति (रूपिणी स्त्री) को भङ्गुर (विनाशशील) सहवासवाली मृगनयनी (पक्षान्तरमें—भङ्गुर साथवाली लोकमोहिनी होनेसे निन्दित दृष्टिवाली ऐसी स्त्री) के लिये कौन (पुरुष) पीडित करेगा ? अर्थात् कोई नहीं। [कीर्तिरूपिणी स्त्री श्वेत होनेसे चन्द्र, तारा आदिको, पक्षा०—चन्द्रमुखी स्त्रीको भी जीतनेवाली है तथा दूरतम स्थानमें जाकर भी पतिका सहवास

नहीं छोड़ती; अतः परमसाध्वी है। इसके विपरीत चन्द्रमुखी मृगनयनी स्त्री थोड़ी दूर जानेपर साथ छोड़ देती है। अथवा—कीर्ति-भिन्न स्त्रीकी दृष्टि अन्यजनमोहिनी होनेसे निन्दनीय है, अतः यह स्त्री वैसी साध्वी नहीं है, इस कारण परमसाध्वी स्त्रीको सामान्य एवं अनित्य सङ्गवाली सपत्नीके लिये कोई नहीं छोड़ता। साथ ही—त्रिकालदर्शी यम भविष्यमें कलिके प्रभावसे दमयन्तीका साथ छूटनेकी ओर भी सङ्केतकर कह रहे हैं कि वियुक्त होनेवाली दमयन्तीके लिये स्थायी रूपसे मिलनेवाली कीर्तिका त्याग मत करो]॥१३१॥

यान् [1]वरं प्रति परेऽर्थयितारस्तेपि यं वयमहो स पुनस्त्वाम् ।
नैव नः खलु मनोरथमात्रं शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभिः ॥१३२॥

यानिति। परे अन्ये जनाः, वरं प्रति इष्टलाभमुद्दिश्य, यानस्मानर्थयितारः। ताच्छील्ये तृन्। 'न लोक'—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया। ते वयमपि यं त्वामर्थयितारः स्मः। अहो, स त्वं पुनर्नोऽस्माकं, मनोरथमात्रं मनोरथमेव नैव पूरय। किंतु, हे शूर ! यशोभिर्दिशोऽपि पूरय खलु। तस्मादस्मन्मनोरथपूरणेन ते दिगन्तविश्रान्ता कीर्तिर्भविष्यति। अन्यथा, अपकीर्तिरपि तादृशी भविष्यतीति भावः॥

दूसरेलोग भी जिन (हमलोगों) से अभीष्ट वरकी याचना करते हैं (पाठभेदसे—दूसरेलोग जिनसे केवल याचना करते हैं अर्थात् देते कुछ भी नहीं), वे हमलोग तुमसे याचना करते हैं, यह आश्चर्य है। फिर वह तुम हे (दान-) शूर ! केवल हमलोगोंके मनोरथको ही पूर्ण मत करो, किन्तु (सबलोगोंको वर देनेवाले इन्द्रादि दिक्पाल भी नलके यहाँ याचक बने, ऐसे) यशसे दिशाओं को भी पूर्ण कर दो। [हमलोगोंकी याचना पूर्ण करनेसे तुम्हारा यश सब दिशाओंमें फैल जायेगा, अतः तुम्हें ऐसा अवसर नहीं चूकना चाहिये]॥ १३२ ॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः ।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

अर्थितामिति। अद्य सुरशाखी कल्पवृक्षः सुरेष्वस्मासु त्वयि विषये, अर्थितां गतेषु सत्सु म्लाना अर्थ्यभावक्षीणा, दानजा दानजन्या, निजा उरुर्महती यशःश्रीः कीर्तिसम्पद्यस्य सः, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु शुभ्रं, विधत्ताम्। न तु वितरणेन यशसा। स्वार्थिनामन्यार्थित्वेन तन्निदानदानकथास्तमियादिति भावः॥ १३३ ॥

हमलोगोंके तुम्हारे यहाँ याचक होनेपर, मलिन हो गयी है दानजन्य विशालकीर्ति-शोभा जिसकी, ऐसा कल्पवृक्ष आज आकाशको केवल पुष्पोंसे ही श्वेत करे। [पहले सब

---

१. 'परम्' इति पाठान्तरम्।

लोगोंकी याचना पूरी करनेसे कल्पवृक्षके यश तथा पुष्प दोनोंसे ही आकाशमण्डल श्वेत होता था, किन्तु अब दिक्पाल हमलोगोंके तुम्हारे यहाँ याचक हो जानेपर कल्पवृक्षकी दानजन्य कीर्ति आजसे नहीं रह जायेगी, अतः वह केवल अपने पुष्पोंसे ही आकाश-मण्डलको श्वेत करेगा। हमारी याचना पूरी करके आजसे तुम कल्पवृक्षसे भी बड़ा दानी बन जाओगे] ॥ १३३ ॥

प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टदः ।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥१३४॥

अत्र यात्रावैकल्यशङ्कया ते सङ्कोचस्तावदनाशङ्कनीय एवेत्याह—प्रवसत इति । हे नल ! प्रवसते प्रयाणं कुर्वते, भरतः शाकुन्तलेयः, अर्जुनो हैहयः, वैन्यः पृथुः, तैस्तुल्यं तद्वत् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' । स्मृत्या धृतः स्मृतिधृतः, स्मर्यमाणोऽप्यभीष्टदः इष्टार्थप्रदस्त्वं स्वगमनस्य स्वयात्रायाः अफलतां वैफल्यं शङ्कसे यदि, तत्तर्हि, लोके निखिलं सर्वमपि मङ्गलं यात्राकालिकं त्वत्स्मरणलक्षणं मङ्गलाचरणमफलं खलु । यथा च—'वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनञ्च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च । एतान्नृपान्यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रमप्रमाणं स्यादित्यर्थः । तथा च यत्स्मरणादन्येषामर्थसिद्धिस्तस्य तथाऽर्थसिद्धौ कः सन्देह इति भावः ॥ १३४ ॥

हे नल ! भरत (दुष्यन्तपुत्र), अर्जुन (सहस्रार्जुन) और वैन्य (राजा पृथु) के समान स्मरण करनेपर यात्रा करते हुए व्यक्तिके अभीष्टको देनेवाले तुम यदि अपने जानेकी निष्फलताका सन्देह करते हो, तब तो वह सम्पूर्ण मङ्गल निश्चित ही निष्फल हो जायेगा। [यात्रा करते समय भरत आदिके समान तुम्हारे नामका स्मरणमात्र करनेसे यात्रा करनेवाले व्यक्तिका मनोरथ पूर्ण हो जाता है, अतः साक्षात् मङ्गलस्वरूप तुम्हारी ही यात्रा यदि निष्फल हो जायेगी तब तो अन्य लोगोंके लिये उक्त मङ्गलकारक वचन भी निष्फल हो जायेगा, अतः तुम्हें हमलोगोंके दूत-कर्म करनेमें निष्फल होनेकी शङ्का कदापि नहीं करनी चाहिये] ॥ १३४ ॥

[1]इष्टं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्लादिनी
धर्मार्थी सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम् ।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशनाद्
द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥ १३५ ॥

---

१. 'इष्टिम्' इति पाठान्तरम् । 'तिलक जीवात्वोस्तु 'इष्टिम्' इत्येव पाठोऽङ्गीकृतः' इति म. म. शिवदत्तोक्तिश्चिन्त्या, जीवातौ 'इष्टम्' इत्येव पाठमङ्गीकृत्य व्याख्यानदर्शनात् ।

इष्टमिति । अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छां, यागञ्च प्रति । 'इष्टिर्यागेच्छयोः' इत्यमरः । यजेरिषेश्च स्त्रियां क्तिन् । 'वचि स्वपि—'इत्यादिना यजेः सम्प्रसारणम् । 'व्रश्च-' इत्यादिना षत्वम् । इषेः क्तिन्प्रत्ययापवाद इति काशिकायाम् । तथा प्रयोगप्राबल्यात् साधुत्वं द्रष्टव्यम् । स्वः स्वर्गम्, अन्यत्र स्वरैरुदात्तादिभिराह्लादिनी धर्मोऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं च यस्याः सा धर्मार्था या प्रतिश्रुतिः । जीविताविधि किमप्यधिकं वेति श्लोकोक्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, तां प्रतिश्रुतिं श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेदप्रतिनिधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः । अन्विताख्यापदां सृज । सत्यत्वेन श्रुतिप्रतिनिधीकृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्थनामाक्षरां कुरु । सत्यप्रतिज्ञो भवेत्यर्थः । अस्य फलमाशीर्मुखेनाह—त्वत्कीर्तिरि'ति । त्वत्कीर्तिः पुनस्त्वद्यशस्तु, त्रिभुवन भुवनत्रयं, समाहारे-द्विगुरेकवचनम्, पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम् । पुनती पावयन्ती । पुनातेः शतरि ङीप् । द्रव्याणां नीलपीतादिद्रव्याणां, शुभ्रः शुक्लगुणः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः । तेनाद्वयादेशनादभेदापादनाच्छितिपीतादिनामभिर्वाचकपदैरन्वयं वाच्यत्वलक्षणं सम्बन्धं, लुम्पतु निवर्तयतु । अर्थिमनोरथपूर्त्या कीर्तिं सम्पादयेत्यर्थः । अत्र नीलादीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कीर्तिगुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात् ॥ १२५ ॥

हमलोगोंके मनोरथ (पक्षान्तरमें—यज्ञ) के प्रति मधुर स्वरसे आह्लादित करनेवाली (अथवा—स्वर्गके समान आह्लादित करनेवाली, अथवा—अकारादिरूप स्वरवर्ण (अ इ उ ऋ क……) से आह्लादित करनेवाली; पक्षान्तरमें—उदात्त आदि स्वरों से आह्लादित करनेवाली, पाठभेदसे—देवताओंको आह्लादित करनेवाली) जो धर्मार्थ तुम्हारी प्रतिश्रुति (प्रत्युत्तर, पक्षान्तरमें—श्रुति अर्थात् वेदकी प्रतिनिधि वाणी) हुई; उसे श्रुति (वेद) का प्रतिभट अर्थात् प्रतिद्वन्दी (वेदतुल्य) बनाकर सार्थक करो । तुम्हारी कही हुई वेदान्त का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति, श्रवण-मनन-आचरणादि द्वारा) तीनों लोकों (पक्षान्तरमें—त्रिभु+वन अर्थात् सत्त्व आदि तीनो गुणोंसे उत्पन्न+अत्यन्त गहन=संसार) को निवृत्तिके द्वारा पवित्र करती हुई निर्मलता (पक्षान्तरमें—दो-हीन अद्वैत ब्रह्म) के विस्तार (पक्षान्तरमें—उपदेश) से द्रव्यों (सांसारिक पदार्थों) के मेचक (कपोतकण्ठवत् वर्णविशेष), पीला, लाल तथा हरा इनके सम्बन्ध या नामको नष्ट करो । [हमलोगोंके मनोरथके प्रति कहे हुए मधुर स्वरसे आह्लादित करनेवाले धर्मार्थ अपने प्रत्युत्तरको वेदतुल्य सार्थक कीजिये तथा इससे संसारको पवित्र करनेवाली फैलती हुई एकमात्र निर्मल कीर्तिसे समस्त वस्तुओंके कर्बुर, पीला, लाल और हरा—इन रंगोंको नष्ट कीजिये अर्थात् अपनी कीर्तिसे संसारकी सभी वस्तुओंको श्वेत वर्णकी बनाइये । जो आपकी प्रतिश्रुति है, उसे श्रुति (वेद-वाक्य) के प्रतिभट करना उचित ही है। वेदवाक्य भी यज्ञके उद्देश्यसे कहे जाते हैं, उस यज्ञके द्वारा वे देवोंको आह्लादित करनेवाले होते हैं, अथवा—उदात्तादि स्वरोंसे देवताओं तथा श्रोताओंको आह्लादित करनेवाले होते हैं । वह श्रुति (वेद) सत्त्वादि गुणोंसे उत्पन्न एवं वनके समान

अतिगहन संसारको पवित्र करती है तथा सर्वदोषवर्जित अद्वैत ब्रह्मका 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्योंका प्रतिपादन करती हुई 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां......' इत्यादि श्रुत्युक्त मायाका नाश करती है॥ तुमने पहले हमलोगोंसे याचना पूरी करनेका जो वचन कहा है, उसे वेदवाक्यके समान सत्यकर अपनी शुभ्र कीर्तिको संसारमें फैलावो]॥

यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं
स: च्छायातनय: सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति ।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने
साहस्रैरपि पङ्गुरंघ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥ १३६ ॥

यमिति । यं शनैश्चरं, सहस्रं पादाः रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य सः, सहस्रपात् सूर्यः। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। 'सङ्ख्यासु पूर्वस्य' इति समासान्तलोपः। प्रासूत प्रसूतवान्, सः छायातनयः शनैश्चरः। 'मन्दश्छायासुतः शनिः' इत्यमरशेषः। कथं पादेन खञ्जो विकलः सन्। 'येनाङ्गविकार' इति तृतीया। उदभवदुत्पन्नः ? सुतः पितुः सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति खलु। एतस्य प्रश्नस्याद्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः सहस्रसङ्ख्यैरपि। 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः। अङ्घ्रिभिः पङ्गुः खञ्जः, पूर्ववत्तृतीया। अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् सूर्यः नोऽस्माकमुत्तरं समजनि सञ्जातः। जनेः कर्तरि लुङ्। 'दीपजन—' इत्यादिना जनेश्चिण्। चिणो लुक्। अत्रार्कस्यापङ्गोः पङ्गुत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। तद्धेतुत्वञ्च शनैश्चरपङ्गुत्वस्येत्युत्प्रेक्षा इति तयोः सङ्करः॥ १३६॥

जिसको सहस्रपाद (सहस्र पैरोंवाला, पक्षान्तरमें—सहस्र किरणोंवाला सूर्य) ने उत्पन्न किया, वह छाया-पुत्र (शनिश्चर) पैरसे लंगड़ा ; कैसे हुआ ?, क्योंकि पुत्र पिताके सदृश होता है। हमलोगोंको इस (सन्देह) का उत्तर आज मिला कि तुम्हारे तेजोंको सहस्र पैरों (पक्षान्तरमें—किरणों) से भी लांघनेमें सूर्य पङ्गु (लंगड़ा अर्थात् असमर्थ) हो गया. है। [तुम्हारे तेजोंको सहस्र पैरों (पक्षा०—किरणों) से लांघनेके लिये प्रतिज्ञा करके भी सूर्य अपनी प्रतिज्ञाको पूरी नहीं कर सकता, परन्तु आपने अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण किया, अतः सूर्यके तेजसे भी आपका तेज अधिक है]'॥ १३६॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार ।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः संभृतानन्दमूचे
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥ १३७ ॥

इतीति। क्षितीशो नलः, त्रिदशपरिषदः सुरसङ्घस्य इत्येवंरूपाश्चाटुगर्भाः प्रिय-

प्रायास्ता गिर आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः सन्नपि 'लषपत-'इत्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः। अत एव 'न लोक-'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् मधुपिपासुवद्द्वितीयासमासः। प्रसभविनिहितं बलादारोपितं दूत्यमेव भारं बभार। अस्मिन्नले, अङ्गीकारं गते सत्यमरपरिवृढो देवेन्द्रः। हे नरेन्द्र ! यत्र कुत्रापि, अन्तर्धिसिद्धेः अन्तर्धानशक्तेरनुविहितभवच्चित्तता अनुसृतत्वन्मनस्कता, भूयात् भवच्चितानुसारेण सर्वत्र तवान्तर्भावशक्तिरस्तु इति सम्भृतानन्दं सहर्षमूचे। तिरस्करिणीविद्यां प्रादादित्यर्थः॥ १३७॥

भूमिपति नल दमयन्तीका कामुक होते हुए भी इस प्रकार (श्लो० ११७—१३६) चाटु (प्रिय भाषण अर्थात् खुशामदी) से युक्त, देव-समूहके उन वचनोंको सुनकर बलात् रखे हुए दूत-कर्मरूप भारको ग्रहण किया (देवोंके दूत्यकर्मको दुःखसे स्वीकृत किया)। इसे नलके स्वीकार करनेपर देवराज इन्द्रने अत्यन्त आनन्दपूर्वक कहा कि—'अन्तर्धान होनेकी सिद्धि जहां-तहां तुम्हारी इच्छाके अनुसार होवे अर्थात् तुम जहां अन्तर्द्धान होना चाहो वहां अन्तर्धान हो जावो और जहां प्रत्यक्ष होना चाहो वहां प्रत्यक्ष हो जावो'॥१३७॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः॥ १३८॥

श्रीहर्षमित्यादि। सुगमम्। श्रीमत्याः विजयप्रशस्तेः ग्रन्थविशेषस्य रचनातातस्य निर्माणकर्तुरित्यर्थः॥ १३८॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने पञ्चमः सर्गः समाप्तः॥ ५॥
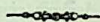
कवीश्वरसमूहके……किया, उसके रचित 'विजयप्रशस्ति' नामक ग्रन्थका सहोदर ………यह पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ। शेष अर्थ चतुर्थ सर्गवत् जानें॥ १३८॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित'का पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ॥ ५॥
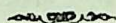
इति साहित्य-व्याकरणाचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कॉलर-मिश्रोपनामक-पण्डित-श्रीहरगोविन्दशास्त्रिकृत'मणिप्रभा'-व्याख्यायां चतुर्थपञ्चमसर्गौ समाप्तौ।
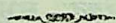
षष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानः ।
स भीमभूमीपतिराजधानीं लक्षीचकाराथ रयस्यदस्य ॥ १ ॥

दूत्यायेति। अथ दूत्याङ्गीकारानन्तरं, द्विषां निषेद्धा निवारयिता, निषधानां जनपदानां, प्रधानः मुख्याधिपतिरित्यर्थः । स नलः दैत्यारिपतेः देवेन्द्रस्य, दूतकर्मणे । 'दूतस्य भावकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः । प्रवृत्त उद्युक्तः सन्, स रयस्यदस्य रथवेगस्य, भीमभूमीपतिराजधानीं कुण्डिननगरीं, लक्षीचकार लक्ष्यमकरोत् । गमनं चकारेत्यर्थः॥

अनन्तर शत्रुओंको निवारण करनेमें समर्थ और देवराज इन्द्रके दूत-कर्म करनेके लिये प्रवृत्त उस निषधराज नलने भीम राजाकी राजधानी (कुण्डिनपुरी) को रथवेगका लक्ष्य बनाया अर्थात् कुण्डिनपुरीकी ओर रथको बढ़ाया ॥ १ ॥

भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः ।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः ॥ २ ॥

भैम्येति । अधीशो मनोनियमनसमर्थः । अत एव, दूतधर्मे दूतकृत्ये, स्थिरधीरचलबुद्धिः, स नलः, भैम्या समं सह । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः । वियोगम्, और्वशेयः उर्वशीपुत्रो मुनिरगस्त्यः 'और्वशेयः कुम्भयोनिरगस्त्यो विन्ध्यकुट्टनः' इति हलायुधः। पयोधिपाने दुर्वारम्, उर्व्या अपत्यमौर्वो वरुणभयान्मातृगुप्त इति स्वामी। तमौर्वं बडवानलमिव अन्तरायं नाजगणदन्तरायत्वेन नामन्यत । भैमीवियोगमपि विषह्य प्रतिज्ञाभङ्गभयात् दूत्यमेव दृढतरमवलम्बितवानित्यर्थः । अन्तरायविशेषणमुभयत्रापि योजनीयम् ॥ २ ॥

स्थिरबुद्धि या वशी वह राजा नल, उर्वशी-पुत्र (अगस्त्य मुनि) समुद्रपान करनेमें दुर्वार वडवाग्निको जिस प्रकार नहीं गिने (उसकी चिन्ता नहीं किये), उसी प्रकार दूतधर्ममें (होनेवाले विकारादि सात्त्विक भावरूप) दुर्वार दमयन्तीके विरहको नहीं गिने । [इन्द्रादिके दूतकर्म करनेपर मेरा दमयन्तीसे सदा के लिये विरह हो जायेगा एवं उसे देखने पर होनेवाले सात्त्विक विकार आदि भावोंको रोकना कष्टसाध्य होगा, इसकी नलने कोई चिन्ता नहीं की । अथ च—उर्वशी ('उरु अश्नाति' इस विग्रहसे बहुत खानेवाली) के पुत्र अगस्त्य मुनिको भी दुर्वार वडवाग्निकी विना चिन्ता किये विशाल समुद्रको खाना अर्थात् पीना उचित ही है] ॥ २ ॥

नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवस्ते ।
तदध्ववीक्षार्थमिवानिमेषा देशस्य तस्याभरणीबभूवुः ॥ ३ ॥

नलेति । ते इन्द्रादयो देवाः, नल एव प्रणाली जलनिर्गममार्गः, तया मिलत्

प्रवहत्, अम्बुजाक्षीसंवादपीयूषं दमयन्तीसंवादामृतं, पिपासवः पातुमिच्छवः सन्तः, मधुपिपासुवत् द्वितीयासमासः । तदध्ववीक्षार्थं नलमार्गप्रतीक्षार्थमिव अनिमेषाः सन्तः इत्युत्प्रेक्षा । तस्य देशस्य नलनिर्गमनप्रदेशस्याभरणीबभूवुः । तदागमनपर्यन्तं तत्रैव तस्थुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

नलरूप नालेसे आनेवाले कमलनयनी दमयन्तीका संवाद (रहस्यकथा) रूप अमृतको पीनेके इच्छुक तथा मानो नलके (आनेकी प्रतीक्षामें उनके मार्गको एकटक) देखने के लिये निमेषरहित वे इन्द्रादि देव उस स्थानके आभरण बन गये । [दमयन्तीके यहांसे नल क्या संवाद लाते हैं ? यह सुननेके इच्छुक वे इन्द्रादि चारो देव उनके आगमन-मार्ग को ऊपर मुख किये एकटक देखते हुए वहीं ठहर गये] ॥ ३ ॥

तां कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावतीं सः ।
मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥ ४ ॥

तामिति । तस्यायं तदीयः नलीयः, स रथः, तां कुण्डिनमिति यदाख्यापदं नामपदं, तन्मात्रेण गुप्तां छन्नाम्, अमरावतीमिन्द्रराजधानीम्, तत्कल्पामित्यर्थः । भूमेरिन्द्रस्य भीमभूपतेः, पुरं, मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन आससाद प्राप ॥ ४ ॥

उस नलका रथ, जिस प्रकार मनोरथ (मनरूपी रथ, अथवा-अभिलाष) सिद्धिको प्राप्त करता है, उस प्रकार (पृथ्वीके इन्द्र भीम) की 'कुण्डिनपुर' नामसे गुप्त (या सुरक्षित) अमरावतीको क्षणमात्रमें प्राप्त किया । [अथवा—वस्तुतः में राजा भीमकी वह राजधानी कुण्डिनपुरी नहीं थी, किन्तु अमरावती अर्थात् इन्द्रकी राजधानी थी और नाममात्रसे गुप्त होनेसे भिन्न प्रतीत होती थी ॥ इससे नलके रथका वेगातिशय तथा दूत-कर्ममें उनकी अधिक तत्परता और कुण्डिनपुरीकी शोभा-सम्पत्तिकी अधिकता व्यक्त होती है] ॥ ४ ॥

भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम् ।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः ॥ ५ ॥

भैमीति ॥ नृपो नलः, इयं भैमीपदस्पर्शेन कृतार्थरथ्या सफलमार्गा, सा श्रूयमाणा पुरी कुण्डिनपुरीत्युत्कलिकया उत्कण्ठया, आकुलः क्षुभितः सन् । क्षणमीक्षणाभ्यां, तां पुरीं, निपीय सतृष्णं दृष्ट्वा, सुरैः क्षताशः भिन्नाशः सन् भृशं पुनिशश्वास॥५॥

'दमयन्तीके चरणोंके स्पर्शसे कृतार्थ मार्गोंवाली वही यह नगरी है' इस उत्कण्ठासे व्याकुल (क्षुब्ध अथवा व्याप्त) राजा नल उस नगरीको क्षणमात्र अर्थात् थोड़ी देर देखकर लम्बा श्वास लेने लगे, क्योंकि देवोंने उनकी आशा नष्ट कर दी थी (अथवा—...देखकर निश्वास लेने लगे, क्योंकि देवोंने उनकी आशा अत्यन्त (बिल्कुल ही) नष्ट कर दी थी । [पहले तो दमयन्तीके सम्बन्धसे युक्त पुरीका स्मरणकर नलको उत्कण्ठा हुई, किन्तु अपने दूत-कर्म का स्मरणकर दमयन्तीके साथ वहां विचरण आदि करनेकी आशा नष्ट हो जानेसे उन्होंने दीर्घ श्वास लिया] ॥ ५ ॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत्पक्ष्मभिरस्य चक्षुः ।
अन्यत्पुनः कंप्रमपि स्फुरन्तं तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम् ॥ ६ ॥

अथैवं विद्यमानस्य तस्येष्टसिद्धिसूचकं दक्षिणाक्षिस्पन्दनं जातमित्याह—स्विद्यदिति । अस्य नलस्य, वामं चक्षुः, प्रमोदाश्रुलवेन आनन्दबाष्पकणेन, स्विद्यत् स्विन्नं सत्, पक्ष्मभिः उन्मिषद्भिरिति शेषः । रोमाञ्चभृद्रोमाञ्चितं सत्, तस्याः पुरः नगर्याः, स्फुरन्तं प्रकाशमानं, नवोपभोगं अपूर्वदर्शनमाद्यसङ्गमञ्च प्राप । अन्यत् पुनर्दक्षिणं तु कम्प्रमपि कम्प्रञ्च सत् तं प्राप । वामाक्ष्णः स्वेदरोमाञ्चावेव । दक्षिणस्य तु वेपथुरप्यधिकः सात्त्विकः संवृत्त इत्यर्थः । प्रथमसङ्गमे कम्पस्वेदरोमाञ्चादयो जायन्ते । पुरुषस्य दक्षिणाक्षिस्पन्दनं शुभाय भवतीति निमित्तवेदिनः । अत्रानन्दाश्रुपक्ष्मोत्क्षेपाक्षिस्पन्देषु स्वेदादिसात्त्विकरूपणाद्रूपकम् । तदुल्लासितनवोपभोगव्यवहारसमारोपात् पुरीचक्षुषोः स्त्रीपुंसत्वप्रतीतेः रूपकसङ्कीर्णा समासोक्तिरलङ्कारः ॥६॥

(दमयन्तीकी नगरीको देखनेसे उत्पन्न) हर्षसे उत्पन्न थोड़ी आंसूसे 'स्वेद' नामक सात्त्विक भावको, तथा पक्ष्म (पपनी–बरौनी) के द्वारा 'रोमाञ्च' नामक सात्त्विक भावको धारण करता हुआ नलका बांया नेत्रने, और फड़कनेसे 'कम्प' नामक सात्त्विक भावको धारण करता हुआ दाहिना नेत्रने उस नगरी ('कुण्डिनपुरी',–पक्षा० तद्रूप नायिका) के साथ नये उपभोगको किया । [नव–नायिकाके साथ उपभोग करनेसे 'स्वेद' रोमाञ्च तथा कम्प' नामके सात्त्विक भाव होते हैं । यहां नगरीको नायिका तथा नलके नेत्रोंको नायक जानना चाहिये । पुरुषका बांया नेत्र बरौनियोंमें आंसूसे युक्त हो तथा दाहिना नेत्र फड़के तो वह स्त्री–लाभ–सूचक शुभ शकुन होता है, ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका सिद्धान्त है, अतः उक्त शकुन द्वारा भविष्यमें नलको ही दमयन्ती पतिरूपमें वरण करेगी, ऐसा सूचित हुआ । अथवा–नलका बांया नेत्रने बरौनियोंसे 'रोमाञ्च' को तथा हर्षजन्य आँसूसे 'स्वेद' को धारण करता हुआ भी उस नगरीके उपभोग को नहीं ही प्राप्त किया अर्थात् आंसूसे भरे होनेके कारण नगरीको अच्छी तरह नहीं देख सका और दाहिना नेत्रने स्फुरित होनेसे 'कम्प' भावको धारण करता हुआ उस नगरीके नये उपभोगको प्राप्त किया अर्थात् उस नगरीको पहला अवसर होनेसे अच्छी तरहसे देखा । यहां पर जो नेत्र नलका वाम अर्थात् प्रतिकूल है, उसे नल–प्रिया दमयन्तीकी नगरीरूपिणी नायिकाका उपभोग नहीं करना तथा जो नेत्र नलका दक्षिण अर्थात् अनुकूल है, उसे नल–प्रिया दमयन्तीकी नगरीरूपिणी नायिकाका उपभोग करना नलके लिये अत्यन्त शुभ शकुन हुआ] ॥ ६ ॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशु पुरं विवेश ।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसंघः ॥ ७ ॥

रथादिति । असौ राजा नलः सारथिना सनाथात् सहितात् रथादवतीर्य अंशुसङ्घः अर्कांशुसमूहः, भानवीयात् बिम्बान्निर्गत्य सौधाकरं चान्द्रं मण्डलमिव आशु

पुरं कुण्डिनं विवेश। "सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्छितास्तमो नैशम्। क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः।" इति शास्त्रादियमुपमा ॥ ७ ॥

उस नलने सारथि-युक्त रथसे उतरकर शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया, जिस प्रकार किरण-समूह सूर्य-बिम्बसे निकलकर चन्द्रमण्डलमें प्रवेश करता है। [नगरमें प्रवेश करनेसे चन्द्रमाके समान नलकी शोभा हुई। ज्यौतिष-सिद्धान्तके अनुसार सूर्य-मण्डलके प्रकाशसे ही चन्द्रमण्डलमें प्रकाश होता है] ॥ ७ ॥

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनस्सा नलस्य मूर्तिर्ववृते नदृश्या ।
बभूव तच्चित्रतरं तथापि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्तिः ॥ ८ ॥

चित्रमिति। तदा तस्मिन्समये, कुण्डिनवेशिनः कुण्डिनप्रविष्टस्य नलस्य सा तथा दर्शनीया मूर्त्तिर्नदृश्या अदर्शनीया। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। ववृते जाता, चित्रं विरोधादिति भावः। इन्द्रवराददृश्यत्वं गतेत्यविरोधः। तथाप्यदृश्यापि अस्य मूर्तिर्विश्वैकदृश्येति यत्तच्चित्रतरं बभूव, दृश्यत्वादृश्यत्वयोर्विरोधादिति भावः। विश्वस्यैकस्यैव दृश्या दृष्टिप्रियैवेत्यविरोधः। अत्र विरोधाभासयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

उस समय कुण्डिनपुरमें प्रवेश करनेवाले नलकी मूर्ति (सबसे देखी जानेवाली या सुन्दरतम आकृति) अदृश्य (पक्षा०—असुन्दर) हो गयी, यह आश्चर्य है, तथापि इस नलकी मूर्ति जो सबसे देखी जानेवाली (पक्षा०—संसारमें एकमात्र सुन्दर) हो गयी, यह अधिक आश्चर्य है। [इन्द्रके दिये हुए वरदान (५।१३७) से नल नगरमें प्रवेश करते समय अन्तर्धान हो गये] ॥ ८ ॥

जनैर्विदग्धैर्भवनैश्च मुग्धैः पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम् ।
विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिथित्वम् ॥ ९ ॥

जनैरिति। अथास्य नलस्य, दृष्टिर्विदग्धैरभिज्ञैः जनैः मुग्धैः सुन्दरैः भवनैश्च पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीं आश्चर्याबहामित्यर्थः। पुरं विगाहमाना विभावयन्ती। राजकुलातिथित्वमाददे। क्रमादसौ राजभवनं ददर्शेत्यर्थः ॥ ९ ॥

इसके बाद चतुर मनुष्यों तथा मनोहर महलोंसे पग-पगपर विस्मयरूप कल्पलताको प्राप्त करती हुई अर्थात् चतुर मनुष्यों एवं सुन्दर भवनोंको देखकर आश्चर्यित होती हुई इस नलकी दृष्टिने क्रमशः राज-भवनके अतिथित्वको प्राप्त किया अर्थात् राजभवनको देखा। (अथवा प्रथम पाठा० चतुर······होती हुई इस नलकी दृष्टिने विलम्बसे राज-भवन······ देखी। अथवा द्वितीय पाठा०—चतुर·····प्राप्त करते हुए नलकी दृष्टि········। जब नलने कुण्डिनपुरीमें प्रवेश किया तब वहांपर पग-पग पर चतुर मनुष्यों तथा सुन्दर भवनोंको देखकर कल्पलता प्राप्तिके समान आश्चर्य करते हुए वे बहुत देरके बाद राज-भवनके पास पहुंचे] ॥ ९ ॥

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूत्यं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच ॥१०॥

लीन इति। असौ नलः, अस्त्रैः सज्जे सन्नद्धे। 'सन्नद्धो वर्मितस्सज्जे' इत्यमरः। रक्षिजने राजकुलरक्षकवीरवर्गे, हेलामवज्ञां दधाविति गर्वोक्तिः। लीनः (कष्टं शूरोऽपि) गूढश्चरामीति हेतोर्हृदा ललज्जे। भैमीं द्रक्ष्यामीति संतुतोष। स्वं स्वकीयं, दूत्यं विचिन्त्य शुशोचेति निर्वेदोक्तिः। अत्र गर्वलज्जाहर्षनिर्वेदानां बहूनां भावानां परस्परोपमर्देन समावेशाद्भावशबलतोक्ता ॥ १० ॥

इस नलने हथियारोंसे सुसज्जित रक्षकों (पहरेदारों) में तिरस्कार धारण किया (हथियारोंसे सुसज्जित होनेपर भी ये पहरेदार मेरा क्या बिगाड़ेंगे? इस भावनासे उन्हें तिरस्कारपूर्वक देखा)। छिपकर (मैं) घूम रहा हूं, यह (सोचकर) हृदयसे लज्जित हुए (यद्यपि ये पहरेदार मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते, तथापि मैं राजा एवं शूरवीर होकर भी चोरके समान छिपकर (इन्द्रके दिये वरदान (५।१३७) से अन्तर्धान होकर) घूम रहा हूँ, यह विचारकर मन ही मन वे लज्जित हुए। दमयन्तीको देखूंगा, यह (सोचकर) अत्यन्त तुष्ट हुए और अपनेको दूत सोचकर (मुझे इन्द्रादि देवोंका दूत होनेसे दमयन्तीको अब अपनी प्रेयसी नहीं समझनी चाहिये, अतः उसे देखनेसे आनन्दित होनेका विचार करना व्यर्थ है यह विचारकर) शोक करने लगे। [यहां पर 'हृदा' पदका सब क्रियाओंके साथ सम्बन्ध होनेसे नलने उक्त चारों विचारोंको हृदयसे (मनमें) ही किया, प्रकटरूपसे हाथ-पैर आदिसे कोई व्यापार नहीं किया, यह समझना चाहिये] ॥ १० ॥

अथोपकार्याममरेन्द्रकार्यात्कक्ष्यासु रक्षाधिकृतैरदृष्टः।
भैमीं दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्नसौ तामविशद्विशङ्कः ॥ ११ ॥

अथेति। अथानन्तरं, असौ नलः, कक्ष्यासु गृहप्रकोष्ठेषु। 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः' इत्यमरः। रक्षायामधिकृतैः, रक्षिजनैः, अदृष्टस्सन् भैमीं दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः। अत एव दिक्षु चक्षुर्बहु भूयिष्ठं, दिशन् विशङ्कस्सन्, तां पूर्वनिर्दिष्टां, उपकार्यां राजसदनम्। 'उपकार्याराजसद्मनि' इति विश्वः। अमरेन्द्राणां कार्यात् प्रयोजनात् हेतोरविशत्॥११॥

इसके बाद देवताओं तथा इन्द्रके (अथवा-प्राधान्यतः देवराज अर्थात् इन्द्रके) कार्य (दमयन्ती प्राप्तिरूप कार्य, अथवा-अन्तर्धि होनेका वरदानरूप कार्य) से कक्षाओं (ड्यौढ़ियों) पर स्थित रक्षकों (पहरदारों) से नहीं देखे गये, (अत एव) निर्भय, और दमयन्तीको देखनेके इच्छुक इस नलने दिशाओंमें नेत्रको बहुत फेंकते हुए अर्थात् सब ओर बार-बार देखते हुए उस राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ११ ॥

अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम्।
दृशं दधौ विस्मयनिस्तरङ्गां विलंघितायामपि राजसिंहः ॥ १२ ॥

अयमिति। विभुः समर्थः, राजा सिंह इव राजसिंहः राजश्रेष्ठः, उपमितसमासः।

स नलः, अयं क इत्यन्यस्य स्वव्यरिरिक्तजनस्य, निवारकाणां, रक्षिणां, गिरा वाक्येन (हेतुना) कण्ठं विभुज्य किं दृष्टोऽस्मीति शङ्कया ग्रीवां विवलय्य वक्रीकृत्वेत्यर्थः। विलंघितायामतिक्रान्तायामपि द्वारि। विस्मयेन कथमेते मामद्राक्षुरित्याश्चर्येण। निस्तरङ्गां निर्निमेषां, दृशं दधौ। सिंहस्य ग्रीवाभङ्गेन लंघिताध्वदर्शनं युक्तमिति भावः ॥ १२ ॥

समर्थ राजसिंह (राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी, नलने) द्वारके लांघ जानेपर भी "यह कौन है?" इस प्रकार दूसरोंको रोकनेवालों (द्वारपालों) के वचनसे (मुझको ही देखकर ये द्वारपाल मना कर रहे हैं क्या? इस कारण) गर्दनको पीछे मोड़कर आश्चर्य इ(न्द्रके वरदानके प्रभावसे अन्तर्हित होनेपर भी मुझे इन लोगोंने कैसे देख लिया इस आचार्य) से निश्चल दृष्टि डाली (निर्भय होकर देखा)। [आगे बढ़े हुए किसी व्यक्तिको 'यह कौन है?', ऐसा कोई टोकता है तो वह वहींसे गर्दनको पीछेकी ओर मोड़कर देखता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। सिंहकी उपमा देनेसे नलकी शूरता तथा निर्भयता सूचित होती है तथा सिंह भी आगे चलता हुआ पीछेकी ओर गर्दनको मोड़कर देखता चलता है और इसी आधार पर 'सिंहावलोकन' न्याय प्रचलित हुआ ॥ १२ ॥

अन्तःपुरान्तस्स विलोक्य बालां कांचित्समालब्धुमसंवृतोरुम् ।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार ॥ १३ ॥

अन्तरिति। स नलः, अन्तःपुरस्यान्तरभ्यन्तरे, अव्ययमेतत्। समालब्धुमुद्वर्तयितुम्। असंवृतोरुमनाच्छादितोरुदेशां, काञ्चिद्बालां स्त्रियं विलोक्य, निमिलिताक्षस्सन् पराङ्गनादर्शनपापभीत्येति भावः। भ्रमन्त्या तत्र सञ्चरन्त्या परया स्त्र्यन्तरेण संघट्टमभिघातं आसाद्य, द्वयोरपि दृष्टिप्रतिबन्धादिति भावः। चमच्चकार उल्लसति स्म। चमदित्यनुकारिशब्दः ॥ १३ ॥

अन्तःपुर (निवास) में उद्वर्तन (तैल आदि की मालिश या उबटन) करनेके लिए जङ्घेको उघारी हुई किसी स्त्रीको देखकर (नग्नस्त्रीका देखना शास्त्र-विरुद्ध होनेके कारण) आंखको बन्द किये हुए वे नल घूमती हुई दूसरी स्त्रीके साथ आघात (एक दूसरेका टक्कर) लगनेपर चकित हो गये। [इन्द्रके वरदानसे अन्तर्धान तथा परस्त्री-दर्शनका परिहार करनेके लिए आंख मूंदे हुए स्थित नल जब स्वेच्छासे घूमती हुई किसी दूसरी स्त्रीका ठोकर लगी तो 'अरे, यह किसकी ठोकर लगी?' यह सोचते हुए सहसा चकित हो गये] ॥१३॥

अनादिसर्गस्रजि वानुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन ।
जातैव यद्वा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु ॥ १४ ॥

अनादीति। अनादौ सर्गस्रजि सृष्टिपरम्परायां वा, क्वचिज्जन्मान्तर इत्यर्थः। चित्रेषु आलेख्येषु, अनुभूता। अत्यन्ताननुभूतेऽर्थे भ्रमासम्भवादिति भावः। यद्वा, मास्त्वनुभव इति शेषः। किंतु, जितशम्बरस्य मायिनोऽपि मायिनः, कामस्य शाम्ब-

रीशिल्पं मायासृष्टिः। 'स्यान्माया शाम्बरी' इत्यमरः। जातैव, सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि प्रतिदिशमलक्ष्यत। लक्षेः कर्मणि लुङ्। अत्रालीकभैमीसाक्षात्कारो जन्मान्तरानुभवाद्वा केवलमदनमायाबलाद्वेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

अनादि सर्ग–परम्परामें या चित्रोंमें प्रत्यक्ष की गयी, या "शम्बर" नामक मायाकुशल दैत्यके विजयी कामदेवकी मायाकी चतुर रचना बनी हुई (माया द्वारा यथावत् सम्पादित) दमयन्तीको नलने दिशाओंमें देखा। [अथवा—शम्बरारि (कामदेव) की मायाकी उत्तम रचना बनी हुई दमयन्तीको........। अथवा नलके द्वारा कामदेवकी मायाकी उत्तम रचना बनी हुई दमयन्तीको......। शत्रुको जीतनेके बाद कोई विजेता उसकी सम्पत्तिको भी स्वाधीन कर लेता है, वैसे ही कामदेवने माया करनेमें चतुर शम्बर दैत्यको जीतकर उसकी मायाको भी स्वाधीन कर लिया है अतएव वह (कामदेव) भी माया करनेमें अत्यन्त चतुर होकर नलके सामने मायारूपिणी दमयन्तीको सब दिशाओंमें दिखलाने लगा, माया–कल्पित वस्तुका सुन्दरतम होना तथा एक ही होनेपर सब दिशाओंमें दृष्टिगोचर होना पूर्णतः सङ्गत है। वैसे ही दमयन्ती भी नलको सब दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रही थी। पहले नहीं देखी गयी वस्तुका दृष्टिगोचर होना असम्भव होनेसे अनादि सृष्टि–परम्परामें दमयन्तीको नल द्वारा दृष्टिगोचर होनेकी कल्पना की है, किन्तु पूर्वजन्मगत बातोंके स्मरणगोचर नहीं होनेसे चित्रोंमें दमयन्तीके दृष्टिगोचर होनेकी द्वितीय कल्पना की गयी है और चित्रगत प्राणीके जड होनेसे उसका देखना, चलना–फिरना तथा आलिङ्गन आदि करना असम्भव होनेसे कामद्वारा मायाकल्पित दमयन्तीको कहा गया है॥ जिस प्रकार गन्धर्वनगरको नहीं देखनेपर भी उसका सर्वथा अभाव रहनेपर भी मायावश उसका अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार दमयन्तीका वास्तविकमें वहां अभाव होनेपर भी मनमें सतत कल्पित उसके राजभवनमें उसका प्रत्यक्षवत् नलको अनुभव होना उचित ही है]॥ १४ ॥

अलीकभैमीसहदर्शनान्न तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय।
भैमीभ्रमस्यैव ततः प्रसादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्भि॥ १५॥

अलीकेति। अन्याः कन्या अप्सरस इव। उपमितसमासः। अप्सरः कल्पा अपि कन्याः तत्रत्याः स्त्रियः, अलीकभैम्या सह दर्शनाद्धेतोः तस्य नलस्य रसाय रागाय, नाभवन्। ततोऽपि तासामपकृष्टत्वादिति भावः। तर्हि, किं सारूप्यात्तास्वपि भैमीभ्रमो नाभूदत आह – भैमीति। तत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः। ततः तस्य भैमीभ्रमस्यैव प्रसादात्तेन नलेन तास्वन्तःपुरस्त्रीषु भैमीभ्रमो नालम्भि न प्राप्तः। अत्यन्तासादृश्यादिति भावः॥ १५ ॥

(सतत कल्पनाजन्य मोहके कारण असत्य (अभाव रहनेपर) भी दमयन्तीके साथ देखनेसे अप्सराओंके समान अन्य कन्याएं (दूसरी स्त्रियां) उस नलके अनुरागके लिए नहीं हुई, क्योंकि उस दमन्ती सम्बन्धी भ्रमके सामर्थ्यसे ही नलने उन स्त्रियोंमें भ्रमको नहीं प्राप्त किया। [यद्यपि नलने वास्तविक दमयन्तीको कभी भी प्रत्यक्ष रूपसे नहीं देखा था,

तथापि अन्य स्त्रियोंमें अप्सराओंके समान सौन्दर्य होनेपर भी दमन्तीकी अपेक्षा अधिक न्यूनता होनेके कारण नलने दमयन्ती-भिन्न उन स्त्रियोंको दमयन्ती समझनेका भ्रम नहीं किया, अत एव उन स्त्रियोंका अप्सरस्तुल्य सौन्दर्य भी नलको अपने प्रति अनुरक्त नहीं कर सका ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहस्तः ।
स तामलीकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यषदद्विबुद्धः ॥ १६ ॥

भैमीति । भैम्या निराशे सुरैः हृताशे, हृदि, मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्दत्तावलम्बाज्जनितादित्यर्थः । विरहाद्विहस्तो विह्वलः, स नलः अलीकां तां भैमीमवलोक्य, क्षणात् विबुद्धः निवृत्तभ्रमः, तत्र तामपश्यन् व्यषदत् विषण्णोऽभूत् । सदेर्लुङ् । लृदित्वाच्च्लेरङादेशः । 'सदिरप्रतेः' इत्यड्व्यवायेऽपि षत्वम् । भैमीशून्यविबोधात्तद्वान् भ्रम एव तस्याशास्योऽभवदिति भावः ॥ १६ ॥

दमयन्तीसे निराश, हृदयमें कामदेवके द्वारा हस्तावलम्ब अर्थात सहारा दिये गये, विरहसे विहस्त अर्थात् व्याकुल नल वहां (राजभवनमें, अथवा-हृदयमें) उस असत्यदृष्ट दमयन्तीको देखकर क्षणभरमें सजग होकर (मुझ दूतको दमयन्तीप्राप्तिका विचार करनेका कुछ अधिकार नहीं ऐसा विचार होनेपर) उसे नहीं देखते हुए विषादसे युक्त हो गये । [जिस कामदेवने नलके लिये हाथ दिया उस कामदेवको विहस्त हाथसे हीन होना चाहिये था, किन्तु नल ही विहस्त (हाथसे रहित । पक्षा०—व्याकुल) हुए, यह आश्चर्य है । अथवा हृदयके दमयन्तीसे निराश होनेपर कामदेवके द्वारा······ । दूत-कर्म स्वीकार करनेसे भैमीके विषयमें निराश होनेसे शान्त विरहको कामदेवने फिर सहारा देकर बढ़ाया । विरहजन्य भ्रमसे नलने दमयन्तीको देखा, किन्तु दूत होनेके कारण क्षणमात्रमें ही भ्रम-नाश होनेपर दमयन्तीको नहीं देखा, इस प्रकार दमयन्तीको नहीं दिखलानेवाला बोध मुझे व्यर्थ ही हुआ, वह भ्रम नष्ट हो गया अत एव नलको कष्ट हुआ] ॥ १६ ॥

प्रियां विकल्पोपहृतां स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।
अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम् ॥ १७ ॥

प्रियामिति । स नयः, विकल्पोपहृतां विभ्रमोपनीतां, प्रियां दमयन्तीं, यावद्दिगीशसन्देशं इन्द्रादिवाचिकं, अल्पमजल्पदकथयत् । तावददृश्यया अलक्ष्यकर्तृकया, वाचाहेतुकर्त्र्या, भीषिता वित्रासिताः । 'भियो हेतुभयेषुक्' । ताश्च ता भूरयोऽनेका भीरवो भयशीलाः स्त्रियः ताभ्यो भवतीति तद्भवो रवः कलकलः, तं नलमचेतयद्बोधयत् । चेततेर्भौवादिकात् णिच् ॥ १७ ॥

उस नलने सङ्कल्पकल्पित (या भ्रम-कल्पित) प्रिया दमयन्तीसे दिक्पालोंके संदेशको जब तक थोड़ा कहा तभी तक अदृश्य (भूतादिकथित) वचनसे अत्यन्त डरी हुई उन (बालाओं) के शब्दने उनको सचेत कर दिया । (सङ्कल्पकल्पित दमयन्तीसे ही नल भ्रमवश इन्द्रादि

दिक्पालोंका सन्देश जबतक थोड़ा ही कह पाये थे कि 'यह शब्द कहांसे हो रहा है ? कोई दृष्टिगोचर नहीं होता । अतः डरी हुई कन्याओंने जब कोलाहल किया तब नल सावधान होकर चुप हो गये] ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुतापि तन्व्याः स्तनौ परिस्प्रष्टुमिवास्तवस्त्रौ ।
अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कमास्यं दधार तिर्यग्वलितं विलक्षः ॥ १८ ॥

पश्यन्निति । स नलः तस्मिन्नन्तःपुरे मरुतापि अचेतनेनापीति भावः । परिस्प्रष्टुं संस्प्रष्टुमिव । अस्तवस्त्रौ अवनीतांशुकौ तन्व्याः स्तनौ पश्यन् विलक्षो बिलजितस्सन्, अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कं, अक्षान्तः असोढ़ः पक्षान्ते पौर्णमास्यां मृगाङ्कः चन्द्रो येन तदास्यं, तिर्यग्वलितं साचीकृतम् । दधार धृतवान् । यत्राचेतनस्य वायोरपि चपलता तत्रायं निर्विकार एवेत्यहो जितेन्द्रियत्वमस्येति भावः ॥ १८ ॥

उस अन्तःपुरमें अचेतन वायु (पक्षान्तरमें-'वायु' देव) से भी कृशाङ्गीके स्तनोंको स्पर्श (या मर्दन) करनेके लिए वस्त्रशून्य (उघारे-नग्न किये) गये स्तनोंको देखते हुए उत्तम नायक होनेसे परस्त्रीका स्तन देखना अनुचित होनेसे लज्जित या उदासीन होकर) पूर्णचन्दको नहीं सहन करनेवाला (नलका) मुख तिर्यक् भावको धारण कर लिया अर्थात् दूसरी ओर मुड़ गया । [नलका मुख पूर्णचन्द्र रूप है, तथा पूर्णचन्द्रके सामने अर्थाद् चाँदनी (उजेले) में प्रच्छन्न कामुकका किसी स्त्रीके साथ स्तनमर्दनरूप संभोग करना असम्भव होनेसे वहांसे चन्द्ररूप मुखको हट जाना ही उचित है] ॥ १८ ॥

अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि बालावलीनां वलितैर्गुणौघैः ।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्बन्धुमभून्मनोभूः ॥ १९ ॥

अन्तरिति । अन्तःपुरे बालावलीनां स्त्रीसमूहानां, वबयोरभेदाद्रोमसमूहानां च, वलितैः पुनः पुनः प्रवृत्तैः आवर्तितैश्च गुणानां कटाक्षविक्षेपादीनां सूत्राणां चौघैः विस्तृतवागुरः प्रसारितमृगबन्धनीकोऽपि । 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः । मनोभूः स एव मृगयुरिति शेषः । तस्य नलस्याक्षिद्वन्द्वमेव कालसारम्, कृष्णसारम्, अक्षिद्वयन्तु कालेन कनीनिकाकार्ष्ण्येन सारं श्रेष्ठं, हरिणञ्च बन्धुमाक्रष्टुं संयन्तुं च प्रभुः शक्तो नाभूत् । जितेन्द्रियत्वादस्येति भावः । अत्राक्ष्यादिषु हरिणत्वादिरूपणान्मनोभुवो मृगयुत्वं गम्यत इत्येकदेशवर्तिरूपकम् ॥ १९ ॥

अन्तःपुरमें अपने बालाओंके समूहोंका नृत्यकर्मादि या अङ्गतोडना आदि गुण समूहोंसे (पक्षा०—बाल-समूहोंके बटी हुई रस्सियोंसे) जालको फैलाया हुआ भी कामदेव (रूपी व्यथा) काली कनीनिका (आंखकी पुतली) ही सारभूत है जिसमें ऐसे श्वेतवर्ण, नलके दोनों नेत्रोंको (पक्षान्तरमें-कालसारनामक दोनों हरिणोंको बांधने (फँसानेमें) समर्थ नहीं हुआ । (बालोंकी बटी हुई रस्सियोंके जालको जंगलमें भी फैलानेवाला व्याधा मृगोंको फँसा लेता है, और नगर या एक मकानमें मृगोंको फ़ंसाना तो अत्यन्त सरल है, किन्तु

अन्तःपुरकी कन्याओंकी अङ्ग–भङ्गी आदि भावोंको देखने पर भी नल जितेन्द्रिय होनेसे कामदेवके वशीभूत नहीं हुए] ॥ १९ ॥

दोर्मूलमालोक्य कचं रुरुत्सोस्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः ।
नाभीमथैष श्लथवाससोऽनु मिमील दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः ॥ २० ॥

दोरिति । एष नलः, कचं केशपाशं, रुरुत्सोः रोद्धुं बन्धुमिच्छोः, कस्याश्चिद्दोर्मूलं बाहुमूलमालोक्य । ततोऽनन्तरं, कुचावनुलेपयन्त्याः तौ कुचावालोक्य, अथ श्लथवाससः स्रस्तांशुकायाः नाभीमालोक्य, अन्वनन्तरं, दिक्षु पुरः पार्श्वभागेषु क्रमेण कृष्टचक्षुः प्रत्याहृतदृष्टिः सन्, मिमील निमीलिताक्षोऽभूत् । तत्र तथा यथेष्टचेष्टे स्त्रीमण्डले तस्य पापभीरोर्नेत्रनिमीलनमेव प्राप्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

केशको बांधनेकी इच्छा करनेवाली किसी कन्याके (दोनों हाथोंके ऊपर उठानेके कारण उसके) बाहुमूल (कांख) को देखकर, इसके बाद दोनों स्तनोंपर कुङ्कुमादिका लेपन करती हुई उसके स्तनोंको देखकर फिर शिथिल वस्त्रावालीकी नाभीको देखकर इस नलने क्रमशः ऊपरसे नीचेकी ओर दृष्टि करते हुए अन्तमें दृष्टियोंको बन्दकर लिया । (उक्त तीनों क्रियाएं क्रमशः एक ही बाला में अथवा विभिन्न क्रियायुक्त अनेक बालाओंमें देखकर नलने परस्त्रीके कक्ष, स्तन तथा नाभिके दर्शनका परिहार करनेके लिए ऊपरसे नीचेकी ओर दृष्टि करते हुए अन्तमें परिहार न होनेपर उसे (दृष्टिको) सर्वथा बन्द कर लिया । इससे भी नलका उत्तम नायक होना सिद्ध होता है] ॥ २० ॥

मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम् ।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥ २१ ॥

मीलन्निति । मीलन्निमीलिताक्षः, स नलः, अभिमुखमन्योन्याभिमुखमागताभ्यां तथापि स्तनाभ्यां निमित्तेन सान्तराभ्यां सव्यवधानाभ्यां काभ्यांचित् स्त्रीभ्यां निपीड्य मध्ये निरुध्य धर्तुं ग्रहीतुं, न शेके शक्यो नाभूत् । स नलः, पश्चादपेतोपसृतः स्वाङ्गानि विजगौ; परस्त्रीसंस्पर्शदोषाद्विजगर्हे, निनिन्द । ते स्त्रियौ पुनः, पुंसोऽङ्गसङ्गेन उत्पुलके उद्गतरोमाञ्चे जाते ॥ २१ ॥

परस्पराभिमुख आती हुई दो बालिकायें (मध्यस्थित) नेत्र मूंदे हुए उस नलको अच्छी तरह नहीं पकड़ सकीं, किन्तु उन दोनोंके अत्युन्नत स्तन ही परस्परमें सट गये । फिर उन दोनोंके बीचसे हटकर पुरुष–संसर्गसे रोमाञ्चयुक्त उन दोनों कन्याओंको देखकर उस नलने अपने शरीरावयवोंकी निन्दाकी (अथवा—उन दोनोंसे अलग हटकर नलने अपने शरीरावयवोंकी निन्दाकी तथा वे दोनों कन्याएं पुरुषस्पर्शसे 'रोमाञ्च' नामक सात्त्विक भावसे युक्त हो गयीं । [उन दोनों कन्याओंके स्तन इतने बड़े थे कि उन दोनों कन्याओंके मध्यमें नलके रहनेपर भी वे परस्परमें सट गये, पर नलको वे दोनों अच्छी तरह पकड़ नहीं सकीं, किन्तु केवल उनके शरीरका स्पर्श मात्र हुआ, जिससे सावधान नलने उनसे

अलग होकर 'मेरे शरीरने परस्त्रीका स्पर्श कर लिया, अतः ये बड़े दोषी हैं, इस प्रकार अपने शरीरावयवों की निन्दा की। उधर नलके शरीरका स्पर्श होनेसे उन दोनों कन्याओं को रोमाञ्च हो गया। इससे नलका अत्यन्त उत्तम नायकत्व सिद्ध होता है] ॥ २१ ॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन् कटाक्षैः ।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

निमीलमेति। निमीलनं च स्पष्टविलोकनञ्च ताभ्यां कदर्थितः निषिद्धस्पर्शन-दोषोद्वेजितः। स नलः; ताः स्त्रियः, कटाक्षैः कलयन् निर्विकल्पेन गृह्णन्। रागेण पश्यतीति रागदर्शी, स इव भृशं ललज्जे। कष्टं कामुकदृष्ट्या पश्यामीति भृशं परितप्तोऽभूदित्यर्थः। नन्वप्रकाशेऽर्थे का लज्जा तत्राह–सतां सत्पुरुषाणां परतोऽपि स्वत एव ह्रीर्गुर्वी, अकामादप्यकार्यकरणे परस्मादपि स्वस्मादेव लज्जते सज्जन इत्यर्थान्तरन्यासः॥

(इस प्रकार) आंख बन्द करने तथा स्पष्ट देखनेसे व्याकुल वह नल उन (अन्तःपुरमें स्थित बालाओं) को कटाक्ष (सङ्कुचित नेत्र) से देखते हुए अनुराग–सहित देखनेवालेके समान अत्यन्त लज्जित हुए। क्योंकि आवरण रहित सज्जनोंको दूसरों की अपेक्षा अपने से अधिक लज्जा होती है। [आंख बन्द करनेसे परस्त्रियोंके धक्का आदि (श्लो० १३, २१) लगनेसे तथा आंख खोलनेपर परस्त्रीके स्तन जघन नाभि आदिका दर्शन (श्लो० १८, २०) जन्यदोष लगनेसे व्याकुल नलने आंखको कुछ संकुचित कर लिया अर्थात् न तो सर्वथा बन्द ही किया और न सर्वथा खोला ही, अतः जिस प्रकार रागी पुरुष परस्त्रीको थोड़े सङ्कुचित नेत्रसे देखता है, वैसे वे अपनेको समझकर बहुत लज्जित हुए। यद्यपि दूसरेके सामने ही लोगोंको लज्जा हुआ करती है, किन्तु यह नियम साधारण व्यक्तियोंके लिये है, बड़े सज्जन व्यक्ति तो दूसरेके न रहनेपर भी स्वयं अपने मनमें ही अधिक लज्जित होते हैं, अतः अदृश्य होनेपर भी नल मन ही मन बहुत लज्जित हुए] ॥ २२ ॥

रोमाञ्चिताङ्गीमनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेर्निसृष्टः ।
सोघःशरौघः कुसुमानि नाभूत्तद्धैर्यपूजां प्रतिपर्यवस्यन् ॥ २३ ॥

रोमाञ्चितेति। रोमाञ्चिताङ्गीमनु पुमङ्गसङ्गात् पुलकितगात्रीमुद्दिश्य, तस्य नलस्य, कटाक्षैः कटाक्षवीक्षणैः, भ्रान्तेन अयमस्यामनुरक्त इति मन्वानेन, रतेः कान्तेन कामेन, निसृष्टः प्रयुक्तः कुसुमान्येव शरौघः तस्य नलस्य, धैर्यस्य निर्विकारचित्तत्वस्य पूजां प्रतिपूजायां पर्यवस्यन् पूजात्वेन परिणमन्। मोघो व्यर्थो नाभूत्। शत्रोरपि गुणः पूज्यो भवेदिति भावः। अत्र नलधैर्यभङ्गार्थं प्रयुक्तस्य कुसुमजालस्य, न केवलं तदभञ्जकत्वं प्रत्युत तत्पूजकत्वमापन्नमित्यनर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः ॥ २३ ॥

(नलके शरीर–स्पर्शसे) रोमाञ्चयुक्त स्त्रीको लक्ष्य नलके कटाक्ष (श्लो० २१ के अनुसार संकुचित नेत्रसे देखने) से (ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो गये, ऐसा समझनेसे)

श्रमयुक्त रतिपति (कामदेव) के द्वारा छोड़े गये पुष्परूप बाण-समूह उस नलके धै 'की पूजाके लिए चरितार्थ होकर व्यर्थ नहीं हए। [कामदेवके बाण छोड़नेपर भी नलके चित्तमें कोई विकार नहीं होनेसे यद्यपि बाणको व्यर्थ होना चाहिए था, किन्तु मुख्य लक्ष्य पूर्ण नहीं होनेपर भी नलके धैर्यकी पूजामें पुष्परूप वे बाण चरितार्थ हो गये, अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति किसीके धैर्य आदि गुणकी पूजा करनेके लिए पुष्प चढ़ाता है, वैसे ही कामदेवके वे पुष्परूप बाण भी परस्पर अनुरागोत्पादन रूप मुख्य प्रयोजनके पूर्ण न होनेपर भी उन नलके धैर्यकी पूजा रूप अन्य प्रयोजनमें सफल हो गये। परस्त्रीमें अनुरागोत्पन्न न होनेके कारण शत्रुभूत कामद्वारा भी धैर्यको पुष्पोंसे पूजित होना उचित ही है]॥ २३ ॥

हित्वैव वर्त्मैकमिह भ्रमन्त्याः स्पर्शः स्त्रियाः सुत्यज इत्यवेत्य।
चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोकाय सतां स दीपः ॥ २४ ॥

हित्वेति। सतां सः दीपः सुजनश्रेष्ठः, सतां भावानां प्रकाशकः प्रदीपश्च स नलः। इह अन्तःपुरे भ्रमन्त्यास्सञ्चरन्त्याः स्त्रियाः स्पर्शः एकमभिन्नं वर्त्म हित्वैव सुत्यज इत्यवेत्य निश्चित्य लोकावलोकाय सञ्चारिजनदर्शनाय। अन्यत्र, लोकानां जनानां व्यवहाराय। चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथं, 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समाहारे द्विगुः 'ऋक्पूरब्धूः—' इत्यादिना समासान्तः। 'पथस्संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। तस्य आभरणं बभूव। तत्र स्थित इत्यर्थः। क्लिष्टैकमार्गे स्त्रीसंबाधादक्लिष्टे चतुष्पथे स्थित्वा समन्तादवलोकितवानित्यर्थः। चतुष्पथस्थो दीपो लोकावलोकाय कल्पत इति ध्वनिः॥

सज्जनोंके प्रकाशक (पक्षान्तरमें-वर्तमान वस्तुओंको दिखलानेवाला) दीपरूप वह नल 'एक सङ्कीर्ण मार्गको छोड़कर ही यहां (अन्तःपुरमें) घूमती हुई स्त्रीका स्पर्श सरलतासे छूट सकता है, ऐसा समझकर लोगोंको देखनेके लिए (पक्षा०—लोगोंको यहांकी सब वस्तुएं दिखलानेके लिये) चौरास्तेके भूषण बने (चौरास्तेपर खड़े हो गये)। [नलने सोचा कि स्त्रियां यहां पर इधर उधर आती जाती रहती हैं, अतः मैं सङ्कीर्ण रास्तेको छोड़कर यदि चौरास्तेपर खड़ा हो जाता हूं तो किसी स्त्रीका स्पर्श न होनेसे मुझे परस्त्रीस्पर्शजन्य दोष नहीं लगेगा अतः सज्जनोंके दीपकरूप वे अन्तःपुरके लोगोंको देखनेके लिए चौरास्तेपर खड़े होकर उस प्रकार वहांकी शोभा बढ़ाने लगे, जिस प्रकार चौरास्तेपर रक्खा हुआ दीपक आने-जानेवाले लोगोंके लिये वहांपर स्थित सब पदार्थोंको प्रकाशित करता हुआ उस चौरास्तेकी शोभा बढ़ाता है]॥ २४ ॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृतद् द्रुतैव।
वियोगिवैरात् कुचयोर्नखाङ्कैरर्धेन्दुलीलैर्गलहस्तितेव ॥ २५ ॥

उद्वर्तयन्त्या इति। नृपस्य दृष्टिरुद्वर्तयन्त्या गात्रमुन्मार्जयन्त्याः, हृदये वक्षसि, निपत्य अर्धेन्दुलीलैरर्धचन्द्राभिख्यैः, कुचयोर्नखाङ्कैः, कर्तृभिः, वियोगिषु वैरादिन्दुत्वप्रयुक्तविरोधात्। गले हस्तो गलहस्तः तद्वती कृता गलहस्तिता हस्तेन गले

गृहीत्वा नुन्नेवेत्युत्प्रेक्षार्थः । मत्वन्तात् करोतीति णिचि णाविष्ठवद्भावे विण्मतोर्लुक् । ततः कर्मणि क्तः । 'अर्धेन्दुश्चन्द्रशकले गलहस्तनखाङ्कयोः' इति विश्वः । द्रुता त्वरितैव न्यवृतत् न्यवर्तिष्ट । पापभयादिति भावः ॥ २५ ॥

(कुङ्कुमादिसे) लेप करती हुई किसी स्त्रीके वक्षः स्थलपर पड़ी हुई नलकी दृष्टि दोनों स्तनोंपर अर्द्धचन्द्राकार नखचिह्नके द्वारा वियोगियोंके साथ विरोध होनेसे मानो गलहस्तित (गलेमें हाथ डालकर बाहर निकाली गयी अर्थात् 'गर्दनिया' दी हुईके समान) झट लौट गयी । [जैसे कोई व्यक्ति किसीके द्वारा गलेमें हाथ डालकर अपमानके साथ शीघ्र बाहर कर दिया जाता है, वैसे ही स्त्रियोंके दोनों स्तनोंपर अर्द्धचन्द्राकार नखचिह्नने वियोगी व्यक्तिके साथ वैर होनेसे नल दृष्टिको भी शीघ्र बाहर कर दिया । चन्द्रमाका विरहियोंके साथ वैर होना सुप्रसिद्ध है, अतः अर्द्धचन्द्राकार नखक्षतके द्वारा विरहिणी नलदृष्टिको सापमान बाहर करना उचित ही है ॥ परस्त्रीके आवरण रहित स्तनोंसे पाप भीरु नलने अपनी दृष्टिको शीघ्र हटा लिया] ॥ २५ ॥

तन्वीमुखं द्रागधिगत्य चन्द्रं वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।
द्वयं द्रढीयः कृतमीक्षणाभ्यां तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥ २६ ॥

तन्वीति । तन्वीमुखमेव चन्द्रं व्यस्तरूपकम् । द्रागधिगत्य हठाद् दृष्ट्वा निमीलिताभ्यामिति भावः । वियोगिनस्तस्येक्षणाभ्यां तस्य तन्वीमुखस्येन्दुता च स्वयोः सरोजता चेति द्वयं द्रढीयो दृढतरं कृत मित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथं तत्सन्निधौ तयो र्निमीलनमिति भावः ॥ २६ ॥

चन्द्ररूप कृशाङ्गीके मुखको प्राप्त (देख) कर झट बन्द हुए नलके नेत्रोंने कृशाङ्गी मुखके चन्द्रत्व तथा अपने (नेत्रद्वयको) कमलत्व—इन दोनों बातोंको अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया । [चन्द्रतुल्य कृशाङ्गी-मुखको देखकर नलने अपने नेत्र झट बन्दकर लिये, इससे चन्द्रको देखकर कमल ही बन्द हो जाता है, तथा कमल चन्द्रको देखकर ही बन्द होता है इन दोनों बातोंको, अथवा-कृशाङ्गीका मुख चन्द्र ही है और नलके नेत्र कमल ही हैं-इन-दोनों बातोंको उन्होंने दृढ कर दिया] ॥ २६ ॥

चतुष्पथे तं विनिमीलिताक्षं चतुर्दिगेताः सुखमग्रहीष्यन् ।
संघट्य तस्मिन् भृशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्यन् ॥ २७ ॥

नन्वङ्गसंघट्टनानन्तरं तास्तं किमिति न गृह्णन्तीत्यत आह—चतुष्पथ इति । चतुष्पथे, विनिमीलिताक्षं तं नलम् । चतसृभ्यो दिग्भ्यः । एता आगताः । आङ्पूर्वादिणः कर्तरि क्तः, उत्तरपदसमासः । तास्सुखमक्लेशेन अग्रहीष्यन् गृह्णीयुः, तस्मिन्नले संघट्य अभिहत्य । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । भृशया गाढया भिया निवृत्तास्ता एव तस्य नलस्य वर्त्म नादास्यन् न दद्युश्चेत् । किंतु, स्वयमेव अस्य भूतशङ्कया मार्गं दत्वा भयात् पलायितानां तासां, कुतस्तद्ग्रहणधाष्टर्यमित्यर्थः । क्रियातिपत्तौ लृङ् ॥ २७ ॥

(पाप-जनक परस्त्री-दर्शन न होनेके लिये) चौरास्तेपर नेत्र बन्दकर खड़े हुए नलको चारो ओरसे आयी हुई स्त्रियां, उनका धक्का लगनेसे डरकर यदि अलग नहीं हो जातीं तो उन्हें सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही पकड़ लेतीं ॥ २७ ॥

संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसन्तापमवापभूपः ॥ २८ ॥

संघट्टयन्त्या इति । तरसा संघट्टयन्त्या अभिघ्नन्त्यास्तन्व्याः, आत्मनो भूषाहीराणां भूषणवज्राणां, अङ्कुरेषु कोटिषु प्रोतं सक्तं दुकूलं हरतीति तद्धारी भूपः, नितम्बं तस्याः कटिं दिशा परिधाप्य संवस्त्य दिगम्बरं कृत्वा । तत्पापेन वस्त्रापहरणपापेन सन्तापमवाप ॥ २८ ॥

(अपने शरीरके साथ) वेगपूर्वक धक्का लगनेसे अपने भूषणमें जड़े हुए हीराके किनारोंमें फँसे हुए (स्त्रीके) वस्त्रको हरण करते हुए राजा नलने उस (स्त्री) के नितम्बको दिगम्बर (वस्त्ररहित) कर उस (परस्त्रीको वस्त्र-रहित करने) के पापसे उत्पन्न सन्तापको धारण किया। [यदि मेरे भूषणोंमें ये हीरे नहीं जड़े गये होते, या हीरा जड़े हुए इन भूषणोंको मैं नहीं पहना होता, तब उनमें कपड़ेके नहीं फँस जानेसे नङ्गी नहीं होती, अतः भूषणोंको धारण कर मैने पापका कार्य किया है, इस प्रकार राजा नलको दुःख हुआ]॥२८॥

हतः कयाचित्पथि कन्दुकेन संघट्य भिन्नः करजैः कयापि ।
कयाचनाक्तः कुचकुङ्कुमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः ॥ २९ ॥

हत इति । स नलः, पथि कयाचित्कन्दुकेन हतः । कयापि संघट्य अभिहत्य करजैर्नखैर्भिन्नः। कयाचन, कुचकुंकुमेन अक्तो लिप्तः। एवं ताभिः सम्भुक्तप्रायो बभूव॥२९॥

मार्गमें अर्थात् चौरास्तेपर स्थित नलको किसी स्त्रीने गेंदसे मारा (अदृश्य होनेके कारण गेंद खेलती हुई स्त्रीका गेंद उनके शरीरसे टकरा गया) किसी स्त्रीने उनसे धक्का खाकर नाखूनोंसे खरोचा और किसी स्त्रीने (धक्का लगनेसे) स्तनोंके कुङ्कुमसे रंग दिया, इन (अन्तःपुरकी स्त्रियों) के द्वारा वे नल (स्त्रियोंके साथ) संभोग किये हुएके समान हो गये। [स्वयं स्त्रियोंने ही सब कुछ किया नलने स्वयं कोई व्यापार नहीं किया, अतः उन्हें परस्त्री-सम्भोगजन्य दोष नहीं हुआ] ॥ २९ ॥

छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः ।
तच्चित्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥ ३० ॥

छायामय इति । कयापि स्त्रिया निजे हारे छायामयः प्रतिबिम्बरूपः, स नलः, प्रैक्षि प्रेक्षितः । ईक्षतेः कर्मणि लुङ् । अथ गच्छन् अपसरन्, अत एव नेक्ष्यमाणः अनिरीक्ष्यमाणः सन् । स चित्ते यस्यास्तया तद्गर्भितचित्तया तन्व्या, स्वस्यैव हृदयं प्रविष्ट इति अन्तरन्तःकरणे चारु साधु निरचायि निश्चितः । स च्छायानलः, तद्देशातिक्रमात्तस्या हारादेवापेतो न चित्तादिति सौन्दर्यातिशयोक्तिः ॥ ३० ॥

किसी स्त्रीने अपने मुक्ताहारमें प्रतिबिम्बित नलको देखा (फिर अन्यत्र) जाते हुए उनको (अपने हारमें प्रतिबिम्ब रूपसे भी) नहीं देखा, अतः उनके (सौन्दर्याधिक्यसे) नलगत चित्तवाली (अथवा–अभी मैंने अपने हारमें प्रतिबिम्बित एक तरुणको देखा था, और अब वह नहीं दिखलायी पड़ता अतः कहां गया ऐसी चिन्तावाली) कृशाङ्गीने 'वह मेरे हृदयमें ही प्रविष्ट हो गया है। इस प्रकारका ठीक ही निश्चय किया । [उस नलकी सुन्दरता उस कृशाङ्गीके हृदयमें जम गयी अतः वह अपने हारमें प्रतिबिम्बित नलको देख उन पर आसक्त होकर काम–पीडित हो गयी] ॥ ३० ॥

तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमू रतीशः ।
रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु नूनं नामूषुनिर्णीतरतिः कथञ्चित् ॥ ३१ ॥

तच्छायेति । रतीशः कामः, तस्य नलस्य छाया तच्छायं, मणिकुट्टिमादिगतं तत्प्रतिबिम्बम् । "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इति नपुंसकत्वम् । तस्य सौन्दर्येण निपीतधैर्या अमूः स्त्रीः प्रत्येकमेकैकामेवालिङ्गत् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—रतेः देव्याः प्रतिद्वन्द्वतमासु रतिसदृशीष्वमूषु मध्ये स रतीशः, कथञ्चिदपि निर्णीतरतिर्निश्चितनिजपत्नीको नाभूत् । नूनम्, अन्यथा कथं प्रत्येकमालिंगेदित्यर्थः । सर्वास्वपि मन्मथविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(अपने हारों तथा मणिमय फर्श एवं दीवालोंमें प्रतिबिम्बित) नलके प्रतिबिम्बके सौन्दर्यसे नष्ट धैर्यवाली इन प्रत्येक स्त्रियोंको रतिपति (कामदेव) ने आलिङ्गन किया, क्योंकि रतिकी प्रतिद्वन्दिनी (रतिके समान) उन स्त्रियों में 'यही रति है' ऐसा निश्चय नहीं कर सका । [एकको आलिङ्गन करनेपर अन्य स्त्रीको अत्यन्त सुन्दर देख उसे ही रति समझ उसका भी आलिङ्गन किया, इसी प्रकार सब स्त्रियोंको कामने आलिङ्गन किया, जैसे कोई व्यक्ति भ्रमसे एक वस्तुको अपना समझकर पहले उसे लेता है, किन्तु फिर दूसरी वस्तुको अपना समझता है तो पहले ली हुई वस्तुको छोड़कर दूसरीको ले लेता है और वास्तविक निर्णय नहीं होने तक ऐसा ही करता है, वैसा ही रतितुल्य उन स्त्रियोंमें भी रतिका ठीक २ पहचान न करसकनेवाले कामदेवका कहना भी अनुचित या दोषजनक कार्य नहीं है "नलकी छायागत सुन्दरताको देखकर अन्तः पुरकी सब स्त्रियां काम–पीडित हो गयीं] ॥ ३१ ॥

तस्माददृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोलाः ।
मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपिस्वान् सुदृशस्तृणानि ॥ ३२ ॥

तस्मादिति । सुदृशः स्त्रियः, तच्छायारूपेण तत्प्रतिबिम्बसौन्दर्येणाहितः उत्पादितः मोहः चित्तभ्रमो यासां ता अत एव लोला आसक्ताः सत्यः । अदृश्यादपीति भयहेतूक्तिः । तस्मान्नलान्नातिबिभ्युः । शृङ्गारेण भयानकस्तिरस्कृत इत्यर्थः । तथाहि–आदृतमन्मथाज्ञा मन्मथपरतन्त्राः सत्यः, स्वान् स्वकीयान्, प्राणानपि तृणानि

मन्यन्त एव । मन्यकर्मण्यनादरे चतुर्थ्या वैभाषिकत्वात् द्वितीया। प्राणानपि तृणीकृत्य तदा तत्सङ्गमलालसानां तासां तस्माद्भयं कुत इति भावः ॥ ३२ ॥

उन (नल) के प्रतिबिम्बकी सुन्दरतासे उत्पन्न मोहसे चञ्चल या सतृष्ण (उनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाली) वे सुनयनाएं उस अदृश्य नलसे भी अधिक नहीं डरीं, और कामदेवकी आज्ञाके वशीभूत (कामपीडित) उन स्त्रियोंने अपने प्राणोंको भी तृण समझा। [शृङ्गार तथा भयानक रसमें परस्पर विरोध होनेसे उन स्त्रियोंमें कामवासनाके कारण शृङ्गार रसका आविर्भाव होनेपर भयानक रसका न होना स्वाभाविक ही है, तथा जो अपने प्राणोंको भी तृण समझता है, उसको भय न होना उचित ही है॥ काम-पीडित होकर सब स्त्रियां अदृश्य नलको भी प्राण-पणसे चाहने लगीं] ॥ ३२ ॥

जागर्ति तच्छायदृशां पुरा यः स्पृष्टे च तस्मिन्विससर्प कम्पः ।
द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या स्वहस्तितश्चारुदृशां परं सः ॥ ३३ ॥

जागर्तीति ॥ पुरा पूर्वं, तच्छायदृशां तत्प्रतिबिम्बदर्शिनीनां चारुदृशां, क्विप्। यः कम्पो जागर्ति स्फुरति । ततस्तस्मिन् स्पृष्टे च सति विससर्प प्रससार। स कम्पः द्रुतं शीघ्रं गते अपगते सति तस्य पदशब्दाद्भीत्या कर्त्र्या परं स्वहस्तवान् कृतः दत्त-स्वहस्तः, प्रबलीकृत इत्यर्थः, स्वहस्तशब्दान्मत्वन्तात् "तत्करोति" इति णिचि णाविष्ठवद्भावे विण्मतोर्लुक्। ततः कर्मणि क्तः ॥ ३३ ॥

उस (नल) की छायाको देखनेवाली सुलोचनाओंका जो कम्प पहले उत्पन्न हुआ, वह कम्प उस (नल) का स्पर्श करनेपर बढ़ गया (दर्शनसे कम्परूप सात्त्विक भाव का कम तथा स्पर्शसे अधिक होना उचित ही है। (किन्तु परस्त्री-दर्शनजन्यपाप न होनेके लिये वहांसे नलके शीघ्र हटनेपर उनके पैरोंकी ध्वनिसे उत्पन्न भयसे सहारा दिये गयेके समान वह कम्प अत्यन्त बढ़ गया । [प्रथम दोनों अवस्थाओंमें उत्तरोत्तर बढ़नेवाला कम्प शृङ्गाररससे उत्पन्न था, पुनः तृतीयावस्थामें होनेवाले अत्यन्त अधिक कम्प भयानक रससे उत्पन्न था ॥ ३३ ॥

उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः ।
अश्मैव रत्यास्तदनर्ति पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम ॥ ३४ ॥

उल्लास्येति ॥ रत्याः पत्या कामेन स्पृष्टं नलाङ्गं येन तत्तासामङ्गमुल्लास्यतामुल्लासं प्राप्यताम् । उल्लासयतेः कर्मणि लोट् । नलच्छायस्य नलप्रतिबिम्बस्य पिबा, तद्दर्शि-नीत्यर्थः। 'पाघ्रा'इत्यादिना शप्रत्ययः, पिबादेशश्च । तासां दृष्टिरपि उल्लास्यताम्, तयोश्चेतनत्वादिति भावः । छेदे कर्तनेऽप्यबोधं बोधरहितम्, अचेतनं लोम, अहर्षि हर्षितमिति यत् । हृषेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । तदश्मैव पाषाण एव, अनर्ति अश्मनर्तन-प्रायं रोमहर्षणं कुर्वाणस्य कामस्य किमसाध्यमिति भावः । अत्र रोमहर्षणाश्मनर्तन-वाक्यार्थयोर्यत्तच्छब्दावगतसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सादृश्याक्षेपाद्वाक्यार्थवृत्तिनि-दर्शनालङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् ॥ ३४ ॥

रतिपति कामदेव नलके शरीरको स्पर्श करनेवाले उन स्त्रियोंके अङ्गोंको तथा नलके प्रतिबिम्बको देखनेवाले उनके नेत्रोंको (भले ही हर्ष होनेसे) उल्लासित करे (यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है किन्तु) काटनेपर भी चेतनाशून्य रोमको जो उसने हर्षित कर दिया (स्त्रियोंके शरीरको रोमाञ्च युक्त कर दिया), वह पत्थरको ही नचा दिया। [चेतनायुक्त शरीर या नेत्रको उल्लासित करना सामान्य बात है, किन्तु कामदेवने—जो बाल काटनेपर भी चेतनाहीन रहते हैं उनको हर्षित कर जड़ पत्थरको नचानेके समान आश्चर्यकारक काम किया॥ सब स्त्रियां नलके शरीरका स्पर्शकर तथा उनके प्रतिबिम्बको देखकर रोमाञ्चित हो गयीं]॥ ३४॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि तं देशमगान्मृगाक्षी।
निपत्य तत्रास्य धरारजःस्थे पादे प्रसीदेति शनैरवादीत्॥ ३५॥

यस्मिन्निति॥ मृगाक्षी यस्मिन् देशे नलस्य स्पृष्टकं आलिङ्गनविशेषम्। "यद्योषितस्सम्मुखमागताया अन्यापदेशाद् व्रजतो नरस्य। गात्रेण गात्रं घटते तदेतदालिङ्गनं स्पृष्टकमाहुरार्याः॥" इति रतिरहस्येऽभिधानात्। एत्य प्राप्य, हृष्टा तं देशं भूयोऽप्यगात्। पुनः स्पर्शलोभादिति भावः। किंतु तत्र देशे धरारजःस्थे भूपरागनिष्ठे अस्य नलस्य पादे पादप्रतिकृतौ निपत्य, प्रसीद मां पुनः स्पर्शेनानुगृहाणेति शनैरवादीत्। न तु स्पर्शं लेभे। तस्यापगमादिति भावः॥ ३५॥

मृगनयनी जिस स्थानपर नलके (सम्मुख अन्य कार्यसे जाती हुई उनके) शरीरके स्पर्शसे 'स्पृष्टक' नामक आलिङ्गनको प्राप्तकर हर्षित हुई थी, उस स्थानपर (उनके आलिङ्गन सुखको पानेके लिये) पुनः गयी (किन्तु वहांसे नलके हट जानेके कारण उनके आलिङ्गनके सुखको नहीं प्राप्त करनेसे) वहांपर भूमिकी धूलिमें स्थित (चिह्नित) इस नलके पैरमें गिरकर (प्रणाम) प्रसन्न होइये, ऐसा धीरेसे कहा। [परकीया नायिका परपुरुषके स्पर्शसे सुखानुभवकर पुनः संभोगादिके लिये वहां जानेपर उसे प्रसन्न करनेके लिये पैरोंपर गिरकर दूसरा कोई न सुन ले इस कारण धीरेसे प्रार्थना करती है। वह स्त्री नलमें अत्यन्त आशक्त हो गयी]॥ ३५॥

भ्रमन्नमुष्यामुपकारिकायामायास्य भैमीविरहात्कृशीयान्।
असौ मुहुः सौधपरम्पराणां व्यधत्त विश्रान्तिमुपत्यकासु॥ ३६॥

भ्रमन्निति॥ भैमीविरहात् कृशीयान् अतिकृशोऽसौ नलः। अमुष्यामुपकारिकायां राजसद्मनीत्यर्थः। भ्रमन् सञ्चरन्, आयास्य परिश्रम्य, मुहुः सौधपरम्पराणाम्, उपत्यकास्वासन्नभूमिषु। अत्र सौधानां पर्वतसाधर्म्यात् गौणोऽयं प्रयोगः। "उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः" इति त्यकन्प्रत्ययस्य पर्वतासन्नभूमिसंज्ञात्वेन विधानात्। "उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमि"रित्यभिधानत्तथैव प्रयोगाच्च। संज्ञात्वादेव कात्पूर्वस्येकाराभावः। विश्रान्तिं व्यधत्त विश्रान्तोऽभूदित्यर्थः॥ ३६॥

दमयन्तीके विरहसे अत्यन्त कृश यह (नल) अन्तःपुरमें घूमते-घूमते अत्यन्त थककर प्रासाद-समूहोंके पासकी भूमिमें बार-बार विश्राम किये । [जैसे अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति एक घरमें भी चलते चलते थककर बार-बार विश्राम करता है, वैसे विरहदुर्बल नलका भी वैसा करना उचित ही है ॥ बहुत देरतक घूमते-घूमते थककर नल एक जगह बैठकर विश्राम करने लगे] ॥ ३६ ॥

उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथादर्शि तथैव भैमी ।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥ ३७ ॥

किं चात्र विश्रान्तो विनोदाय भैमीप्रतिकृतिमालिख्याद्राक्षीदित्याह श्लोकद्वयेन– उल्लिख्येति ॥ नन्वदृष्टपूर्वां तां कथमलिखदिति शङ्कां निरस्यन्नाह—पूर्वं हंसेन नलिन्या दले भैमी यथा येन प्रकारेण उल्लिख्य तस्मै नलायादर्शि दर्शिता । तथैव तेन नलेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा कण्ठार्पितनिजमुक्ताहारा, तदा विलिखितेत्यर्थः । दृष्टा सती कस्या विस्मयाय नाजनि न जाता, सर्वस्या अपि जातेत्यर्थः ॥३७॥

हंसने कमलके पत्तेपर चित्र बनाकर जैसी दमयन्तीको नलके लिये दिखलाया था, (विश्राम करते समय बैठे हुए) उस नलने वैसा ही चित्र बनाकर उस (चित्रगत दमयन्ती) को अपना हार पहना दिया, हार पहनी हुई चित्रगत उस दमयन्तीको देखकर किस स्त्रीको आश्चर्य नहीं हुआ ? अर्थात् सभीको आश्चर्य हुआ । [थककर विश्राम करते हुए नलने मनोविनोदके लिये पहले हंसके द्वारा कमलपत्रपर चित्रित दमयन्तीके समान ही दमयन्तीका चित्र बनाकर उसे अपना हार पहना दिया, उसे देख सभी अन्तःपुरकी स्त्रियां 'किसने राजकुमारीका चित्र बनाकर हार पहना दिया ?' इस प्रकार आश्चर्य करने लगीं] ॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना ।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्थामवस्थां परिचेतुकामा ॥ ३८ ॥

कौमारेति ॥ तेन नलेन यौवनस्येयं यौवनीया । वृद्धाच्छः । तस्यां द्वारि द्वारे, प्रमुखे च तिष्ठतीति यौवनीयद्वाःस्था । "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इति रेफस्य विसर्जनीये तस्य वा सत्वम् । तामवस्थां दौवारिकदशां यौवनप्रवेशदशां च, परिचेतुकामा अभ्यसितुकामा । अत एव रोमावलिरेव वेत्रं दण्डः तच्चिह्नं यस्याः सा । कौमारगन्ध एषामस्तीति कौमारगन्धीनि शैशवसंस्पर्शीनि, वृत्तानि चापलानि, निवारयन्ती सा दमयन्ती आलिख्य ऐक्ष्यत । ईक्षतेः कर्मणि लङ् । वयःसन्धौ वर्तमानान्तामालिख्य अद्राक्षीदित्यर्थः । रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

बाल-सम्बन्धी कुछ-कुछ आचरणों (चञ्चलता या बाल्यक्रीडा आदि) को निवारण करती (छोड़ती) हुई रोमावलीरूप बेंतकी छड़ीके चिह्नसे युक्त तथा युवावस्थासम्बन्धी द्वारपर स्थित अवस्थाको स्वीकृत या उससे परिचय करनेकी इच्छा करनेवाली दमयन्तीको लिख (चित्रित) कर नल देखते रहे । [दमयन्तीका बाल्य समाप्तप्राय है तथा वह अब युवा-

वस्थामें प्रवेश कर रही है, जैसे द्वारपालरूपमें स्थित अन्य कोई व्यक्ति छड़ी लेकर किसीको रोकता है, वैसे ही यह दमयन्ती भी उस बाल्यक्रीडादिको युवावस्थाके आरम्भमें नाभिके नीचे उत्पन्न होती हुई रोमावलिरूप बेंतको धारणकी हुई रोक रही है तथा युवावस्थासम्बन्धी द्वारकी अवस्थाका परिचय (युवावस्थामें प्रवेश) कर रही है] ॥ ३८ ॥

पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे ।
चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

पश्या इति ॥ सान्द्राणि चन्द्ररजांसि कर्पूरपांसवः । 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम् । घनसारश्चन्द्रसंज्ञः' इत्यमरः । तैः कृतक्रीडं कुमारचक्रं, बालसङ्घो यस्मिन् तस्मिन् अध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं सार्वभौमलक्षणं, तस्य नलस्य, अङ्घ्रिप्रतिमासु पादन्यासेषु । चक्रं चक्ररेखाः पश्यन्तीति पश्याः पश्यन्तीः, "पाघ्रा"इत्यादिना शप्रत्ययः पश्यादेशश्च । पुरन्ध्रीः प्रति स्त्रिय उद्दिश्य चित्राणि चक्रे । तासामाश्चर्याणि जनयामासेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

सघन कर्पूर-धूलिमें (या सघन कर्पूर-धूलिसे) खेले हैं राजकुमार जिसमें ऐसे मार्गमें उस नलके पैरोंके चिह्नोंमें चक्रवर्तीका चिह्नभूत चक्रने देखती हुई स्त्रियोंको आश्चर्यित कर दिया । [नल जिस मार्गसे गये वह मार्ग बहुत-सी कर्पूरधूलिवाला था तथा वहां पर पहले राजकुमार क्रीडा कर चुके थे, उस मार्गमें नलके पैरके चिह्न पड़ गये, उन चिह्नोंमें चक्रवर्तीके लक्षणभूत चक्रका चिह्न था, उसे देखकर स्त्रियां आश्चर्य करने लगीं कि कौन चक्रवर्ती इस मार्गसे गया है, जिसके पैरोंके चिह्नमें यह चक्र दीख रहा है । उन खेलनेवाले राजकुमारोंके पादचिह्नको अपेक्षा बड़ा होनेके कारण 'यह चिह्न किसी राजकुमारका ही है' यह सन्देह उन स्त्रियों को नहीं हुआ] ॥ ३९ ॥

तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणीक्षणयोरभिख्याम् ।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥ ४० ॥

तारुण्येति ॥ तारुण्यपुण्यां यौवनमनोज्ञाम् । 'पुण्यं मनोज्ञ' इति विश्वः अन्योन्यमभिख्यां शोभामवलोकयन्त्योरेणीक्षणयोः मृगाक्ष्योर्मध्ये गच्छन् मुहूर्तम्, ईषत्कालम्, आकस्मिकाच्छादनेन निर्हेतुकव्यवधानेन विस्मयाय बभूव । अत्र व्यवधानकारणं विना व्यवधानोत्केरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४० ॥

यौवनावस्थाकी मनोज्ञ शोभाको परस्पर देखती हुई दो मृगनयनी स्त्रियोंके बीचमें जाते हुए वे नल क्षणमात्र आकस्मिक आवरण (रुकावट) होनेसे उनके आश्चर्यके लिये हुए । [इच्छानुसार अन्तर्द्धि सिद्धिके वरदान (५।१३७) पानेसे नलको अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं अदृश्य होनेपर भी उनकी छायाके अदृश्य नहीं होने तथा उनके शरीर तथा भूषण आदिका स्पर्श दूसरोंको होनेमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये] ॥ ४० ॥

पुरःस्थितस्य क्वचिदस्य भूषारत्नेषु नार्यः प्रतिबिम्बितानि ।
व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः ॥४१॥

पुर इति ॥ क्वचिद्देशे नार्यः पुरःस्थितस्य नलस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु, निजानि प्रतिबिम्बितानि प्रतिबिम्बानि, व्योमनि शून्ये विस्मित्य विस्मित्य पुनः पुनः विस्मिता भूत्वा । सहस्रकृत्वः सहस्रवारमपश्यन् । अत्रापि निरालम्बनप्रतिबिम्बदर्शनोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४१ ॥

स्त्रियोंने (अपने) आगे स्थित नलके भूषण-मणियोंमें अपने प्रतिबिम्बोंको अत्यन्त आश्चर्यित होकर हजारों (अनेकों) वार आकाशमें देखा । [आकाशमें किसीकी कोई वस्तु कदापि प्रतिबिम्बित नहीं होती, किन्तु हमलोगोंका प्रतिबिम्ब आकाशमें दीखरहा है, अतः अन्तःपुरकी स्त्रियोंने बहुत वार आश्चर्यचकित होकर प्रतिबिम्बोंको देखा] ॥ ४१ ॥

तस्मिन् विषज्यार्धपथान्निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।
विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ॥ ४२ ॥

तस्मिन्निति ॥ इन्दुमुख्यः स्त्रियः, मिथः क्षिप्तम्, अन्योन्यं प्रति प्रेरितं किन्तु । तस्मिन्नले विषज्य लग्भित्वा अर्धः पन्थाः अर्धपथः, विशेषणसमासे समासान्तः । "अर्धं नपुंसकम्" इत्येकदेशसमास इति केचित् । तत्र समांशनिबन्धः । तस्मान्निवृत्तं प्रत्यागच्छन्तं, तस्य नलस्याङ्गरागेण च्छुरितं रूषितं, कन्दुकं निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्यः कुत एतदिति पुनःपुनरनुसन्दधाना विस्मेरतां विस्मितत्वमापुः । "नमिकम्पिस्मि" इत्यादिना रप्रत्ययः ॥ ४२ ॥

चन्द्रमुखियां परस्परमें एक दूसरेको लक्ष्यकर फेंका गया, किन्तु नलके शरीरमें टकराकर आधे रास्तेमें ही गिरा हुआ तथा उनके शरीर-राग (चन्दन आदि) से व्याप्त गेंदको देख (किसका यह अङ्गराग इसमें लग गया ? तथा यह आधे रास्तेमें ही क्यों गिर पड़ा ? ऐसा) विचार करती हुई आश्चर्यित हो गयीं ॥ ४२ ॥

पुंसि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाप्यवीक्षानियमव्रतिन्यः ।
छायासु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोरानशिरे महिष्यः ॥ ४३ ॥

पुंसीति । महिष्यो राजदाराः, स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते पुंसि परपुरुषे विषये अवीक्षानियमेन अनिरीक्षासङ्कल्पेन, व्रतिन्यः व्रतवत्यो भूत्वा तस्य नलस्य भुवि कुट्टिमभूमौ छायासु प्रतिबिम्बेषु रूपंसौन्दर्यं वीक्ष्य दृशोः फलमानशिरे प्रापुः । "अत आदेः" इत्यभ्यासदीर्घः । "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः ॥ ४३ ॥

अपने पति (राजा भीम) के अतिरिक्त पुरुषको न देखनेका नियम पूर्वक व्रत पालन करनेवाली होकर भी पटरानियोंने मणिमय भूमि (फर्श) पर (पड़ी हुई) नलकी परछाहीं में उनका रूप देखकर नेत्रोंका फल प्राप्त कर लिया । [प्रतिबिम्बमें नलका रूप देखनेसे उनका व्रत-भङ्ग भी नहीं हुआ । तथा सुन्दरतमरूप देखनेसे उनके नेत्र भी सफल हो गये] ॥

विलोक्य तच्छायमतर्कि ताभिः पतिं प्रति स्वं वसुधापि धत्ते ।
यथा वयं किं मदनं तथैनं त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम् ॥ ४४ ॥

विलोक्येति ॥ ताभिः राजमहिषीभिः, तस्य नलस्य, छाया अनातपरेखा तच्छायम् । नीलमिति शेषः । विलोक्य यथा वयं, स्वं स्वकीयं, पतिं भीमं, प्रत्युद्बुद्धम्, मदनं दध्महे । तथा वसुधापि स्वं पतिं भीममेव प्रत्युद्बुद्धम् । किन्तु, त्रिनेत्रस्य ईश्वरस्य, नेत्रानलकीलैर्नेत्राग्निज्वालैः, नीलं कृष्णवर्णम्, एनं मदनं धत्ते किमित्यतर्कि उत्प्रेक्षितम् । नलच्छाये वसुधागते तस्मिन्मदनत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः । नलच्छायेऽपि स्त्रीणां मदनविभ्रमः, नले तु किमु वक्तव्यमिति शेषः ॥ ४४ ॥

नलके प्रतिबिम्बको देखकर उन (पटरानियों) ने ऐसा तर्क किया—"जिस प्रकार अपने पति (भीम) के प्रति हमलोग मदनको (हृदयमें) धारण करती हैं, उसी प्रकार पृथ्वी भी अपने पति (भीम) के प्रति शिवजीकी नेत्राग्निकी ज्वालासे श्यामवर्ण मदनको धारण करती है । [अथवा—जिस प्रकार हमलोग लज्जावश भीमके प्रति कामको छिपाती हैं, उसी प्रकार पृथ्वी अपने पति भीमके प्रति शिवजीके तृतीय नेत्राग्निकी ज्वालासे श्यामवर्ण कामदेवको (अन्तःकरणमें) छिपाती है । भीमको भूपति होनेसे पृथ्वीका भी पति होना स्वयंसिद्ध है । छायाके श्याम वर्ण होनेसे यहां शिवनेत्राग्नि-ज्वालाका वर्णन है, अग्निकी ज्वालासे कोई भी पदार्थ श्यामवर्ण (धूम्रयुक्त) हो जाता है] ॥ ४४ ॥

रूपं प्रतिच्छायिकयोपनीतमालोकि ताभिर्यदि नाम कामम् ।
तथापि नालोकि तदस्य रूपं हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् ॥ ४५ ॥

नन्वेवं नलविलोकिनीनामासां कथं न परपुरुषनिरीक्षणे व्रतलोपस्तत्राह—रूपमिति ॥ प्रतिच्छायैव प्रतिच्छायिका । स्वार्थे कः । "कात्पूर्वस्य" इतीकारः । तयोपनीतं रूपं छायात्मकं स्वरूपं ताभिः स्त्रीभिरालोकि यदि आलोकितं चेत् । कामं यथेच्छमालोक्यतां नाम । तथापि हारिद्रभङ्गाय हरिद्राखण्डाय वितीर्णभङ्गं दत्तपराजयम्, तत्स्वरूपमित्यर्थः । अस्य तत्प्रसिद्धं रूपं स्वरूपं नालोकि नालोकितम् । साक्षाद्रूपदर्शने दोषः, न प्रतिच्छायादर्शन इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

उन (पटरानियों) ने प्रतिबिम्बमें यद्यपि नलका स्वरूप (या सौन्दर्य) अच्छी तरह देखा, तथापि हल्दीके टुकड़े (या सुवर्ण) को (अपनी सुन्दरतासे) पराजित करनेवाले इस (नल) के उस (अति प्रसिद्ध एवं अवर्णनीय) रूपको नहीं देखा ॥ ४५ ॥

भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु ।
पुरं परस्य प्रविशन् वियोगी योगीव चित्रं स रराज राजा ॥ ४६ ॥

भवन्निति । वियोगी विरही अयोगो च । स राजा नलः, अदृश्यो भवन् स्वयमदृश्यः सन् मणिकुट्टिमेषु मणिनिबद्धभूमिषु, प्रतिबिम्बदेहानां व्यूहं समूहं, वितन्वन् सम्पादयन् । योगिपक्षे बहूनि योगशरीराणि युगपत् कल्पयन् । तथा परस्य राजा-

न्तरस्य, पुरं नगरम् । अन्यत्र जीवान्तरस्य शरीरं परकायं प्रविशन् । 'पुरं पुरि शरीरे च' इति विश्वः । योगी अणिमादिसिद्धिमानिव, रराज चित्रम् ॥ ४६ ॥

वियोगी (दमयन्ती-विरहयुक्त) नल अदृश्य होकर मणिमय भूमिमें प्रतिबिम्बसे अपने देह-समूहको विस्तृत करते हुए तथा दूसरेके नगर (अथवा एक गृहसे ऊपरके घरमें पद्मान्तरमें—दूसरेके शरीरमें) प्रवेश करते हुए योगी अर्थात् मुनिके समान शोभमान हुए, यह आश्चर्य है। [वियोगीका योगीके समान होना आश्चर्यकारक होता ही है। योगी भी अपने कायव्यूहका विस्तार करता है, अदृश्य होता है तथा वियोगी अर्थात् विषयोंसे विरक्त होता है] ॥ ४६ ॥

पुमानिवास्पर्शि मया भ्रमन्त्या छाया मया पुंस इव व्यलोकि ।
ब्रुवन्निवातर्कि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैणगिरः शृणोति ॥ ४७ ॥

पुमानिति । भ्रमन्त्या मया पुमानिवास्पर्शि स्पृष्टः । मया पुंसः छायेव व्यलोकि विलोकिता । मयापि कश्चित् ब्रुवन् लपन्निव, अतर्कि तर्कितः । सर्वत्र कर्मणि लुङ् । इत्येवंरूपाः स्त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य गिरः । यद्वा, स्त्रीषु भवाः स्त्रैणाः गिरः । "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इति भवार्थे नञ्प्रत्ययः । स नलः, शृणोति स्म । "लट् स्मे" इति भूते लट् ॥ ४७ ॥

'घूमती हुई मैंने पुरुषके समान किसीका स्पर्श किया, मैंने पुरुषके समान किसीका प्रतिबिम्ब देखा, मैंने पुरुषके 'समान किसीके शब्दका अनुमान किया' इस प्रकार (परस्परमें या दमयन्तीसे कहते हुए) स्त्री-समूहके (अथवा—स्त्री—सम्बन्धी) वचनको नल ने सुना ॥४७॥

अम्बां प्रणम्योपनता नताङ्गी नलेन भैमी पथि योगमाप ।
स भ्रान्तभैमीषु न तां विवेद सा तं च नादृश्यतया ददर्श ॥ ४८ ॥

अम्बामिति ॥ नताङ्गी व्यानतगात्री भैमी । अम्बां मातरम् । 'अम्बा सवित्री जननी माता च' इति हलायुधः । प्रणम्योपनता सती, नलेन पथि योगमाप । किन्तु स नलो भ्रान्तभैमीषु अलीकभैमीषु मध्ये तां न विवेद विविच्य नाजानात्, सा च तं नलम् अदृश्यतया न ददर्श । अत्र रूपसाम्यादभ्रान्तभैम्याः भ्रान्तभैमीभिः सहाभेदाभिधानात् सामान्यालङ्कारः । "सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता" इति लक्षणात् ॥ ४८ ॥

माताको प्रणाम कर आयी हुई नताङ्गी दमयन्तीने रास्तेमें नलका स्पर्श कर लिया । तब नलने भ्रान्तिसे शतशः कल्पित दमयन्तीके बीचमें उसको वास्तविक दमयन्ती नहीं माना और उस (दमयन्ती) ने भी अदृश्य होने से नलको नहीं देखा । [दोनोंमेंसे वास्तविक रूपमें किसीने किसीको नहीं पहचाना] ॥ ४८ ॥

प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला नलस्य भ्रमवीक्षितस्य ।
क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपकण्ठे स्थितं तमालम्बत सत्यमेव ॥ ४९ ॥

प्रस्विति । प्रसूप्रसादाधिगता मातृप्रसादलब्धा । 'जनयित्री प्रसूर्माता जननी" इत्यमरः । प्रसूनमाला पुष्पमालिका । तया भैम्या भ्रमवीक्षितस्य भ्रान्तिदृष्टस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ताप्युपकण्ठे समीपे स्थितं सत्यमेव तथ्यमेव तं नलमालम्बत प्राप । मणिप्रभायां मणिबुद्धिन्यायादिति भावः ॥ ४९ ॥

माता द्वारा प्रसन्नतासे दी हुई पुष्पकी माला, भ्रान्तिसे देखे जाते हुए नलके कण्ठके लिये फेंकी गयी भी वास्तविक नलको अवलम्बित हुई । [नलको दमयन्ती सर्वदा सब दिशाओंमें भ्रान्तिवश देखा करती थी, अतः उसी भ्रान्तिमें देखे जानेवाले नलको लक्ष्यकर दमयन्तीने माता द्वारा प्रसादरूपमें प्राप्त पुष्प-मालाको फेंका और वह वास्तविक नलके गलेमें पड़ गयी । इस वर्णन द्वारा 'भविष्यमें' दमयन्ती नलको ही जयमाल पहनावेगी' यह शकुन सूचित होता है] ॥ ४९ ॥

स्रग्वासनादृष्टजनप्रसादः सत्येयमित्यद्भुतमाप भूपः ।
क्षिप्तामदृश्यत्वमितां च मालामालोक्य तां विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

स्रगिति ॥ भूपो नलः, वासनया निरन्तरभावनया, दृष्टस्य जनस्य, अलीकभैम्याः प्रसादोऽनुग्रहभूता इयं स्रक् सत्या सत्यभूतेति हेतोरद्भुतमाप । बाला भैमी च, क्षिप्तामात्मना न्यस्ताम् । अथ अदृश्यत्वमितां प्राप्तां तां मालामालोक्य आलोच्य विस्मयते स्म विस्मिताभूत् ॥ ५० ॥

सर्वदा भावनामें देखी जाती हुई दमयन्तीका प्रसाद यह माला सत्य है, इस कारण राजा (नल) आश्चर्यित हुए भ्रान्ति-दृष्ट व्यक्तिकी दी हुई वस्तु भी असत्य ही होती है, पर यह पुष्पमाला तो असत्य नहीं है, सो कैसे हुआ इस कारण नलको आश्चर्य हुआ) तथा फेंकी गयी पुष्पमालाको पुनः न देखकर बाला (दमयन्ती) भी आश्चर्ययुक्त हो गयी (मैंने जिस मालाको अभी फेंका, वह कहां अदृश्य हो गयी ? यह दमयन्तीको आश्चर्य हुआ) ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे ।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते ॥ ५१ ॥

अन्योन्यमिति ॥ तौ भैमीनलौ, परस्परेणाध्युषिते देशेऽपि अन्योन्यमिति कर्मनिर्देशः । नलो भैमीं सा च नलमित्यर्थः । अन्यत्रवद्देशान्तर इवेक्षमाणौ, अन्यत्र स्थायिनाविव पश्यन्तावित्यर्थः । आलिङ्गितमालिङ्गनम्, अलीकं यस्य तदालिङ्गितालीकम्, एतदालिङ्गनं मिथ्येत्यभिमानं, परस्परस्यान्तरन्तःकरणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा । अव्ययोत्तरपदो बहुव्रीहिः । अव्ययं रेफान्तं क्रियाविशेषणम् । मिथोऽन्योन्यं तथ्यं यथार्थमेव । परिषस्वजाते श्लिष्यतः । "उपसर्गात्सुनोति" इत्यादिना षत्वम् । पूर्ववासनया परस्परचेष्टां मिथ्येति मन्यमानावेव तथ्यमचेष्टतामित्यर्थः ॥ ५१ ॥

परस्पर एक स्थानपर स्थित वे दोनों (दमयन्ती तथा नल) ने परस्परमें एक दूसरेको अन्यत्र स्थितके समान देखते हुए तथा यह आलिङ्गन मेरा पूर्ववत् भ्रान्तिवश ही हो रहा है ऐसा हृदयमें समझते हुए वास्तवमें सचमुच ही परस्पर आलिङ्गन कर लिया । [अदृश्य नल एक स्थानपर ठहरे थे, दमयन्ती भी वहीं ठहरी थी, वहां दोनोंने परस्परमें एक दूसरेको देखते हुए आलिङ्गन कर लेनेपर भी मनमें यही समझा कि यह आलिङ्गन भी हमलोगोंका वैसा ही भ्रमजन्य है जैसा पहले कई बार हो चुका है] ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याधिगतापि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदर्शनेन ।
नृपस्तु पश्यन्नपि तामुदीतस्तम्भो न धर्तुं सहसा शशाक ॥ ५२ ॥

स्पर्शमिति ॥ भैमी तं तथ्यं स्पर्शम् अधिगता प्राप्तापि । पुनरस्य नलस्य अदर्शनेनादृश्यत्वेन, भ्रान्तिं मेने । अतो नलं धर्तुं न शशाकेति शेषः । नृपस्तु पश्यन्नप्युदीतस्तम्भो निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः सात्त्विको यस्य, स सन् । तां भैमीं, सहसा धर्तुं ग्रहीतुं न शशाक । अन्यथा धरेदिति भावः । उदीतेति ईङ् गताविति दीर्घेण 'ई' धातुनानिष्पन्नम् । अत्र स्तम्भपदार्थस्य विशेषणगत्या धारणाशक्तिहेतुकत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

नलके वास्तविक स्पर्शका अनुभव करनेवाली भी दमयन्तीने उनको नहीं देखनेसे उस स्पर्शको भ्रमजन्य ही माना, तथा उसे (दमयन्तीको) देखते हुए भी वे राजा (नल) जडता (नामक सात्त्विक भाव) के उत्पन्न होनेसे सहसा उस दमयन्तीको पकड़ नहीं सके ॥५२॥

स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या प्रवृत्य मिथ्या[1] प्रतिलब्धबोधौ ।
पुनर्मिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तौ न श्रद्धाते पथि तौ विमुग्धौ ॥ ५३ ॥

स्पर्शेति । विमुग्धौ रागान्धौ, तौ दमयन्तीनलौ, पतिस्पर्शेनातिहर्षोऽतिमात्रानन्दः, तस्माद्धेतोस्तदन्यथानुपपत्त्या, आदृतया दृढीकृतया, सत्यमत्या सत्योऽयं स्पर्श इति बुध्या प्रवृत्य पुनर्व्यापृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ प्रवृत्तेऽपि स्पर्शालाभान्मिथ्येति निश्चितबोधौ, मिथ्येति बुद्धवन्तावित्यर्थः । पुनरित्थमुभयदर्शनानन्तरं, मिथोऽन्योन्यं, तथ्यं यथार्थमपि स्पृशन्तावपि, न श्रद्धाते न विशश्वसतुः । दधातेर्लिटि तङ् । श्रच्छब्दस्य "श्रदन्तरोरुपसङ्ख्यानमि"त्युपसर्गत्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः ॥

प्रथम स्पर्शसे उत्पन्न अत्यन्त हर्षसे उसे सत्य मानकर फिर आलिङ्गनमें प्रवृत्त होनेपर स्पर्श न होनेसे 'वह स्पर्श भ्रान्तिजन्य था' इस मिथ्याबुद्धिसे प्रथम–स्पर्श–जन्य सत्य बुद्धिके दूर हो जानेपर फिर (तृतीय वार) वास्तविक स्पर्श करते हुए भी वे दोनोंने मोहित होकर इस (वास्तविक तृतीय स्पर्शमें भी विश्वास नहीं किया) (इस सत्य स्पर्शको भी भ्रान्तिजन्य ही माना) ॥ ५३ ॥

---

१. "मिथ्यामतिलब्धबाधौ" इति पाठान्तरम् ।

सर्वत्र संवाद्यमबाधमानौ रूपश्रियातिथ्यकरं परं तौ ।
न शेकतुः केलिरसाद्विरन्तुमलीकमालोक्य परस्परं तु ॥ ५४ ॥

सर्वत्रेति ॥ तौ भैमीनलौ, रूपश्रिया सौन्दर्यसम्पदा, सर्वत्र सर्वावयवेषु संवाद्यं मिथस्संवादार्हं, परस्परानुरूपमित्यर्थः । अत एव परमत्यन्तमातिथ्यकरं मिथः सत्कारकारि । अलीकमसत्यं परस्परन्तु कर्म आलोक्य । अबाधमानौ मिथ्येत्यमन्यमानौ, केलिरसात् क्रीडारागाद्विरन्तुं निवर्तितुं न शेकतुः, किंत्वलीकेनापि परस्परेण क्रीडितुमाचकांक्षतुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

वे दोनों (दमयन्ती तथा नल) सौन्दर्य-सम्पत्तिसे सब अवयवोंमें परस्पर संवादके योग्य (परस्पर अविरुद्ध अर्थात् मिलता-जुलता हुआ । अतएव परस्परमें एक दूसरेका) अत्यन्त सत्कार करनेवाले अलीकको परस्पर देखकर असत्य नहीं समझते हुए क्रीडासे विरत नहीं हुए । अथवा अत्यन्त सौन्दर्य-शोभासे परस्परको अत्यन्त सुखकारक बहुत स्थानोंमें (स्पर्शादिसे) सत्यरूप मानते हुए वे दोनों (दमयन्ती तथा नल) असत्यको भी परस्पर देखकर क्रीडारससे विरत नहीं हुए । [कुछ स्थानोंमें असत्य स्पर्शादि होनेपर भी अनेक स्थानोंमें सत्य स्पर्शादि होनेसे उन दोनोंने क्रीडाका त्याग नहीं किया] ॥ ५४ ॥

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः ।
स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किञ्चिद् द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

परस्परेति ॥ तयोर्भैमीनलयोः, चेतसि विप्रलम्भो विरहः, परस्परस्पर्शरसस्य अन्योन्यस्पर्शसुखस्य, ऊर्मिभिः सेकात् क्षणं स्नेहस्य तैलादेरतिदानाद्दीपिकार्चिर्दीपज्वालेव किञ्चिदीषन्निमिष्य निवार्य, द्वौ गुणावावृत्ती यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा द्विगुणम्, अधिकं दिदीपे प्रजज्वाल । सोऽप्युद्दीपक एवाभूदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

उन दोनोंके चित्तमें स्थित विरह आपसके स्पर्श-रसको अधिकताके सिञ्चनसे (पक्षान्तरमें—स्पर्शानन्दरूपी जलके तरङ्गके द्वारा सींचनेसे) क्षणमात्र कुछ सङ्कुचित-सा होकर अधिक स्नेह (प्रेम, पक्षान्तरमें—तैल) के देनेसे दीपकके लौके समान फिर द्विगुणित होकर उद्दीप्त होने (बढ़ने, पक्षान्तरमें—जलने) लगा । जैसे अधिक तेल डालने से दीपकका लौ पहले कुछ बुझता-सा होकर फिर द्विगुणित होकर जलने लगता है, वैसे ही अधिक प्रेमसे स्पर्शादि सुख द्वारा वैसे ही क्षणमात्र शान्त भी उन दोनोंका विरह तत्काल ही अत्यन्त उद्दीप्त हो गया । मिलन नहीं होनेपर विरह उतना दुःसह नहीं होता, जितना मिलन होनेके बाद दुःसह होता है] ॥ ५५ ॥

वेश्माप सा धैर्यवियोगयोगाद्बोधञ्च मोहञ्च मुहुर्दधाना ।
पुनःपुनस्तत्र पुरः स पश्यन् बभ्राम तां सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥ ५६ ॥

वेश्मेति ॥ सा भैमी, धैर्यवियोगयोर्योगाद्यथासंख्यं मुहुर्बोधञ्च मोहञ्च दधानेति यथासंख्यालङ्कारः । वेश्म निजावासमाप । स नलस्तत्र तां सुभ्रुवं भैमीम् उद्भ्रमेण

भ्रान्त्या पुनः पुनः पुरोऽग्रे पश्यन् बभ्राम । प्राप्त्याशयेति भावः । एतेन चापलाख्यः सञ्चारिभाव उक्तः । 'चापलं त्वनवस्थानम्' इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

वह दमयन्ती धैर्य तथा वियोगके संसर्गसे (क्रमशः) ज्ञान ('यहां नल कहांसे आये ?' इस प्रकारका ज्ञान) तथा मोह ('यह नल ही है' इस प्रकारका मोह। अथवा—मूर्च्छा) को बारबार धारण करती हुई कुमारीगृहको चली गयी। तथा वे नल भ्रान्तिके कारण सुन्दर भौंहोंवाली उसे (दमयन्तीको) बारबार आगे देखते हुए (दमयन्तीको पानेकी इच्छासे) उस कुमारी-भवनमें घूमने लगे। [नलके इस कार्यसे 'चपलता' नामक सञ्चारी भाव सूचित होता है] ॥ ५६ ॥

पद्भ्यां नृपः सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथंचित् ।
विदर्भराजप्रभवानिवासं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद ॥ ५७ ॥

पद्भ्यामिति ॥ एष नृपः पद्भ्यां सञ्चरमाणो गच्छन् । "समस्तृतीयायुक्तात्" इति तृतीया। चिरं परिभ्रम्य कथंकथञ्चित् पादचारक्लेशादतिकृच्छ्रेण, विदर्भराजः प्रभवः कारणं यस्यास्तस्याः वैदर्भ्याः निवासम् । अभ्रं कषतीत्यभ्रंकषमत्युन्नतम् । "सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष" इति खच्प्रत्यये मुमागमः । प्रासादं सौधमाससाद ॥५७॥

पैदल घूमते हुए इस राजा नलने देरतक घूमकर किसी प्रकार (पैदल चलनेका कभी अभ्यास नहीं होनेके कारण बड़े कष्टसे) विदर्भराज-कुमारी (दमयन्ती) के निवासस्थान (पाठान्तरसे—कुमारीके मनोहर) प्रासादको प्राप्त किया ॥ ५७ ॥

सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीम् ।
विलोकयामास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायाम् ॥५८॥

सखीति ॥ नलस्तस्य प्रासादस्य प्रतोल्यां प्राङ्गणे या मणिवेदिका तस्यां सखीशतानां सरसैः सानुरागैर्विलासैर्लीलाभिः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीं कामान्तःपुरभ्रान्तिकरीं भैम्याः सभामास्थानीं विलोकयामास ॥ ५८ ॥

उस नलने उस राजकुमारी-भवनके प्राङ्गण (या गली) की वेदी (चौतरे) पर सैकड़ों सखियोंके द्वारा शृङ्गार भावयुक्त विलाससे कामदेवके अन्तःपुरके भ्रमको पैदा करती हुई दमयन्तीकी सभाको देखा। [दमयन्तीकी सखियोंको रतिके समान सुन्दरी होनेसे कामदेवके अन्तःपुरका भ्रम दर्शकोंको हो जाता था। वैसा ही नलको भी भ्रम हुआ] ॥ ५८ ॥

कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरेखः ।
इत्यन्तरस्तूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५६ ॥

अथ कण्ठ इत्यादिभिः चतुर्दशभिस्तां सभां वर्णयति—कण्ठ इति । यत्र सभायां कलं मधुरमालपन्ती कापि बाला । नलेन तिस्रो रेखा अस्य सन्तीति त्रिरेखः अस्याः कण्ठः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सन्तीति सूचयति किमिति अन्तरन्तःकरणे अस्तू-

यत स्तुता। अत्र कण्ठरेखात्रयस्य विशेषणगत्या निजपिकादित्रयविजयसूचकत्वोत्प्रेक्षाहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

जिस सभामें नलने बोलती हुई किसी (दमयन्तीकी सखी) की, "तीन रेखावाला इसका कण्ठ कोयल, वंशी तथा वीणाको (अपने मधुर स्वरसे) जीत लेनेकी सूचना कर रहा है क्या ?" ऐसी मनमें प्रशंसा की। [नल दमयन्तीकी कम्बुकण्ठी किसी सखीका मधुर स्वर सुनकर मोहित हो गये तीन रेखाओंसे युक्त कण्ठ 'कम्बुग्रीव' नामक शुभ लक्षणोंवाला होता है। ऐसा सामुद्रिक शास्त्रका वचन है] ॥ ५९ ॥

एतं नलं तं दमयन्ति ! पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधान् ।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

एतमिति ॥ स नलो यत्र सभायां, नारीकरवर्तिशारीमुखात् कान्ताकरगतशारिकामुखात्, हे दमयन्ति ! तमेतं नलं पश्य। आर्तिं पीडां त्यज। इत्येवंरूपान् आलिकुलप्रबोधान् आलिकुलस्य सखीजनस्य, प्रबोध्यते एभिरिति, प्रबोधान् आश्वासनोक्तीः, करणे घञ्प्रत्ययः। श्रुत्वा स्वकीयात्मानं दृष्टमाशङ्कत। एतं नलं पश्येति निर्देशादेताभिर्दृष्टोऽस्मीति शङ्कितवानित्यर्थः। शारीवाक्ये नारीवाक्यभ्रमादिति भावः। अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ६० ॥

जहांपर नलने सखीके हाथपर बैठी हुई मैनाके मुखसे "हे दमयन्ती ! उस (चिराभिलषित) इस नलको देखो (विरह—) पीड़ाको छोड़ दो" इस प्रकार (दमयन्तीके प्रति कहे गये) आश्वासन वचनोंको सुनकर 'इन लोगोंने हमको देख लिया क्या ?' ऐसी आशङ्का की। [यदि इन लोगोंने मुझे देखा नहीं होता तो ये सारिकाको ऐसा क्यों पढ़ाती ? अथवा—मैनाके वचनको ही नलने साक्षात् सखीका वचन समझकर वैसी आशङ्का की] ॥

यत्रैकयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या ।
तदृक्पथे दौहृदिकोपनीता शालीनमाधायि मधूकमाला ॥ ६१ ॥

यत्रेति ॥ यत्र सभायां, तद्दृक्पथे नलदृष्टिपथे, मृषाभीमभवा आरोपितभैमी, अतया तया भवन्त्या एकया सख्या अलीकनलः, आरोपितनलः, असः स कृता अलीकनलीकृता तस्या आल्याः सख्याः कण्ठे दौहृदिकया धात्र्या उपनीता या मधूकमाला, शालीनं लज्जामन्थरं यथा तथा आधायि आहिता। दधातेः कर्मणि लुङ्। आतो युक् चिण्कृतोः" इति युगागमः। एतेन भैम्याः स्वयंवरत्वरा नलैकतानत्वञ्च व्यक्तं सदस्यजीवातुरासीदित्यर्थः ॥ ६१ ॥

जहांपर दमयन्तीका वेष धारण की हुई एक सखीने नलका वेष धारण की हुई दूसरी सखीके गलेमें धाई (पाठभेदसे—मालिन) से लाई हुई महुएकी मालाको नलके सामने ही लज्जासहित डाल दिया। [इससे स्वयंवरकी शीघ्रता तथा एकमात्र नलमें ही चित्तका होना तथा भविष्यमें दमयन्ती लाभरूप शुभ शकुन सूचित होता है, अथवा—दमयन्तीको रिझानेके लिये उसकी सखियां भी उसकी अभिलषित क्रीडा करती थीं] ॥ ६१ ॥

चन्द्राभमाभ्रं तिलकं दधाना तद्वन्निजास्येन्दुकृतानुबिम्बम् ।
सखीमुखे चन्द्रसखे[1] ससर्ज चन्द्रानवस्थामिव कापि यत्र ॥ ६२ ॥

चन्द्राभमिति । यत्र सभायां, कापि कान्ता, चन्द्राभं चन्द्रनिभं, आभ्रमभ्रविकारं तिलकं चन्द्रसखे सखीमुखे तद्वता आभ्रतिलकवता, निजास्येन्दुना कृतमनुबिम्बं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा दधाना रचयन्ती चन्द्रानवस्थां ससर्जेवेत्युत्प्रेक्षा । अत्र तिलकक्रियोत्पत्तौ स्वच्छद्रव्यतया परस्पराभिमुखावस्थितदर्पणवदितरेतराभ्रतिलकसंक्रान्तेरितरेतरतिलकचन्द्रपरम्परानन्तत्वादनवस्था क्रियानिष्पत्तिश्चेति भावः ॥ ६२ ॥

एक सखी चन्द्रतुल्य सखीके मुखमें 'अभ्र' नामक अतिशय निर्मल द्रवद्रव्यसे चन्द्रके समान तिलक कर रही थी, और उस अभ्रनामक द्रवद्रव्यके तिलकसे युक्त चन्द्र समान उस (तिलक करनेवाली) का मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था, इस प्रकार बहुतसे चन्द्रमाके हो जानेसे जिस दमयन्ती-सभामें तिलक करनेवाली सखीने चन्द्रमाकी अनवस्था (अनादर, या असंख्यता, या दुर्दशा कर दी । [तिलक करनेवाली सखीका मुखचन्द्र तथा चन्द्रतुल्य तिलक ये दो चन्द्र हुए ; जिसके मुखचन्द्रमें चन्द्रतिलक करती थी, उसका मुखचन्द्र तथा चन्द्रतुल्य तिलक—ये भी दो चन्द्र हुए, दोनों सखियोंके उक्त दो-दो चन्द्र एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित होनेसे प्रथम सखीका मुखचन्द्र तथा चन्द्रतुल्यतिलक दूसरी सखीके मुखचन्द्रमें तथा चन्द्रतुल्यतिलकमें प्रतिबिम्बित हुआ, तथा उसी प्रकार उस द्वितीय सखीके भी वे सब चन्द्र पहली सखीके मुखचन्द्र तथा चन्द्रतुल्य तिलकमें प्रतिबिम्बित हुए । इस प्रकार होनेसे) उस सखीने अनेक चन्द्रको उस दमयन्ती-सभामें उपस्थित कर चन्द्रमाकी अनवस्था कर दी । जहांपर कोई वस्तु अधिक प्राप्त होती है, उसका उतना आदर नहीं होता, जितना आदर एक वस्तुका होता है ॥ सब सखियोंका मुख चन्द्रमाके समान था] ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकैतकस्य क्षणान्मषीभावुकवर्णरेखम् ।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी नखलेखिनीभिः ॥ ६३ ॥

दलेति ॥ यत्र सभायां, भैमी, काञ्चनकैतकस्य स्वर्णकेतकीकुसुमस्य, दलोदरे पत्रमध्ये, क्षणात् झटिति मषीभावुकाः श्याभीभवन्त्यः, वर्णरेखा अक्षरविन्यासा यस्मिन् तम् । तस्य नलस्यैव कृते स्वं स्वकीयम्, अनङ्गलेखं कामसन्देशं, नखैरेव लेखिनीभिः लेखनिकाभिः लिलेख ॥ ६३ ॥

जिस सभामें दमयन्तीने, सुवर्णकेतकीके भीतरवाले पत्तेपर नखरूपी कलमसे, क्षणमात्रमें स्याही (के समान काली) होनेवाली वर्ण-रचना है जिसको ऐसे, नल-सम्बन्धी अपने कामपत्र (पतिके समीप भेजे जानेवाले कामवासनाजन्य प्रेमसूचक पत्र) को लिखा ।

---

१. "चन्द्रसमे" इति पाठान्तरम् ।

[दमयन्तीने सोनेके समान पीले एवं कोमल केतकीके भीतरवाले पत्तेपर नाखूनसे नल-सम्बन्धी जो पत्र लिखा, वह थोड़ी देरमें ही स्याहीसे लिखे हुए के समान काला होगया । कामिनियोंका अपने प्रेमीको पत्र लिखना तथा केतकी पत्रपर नखचिह्न करनेपर थोड़े समयके बाद उस नख-चिह्नका काला हो जाना अनुभवसे सिद्ध है] ॥ ६३ ॥

विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्याऽतिविख्यातिभृतापि यत्र ।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥ ६४ ॥

विलेखितुमिति ॥ यत्र सभायां लिपीषु चित्रकर्मसु । कृदिकारादक्तिनो वा ङीष्वक्तव्यः । अतिविख्यातिभृता अतिचतुरयापीत्यर्थः । सख्या भीमभुवो भैम्याः लीलाकमलं विलेखितुम् अशाकि । भावे लुङ् । शकेत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः पाणिं तु नाशाकि । तदपेक्षयोत्कृष्टत्वात् । तथा कर्णोत्पलं विलेखितुमपारि पर्याप्तं, पूर्ववल्लुङ् । "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेष्वि"ति तुमुन् प्रत्ययः । अक्षि तु नापार्यैव सर्वोपमानातीतत्वात्तल्लावण्यस्येति भावः ॥ ६४ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें चित्रकारी करनेमें अत्यन्त निपुण कोई सखी चित्रपटपर दमयन्तीका लीलाकमलका चित्र बना देनेपर भी उसके हाथका चित्र नहीं बना सकी, तथा कर्णोंमें भूषणभूत कमलोंका चित्र बना देनेपर भी उसके नेत्रोंका चित्र नहीं बना सकी। [कोई व्यक्ति लौकिक वस्तुओंको ही चित्रित करनेमें समर्थ होता है। अलौकिक वस्तुको चित्रित करनेमें समर्थ नहीं होता। दमयन्तीके हाथ तथा नेत्र अलौकिक (अनुपम सुन्दर) थे अतएव चित्रकारी करनेमें अत्यन्त निपुण भी उसको सखी उसके लीलाकमल तथा कर्णोत्पलके ही चित्रोंको बना सकी, हाथ तथा नेत्रको नहीं] ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः ।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः ॥ ६५ ॥

भैमीति ॥ यत्र सभायां, गन्धर्ववध्वो गन्धर्वाङ्गना एव । कलिप्रियस्य प्रियकलहस्य नारदस्य । "वा प्रियस्य" इति बहुव्रीहौ प्रियशब्दस्य परनिपातः । प्रियशिष्यवर्गः । स्वर एव मधु क्षौद्रं तेनारीणमरिक्तं पूर्णमिति यावत् । "ल्वादिभ्यः" इति निष्ठानत्वम् । तेन तस्या भैम्याः कण्ठनालेन सह एकधुरं वहन्तीत्येकधुरीणाः समा इत्यर्थः । "एकधुराल्लुक् च" इति खप्रत्ययः । ता वीणा यस्य सः सन्नेत्यागत्य भैमीमुपावीणयत् वीणया उपगायति स्म । "सत्यापपाशे"त्यादिना णिचि लङ् । गानविद्यायां गन्धर्वीणामप्युपास्या भैमीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें नारदजीका शिष्य—समुदाय तथा स्वररूप मधुसे परिपूर्ण उस (दमयन्ती)के कण्ठ-नालके सदृश वीणावाली गन्धर्व-स्त्रियां आकर वीणासे दमयन्तीकी स्तुति करती थीं । [दमयन्तीका कण्ठस्वर इतना मधुर था कि नारदजीसे वीणा बजानेकी शिक्षा पायी हुई गन्धर्वकी स्त्रियां भी अपनी वीणाके स्वरका संवाद (ठीक-ठीक मिलान)

करनेके लिये दमयन्तीके पास आकर गान करती थीं। यहां 'कण्ठनाल' शब्दके कहनेसे--जिस प्रकार नालके ऊपर कमल रहता है, उसी प्रकार कण्ठके ऊपर मुखके रहनेसे दमयन्ती का मुखको "कमल" होना सिद्ध किया गया है] ॥ ६५ ॥

नावा स्मरः किं हरभीतिगुप्तेः[1] पयोधरे खेलति कुम्भ एव।
इत्यर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीभिरूचे ॥ ६६ ॥

नावेति ॥ यत्र सभायां, अर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बी अर्धचन्द्राकारनखक्षतभाक्कुचो यस्याः सा सखी। स्मरः हरभीत्या गुप्तेः, गुप्त्यर्थमित्यर्थः सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। पयसां क्षीराणां नीराणाञ्च धरः पयोधरः कुचः। "पयः स्यात् क्षीरनीरयोः" इति विश्वः। तस्मिन्नेव कुम्भ इति व्यस्तरूपकम्। नावा नखाङ्केनैवेति शेषः खेलति दाह-परिहाराय विहरति किमिति रूपकसङ्कीर्णयमुत्प्रेक्षा इति सखीभिरूचे उक्ता ॥६६॥

जिस दमयन्ती-सभामें अर्द्धचन्द्राकार नख क्षतसे चिह्नित स्तनोंवाली सखीसे सखियोंने कहा कि—"तुम्हारे स्तन (पक्षा०--जलाधार) रूप घटमें शिवजीसे डरकर आत्मरक्षा करनेवाला कामदेव नौकासे क्रीडा करता है क्या?"। [नावके अर्द्धचन्द्राकार होनेसे शिवजीके दाहजन्य भयसे जलाधार शीतल स्थानमें कामदेवका आत्मरक्षार्थ निवास करना उचित ही है, अन्य भी कोई व्यक्ति दाहशान्तिके लिये शीतल जलमें नौकामे क्रीडा करता हुआ निर्भय होकर आत्मरक्षा करता है। अथवा--कामदेवने सोचा कि शिवजीके आधे शरीरमें पार्वतीजी हैं, अतएव उनके भयसे (परस्त्रीके स्तनका स्पर्श शिवजी करेंगे तब उसे पार्वतीजी कदापि सहन नहीं करेंगी, इस भयसे) शिवजी तुम्हारे स्तनका स्पर्श नहीं करेंगे, अतः तुम्हारा स्तन शिवजीके द्वारा भयसे अमर्दित होनेसे मेरे लिये अत्यन्त सुरक्षित स्थान है ऐसा मानकर निर्भय कामदेव वहां क्रीडा करता है। अथवा--(पार्वतीजीके डरसे) शिवजीके द्वारा नहीं स्पर्शकी गयी हे सखि! (इस पक्षमें 'हरभीतिगुप्ते' यह शब्द सखीका सम्बुद्धि पद होजायेगा। अथवा—शिवजीके भयरूप ईति=परचक्रसे अपनी रक्षा करने-वाला (इस अर्थमें 'हरभीतिगुप्' यह शब्द कामदेवका विशेषण हो जायेगा तथा 'ते' यह षष्ठ्यन्त 'तव' केस्थानमें आदिष्ट होगा)॥ नखक्षतयुक्त स्त्रीस्तनको देखकर काम-वृद्धि होनेसे सखीने वैसे स्तनोंवाली सखीसे उपहासपूर्वक उक्त वचन कहा] ॥ ६६ ॥

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि खलु प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या तदशोधि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निखाय ॥ ६७ ॥

स्मरेति। प्रसूनैः कुसुमैः स्मराशुगीभूय कामबाणा भूत्वा विदर्भसुभ्रुवो वैदर्भ्याः वक्षो हृदयमक्षोभि क्षोभितं खल्विति यत्। तत् क्षोभणवैरं, यत्र सभायां, तेषु प्रसूनेषु सूचिशिखां सूच्यग्रं, निखाय निकुट्य, स्रजं मालां, सृजन्त्या एकया

---

[1] 'गुप्ते' इति पाठान्तरम्।

कयाचित्कान्तया, अशोधि निर्यातितम् । हृदयच्छेदिनां हृदयच्छेद एव प्रतीकार इति भावः ॥ ६७ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें, फूलोंने कामबाण बनकर जो विदर्भकुमारी दमयन्तीके हृदयको पीडित किया, उस वैरका माला बनाती हुई एक स्त्रीने उन फूलोंमें सूईका नोक चुभाकर बदला ले लिया। [कामबाण बनकर जिन फूलोंने दमयन्तीके हृदयमें गड़कर उसे पीडित किया था, उनके हृदय (बीच) में सूई चुभाकर ही वैरका बदला लिया जा सकता है। यह विचारकर सखी दमयन्तीको पीडित करनेवाले पुष्पसे उसकी सखीने वैसा ही किया। अन्य भी कोई व्यक्ति पीडित करनेवाले शत्रुके शरीरमें शस्त्र छुभाकर वैरका बदला लेता है। दमयन्ती सभामें मालिन फूलोंकी माला गूथ रही थी] ॥ ६७ ॥

यत्रावदत्तामतिभीय भैमी त्यज त्यजेदं सखि साहसिक्यम् ।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥ ६८ ॥

यत्रेति । यत्र सभायां, तां स्रक्स्रष्ट्रीं, सखीं, भैमी अतिभीय अत्यन्तं भीत्वा । भीधातोः क्त्वो ल्यबादेशः । अवदत् । किमिति, हे सखि ! इदम् । सहसा वर्तत इति साहसिकः अविमृश्यकारी, "ओजस्सहोऽम्भसा वर्तत" इति ठक् । तस्य कर्म साहसिक्यं, ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः । त्यज त्यज । कुतः त्वमेव प्रसूनान्येव बाणान् गुणेन तन्तुना ज्यया च । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । सज्जान् सक्तान् कृत्वा, मदनाय दत्से ददासि । तदेतत्स्वत एव दहतो वह्नेर्वायुना सन्धुक्षणमिति भावः ॥ ६८ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें अत्यन्त डरकर दमयन्तीने उस (माला बनानेवाली) से कहा कि—तुम विवेक शून्य कार्य करना (माला गूथना) छोड़ो-छोड़ो; (क्योंकि) तुम्हीं फूलों को गुणों (धागों, पक्षा०- धनुषकी प्रत्यञ्चाओं) से सजाये हुए बाणोंको कामदेवके लिये देती हो। [तुम ऐसी मेरी उपकार करनेवाली सखी हो कि बाणोंको प्रत्यञ्चासे युक्तकर मेरे वैरी कामदेवके लिये देनेसे मुझे पीडित करनेमें उसकी सहायता कर रही हो, अतः इस अविवेकपूर्ण कामको शीघ्र छोड़ दो। पुष्पमाला देखकर कामपीडा बढ़ने लगी, तब उसने सखीसे उपालम्भयुक्त उक्त वचन कहे] ॥ ६८ ॥

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण ।
यत्रावदत्तामियमालि[1] यानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्याः ॥ ६९ ॥

आलिख्येति । यत्र सभायां, सुमध्या कापि कान्ता सख्याः कुचयोः पत्रभङ्गीनां पत्ररचनानां मध्ये मकरीं करेणालिख्य तां सखीमवदत् । किमिति, हे आलि सखि, इयं मकरी त्वदेकावलेरेव हारविशेषस्यैव । 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः । नाकनद्या

१. मिदमालि' इति पाठान्तरम् ।

मन्दाकिन्या इति रूपकम् । यानं वाहनं, 'मकरीवाहना गङ्गा' इति प्रसिद्धिः । मन्ये अत्रोत्प्रेक्षा । तस्याश्चोक्तरूपकेण सङ्करः ॥ ६९ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें सुन्दर कटिवाली सखीने (दूसरी) सखीके स्तनोंपर पत्ररचनाके बीचमें हाथसे मकरीको चित्रितकर उससे कहा कि—"हे सखी! यह मकरी तुम्हारी एकावली (एक लड़ीकी मुक्तामाला) रूप गङ्गाका मानो वाहन है।" [एकावलीको स्वच्छतम होनेसे गङ्गा तथा तत्समीपवर्ती स्तनस्थ मकरीको गङ्गाका वाहन होनेकी उत्प्रेक्षा चित्रकारिणी सखीने अपनी सखीसे परिहासमें की है] ॥ ६९ ॥

तामेव सा यत्र जगाद भूयः पयोधियादः कुचकुम्भयोस्ते ।
सेयं स्थिता तावकहृच्छयाङ्कप्रियास्तु विस्तारयशःप्रशस्तिः ॥७०॥

तामिति ॥ यत्र सा पूर्वोक्ता प्रसाधिका तामेव सखीं भूयो जगाद । किमिति । पयोधेर्यादो जलग्राहः समुद्रसम्भव इत्यर्थः । किञ्च, तावकस्य हृच्छयस्य मकरध्वजस्याङ्को मकरस्तस्य प्रिया दयिता । ते तव, कुचकुम्भयोः स्थिता, सेयं मकरी विस्तारयशसस्तयोरेव परीणाहकीर्तेः प्रशस्तिः स्तुतिवर्णावलिरस्तु ॥ ७० ॥

जिस दमयन्ती-सभामें (स्तनोंपर मकरी-रचना करनेवाली) वह सखी उस सखीसे बोली कि—"तुम्हारे दोनों स्तन-कलशोंपर समुद्री जन्तु तुम्हारे हृदयमें स्थित कामदेवके चिह्नभूत (मकर की प्रिया) इन स्तनोंके विस्तारका कीर्तिलेख होवे। [तुम्हारे स्तन इतने विशाल तथा अगाध हैं कि समुद्रको छोड़कर यह जल जन्तु यहां निवासकर तुम्हारे स्तनोंके बड़े होनेकी कीर्तिको लिखितरूपमें स्थिर कर रहा है। तथा हृदय स्थित कामदेव चिह्न मकरके समीप ही उसकी प्रिया मकरीका भी रहना उचित ही है। अन्य भी कोई स्त्री अपने प्रियके पास ही सर्वदा रहना पसन्द करती है। 'प्रकाश'कारने कामदेव चिह्न 'मकर' के स्थानपर 'मीन' अर्थ किया है] ॥ ७० ॥

शारीं चरन्तीं सखि मारयैनामित्यक्षदाये कथिते कयापि ।
यत्र स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाकूतहसः स जज्ञे ॥ ७१ ॥

शारीमिति । यत्र स नलः, कयापि । कितवया इति शेषः । हे सखि, एनां चरन्तीं भ्रमन्तीं, शारीमक्षोपकरणं दारुविकारं, शारिकाख्यां शकुन्तिकामित्यर्थान्तरेण शकुन्तिकाया भयोत्पत्तिः । 'शारी त्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तर' इति विश्वः । मारय प्रहर । इति अक्षदाये अक्षा पाशकाः । 'अक्षास्तु देवका पाशकाश्च त' इत्यमरः । तेषां सम्बन्धी दायो दानम् । 'दायो दाने यौतकादिधने वित्ते च पैतृक' इति वैजयन्ती । तस्मिन् कथिते स्वघाते आत्ममारणे, भ्रमेण भ्रान्त्या, भीरोर्भीतायाः शार्याः शारिकायाः, काक्का विकृतस्वरेण उत्थः उत्थितः, साकूतः भावगर्भो हसो हासो यस्य सः, "स्वनहसोर्वा" इति विकल्पादप्प्रत्ययः । जज्ञे जातः ॥ ७१ ॥

जिस दमयन्ती-सभामें 'हे सखी! (एक घरसे दूसरे घरमें) चलती हुई इस सारी

(गोटी–सतरंज आदिका मोहरा) को मारो, ऐसा शतरंज आदिके खेलनेमें किसी सखीके कहनेपर नल अपने मारे जानेके भ्रमसे डरनेवाली मैनाके दीनयुक्त वचन (मुझे मत मारो,……) से साभिप्राय हँसने लगे। [यद्यपि सखीने खेलमें मोहरेको मारनेके लिये कहा, किन्तु 'सारी' शब्दके समानार्थक होनेसे उसे अपने मारे जानेको कहा गया मानकर डरसे मैना 'मुझे मत मारो' आदि दीन वचन कहने लगी, यह सुन नलको हँसी आ गयी कि मोहरेको मारनेके कहनेपर भी यह मैना अपने मारे जानेकी शङ्कासे ऐसा दीन वचन कह रही है॥ सभामें सखियां शतरंज आदि खेल रही थीं]॥ ७१॥

भैमीसमीपे स निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीम्।
कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानमूहे॥ ७२॥

भैमीति। यत्र सभायां, नलो भैमीसमीपे ताम्बूलस्य जाम्बूनदहंसो हिरण्मयहंसाकारः करकः तस्य लक्ष्मीं निरीक्ष्य, कृतः प्रियाया भैम्या दूत्यमेव महोपकारो येन तस्मिन् मराले हंसे, मोहस्य भ्रहस्य द्रढिमानं दार्ढ्यम् 'र ऋतो हलादेर्लघो' रित्यृकारस्य रभावः। ऊहे ऊढवान्। वहेः कर्तरि लिट्। "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम्॥ ७२॥

जिस दमयन्ती–सभामें वह नल दमयन्तीके पास में रखे हुए हंसाकार पानदानकी शोभाको देखकर प्रियाके यहां दूत–कर्म रूप महान उपकार करनेवाले हंसके अतिशय भ्रमसे ('प्रिया दमयन्तीके पास हमारा दूतकर्म करनेवाला यही हंस है क्या ?' इस भ्रमसे) युक्त हो गये। [हंसाकार वह पानदान ऐसा उत्तम बना था कि उसे देखकर नल–जैसे चतुर व्यक्तिको भी सजीव हंसका भ्रम हो गया]॥ ७२॥

तस्मिन्नियं सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमथ व्युदस्यन्[1]।
अपृष्ट एव स्फुटमाचचक्षे स को[2]ऽपि रूपातिशयः स्वयं ताम्॥७३॥

तस्मिन्निति। अथ सभावलोकनानन्तरं तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं कात्र भैमीति संशयं व्युदस्यन्, स प्रसिद्धः कोऽपि रूपातिशयः सौन्दर्यविशेषः। स्वयमपृष्ट एव तां भैमीं, सा भैमी इयमिति स्फुटमाचचक्षे। आचख्यौ। विश्वातिशायिसौन्दर्यसाक्षात्कारादियं दमयन्तीति निश्चिकायेत्यर्थः॥ ७३॥

इस (सभाको देखने) के बाद उस सखी–समूहमें नलके ('इनमें कौन–सी दमयन्ती है, इस प्रकारके) सन्देहको 'यह वही दमयन्ती है' इस प्रकार दूर करता हुआ उसी सौन्दर्याधिक्यने विना पूछे ही उस दमयन्तीको स्वयं ही कह दिया। [पहले एकसे एक सुन्दरी सखियोंको देखकर नल 'इनमें कौन दमयन्ती है' यह निर्णय नहीं कर सके थे, किन्तु जब सभामें दमयन्ती आई तब उसके अतिशय सौन्दर्यको देखकर विना पूछे ही नलने निश्चय कर लिया कि यही 'दमयन्ती है]॥ ७३॥

---

१. "व्युदस्य" इति पाठान्तरम्। २. "एव" इति पाठान्तरम्।

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम् ।
नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीतं तस्यानुबिम्बं मणिवेदिकायाम् ॥७४॥

भैमीति । भैम्या विनोदायौत्सुक्यापनोदाय मुदा कौतुकेन, सखीभिर्भुवि भूतले, कल्पितानां तस्य नलस्याकृतीनां प्रतिकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटमुदीतमपि तस्य नलस्य अनुबिम्बं नातर्कि न तर्कितम् । तत्रापि स्वकल्पिताकृतिसाम्यादिति भाव । अत एव सामान्यालङ्कारः । तेन च भ्रान्तिमान् व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ७४ ॥

दमयन्तीके मन बहलावके लिये भूमिपर बनाये गये नलके चित्रोंके बीचमें, मणिमय फर्शपर सचमुच प्रतिबिम्बित नलको छाया (परछाहीं) को भी सखियोंने नहीं लक्ष्य किया । [सखियोंने दमयन्तीके मनको बहलानेके लिये नलके अनेक चित्र बनाये थे, नलके प्रतिबिम्बित शरीरको भी बिलकुल समानाकार होनेसे उसे भी चित्र ही समझा। दमयन्तीके मनोविनोदके लिये सखियोंने बहुतसे नलके चित्र मणिमय वेदियों (फर्शों) पर बनाये थे] ॥ ७४ ॥

हुताशकीनाशजलेशदूतीर्निराकरिष्णोः कृतकाकुयाच्ञाः ।
भैम्या वचोभिः स निजां तदाशां न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम ॥ ७५ ॥

हुताशेति । कृताः काका याच्ञाः प्रार्थना याभिस्ताः चित्तचालनचतुरोक्तीरित्यर्थः । हुताशकीनाशजलेशाः वह्नियमवरुणाः । 'प्रेतपतिः पितृपतिश्च कीनाश' इति हलायुधः । तेषां दूतीः निराकरिष्णोः परिहरन्त्याः । "अलं कृञ्" इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः । "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । भैम्याः वचोभिः स नलो दूरं प्रयाताम् इन्द्रादिकपटेन लुप्तप्रायामपि निजां स्वकीयां तदाशां भैमीतृष्णां न्यवर्तयत् निवर्तितवान् । पुनस्तत्प्रत्याशामकार्षीदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

दीनतापूर्वक याचना करनेवाली अग्नि, यम तथा वरुणकी दूतियोंको मना करनेवाली दमयन्तीकी बातोंसे बहुत दूर तक गयी हुई भी दमयन्ती विषयक अपनी आशाको नलने पुनः लौटाया । [इन्द्रादिका दूत-कर्म करने तथा दमयन्तीको इन्द्रादि द्वारा चाहनेके कारण नलको दमयन्तीके पानेकी आशा नहीं रह गयी थी, किन्तु अग्नि आदिकी दूतियोंको जब दमयन्तीने स्पष्ट मना कर दिया यह देख नलको फिरसे दमयन्तीकी प्राप्तिकी आशा हो गयी। दूर तक भी गया हुआ भी कोई व्यक्ति जैसे वचनों (बुलाने) से वापस लौट आता है, वैसे ही दूर तक गयी (छूटी) हुई नलकी आशा भी फिर लौट आयी] ॥ ७५ ॥

विज्ञप्तिमन्तः सभयः स भैम्यां मध्येसभं वासवशम्भलीयाम्
सम्भावयामास भृशं कृशाशस्तदालिवृन्दैरभिनन्द्यमानाम् ॥ ७६ ॥

विज्ञप्तिमिति ॥ स नलो मध्येसभं सभाया मध्ये "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इत्यव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम् । तदालिवृन्दैः भैमीसखीसङ्घैरभिनन्द्यमानां, वासवश-

म्भलीयाम्, इन्द्रदूतीसम्बन्धिनीं, कामिनोः सन्धात्री शम्भली। 'कुट्टनी शम्भली समे' इत्यमरः। भैम्यां विषये विज्ञप्तिं वक्ष्यमाणं विज्ञापनम्, अन्तः सभयः इन्द्र-गौरवादङ्गीकरिष्यतीति बिभ्यदेवेत्यर्थः। अत एव कृशाशः शिथिलभैमीप्राप्त्याशश्च सन्। भृशं सम्भावयामास। अत्यवधानेन शुश्रावेत्यर्थः। विज्ञप्तिमिति क्तिन् प्रत्ययान्तश्चिन्त्यः। "ण्यासश्रन्थोयुच्" इति तदपवादेन युचो विधानात्। अत एव "ज्ञप्तिविज्ञप्तिप्रभृतयोऽपशब्देषु परिगणिता भट्टपादैः। तथाप्यभियुक्तप्रयोगो दुर्वारः॥

दमयन्तीकी सभाके बीचमें दमयन्तीकी सखियोंके द्वारा अभिनन्दित की जाती हुई, इन्द्रकी दूती (कुट्टिनी) की विज्ञप्ति अर्थात् प्रार्थनाको मनमें भययुक्त तथा दमयन्ती-प्राप्तिकी कम आशा रखते हुए नलने सुना। [जब दमयन्तीकी सभामें इन्द्रकी दूतीने दमयन्तीसे इन्द्रका सन्देश कहा, तब सखियोंने उसका अभिनन्दन किया--"जब देवराज इन्द्र भी तुम्हें वरण करना चाहते हैं, तब उन्हें अवश्य वरण करना उचित है" ऐसा समर्थन किया, यह सुन नलके मनमें भय हो रहा था कि 'दमयन्ती सखियोंकी बातको तथा इन्द्रदूतीकी प्रार्थनाको मानकर इन्द्रको ही वरण कर लेगी क्या ?' तथा इसी कारण दमयन्तीके पानेकी आशा छूट रही थी, ऐसे नलने इन्द्र-दूतीकी प्रार्थनाको सावधान होकर सुना]॥ ७६॥

लिपिर्न दैवी सुपठा भुवीति तुभ्यं मयि प्रेषितवाचिकस्य।
इन्द्रस्य दूत्यां रचय प्रसादं विज्ञापयन्त्यामवधानदानम्॥ ७७॥

लिपिरिति॥ दैवी लिपिर्देवलिपिः। भुवि भूलोके, सुपठा पठितुं शक्या "ईषद्दुः" इत्यादिना खल्प्रत्ययः। नेति हेतोस्तुभ्यं, व्याहृतार्था वाग्वाचिकं, सन्देशवाक्यम्। 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः। "वाचो व्याहृतार्थायाम्" इति ठक्। तत्प्रेषितं येन तस्य इन्द्रस्य दूत्यां मयि विज्ञापयन्त्याम्। अवधानस्यैकाग्र्यस्य दानमेव प्रसादं रचय अनुग्रहं कुरु॥ ७७॥

'पृथ्वीपर देव-लिपि नहीं पढ़ी जा सकती' इस कारण तुम्हारे लिये सन्देश भेजनेवाले इन्द्रका सन्देश सुनाती हुई इन्द्रकी दूती (मुझ) पर अवधान-दानरूप प्रसाद करो (सावधान होकर मेरी बात सुनने की कृपा करो)। [यदि मर्त्यलोकवासी देवताओंका लेख पढ़ सकते तो इन्द्र स्वयं पत्र लिखकर तुम्हारे समीप भेजते, किन्तु वैसा करनेमें मनुष्योंके असमर्थ होनेके कारण ही इन्द्रने तुम्हारे पास स्वयं पत्र न लिखकर अपना सन्देश कहनेके लिये मुझे भेजा है, अतः सावधान होकर इन्द्रका सन्देश सुनो। अथवा--'भाग्यमें क्या लिखा है' यह कोई मर्त्यलोकवासी नहीं पढ़ सकता, किन्तु देवता पढ़ सकते हैं, अतः देवराज इन्द्रके जिस सन्देशको मैं कह रही हूँ, उसे तुम सुनो]। ७७॥

सलीलमालिङ्गनयोपपीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम्।
शेषस्त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैस्तद्रोमभिः सन्दिदिशे भवत्यै॥ ७८॥

सलीलमिति॥ हे भैमि, वासवस्त्वां सलीलं सविलासम्, आलिङ्गनया आलि-

ङ्गनेन । आङ्पूर्वाल्लिङ्गयतेश्चौरादिकाद्युच् । उपपीडमुपपीड्य गाढमालिङ्ग्य । "सप्तम्यां चोपपीड" इत्यत्र चकारात्तृतीयोपपदो णमुल्प्रत्ययः । "तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्" । इति विकल्पादसमासः । अनामयं पृच्छति । "क्षत्रबन्धुमनामयम्" इति स्मरणादिति भावः । शेषः कार्यशेषस्तु त्वदाश्लेषकथया पूर्वोक्तत्वदालिङ्गनप्रसङ्गेन विनिद्रैर्हृषितैस्तस्येन्द्रस्य रोमभिर्भवत्यै संदिदिशे सन्दिष्टः । कर्मणि लिट् । त्वदालिङ्गनप्रार्थनैवानन्तरं वक्तव्यः कार्यशेषोऽपीति भावः ॥ ७८ ॥

इन्द्रने विलासपूर्वक आलिङ्गनसे सम्यक् उपपीडितकर तुमसे अनामयको पूछा है, तुम्हारे आलिङ्गनकी चर्चासे हर्षित इन्द्रके रोमोंने शेष सन्देशको तुम्हारे लिये कहा है। [मनुस्मृतिके वचनानुसार क्षत्रियसे 'अनामय' पूछनेका धर्म होनेसे इन्द्रने तुमसे आलिङ्गनपूर्वक तुम्हारा अनामय पूछा है। तथा तुम्हारे आलिङ्गनके स्मरण होनेके कारण वे रोमाञ्चित होनेसे गद्गद होकर मुखसे और कोई बात नहीं कह सके हैं। तुम्हें इन्द्र हृदयसे चाह रहे हैं ; अतः तुम उन्हींको स्वयंवरमें वरण करना] ॥ ७८ ॥

यः प्रेर्यमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्थनायां ह्रियमापदागः ।
स्वयंवरस्थानजुषस्तमस्य बधान कण्ठं वरणस्रजैव[1] ॥ ७९ ॥

य इति ॥ हे भैमि, मघोनः इन्द्रस्य यः कण्ठस्त्वदर्थनायां विषये हृदा प्रेर्यमाणोऽपि ह्रियमेवागोऽपराधमापत् । हीनस्याधिकं प्रति याच्ञासङ्कोचेऽप्यपराध एवेति भावः । स्वयंवरस्थानजुषः स्वयंवरमागतस्य अस्येन्द्रस्य तमपराधिनं कण्ठं वरणस्रजा भर्तृवरणमालिकया त्वं बधान । ईदृशापराधिनामीदृग्बन्ध एव दण्ड इति भावः । सर्वथा लज्जां प्रविहाय प्रार्थनां कुर्वतो महेन्द्रस्य मनोरथपूरणं कार्यमिति तात्पर्यार्थः ॥ ७९ ॥

(हे दमयन्ती !) इन्द्रके जिस कण्ठने तुम्हारी याचनाके लिये हृदयसे प्रेरित होते हुए भी लज्जारूप जिस अपराधको प्राप्त किया, स्वयंवरमें आये हुए इन्द्रके उस कण्ठको वरणमालासे ही (पाठभेदसे—वरणमालासे शीघ्र) बाँधो। [हार्दिक इच्छा होनेपर भी लज्जावश वे इन्द्र कण्ठसे कुछ नहीं कह सके, और मेरे द्वारा अपना सन्देश भेजा, अतः उस अपराधी कण्ठको स्वयंवरमें इन्द्रके आनेपर सब लोगोंके सामने ही वरण–मालासे बाँधकर कठोर दण्ड दो। अन्य भी किसी अपराधीको सबके सामने बाँधकर दण्डित किया जाता है, जिससे अन्य कोई कभी ऐसा अपराध न करे ॥ इन्द्र तुम्हें हृदयसे चाहते हैं, अतः स्वयंवरमें उन्हींको वरण–माला पहनाना] ॥ ७९ ॥

नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्गमितामरैः श्रीः ।
अस्मै विमथ्येक्षुरसोदमन्यां श्राम्यन्तु नोत्थापयितुं श्रियं ते ॥ ८० ॥

नेति ॥ हे भैमि, एनमिन्द्रं, न त्यज । तथा हि, यैरमरैः अस्येन्द्रस्य अनुजाय

1 '—स्रजाशु' '—स्रजा तु' इति पाठान्तरे ।

उपेन्द्राय । तादर्थ्ये चतुर्थी । क्षीराणि धीयन्तेऽस्मिन्निति क्षीरधिः क्षीरोदधिः । "कर्मण्यधिकरणे च" इति किप्रत्ययः । तस्य मन्थनात् मथनादुपायात्; मन्थतेर्भौवादिकस्येदित्वान्नुमागमः । श्रीः रमा उद्गमिता उत्थापिता । ते अमराः अस्मै इन्द्राय । पूर्ववच्चतुर्थी । इक्षुरस एवोदकं यस्य तमिक्षुरसोदं नामाब्धिम् "उदकस्योदः संज्ञायाम्" इत्युदादेशः । विमथ्य मथित्वा अन्यां श्रियम् उत्थापयितुं न श्राम्यन्तु न प्रयस्यन्तु । द्वितीयया श्रिया त्वयैव उपेन्द्रवदिन्द्रस्यापि लक्ष्मीपतित्वे तयोरवैषम्याय देवतानां लक्ष्म्यन्तरसम्पादनप्रयासो न स्यादिति भावः । अत्रामराणां लक्ष्म्यन्तरोत्पादनप्रयत्नासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८० ॥

इस इन्द्रको मत छोड़ो (अवश्य वरण करो; क्योंकि) जिन देवताओंने क्षीरसागरके मंथनसे इस इन्द्रके अनुज अर्थात् उपेन्द्र (विष्णु) के लिये लक्ष्मीको निकाला, वे देवता इस इन्द्रके लिये इक्षुरस समुद्रको मन्थनकर दूसरी लक्ष्मीको निकालनेके लिये मत थकें। [देवताओंने बहुत परिश्रमसे क्षीरसमुद्रके मन्थनसे लक्ष्मीको निकालकर इस इन्द्रके छोटे भाई विष्णुके लिये उसे दे दिया, अब यदि तुम इन्द्रको वरण नहीं करोगी तो बड़े भाई होनेसे अधिक पूज्य इस इन्द्रके लिये क्षीरसमुद्रसे उत्पन्न उस लक्ष्मीसे भी अधिक सुन्दरी लक्ष्मीको देनेके लिये क्षीरसमुद्रसे भी अधिक मधुर इक्षु-रस-समुद्रका मन्थनकर पूर्वापेक्षा श्रेष्ठ लक्ष्मीको निकालनेके लिये देवताओंको फिर परिश्रम करना पड़ेगा; अतएव तुम देवताओंको पुनः परिश्रम न करना पड़े, ऐसी कृपाकर इन्द्रको वरण कर लो। तुम विष्णुप्रिया लक्ष्मीसे भी अधिक सुन्दरी हो, अतः तुम्हें पाकर इन्द्र कृतकृत्य हो जावें] ॥ ८० ॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्रः ।
किंकर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्ष्या किमतः परापि ॥८१॥

लोकेति ॥ लोकस्रजि स्वर्गादिलोकपंक्तौ द्यौः स्वर्गो महती । दिवि च अदित्या अपत्यानि पुमांसः आदितेयाः देवाः, महान्तः । कृदिकाराङ्ङीषन्तात् स्त्रीभ्यो ढक् । आदितेयेष्वपि महेन्द्रो महान् । स महेन्द्रोऽपि रागात् किंकर्तुं सेवितुमर्थी इच्छुर्यदि । किंशब्दस्यास्य सर्वादिपठितस्य निपातितत्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः । अर्थयतेरिच्छार्थत्वात् समानकर्तृकेषु तुमुन् । अतोऽस्मादिन्द्रसेव्यत्वात् परा कक्ष्यापि[1] उत्कृष्टावस्था च । जागर्ति स्फुरति किम् ? न जागर्तीत्यर्थः । अत्र लोकादिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षोक्तेः सारालङ्कारः । उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार' इति लक्षणात् ॥ ८१ ॥

(चौदहों) भुवनोंमें स्वर्ग श्रेष्ठ है, स्वर्गमें देवता (अदिति-कुमार) श्रेष्ठ हैं, अदिति-पुत्र देवोंमें इन्द्र श्रेष्ठ हैं, वे इन्द्र भी अनुरागसे (बिना किसी प्रेरणा या दबावके तुम्हारा किङ्कर होना चाहते हैं (तो) इससे आगे भी कोई श्रेणी जागरुक है ? अर्थात् कोई नहीं । [इन्द्रके वरण करनेसे तुम्हें भूलोक छोड़कर श्रेष्ठ स्वर्गलोक मिलेगा, स्वर्गवासी गन्धर्व,

---

१ 'कक्षा' ।

किन्नर, विद्याधर तथा रणमें मरकर देवत्वप्राप्त वीररूप देवयोनियोंमें भी श्रेष्ठ अदिति-पुत्र-रूप देवयोनिको प्राप्त करोगी और उन अदिति-पुत्ररूप देवोंसे भी श्रेष्ठ महेन्द्र-पत्नी बनोगी तथा सर्वश्रेष्ठ वे महेन्द्र तुम्हारा दास होकर रहेंगे ; अतः अग्नि, वरुण तथा यमको भी छोड़-कर सर्वश्रेष्ठ इन्द्रको ही तुम वरण करना] ॥ ८१ ॥

पदं शतेनाप मखैर्यदिन्द्रस्तस्मै स ते याचनचाटुकारः ।
कुरु प्रसादं तदलं कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण ॥ ८२ ॥

पदमिति ॥ इन्द्रः शतेन मखैः मखशतेन यत्पदमिन्द्रत्वलक्षणं स्थानमाप प्राप । स इन्द्रस्तस्मै पदाय तत्पदस्वीकारायेत्यर्थः । ते तव याचनेन प्रार्थनया चाटुकारः प्रियंवदः । जात इति शेषः । "न शब्दश्लोके"त्यादिना टप्रत्ययनिषेधात् कर्मण्यण् । प्रसादमनुग्रहं कुरु । तदैन्द्रं पदं स्वीकारकृता अंगीकारव्यञ्जकेन भ्रूनटनक्रमेण भ्रूवि-क्षेपव्यापारेण, अलं कुरुष्व ॥ ८२ ॥

इन्द्रने सौ (अश्वमेध) यज्ञोंसे जिस पदको पाया है, उस (को देने) के लिये तुमसे वह इन्द्र याचनारूप प्रिय वचन कह रहा है, तुम कृपा करो तथा उस इन्द्रपदको स्वीकार-सूचक भ्रूचालन-श्रमसे सुशोभित करो । [सौ अश्वमेध यज्ञोंसे प्राप्त पदको देनेके लिये इन्द्र तुमसे याचना तथा खुशामद चाटुकारी कर रहे हैं, उसे तुम केवल भ्रूके संचालनरूप श्रमसे स्वीकार करो । तुम इन्द्रकी भी स्वामिनी हो, अतः स्वामिनीको किसी प्रार्थनाकी स्वीकृति देनेके लिये मुखसे बोलनेकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु स्वामी केवल भ्रू-सञ्चालनसे ही स्वीकृति दे देता है । तुम इन्द्रको वरणकर महापुण्य-लभ्य इन्द्राणीपद प्राप्त करो और इसके लिये अपनी भ्रूको हिलाकर अपनी स्वीकृति दे दो] ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे भवेद्देवरि माधवे च ।
श्रेयश्श्रियां यातरि यच्च सख्यां तच्चेतसा भाविनि भावय त्वम् ॥८३॥

मन्दाकिनीति ॥ भावयतीति भाविनि विचारचतुरे भैमि ? मन्दाकिनीनन्दनयो-र्विहारे क्रीडायां माधवे देवे उपेन्द्रे देवरि देवरे भर्तृभ्रातरि सति । स्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः स्वामिनो देवृदेवरौ' इत्यमरः । "दिवेर्ऋः" इति ऋ प्रत्ययः । श्रियां श्रीदे-व्याम् । यतत इति यातरि । देवृभार्यायाम् । 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्' इत्यमरः । 'यतेर्वृद्धिश्च' इति तृन्प्रत्ययः । सख्यां सत्याञ्च यच्छ्रेयो महो-त्कर्षः भवेत् । तत्त्वं चेतसा विभावय विचारय । अयाचितोपनतं महच्छ्रेयो न परिहर्तव्यमित्यर्थः । अत्र नन्दनविहारक्रियायाः माधवदेवृकत्वश्रीयातृकत्वगुणयोश्च सामस्त्येन यौगपद्यात् समुच्चयालङ्कारभेदः । 'गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चय उदाहृतः' इति लक्षणात् ॥ ८३ ॥

हे विचारशील दमयन्ती ! स्वर्गङ्गा तथा नन्दनवनके विहारमें, लक्ष्मीपति देव (विष्णु-

भगवान) के देवर होनेमें (पाठा०—देव इन्द्रके पति होनेमें और लक्ष्मी-पतिके देवर होनेमें), तथा लक्ष्मीकी पति-भ्रातृ-पत्नी रूपमें सखी होनेमें जो कल्याण होगा, उसे हृदयसे विचारो । [इन्द्रको वरण करनेमें तुम्हें मन्दाकिनीमें जलक्रीडा तथा नन्दनवनमें विहार करनेको मिलेगा, अग्नि आदि देवोंको वरण करोगी तो केवल मन्दाकिनीमें जलक्रीडा करनेका आनन्द मिलेगा, परन्तु नन्दनवनमें विहार करनेका आनन्द नहीं मिलेगा । इन्द्रके वरण करनेपर लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारे देवर हो जायेंगे, किन्तु अग्नि आदिके वरण करने-पर विष्णुको देवररूपमें नहीं प्राप्त कर सकोगी तथा इन्द्रके वरण करनेपर लक्ष्मी तुम्हारी सखी होगी, अग्नि आदि किसीके वरण करनेपर सम्पत्तिरूप लक्ष्मीकी तो प्राप्ति होगी किन्तु साक्षात् लक्ष्मी सखी नहीं होगी । इसके अतिरिक्त यदि इन्द्रादि देवोंको छोड़कर भूमिष्ठ किसी राजकुमारका वरण करोगी तो उक्त सब सुखोंसे सर्वथा वञ्चित रह जाओगी, अतः किसी राजकुमारको तथा अग्नि आदि देवोंको छोड़कर इन्द्र को ही वरण करना] ॥ ८३ ॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्याच्ञाप्रतिष्ठां लभसे त्वमेव ।
लघूकृतस्वं बलियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति ॥ ८४ ॥

रज्यस्वेति । हे भैमि, जगतां राज्ये, त्रैलोक्याधिपत्ये, रज्यस्व अनुरक्ता भव । प्रार्थनायां लोट् । रञ्जेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । इत्येवंरूपां याच्ञां प्रार्थनामेव प्रतिष्ठां गौरवमिन्द्रात्त्वमेव लभसे । तथाहि, तस्य त्रैलोक्यराज्यस्य प्राप्तये लाभाय बलेर्वैरो-चनस्य याचनेन लघूकृतमल्पीकृतं, स्वमात्मा येन तं विष्णुमपीति शेषः । तं वामनं ह्रस्वं लघुं चामनन्ति । यदर्थं विष्णोरपि याच्ञालाघवं प्राप्तम् । प्रार्थनां विना तदेव तुभ्यं दीयते देवेन्द्रेणेत्यहो ते भागधेयमित्यर्थः । व्यतिरेकेण दृष्टान्ता लङ्कारः ॥ ८४ ॥

'तीनों लोकोंके राज्यमें तुम अनुरक्त होवो अर्थात् तीनों लोकोंका राज्य करो' इस प्रकार इन्द्रसे याचना-गौरवको तुम्हीं पा रही हो, (अन्य कोई स्त्री नहीं) । जिस (तीनों लोकोंके राज्य) को पानेके लिये बलि (दैत्योंका राजा) के यहाँ याचना करनेसे अपनेको छोटा करनेवाले (विष्णुको विद्वान् लोग) वामन कहते हैं । [शत्रुभूत निकृष्ट दैत्योंके राजा बलिसे देवश्रेष्ठ साक्षात् विष्णुने जिस त्रैलोक्यके राजाकी याचनाकर अपनी आत्माको याचना करनेके कारणसे ही छोटा (गौरव-हीन) किया तथा उस त्रैलोक्यराज्यको इन्द्रके लिये दे दिया, उसी त्रैलोक्यराज्यको तुम्हें देनेके लिये इन्द्र तुमसे याचना कर रहे हैं, यह गौरव केवल तुम्हें ही प्राप्त हुआ है दूसरे किसी व्यक्तिको नहीं । जिस त्रैलोक्यराज्यको सर्वश्रेष्ठ विष्णु अपनेसे निकृष्ट बलिसे मांगकर अपना गौरव नष्ट कर संसारमें वामन (छोटा) कहलाये, उसी त्रैलोक्यराज्यको सर्वश्रेष्ठ देवराज इन्द्र अपनेसे निकृष्ट मानुषी तुमको प्रार्थना करते हुए देना चाहते हैं ; अतः विष्णु तथा इन्द्रसे भी तुम्हारा गौरव अधिक हो रहा है । इसकारण तुम इन्द्रको ही वरण करना] ॥ ८४ ॥

यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते ।
प्रसीद तानप्यनृणान्विधातुं पतिष्यतस्त्वत्पदयोस्त्रिसन्ध्यम् ।। ८५ ।।

यानिति ॥ हे भैमि, यानेव देवानिन्द्रादीन् । त्रयः काला यस्मिन् कर्मणि तत् त्रिकालं, यथा तथा । नमसि त्रिसन्ध्यं नमस्करोषीत्यर्थः । तेषां देवानां कृतघ्नीकृतिस्तदीयप्रत्युपकारपरिहारेण कृतघ्नकरणं, ते तव, औचिती, औचित्यं न । त्वया देवा अकृतज्ञा न क्रियन्तामिति भावः । तिसृणां सन्ध्यानां समाहारस्त्रिसन्ध्यं, सन्ध्यात्रयेऽपीत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । 'वा टाबन्त' इति नपुंसकत्वम् । त्वत्पदयोः पतिष्यतः नमस्करिष्यतः तान् देवानप्यनृणान् विधातुं, प्रतिप्रणामस्वीकारेण अनृणान् कर्तुं प्रसीद । तान् वृणीष्वेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

जिन देवोंको ही त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न, सायं) नमस्कार करती हो, उन (देवों) को ही कृतघ्न बनाना तुम्हें उचित नहीं है । (इन्द्रको तुम्हारे वरण करनेपर) तीनों (प्रातः, मध्याह्न तथा सायं) सन्ध्याओंमें तुम्हारे चरणोंपर गिरने अर्थात् आकर भविष्यमें नमस्कार करनेवाले उन देवोंको भी अनृण करनेके लिये प्रसन्न होवो । [आजतक तुम जिन देवोंको प्रणाम करती हो, वे तुम्हारे ऋणी हैं, जब तुम इन्द्रको वरण करोगी, तब वे देव इन्द्राणीको छोड़कर इन्द्रके साथ तुम्हारे पैरों पर नतमस्तक होकर प्रणाम करनेसे तुमसे अनृण (ऋणमुक्त) हो जायेंगे तथा कृतघ्न नहीं बनेंगे ॥ तुम इन्द्रको वरणकर स्वर्गमें इन्द्रके साथ अर्द्धासनपर बैठकर देवताओंकी प्रणम्या बनो] ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैमीगृहीता मघवत्प्रसादः ।
स्रक्पारिजातस्य ऋते नलाशां वासैरशेषामपुपूरदाशाम् ।। ८६ ॥

इतीति । इतीत्थमुक्तवत्या शक्रदूत्या । आदरेण निहिता समर्पिता । भैम्या गृहीता स्वीकृता मघवतः प्रसादोऽनुग्रहभूता । त्ववतंसत्वेन अभिमतेति भावः । पारिजातस्य स्रङ् मालिका नलस्याशां तृष्णां दिशं च ऋते विना । तस्यान्तस्य (नलस्य) विपरीतशङ्काकरत्वादिति भावः । 'आशा तृष्णादिशोः' इति विश्वः । यद्यपि, 'अन्यारादितरर्ते' इति ऋतेशब्दयोगात् पञ्चम्येव विहिता , तथापि मतान्तरे द्वितीयाप्यस्तीत्याहुः । तथा, 'फलति पुरुषाराधनमृत' इति प्रयोगश्च । अशेषामाशां दिशम् । सर्वा अपीत्यर्थः जातावेकवचनम् । वासैर्निजवासनाभिरपुपूरत् पूरितवती । 'पूरी पूरण' इति चौरादिकस्य धातोरल्लोपित्वात् 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' इत्युपधाह्रस्वनिषेधः । अभ्यासह्रस्वः । द्वयोरप्याशयोरभेदाध्यवसायाद्बिनोक्तिनिर्वाहः ॥ ८६ ॥

ऐसा (श्लो० ७७–८५) कहनेवाली इन्द्रदूतीके द्वारा सादर दी गयी तथा इन्द्रका (प्रसाद मानकर, भूषण मानकर नहीं) दमयन्तीसे ग्रहण की गयी पारिजातकी मालाने नलकी आशाको छोड़कर सब दिशाओं (पक्षा०—इन्द्रदूतीकी आशा) को वास (सुगन्धि, पक्षा०—दमयन्तीके पास आने) से पूरा कर दिया । [अथवा—ऐसा कहनेवाली इन्द्रदूतीके

द्वारा दी गयी तथा इन्द्रका प्रसाद समझकर दमयन्तीके द्वारा सादर ग्रहण की गयी……। इन्द्रदूती द्वारा दी गयी पारिजात मालाको जब दमयन्तीने इन्द्रका प्रसाद मानकर सादर ले लिया, तब नलने सोचा कि "इन्द्रकी भेजी हुई पारिजात–मालाको बड़े आदरके साथ दमयन्ती ले रही है, अतः मालूम पड़ता है कि यह इन्द्रमें ही अब अनुरक्त हो रही है, इस कारण इन्द्रको ही वरण करेगी, मुझे नहीं", ऐसा विचार कर आते ही नलदमयन्तीकी प्राप्तिसे निराश हो गये। इधर उस प्रकार आदरपूर्वक पारिजात-मालाको लेती हुई दमयन्तीको देखकर इन्द्रदूतीने सोचा कि दमयन्ती इन्द्रमें अनुरक्त होकर ही आदरके साथ उनकी माला ले रही है, अतः हमारी आशा पूरी हो गयी। किन्तु नल तथा इन्द्रदूती––दोनों ही भ्रममें थे, क्योंकि दमयन्ती 'मालाको (देवराज इन्द्र प्रसादको) ग्रहण नहीं करनेसे पूज्य देवताका अपमान होगा' ऐसा विचारकर ही पारिजात-मालाको लिया था 'इन्द्रने प्रेमपूर्वक मुझे भूषणोपहाररूपमें इस पारिजात–मालाको भेजा है' ऐसा समझकर भूषणरूपमें नहीं लिया था] ॥ ८६ ॥

आर्ये ! विचार्यालमिहेति कापि योग्यं सखि स्यादिति काचनापि[1]।
ओंकार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

आर्य इति ॥ आर्ये भैमि, इहेन्द्रवरणे विचार्य अलम्। विचारो न कर्तव्य इति कापि सखी अवोचत्। सखि भैमि, योग्यमिदं युक्तं स्यादिति काचनाप्यवोचत्। अत्र ओंकारोऽङ्गीकार एव मङ्गल्यमुत्तरमुत्तररूपं वस्त्वस्त्विति काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

(उस समय दमयन्ती से) किसी सखीने "हे आर्ये ! इस विषयमें विचार मत करो अर्थात् इन्द्रको वरण करनेका निश्चय कर लो" ऐसा, किसी सखीने "यह (इन्द्र वरण-रूप कार्य) योग्य है" ऐसा और किसी सखीने "इस (इन्द्रको वरण करनेके विषय) में (स्वीकृतिसूचक) ॐकार ही मङ्गल वस्तु होवे" ऐसा कहा। [सब सखियोंने इन्द्रको वरण करनेके लिये ही दमयन्तीसे कहा] ॥ ८७ ॥

अनाश्रवा वः किमहं कदापि वक्तुं विशेषः परमस्ति शेषः।
इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीश्च मुदामियत्ता ॥ ८८ ॥

अनाश्रवेति। हे सख्य, अहं कदापि वो युष्माकं, अनाश्रवा अवचनकारिणी किं, परं किंतु वक्तुं विशेषः शेषोऽस्ति। किंतु, वक्तव्यशेषः कश्चिदस्तीत्यर्थः। इति भीमजया भैम्या, ईरिते उक्ते सति दूतीमिन्द्रशम्भलीमालीर्भैमीसखीश्च मुदामियत्ता मितिर्नालिङ्गन्न प्रापत्। स्वोक्तमङ्गीकृत्य तत्र किञ्चिद्वरदानमपेक्षत इति भ्रान्त्या महान्तमानन्दमविन्दन्तेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

"मैंने तुमलोगोंके कथनको कभी नहीं सुना है क्या ? अर्थात् सर्वदा मैंने तुमलोगोंके कहनेके अनुसार ही किया है, किन्तु कहनेके लिये कुछ विशेष बाँकी है' ऐसा दमयन्तीके

[1] "–नायि" इति पाठान्तरम्।

कहनेपर इन्द्र-दूतीको तथा सखियोंको हर्षकी परिमिति (परिमित हर्ष) ने नहीं आलिङ्गन किया अर्थात् अपरिमित हर्षने आलिङ्गन किया (दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अपने कथनको सफल होते देख इन्द्रदूती तथा सखियों को अपरिमित हर्ष हुआ । दूतीने सोचा कि हमारा कथनको किसी नियमको करके (वरदान आदि मांगकर) दमयन्ती पूरा करना चाहती है, इसी कारण 'कहनेके लिये कुछ विशेष बाँकी है' ऐसा कह रही है, तो इसके शेष कथनको पूरा करनेसे हमारा कार्य सिद्ध हो जायगा अर्थात् यह इन्द्रको वरण कर लेगी यह सोच उसे अपरिमित आनन्द हुआ । अथवा—अपरिमित हर्षने नहीं आलिङ्गन किया, क्योंकि दमयन्तीने 'कुछ विशेष कहना बाँकी है' ऐसा कह दिया था, अतः··· अथवा—तुमलोगोंका कहना मैंने कभी नहीं किया है क्या? मुझे विशेष कहनेके लिये और कुछ बाँकी है क्या? (इस प्रकार 'किम्' शब्दका दोनों वाक्योंके साथ सम्बन्ध करे) ऐसा दमयन्तीके कहनेपर·········] ॥ ८८ ॥

भैमीं च दूत्यं च न किञ्चिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य ।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम् ॥ ८९ ॥

भैमीति ॥ भैमीञ्च दूत्यञ्च किञ्चित्किञ्चन तयोरेकञ्च । नापं न प्रापम् । आप्नोतेरङि मिप् । स्त्रीरत्नलाभो मा भूत, परोपकारोऽपि न सिद्ध इत्यर्थः । इति स्वयमात्मनि भावयतो भैमीचित्तचलनभ्रान्त्या चिन्तयतो नलस्य, हृदयमेवारविन्दं, तन्मुखेन्दोः भैमीमुखचन्द्रस्यालोकमात्रात् दर्शनमात्रात् प्रकाशमात्राच्च । 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्यमरः । भिन्नं विदीर्णं विकसितञ्च नाभूद्यदि नाभूत् किम् । तन्मुखदर्शनादनया विश्वास्य हतोऽस्मीति विदीर्णहृदयोऽभूदेवेत्यर्थः । इन्दुप्रकाशात् कथमरविन्दविकास इति विरोधश्च ध्वन्यते ॥ ८९ ॥

"मैंने दमयन्ती या दूत कार्य--इन दोनोंमेंसे किसीको नहीं पाया" ऐसा स्वयं सोचते हुए नलका हृदय-कमल दमयन्तीके मुखचन्द्रको देखने मात्रसे विदीर्ण नहीं हुआ क्या? अर्थात् अवश्य विदीर्ण हुआ । [अथवा--···हुए नलका हृदय कमल जो विदीर्ण नहीं हुआ, वह दमयन्तीके मुखचन्द्रके देखनेसे ही नहीं हुआ । नलने विचारा कि प्रियारूपमें दमयन्तीको पानेसे तो मैं वञ्चित रहा ही किन्तु परोपकार तथा स्वयशोवृद्धिरूप श्रेयसे भी मैं वञ्चित रह गया, क्योंकि मेरे कार्यको यह दूती ही पूरा कर रही है, यह सोच (अपनी समझके अनुसार, वास्तविकमें नहीं) इन्द्रानुरक्त दमयन्तीके मुख-चन्द्रको देखते रहनेपर भी नलका हृदय विदीर्ण हो गया, चन्द्रदर्शन होते रहनेपर भी कमलका विकसित होना कवि-समय विरुद्ध है । अतएव नारायणभट्ट-सम्मत द्वितीय व्याख्यान ही ठीक प्रतीत होता है, उसके अनुसार उक्त बात सोचते हुए नलका हृदय-कमल उस दमयन्तीके मुखचन्द्रको देखने मात्रसे ही विदीर्ण (खण्डित, पक्षा०--विकसित) नहीं हुआ, अपितु सङ्कुचित रहा । चन्द्रमाको देखनेसे कमल विकसित नहीं होता, किन्तु सङ्कुचित ही रहता है] ॥ ८९ ॥

ईषत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः ।
स्रजा नमस्कृत्य तयैव शक्रं तां भीमभूरुत्तरयांचकार ॥ ९० ॥

ईषदिति ॥ भीमभूः भैमी, ईषत्स्मितेन मन्दहासेन क्षालितौ धौतौ सृक्किणी ओष्ठप्रान्तावेव भागौ यया सा सती । प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी' इत्यमरः । दृक्संज्ञयैव वारिता निषिद्धास्तास्ताः पूर्वोक्तविरुद्धप्रलापिन्यः आलयः सख्यः, यया सा च सती । तयेन्द्रदूतीदत्तया स्रजा सहैव । 'वृद्धो यूना' इति सूत्रकारप्रयोगादेव ज्ञापकात् सहशब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया । शक्रं नमस्कृत्य, स्रजं शक्रञ्च नमस्कृत्येत्यर्थः । न तु तामवतंसीकृत्य । तस्य नलस्य जीवनार्थमिति भावः । तामिन्द्रदूतीमुत्तरयाञ्चकार उत्तरमाचष्ट । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् ॥ ९० ॥

थोड़े मुस्करानेसे ओष्ठप्रान्तको श्वेत करनेवाली तथा नेत्रसङ्केतसे उन-उन सखियोंको (जिन्होंने इन्द्रको वरण करने की सम्मति दी थी) मना करती हुई उस दमयन्ती ने उस (इन्द्र की भेजी हुई पारिजात) मालाके साथ ही इन्द्रको प्रणाम कर दूतीको उत्तर दिया। [अथवा-इन्द्रको प्रणाम कर उस मालासे ही दूतीको उत्तर युक्त कर दिया अर्थात इन्द्रने यह माला मुझे भक्त जानकर प्रसादरूपमें भेजी है, न कि प्रेयसी जानकर पुष्पाभरणरूपमें, क्योंकि यदि दमयन्ती उस मालाको प्रिय इन्द्रद्वारा भेजा गया पुष्पाभरणोपहार समझती तो उसका भक्तिपूर्वक प्रणाम नहीं करती, अपितु हृदयसे लगाकर चुम्बनादिद्वारा इन्द्रमें प्रेम प्रदर्शित करती। इसीसे दूतीके वचनका उत्तर दमयन्तीने दे दिया। जैसे कोई व्यक्ति किसीकी बातको स्वीकार नहीं करता तो उस बातको सुनकर थोड़ा-सा मुस्कुरा कर ही और समर्थक अपने बन्धुजनोंको संकेतसे ही रोककर उसके बातका उत्तर दे देता है, इन्द्रदूतीकी वार्तोका समर्थन करनेवाली सखियोंको आँखके इशारेसे रोककर तथा दूतीकी ओर मुस्कुराकर तथा मालाको प्रणाम कर दमयन्तीने भी दूतीकी बातको स्वीकृत नहीं करनेका सङ्केत कर दिया]॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्यं वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः ।
वृथोत्तरं[1] साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

स्तुताविति ॥ हे दूति, मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्यं साहसमविमृश्यकारित्वं त्यज, न स्तुहीत्यर्थः । कुतः अशक्यत्वादित्याह । तं शक्रं कियदल्पं वक्तुं वेदयतीति वेदः, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्यः । अतः स्तुतेर्विरमेति भावः । तर्हि किमस्योत्तरं तत्राह—नृणां हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति इनिप्रत्ययः । तस्मिन्मघोनि अज्ञातॄनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम् । ममसम्बन्ध्युत्तरमपि वृथा । अज्ञस्योत्तराकांक्षा न सर्वज्ञस्येति भावः ॥ ९१ ॥

(दूती !) इन्द्रकी प्रशंसा करनेका साहस छोड़ो, यदि उनको कुछ (असम्पूर्णतया) जानता है तो वेद जानता है (इन्द्रकी महिमाको वेद भी सम्पूर्णतया नहीं जानता

---

१. 'मृषोत्तमम्' इति पाठान्तरम् ।

तो फिर दूसरे कैसे जान सकते हैं अतः इन्द्रकी महिमा बहुत बड़ी है)। मनुष्योंके हृदय-साक्षी (मानव हृदयकी समस्त बातको जाननेवाले अर्थात् अन्तर्यामी) उस इन्द्रको, नहीं जाननेवालेको बतलानेवाला मेरा उत्तर व्यर्थ है। [महामहिमशाली तथा सर्वान्तर्यामी इन्द्रसे मुझे कोई उत्तर देना व्यर्थ है, क्योंकि 'मेरा हृदय नलासक्त है, वे इस बातको जानते हैं] ॥९१॥

आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा ।
प्रह्वा तु तां मूर्ध्नि निधाय मालां बालापराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥९२॥

तथाप्यविनयपरिहाराय किञ्चिद्विज्ञापयामीत्याह—अज्ञामिति । तदीयामैन्द्रीमाज्ञामनु तामुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो नञुच्चारणमेव पारुष्यमुपैतु प्रतिषेधरौक्ष्यं भजेत् । न कोऽपि तदाज्ञोल्लङ्घनसाहसिकोऽस्तीत्यर्थः । किन्तु बाला शिशुरहं प्रह्वा नम्रा सती तामाज्ञामेव मालां मूर्ध्नि निधाय, विशेषवाग्भिरतिवाग्भिरपराध्यामि अपराधं करोमि । स च बालचापलात् सोढव्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

उन इन्द्रकी आज्ञाको लक्ष्यकर किसकी जिह्वा निषेध करने ('नहीं' कहने) की परुषता करेगी अर्थात् कोई भी उनकी आज्ञाको अस्वीकार नहीं करेगा। बाला मैं नम्र होकर उनकी मालाको शिरसे लगाकर (नमस्कार कर) विशेष वचनोंसे अपराध कर रही हूँ [अतः बालक समझकर इन्द्रभगवान् मुझे क्षमा करेंगे] ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते ।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यसर्ज्जि[1] ॥ ९३ ॥

तप इति । तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपसः फलत्वेनोपलक्षिता फलभूतेत्यर्थः । इयं मत्परिजिघृक्षारूपा कृपा हरेरिन्द्रस्य । इमं जनं मां तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति । "स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्" इत्यात्मनेपदम् । ननु महदेतत्फलं प्राप्तं किं तपसेत्याशंक्य, सत्यम्, तदेव स्वादु कर्तुमित्याह—भवतीति । हि यस्मादुपायं प्रति प्रवृत्तौ साधनगोचरप्रवृत्तौ विषये उपेयस्य साध्यस्य माधुर्यं स्वादुत्वमेव, अधैर्यमस्थैर्यं सज्जयति कारयतीत्यधैर्यसज्जि भवति । पुनः साधनप्रवृत्तिचापलं कारयतीत्यर्थः । सिद्धान्तस्योपस्कार=(उपदेश) प्रवृत्तिकल्पेयं प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ९३ ॥

तपके फलसे परिणत इन्द्रकी यह कृपा इस जन (मुझ) को फिर तपमें ही नियुक्त कर रही है। प्राप्त करने योग्य (फल) की श्रेष्ठता उपाय करनेके लिये प्रवृत्त होनेमें अधैर्य कर देता है। [पूर्वजन्ममें की हुई इन्द्रोपासनारूप तपस्याका फल है कि इन्द्र मुझे चाह रहे हैं, अतः उनकी यह कृपा मुझे पुनः इन्द्रोपासना करनेके लिये प्रेरित कर रही है कि मैं पुनः किये हुए इस तपके फल-स्वरूप नलको प्राप्त कर सकूँ, क्योंकि श्रेष्ठ फलको पानेके

१. "अधैर्यसर्जि" "अधैर्यकारि" इति पाठान्तरे ।

लिये मनुष्य धैर्य छोड़कर उपायमें अधिकसे अधिक संलग्न हो जाता है। अत एव नल-प्राप्तिके लिये मुझे पुनः तपस्या करनी पड़ेगी]॥ ९३॥

शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह॥ ९४॥

फलितमाह—शुश्रूषिताह इति। तत्तस्मादर्थित्वादहं तमिन्द्रमेव पतिं शुश्रूषिताहे सेविष्ये। 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याविधानयोः' इति विश्वः। 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इति श्रृणोतेः सन्नन्तात्तङि लुट्। तासः सकारस्य हकारः। किंतु, मुदेऽपि सन्तोषाय च व्रतसम्पदेऽपि पातिव्रत्यसम्पत्त्यर्थञ्च क्षितिभृत्तया राजत्वेन इह कस्मिंश्चिन्नरे अंशेन मात्रया आगतमवतीर्णम्। 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात्। अत एव, अदेवदेहं देवदेहरहितं मानुषविग्रहं सन्तम्। न तु साक्षादिति शेषः (तं (शुश्रूषिताह इति पूर्वेणान्वयः)। अयं विशेषलेशोऽल्पीयान् भेदः। स च सोढव्यः, अन्यथा मे व्रतलोपः स्यादिति भावः॥ ९४॥

मैं हर्ष तथा पातिव्रत्यरूप व्रत-पालनके लिये राजा होनेसे (इन्द्रके) अंश भूत और देव-भिन्न (मनुष्य) शरीर वाले उस इन्द्रकी ही सेवा करूंगी, थोड़ा-सा यही विशेष है। [राजाको अष्टदिक्पालके अंशभूत होनेसे नल भी इन्द्रके अंश ही हैं और देव न होकर मनुष्य हैं, अतः इतना थोड़ा-सा भेद होना यदि मुझ बालिका के लिये अपराध हो तो इस छोटेसे अपराधको भगवान् इन्द्र क्षमा करें, क्योंकि इतने मात्रके भेदसे ही मेरी तपस्या (पातिव्रत्य-पालन) पूर्ण होती है तथा मुझे हर्ष भी होता है]॥ ९४॥

अश्रौषमिन्द्रादरिणी[1] गिरस्ते सतीव्रतातिप्रतिलोमतीव्राः।
स्वं प्रागहं प्रादिषि नामराय किं नाम तस्मै मनसा नराय॥९५॥

कथं व्रतलोपस्तदाह - अश्रौषमिति। हे इन्द्रदूति, सतीव्रतस्य पतिव्रताधर्मस्य अतिप्रतिलोमाः अत्यन्तप्रतिकूलाः। अत एव, तीव्रा दुःश्रवाश्च। ते गिरः इन्द्रे आदरिणीआदरवती अश्रौषम्, इन्द्रो महतो देवतेति भयभक्तिभ्यामश्रौषम्। न तु, रागादिति भावः। कथं तर्हि तमेव पतिं भजिष्यामीत्युक्तं तत्राह—प्राक् पूर्वमहं स्वमात्मानं, अमराय देवात्मने तस्मै इन्द्राय न प्रादिषि न प्रादां नाम। किंतु, नराय नररूपिणे रलयोरभेदान्नलरूपाय च तस्मै मनसा प्रादिषि। ददातेर्लुङि तङ्। "स्थाघ्वोरिच्च" इतीकारः। अतः साक्षादिन्द्रभजने मम व्रतलोपः स्यादेवेत्यर्थः॥ ९५॥

पातिव्रत्य व्रतके अत्यन्त प्रतिकूल होनेसे तुम्हारी कठोर बातको मैंने इन्द्रमें आदरयुक्त होकर सुना (पा०टि०—इन्द्रकी अत्यन्त प्रशंसायुक्त तथा पातिव्रत्य व्रतके सर्वथा प्रतिकूल होनेसे तुम्हारी कठोर बातको मैंने सुना। मैंने पहले मनसे अपनेको देवता इन्द्रके लिये नहीं दिया है, किन्तु नर (मनुष्य, पक्षा-'रलयोरभेदः' सिद्धान्तके अनुसार नल) के रूप इन्द्र

---

1. "दरिणीर्गिरस्ते" इति पाठान्तरम्।

(राजा होनेसे इन्द्रके अंशरूप) के लिये मनसे दिया है। [देवरूप इन्द्रका सन्देश नहीं सुननेसे एक प्रकार उनका अपमान होगा, मनुष्यको देवताका अपमान करना उचित नहीं, इसी विचारसे मैंने इन्द्रका सन्देश सुना है, कुछ उनमें अनुराग होनेसे उक्त संदेशको नहीं सुना है। यदि सानुराग होकर इन्द्रकी बात सुनती तो मनसे मनुष्य रूपमें स्थित इन्द्र अर्थात् नलके लिये अपनेको पहले समर्पण कर देनेके कारण परपुरुष–विषयक सन्देश सुननेसे मेरा पातिव्रत्यरूपधर्म नष्ट हो जाता] ॥ ९५ ॥

तस्मिन्विमृश्यैव वृते हृदैषा नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत् ।
निर्वातुकामं भवसम्भवानां धीरं सुखानामवधीरणेव ॥ ९६ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् नरे हृदा हृदयेन, विमृश्यैव वृते सति इदमेव साध्विति सम्यङ्निश्चित्यैव प्रवृत्तेरित्यर्थः। एषा ऐन्द्री, दया परिजिघृक्षालक्षणा कृपा। निर्वातुकामं मोक्तुकामम्, इदमेव साध्विति निश्चित्य मोक्षे प्रवृत्तमित्यर्थः। 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण' इत्यमरः। धीरं निर्विकारचित्तं, विद्वांसम्। भवसम्भवानां सुखानाम्, अवधीरणा सांसारिकसुखसंन्यास इव ममानुतापिका हा कष्टमसाधुकृतामति मम पश्चात्तापकारिणी नाभूत्। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया ॥ ९६ ॥

विचारकर ही हृदयसे उसे (नलको) वरणकर लेनेपर इन्द्रकी यह दया (मुझसे विवाह करनेकी अभिलाषा), मुक्ति चाहनेवाले धैर्यवान् या विवेकीको सांसारिक सुखोंको तिरस्कारके समान मुझको सन्तप्त करनेवाली न होवे। [जिस प्रकार मुक्ति चाहनेवाले विवेकी व्यक्तिको सांसारिक सुखोंका त्याग सताता नहीं अर्थात्—"इन सांसारिक सुखोंको त्यागकर व्यर्थमें मैं मुक्ति–लाभके झमेलेमें पड़ा" इस प्रकार विवेकी पुरुष पश्चाताप नहीं करता, उसी प्रकार मैंने नलको बहुत सोच–विचारकर पहले ही हृदयसे वरणकर लिया है, अतः 'इन्द्र मुझे पत्नीरूपमें स्वीकार करनेकी दया करने की कृपाकर रहे हैं इस बातसे मुझे पश्चात्ताप नहीं होता। मोक्षार्थी विवेकशील व्यक्तिके लिये जिस प्रकार सांसारिक सुख तुच्छ एवं व्यर्थ है, उसी प्रकार इन्द्रकी उक्त प्रार्थना भी मेरे लिये तुच्छ और व्यर्थ है] ॥९६॥

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः ॥ ९७ ॥

विमृश्य कृतमित्युक्तमथैनं विमर्शप्रकारमेव श्लोकचतुष्टयेनाह – वर्षेष्वित्यादि। आर्यधुर्याः श्रेष्ठाः आश्रमेषु ब्रह्मचर्यादिषु चतुर्षु गार्हस्थ्यं गृहस्थाश्रममिव। वर्षेस्विलावृतादिषु नवसु यद्भारतं वर्षं स्तुवन्ति प्रशंसन्ति। तत्र भारतवर्षे अहं पत्युर्वरिवस्यया शुश्रूषया। 'वरिवस्या तु शुश्रूषा' इत्यमरः। वरिवस्यतेः क्यजन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति अकारप्रत्यये टाप्। शर्मोर्मिभिः सुखपरम्पराभिः, किर्मीरितं चित्रितं तत्सहचरधर्मं लिप्सुर्लब्धुमिच्छुरस्मि। 'शर्मशातसुखानि च। चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुर' इति चामरः ॥ ९७ ॥

आर्यश्रेष्ठ (मनुआदि) चार आश्रमोंमें गृहस्थाश्रमके[1] समान वर्षोंमें जिस भारतवर्षकी प्रशंसा करते हैं[2], उस इस भारतवर्षमें पति (नल) की सेवाके द्वारा मङ्गल-तरङ्गसे चित्रित धर्मका लाभ करना चाहती हूँ ॥ ९७ ॥

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
इष्ट्यापि तुष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ॥ ९८ ॥

ननु स्वर्गेऽपि सुखधर्मौ स्त इत्यत आह—स्वर्ग इति। स्वर्गे सतां स्वर्गवासिनामित्यर्थः। शर्म परं सुखमेव (अस्ति)। धर्माः सुकृतानि न भवन्ति इहास्यां भूमौ तच्छर्म च ते च धर्माश्च भवन्ति सम्भवन्ति। किञ्चेह इष्ट्या यागेन सुराणां तुष्टिरपि सुकरा सुसम्पाद्या। एवं सति कथं त्रयं शर्मधर्मतुष्टिरूपं विहायैकं सुखमीहे। न चैतत् प्रेक्षावत्कृत्यमिति भावः। तस्मात् स्वर्गादपि भूलोक एव श्लाघ्य इत्यर्थः॥

स्वर्गमें निवास करनेवालोंको केवल सुख होता है, धर्म नहीं होते, इस भूमि पर वह सुख तथा वे धर्म—दोनों ही होते हैं। (भारत-भूमिमें निवास करते हुए) यज्ञके द्वारा भी देवताओं का हर्ष (उत्पादन) किया जा सकता है, तो मैं तीन (सुख, धर्म तथा सब देवताओंका हर्ष) को छोड़कर एक (केवल सुख) क्यों चाहूं? [भारतके भोग एवं कर्म भूमि होने से यहां रहकर सुख तथा धर्म दोनों ही साधन सुलभ हैं, साथ ही भारतभूमिमें रहकर यज्ञोंके द्वारा सब देवताओं को (केवल इन्द्रको ही नहीं) भी प्रसन्न किया जा सकता है, इस प्रकार नलको वरणकर भारतभूमिमें रहती हुई मैं सुख, धर्म तथा सब देवताओंको प्रसन्न रखना—तीनों कार्य सम्पादन कर सकती हूं; इसके विपरीत यदि मैं इन्द्रको वरणकर लेती हूं तो स्वर्गको केवल भोग-भूमि होनेसे वहां सुख मानकर लाभ तो कर सकती हूं, परन्तु धर्म तथा देव-हर्षोत्पादनका नहीं, बल्कि इन्द्रको वरण करनेपर—पहले हृदयसे नलको वरण कर लेनेके बाद फिर मेरा पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो जायेगा और यम, अग्नि एवं वरुण भी मुझपर रुष्ट हो जायेंगे, क्योंकि उन तीनों देवोंने

१. तदाह मनुः—"यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठतमो गृही॥ (३ ७७-७८)

२. तथा च "वर्षधराद्यङ्कम्" (अभि, चिन्ता० ४।१३) इत्यस्य व्याख्याने हेमचन्द्राचार्या आहुः—
"भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्। हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विजः (?)॥
रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्मयम्। उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा॥
भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं तु पश्चिमे। नवसाहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम!॥ इति।
इलावृत्तञ्च तन्मध्ये मेरुरुत्थितः।"

भी अपना-अपना सन्देश दूतियोंके द्वारा भेजा था; अतः मैं इन्द्रको वरणकर अपने पातिव्रत्य धर्मको नष्टकर तथा अग्नि आदिको रुष्टकर स्वर्गमें केवल सुख पाना नहीं चाहती, किन्तु पूर्ववत् नलको ही वरणकर सुख प्राप्तिके साथ ही धर्मरक्षा तथा यज्ञके द्वारा इन्द्र और अग्नि आदि देवताओंके साथ ही अन्य सभी देवोंको प्रसन्न करना श्रेयस्कर समझती हूं] ॥ ९८ ॥

साधोरपि स्वः खलु गामिताधोगामी[1] स तु स्वर्गमितः प्रयाणे ।
इत्यायतिं[2] चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ॥ ९९ ॥

इतोऽपि कारणात् भूलोक एव श्रेयानित्याह—साधोरिति । किंच, साधोःसुकृतिनोऽपिस्वः स्वर्गादधोगामिता गमिष्यत्ता खलु । (साधुरपि कदाचिदधःपतत्येवेत्यर्थः।) स साधुरितोस्मात् भूलोकात्, प्रयाणे तु स्वर्गं गामी गमिष्यति । "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इति गीतावाक्यात् । "भविष्यति गम्यादयः" इति गामिन्शब्दस्य भविष्यदर्थता । "अकेनो" इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । इतीत्थमायतिमुत्तरकालम् । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । हृदि चिन्तयतो विवेकिनो द्वयोः स्वर्भूलोकयोः उदर्कमुत्तरफलम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः । द्वे शर्करे न किमु, शर्करे एवेत्यर्थः । एका शर्करा (इक्षुसम्भवा) शिलाशकलप्राया, मृत्प्राया अपरापीक्षुविकारा । तत्र क्रमाद्द्वावप्युदर्कौ द्वे शर्करे, तत्कल्पावित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारभेदः । 'शर्करा खण्डविकृतावुपला शर्करांशयोः' इति विश्वः ॥ ९९ ॥

सज्जनका भी स्वर्गसे चलकर (क्षीणपुण्य होनेपर) अधोगमन होता है तथा यहांसे (भूमिसे) चलकर (मरकर) स्वर्ग-प्राप्ति होगी, इस प्रकार उत्तरफलको (पाठा०–दोनों उत्तरफलोंको) सोचते हुए (व्यक्ति) के हृदयमें दोनोंका फल दो शर्कराएं (प्रथम शर्करा कंकड़, द्वितीय शर्करा शक्कर) नहीं हैं क्या ? [पुण्यक्षीण होने पर स्वर्गवासी सज्जन अधो लोकमें आता है, अतः यह तो अनिष्टकारक फल होनेसे कंकड़ रूप (नीरस तथा कठोर) है तथा मरकर सज्जन भूमिसे पुण्यातिशयसे स्वर्गमें जाता है, अतः इसका फल श्रेयस्कर होनेसे शक्कर रूप (मधुर, एवं सरस) है । अतः मैं नलको वरणकर भूमिमें ही रहना पसन्द करती हूं] ॥ ९९ ॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः ।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः ॥ १०० ॥

प्रतीक्षण इति । किंच यो नाकः कर्मकृष्टे कर्मार्जिते आयुषि प्रक्षीणे सत्येव नरान् मनुष्यानुपतिष्ठते सङ्गच्छते । तिष्ठति सति नोपतिष्ठते "उपाद्देवपूजा" इत्यादिना सङ्गतिकरणे तङ् । आपाते प्रारम्भे, सुखोन्मुखं सुखप्रवणं, न तु परिणाम इत्यर्थः ।

---

१. "गमी" इति पाठान्तरम् । २. "इत्यायती" इति पाठान्तरम् ।

अत एव अपथ्यकल्पं अपथ्यान्नसदृशं, तं नाकं, स्वर्गं धीरो धीमान्, क बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति। अपथ्यान्नभोजनवदासन्नमरणाधिकारः नाकभोगः कस्मै नाम रोचत इत्यर्थः॥ १००॥

जो स्वर्ग कर्मोपार्जित आयुके क्षीण होते ही मनुष्योंको प्राप्त होता है, आयुके रहते नहीं प्राप्त होता (अथवा—पुण्यानुरूप स्वर्गमें स्थिति कालरूप आयुके क्षीण........। अथवा पाठा०—पुण्यकर्मके क्षयसे आयुके क्षीण........। अथवा—........आयुके क्षीण होनेपर नहीं ठहरता है अर्थात् वह स्वर्ग पुण्यक्षय होने पर मनुष्यको अधोलोकमें भेज देता है), अपथ्यके समान तथा विचार नहीं करनेपर सुखकारक प्रतीत होनेवाले उस नाक (स्वर्ग) को कौन विवेकशील पुरुष भोग करना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं। (पाठा०—अविचारित रमणीय सुखके लिए उद्युक्त कौन धीर पुरुष अपथ्यके समान सुखको भोगना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं)। [इस कारण वास्तविक सुख प्राप्तिके लिये मैं नलको वरणकर भारत भूमिमें ही रहना चाहती हूं, इन्द्रको वरणकर अन्तमें अहितकर अपथ्य सेवन–तुल्य स्वर्ग सुखको नहीं चाहती]॥ १००॥

इतीन्द्रदूत्यां प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषाभिदधे वयस्याः।
किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितापनिद्रद्दलपङ्कजास्याः॥ १०१॥

इतीति। सैषा भैमी, इतीत्थमिन्द्रदूत्यां विषये, प्रतिवाचं प्रत्युत्तरम्। अर्धे प्रत्युह्य मध्ये मध्ये निरुध्य, असमाप्यैवेत्यर्थः। "उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः" इति ह्रस्वः। किञ्चिद्विवक्षया यत्किञ्चिद्वक्तुमिच्छया, उल्लसतः स्फुरतः, ओष्ठस्य लक्ष्म्या शोभया जितमपनिद्रद्दलं विकसत्पत्रं यस्य तत्। अपनिपूर्वाद्द्रातेः शतृप्रत्ययः। तच्च तत्पङ्कजञ्च तदिव आस्यं यासां ता वयस्याः सखीः अभिदधे उवाच। दधातेः कर्तरि लिटि तङ्॥ १०१॥

इस दमयन्तीने इन्द्रकी दूतीको उत्तर देना आधेमें ही रोककर (इन्द्रवरणके पक्षमें) कुछ कहनेकी इच्छासे हिलते हुए ओठोंकी शोभासे जीते गये विकसित पत्रवाले कमलके समान मुखवाली सखियोंसे कहा। [दमयन्ती जब इन्द्रकी दूतीसे कह रही थी, उसी समय सखियोंके ओष्ठकम्पनसे इन्द्रको वरण करनेके पक्षमें ये सखियां कुछ कहना चाहती हैं, अतः पहले इन आत्मीय लोगोंको ही सम्हालना ठीक है, ऐसा समझकर वह दमयन्ती दूतीसे कहने के बीचमें ही रोककर सखियोंसे बोली--]॥ १०१॥

अनादिधाविस्वपरम्परायां[1] हेतुस्रजस्स्रोतसि वेश्वरे वा।
आयत्तधीरेष जनस्तदार्याः! किमीदृशः पर्यनुयुज्य कार्यः॥ १०२॥

अनादीति। हे आर्याः, एष जनः अनादि यथा तथा, धाविन्याः प्रवहन्त्याः, स्वपरम्परायाः स्वदेहपरम्परायाः इत्यर्थः। तत्सम्बन्धिन्याः हेतुस्रजः हेतुभूतकर्म-

१. 'अनादिधारिस्वपर—' 'अनादिधाविश्वपर—' इति पाठान्तरे।

परम्परायाः स्रोतसि प्रवाहे वा । 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'ति वचनात् , ईश्वरे वा । एष एव कारयितेति श्रुतेः । आयत्तधीः । न तु स्वाधीनबुद्धिरित्यर्थः । निरीश्वरसेश्वरमतभेदात् पक्षद्वयोक्तिः, तत्तस्मात् , ईदृशः परतन्त्रः एष जनः, पर्यनुयुज्योपालभ्य । किं कार्यः कारयितुं शक्यः । कारयतेरचो यत् । अतः स्वयमपि दैवपरतन्त्रा न पर्यनुयोज्येति भावः ॥ १०२ ॥

"हे मान्य सखियां ! यह जन (मैं या संसार) अनादिसे चलती हुई अपने या जीवमात्र के समूहके ('अनादिधारि—' पाठा०—'अनादिको धारण करनेवाला अर्थात् आदि रहित, 'अनादिधाविश्वपर—' पाठा०—' अनादिधारी संसार समूहके) शुभाशुभ कर्मरूप हेतुभूत परम्पराके प्रवाहमें या ईश्वरमें अधीन बुद्धिवाला है अर्थात् मैं या संसार—कोई भी स्वतन्त्र बुद्धिवाले नहीं हैं, किन्तु कर्मानुसार या ईश्वरेच्छानुसार बुद्धिवाले हैं। इस कारण ऐसे जन (मुझसे या संसारसे) क्या कोई आक्षेप या कोई प्रश्न करना उचित है ? अर्थात् कदापि नहीं। [मैं या संसार कर्मानुसार अथवा ईश्वरेच्छानुसार ही सब कुछ करते हैं, स्वतन्त्र बुद्धिसे कुछ नहीं करते, अथवा—अनादिसे चलनेवाले अनेक कल्पोंमें मेरा तथा नलका दाम्पत्यभाव चला आ रहा है, तदनुसार ही मैं नलको वरण करना चाहती हूं, स्वतन्त्र बुद्धिसे नहीं। अतः तुम लोगोंको 'तुम नलको क्यों वरण करती हो ? इन्द्रको क्यों नहीं वरण करती, इत्यादि प्रश्न या आक्षेप करना उचित नहीं है । तुमलोग मेरे विषयमें कुछ मत बोलो, सभी चुप रहो] ॥ १०२ ॥

नित्यं नियत्या परवत्यशेषे कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः ।
अचेतना सा च न वाचमर्हेद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते ॥ १०३ ॥

ननु दैवपारतन्त्र्येऽपि मा मूढः पर्यनुयोज्यः । विद्वांस्तु पर्यनुयोज्य एवेत्याशङ्क्य आह—नित्यमिति । अशेषे जने नित्यं सर्वदा नियत्या दैवेन परवति परतन्त्रे सति संविदानो विद्वानपि । "समो गम्यृच्छि" इत्यादिना विदेरात्मनेपदम् । कः अनुयोगयोग्यः उपालम्भार्हः । विदुषापि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भावः । तर्हि नियतिरेव पर्यनुयुज्यताम् , तत्राह—अचेतना सा नियतिश्च वाचं पर्यनुयोगन्नार्हेत् । अचेतनोपालम्भस्यारण्यरुदितकल्पत्वादिति भावः । तथाप्युपालम्भे दोषमाह—वक्ता अचेतनोपालब्धा तु वक्त्रस्य श्रमः श्रान्तिरेव, क्रियत इति कर्म वाग्व्यापारफलं तद् भुङ्क्ते । वाग्विग्लापनादन्यत्फलं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

सम्पूर्ण संसारके भाग्याधीन रहनेपर कौन व्यक्ति प्रश्न या आक्षेपके योग्य है ('ऐसा क्यों करते हो ?' इत्यादि प्रश्न या आक्षेप किसीसे नहीं करना चाहिये) । अचेतन (जड़) भाग्य भी आक्षेप या प्रश्नके योग्य नहीं (क्योंकि अचेतनको कुछ कहनेसे) कहनेवाला व्यक्ति मुख श्रमरूप कर्मको भोगता है (कहनेवालेका मुख दुखता है, उसका फल कुछ नहीं होता) । अतः तुमलोग मेरे विषयमें कुछ मत कहो, क्योंकि तुमलोगोंका कहना निष्फल होगा] ॥ १०३ ॥

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम् ।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोःसमायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः ॥ १०४ ॥

ननु सुरेन्द्रं विहाय नलस्वीकारे जगत्युपहास्यता स्यात्तत्राह – क्रमेलकमिति । कोमलमिच्छुः कोमलेच्छुः मृद्वाहारी गजाश्वादिः । "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधान्मधुपिपासुवद् द्वितीयासमासः । क्रमेलकमुष्ट्रन्निन्दति । 'उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गा' इत्यमरः । कण्टकेषु लम्पटो लोलुपः क्रमेलकः । 'लोलुपं लोलुभं लोलं लम्पटं लालसं विदुः' इति हलायुधः । तं कोमलेच्छुं निन्दति । इष्टभुजोस्तयोर्द्वयोः प्रीतौ तुष्टौ समायां तत्र एकतरस्योपहासो मध्यस्थता ;माध्यस्थ्यं न । यस्य यदिष्टं तुष्टिकरं च तस्य तत्र प्रवृत्तौ सर्वस्याप्यात्मदृष्टान्तेन सन्तोष्टव्येऽप्युपहसन्तः स्वयमेवोपहास्या भवन्तीति भावः ॥ १०४ ॥

कोमल पदार्थको चाहनेवाला (गौ, घोड़ा आदि या पुरुष आदि) ऊंटकी निन्दा करता है, तथा कण्टकोंमें लालसा रखनेवाला ऊंट उस मधुर चाहनेवाले (गौ, घोड़ा, आदि या पुरुष) की निन्दा करता है। अपने २ अभिलषित पदार्थको खानेवाले दोनोंके समान प्रेम होनेपर उन दोनों-ऊंट या मधुर भक्षक गौ–घोड़ा–आदि–में एकका उपहास करना मध्यस्थता अर्थात् पक्षपात–शून्यता नहीं है अर्थात् उन दोनोंमें से किसी एकको भला समझना तथा दूसरेका उपहास करना एकके विरुद्ध पक्षपात करना है। अथवा–स्वाभिलषित पदार्थ (मधुर या कण्टक) खानेवाले दोनोंके प्रेमके समान होनेपर एकका उपहास नहीं करना चाहिये, किन्तु मध्यस्थ (उदासीन–तटस्थ) हो जाना चाहिये । [मैं अपने अभीष्ट नलको अच्छा समझ रही हूं, तथा यह दूती इन्द्रको, हम दोनों का क्रमशः नल तथा इन्द्रमें, समान प्रेम है, इस कारण तुम लोगोंको मेरा या दूतीका उपहास छोड़कर तटस्थ रहना चाहिये] ॥ १०४ ॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहारयन्ति ।
न लोकमालोकयथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चमसुञ्चमानम् ॥ १०५ ॥

ननु नलादपि गुणाधिके हरौ कथमरुचिरत आह—गुणा इति । सत्यं हरन्तोऽपि मनो हरन्तोऽपि हरेरिन्द्रस्य गुणाः मे मह्यं, "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति चतुर्थी । रोचमानं मनोहरं तं नरं न परिहारयन्ति न त्याजयन्ति । कुतः, अपवर्गान्मोक्षादर्वाञ्चमपकृष्टं, त्रिवर्गं धर्मार्थकामानमुञ्चमानमत्यजन्तं, लोकं नालोकयथ ? न पश्यथेति काकुः । न गुणमपेक्षते रागवृत्तिरिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १०५ ॥

इन्द्रके मनोहर भी गुण मेरे लिये (मुझे) रुचते हुए नर (मनुष्य, 'रलयोरभेदः' सिद्धान्तके अनुसार 'नल') को नहीं छुड़ाते हैं अर्थात् मैं नलको ही चाहती हूं, इन्द्रको नहीं । (हे सखियाँ ! तुमलोग) मोक्षसे हीन त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) को नहीं छोड़नेवाले संसारको नहीं देखती हो। [संसार जिस प्रकार मोक्षको छोड़कर उससे

हीन त्रिवर्गका ही सेवन करता है, उसी प्रकार मैं भी इन्द्रको छोड़कर नलको ही चाहती हूं, इसमें केवल रुचि ही मुख्य कारण है, अतः तुम लोगोंको कुछ भी कहना नहीं चाहिये]॥ १०५ ॥

आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः ।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम् ॥ १०६ ॥

ननु महेन्द्रं प्राप्य कृतकृत्या भव, किं नलप्रार्थनया, दुःखायसेऽत आह—आकीटमिति । आकीटं कीटादारभ्य, आकैटभवैरि तत्पर्यन्तम् । उभयत्राप्यभिविध्यावव्ययीभावः । स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः, कृतार्थत्वाभिमानस्तुल्यः साधारणः । ममाप्यभीष्टलाभात् कृतकृत्यता नेन्द्रलाभादित्यर्थः । तर्हीन्द्र एवेष्यतामित्यत आह—भिन्नस्पृहाणां भिन्नरुचीनां जनानामर्थमर्थं प्रत्यर्थम् । द्विष्टत्वमिष्टत्वञ्च द्वयमपगता व्यवस्था घटत्वपटत्वादिवत् प्रतिनियमो यस्य तदपव्यवस्थमव्यवस्थमव्यवस्थितम् । अपित्वापेक्षिकम् । तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यते को दोष इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

कीड़ेसे लेकर पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् तक (सबके लिये) अपने-अपने अभीष्ट-लाभसे कृतकृत्यता होना सामान्य है । भिन्न-भिन्न वस्तु चाहनेवालोंके वस्तु-वस्तुके विषयमें द्वेष भाव तथा प्रेमभाव अनियत है । [अपने अभीष्टलाभसे छोटासे छोटा कीड़ा जिस प्रकार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार अपने अभीष्ट लाभसे सर्वश्रेष्ठ विष्णु भगवान् तक भी बड़ेसे बड़े प्राणी प्रसन्न होते हैं । भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें स्पृहा रखनेवालोंमें से किसीको कोई पदार्थ अभीष्ट है तो दूसरेको वही पदार्थ अनभीष्ट है, अतः किसी वस्तुका अभीष्ट या अनभीष्ट होना निश्चित नहीं है । इसमें रुचि ही मुख्यकारण है, अतः मुझे नल ही रुचते हैं, इस कारणसे इस विषयमें तुम लोगोंको बोलना उचित नहीं] १०६ ॥

अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धुं बन्धुर्यदि स्यात् प्रतिबन्धुमर्हः ।
जोषं जनः कार्यविदस्तु वस्तु प्रच्छ्या निजेच्छा पदवीं मुदस्तु ॥१०७॥

अग्राध्वेति । अग्रश्चासावध्वा चेति समानाधिकरणसमासः । अत एव 'अग्रहस्ताग्रग्रहादयो गुणगुणिनोर्भेदाभावादि'ति वामनः । तस्मिन्नग्राध्वनि पुरोमार्गे, जाग्रत् स्फुरत् आसन्न इति यावत् । स चासौ निभृता नियता आपदेवान्धुः कूपः । 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप' इत्यमरः । तं प्रतिबन्धुमर्हो निवारितुं शक्तो बन्धुः स्याद्यदि, स जनो बन्धुजनः कार्यवित् कार्यज्ञोऽपि । प्रश्नपर्यन्तं जोषमस्तु तूष्णीमास्ताम् । न तु मां निवारयेदित्यर्थः । कुतस्तर्हि ते कार्यविज्ञानं तदाह—मुदः श्रेयसः । पदवीं तु, निजेच्छैव प्रच्छ्या प्रष्टव्या । सैव मे प्रवर्तिका नान्यः कश्चिदस्तीत्यर्थः । वस्तु सत्यमयमेव परमार्थ इत्यर्थः । प्रच्छेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि 'ऋहलोर्ण्यत्'॥१०७॥

सामने रास्तेमें स्थित नियत विपत्तिरूप कुआ है जिसके ऐसे (बीच रास्तेमें स्थित समीपस्थ कूपमें गिरनेके समान विपत्तिमें शीघ्र ही अवश्य फँसने वाले) बन्धुको मना करने

वाला है तो वह यदि बन्धु है तो कार्यज्ञाता भी उस बन्धुको प्रश्न करने तक चुप रहना चाहिये, इसलिए मेरे विषयमें तुम लोगोंको नहीं बोलना चाहिये। श्रेयमार्गको अपनी इच्छाके प्रति पूछना ही (वास्तविक) वस्तु अर्थात् तत्त्व है। [अथवा—रास्तेके आगेमें स्थित ढके हुए आपत्तिरूप कूप है जिसके ऐसा बन्धु यदि हो तो उसीको मना करना चाहिये। (मेरे विषयमें ऐसा नहीं है) कार्यज्ञ बन्धुजनको तो चुप ही रहना चाहिये। अपनी इच्छासे ही हर्षके मार्गकी वस्तुको ही तुम लोगोंको पूछना चाहिये।] प्रथम अर्थमें—हितैषी बन्धु-का कर्तव्य है कि यदि कोई बन्धु आपत्तिरूपमें गिरनेवाला है तो उसे 'तुम इस मार्गसे मत जावो, अन्यथा सामने रास्तेके मध्यवर्ती कूपमें गिर पड़ोगे अर्थात् इस अनिष्टकारक कार्यको मत करो, अन्यथा विपत्तिमें फंस जावोगे' इस प्रकार मना करना चाहिये। किन्तु मेरे विषयमें ऐसा नहीं होनेसे तुम लोगोंमें से अपनेको कार्यज्ञका अभिमान करने वाली किसी सखीको मुझे मना नहीं करना चाहिये, क्योंकि 'क्या मेरे लिये हित कारक है तथा क्या अनिष्ट कारक है? इस विषयमें अपनी इच्छा ही हर्षकारक मार्गकी वस्तु हुआ करती है। द्वितीय अर्थमें—रास्तेमें तृण आदिसे आच्छादित होनेसे नहीं मालूम पड़नेवाले कूपमें किसी बन्धुको गिरनेकी आशङ्का हो तो हितैषी बन्धुको उसे मनाकर देना चाहिये कि 'इस मार्गमें तृणादिसे आच्छादित कूप है, उस रास्तेसे मत जाओ अन्यथा उसमें गिर पड़ोगे अर्थात् बिना समझे कोई बन्धु अज्ञानवश अनिष्टकर कार्य कर रहा हो तो उसे मनाकर देना चाहिये, किन्तु मेरे विषयमें ऐसा नहीं है, मैंने नलको सर्वथा सोच-समझकर ही मनसे वरण किया है, उसमें कोई अनिष्ट नहीं होनेवाला है, अत एव तुम लोगोंको चुप रहना ही कार्यज्ञता है। तुम लोगोंकी भी जिस पुरुषमें अनुरागरूप इच्छा होती है, वही ठीक रास्ता होता है, अतः मेरे विषयमें भी वैसा ही समझना चाहिये। मेरे कार्य (नलानुराग) को जाननेवाला व्यक्ति (तुमलोग) तो चुप रहो, तथा नहीं जानने वाला व्यक्ति (इन्द्रदूती) भले ही कुछ कहे, परन्तु उसका कोई महत्त्व नहीं] ॥ १०७ ॥

इत्थं प्रतीपोक्तिमतिं सखीनां विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला।
अपि श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिं दूतीं बभाषेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥ १०८ ॥

इत्थमिति। बाला भैमी, इत्थं सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं प्रतिकूलोक्तिबुद्धिमित्थं पाण्डित्यबलेन प्रागल्भ्यावलम्बेन विलुप्य निषिध्य श्रुताः स्वर्पतिमन्त्रिणः शक्रस-चिवस्य बृहस्पतेः सूक्तयो वाचो यया तामपि "अहरादीनां पत्यादिषु" इति रेफा-देशः। अद्भुतेन, अहो बृहस्पतेरपि प्रगल्भेत्याश्चर्येण लोलमौलिं कम्पशिरसं शिरः कम्पयन्तीमित्यर्थः। दूतीं बभाषे ॥ १०८ ॥

बाला दमयन्तीने इस प्रकार (श्लो० १०२—१०७) सखियोंके प्रतिकूल कहनेके विचार-को पाण्डित्यके बलसे निषेधकर स्वर्गाधीश इन्द्रके मन्त्री अर्थात् बृहस्पतिके सूक्तियोंको सुनी हुई तथा आश्चर्यसे मस्तकको हिलाती हुई दूतीसे फिर बोली—[जिस प्रकार किसीके अधिक

पाण्डित्य पूर्ण वचनको सुनकर कोई समझदार व्यक्ति आश्चर्यसे चकित होकर सिर हिलाने लगता है. उसी प्रकार (दमयन्तीके पाण्डित्य पूर्ण वचनको सुनकर 'अरे ! यह दमयन्ती तो बृहस्पतिके समान या उनसे भी अधिक पाण्डित्यपूर्ण बात कह रही है' ऐसा विचार आनेके कारण) दूती भी सिर हिला रही थी] ॥ १०८ ॥

परेतभर्तुर्मनसैव दूतीं नभस्वतैवानिलसख्यभाजः ।
त्रिस्रोतसैवाम्बुपतेस्तदाशु[1] स्थिरास्थमायातवतीं निरास्थम् ॥ १०९ ॥

परेतेति । मनसैव आकर्षकेणेति शेषः । आगमनसाधनेनेत्यर्थः । एवं वायुगङ्गयोरपि द्रष्टव्यम् । परेतभर्तुः यमस्य दूतीं, नभस्वता वायुनैव अनिलसख्यभाजोऽग्नेर्दूतीं त्रिस्रोतसा गङ्गयैव अम्बुपतेर्वरुणस्य दूतीं स्थिरास्थं दृढाभिनिवेशं यथा तथा आशु शीघ्रमायातवतीं सतीं, तदा आगमनक्षण एव निरास्थं पर्यहार्षम् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इत्यस्यतेर्लुङि च्लेरङादेशः । 'अस्यतेस्थुक्' इति थुक् । यमादिदूत्यो दूरादेव निरस्ताः इन्द्रगौरवात्त्वया एतावन्तं कालं समभाषीत्यर्थः । अत्र मनोवायुगङ्गानां क्रमाद्यमादिविधेयत्वेन तत्प्रियार्थं ताभिरेवातिवेगवतीभिरत्र आनीता (यमादीनां दूत्यः) इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ १०९ ॥

क्रमशः मन, वायु तथा गङ्गासे ('दमयन्तीको हम अवश्य अपने पक्षमें कर लूंगी' ऐसे) दृढ विश्वास पूर्वक आई हुई यम, अग्नि तथा वरुणके दूतियोंको शीघ्र ही मना कर दिया । अथवा—'''दृढ विश्वास पूर्वक शीघ्र आई हुई''''''दूतियोंको मना कर दिया । अथवा—(नलमें दृढ आस्था करके मैंने) उक्त दूतियोंको शीघ्र मना कर दिया । अथवा—मैंने दृढविश्वास पूर्वक यमकी दूतीको मानो मनसे, अग्निकी दूतीको मानो वायुसे तथा वरुणकी दूतीको मानो गङ्गासे मना कर दिया है । परेतपति यमके प्राणहर्ता होनेसे प्राणके मनोऽधीन होनेसे यम-दूतीका मन रूपी वाहनसे आना, अग्निके वायु-मित्र होनेसे अग्नि-दूतीका वायुरूपी वाहनसे आना तथा वरुणके जलाधीश होनेसे वरुण-दूतीका गङ्गा-प्रवाहसे आना (यमदूतीका मनोवेगसे, अग्निदूतीका वायुवेगसे तथा वरुणदूतीका गङ्गा प्रवाह-वेगसे अत्यन्तशीघ्र आना प्रतीत होता है) कार्यकी शीघ्रताके कारण उचित ही है । प्रकृतमें इन्द्रदूतीसे दमयन्तीका यह कहना है कि मैंने बहुत आशा लेकर आयी हुई यमादिकी दूतियोंको पहले शीघ्र ही मना कर दिया, केवल देवराज इन्द्रके गौरव के कारण (अनुरागके कारण नहीं) तुमसे इन्द्रका सन्देश सुनकर तुम्हें मना कर रही हूं, अतः तुम्हें या इन्द्रको मनमें खेद नहीं करना चाहिये] ॥ १०९ ॥

भूयोऽर्थमेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः ।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तः परं वज्रिणि मार्जितास्मि ॥ ११० ॥

भूय इति । हे शक्रदूति ! त्वं भूयः पुनरेनमर्थमिन्द्रं वृणीष्वेत्यमुमर्थं मामात्थ

1. "त्वदाशु" इति पाठान्तरम् ।

ब्रूषे यदि । "ब्रुवः पञ्चानाम्" इत्यादिना सिपस्थादेशो ब्रुव आहश्च । "आहस्थ" इति हकारस्य थकारादेशः । तदा मघोनः पदावङ्घ्री । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । आलभसे हिनस्सि स्पृशसि वा । वज्रिणि इन्द्रे विषये अन्तरन्तरङ्गे परं श्रेष्ठं, गुणत्वेन गृह्यमाणमित्यर्थः । इमं तीव्रं दुस्सहं मन्तुं निजाज्ञोल्लङ्घनापराधम् । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । सतीव्रतैः पतिव्रतानियमैः मार्जितास्मि मार्जिष्यामि । मृजेर्लुटि मिप् । पतिव्रताधर्मज्ञः सर्वज्ञो भगवान् मघवा मामस्मादपराधान्नास्यतीत्यर्थः ॥ ११० ॥

यदि तुम मुझसे इस विषय (इन्द्रको वरण करने) को फिर कहती हो तो इन्द्रके चरणोंका शपथ है (या इन्द्रके चरणोंकी हिंसा करती हो) । वज्रधारी इन्द्रसे हृदयमें अत्यन्त तीव्र इस (इन्द्रकी आज्ञाका अपालनरूप) अपराधका तो सतीव्रतोंसे मैं यथावत् मार्जन करती हूं । [इन्द्राज्ञाका निषेध करना मुझे हृदयमें बहुत तीव्र अपराध प्रतीत हो रहा है, परन्तु सतीव्रतसे विवश होकर मेरा ऐसा करना उचित जान कर इन्द्र भगवान् क्षमा करेंगे । अथवा—वरम् = यथावत् अच्छी तरह हृदयमें स्थित इस अपराधको ...... । अथवा—अन्तःकरणमें नलको वर (पति) रूपमें रखनेके (इन्द्र–मतानुसार) तीव्र अपराधको । अथवा—सती होकर भी इन्द्ररूप परपुरुषके अनुराग—विषयक सन्देशको सुननेसे तीव्र अपराधको हृदयस्थ वररूप (लोकपालांश होनेसे) इन्द्रमें सतीव्रतोंसे मार्जित करती हूं, अर्थात् मैंने इन्द्रके सन्देशको केवल देवराजके गौरवकी दृष्टिसे सुना है, अनुराग वश नहीं, इसमें मेरा दृढ सतीव्रत ही प्रमाण है] ॥ ११० ॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामवयातवत्याम् ।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिव प्रबोधः ॥ १११ ॥

इत्थमिति । इत्थमुक्तप्रकारेण पुनर्वागवकाशनाशात् भूयोवचनावकाशनिवृत्तेः । इन्द्रदूत्यामवयातवत्यां गतायां नलस्य जीवोऽन्तरात्मा लोलं चलाचलं हृदयं क्षीबं मत्तम् । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । 'क्षीबृ मद' इति धातोः कर्तरि क्तः । 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात्साधुः । प्रबोधो विवेक इव पुनर्विवेश पुनर्जात इवाभूत् । तदा विशश्वास उच्छ्वश्वास चेत्यर्थः ॥ १११ ॥

इस प्रकार (श्लो० ११०) फिर कहनेके अवसरका सर्वथा नाश हो जानेसे इन्द्र–दूतीके चले जानेपर उन्मत्तमें ज्ञानके समान नलके चञ्चल हृदयमें जीवने पुनः प्रवेश किया । [इन्द्र दूतीके सन्देश तथा दमयन्ती–सखियोंके द्वारा उसका समर्थन सुनकर नलका निर्जीवप्राय हृदय चञ्चल हो रहा था कि 'मुझे न तो प्रिया दमयन्तीका ही लाभ हुआ और न तो दूत—कर्मके श्रेय का ही' (दे० श्लो० ८९), अतः यमादिके दूतीके समान इन्द्रदूतीको भी मना करने पर नलके जानमें जान आ गया कि अब मैं दूतकर्म कर यशोलाभ करूंगा या प्रियपत्नीके रूपमें दमयन्तीको ही प्राप्त करूंगा । उन्मत्त व्यक्तिका भी हृदय चञ्चल रहने पर ज्ञानशून्य रहता है तथा ज्ञान आने पर उसको शान्ति मिलती है] ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयात्तादीदृशःसन्निधानात्[1] ।
अलभत मधुबालारागवागुत्थमित्थं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रः[2] ॥

श्रवणेति । निषधानां जनपदानाम्, इन्द्रो नलो दिगधिपानाम्, इन्द्रादीनां कृपया तिरोधानशक्त्यनुग्रहरूपया आत्तात् प्राप्तादीदृशः सन्निधानादप्रकाशसान्निध्यात् स्वेन स्वकीयेन श्रवणपुटयुगेन साधूपनीतमर्पितमित्थमुक्तरीत्या बालाया भैम्याः रागवाग्भ्यः अनुरागवचनेभ्यः उत्था यस्य तत्तदुत्थं मधु क्षौद्रं, रसामृतमित्यर्थः । आनन्दसान्द्रः सुखमयः सन् पातुमलभत तत्पानं लब्धवानित्यर्थः । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन् प्रत्ययः ॥ ११२ ॥

निषध देशाधिपति नलने इन्द्र दिक्पालों (इन्द्रादि) की कृपासे प्राप्त सामीप्य (पाठा०—संविधान =उपाय) के कारण अपने कर्णपुटद्वयसे अच्छी तरह लाये गये तथा बाला दमयन्तीके अनुरागसे उत्पन्न इस प्रकार (श्लो०—११०) के मधुको अत्यन्त आनन्दयुक्त होकर (पाठा०—अत्यन्त आनन्द पूर्वक) पीने के लिये प्राप्त किया । [नलने सोचा कि—यदि कृपाकर इन्द्रादि दिक्पाल अपने दूत-कर्ममें मुझे नियुक्त नहीं किये होते तो मुझे दमयन्तीके सानुराग मधुर वचनको अपने कानोंसे सुनने का यह सुअवसर नहीं मिलता, यह सोचकर नलने उस वचनको सुन बड़ा आनन्दानुभव किया । अन्य भी कोई व्यक्ति किसी सज्जनके द्वारा लाये हुए मधुको पात्रोंसे पीकर आनन्दित होता है] ॥ ११२ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद्भास्वरः ॥ ११३ ॥

श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगमम् । सहजात् सोदरात्, समानकर्तृकादित्यर्थः। खण्डनखण्डतः खण्डनखण्डाख्यात् ग्रन्थात् । यद्वा खण्डनं नाम ग्रन्थः तदेव खण्डः इक्षुविकारः । 'स्यात् खण्डश्शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः' इति विश्वः । ततस्तस्मादपि क्षोदक्षमे संघर्षणसहे षष्ठः सर्गः, अगमत् समाप्त इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥ ६ ॥

एक ग्रन्थकर्ता होनेसे सहज 'खण्डन खण्ड' नामक ग्रन्थसे या 'खण्डन' नामक ग्रन्थरूप शक्करसे भी विचारयोग्य (विचार करनेसे उत्तरोत्तर सरस, पक्षा०—शक्कर जितना घिसा जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही स्वच्छ तथा मधुर होता जाता है, ऐसा) यह षष्ठसर्ग पूर्ण हुआ। (शेष व्याख्यार्थ ४र्थ सर्गवत् समझना चाहिये) ॥ ११३ ॥

---

१. "संविधानम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "—सान्द्रम्" इति पाठान्तरम् ।

सप्तमः सर्गः

अथ प्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः।
विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भुवः पूर्णवदभ्यमानि[1] ॥ १ ॥

अथेति। अथ इन्द्रदूतीगमनानन्तरम्। भुवः पत्या नलेन, "पतिस्समास एव" इति नियमादसमासे घिसंज्ञाऽभावात् घिकार्याऽभावः, प्रियाया दमयन्त्याः आसादनं प्राप्तिः, शीलनं परिचितिः, तदादौ विषये आदिशब्दादाश्लेषादिसङ्ग्रहः। यो मनोरथः चिरं चिरात्प्रभृति पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, स मनोरथो राजपुत्र्या विलोकनेनैव पूर्णवत् फलितवदभ्यमानि अभिमेने। तथा ननन्देत्यर्थः। मन्यतेः कर्मणि लुङ्॥ १ ॥

इन्द्रदूतीके लौट जानेके बाद राजा नलका, जो मनोरथ प्रिया दमयन्तीको पानेके परिशीलन करने (उन–उन अङ्गोंके रूपादि कल्पना करने। अथवा—······को पाने तथा परिशीलन) आदि ('आदि' शब्दसे आलिङ्गन, सम्भोग आदिका संग्रह है) के विषयमें पहले पल्लवित हुआ था: उसको उन्होंने राजकुमारी दमयन्तीके सम्यक् प्रकारसे देखनेसे ही पूर्णके समान मान लिया। [दमयन्तीकी प्राप्ति न होने पर भी केवल उसको देखनेसे ही नलको दमयन्तीकी प्राप्तिका आनन्द हुआ]॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥ २ ॥

प्रतीति। तस्य नृपस्य दृशौ नेत्रे प्रथमं प्रियायां भैम्यां, तत्रापि प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवं ममज्जतुः तामवयवशो ददर्शेत्यर्थः। अथ तदनन्तरं अन्तः अन्तरात्मनि य आनन्दसुधासमुद्रः तस्मिन् ममज्जतुः दर्शनफलमानन्दं अनुबभूवतुरित्यर्थः। करणे कर्तृत्वोपचारः। ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायामानन्दवाष्पप्रवाहे ममज्जतुः। अत्र दृग्रूपस्यैकस्याधेयस्य क्रमात्प्रियावयवाद्यनेकाधारवृत्तित्वकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः। "क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि। एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालङ्कृतिर्द्विधा"॥ इति लक्षणात्॥ २ ॥

पहले नलकी दृष्टिने प्रिया दमयन्तीके प्रत्येक अवयवमें, फिर अन्तः करणमें उत्पन्न आनन्दसमुद्रमें तथा इसके बाद आनन्दाश्रुपरम्परामें निमग्न हो गयी। [नलको प्रियाके प्रत्येक अवयवोंको देखनेसे आन्तरिक आनन्द हुआ तथा दोनों आखोंमें हर्षसे आँसू आ गये]॥ २ ॥

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैतमुदं तथासौ ॥ ३ ॥

ब्रह्मेति। असौ नलः, अस्या भैम्याः, रोमाग्र एव रोमाग्रमात्रे अग्रे प्रथमं निरीक्षिते

---

[1] "—दन्वमानि" इति पाठान्तरम्।

दृष्टे सति यदा ब्रह्मैवाद्वयमद्वितीयं वस्तु तस्य प्रमोदं दृगानन्दमन्वभवदित्यर्थः। आनन्दस्य ब्रह्माभेदेऽप्युपचाराद्भेदव्यपदेशः । अथाऽग्रदर्शनानन्तरं तस्य रोम्णः अशेषदृष्टौ कृत्स्नदर्शने सति, द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तद्रहितमद्वैतं स्मर एवाद्वैतमद्वितीयं वस्तु तस्य मुदमन्वभवत् । अत्र ब्रह्मानन्दात् स्मरानन्दोऽधिक इति विवक्षितम् । तथा रोमापि रोमाग्रादधिकं, तत्र यथाल्पदर्शनादल्पानन्दः, अधिकदर्शनादधिकानन्द इति यथा तथा—शब्दार्थः, इत्थमौचितीकारणानुरूपं कार्यजन्मोचितमेवेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मानन्दस्मरानन्दयोरेकस्मिन्नेव क्रमेण वृत्तिकथनात् 'एकस्मिन्नथ वानेकम्' इत्युक्तलक्षणो द्वितीयः पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ३ ॥

नलने इस दमयन्तीके रोमाग्रको पहले देखनेपर अद्वैत ब्रह्मका आनन्द प्राप्त किया, फिर उसको (दमयन्तीको या रोमको) सम्पूर्ण देखकर जैसा उचित था, इस प्रकार कामदेवजन्य आनन्दको प्राप्त किया। [सुन्दरी जिस दमयन्तीके केवल रोमाग्रमात्र देखनेसे जब अद्वैत ब्रह्मानन्द होता है, तब उसे शेष रूपमें देखनेसे कामदेवजन्य आनन्द होना उचित ही है। नलको दमयन्तीके देखनेसे जो आनन्द हुआ, उसकी तुलनामें ब्रह्मानन्द भी तुच्छ प्रतीत होता था] ॥ ३ ॥

वेलामतिक्रम्य चिरं मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः ।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः ॥ ४ ॥

वेलामिति । नलस्य दृष्टिः तस्या मुखेन्दोरालोको दर्शनं प्रकाशश्च । 'आलोको दर्शनद्योतौ' इत्यमरः । स एव पीयूषममृतं तस्य रसेन स्वादेन, रागाम्बुनिधौ अनुरागसमुद्रे पृथुं महतीं वेलां कालं मर्यादां च । 'वेला कालमर्यादयोरपि' इति विश्वः । अतिक्रम्य विवृद्धे प्रवृद्धे सति तुङ्गौ कुचावाश्रयतिस्म । मुखलग्ना दृष्टिः रागवशात्कुचयोः पपातेत्यर्थः । अत्र दृष्टिविशेषणसामान्याच्चन्द्रोदये समुद्रवृद्धौ तन्मज्जनभयादुत्सेधाश्रयजनप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । तेन चाब्धिमज्जनभयादिवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४ ॥

नलकी दृष्टिने उस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमाके दर्शनरूपी अमृतके रस (पान या प्रेम) से बड़ी मर्यादा (तट, पक्षा०— दूत-कर्म सम्बन्धी मर्यादा) का उल्लङ्घन कर प्रेमरूपी समुद्रके बढ़नेपर ऊंचे दोनों स्तनोंका अवलम्बन किया। [अन्य कोई व्यक्ति भी समुद्रके बढ़नेपर उच्च स्थानका आश्रय करता है। नल दमयन्तीका मुखचन्द्र देख अपने दूतकर्तव्यको भूल गये और उसके विशाल स्तनोंको सानुराग होकर देखने लगे] ॥ ४ ॥

मग्नां सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः ।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चतास्य दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद्भिया नु ॥ ५ ॥

मग्नेति । अस्य नलस्य दृष्टिस्तस्या भैम्याः मुखेन्दोस्सुधायां मग्ना किमु, तत्कुचयोरन्तरभ्यन्तरे च लग्ना स्थिता किम् । उभयत्राप्यन्यथा कथं तावान् विलम्ब इति

भावः । किंच कृशीयः कृशतरं तन्मध्यं कर्म स्खलनाद्भिया नु भयेन किम् । चिरेणामुञ्चत । रज्जुसञ्चारिवदिति भावः । उत्प्रेक्षात्रयस्य सजातीयस्य संसृष्टिः ॥ ५ ॥

नलकी दृष्टि दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमाके अमृतमें मग्न हुई थी क्या ? अथवा—दमयन्तीके (मृणाल सूत्रके लिये भी मध्यमें अवकाश शून्य) दोनों स्तनोंके बीचमें अँटक (उलझ) गयी थी क्या ? अथवा—(अत्यन्त पतला होनेसे) गिरनेके भयसे उस दमयन्तीके अत्यन्त पतले मध्य भाग (कटिप्रदेश) को देरसे छोड़ा क्या ? [अन्य भी कोई व्यक्ति कीचड़ आदिमें फंसकर, संकीर्ण स्थानमें अँटक कर अथवा तार वा रस्सी आदिपर चलते समय गिरनेके भयसे बड़ी सावधानीसे चलकर उसे बहुत विलम्बसे छोड़ता है । नल दमयन्तीके मुख और स्तनोंको देखनेके बाद कृशतम कटिभागको बहुत विलम्ब तक देखते रहे] ॥ ५ ॥

प्रियाङ्गपान्था कुचयोर्निवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती ।
बभौतमां तं मृगनाभिलेपतमः समासादितदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

प्रियेति । प्रियाया अङ्गेषु, पन्थानं गच्छतीति पान्था नित्यपथिका, 'पन्थो ण नित्यम्' इति पथो णप्रत्ययः, पन्थादेशश्च । लोला सतृष्णा नलस्य दृक् दृष्टिः कुचयोर्निवृत्य आवृत्य भ्रमन्ती तयोः कुचयोः मृगनाभिलेपः कस्तूरिकालेपनमेव तमः तेन समासादितः प्राप्तः दिग्भ्रमो यया सेवेत्युत्प्रेक्षा । बभौतमां अतिशयेन बभौ । 'तिङश्च' इति तमप्प्रत्यये 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना तिङादामुप्रत्ययः ॥ ६ ॥

प्रिया दमयन्तीके अङ्गोंकी पथिक रूपिणी नलकी चञ्चल दृष्टि स्तनोंपर कस्तूरीके लेपरूपी अन्धकारसे दिशाकी भ्रान्तिको पायी हुई के समान, बारम्बार लौटकर स्तनों पर घूमती हुई अत्यन्त शोभमान हुई । [अन्य भी कोई पथिक अन्धकारमें दिग्भ्रम होनेसे बारम्बार लौट कर एक ही स्थान में आ जाता है । नल दमयन्तीके अन्य अङ्गोंको देखते हुए पुनः पुनः उसके स्तनोंको देखने लगते थे] ॥ ६ ॥

विभ्रम्य तच्चारुनितम्बचक्रे दूतस्य दृक् तस्य खलु स्खलन्ती ।
स्थिरा चिरादास्त तदूरुरम्भास्तम्भावुपाश्लिष्य करेण गाढम् ॥ ७ ॥

विभ्रम्येति । दूतस्य तस्य नलस्य दृक् दृष्टिः तस्याश्चारु नितम्ब एव चक्रं तस्मिन् विभ्रम्य भ्रान्त्वा स्खलन्ती चलन्ती तस्या ऊरू एव रम्भास्तम्भौ करेणांशुना हस्तेन च गाढमुपाश्लिष्य स्थिरा निश्चला सती चिरादास्त उपविष्टा खलु । 'आसेर्लङ्' । अत्र दृष्टिविशेषणसाम्याद्भ्रमणक्रीडाकारिबालकप्रतीतेः समासोक्तिः । तस्याश्चोरुस्तम्भाविति रूपकेण सङ्करः । बालिका हि क्रीडया चिरं चक्रमुद्भ्रान्त्वा स्खलन्ती निकटस्तम्भादिकमवलम्ब्य चरति ॥ ७ ॥

उस दमयन्तीके सुन्दर नितम्बरूपी चक्रमें (पक्षा०—चक्रतुल्य नितम्बमें, या नितम्ब समूहमें) घूमकर दूत उस नलकी दृष्टि वहांसे स्खलित हो (फिसल) कर उस दमयन्तीके कदली–स्तम्भके समान (पक्षा०—कदली–स्तम्भरूप) ऊरुद्वयको हाथसे (पक्षा०—किरणसे

अच्छी तरह पकड़कर बहुत विलम्ब तक रुकी रही। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति चाकपर घूमते-घूमते वहांसे गिरता है तो किसी खम्भे आदिको हाथसे देर तक अच्छी तरह पकड़े रहता है, वैसे ही नलकी दृष्टिने किया। नल दमयन्तीका नितम्ब देखनेके बाद विलम्बतक दमयन्तीका केलेके खम्भोंके समान सुन्दर ऊरुओंको देखते रहे] ॥ ७ ॥

वासः परं नेत्रमहं न नेत्रं किमु त्वमालिङ्ग्य तन्मयापि ।
उरोनितम्बोरु कुरु प्रसादमितीव सा तत्पदयोः पपात ॥ ८ ॥

वास इति । हे भैमि, वासः परं वस्त्रमेव नेत्रम् आच्छादनम् , अहं नेत्रं न इति काकुः, नास्मि किमु अस्म्येवेत्यर्थः । 'नेत्रं पथि गुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने' इति विश्वः । तत् तस्मात् नेत्रत्वाविशेषात्त्वं मया अपि, उरश्च नितम्बश्च ऊरू च तेषां समाहारः उरोनितम्बोरु। प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । तदालिङ्ग्याश्लेषय प्रसादमालिङ्गनानुग्रहं कुरु इतीव इति मनीषयेवेत्युत्प्रेक्षा । सा नलदृष्टिस्तस्याः भैम्याः पदयोः पपात पदे अपि ददर्शेत्यर्थः ॥ ८ ॥

(हे दमयन्ति !) केवल वस्त्र ही 'नेत्र' हैं, मैं नेत्र नहीं हूं क्या ? अर्थात् मैं भी 'नेत्र' हूं, इस कारण मुझे (नयन-वाचक 'नेत्र' को) भी (वस्त्र-वाचक 'नेत्र'के समान) छाती, नितम्ब और ऊरुका आलिङ्गन करावो (या प्रत्यक्ष दिखलावो) मानो इसप्रकार कहती हुई नल-दृष्टि दमयन्तीके चरणोंपर गिर पड़ी। (जैसे अन्य कोई व्यक्ति अपने समकक्ष व्यक्तिके समान स्थान पानेके लिये राजा आदि श्रेष्ठ अधिकारीके चरणोंपर गिरता है, वैसे नलदृष्टिने भी किया। नलकी दृष्टि दमयन्तीकी छाती, नितम्ब और ऊरुको देखनेके बाद पैरों पर पड़ी ॥ ८ ॥

दृशोर्यथाकाममथोपहृत्य स प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः ।
इदं प्रमोदाद्भुतसंभृतेन महीमहेन्द्रो मनसा जगाद ॥ ९ ॥

दृशोरिति । अथ महीमहेन्द्रस्स नलो दृशोः स्वाक्ष्णोः प्रेयसीं भैमीं, तस्या आलिकुलं सखीवर्गं च यथाकाममुपहृत्योपहारीकृत्य यथेच्छं दृष्ट्वेत्यर्थः । प्रमोदाद्भुताभ्यामानन्दविस्मयाभ्यां संभृतेन पूर्णेन मनसा इदं वक्ष्यमाणं जगाद स्वगतमुवाचेत्यर्थः ॥ ९ ॥

इसके बाद महीपति नल प्रिया दमयन्ती तथा उसके सखी-समुदायको अच्छी तरह देखकर हर्ष तथा आश्चर्यसे परिपूर्ण मनसे यह कहने अर्थात् विचारने लगे ॥ ९ ॥

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा ममाभिषिच्येत मनोरथो वा ।
तदा घटेतापि न वा तदेतत्प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पम् ॥ १० ॥

पद इति । विधातुः पदे ब्रह्मणः स्थाने, मन्मथो वा मम मनोरथो वा अभिषिच्येत यदि तदा तत्प्रसिद्धम् एतत् पुरोवर्ति प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवम् अद्भुतं रूपशिल्पम्

आकारनिर्माणं घटेतापि न वा घटेत, तन्मनसापि निर्मातुमशक्यं किमुत ब्रह्मणेत्यर्थः। अत्र भैमीरूपशिल्पस्य प्रसिद्धब्रह्मसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेस्तथा मन्मथाद्यसम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेश्च, तद्रूपकातिशयोक्तिभेदौ ॥ १० ॥

यदि ब्रह्माके पदपर कामदेवको या मेरे मनोरथको अर्थात् मुझको अभिषिक्त कर दिया जाता अर्थात् हम दोनोंमें से किसीको ब्रह्माका कार्य सौंप दिया जाता; तब ऐसा (या इस दमयन्तीके) प्रत्येक अवयवोंकी सुन्दरतासे आश्चर्यकारक कारीगरी (रचना) होती यह नहीं होती। [दमयन्तीका यह रूप लोकातिशायी एवं जगद्विलक्षण है] ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता जानामि शृङ्गाररसस्य सेयम् ।
लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन यस्यां तथोच्चैस्तनताघनेन ॥ ११ ॥

तरङ्गिणीति। सेयं दमयन्ती भूमिभृतो भीमभूभर्तुरेव भूधरादिति श्लिष्टरूपकम्। भुवः प्रभव इत्यपादानत्वात्पञ्चमी। प्रभूता सम्भूता। शृङ्गाररसस्य तरङ्गिणी नदी जानामि इति वाक्यार्थः कर्म। इति जानामीत्यर्थः। उत्प्रेक्षा। तथाहि—यस्यां भैम्यां तथा तेन प्रकारेण उच्चैस्तनता उन्नतकुचत्वम्। तया घनेन सान्द्रेण संपूर्णेन यौवनेनेव, उच्चैः तारं स्तनता गर्जता स्तनशब्द इति धातोर्भौवादिकाल्लटः शत्रादेः। घनेन मेघेन। 'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तर' इत्यमरः। लावण्यपूरोऽजनि जनितः यौवनेन च लावण्यं वर्धत इति प्रसिद्धम्। मेघवर्धितपूरत्वं तरङ्गिण्यां युक्तमिति भावः। यौवनेन वनेनेति व्यस्तरूपकम्। उच्चैस्तनताघनेनेति शब्दश्लेषः। तदुत्थापिता च भैम्याः शृङ्गारतरङ्गिणीत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ११ ॥

वह दमयन्ती महीपाल भीमसे उत्पन्न शृङ्गार रससे अभियुक्त है (पक्षा०—वह पर्वतसे उत्पन्न शिखरसे निकले हुए जलवाली नदी है), [जिस दमयन्तीमें उच्चतम स्तनोंके भावसे बढ़े हुए यौवनसे लावण्यका प्रवाह उत्पन्न हो रहा है (अथवा—बढ़े हुए यौवनसे लावण्य प्रवाह उत्पन्न हुआ और उच्चतम स्तन हुए। पक्षा०—जिस नदीमें, अधिक गरजते हुए मेघसे जलका प्रवाह हुआ)। [दमयन्तीके अत्युन्नत स्तनोंमें अधिक सौन्दर्य और बादमें कामवृद्धि हुई, और नदीमें मेघके गरजनेके बाद तेज पानीका प्रवाह हुआ] ॥ ११ ॥

अस्यां वपुर्व्यूहविधानविद्यां किं द्योतयामास नवामवाप्ताम्[१] ।
प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा यदिमामुपास्ते ॥ १२ ॥

अस्यामिति। अत्र सामर्थ्याद्ब्रह्मणः कर्तुरध्याहारः। ब्रह्मा अवाप्तां स्वभ्यस्तां नवामसाधारणीं, वपुर्व्यूहविधानविद्यां शरीरसंस्थानविशेषनिर्माणविज्ञानम् अस्यां दमयन्त्यामेव द्योतयामास किम्। नूनं विधातुरात्मनः स्त्रीसृष्टिकौशलप्रकाशनार्थसृष्टिरेषैवेत्युत्प्रेक्षा। यद्यस्मात्, प्रत्यङ्गसङ्गेन प्रत्यवयवव्याप्त्या, स्फुटं लब्धो भूमा

१. "नवां स कामः" इति पाठान्तरम्।

विस्तारो यया सा लावण्यसीमा सौन्दर्यसर्वस्वमिमां दमयन्तीम् उपास्ते सेवते अस्यामेव वर्तत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(ब्रह्माने कहींसे) प्राप्त नवीन शरीर-रचनाकी विद्याको इस दमयन्तीमें नहीं व्यक्त किया है क्या ? अर्थात् अवश्यमेव व्यक्त किया है, क्योंकि अङ्ग-अङ्गमें वर्तमान रहनेसे स्पष्ट ज्ञात होती हुई अधिकतावाली लावण्यकी सीमा इस दमयन्तीकी सेवा करती है अर्थात् दमयन्तीके प्रत्यङ्गमें अधिकतम सौन्दर्यसे ज्ञात होता है कि ब्रह्माने इसके लिये कहींसे नयी शरीर-रचनाकी विद्या प्राप्त की है। (अथवा—इस दमयन्तीके प्रत्यङ्गमें स्पष्टतः वर्तमान आधिक्यवाली सौन्दर्य-सीमाने इस दमयन्तीमें कहींसे प्राप्त नवीन शरीर-रचनाकी विद्याका नहीं प्रकट किया है क्या ? अर्थात् अवश्य ही प्राप्त किया है; क्योंकि······इसकी सेवा करती है। अथवा—इस दमयन्तीके प्रत्यङ्गमें स्पष्टतः वर्तमान आधिक्यवाली सौन्दर्यसीमा जो इसकी उपासना करती है (दासी या शिष्याके समान सेवा करती है), अतः नयी (वर्णनातीत) शरीररचनाकी विद्याको प्राप्त किया है क्या ? [अन्य भी कोई व्यक्ति गुरुके समीप सर्वदा रहकर वर्णनातीत श्रेष्ठ विद्याको प्राप्त करता है। पाठा०--'कामदेव' को कर्ता मानकर उक्त सब पक्षोंमें पूर्ववत् अर्थसङ्गति करनी चाहिये) ॥ १२ ॥

जम्बालजालात्किमकर्षि जम्बूनद्या न हारिद्रनिभप्रभेयम् ।
अप्यङ्गयुग्मस्य न सङ्गचिह्नमुन्नीयते दन्तुरता यदत्र ॥ १३ ॥

जम्बालेति। हरिद्रया रक्तं वस्तु हारिद्रं, हरिद्रामहारजनाभ्यामण् वक्तव्यः। तेन सदृशी तन्निभा प्रभा यस्याः सा इयं दमयन्ती जम्बूनद्या मेरुपार्श्ववर्तिवाहिन्या जम्बालजालात्पङ्कराशेर्जाम्बूनदत्वात्। 'निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः। नाकर्षि न कृष्टा किम्। सुश्लिष्टाङ्गत्वात् सर्वाङ्गेषु हेमकर्दमेन प्रमृष्टा किमित्यर्थः। कुतः ? यद्यस्मात् अत्रास्यां भैम्याम् अङ्गयुग्मस्य अवयवद्वयस्य सङ्गचिह्नं सन्धानचिह्नम्। दन्तुरता औन्नत्यमपि "दन्त उन्नत उरच्" नोन्नीयते नाभ्युन्नीयते ॥ १३ ॥

हरिद्रामें रंगे हुए (या सुवर्ण) के समान कान्तिवाली यह दमयन्ती जम्बू नदी (मेरु पर्वतके समीपस्थ नदी या जामुनके रससे उत्पन्न नदी) के पङ्कसमूहसे अर्थात् सुवर्णसे नहीं आकृष्ट हुई है क्या ? अर्थात् अवश्य आकृष्ट हुई है; क्योंकि इस दमयन्तीमें दो अङ्गोंके जोड़की उच्चता-नीचता नहीं मालूम पड़ती है। [जैसे पङ्क-समूहसे आकृष्ट निकाली गयी वस्तुमें पङ्क लगे रहनेसे उसकी उच्चता-नीचता नहीं मालूम पड़ती; किन्तु वह वस्तु समतल मालूम पड़ती है, उसीप्रकार दमयन्तीके दो अङ्गोंके जोड़ोंकी उच्चता-नीचता भी (मांसल होनेसे) नहीं मालूम पड़ती, अतः यह दमयन्ती अवश्य ही जम्बूनदीके पङ्कसे आकृष्ट हुई है तथा सुवर्णतुल्य कान्ति होनेसे भी उक्त जम्बू नदीके सुवर्णमय पङ्क-समूहसे आकृष्ट होनेकी पुष्टि होती है। यह दमयन्ती स्वर्णकान्ति तथा अतिकोमलाङ्गी है] ॥ १३ ॥

सत्येव साम्ये सदृशादशेषात् गुणान्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः[1]।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनापि नाम वस्तु त्वमीषामुपमावमानः॥ १४॥

सतीति। यद्यस्मात् अस्या भैम्या अङ्गैः कर्तृभिः साम्ये सत्येव अशेषात्सदृशाच्चन्द्रादेः "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी। गुणान्तरेण केनापि गुणविशेषेणोच्चकृषे समानेपूत्कृष्टैरभावीत्यर्थः। भावे लिट्। तत उन्नतत्वाद्धेतोः तुलना समीकरणमपि स्यान्नाम? काकुः। स्यात् किं? न स्यादेवेत्यर्थः। तथा हि—वस्तुतः परमार्थतस्तु अमीषामङ्गानामुपमा तुलना तस्या अवमानोऽपमानः उत्कृष्टानामसमानैः सह समत्वापादनमवमान एवेत्यर्थः॥ १४॥

जिस कारणसे इस दमयन्तीके प्रत्येक अङ्ग सम्पूर्ण समान (चन्द्र, कमल, बन्धूक आदि) से समानता रहनेपर ही अन्य गुणोंसे श्रेष्ठ हो गये, इस कारण इस दमयन्तीकी उनके साथ उपमा है? अर्थात् नहीं है। (अथवा—उपमा भले ही होवे, किन्तु) वास्तविकमें तो इनकी उपमा अपमान ही है (अथवा—उपमा देना इनका अपमान है)। [कवि-समयके अनुसार उपमेय पदार्थ कम गुणवाला तथा उपमान पदार्थ अधिक गुणवाला होता है तभी दोनोंका उपमानोपमेयभाव यथार्थ होता है, किन्तु वर्तुलता (गोलाई) आदिके कारण दमयन्तीके मुख तथा चन्द्रमें समानता होने पर भी चन्द्रकी अपेक्षा दमयन्तीके मुखमें अधिक आह्लादकता, सर्वदा कलापूर्णता अर्थात् क्षयहीनता, कलङ्क-शून्यता आदि अधिक गुण हैं, इसी प्रकार नीलिमासे इन्दीवरको दमयन्तीके नेत्रोंके समान होनेपर भी दमयन्तीके नेत्रोंमें कटाक्ष-विक्षेप आदि अधिक गुण हैं, तथा लालिमासे बन्धूक पुष्प (दुपहरियाका फूल) को दमयन्ती के अधरके समान होनेपर भी दमयन्तीके अधरमें अम्लानता, नित्य विकासिता, हास्यता आदि अधिक गुण हैं (इसी प्रकार अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी समझना चाहिये), अतः दमयन्तीके मुख आदि अवयवोंका उपमेय तथा चन्द्र आदिको उपमान बनाना उनका तिरस्कार करना है, क्योंकि उपमान एवं उपमेयके गुणोंकी परस्पर समानता रहने तक उपमा देना तो संभव है, किन्तु उपमा में कम गुण और उपमेयमें अधिक गुण होनेपर उपमा देना उसका तिरस्कार करना है। लोकमें भी बहुत बड़े तथा बहुत छोटेके साथ तुलना करना बड़ेका अपमान समझा जाता है]॥ १४॥

पुराकृतिस्त्रैणमिमां[2] विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयं भवद्भावि पुरन्धिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्॥ १५॥

पुरेति। विधातुः स्रष्टुः, पुराकृतिः पूर्वसृष्टिः तत्र स्त्रैणं स्त्रीसमूहः पूर्वा स्त्रीसृष्टिरित्यर्थः। इमां भैमीं विधातुं स्रष्टुं हस्तलेखः अभूत् खलु। लेखनाभ्यासिभिर्हस्तकौशलार्थमेव यल्लिख्यते स हस्तलेखः तादृशीयमिति निदर्शनानुप्राणिता पूर्वसृ-

---

1. 'मापमानः' इति पाठान्तरम्।
2. 'पुराकृति स्त्रैण—' इति पाठान्तरम्।

ष्टिर्भैमीनिर्माणार्थाभ्यासरूपत्वोत्प्रेक्षा । किंच येयं भाविनीनां पुरन्ध्रीणां सृष्टिः सा अस्यै भैम्यै तासां पुरन्ध्रीणां जयेन जातं तज्जयजं यशो प्रदातुमिति फलोत्प्रेक्षा ॥१५॥

प्रथम रचनामें स्त्री-समूह (पाठा०-प्रथम रचनारूप स्त्री-समूह इस दमयन्तीकी रचना करनेके लिये ब्रह्माका प्रथम अभ्यास था । (दूसरा भी कोई कारीगर किसी उत्तम पदार्थकी रचना करनेके लिये पहले अभ्यासार्थ उस निर्मातव्य पदार्थसे कम गुणवाले पदार्थकी रचना करता है) । और स्त्रियोंकी रचना हो रही है तथा भविष्यमें होगी वह तो इस दमयन्तीके लिये उन (वर्तमानमें होती हुई तथा भविष्यमें होनेवाली स्त्री-रचना) की विजयसे होनेवाले यशको देनेके लिये है । [पहले तो ब्रह्माने सुन्दरी इस दमयन्ती की रचना करनेके लिये अभ्यासार्थ उर्वशी आदि देवाङ्गनाओंकी रचना की, तथा वर्तमानमें जो वे स्त्रियोंकी रचना कर रहे हैं और भविष्यमें जो स्त्रियोंकी रचना करेंगे, वह रचना दमयन्तीने अपने सौन्दर्यसे वर्तमान तथा भावी सब स्त्रियोंको जीत लिया है, ऐसा दमयन्तीका यश हो इस उद्देश्यसे है । दमयन्तीके समान सुन्दरी भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालमें कोई स्त्री नहीं है] ॥ १५ ॥

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गात् यथा यथानर्ति तथा तथा तैः ।
अस्याधिकस्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

भव्यानीति । भव्यानि रम्याणि चन्द्राद्युपमानवस्तूनि, एतस्या भैम्याः, अङ्गात् मुखादेर्यथा यथा हानीरपकर्षान् "ग्लाम्लाजहातिभ्यो निर्वक्तव्य" इति जहातेः स्त्रियां निप्रत्ययः क्तिनोऽपवादः । अगुरगमन् , "इणो गा लुङि" इति गादेशे "गाति स्था" इत्यादिना सिचो लुक् । "आत" इति झेर्जुसादेशः । तथा तथा तैश्चन्द्राद्युपमानैरनर्ति हर्षान्नृत्यं कृतमित्यर्थः । नन्वपकर्षे कथं हर्षः ? तत्राह—उपमाता कविः "मातेर्माङि वा तृन्" । अधिकस्योत्कृष्टस्यास्य भैम्यङ्गस्योपमया उपमानीकरणेन । अथ वा गत्यन्तराभावात् तैरेव तुलनया तेषामेवोपमानीकरणेनेत्यर्थः । तेभ्यश्चन्द्रादिभ्य एव प्रतिष्ठां दाता दास्यति । ददातेर्लुट् । तथा च यथा कथंचित् प्रतिष्ठालङ्कारे उपमेयत्वेन वा, उपमायामुपमानत्वेन वा कविप्रसादाच्चन्दादीनां पुनः प्रतिष्ठा भविष्यति इत्यनर्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

सुन्दर (चन्द्रमा, कमल आदि) पदार्थोंने इस दमयन्तीके शरीरसे जैसे-जैसे अर्थात् जितनी-जितनी (पराजय होनेसे) हानि उठायी, वैसे-वैसे अर्थात् उतना-उतना ही अधिक उन्होंने नृत्य किया अर्थात् प्रसन्न हुए । (हानि उठानेपर भी उनके प्रसन्न होनेका कारण यह था कि उन्होंने सोचा कि) उपमा देनेवाला (कवि आदि) इस दमयन्ती-शरीरकी उपमासे उन्हीं लोगों (चन्द्रमा, कमल आदि पदार्थों) के लिये प्रतिष्ठा देगा । [दमयन्ती-शरीरके लिये अन्य उपमाका अभाव होनेसे उपमाता कवि आदि 'दमयन्तीका मुख चन्द्रमा समान है, नेत्र कमलके समान है, इत्यादि उपमा देकर चन्द्रमा, कमल आदिकी ही प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे, यही उन सुन्दर चन्द्रमा, कमल आदि पदार्थोंके पराजयजन्य हानि होनेपर भी प्रसन्न होकर नृत्य करनेका कारण है] ॥ १६ ॥

नास्पर्शि दृष्टापि विमोहिकेयं दोषैरशेषैः स्वभियेति मन्ये ।
अन्येषु तैराकुलितस्तदस्यां वसत्यसापत्न्यसुखी गुणौघः ॥ १७ ॥

नेति। दृष्टापि विमोहिका दर्शनमात्रेणापि व्यामोहिकेयं दमयन्ती अशेषैर्दोषैः स्वभिया अस्मानपि मोहयिष्यतीत्यात्मीयभयेनैव नास्पर्शि न स्पृष्टेति मन्ये । उत्प्रेक्षा । भीरवो हि भयहेतून् स्प्रष्टुमेव बिभ्यतीति भावः । तत्तस्मात् दोषस्पर्शाभावात् । अन्येषु स्त्र्यन्तरेषु तैर्दोषैराकुलितः पीडितो गुणौघोऽस्यां भैम्यामसापत्न्येन अकण्टकत्वेन सुखी सन् वसति "प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानामि" त्यपवादोऽस्यामेव दृष्ट इति भावः ॥ १७ ॥

देखनेसे भी (कामजन्यभावसे) मोहित (पक्षा०—मूर्च्छित) करनेवाली इस दमयन्ती को सम्पूर्ण दोषोंने अपने भयसे स्पर्शतक नहीं किया, ऐसा मैं मानता हूँ । अत एव अन्य स्त्रियोंमें उन दोषोंसे व्याकुल गुण–समूह शत्रु रहित अर्थात् निष्कण्टक होनेसे निश्चिन्त होकर इस दमयन्तीमें रहता है । ['जो दमयन्ती केवल देखनेसे ही मोहित या मूर्च्छित करती है उसके समीपमें रहनेसे न जाने हमारी क्या दुर्दशा हो जायेगी ?' इस भयसे दमयन्तीके पास एक भी दोष नहीं आया अर्थात् दमयन्ती सभी दोषोंसे अछूता रहीं, तथा वे दोष अन्य स्त्रियोंमें रहते हुए वहां रहनेवाले गुण–समूहको परस्पर वैरभाव होनेसे कष्ट देने लगे, इस कारण कष्टदायक दोषोंसे रहित दमयन्तीको सुरक्षित स्थान समझकर वह गुणसमूह यहीं आकर बस गया । लोकमें भी भयप्रद स्थानको छोड़कर सुरक्षित स्थानमें लोग निवास करते हैं, अत एव दोषोंने भयप्रद दमयन्तीको छोड़कर अन्य स्त्रियोंमें तथा गुणोंने अन्य स्त्रियोंमें दोषोंके रहनेसे उस स्थानको भयप्रद समझकर दमयन्तीमें निवास किया ॥ दमयन्तीमें एक भी दोष नहीं है तथा सभी गुण विद्यमान हैं] ॥ १७ ॥

औज्झि प्रियाङ्गैर्घृणयैव रूक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।
न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिर्धूलीभृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

औज्झीति । प्रियाङ्गैर्भमीगात्रैः वराटकस्य बीजकोशस्य कमलकर्णिकाया इत्यर्थः । 'बीजकोशो वराटकः' इत्यमरः । रूक्षा परुषा कान्तिर्घृणयैव रौक्ष्यजुगुप्सयैव औज्झि विसृष्टा । उज्झ विसर्गे कर्मणि लुङ् । वारिदुर्गाद्वारिदुर्गस्थत्वात्तु न । किं च काञ्चनकेतकस्य धूलीभिर्भृता पूर्णा कान्तिरौज्झि रजःकीर्णत्वादेवोज्झिता कण्टकैरावणात्तु न । रौक्ष्यादिदोषदूषितत्वान्न भैमीकायकान्तिसाम्यमर्हति । महती तत्कायकान्तिरित्यर्थः ॥

प्रिया दमयन्तीके अङ्गोंने कमलगट्टेकी शोभाको 'रूक्ष (तीव्र, कठोर) है' इस घृणासे छोड़ दिया, 'जलरूपी (अथवा—कमलरूपी) दुर्गमें वह कान्ति रहती है इस भयसे नहीं छोड़ा, और सुवर्ण केतकीपुष्पकी शोभाको 'यह धूलि (पराग) वाली है' इस घृणासे ही छोड़ दिया, 'काँटोंसे घिरी रहनेसे सुरक्षित होनेसे अजेय है' इस भयसे नहीं छोड़ा ।

[दमयन्तींकी शरीर शोभा कमलकोष तथा केतकी पुष्पसे भी क्रमशः अधिक स्निग्ध तथा गौरवर्ण थी]॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति ।
वज्रञ्च भूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तत् द्युतिकार्मुकं च ॥ १९ ॥

प्रत्यङ्गमिति । अस्यां भैम्याम् । अभिकामयत इत्यभिकेन कामुकेन 'कमनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः । "अनुकाभिकाभीकः कमिता" इति निपातनात्साधुः । मघोना इन्द्रेण प्रत्यङ्गं रक्षां कर्तुं नियोजितं नियमितं भूषामणीनां वज्रमणीनां मूर्तिमाकारं धारयतीति तद्धारि निजास्त्रं वज्रं च तेषां मणीनां द्युतय एव कार्मुकं मणिधनुश्चास्तीव इन्द्रनियोगात् भूषामणितत्प्रभाव्याजेन अवरोधरक्षार्थं वज्रायुधं धनुश्च प्रत्यङ्गमावृत्य तिष्ठतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

इस दमयन्तीमें कामुक इन्द्रने प्रत्येक अङ्गमें (दोषोंसे) रक्षा करनेके लिये भूषणोंमें जड़े हुए हीरा आदि मणियोंके रूपको धारण करनेवाला वज्र और उन मणियोंसे निकलती हुई कान्तिरूप धनुषरूप अपने शस्त्रको नियुक्त कर दिया है । [दमयन्तीके भूषणोंमें जड़े हुए मणि बहुमूल्य हैं और उनसे चकाचौंध करनेवाली इन्द्रधनुषके समान अनेक रंगोंकी किरणें निकल रहीं हैं, और वह दमयन्ती सब दोषोंसे रहित है] ॥ १९ ॥

अस्याः सपक्षैकविधोः कचौघः स्थाने मुखस्योपरि वासमाप ।
पक्षस्थतावन्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिनां येन जितः कलापः ॥ २० ॥

अथासर्गसमाप्तेर्दमयन्त्याश्चिकुरादिपादनखान्तवर्णनमारभते—अस्या इत्यादि । अस्या भैम्याः कचौघः केशपाशः सपक्षः सदृशः सुहृद्भूतश्चैक एव विधुश्चन्द्रो यस्य तस्य सपक्षैकविधोः "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इति वैकल्पिकः पुंवद्भावः । मुखस्योपरि वासं स्थितिमाप, स्थाने युक्तम् । कुतः येन कचौघेन पक्षस्थाः गरुन्निष्ठाः स्ववर्ग्याश्च तावन्तो बहवश्चन्द्रकाः मेचकाः चन्द्राश्च यस्य सोऽपि । 'समौ चन्द्रकमेचकौ' इत्यमरः । चन्द्रपक्षे "शेषाद्विभाषा" इति कप् । कलापिनां बर्हिणां कलापो बर्हं जितः अनेकचन्द्रसहायविजयिनः एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थानं च किं चित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

जिसके समान होनेसे केवल चन्द्र ही जिसका सपक्ष (पक्षवाला) है, ऐसे दमयन्तीके मुखके ऊपर केश-समूहने निवास किया यह उचित ही है, जिस (केश-समूह) ने पंखमें स्थित बहुत चन्द्रक (चन्द्राकार मेचक च्छवि चिह्न-विशेष, पक्षा०—चन्द्रमा) वाले भी मयूरोंके पुच्छ-समूहको जीत लिया । (जिस केश-समूहने बहुत चन्द्रमा (पक्षा०चन्द्रक) से युक्त मयूर-पक्षको जीत लिया, उसे एक चन्द्रमा ही जिसके पक्षमें हैं, उसके ऊपर रहना सर्वथा उचित ही है । लोकमें भी बहुत पक्षपातियोंवाले व्यक्तिको जीतनेवालेके लिये एक

पक्षपातवाले व्यक्तिका जीतना अति सरल होता है॥ दमयन्तीके केश-समूहमें भी पुष्प तथा रत्नजटित चन्द्राकार भूषण (क्लिप……) लगे रहनेसे वह मयूरपंखसे भी अधिक शोभित हो रहा है]॥ २० ॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचान्धकारम् ।
स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम् ॥ २१ ॥

अस्या इति । अस्या भैम्याः आस्येनैव शीतरुचा मुखचन्द्रेण यदन्धकारं तमः । 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः । पुरो अग्रे तिरश्च पार्श्वयोश्च तिरस्कृतं तदन्धकारमेवेदं स्फुटं स्फुरन् भङ्गः कौटिल्यं पराजयश्च येषां तेषां कचानां छलेन पश्चाद्बद्धमस्तीत्युत्प्रेक्षा । तिरस्कृतो हि भग्नोत्साहः क्वचित्पृष्ठभागे बद्धस्तिष्ठतीति भावः ॥२१॥

इस दमयन्तीके मुखचन्द्रने सामने तथा तिर्छे या पार्श्वोंमें जो अन्धकारको हटाया (पक्षा०–पराजित किया), वह अन्धकार ही स्फुरित होते हुए टेढ़े (पक्षा०–पराजित) केशोंके बहानेसे मानो पीछे (मुखके पीछले भागमें, पक्षा०–हाथ पीछे करके अर्थात मुश्क चढ़ाकर) बँधा हुआ है । [लोकमें भी पराजित व्यक्तिके हाथोंको पीठके पीछे करके बांध देते हैं, वैसे ही मुखसे पराजित अन्धकाररूप केश पीछे चोटी रूपमें बँधे हुए हैं । दमयन्तीके केश कुटिल तथा अत्यन्त काले हैं]॥ २१ ॥

अस्याः कचानां शिखिनश्च किन्नु विधिं कलापौ विमतेरगाताम् ।
तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरभर्त्सि दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥ २२ ॥

अस्या इति । अस्या भैम्याः कचानां केशानां शिखिनो बर्हिणश्च कलापौ केशपाशबर्हभारौ । 'कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहते कच' इत्यमरः । विमतेर्मिथो विवादाद्विधिमगातां स्वतारतम्यं प्रष्टुमगमतां किं नु । "इणो गा लुङि" इति गादेशः । तेन विधिना अयं केशपाशः एभिः पुष्पैरिति हस्तेन पुरोवर्तिनिर्देशः अपूजि किम् । महतः पूज्यत्वादिति भावः । स शिखिकलापः अर्धचन्द्रं चन्द्रकं गलहस्तं च दत्त्वा अभर्त्सि भर्त्सितः किं महाजनद्वेषिणो नीचस्य शास्यत्वादिति भावः । अर्धचन्द्रस्तु 'चन्द्रके गलहस्ते बाणभेदः' इति विश्वः । शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्त्वं केशपाशस्य तत्कुसुमं ब्रह्मदत्तं शाश्वतमिति भावः । अत्रोत्तरोत्प्रेक्षयोः प्रथमोत्प्रेक्षासापेक्षत्वात् सजातीयसङ्करः ॥ २२ ॥

इस दमयन्तीके केशोंके साथ विरोध होनेके कारण मयूरके पंख ब्रह्माके पास (निर्णयके लिये) गये थे क्या ? (जो) उस (ब्रह्मा) ने इस केशसमूहकी इन (दमयन्तीके केश–समूहमें गूथे हुए) पुष्पोंसे पूजाकी तथा उस (मयूरके पंख) को अर्द्धचन्द्र, (गर्दनियां पक्षा०–अर्द्ध चन्द्राकार चिह्न) देकर बाहर निकाल दिया क्या ?। [उत्तम तथा अधम गुणके ज्ञाता मध्यस्थ ब्रह्माने श्रेष्ठ गुणवाले दमयन्तीके केश–समूहके साथ स्पर्द्धा करनेवाले अधम गुणवाले मयूर–पक्षोंको देखकर श्रेष्ठ गुणवाले दमयन्ती केश–समूह की तो पुष्पोंसे पूजा की तथा अधम गुणवाले मयूर–पंखों को अर्द्धचन्द्र देकर बाहर निकाल दिया । लोकमें

भी श्रेष्ठ व्यक्तिके साथ स्पर्द्धा करनेवाले अधम व्यक्ति को अर्द्धचन्द्र देकर (गर्दनमें हाथ डाल-कर) बहिष्कृत कर देते हैं तथा श्रेष्ठ व्यक्ति की पुष्पादिसे पूजा (आदर-सत्कार) करते हैं। दमयन्तीका केश-समूह मोरके पंखोंसे भी अत्यधिक सुन्दर था] ॥ २२ ॥

केशान्धकारादथ दृश्यफालस्थलार्धचन्द्रास्फुटमष्टमीयम् ।
एतां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

केशेति । केशः केशपाश एवान्धकारस्तस्मात् अथानन्तरं दृश्यो दर्शनार्हः फाल-स्थलं ललाटभाग एवार्धचन्द्रो यस्यास्सा इयं दमयन्ती अष्टमी । तत्राप्यन्धकारान-न्तरदृश्यार्धचन्द्रत्वात्कृष्णाष्टमी शुक्लपक्षे विपर्ययात्स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । कुतः ? यद्यस्मान्मनोभुवा जगज्जयाय एतामासाद्य साधु सिद्धिः जगज्जयसिद्धिः असाधि साधिता । कृष्णाष्टम्यां जैत्रयात्रायां जयसिद्धिरिति ज्योतिर्विदः । यथाह पितामहः— "जयदा विजिगीषूणां यात्रायामसिताष्टमी । श्रवणेनाथ रोहिण्या जययोगो युता यदि ॥" इति ॥ २३ ॥

केशरूपी अन्धकारके बाद (अथवा—नीचेके भागमें) सुन्दर दिखलायी पड़ते हुए लला-टरूपी चन्द्रमावाली यह दमयन्ती मानो (कृष्णपक्ष की) अष्टमी है (क्योंकि कृष्णपक्षमें ही अन्धकार के बाद चन्द्र दृष्टिगोचर होता है, यहां केशरूप अन्धकारके बाद ललाट रूप चन्द्र दृष्टिगोचर हुआ है, अतः दमयन्ती कृष्णपक्षकी अष्टमी ही है) क्योंकि इसे (दमयन्ती को, पक्षा०—अष्टमी तिथिको) प्राप्तकर कामदेवने संसारको जीतनेके लिये सम्यक् प्रकारसे सिद्धि को साधा । [अन्य भी व्यक्ति कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि में मन्त्र—तन्त्रादि को सिद्ध करते हैं]॥

पुष्पं धनुः किं मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।
व्यधाद्द्विधेशस्तदपि क्रुधा किं भैमीभ्रुवौ येन विधिर्व्यधत्त ॥ २४ ॥

पुष्पमिति । मदनस्य दाहे दाहकाले, पुष्पमेव धनुः श्यामीभवन्तः केसराः किञ्जल्का एव शेषो यस्य तदासीत् किम् । किञ्च ईशो हरः तदपि क्रुधा क्रोधेन द्विधा व्यधात् द्वेधा व्यभजत् किम् । येन द्विधा विभक्तेन पुष्पेण विधिर्वेधाः भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त असृजदित्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

पुष्पधन्वा (कामदेव) के दाहमें पुष्पके धनुष का भी (दाहके कारण) काला पुष्प—परागमात्र शेष रह गया, उसे भी शङ्करजीने क्रोधसे दो टुकड़ा कर दिया क्या ? (कृष्णवर्ण परागमात्रावशिष्ट एवं द्विधा खण्डित) जिससे ब्रह्माने दमयन्तीके दोनों भौंहों को बनाया ॥ [दमयन्तीकी भौंहें कृष्णवर्ण तथा कामचापके तुल्य जगन्मोहक हैं] ॥ २४ ॥

भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः ।
निजां यदप्लोषदशामपेक्ष्य संप्रत्यनेनाधिकवीर्यतार्जि ॥ २५ ॥

भ्रूभ्यामिति । किञ्च प्रियाया भैम्याः भ्रूभ्यां भवता भ्रूयुगत्वेन परिणमता मनो-भुवश्चापेन घनसारभावो दृढस्थिरांशत्वं कर्पूरत्वं च । 'सारो बले स्थिरांशे च । अथ

कर्पूरमस्त्रियाम् । घनसार' इति चामरः । आपे प्राप्तः । आप्नोतेः कर्मणि लिट् । यद्यस्मात्, निजामप्लोषदशामपेक्ष्य अदाहावस्थात इत्यर्थः । संप्रत्यनेन मनोभूचापेन अधिकवीर्यता अधिकपराक्रमोऽपि आर्जि प्रापि । कर्मणि लुङ् । 'वीर्यं पराक्रमे रेतसि' इति वैजयन्ती । दग्धस्यापि स्मरचापस्य तद्भ्रूभूतस्य पूर्वाभ्यधिकपराक्रमदर्शनान्नूनं घनसारभावः प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा ॥ २५ ॥

प्रिया दमयन्तीके भ्रूद्वय बनते हुए काम-धनुषने धनुषमें दृढसारता (पक्षा०—कर्पूरभाव) को प्राप्त कर लिया, क्योंकि अपने नहीं जलनेके भावको देखकर इस समय (जलनेपर) अतिशय पराक्रमको प्राप्त किया। [कामचाप जलनेके पहलेकी अपेक्षा इस समय अर्थात जलनेके बाद केशरमात्रावशिष्ट एवं खण्डित होनेके बाद दमयन्तीका भ्रूयुग बनकर जगद्विजयी होनेसे अधिक वीर्यशाली हो गया है। [कपूर भी जलनेसे पहलेकी अपेक्षा जलनेके बादमें अधिक शीतकर एवं सुगन्धियुक्त होता है] ॥ २५ ॥

स्मारं धनुर्यद्विधुनोज्झितास्या यास्येन भूतेन च लक्ष्मरेखा ।
एतद्भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् ॥ २६ ॥

स्मारमिति । यत्स्मरस्येदं स्मारं धनुः । अस्या भैम्या आस्येन भूतेन आस्यभावं गतेन विधुना चन्द्रेणोज्झिता, या लक्ष्मरेखा कलङ्करेखा च तद्युग्मं तदुभयं कर्तृ । लीलाचलत्वयोर्विलासचञ्चलत्वयोरुचितो योग्यो बालभावः केशत्वं ववयोरभेदाच्छिशुत्वं च यस्मिन् जन्मनि तत्तथोक्तम् । एतस्या भैम्या भ्रुवौ जन्मभ्रूरूपेणोत्पत्तिमाप । एतस्या मुखमकलङ्कचन्द्रः भ्रुवौ च स्मरधनुश्चन्द्रलक्ष्मणोरपरावतार इत्युत्प्रेक्षा ॥२६॥

जो कामदेवका धनुष है वह तथा इस दमयन्तीका मुख बने हुए चन्द्रमाके द्वारा छोड़ा गया कलङ्क—इन दोनोंने विलाससे चञ्चलताके (अथवा—विलास और चञ्चलताके) योग्य केशभाववाले (पक्षा०—बचपनवाले) जन्मको प्राप्त किया है। [एक तो मदन-दाहमें दग्ध उसका धनुष, तथा दूसरा दमयन्तीका मुख बननेके लिए चन्द्रमाने जो अपनी कलङ्करेखा छोड़ दी वह—इन दोनोंने ही दमयन्तीके दो भ्रू रूपमें जन्म लिया है, जिस जन्ममें (भ्रूपक्षमें) विलास एवं चञ्चलतायुक्त केश हैं तथा (जन्म पक्षमें) विलास एवं चञ्चलतायुक्त बचपन है॥ दमयन्तीका भ्रूद्वय दग्ध काम-धनुष तथा चन्द्रकलङ्कके समान कृष्णवर्ण, विलासयुक्त एवं कामोत्पादक है] ॥ २६ ॥

इषुत्रयेणैव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात्पुष्पमयाशुगेन ।
शेषा द्विबाणी सफलीकृतेयं प्रियादृगम्भोजपदेऽभिषिच्य ॥२७॥

इष्विति । पुष्पमयाशुगेन कामेन कर्त्रा इषुत्रयेण करणेन जगत्त्रयस्य 'उभयप्राप्तौ कर्मणीति' षष्ठी । विनिर्जयात् शेषा शिष्टा 'त्रिष्वन्यस्मिन्नुपयुक्त' इति वैजयन्त्यां शेषशब्दस्य विशेष्यलिङ्गता । इयं द्विबाणी बाणद्वयं समाहारे द्विगोर्ङीप् । इयमिति हस्तनिर्देशः । प्रियाया दृशोरेवाम्भोजयोः पदे स्थाने अभिषिच्य सफलीकृतेत्युत्प्रेक्षा । कुसुमबाणपरिणतिरेवास्यादृष्टिसृष्टिरन्यथा कथमेतत्सकलयुवलोकक्षोभकत्वमिति भावः॥

पुष्पबाण (कामदेव) ने तीन बाणोंसे ही तीनों लोकोंको जीत लेनेसे शेष बचे हुए दो बाणोंको प्रिया दमयन्तीके नेत्रकमलके पद पर अभिषिक्त कर सफल किया है। [कामदेवने तीन बाणोंसे तीनों लोकों पर विजय पाकर शेष दो बाणों की व्यर्थता का निवारण करनेके लिये उन्हें प्रियाके नेत्रकमलपदपर प्रतिष्ठितकर सार्थक किया और तीन बाणोंसे तीनों लोकों पर विजय पाने की अपेक्षा दमयन्तीके नेत्र बने हुए दो बाणोंसे ही तीनों लोकोंपर विजय पाना इनकी अधिक सफलता है] ॥ २७ ॥

सेयं मृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥ २८ ॥

सेयमिति । मृदुः कोमला मुष्टिग्रहणार्हं हस्तेन ग्राह्यं मध्यमवलग्नं लस्तकं च यस्यास्सा सेयं दमयन्ती स्मरस्य कौसुमी कुसुममयी चापयष्टिर्धनुर्दण्ड इत्युत्प्रेक्षा । कुतः ? येयं नोऽस्माकं मोहाय मूर्च्छनाय श्रीमतः शोभनादपाङ्गान्मुक्तां दृष्टीनामेव शराणामोघस्य वृष्टिं तनोति करोति, सा कथं न कामचापयष्टिरिति भावः ॥ २८ ॥

मध्यमें मुट्ठीसे ग्रहण करने योग्य अर्थात् अतिशय कृश कटिवाली (धनुषपक्षमें–मुट्ठीसे ग्रहण करने योग्य मध्य भागवाली) कोमल (कोमलाङ्गी, धनुषपक्षमें–झुकनेवाली होनेसे नम्र) कामदेवकी धनुर्लता है, जो यह (दमयन्ती, पक्षा०–धनुर्लता) हम लोगोंको मोहित करनेके लिए शोभा–सम्पन्न नेत्रप्रान्तसे दृष्टि (कटाक्ष) रूपी बाण समूहोंकी वृष्टिको विस्तृत कर रही है। [जैसे कामदेवकी मध्यमें पतली मुट्ठीसे ग्राह्य नम्र धनुर्लता पुष्पबाणोंकी वर्षा कामियोंको मोहित करनेके लिये करती है, उसी प्रकार कृश कटिवाली मृदु यह दमयन्ती हमलोगोंको मोहित करनेके लिए कटाक्ष वर्षा कर रही है] ॥ २८ ॥

आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु ।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनीलगोलामलश्यामलतारतारम् ॥ २९ ॥

आघूर्णितमिति । आघूर्णितं प्रचलितं पक्ष्मलं पक्ष्मवत् । "सिध्मादिभ्यश्च" इति लच् । प्रान्तद्युतेः कनीनिकाप्रान्तकान्तेः, श्वैत्येन धावल्येन जितामृतांशु अवधीरितचन्द्रं चलत् इन्द्रनीलस्य गोलं मण्डलमिवामला श्यामला तारा स्थूला तारा कनीनिका यस्य तदस्या अक्षिपद्ममस्या अक्षिपद्ममिव असदृशमित्यर्थः । अनन्वयालङ्कारः । 'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेनानन्वयो मतः' इति लक्षणात् ॥ २९ ॥

घुरता हुआ, श्रेष्ठ बरौनियोंसे युक्त, किनारे की शोभाकी श्वेतिमासे अमृतकिरण (चन्द्रमा) को जीतनेवाला और चञ्चल इन्द्रनील मणिके समान गोल निर्मल श्यामवर्ण बड़ी पुतलीवाला इस दमयन्ती का नेत्रकमल इस (दमयन्तीके नेत्र कमल) के समान है अर्थात् उक्त गुणवाले दमयन्तीके नेत्रकमलकी उपमा संसारमें कहीं नहीं है ॥ २९ ॥

कर्णोत्पलेनापि मुखं सनाथं लभेत नेत्रद्युतिनिर्जितेन ।
यद्येतदीयेन ततः कृतार्थां स्वचक्षुषी किं कुरुते कुरङ्गी ॥ ३० ॥

कर्णेति। नेत्रद्युत्या नेत्रकान्त्या निर्जितेनैतदीयेन भैम्याः संबन्धिना कर्णोत्पलेनापि सनाथं सहकृतं मुखं लभेत यदि, ततः कृतार्था कुरङ्गी स्वचक्षुषी किंकुरुते कदर्थीकरोतीत्यर्थः। स्वमुखस्य तादृङ्नेत्रसानाथ्यं तावदास्तां तन्नेत्राभिभूतकर्णोत्पलसानाथ्येऽपि तावत्यैव द्युत्या स्वचक्षुषी उपेक्षेत। तदपि दुर्लभमिति भावः॥ ३०॥

मृगी दमयन्तीकी नेत्रशोभासे पराजित इस दमयन्तीके कर्णोत्पल (कानोंके भूषण कमल) से भी सनाथ (युक्त, पक्षा०–नाथ सहित) मुखको यदि पा जाय तब कृतकृत्य हुई वह मृगी अपने नेत्रोंको कदर्थित अर्थात् उपेक्षित कर देगी (अथवा–नेत्रोंको क्या करेगी अर्थात् उसका त्याग ही कर देगी)। [दमयन्तीके नेत्रोंकी समानता करना तो मृगीके नेत्रोंके लिये बहुत दूर की बात है, दमयन्तीके नेत्रोंसे पराजित कर्णभूषणरूप कमलोंकी भी समानता नहीं कर सकती है, अतः यदि उन कर्णभूषणभूत कमलोंसे भी उनका मुख सनाथ हो जाय तो वे अपनेको कृतकृत्य समझकर नेत्रोंकी उपेक्षा कर देंगी]॥ ३०॥

त्वचः समुत्सार्य दलानि रीत्या मोचात्वचः पञ्चषपाटनानाम्।
सारैर्गृहीतैर्विधिरुत्पलौघादस्यामभूदीक्षणरूपशिल्पी॥ ३१॥

त्वच इति। विधिर्विधाता मोचात्वचो रम्भात्वचः। 'रम्भा मोचांशुमत्फला' इत्यमरः। पञ्चषड्वा पञ्चषाणि। "संख्ययाव्यय" इत्यादिना बहुव्रीहौ। "बहुव्रीहौ संख्येय" इति समासान्तो डच्। तेषां पाटनानां विदलनानां रीत्या प्रकारेण तावत्पाटयित्वेत्यर्थः। त्वच एव दलानि समुत्सार्य पञ्चषाणि बाह्यावरणान्यपनीयेत्यर्थः। ततो गृहीतैस्तथोत्पलौघाच्च गृहीतैस्सारैः सितासितवर्णैर्लावण्यद्रव्यैः अस्यां दमयन्त्याम् ईक्षणरूपशिल्पी अक्षिसौन्दर्यनिर्माता अभूदित्युत्प्रेक्षा॥ ३१॥

ब्रह्मा केलेके छिलकेसे क्रमशः पांच या छः छिलकों और कमल–पुष्पोंसे क्रमशः पांच या छः पत्रोंको अलग कर केलेसे तथा कमल–समूहसे लिये गये सारभूत वस्तुओंसे इनके नेत्रोंको रमणीय बनानेमें कलाकार बन गये। [ब्रह्माने इस दमयन्तीके नेत्रोंके गौर वर्णको केलेके पांच–छः छिलकोंको अलगकर उसके अन्तःसारसे तथा कमलके बाहरी पांच–छः पत्तों (दलों) को अलगकर दमयन्तीके नेत्रोंकी नीलिमाको बनाकर कुशल कलाकार हो गये। दमयन्तीके नेत्र कदली गर्भके समान गौर वर्ण तथा कमलपत्रके समान नीलवर्ण हैं]॥

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः॥ ३२॥

चकोरेति। विधातुरेतन्नयने विधातुं प्रयत्नैः कर्तृभिः चकोरनेत्रयोरेणदृशोर्मृगाक्ष्णोः उत्पलानां च सुधोद्गारमयोऽमृतनिष्यन्दमयः। एषोऽग्रे दृश्यमानः सारो रसो निमेषो निमीलनं तेनैव यन्त्रेण निष्पीडनसाधनेन कृष्टः आकृष्टः किमित्युत्प्रेक्षा॥

इस दमयन्तीके नेत्रोंको बनानेके लिये ब्रह्माके प्रयत्नोंने अर्थात् ब्रह्माने प्रयत्नपूर्वक चकोरके नेत्र, मृगीके नेत्र तथा कमलोंके अमृतका झरना रूप सार (श्रेष्ठ द्रव्य) निषमेरूपी

यन्त्र (कोल्हू) से खींचा (पेलकर निकाला) है क्या ? [चकोरका नेत्र चन्द्रिका का पान करनेसे, हरिणके चन्द्रमाके अङ्कमें निवास करनेसे तथा उत्पलका चन्द्रवंशी होनेके कारण रात्रिमें चन्द्रामृत-सम्बन्ध होनेसे उसके श्रेष्ठवस्तु का आकर्षण करना उचित ही है । लोकमें भी गन्ने आदिके सारभूत रसको कोल्हूमें पेलकर यत्नपूर्वक निकालते हैं दमयन्तीके नेत्र चकोरनेत्र, हरिणनेत्र तथा कमलसे भी श्रेष्ठ हैं] ॥ ३२ ॥

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयालभ्यत बिभ्यतीभ्यः ॥३३॥

ऋणीकृतेति । हरिणीभिरस्या दमयन्त्याः उत्तमर्णाया इति भावः । सकाशान्नयनद्वयस्य श्रीः शोभा ऋणीकृता ऋणत्वेन गृहीतासीत् किमित्युत्प्रेक्षा । यद्यस्मात्, अनया भैम्या बिभ्यतीभ्यः त्रस्यन्तीभ्यः, त्रासावस्थायां शोभातिशयः । अतिभीरुणा निःशेषमृणं दीयत इति भावः । ताभ्यो हरिणीभ्यो भूयोगुणा द्वित्रिगुणेयं नयनशोभा सकला निश्शेषा बलादलभ्यत लब्धा ॥ ३३ ॥

हरिणियोंने इस दमयन्तीके पाससे दोनों नेत्रोंकी कान्तिको ऋण लिया है क्या ? क्योंकि इस दमयन्तीने डरती हुई उन मृगियोंसे अनेक गुणित (कई गुना) ब्याज सहित नेत्रद्वयकी शोभाको बलात्कारसे ग्रहण किया है । [लोकमें भी प्रसिद्धि है कि उत्तमर्ण (ऋण-दाता) ऋणगृहीताको ऋणरूपमें धनादि देखकर बादमें डरते हुये ऋणगृहीतासे व्याजसहित कई गुना मूलधन बलात्कारपूर्वक ले लेता है । हरिणीके नेत्रोंसे दमयन्तीके नेत्रोंकी शोभा अनेक गुनी उत्तम है] ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवःकूपनिपातभीत्या ॥ ३४ ॥

दृशाविति । चपलस्वभावे चञ्चलशीले, अस्या भैम्याः दृशौ दूरमाक्रम्य अम्बुपर्यन्तं गत्वेत्यर्थः । मिथो न मिलेतां न सङ्गच्छेयाताम्, काकुः । मिलतेर्लिङि ततस्तामादेशः । किं त्वनयोर्दृशोः प्रयाणे दूरगमने श्रवसी श्रोत्रे एव कूपाविति रूपकम् । तयोर्निपाताद्भीत्या कर्त्र्या विघ्नः कृतो न स्याच्चेत् । अत्र दृशोः कर्णान्तविश्रान्तयोः कूपपातभयहेतुकत्वोत्प्रेक्षारूपकोज्जीवितेति सङ्करः ॥ ३४ ॥

इस दमयन्तीके चञ्चल स्वभाववाले (कर्णान्त विशाल) नेत्र दूर तक जाकर परस्परमें क्या नहीं मिल जाते ? अर्थात् अवश्य मिल जाते, किन्तु इन नेत्रोंके जानेमें कान-कूएमें गिरनेका भय बाधा नहीं करता । [दमयन्तीके नेत्र कानतक पहुंचे हुए हैं तथा चञ्चल स्वभाव वाले हैं । अतः वे और भी आगे बढ़कर परस्परमें (शिरके पिछले भागमें जाकर) अवश्य मिल जाते, किन्तु कूपवत् गम्भीर कानमें गिरनेके भयसे वे आगे नही बढ़कर वहीं रुक गये हैं ।] जिस प्रकार कूएमें गिरनेके भयसे अन्य भी कोई व्यक्ति आगे नहीं बढ़ता

उसी प्रकार दमयन्तीके नेत्रोंने भी किया है। दमयन्तीके नेत्र कर्णान्त विशाल तथा चञ्चल हैं॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात्पुण्याय मन्ये मृतमुत्पलिन्या।
जाता यतस्तत्कुसुमेक्षणेयं यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः॥ ३५॥

केदारेति। केदारः क्षेत्रविशेषः पर्वतविशेषश्च। तं भजतीति तद्भाक्। 'केदारः पर्वते शम्भौ क्षेत्रभेदालवालयोः' इति विश्वः। तयोत्पलिन्या शिशिरप्रवेशात् शिशिरर्तुप्रवेशाद्धेतोः पुण्याय धर्माय मृतं मन्ये। भावे क्तः। मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम्। यतो यस्मात् केदारमरणादियं भैमी तस्या उत्पलिन्याः कुसुमे पुष्पे एव ईक्षणे यस्याः सा जाता। यतश्चकोरश्च तत्कोरकावेव दृशौ यस्य स जातः। केदारक्षेत्रमरणादुत्तमजन्मलाभ इत्यागमः॥ ३५॥

खेत या आलवाल अर्थात् थालेमें (पक्षा०—केदारेश्वर नामक शङ्करजीके समीपमें) स्थित कमलिनी शिशिर ऋतु (पक्षा०—ठण्डे जल) में प्रवेश करनेसे पुण्य अर्थात् धर्मकार्यके लिये मर गयी है, क्योंकि उस कमलिनीका पुष्प इस दमयन्ती का नेत्र हुआ और उस कमलिनी का कोरक चकोरका नेत्र हुआ अर्थात् दमयन्ती का नेत्र कमलिनीके पुष्पके समान तथा चकोर का नेत्र कमलिनीके कोरकके समान हुआ। [बिना अधिक पुण्यके कमलिनी-पुष्प तथा कमलिनी-कोरकको क्रमशः दमयन्ती तथा चकोर का नेत्र बनना असम्भव है। कमलिनी केदार (क्यारी पक्षा०—केदार क्षेत्र) में रहती तथा शिशिर ऋतु (पक्षा०—जल या ठण्डे) में नष्ट हो जाती है, अतः उसने बड़ी तपस्या की है, जिसके कारण उसके पुष्प तथा कोरकको दमयन्ती तथा चकोरके नेत्र बननेका शुभ फल मिला हुआ है। कोरककी अपेक्षा पुष्पकी शोभा अधिक होती है, अतः 'दमयन्तीके नेत्र चकोर नेत्रसे भी अधिक सुन्दर है' यह भी ध्वनित होता है]॥ ३५॥

नासादसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य।
श्वासानिलामोदभरानुमेयां दधद्द्विबाणीं कुसुमायुधस्य॥ ३६॥

नासेति। अमुष्या इयमदसीया, नासा नासिका, जगत्त्रये न्यस्तं प्रयुक्तं शरत्रयं यस्य तस्य कुसुमायुधस्य सम्बन्धिनीं निश्वासानिलस्य निश्वासमारुतस्य आमोदभरेण सौरभातिशयेन अनुमेयां द्विबाणीं शिष्टं बाणद्वयम्। समाहारे द्विगोर्ङीप्। दधत् तिलपुष्पमेव तूणमिषुधिरित्युत्प्रेक्षा॥ ३६॥

तीनों लोकों को जीतने की भावनासे तीन बाणों का प्रयोग कर देनेपर कुसुमायुध (कामदेव) के बचे हुए दो बाणों को अपने अन्दर धारण करती हुई, इस दमयन्तीकी नाक ही तिलपुष्पोंसे निर्मित मानो तुणीर (तरकस) है। क्योंकि इसकी नाक से निश्वास पवनकी अत्यन्त खुशबू निकल रही है इसीसे पता चलता है कि कामदेवने अपने बचे हुए दो पुष्पबाणोंको इसी दमयन्तीकी नाक के अन्दर रखा है। यदि ऐसा न होता तो इसकी निश्वास वायुसे इतनी सुगन्धि नहीं निकलती॥ ३६॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहानम्[1] ।
रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

बन्धूकेति । अस्या भैम्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सहोज्जिहानमुद्यत् बन्धूकबन्धूभवत् । बन्धुजीवकुसुमसमीभवत् एतत्पुरोवर्ति स्वमात्मानम् । 'आत्मनि स्वम्' इत्यमरः । रागश्रिया आरुण्यसम्पदा, शैशवयौवनयोरेतत्सम्बन्धिनीं सन्ध्यामाह । अहोरात्रसन्धाविव वयःसन्धौ भवा सन्ध्या स्वयमेवेति स्वरागसमृद्ध्या कथयति इवेत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जनाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३७ ॥

इस दमयन्ती की यह नीचेकी ओष्ठरेखा अर्थात् ओष्ठ इस (सामने दृष्टिगोचर होते हुए) मुख चन्द्रके साथ उत्पन्न होते (उदय प्राप्त करते) हुए राग (लालिमा) की शोभासे दुपहरिया फूलके समान होते हुए (अपनेको बाल्य और यौवनके मध्यवर्तिनी) सन्ध्याको कहती है । [दमयन्ती का बचपन समाप्त हो रहा है तथा युवावस्था प्रारम्भ हो रही है, और इस समय उसके अधरोष्ठ दुपहरिया फूलके समान लाल हो रहे हैं तथा मुख चन्द्रमाके समान हो रहा है । जिस प्रकार दिन और रात्रिके बीचमें लाल वर्ण की सन्ध्या होती है तथा उसी समय चन्द्रोदय भी होता है । अतः यहां बचपन और यौवनावस्थाको दिन-रात, मुखको चन्द्रमा तथा अधरोष्ठ रेखा को सन्ध्या होना बतलाया गया है] ॥ ३७ ॥

अस्या मुखेन्दोरधरः सुधाभूर्बिम्बस्य युक्तः प्रतिबिम्ब एषः ।
तस्याथ वा श्रीर्द्रुमभाजि देशे संभाव्यमानास्य तु विद्रुमे सा ॥३८॥

अस्या इति । अस्याः भैम्याः एषोऽधरः अधरोष्ठः मुखेन्दोः सुधायाममृते भवत्याविर्भवतीति सुधाभूः, बिम्बस्य बिम्बफलस्य प्रतिबिम्बः सदृशो युक्तः । न तु च बिम्बफलात्कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्यर्थः । तस्य बिम्बफलस्य श्रीः शोभा, द्रुमभाजि द्रुमवति देशे सम्भाव्यमाना । अस्याधरस्य त्वसौ श्रीः विद्रुमे प्रवाले विगतद्रुमे च सम्भव्यत इत्यर्थः । 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । विद्रुमसमश्रीरित्यर्थः ॥

इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमाके अमृतमें उत्पन्न अधरोष्ठ बिम्बफलके सदृश है यह ठीक है, या काकुसे……बिम्बफलके सदृश है ? अर्थात् नहीं (क्योंकि अधोरोष्ठ मुखचन्द्र—सुधामें उत्पन्न है और बिम्बफल सुधामें उत्पन्न नहीं है, अत एव यह इसके अधरोष्ठके सदृश कदापि नहीं हो सकता) । इस बिम्बफलकी शोभा वृक्षस्थानमें (पक्षा०—जङ्गली देशमें) सम्भावित है और इसकी (दमयन्तीके अधरोष्ठकी) शोभा विद्रुम अर्थात् मूंगेमें पक्षा०—वृक्ष रहित स्थान अर्थात् नगरमें है, अत एव जङ्गली देशमें उत्पन्न होनेवाला नगरमें उत्पन्न होनेवालेकी समानता कदापि नहीं कर सकता । [पाठ भेदसे—इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमें स्थित यह अधरोष्ठ अमृतमें उत्पन्न बिम्बफलका प्रतिबिम्ब (सदृश) है यह उचित है; श्वेतवर्ण मुखरूप चन्द्रमें सुधोद्भव अधररूप बिम्बफलका प्रतिबिम्बित (पक्षा०—सदृश)

---

१. 'सहोज्जिहाना' इति पाठान्तरम् ।

होना उचित ही है। अथवा—बिम्बफल सुधोत्पन्न नहीं होनेसे मुखचन्द्रमें स्थित सुधाखनि अधरोष्ठके समान कदापि नहीं हो सकता है। ('तो फिर अधरोष्ठ का सादृश्य कहां मिलेगा' इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहते हैं)। अथवा—बिम्बफलकी शोभा वृक्षके आश्रय करनेवाले (लता) स्थानमें है बिम्बफल सुधोत्पन्न होनेपर भी वृक्षदेशस्थ होनेसे मुखचन्द्रस्थ अधर की शोभा नहीं कर सकता और विद्रुम अर्थात् मूंगेमें (पक्षा०-वृक्षहीन स्थानमें) इसके अधरोष्ठकी शोभा होना सम्भव है, पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रवाल अर्थात् मूंगा वृक्ष रहित स्थानमें उत्पन्न होनेके कारण अधरोष्ठके सदृश होनेपर भी सुधोत्पन्न नहीं होनेसे अधरोष्ठके सदृश नहीं हो सकता। दमयन्ती का अधर बिम्बफल तथा मूंगेसे भी अत्यन्त सुन्दर है]॥ ३८॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम्।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥३९॥

जान इति। अतिरागादतिलौहित्याद्धेतोः इदं पुरोवर्त्येव बिम्बं बिम्बनामार्हं बिम्बस्य च इतोऽस्मादधरत्वमपकृष्टत्वमोष्ठत्वं च व्यक्तं तदेवाधरनामार्हं प्रतीयत इत्यर्थः। एवं स्थिते द्वयोरनयोरधरबिम्बयोर्नाम्नो विषये विशेषावगमे इदमस्य नामेति निर्धारणे अक्षमाणामसमर्थानां जनानां भ्रमोऽभूत्। जाने जानामीत्युत्प्रेक्षा।३९।

अत्यधिक लालिमा होनेसे यही (दमयन्तीका पुरोदृश्यमान ओष्ठ ही) बिम्बफल है, बिम्बफल का इससे अर्थात् इस दमयन्तीके ओष्ठसे (दमयन्तीके ओष्ठकी अपेक्षा लालिमा कम होनेसे) अधरत्व (नीचापन) अर्थात् हीनता स्पष्ट है। इन दोनों (दमयन्तीका ओष्ठ और बिम्बफल) के विशेष को जाननेमें असमर्थ या मुग्ध लोगोंको नाममें भ्रम हो गया है। (अथवा—विशेषको जाननेमें असमर्थ लोगोंको इन दोनोंके नाममें भ्रम हो गया है।) [यह नियम है कि उपमान और उपमेयमें उपमान अधिक गुण तथा उपमेय कम गुणवाले होते हैं, अतः अधिक लालिमा होनेसे दमयन्तीके ओष्ठको उपमान एवं कम लालिमा होनेसे बिम्बफल उपमेय होना उचित है, किन्तु दोनोंके गुणोंके तारतम्य नहीं समझने वाले लोगोंने दमयन्तीके ओष्ठको उपमेय मान कर अधर (बिम्बफलसे हीन) और बिम्बफलको उपमान मान लिया; बस, यही कारण है कि लोकमें भी दमयन्ती का ओष्ठ 'अधर' कहलाने लगा। वस्तुतः में दमयन्तीके ओष्ठमें बिम्बफलसे भी अधिक राग (लालिमा, पक्षा०-अनुराग) है]॥ ३९॥

मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः।
तत्स्वप्नसंभोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम् ॥ ४०॥

मध्येति। यद्यस्मात्, अस्याः सम्बन्धिनौ मध्यस्याधरमध्यप्रदेशस्य उपकण्ठौ सन्निहितौ अधरोष्ठस्य भागौ तदुभयपार्श्वे इत्यर्थः। किमप्युच्छ्वसितौ किंचिदुच्छूनौ भातः स्फुरतः। तत्तस्मात्, स्वप्नसम्भोगे वितीर्णो दत्तो दन्तदंशो दन्तक्षतं येन तेन मया नापराद्धं किं वा। स्वप्ने स्वकृतदन्तक्षतमेतदित्युत्प्रेक्षा ॥ ४०॥

(इस दमयन्तीके अधरोष्ठके) मध्यभागके समीपवर्ती, कुछ सूजे हुए अर्थात् कुछ ऊँचे उठे हुए दोनों अधरोष्ठ जो शोभमान हो रहे हैं, सो स्वप्नमें सम्भोगकालमें (अधरपान करते समय) दांतोंसे काटनेवाले मैंने (अथवा —स्वप्न–सम्भोगकालमें दाँतोंसे काटनेसे मैंने अपराध नहीं किया है क्या ? अर्थात् अवश्यमेव अपराध किया है । [दमयन्तीके अधरोष्ठके दोनों प्रान्त स्वभावतः कुछ ऊँचे उठे हुए हैं, यह सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ लक्षण है; किन्तु नल उस उठे हुए अधर–प्रान्तोंको स्वप्नकालीन सम्भोग में किये गये दन्तदंशन–जन्य समझकर अपना अपराध मानते हैं । दन्तदंशन करनेपर उस स्थानका शोथयुक्त होना सर्वानुभवसिद्ध है] ॥ ४० ॥

विद्या विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति कत्यन्तरभेदभाजः ।
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान्विधाता ॥ ४१ ॥

विद्या इति । कौतुकवान् विनोदी विधाता विदर्भेन्द्रसुताया अधरोष्ठे कति विद्या अन्तरभ्यन्तरे अभेदभाजः भेदरहिताः सत्यो नृत्यन्ति विहरन्ति इति बुभुत्सयेति शेषः, इतिना गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अपश्रमः श्रमरहितः सन् ताः विद्या रेखाभिः संख्यातवानिव गणितवान् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा वृथा रेखासृष्टिः स्यादिति भावः ॥

'दमयन्तीके अधरोष्ठपर भेदोपभेदसहित कितनी विद्याएँ नाचती हैं अर्थात् दमयन्ती कितनी विद्याओं को जानती हैं,' इस विषयमें कौतुक युक्त ब्रह्माने रेखाओंसे काम रहित होकर अर्थात् सरलता पूर्वक (दमयन्तीकी विद्याओंको) गिना । [दमयन्तीके अधरोष्ठपर जो रेखाएं हैं, वे दमयन्तीकी भेदोपभेद सहित विद्याओंकी संख्या–सूचक चिह्न हैं अर्थात् दमयन्ती इतनी विद्याओं में निपुण थी । लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी की गणना करते समय विस्मरण न होनेके लिये रेखाओंके द्वारा सरलता पूर्वक उसे गिन लेता है] ॥ ४१ ॥

संभुज्यमानाद्य यथा निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम् ।
असीमलावण्यरदच्छदेयं कथं मयैव प्रतिपद्यते वा ॥ ४२ ॥

संभुज्यमानेति । इयं भैमी, अद्य मया निशान्ते निशावसाने अपररात्र इत्यर्थः । तत्कालस्वप्नस्य सत्यत्वादिति भावः । स्वप्ने संभुज्यमाना मधुराधरा मनोज्ञाधरा सत्यनुभूता दृष्टा मयैव इत्थमनेन प्रकारेण स्वप्नविकारेणैव असीमलावण्यो रदच्छदो दन्तच्छदो यस्या सा सती कथं वा प्रतिपद्यते दृश्यते चित्रमित्यर्थः । स्वप्नदृष्टस्यार्थस्य जागरे सत्यसंवादादाश्चर्यम् ॥ ४२ ॥

प्रातःकालमें (अथवा—गृहमें) इसके साथ सम्भोग (पक्षा०—इसका आस्वादन) करते हुए मैंने मधुर (मीठे–मीठे) अधरोष्ठवाली अनुभव किया (पक्षा०—खाया), उसे इस समय अनन्त (बेहद) सौन्दर्ययुक्त ओष्ठवाली इसे मैं कैसे देख रहा हूं या प्राप्त कर रहा हूं ? यह आश्चर्य है । [स्वप्नमें देखी या पायी गयी वस्तु प्रायः प्रत्यक्षमें असत्य हुआ करती है, अतः इसे मैंने स्वप्नमें जैसा मधुर रसयुक्त अधरोष्ठवाली अनुभव किया था, इस

समय भी वैसी ही इसे पा रहा हूँ, यह आश्चर्य है । अथवा—प्रातःकाल (गौओंको खोलनेके समयमें) देखा गया स्वप्न प्रायः सत्य होता है, ऐसा ज्यौतिषशास्त्रका सिद्धान्त है, अतः इस दमयन्तीको जैसा मैंने स्वप्नमें देखा, वैसा ही इस समय प्रत्यक्षमें प्राप्त कर रहा हूँ, यह आश्चर्य है । स्वप्नदृष्ट वस्तुको उसो रूपमें जागते हुए भी प्राप्त करनेपर आश्चर्य होना स्वाभाविक ही है । पक्षा०—जो अत्यन्त मधुकर (मीठा) है, वह ओष्ठ अत्यधिक नमकीन है, यह विरोध होना आश्चर्यजनक है, विरोध का परिहार 'जो अत्यन्त मधुर है, वह अत्यधिक सौन्दर्ययुक्त है, अर्थ करनेसे होता है] ॥ ४२ ॥

यदि प्रसादीकुरुते सुधांशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य ।
तत्कौमुदीनां कुरुते तमेव निमित्य[1] देवः सफलं स[2] जन्म ॥ ४३ ॥

यदीति । एषा भैमी, स्मितस्य निजमन्दहासस्य सहस्रांशं सहस्रतमांशमपि । वृत्तिविषये संख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं त्रिभागवत् । सुधांशोः प्रसादीकुरुते यदि दद्याच्चेदित्यर्थः । तत्तर्हि स देवः सुधांशुः कौमुदीनां स्वचन्द्रिकाणां जन्म । तमेव स्मितलेशमेव निमित्य स्वकौमुदीषु निक्षिप्य "डुमिञ् प्रक्षेपणे" इति धातोः समासे क्त्वो ल्यबादेशः । सफलं कुरुते । यथा विन्दुमात्रगङ्गाजलमिश्रणेनान्यज्जलं सफलं भवति तद्वदिति भावः । अत्र कौमुदीनां संभावनामात्रेण स्मितांशासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ४३ ॥

यदि यह दमयन्ती अपने मुस्कान का हजारवां भाग भी चन्द्रमा को प्रसन्न हो कर देदे तो वह देव अर्थात् चन्द्रमा इस (मुस्कान का सहस्रांश) को (चाँदनीमें) मिलाकर उसके जन्मको सफल करे । [पाठा०—उस मुस्कान को चाँदनीसे आरतीद्वारा पूजन कर जन्मको अर्थात् चांदनीके या अपने जन्मको सफल करता । एक बूँद गङ्गाजलसे जिस प्रकार बहुत-सी जलराशि पवित्र हो जाती है, उसी प्रकार दमयन्तीके सहस्र स्मितको चन्द्रिकामें मिला कर चन्द्र भी जन्मको सफल करता । इस अर्थको श्री पं. जीवानन्दजीने "सर्वत्र पावनी गङ्गा त्रिपु स्थानेषु दूष्यति । म्लेच्छस्पर्शे सुराभाण्डे कूपोदकविमिश्रणे ॥" वचनके आधारपर असमीचीन बतलाया है; किन्तु उस तीनों स्थानोंको छोड़कर अन्य जलमें मिलाया हुआ थोड़ा भी गङ्गाजल सब जलको जिस प्रकार पवित्र कर देता है, उसी प्रकार यहां समझना चाहिये] ॥ ४३ ॥

चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद्घनानाम् ।
पुरः परिस्रस्त[3]पृषद्द्वितीयं रदावलिद्वन्द्वति बिन्दुवृन्दम् ॥ ४४ ॥

चन्द्रेति । तस्य चन्द्रस्य किरणाद्रश्मेः चन्द्रकान्तेः, घनानां सान्द्राणां तन्मुखस्य

---

१. "निमिच्छ्य" इति पठित्वा 'अर्थात्कौमुदीभिरेव पूजनं कृत्वा नीराजनं कृत्वे'ति व्याख्यातवन्तो नारायणभट्टाः 'प्रकाश' व्याख्यायाम् ।

२. "स्वजन्मा" इति पाठान्तरम् । ३. "पुरःसरत्रस्त" इति पाठान्तरम् ।

चन्द्राधिकत्वाच्चन्द्रिकाणामपि ततोऽधिकमिति भावः। अत एवाह—चन्द्राधिकस्यैतन्मुखस्य चन्द्रिकाणां सम्बन्धि दरायतमीषद्दीर्घं पुरः परिस्रस्तानि प्रथमं सृतानि पृषन्ति बिन्दवो यस्य तद्द्वितीयं बिन्दुवृन्दं रदावलिद्वन्द्वति तदिव आचरति "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्" इत्याचारक्विबन्ताल्लट्। प्रथमनिस्सृता बिन्दुपङ्क्तिरधरदन्तपङ्क्तिः उत्तरानन्तरजातेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४४ ॥

चन्द्रमाकी किरणोंसे सघन अर्थात् अधिक इस दमयन्तीके मुखकी चाँदनी का कुछ अधिक एवं पहले गिरी हुई बूंदोंका दूसरा बूंदोंका समुदाय दोनों (ऊपर तथा नीचेवाले) ओरके दन्तसमूहके समान हो रहे हैं। [दमयन्तीका मुख चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है, अतः उसकी चांदनी (प्रकाश—शोभा) भी चन्द्रमाकी चांदनीकी अपेक्षा सघन अर्थात् अधिक है (अथवा— चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक सुन्दर दमयन्ती—मुख—चन्द्रकी चन्द्रिका ही मेघरूप है), उक्त चांदनीसे (अथवा—चांदनीरूप मेघसे) पहले जो बिन्दु समूह गिरे जो छोटे २ थे वे तो दमयन्तीके नीचेवाले दांत हुए तथा पहले गिरे हुए बिन्दु समूहसे कुछ बड़े २ जो बिन्दुसमूह गिरे, वे दमयन्तीके ऊपर वाले दांत हुए। दमयन्तीके नीचेवाले दांत छोटे २ तथा ऊपरवाले उनसे कुछ बड़े २ हैं, जो सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभसूचक है] ॥४४॥

सेयं ममैतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य विभाति सन्ध्या ।
महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना ॥ ४५ ॥

सेति। महेन्द्रस्य काष्ठामुत्कर्षं गतोऽनुरागः। अन्यत्र पूर्वदिग्गतो रागो लौहित्यम्। 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। 'रागोऽनुरागे लौहित्ये' इति विश्वः। तस्य कर्त्री जनयित्री अमीभिर्द्विजैर्दन्तैः विप्रैश्च। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। समुपास्यमाना सेव्यमाना सेयं दमयन्ती मम एतस्या भैम्या, विरहार्त्या वियोगपीडया या मूर्च्छा सैव तमी रजनी। 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः। तस्या विभातस्य संबन्धिनी सन्ध्या प्रातःसन्ध्या विभाति। सन्ध्याधर्मसम्बन्धात्सन्ध्यात्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

इन्द्रके अनुरागको बढानेवाली (पक्षा०—इन्द्रदिशा अर्थात् पूर्वदिशामें लालिमाको करनेवाली) तथा इन दांतों (पक्षा०—ब्राह्मणों) से पूजित होती हुई यह दमयन्ती, इस दमयन्तीके विरहजन्य पीडासे उत्पन्न मेरी मूर्च्छारूपी रात्रिके प्रातःकाल की सन्ध्या (रूपमें) शोभमान हो रही है। [जिस प्रकार प्रातःकालकी सन्ध्या पूर्व दिशाको लालिमा युक्त करनेवाली तथा रात्रिका नाश करनेवाली होती है, एवं ब्राह्मण लोग सन्ध्योपासनादिसे उसकी सेवा करते हैं; उसी प्रकार यह दममन्ती भी इन्द्रके अनुरागको उत्पन्न करनेवाली है, दांतोंसे पूजित (शोभित) है और इसके विरहसे होनेवाली पीडाजन्य मेरी मूर्च्छारूपिणी रात्रिका नाश करनेवाली सन्ध्यारूप है अर्थात् प्रातःकालकी सन्ध्या जैसे रात्रिका नाश करती है, वैसे ही अब दमयन्ती—विरहजन्य पीडासे उत्पन्न मेरी मूर्च्छाका भी नाश हो जायेगा] ॥ ४५ ॥

राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः संविभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत्।
उद्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ॥ ४६ ॥

अथोच्चैश्चत्वारो ये दन्तास्तान् वर्णयति—राजाविति। यत् यस्मात्, इहास्यां द्विजानां दन्तानां विप्राणां च राजौ पङ्क्तौ। उद्वेगं पूगफलम्। 'घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरोऽस्य तु। फलमुद्वेगम्' इत्यमरः। तस्य रागो रक्तता। आदिशब्दात् खाद्यान्तरलेपसंग्रहः। अन्यत्रोद्वेगो व्यग्रता। रागो विषयाभिलाषः आदिशब्दाद्द्वेषादिसंग्रहः। तेषामुद्वेगरागादीनां मृजया मार्जनेन। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्'। अवदाताः शुद्धाः एते चत्वारो राजदन्ताः दन्तानां राजानो दन्तश्रेष्ठाः। "राजदन्तादिषु परम्" इति दन्तशब्दस्योपसर्जनस्य परनिपातः। श्रोत्रियाश्छन्दांस्यधीतवन्तः वेदपारगाः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः। "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीत" इति निपातः। तेषां विभ्रमं शोभां संविभ्रति तस्यान्मुक्ताः मौक्तिकानि अपवृत्ताश्च। 'मुक्ता तु मौक्तिके मुक्ताः प्राप्तमुक्ता तु मोचित' इति विश्वः। अवैमि जानामि इति वाक्यार्थः कर्म। उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

इस दन्तपङ्क्तिमें सुपारीकी लालिमा (या जलायी हुई सुपारी) आदि (कत्था, सेँधव, खरी, लवणादि) के द्वारा रगड़नेसे निर्मल श्रेष्ठ दांत (पक्षा०—इस ब्राह्मणपङ्क्तिमें उद्वेग (व्याकुलता), अनुराग आदि (द्वेष, ईर्ष्या, काम आदि अथवा—उत्कृष्ट वेगवाले अनुराग आदि) के दूर करनेसे निर्मल (अर्थात् पापहीन अन्तिम समयमें शोभमान जो चार ब्राह्मण) वेदपाठियोंके भ्रमको उत्पन्न कर रहे हैं, इस कारणसे इन्हें (इन चार दांतोंको, पक्षा०—इन चार ब्राह्मणोंको) मैं मुक्ता (मोतीके समान, पक्षा०—मुक्ति पाया हुआ) जानता हूं। [जिस प्रकार ब्राह्मणोंमें भी वेदपाठी ब्राह्मण रागादिको छोड देते हैं, वे पापमुक्त होकर शीघ्र ही मुक्ति पा लेते हैं उसी प्रकार सुपारी कत्था आदि दांतोंमें रगड़नेसे मोतीके समान स्वच्छ हो जाते हैं, उनमें भी सामनेवाले ही चारो दाँतोंको अधिक रगड़ते हैं अत एव वे ही अधिक स्वच्छ भी रहते हैं। दमयन्तीके आगेवाले चारो दांत सुपारी आदिके रगड़ते रहनेसे मोतीके समान स्वच्छ हैं] ॥ ४६ ॥

शिरीषकोशादपि कोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः।
प्राप्तप्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

शिरीषेति। वेधाः विधाता शिरीषस्य कोशात्कुड्मलादपि कोमलाया अस्या भैम्याः, अशेषमङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे कोमलसृष्टौ प्राप्तकर्षो लोके लब्धोत्कर्षः सन् मृदुत्वमुद्रां मार्दवभङ्गीं वाचि भैमीवाण्यां समापयत् समापितवान्। सर्वातिशाय्यस्या वाङ्माधुर्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

ब्रह्माने शिरीषके कलिकासे भी अधिक सुकुमार शरीरवाली इस दमयन्तीके सम्पूर्ण अङ्गोंको बनाकर सुकुमार वस्तुके बनानेमें प्रतिष्ठा (नामवरी) प्राप्तकर सुकुमारताके

अन्तिम सीमाको इसके वचनमें समाप्त कर दिया। [शिरीषपुष्प अत्यधिक सुकुमार (कोमल) होता है—जैसा कविकुलदिवाकर कालीदासने भी पार्वतीका वर्णन करते हुए कुमार सम्भवमें कहा है—"शिरीषपुष्पाधिक सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः। (१।४१)"। तो कलिकामें स्वभावतः अधिक सुकुमारता होना सिद्ध है। ब्रह्माने दमयन्तीके अङ्गोंको शिरीषपुष्पकलिकासे भी अधिक सुकुमार बनाया, अतः सुकुमार पदार्थोंकी रचनामें ख्याति पाकर उन्होंने दमयन्तीके वचनमें सुकुमारताकी समाप्ति कर दी अर्थात् दमयन्तीके वचनसे अधिक सुकुमारता (मृदुता) अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती, सुकुमारता की चरम सीमा दमयन्तीका वचन ही है, यह निश्चय कर दिया। दमयन्तीका वचन अत्यन्त मृदु है ॥

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा कापि द्विजेनोपनिषत्पिकेन ।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः ॥ ४८ ॥

नन्वितोऽपि मधुरा कोकिलवाणी, नेत्याह—प्रसूनेति । प्रसूनबाणमेवाद्वयमद्वितीयं वस्तु तद्वदतीति तत्प्रतिपादिका कापि उपनिषत् पिकवाग्रूपा सा तरुभ्यः सकाशात्। भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। 'भैक्षं भिक्षा कदम्बकम्' इत्यमरः। 'भिक्षादिभ्योऽण्'। तद्भुजा तद्भोजिना ब्रह्मचारिणो भिक्षाशित्वस्मरणादिति भावः। पिकेन पिकाख्येन द्विजेन पक्षिणा विप्रेण च, अस्या भैम्या आस्यमेव द्विजराजश्चन्द्रो ब्राह्मणोत्तमश्च। ततस्तस्मान्नाधीयते वा किम्? अधीयत एवेत्यर्थः। अस्यामेवाधिक्योपलम्भादिति भावः। उत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

(आम आदि) वृक्षोंसे भिक्षा समूहको खानेवाली अर्थात् आममञ्जरीरूप भिक्षा समूहको खानेवाली पक्षी कोयल इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रमासे कामदेव रूप अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद् विद्या अर्थात् तद्रूप दमयन्तीकी मधुवाणीको नहीं पढ़ती है क्या? अर्थात् पढ़ती ही है। पक्षा०—वृक्ष (रूप गृहाश्रमियोंसे मांगकर) भिक्षान्नको खानेवाला ब्राह्मण (दमयन्तीके मुखरूप) श्रेष्ठ ब्राह्मणसे (कामदेवरूप) अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद् विद्याको नहीं पढ़ता है क्या? अर्थात् अवश्य पढ़ता है। [जिस प्रकार ब्रह्मचर्यावस्थामें रहता हुआ एवं गृहाश्रमियोंके यहां मांगकर भिक्षान्नको खाता हुआ ब्राह्मणश्रेष्ठ ब्राह्मण (आचार्य) के पास जाकर अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद्को पढ़ता है, उसी प्रकार कोयल भी आमके वृक्षोंसे भिक्षान्नरूपमें प्राप्त मञ्जरियोंको खाकर एकमात्र कामका प्रतिपादन करनेवाली विद्या (कामविद्या) को इसके मुखचन्द्रसे पढ़ती है अर्थात् इस दमयन्तीकी मधुरवाणीको सीखती है। दमयन्तीकी वाणीसे भी मधुर है] ॥ ४८ ॥

पद्माङ्कसद्मानमवेत्य लक्ष्मीमेकस्य विष्णोः श्रवणात्सपत्नीम् ।
आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ॥४९॥

पद्माङ्केति। सरस्वती वाग्देवता एकस्य विष्णोः पत्युरिति शेषः। श्रवणादा-

श्रयणाद्धेतोः। समान एकः पतिर्यस्याः सा सपत्नी। "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारश्च, एतस्मादेव निर्देशात्समानशब्दस्य सभावः। तां लक्ष्मीं पद्माङ्क-सद्मानं पद्मोत्सङ्गनिकेतनामवेक्ष्य तस्या लक्ष्म्या विजिगीषया जिताब्जं पद्मविजयिन-मस्या आस्येन्दुमाननेन्दुं किं भजत इत्युत्प्रेक्षा। दुर्बलोऽपि वैरनिर्यातनार्थी प्रबल-माश्रयत इति भावः। सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्वं पुराणप्रसिद्धम्। तथार्चास्वपि दृश्यते यथा पुरुषोत्तमस्य जगन्नाथस्य पार्श्वे लक्ष्मीसरस्वत्यौ तयोः सुरतवादोपचारश्च ॥४९॥

सरस्वती एक विष्णु भगवान्के आश्रयसे सपत्नी (सौत) लक्ष्मीको कमल-गृहवाली देखकर अर्थात् सपत्नी लक्ष्मीके सुन्दर कमलरूप गृहको देखकर उसको जीतनेकी इच्छासे कमल (या चन्द्रमा) को जीतनेवाले इस दमयन्तीके मुखरूपी चन्द्रको सेवन करती है क्या ?। [लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों ही विष्णु भगवान् की पत्नी होनेसे वे परस्परमें सपत्नी हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास स्थान कमल है, अतएव सपत्नी लक्ष्मीके सुन्दर निवा-सस्थान कमलको देखकर सरस्वतीको स्वभावतः ईर्ष्या हुई कि 'मेरी सपत्नी लक्ष्मीका निवास स्थान सुन्दर कमल है, अतः उससे भी सुन्दर मेरा निवास स्थान होना चाहिए यह मनमें विचार आनेपर, चन्द्रोदय होनेपर कमलके सङ्कुचित होनेसे कमल-विजयी चन्द्रमा भी विजेता दमयन्ती-मुखचन्द्रका सरस्वती सेवन करने लगी अर्थात् दमयन्तीके मुखमें निवास करने लगी। अन्य भी कोई स्त्री सपत्नीके ऐश्वर्यपर ईर्ष्या करके उससे अधिक ऐश्वर्य पाना चाहती है और उसे प्राप्तकर अधिक प्रसन्न होती है। सरस्वतीका वास दमयन्तीके मुखमें सर्वदा रहता है अर्थात् दमयन्ती बड़ी विदुषी नारी है] ॥ ४९ ॥

कण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम्।
तदेष वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतौ याति सुधारसत्वम् ॥५०॥

कण्ठ इति। मृगाक्ष्या अस्या भैम्याः कण्ठे वसन्ती नित्यसन्निहिता चतुरा सरस्वती विपञ्चीं वीणां यद्वादयते वादयति तद्वादनमेव, स वीणाध्वनिरेवेत्यर्थः। मुखे वाग्भूय वाग्भूत्वा। अभूततद्भावे च्विः। "ऊर्यादिच्विडाचश्च" इति गतित्वात् समासे क्त्वो ल्यबादेशः। श्रोतुः श्रुतौ श्रोत्रे सुधारसत्वं याति। व्यञ्जकप्रयोगाद्-गम्योत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

इस दमयन्तीके कण्ठमें निवास करती हुई (वीणावदनमें) चतुर सरस्वती जो 'विपञ्ची'[1] नामकी अपनी वीणाको बजाती है, वही (वह वीणावादन ही) मृगलोचनी दमयन्तीके मुखमें वचन रूपमें परिणत होकर सुननेवालेके कानमें अमृत रस बन जाता है॥ [इस दमयन्तीकी वाणी वीणाके समान मधुर एवं सुननेवालोंको मोहित करनेवाली है] ॥५०॥

---

१. तदुक्तं वैजयन्तीकोषे—

"विश्वावसोस्तु महती तुम्बुरोस्तु कलावती।
महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥" इति।

विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव ॥ ५१ ॥

विलोकितेति । इयं दमयन्ती, सुषमायाः परमशोभानिर्माणस्य समाप्तौ वेधसा अस्या मुखमुन्नमय्य विलोकिता । अस्या सौष्ठवपरीक्षार्थमवलोकितमुखी किमित्युत्प्रेक्षा । कुतः ? यद्यस्मात्, मनाङ्निम्ने ईषन्नते चिबुके अधरोष्ठाधःस्थमुखावयवे 'ओष्ठस्याधश्चिबुकम्' इति हलायुधः । धृत्युद्भवा निपीड्यग्रहणसम्भवा, अङ्गुलेः यन्त्रणा मुद्रणेव चकास्ति अङ्गुष्ठपदमिव भातीत्यर्थः । अङ्गुष्ठाग्रं चिबुकाग्रे विधाय इतराङ्गुलीभिरधोनिवेशिताभिरुन्नमय्य मुखमपश्यदिवेति भावः ॥ ५१ ॥

अत्युत्कृष्ट शोभाके पूरा होनेपर (अतिश्रेष्ठ शोभासामग्रियोंसे इस दमयन्तीको बना लेने पर) ब्रह्माने उठाकर दमयन्तीके मुखको देखा है क्या ? (अथवा—········ इस दमयन्तीके मुखको उठाकर देखा है क्या) ? जो थोड़े गर्तयुक्त अर्थात् कुछ दबे हुए ठुड्ढीमें ग्रहण करनेसे उत्पन्न अङ्गुलि (अंगूठेका निपीडन जन्य) चिह्न शोभित हो रहा है । [जिस प्रकार कोई कारीगर किसी वस्तुको पूरा बना लेनेपर उसे धीरेसे उठाकर देखता है कि 'यह मेरी रचना सुन्दर हुई या नहीं' और उसमें सरसता अर्थात् तत्कालका बना होनेसे आर्द्रता रहनेसे बहुत धीरेसे उठाने या छूनेपर भी थोड़ा–सा चिह्न पड़ जाता है या वहां वह वस्तु कुछ दब जाती है; उसी प्रकार ब्रह्माने भी परमशोभा सामग्रियोंसे दमयन्तीकी रचनाकर इसके मुखको धीरेसे उठाकर सुन्दरताका परीक्षण (जांच) किया है, यही कारण है कि इसकी ठुड्डी (मुखका निचला भाग) में थोड़ा–सा गढा हो (दब) गया है । दमयन्तीका अङ्ग इतना सुकुमार है कि वह एक अङ्गुलिके निपीडन (दबाव) को नहीं सह सकता, उसमें सदाके लिये चिह्न पड़ जाता है । ठुड्ढीके नीचे मध्य भागमें थोड़ा–सा गढ़ा (दबा) रहना सामुद्रिक शास्त्रमें शुभ लक्षण माना गया है] ॥ ५१ ॥

प्रियामुखीभूय सुखी सुधांशुर्वसत्यसौ[1] राहुभयव्ययेन ।
इमां दधाराधरबिम्बलीलां तस्यैव बालं करचक्रवालम् ॥ ५२ ॥

प्रियेति । असौ सुधांशुः प्रियामुखीभूय भैमीमुखं भूत्वा राहोर्विधुन्तुदात् भयव्ययेन भयनिवृत्त्या सुखी वसति । तस्य सुधांशोरेव बालं प्रत्यग्रं करचक्रवालं अंशुमण्डलमिमां दृश्यमानां अधरबिम्बलीलां दधार । अधरबिम्बं भूत्वा तिष्ठतीत्युत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५२ ॥

यह चन्द्रमा प्रिया (दमयन्ती) का मुख होकर राहुसे निर्भय होनेसे सुखी होकर रहता है, उसी (चन्द्रमा) का बाल (उदयकालीन) किरण समूह अधर–बिम्बकी लीला (शोभा, पक्षा०—क्रीडा) को धारण कर लिया है । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति शत्रुके भयसे सपरिवार अपना रूप बदलकर सुखपूर्वक कहीं निवास करता है, उसी प्रकार किरणरूप परिवारके

१. "वसत्ययं" इति पाठान्तरम् ।

सहित चन्द्रमा दमयन्तीका मुख होकर यहां राहुसे भय नहीं होनेसे सुख पूर्वक निवास करता है। बालकोंका क्रीडा करना स्वाभाविक होनेसे चन्द्रमाके बाल अर्थात् उदयकालीन किरण-समूह भी दमयन्तीके अधरबिम्बकी क्रीडा कर रहे हैं। दमयन्तीका मुख चन्द्रके तथा अधरोष्ठ सायंकालीन चन्द्रबिम्बके समान है]॥ ५२॥

अस्या मुखस्यास्तु न पूर्णिमास्यं[1] पूर्णस्य जित्वा महिमा हिमांशुम्।
भ्रूलक्ष्मखण्डं दधदर्धमिन्दुर्भालस्तृतीयः खलु यस्य भागः॥ ५३॥

अस्या इति। पूर्णिमायाः पौर्णमास्या आस्यं मुखीभूतं हिमांशुं जित्वा पूर्णस्य समग्रस्य सतः अस्या भैम्या मुखस्य महतो भावो महिमा महत्त्वं नास्तु न स्यात्। काकुः। स्यादेव जेतुर्महिमेत्यर्थः। किं च यस्य मुखस्य तृतीयो भागः तृतीयांशभूतः, भालो ललाटं भ्रूरेव लक्ष्मखण्डः लाञ्छनैकदेशस्तं दधत् दधानः अर्धमिन्दुरर्धेन्दुः खलु। युक्तमर्धचन्द्रात्पूर्णचन्द्रस्य महत्त्वमिति भावः। अत्र मुखस्य पूर्णेन्दुत्वं भालस्यार्धचन्द्रत्वं च क्रमात्पूर्णिमास्यं हिमांशुं भ्रूलक्ष्मखण्डमिति च रूपकाभ्यामनुप्राणितमुत्प्रेक्ष्यत इति रूपकसङ्कीर्णयोरुत्प्रेक्षयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ५३॥

पूर्णिमाके मुखरूप (पूर्णिमा-सम्बन्धी) चन्द्रमाको जीत कर इस दमयन्तीके पूर्ण (सम्पूर्ण, पक्षा०—गोलाकार) मुखकी महिमा नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी। भ्रूरूपी (चन्द्रमाके) लाञ्छनके खण्डको धारण करता हुआ, जिस मुखका तृतीयांश (तीसरा भाग) ललाट आधा चन्द्रमा होता है। [दमयन्तीका ललाट उसके मुख का तृतीय भाग (एक तिहाई हिस्सा) है और वह आधे चन्द्रमाके बराबर होनेसे अधिक है; चन्द्रमामें जो लाञ्छन है वह बहुत बड़ा है. किन्तु दमयन्ती-मुखमें चन्द्र-लाञ्छनका एक टुकड़ा अर्थात् थोड़ा-सा हिस्सा है, अतः अधिक गुणयुक्त होनेसे दमयन्तीका पूर्ण मुख पूर्णिमाके सम्पूर्ण चन्द्रमाको जीतकर अवश्य महिमा पानेके योग्य है। जिसका तृतीयांश आधेके बराबर है तथा कलङ्क भी कम है, उसकी महिमा होना उचित ही है]॥ ५३॥

व्यधत्त धाता मुखपद्मस्याः[2] सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेऽपि।
सरोजराजौ सृजतोऽदसीयां नेत्राभिधेयावत एव सेवाम्॥ ५४॥

व्यधत्तेति। धाता अस्या मुखमेव पद्मम्। 'वा पुंसि पद्मम्' इति पुंल्लिङ्गता। सम्राजमिति विशेषणात्। अखिलेऽप्यम्भोजकुले पद्मजाते विषये सम्राजं राजराजं व्यधत्त। अत एव राजराजत्वादेव नेत्राभिधेयौ नेत्रशब्दवाच्यौ सरोजानां राजानौ सरोजराजौ अमुष्य मुखपद्मस्य सम्बन्धिनीमदसीयां सेवां सृजतः कुरुतः। 'येनेष्टं

१. "पूर्णमास्यं" इति "पौर्णमास्यं" इति च पाठान्तरे।
२. "वदनाब्जमस्याः" इति पाठान्तरम्।

राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः । अत्र नेत्राख्यसरोजराजसेव्यत्वेन भैमीमुखपद्मस्य सम्राट्त्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५४ ॥

ब्रह्माने इस दमयन्तीके मुखकमलको सम्पूर्ण कमल-समूहमें सम्राट् (बादशाह, पक्षा०-अधिक शोभनेवाला) बनाया है, इसी कारण नेत्रसंज्ञक दो कमलरूपी राजा इस (दमयन्तीके मुख) की (शोभा बढ़ाकर) सेवा करते हैं। [सम्राट्के अधीन होनेसे राजा लोगों का सम्राट् की सेवा करना नीतिके अनुकूल ही है। दमयन्ती का मुख कमलसे भी अत्यधिक सुन्दर है] ॥ ५४ ॥

दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम् ।
अस्या यदास्ये न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम् ॥५५॥

दिवेति । चन्द्रश्चाम्बुजं च ते दिवारजन्योर्दिनरात्र्योर्यथासङ्ख्यं रविसोमाभ्यां भीते अपहारशङ्किनी सती स्वलक्ष्मीं यदा अस्या भैम्या आस्ये निक्षिपतस्तदा तयोर्दिवाचन्द्रस्य रात्रावम्बुजस्य च श्रीः शोभा न भवति । इदमस्या आस्यं तु कदा कस्मिन्काले दिवा नक्तं वा एकश्रिया चन्द्राम्बुजयोरन्यतरश्रिया न कान्तम्, अपि तु सर्वदा कान्तमेव। अत्रोक्तयथासङ्ख्यसङ्कीर्णया भैमीमुखे चन्द्राम्बुजलक्ष्मीनिक्षेपोत्प्रेक्षिताभ्यां कादाचित्कशोभाभ्यां मुखस्य अकादाचित्कश्रीकत्वेन व्यतिरेको व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ५५ ॥

दिन और रात्रिसे डरे हुए (क्रमशः) चन्द्रमा तथा कमल अपनी शोभाको जब इस दमयन्तीके मुखमें रखते हैं (अथवा अपनी सम्पत्तिको धरोहर रखते हैं), तब उन दोनों की अर्थात् दिनमें चन्द्रमाकी तथा रात्रिमें कमल की शोभा नहीं होती है और यह दमयन्तीका मुख किस समय (दिन या रात्रिमें उन दोनोंमें से) एक (चन्द्रमा या कमल) की शोभासे सुन्दर नहीं रहता ? अर्थात् सर्वदैव (चन्द्रमा या कमल की शोभासे) सुन्दर रहता है। चन्द्रमा की शोभा दिनमें तथा कमलकी शोभा रात्रिमें नहीं होती, किन्तु दमयन्तीके मुखकी शोभा दिन-रात रहती है; अत एव दमयन्ती का मुख चन्द्रमा तथा कमलसे श्रेष्ठ है। लोकमें भी किसी बलवान् से डरा हुआ व्यक्ति अपनी सम्पत्तिको किसी विश्वासपात्रके पास धरोहर रखकर निश्चिन्त हो जाता है। तथा भयकारणके दूर होनेपर धरोहर रखी हुई अपनी सम्पत्तिको मांगने आता है तो उसे वापस दे देता है। इस प्रकार दिन से डरा हुआ चन्द्रमा तथा रात्रिसे डरा हुआ कमल अपनी २ शोभा रूप सम्पत्तिको दमयन्ती-मुखके पास धरोहर रूपमें रख देते और दिनके व्यतीत होने पर रात्रिमें चन्द्रमा तथा रात्रिके व्यतीत होने पर दिनमें कमल अपनी २ शोभारूप सम्पत्तिको लेकर शोभित होते हैं। इस कारण दिनमें चन्द्रमाकी शोभासे तथा रात्रिमें कमलकी शोभासे अर्थात् सर्वदा ही दमयन्ती का मुख शोभित रहता है, अतएव नित्य शोभा सम्पन्न होनेसे चन्द्रमा तथा कमलकी अपेक्षा दमयन्ती का मुख अधिक सुन्दर है] ॥ ५५ ॥

अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात् ।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित् ॥ ५६ ॥

अस्या इति । पद्मचन्द्रौ यथाक्रमं तातात् जनकात् जलाच्च । मित्रादाकारसाम्यात् सुहृदः मुकुराच्च अस्या मुखश्रियः प्रतिबिम्बमेव याचितकं याञ्चानिर्वृत्तम् । 'याञ्चाप्राप्तं याचितकम्' इत्यमरः । "आप्तमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ" इति कन्प्रत्ययः । विभूषणं कदाचिदभ्यर्थ्य धत्तो दधाते खलु । एतदीयमेव सुहृल्लब्धमनयोर्याचितकमाभरणं न स्वाभाविकमित्युत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥

कमल और चन्द्रमा (क्रमशः) पिता जल और मित्र दर्पणसे इस दमयन्तीके मुखकी शोभाके (स्नानादिके समय जलमें तथा शृङ्गारके समय दर्पणमें प्रतिबिम्बित) प्रतिबिम्ब (परछाहीं) को याचनाकर याचनामें मिले हुए भूषणको कभी २ (दिनमें कमल तथा रातमें चन्द्रमा) धारण करते हैं । [कमल जलसे उत्पन्न होता है, अतः जल कमलका पिता है तथा स्वच्छ कान्तिकी समानता होनेसे दर्पण चन्द्रमाका मित्र है । दमयन्तीके मुखश्री की छाया स्नानादि करते समय जलमें तथा शृङ्गार करते समय दर्पणमें पड़ती है, अतः स्व-शोभा-हीन कमल तथा चन्द्रमा क्रमशः पितृस्थानीय जल तथा मित्रस्थानीय दर्पणसे दमयन्तीके प्रतिबिम्बित मुखश्रीकी छायाको मंगनी मांगकर दिनमें कमल तथा रात्रिमें चन्द्रमा आभूषणके रूपमें धारण करते हैं तथा मंगनीमें मिले हुए होनेके कारण ही उसे सर्वदा नहीं धारण करते । लोकमें भी जिसके पास कोई भूषण नहीं रहता, वह पिता और मित्रसे मंगनी मांगकर कभी २ अपनेको उस भूषण से भूषित करता है, 'सर्वदा धारण करनेपर उस भूषण का स्वामी फिर कभी नहीं देगा' इस भयसे उस भूषणको कभी २ ही धारण करता है, सर्वदा नहीं । जब दमयन्तीकी मुखश्रीकी परछाहींके समान भी कमल तथा चन्द्रमाकी शोभा सर्वदा नहीं रहती, तब उसकी साक्षात् मुखश्रीकी समानता वे दोनों कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं कर सकते, अतः दमयन्तीकी मुखश्री कमल तथा चन्द्रमासे बहुत ही अधिक है] ॥ ५६ ॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गैर्मितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।
भैमीं मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ताः ॥ ५७ ॥

अर्कायेति । पत्ये भर्त्रे, अर्काय तिष्ठमानाः स्वाभिलाषं प्रकाशयन्त्यः कामुक्यःसत्य इत्यर्थः । "श्लाघह्नुङ्" इत्यादिना चतुर्थी । "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इत्यात्मनेपदम् । अम्बुजिन्यः पद्मिन्यः अम्बुकेलौ जलक्रीडाकाले भृङ्गैरेवाक्षिभिर्मितामुपलब्धां मुखस्य श्रियं मुखशोभां विस्तारिताः प्रसारिताः पद्मा एव हस्ता यासां ताः सत्यो भैमीं याचन्ति खलु । स्वरितेत्वाद्याचेरुभयपदित्वम् । दुहादित्वाद्द्विकर्मकत्वम् । अत्र पद्मिनीनां भैमीमुखश्रीयाच्ञोत्प्रेक्षया मुखस्य पद्माधिक्यव्यतिरेकः प्रतीयते ॥ ५७ ॥

पतिरूप सूर्यके लिये अपने आशयको प्रकाशित करती हुई कमलिनियां (दमयन्तीकी)

जलक्रीडा (के समय) में भ्रमररूपी नेत्रोंसे देखी या मालूम की हुई दमयन्तीमुखकी शोभा को कमलरूप (पक्षा०-कमलतुल्य) हाथको फैलाकर (दमयन्तीसे) मांग रही हैं (अथवा- …………पसार कर सूर्यसे मांग रही हैं कि—'आप दमयन्तीके मुख की शोभा हमलोगों को दें। पतिसे मांगी हुई वस्तु सरलतासे मिल जाती है, [कमलिनीयों का पति सूर्य है, उनके प्रति कामुकी कमलिनियोंने अपने भ्रमररूप नेत्रोंसे जलक्रीडाके समय दमयन्तीके मुख की शोभाको देखकर उसे अत्यन्त सुन्दर होनेसे कमलरूप हाथ फैलाकर दमयन्तीसे याचना करती हैं कि—'हे दमयन्ती ! तुम अपने मुखकी शोभाको मुझे दो, जिसके द्वारा हमलोग अपने पति सूर्यको प्रसन्न (अपनी ओर आकृष्ट) कर सकें। अन्य भी कोई व्यक्ति अपने पास सुन्दर वस्तु नहीं रहनेपर दूसरे से मांगकर अपने को भूषित एवं पतिको आकृष्ट करता है। क्रीडा-समयमें मांगी हुई वस्तु सरलतासे प्राप्त हो जाती है। दमयन्तीकी मुखशोभा कमलिनीसमूह से भी अधिक सुन्दर है]॥ ५७ ॥

अस्या मुखेनैव विजित्य नित्यस्पर्धी मिलत्कुङ्कुमरोषभासा ।
प्रसह्य चन्द्रः खलु नह्यमानः स्यादेव तिष्ठन् परिवेषपाशः ॥ ५८ ॥

अस्या इति । नित्यं स्पर्धत इति नित्यस्पर्धी चन्द्रः मिलन्ती व्याप्नुवन्ती कुङ्कुममेव रोषभाः क्रोधप्रभा यस्य तेन । अस्या मुखेनैव विजित्य प्रसह्य बलात्कृत्य नह्यमानो बध्यमानः तिष्ठन् परिवेष एव पाशो वन्धनप्रग्रहो यस्य स स्यादेवेत्युत्प्रेक्षा ॥

(उवटन या लेपके समय) लगाये गये कुङ्कुमरूप क्रोधकान्तिवाले दमयन्तीके मुखके साथ सर्वदा स्पर्द्धा करनेवाला चन्द्रमा बलात् बांधा जाता हुआ अर्थात् बाँधा गया परिवेष रूप (चन्द्रमाके चारों ओर दिखलायी पड़ने वाला गोलाकार घेरा) पाश (जाल या रस्सी) युक्त (जालसे बंधा हुआ) रहता ही है। [जिस प्रकार बलवान्के साथ स्पर्द्धा करनेवाले दुर्बल व्यक्तिको वह बलवान् व्यक्ति क्रोधसे लाल २ मुखकर उसे जीत कर रस्सीमें बांध देता है और वह बंधा हुआ पड़ा रहता है, उसी प्रकार अधिक शोभावाले दमयन्तीके मुखके साथ स्पर्द्धा करनेवाले चन्द्रमाको उस मुखने परिवेषरूप रस्सीसे बांधकर छोड़ दिया है]॥ ५८ ॥

विधोर्विधिर्बिम्बशतानि लोपंलोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि ।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥ ५९ ॥

विधोरिति । विधिर्विधाता विधोश्चन्द्रस्य बिम्बशतानि मासि मासि मासे मासे "पद्दन्" इत्यादिना मासशब्दस्य मासित्ययमादेशः। कुहूरात्रिषु नष्टचन्द्ररात्रिषु लोपं लोपं लुप्त्वा लुप्त्वा आभीक्ष्ण्ये "णमुल् च" इति णमुल्प्रत्ययः। आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम्। "आभीक्ष्ण्यं पौनः पुन्यम्" इति काशिका। अभङ्गुरश्रीकमनश्वरशोभं, "शेषाद्विभाषा" इति कप्। अमुमस्या मुखेन्दुम्। एकशेषमेकमेव शिष्यमाणमस्थापयत् स्थापितवान्। किमित्युत्प्रेक्षा। व्याकरणे सरूपाणामेकशेषवदिति भावः ॥ ५९ ॥

ब्रह्मा चन्द्रमाके सैकड़ों बिम्बोंको (क्षयशील कान्ति होने से) प्रत्येक महीनेके कुहू (चन्द्रकला जिसमें बिलकुल ही नहीं दिखलायी पड़े वह अमावस्या) की रात्रियोंमें बार बार नष्टकर स्थिर कान्तिवाले एक बचे हुये इस दमयन्तीके मुखचन्द्रको रचा है क्या?। [लोकमें भी कोई शिल्पी आदि क्षीणकान्तिवाली निकृष्ट वस्तुओंको नष्टकर स्थिर कान्तिवाली केवल एक वस्तुको ही रख लेता है। 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) से भी समान रूपवाले अनेक का नाश (लोप) होकर एक ही शेष रह जाता है और उसीसे उन लुप्तका भी कार्य सम्पन्न होता है, उसी प्रकार अविनाशशील कान्तिवाले दमयन्तीके मुखसे ही आकाशस्थ अन्य चन्द्रसम्बन्धी भी कार्य सम्पन्न होता है। प्रत्येक मासमें क्षयशीलकान्तिवाले आकाशस्थ चन्द्र की अपेक्षा नित्य स्थिर कान्तिवाला दमयन्तीका मुखचन्द्र ही श्रेष्ठ है] ॥ ५९ ॥

कपोलपत्रान्मकरात्सकेतुर्भ्रूभ्याञ्जिगीषुर्धनुषा जगन्ति।
इहावलम्ब्यास्ति रतिं मनोभू रज्यद्वयस्यो मधुनाधरेण ॥ ६० ॥

कपोलेति। मनोभूः कपोलपत्रात् पत्रभङ्गादेव मकराद्धेतोः सकेतुः केतुमान् मकरध्वज इत्यर्थः। भ्रूभ्यामेव धनुषा जगन्ति जिगीषुः जेतुमिच्छुः अधरेणैव मधुना क्षौद्रेण वसन्तेन च रज्यद्वयस्योऽनुरक्तसखः इहास्यां रतिं प्रीतिं स्वदेवीं चावलम्ब्यास्ति। जगज्जिगीषोः कामस्य सर्वापि साधनसम्पत्तिरस्यामेवास्तीत्यर्थः। अत्र पत्रभङ्गादावारोप्यमाणस्य केत्वादेस्तादात्म्येन प्रकृतजगज्जयोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात् ॥ ६० ॥

(इस दमयन्तीके) कपोलमें बनी हुई पत्र रचना रूप मकरसे पतकासहित तथा (दमयन्तीके) दोनों भ्रूरूप धनुषसे संसार का विजयाभिलाषी कामदेव मधुतुल्य (मधुर दमयन्तीके) अधरोष्ठसे प्रीतियुक्त (पक्षा०-अधरोष्ठरूप मधु अर्थात् वसन्तसे अनुरक्त) होते हुए मित्रवाला कामदेव रति (अनुराग, पक्षा०-अपनी प्रिया) को लेकर इस दमयन्तीके मुखमें स्थित है। [दमयन्तीका मुख कामदेवके जगद्विजय-सम्बन्धी सब सामग्रियोंसे पूर्ण है, यथा—दमयन्तीके कपोलमें चन्दनादिसे बनायी हुई रचनामें मकर कामदेवकी पताका है, दमयन्तीका भ्रूयुगल कामदेवका धनुष है तथा मधुर और रक्तवर्ण अधर ही कामदेवका अनुरक्त वसन्त नामक मित्र है; अत एव इस दमयन्ती-मुखमें ही अनुराग (पक्षा०-रति नामक अपनी स्त्री) को साथ लेकर कामदेव जगतका विजयी हो रहा है अर्थात् कामदेवके लिये जगद्विजयके साधन मकरयुक्त पताका, धनुष, मित्र वसन्त ऋतु और रति-ये सब विजय-साधन एक दमयन्तीके मुखमें उपलब्ध हो रहे हैं।] ॥ ६० ॥

वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ।
कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

वियोगेति। ईदृगपूर्वं विधिशिल्पं ब्रह्मनिर्माणमस्याः कर्णौ वियोगेन हेतुना बाष्पाञ्चितयोरश्रुयुक्तयोः नेत्रपद्मयोः। छद्मेत्यपह्नवभेदः। तेन छद्मनान्विते मिलिते

उत्सर्गपयःप्रसूने दानोदकमिश्रकुसुमे ययोस्तौ रतितत्पतिभ्यां सम्प्रदाने चतुर्थी। निवेद्यावर्पणीयौ पूपावपूपौ किम् । 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्' इत्यमरः। नैवेद्यसमर्पणेन पुष्पाञ्जलिमुत्सृजन्ती साश्रुनेत्रयोगात्तत्कर्णयोस्ताद्दक्पुष्पयुक्तरतिस्मरनैवेद्यापूपत्वोत्प्रेक्षया सापह्नवया कर्णान्तविश्रान्तलोचनत्वं वस्तु व्यज्यते ॥ ६१ ॥

विरहजन्य आँसूसे पूजित (या शोभित) नेत्ररूप पद्मके बहानेसे दिये गये जल तथा पुष्पसहित, दमयन्ती के कान कामदेव तथा रति (रूप देवद्वय) के लिये समर्पण करने अर्थात् चढ़ाने योग्य दो मालपूआ रूप हैं, ऐसा ब्रह्माने बनाया है क्या ?। [किसी देवताको प्रसन्न करनेके लिये मालपूआ नैवेद्यरूपमें चढ़ाया जाता है, उसके साथ पूजनमें जल तथा पुष्पका होना भी आवश्यक है। यहां पर ब्रह्माने इन दोनों कानोंको कामदेव तथा रतिरूप देवद्वयके लिये समर्पण करने योग्य नैवेद्यस्थानीय दो मालपूए बनाये हैं, तथा उसके साथ जलस्थानीय विरहजन्य आँसू तथा पुष्पस्थानीय नेत्रकमल हैं, इस प्रकार कामदेव-दम्पतीको पूजनद्वारा प्रसन्न करनेके लिये सब पूजनद्रव्योंको ब्रह्माने एकत्रित किया है। दमयन्तीके कानोंको देखकर कामवृद्धि होती है] ॥ ६१ ॥

इहाविशद्येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः[1] ।
सोऽस्याः श्रवः पत्रयुगे प्रणाली रेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥ ६२ ॥

इहेति । अतिवक्रः शास्त्राणामोघः समूहस्तस्य निष्यन्दः सारः स एव सुधाप्रवाहो येन पथा वर्त्मना यया प्रणाल्या इहास्यां भैम्यामविशत् प्रविष्टः, अस्याः श्रवसी पत्रे दले इव श्रवःपत्रे तयोर्युगे युग्मे या रेखा सा वक्रप्रणाली सुधाप्रवाहपदवीव । 'द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः। अभिकर्णकूपं धावति कर्णरन्ध्रमभिगच्छति। यथा कुतश्चिन्निःसृतं जलं वक्रगत्या कयाचित्प्रणाल्या कञ्चिन्निम्नदेशं गच्छति तद्वदिति भावः। अत्र कर्णस्य रेखायां सुधाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥६२॥

अत्यन्त टेढ़ा (व्यङ्ग्यादिजन्य क्लिष्टता होनेसे दुर्बोध, पक्षा०-टेढ़ा बहनेवाला) शास्त्रसमूहके सारभूत अमृत (पाठा०-रस) का प्रवाह जिस मार्गसे इस (दमयन्तीके कानों) में प्रवेश किया, वह इस दमयन्तीके कर्णद्वयमें रेखारूपी प्रणाली (उक्त सुधा प्रवाहका नालीरूप मार्ग) कानोंके छिद्ररूप कूपमें अर्थात् कानोंके छिद्रमें जा रही है [जैसे सीधी या टेढ़ी नाली अर्थात् जलमार्ग रहता है, वैसे ही जलादि द्रव पदार्थोंका प्रवाह भी होता है, अथवा जिस २ मार्गसे जलादि द्रव पदार्थ बहते हैं वैसी ही टेढ़ी या सीधी नाली (जलमार्ग) भी बन जाती है, उसी मार्गसे बहता हुआ जल कूएँ आदि निम्न स्थानोंमें प्रविष्ट हो जाता है। दमयन्तीके कानोंमें जो टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं दीख रही हैं, वे रेखाएं नहीं, अपि तु शास्त्रसमूहके सारभूत अमृतप्रवाहके कानके छिद्रोंमें प्रवेश करनेके मार्ग हैं। दमयन्तीके कान टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओंसे युक्त हैं तथा दमयन्ती सब शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाली विदुषी है।] ॥६२॥

---

१. "रसप्रवाहः" इति पाठान्तरम् ।

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दध्रतुरर्धमर्धम् ।
कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव न वा नवाङ्कः ॥ ६३ ॥

अस्या इति । अस्याः श्रुती कर्णौ अष्टादश विद्याः वेदवेदाङ्गादिकानि वेद्यस्थानानि संविभज्य द्विधाकृत्य यदर्धमर्धं दध्रतुः बिभ्रतुः । कर्णस्यान्तर्गर्भे उत्कीर्ण उत्पादितः गभीरो दूरगतो लेखोऽवयवविन्यासः तस्यार्धस्य सङ्ख्यैव मूर्ता नवसङ्ख्यैव न किम् । यद्वा नवानामङ्को नवाङ्को नवसङ्ख्याचिह्नं वा न भवति किम् । भवत्येवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

इस दमयन्तीके दोनों कानोंने अठारह (विद्याओंको) दो भागोंमें बांटकर आधा २ धारण किया अर्थात् नव २ विद्याओंको प्रत्येक कानने ग्रहण किया; कानके भीतर लिखे गये गम्भीर (दृढतम–अमिट) लेखवाला उस (अठारह विद्याओंके आधे भाग) का नव अङ्ककी संख्या (अथवा–आश्चर्यजनक नया चिह्न रूप संख्या) ही नहीं है क्या ? । [चार वेद (ऋक् , साम, यजुः और अथर्व), छः वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द), मीमांसा, न्याय, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वविद्या, अर्थशास्त्र, पुराण और धर्मशास्त्र–ये अठारह विद्याएं हैं । दमयन्तीके दोनों कानोंने उन अठारह विद्याओंको दो भागोंमें बाँट कर नव–नव विद्याओंको प्रत्येक ने ग्रहण किया, वही नव की संख्या ब्रह्माने इसके कानोंके भीतरमें लिख दी है । अन्य भी कोई शिल्पी किसी बातको चिरस्थायी रहनेके लिये शिला आदि पर उसे गम्भीर (अमिट या चिरस्थायी) वर्णोंमें अङ्कित कर देता (लिख देता) है । दमयन्तीके कानोंमें नव नव संख्याके समान रेखा है, जो सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभसूचक लक्षण है ।] ॥ ६३ ॥

मन्येऽमुना कर्णलतामयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेण ।
एकाकिपाशं वरुणं विजिग्येऽनङ्गीकृताऽऽयासतती रतीशः ॥ ६४ ॥

मन्य इति । रतीशो रतिपतिः अमुना कर्णलतामयेन कर्णपाशरूपेण च्छिदुरादितरेण च्छिदुरेतरेणाभङ्गुरेण । "विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" इति कर्मकर्तरि कुरच् । पाशद्वयेन पाशायुधयुग्मेन । 'पाशो बन्धनशस्त्रयोः' इत्यमरः । एकाकी अद्वितीयः पाशो यस्य तमेकाकिपाशम् । वरुणमनङ्गीकृता परिहृता, आयासततिः प्रयासपरम्परा येन सोऽनायासः सन् विजिग्ये जिगाय । मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । "विपराभ्यां जेः" इत्यात्मनेपदम् । अधिकसाधनेनाल्पसाधनः सुजय इति भावः ॥ ६४ ॥

कामदेवने (दमयन्तीके) कर्णलतारूप इन दो दृढ पाशों (पाश नामक शस्त्रों) से एक पाशवाले वरुणको अनायास ही जीत लिया है, ऐसा मैं मानता हूँ । [कामदेवने दमयन्तीके कर्णपाशद्वयको अपना अस्त्र बनाकर एक पाशवाले वरुणको जीत लिया है; अतः 'वरुण कामुक होकर दमयन्तीको पानेकी आशासे उसके स्वयम्बरमें आयेगा, इस भविष्य

कथांशकी सूचना इस पद्यके द्वारा मिलती है । दो शस्त्रोंवाले योद्धाद्वारा एक शस्त्रवाले योद्धा का अनायास पराजित होना स्वाभाविक ही है ।] ॥ ६४ ॥

आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दोर्रुचिरः[1] स्मरोऽपि ।
तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्ये वंशत्वगंशौ चिपिटे[2] किमस्याः ॥ ६५ ॥

आत्मेति । चतुर्भुजस्य चतुर्बाहोः तातस्य स्वजनकस्य विष्णोरात्मा स्वरूपमेव जातः । "आत्मा वै पुत्रनामासि" इति श्रुतेः । स्मरोऽपि चतुर्दोर्भिः चतुर्बाहुभिः रुचिरः तस्य चतुर्बाहोः स्मरस्य चापयोरस्या भ्रुवोः अस्या एव कर्णौ लतेव वंशस्य त्वक्सारस्य त्वगंशौ त्वग्भागमयौ चिपिटे अनते ऋजू इत्यर्थः । "इनच्पिटच्चिकचि च" इति नेः पिटच्-प्रत्यये नेश्चिरादेशः । नासान्तवाचिना तत्त्वमात्रं लक्ष्यते । ज्ये मौर्व्यौ किम् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । अत्र स्मरस्य चतुर्भुजत्वं ततो भैमीभ्रुवोस्तच्चापयुगत्वं तत्कर्णयोरेव ज्यात्वं च उत्प्रेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

चार भुजाओंवाले पिता (श्रीकृष्ण भगवान्) का आत्मारूप उत्पन्न हुआ कामदेव भी चार भुजाओंवाला रुचिकर (पाठा०—उचित ही) हुआ है, (अथवा—कामदेवका चतुर्भुज होना उचित है, (क्योंकि वह) चतुर्भुज पिता (श्रीकृष्ण भगवान्) का स्वरूप ही है । उस चतुर्भुज कामदेवके (दमयन्तीका) भ्रूरूप दो धनुषोंको, (दमयन्तीके) कर्णलतारूपी बांसके त्वक् (ऊपरी) भाग दो प्रत्यञ्चाएं हैं क्या ? । [कामदेवके पिता कृष्ण भगवान् चतुर्भुज हैं, अत एव "आत्मा वै पुत्रनामासि" इस वेदवाक्यके अनुसार कामदेव भी चतुर्भुज उत्पन्न हुआ है, यह ठीक ही है । चतुर्भुज कामदेवके दो धनुष दमयन्तीके दोनों भ्रू हैं तथा उनकी प्रत्यञ्चा (डोरी) दमयन्तीके दोनों कर्णलताएं हैं । विना चढ़ाये हुए धनुषकी प्रत्यञ्चा धनुषके कोणमें रहती है, और दोनों कर्णलताएं भी भ्रूद्वयरूप धनुषके कोणमें हैं ।] ॥६५॥

ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सरूपताभागखिलोर्ध्वका या[3] ॥ ६६ ॥

ग्रीवेति । या ग्रीवा वटुना माणवकेन शोभिता अलंकृता न भवतीत्यवटुशोभिता । तथापि माणवकेन वटुना प्रसाधितेति विरोधः । 'अपिर्विरोधे' । अवटुशोभिता कृकाटिकालंकृता । 'अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः । माणवकेन विंशतिसरेण मुक्ताहारेण प्रसाधितेति विरोधः । 'विंशतिसरो माणवकोऽल्पत्वात्' इति क्षीरस्वामी । 'भवेन्माणवको हारभेदे बाले कुपूरुषे' इत्यभिधेयः । किञ्च, आलिङ्ग्यतामालिङ्गनीयत्वमवलम्बमानाप्याश्रयन्त्यपि सरूपताभाक् सारूप्ययोगी अखिलोऽन्यून ऊर्ध्वक आलिङ्ग्यत्वम् इति भावप्रधानो निर्देशः । यस्या सा । 'अङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकास्त्रयः'

---

१. "—रुचितः" इति पाठान्तरम् ।
२. "चिपिटौ" इति पाठान्तरम् ।
३. "सुरूपता·····काया" इति पाठान्तरम् ।

इत्यमरः। 'हरीतक्याकृतिस्त्वङ्क्यो यवमध्यस्तथोर्ध्वकः। आलिङ्ग्यश्चैव गोपुच्छा मध्यदक्षिणवामगा ॥' इति च। आलिङ्ग्योऽप्यूर्ध्वक इति विरोधः। आलिङ्ग्यतामालिङ्गनीयत्वमूर्ध्वक ऊर्ध्वभाग इत्यविरोधः। सेयं ग्रीवाद्भुतैवोक्तविरोधादुक्तलक्षणयोगित्वाच्चेति भावः। अत्र विरोधाभासयोः संसर्गात् सजातीयसंसृष्टिः ॥ ६६ ॥

यह (दमयन्तीकी) ग्रीवा अर्थात् गर्दन अद्भुत ही है, जो बालकसे शोभित नहीं होनेपर भी माणवक (बालक) से प्रसाधित अर्थात् सुशोभित है, यह विरोध है; इसका परिहार इस प्रकार है कि—जो गर्दन अवटु अर्थात् गर्दनको घाँटी या गर्दनके पिछले भाग से शोभित होनेपर भी माणवक अर्थात् बीस (या सोलह या चालिस) लड़ियोंवाली मोती की मालासे अलङ्कृत है और आलिङ्ग्यता (गोपुच्छाकार मृदङ्ग भाव) को धारण करती हुई समान रूपताको धारण करती है तथा सम्पूर्ण ऊर्ध्वक (यवमध्याकार मृदङ्ग) वाली है (यहाँ भी विरोध है, क्योंकि) जो गोपुच्छाकार अर्थात् गावदुम है, वह समान रूपवाली तथा यवमध्यके समान (मध्यमें स्थूल और दोनों किनारों पर पतली), इस प्रकार तीन आकृतिवाली नहीं हो सकती), इस विरोधका भी परिहार इस प्रकार है कि—जोगर्दन आलिङ्गन योग्यताको धारण करती हुई भी समान रूपवाले अर्थात् सब भागोंमें बराबर ऊपरी भाग ('काया' पाठान्तरमें—ऊपरी शरीर मुख नेत्र नासिका ललाट आदि) वाली है। ('सुरूपता' पाठा०—सौन्दर्ययुक्त सम्पूर्ण ऊपरी भागवाली है। अथवा— '–मानाऽसुरूपता–' पाठमें–अकारका प्रश्लेष करके अत्यन्त प्रिय होनेके कारण प्राणरूपताको धारण करनेवाला सम्पूर्ण ऊपरी भाग (या पाठभेदसे शरीर) वाली है) ॥ ६६ ॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताभिकण्ठे।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ॥ ६७ ॥

कवित्वेति। विधाता अस्या अधिकण्ठं कण्ठे। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। कवित्वं च गानं च प्रियवादश्च सत्यं च तानि चत्वारि न्यधित निहितवान्। सोऽयं विधाता अमीषां कवित्वादीनां चतुर्णां वासाय कण्ठे असङ्कीर्णस्थितये रेखात्रयन्यासमिषात् कम्बुग्रीवा त्रिरेखा सती लक्ष्मसम्पत्तिरिति भावः। सीमा मर्यादा विबभाज मध्यरेखात्रयविन्यासेन चतुर्धा विभक्तवान्, अविवादायेति भावः। अत्र ग्रीवागतभाग्यरेखात्रये सीमाविभागचिह्नत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६७ ॥

ब्रह्माने इस दमयन्तीके कण्ठमें कविता, सङ्गीत, मधुर भाषा और सत्यको रख दिया है, (फिर) उसने इन चारों (कविता आदि) के निवास (अपने-अपने मर्यादित नियमित) स्थानपर रहनेके लिये तीन रेखाओंको रखनेके बहानेसे सीमाओंका विभाजन कर दिया है। [जिस प्रकार एक स्थानपर चार व्यक्तियोंके रहनेपर उनके रहनेके स्थानकी सीमा बना देनेपर वे परस्परमें कभी विवाद नहीं करते और अपने-अपने नियमित स्थानमें रहते हैं, उसी प्रकार दमयन्तीके कण्ठमें कविता आदिको रखकर ब्रह्माने उनके अपने-अपने नियत स्थानपर (पक्षा०—मर्यादापर) रहनेके लिये तीन रेखाओंके बहाने सीमा बना दी है।

तीन रेखा करनेपर स्थानके चार भाग हो जाते हैं। दमयन्ती कविता सङ्गीत आदि की पण्डिता तथा कण्ठमें तीन रेखा होने से कम्बुकण्ठी (शङ्खके समान कण्ठवाली—अतएव शुभ लक्षणयुक्त) है] ॥ ६७ ॥

बाहू प्रियाया जयतां मृणालं द्वन्द्वे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन् ।
उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्तः ॥ ६८ ॥

बाहू इति । प्रियाया बाहू मृणालं जयतां नाम । जयतेर्लोटि तसस्तामादेशः । अस्मिन् द्वन्द्वे युग्मे कलहे च । 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः । जयो नाम विस्मयोऽद्भुतो न, किंतु भग्नस्य जितस्यामुष्य मृणालस्य अन्तर्गर्भे अन्तःकरणे च व्यथनस्याभावो निर्व्यथनमव्यथं छिद्रं च 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्' इत्यमरः । अर्थाभावे अव्ययीभावः । यद्विलोक्यते तदुच्चैर्महच्चित्रं भग्नोऽप्यव्यथ इति विरोधात् । छिद्रं विलोक्यत इत्यविरोधः । मृणालस्यान्तश्छिद्रत्वात् । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६८ ॥

प्रिया (दमयन्ती) के दोनों बाहु कमलनालको जीत लें, इस द्वन्द्व (बाहुओं, पक्षा०—युद्ध) में विजय होना आश्चर्य नहीं है; किन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि भग्न हुए (प्रियाके बाहुद्वयसे पराजित हुए, पक्षा०—तोड़े गये) इस (कमलनाल) का हृदय (पक्षा०—भीतरी भाग) व्यथारहित (पक्षा०—छिद्रयुक्त) देखा जाता है । [दमयन्तीके दो बाहु एक कमलनालको जीत लें, इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि दोसे एकका पराजित होना स्वाभाविक ही है अथवा—दमयन्तीके दो बाहु युद्धमें कमलनालको जीत लें, इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि युद्धमें एक पक्षका पराजित होना स्वाभाविक ही है। किन्तु पराजित व्यक्तिका हृदय व्यथित हो जाता है, पर कमलनालका हृदय व्यथित अर्थात् व्यथायुक्त नहीं दिखलाई पड़ता यह बड़ा आश्चर्य है (यहां विरोधालङ्कार है, उसका परिहार यह है कि तोड़े हुए कमलनालका भीतरी भाग छिद्रयुक्त दिखलायी पड़ता है। दमयन्तीके बाहु कमलनालसे भी सुन्दर हैं] ॥ ६८ ॥

अजीयतावर्तशुभंयुनाभ्यां दोर्भ्यां मृणालं किमु कोमलाभ्याम् ।
निस्सूत्रमास्ते घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाकीर्तिषु तन्निमग्नम् ॥ ६९ ॥

अजीयतेति । आवर्तोऽम्भसां भ्रमः स इव शुभंयुः शुभवति नाभिर्यस्याः सा । तस्या भैम्याः । 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः । "अहंशुभयोर्युस्' इति शुभमिति मकारान्ताव्ययान्मत्वर्थीयो युस्प्रत्ययः । कोमलाभ्यां मृदुभ्यां दोर्भ्यां भुजाभ्यां मृणालमजीयत किमु मार्दवगुणेन जितं किमित्युत्प्रेक्षा । कुतः, घनासु सान्द्रासु पङ्करूपासु मृत्स्वेव मूर्तासु मूर्तिमतीष्वकीर्त्तिषु तन्मृणालं निमग्नं निस्सूत्रं निर्व्यवस्थं निर्मर्यादं नास्ते किं काकुः । अपराजितत्वे कथमकीर्तिपङ्कपात इति भावः ॥ ६९ ॥

आवर्त (पानीका भौंर) के समान शुभलक्षणयुक्त नाभिवाली (दमयन्ती) के कोमल दोनों बाहुओंने कमलनालको जीत लिया है क्या ? (क्योंकि) वह (कमलनाल) सूत्ररहित

(धागेके बिना, पक्षा०—निरवाध या निरुपाय होकर) गाढ़ा कीचड़रूप मिट्टीवाले साकार अपयशमें डूबा या फँसा हुआ नहीं है ? अर्थात् फँसा हुआ है ही। [बहुत कोमल कमलनालके भीतर सूत्र (धागा) नहीं होता है। जैसे पराजित व्यक्ति अपकीर्तिमें फँसा हुआ निरुपाय हो जाता है, उसी प्रकार दमयन्तीके बाहुओंसे पराजित कमलनाल गाढ़े कीचड़रूप साकार अपयशमें फँसा हुआ निरुपाय हो रहा है। कीर्तिका स्वरूप श्वेत तथा अपकीर्तिका काला होता है, अतएव यहां कृष्णवर्ण कीचड़के साकार अपकीर्ति कहा गया है। दमयन्तीके बाहु कोमल मृणाल (कमलनाल) से भी अधिक कोमल हैं] ॥ ६९ ॥

रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैङ्गुलपद्मतूणे।
हैमैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

रज्यदिति। रज्यन्तः स्वभावरक्ताः नखा यस्य तस्य। "कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च"। अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् असौ पुरोवर्तिनी हैमाः सौवर्णाः एके केवला असाधारणा पुङ्खाः कर्तर्याख्या मूलप्रदेशा यस्याः सा। 'कर्तरी पुङ्ख' इति यादवः। विशुद्धपर्वा निर्व्रणग्रन्थिः सरलग्रन्थिरित्यर्थः। स्मरस्य पञ्चशरी शरपञ्चकम्। समाहारे द्विगोर्ङीप्। प्रियाकरे भैमीपाणावेव हिङ्गुलेन रक्तं हैङ्गुलं तस्मिन्नेव पद्मतूणे अस्ति वर्तत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७० ॥

लालनखवाली पांच अङ्गुलियोंके बहानेसे स्वर्णमय पंखवाली विशुद्ध (छिद्रादि दोष रहित, पक्षा०—सीधी) पर्वों (गांठों, पक्षा०—अङ्गुलिके पोरों) वाली कामदेव की यह पञ्चबाणावली (पांच बाण) प्रियाके हाथ (रूप) हिङ्गुलसे रंगे हुए कमलरूप तरकसमें स्थित हैं। [कामदेवाके बाण पुष्पमय हैं, अतः तरकस भी पुष्पमय है, वह पुष्प रक्त कमल है, तरकसको भी हिङ्गुलसे रंगा जाता है, प्रियाका हाथ ही कामबाणोंको रखनेका तरकस है, लालवर्ण नख बाणोंके पंख हैं और पांच अङ्गुलियां कामदेवके पांच बाण हैं। दमयन्तीका हाथ कामोत्पादक तथा हिङ्गुलसे रंगे हुए के समान अत्यन्त रक्त वर्णवाला है] ॥ ७० ॥

अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धिर्बालत्वमापत् खलु पल्लवो यः।
भूयोऽपि नामाधरसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ॥ ७१ ॥

अस्या इति। यः पल्लवः किसलयः अस्याः करेण स्पर्शनं गृध्नातीति तद्गर्धनी ऋद्धिः कान्तिर्यस्य स कृतस्पर्धः सन्नित्यर्थः। "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः। बालत्वं शिशुत्वं प्रत्यग्रत्वं मूर्खत्वं चापत् खलु। 'मूर्खेऽर्भकेऽपि बालः स्यात्' इत्यमरः। अल्पोऽधिकस्पर्धी मूर्खो भवतीति भावः। भूयोऽपि नाम पुनरपि किल मूर्खत्वं प्राप्स्यतीत्यर्थः। अधरसाम्येन गर्वं कुर्वन् अधरसाम्याभिमानं कुर्वन् स पल्लवः प्रवालः प्रवालशब्दवाच्यः बवयोरभेदात् प्रकर्षेण बालश्च कथं वा नास्तु न स्यात् ? स्यादेवेत्यर्थः। अल्पोऽधिकतरस्पर्धी त्वतिमूर्ख इति भावः। अधिकतरश्च करादधरः रतिसर्वस्वत्वात्। तथा चाधरसाम्यं तावदास्ताम्। पल्लवस्य करसाम्यपि दूरापास्तमित्यर्थः। ततश्च प्रवालशब्दस्य पल्लवप्रवृत्तिनिमित्तमप्येतदेवेति भावः ॥ ७१ ॥

इस दमयन्तीके हाथको छूने (समानता करने) के महालोभी पल्लवने निश्चय ही बालत्व (बचपन अर्थात् नवीनता) को प्राप्त किया (क्यों कि लाल वर्ण होनेसे नवीन पल्लव ही हाथकी समानता कर सकता है । अथवा—बालत्व अर्थात् मूर्खताको प्राप्त किया (मूर्ख बन गया), क्योंकि जो पल्लव (पद् + लव=पल्लव) अर्थात् दमयन्तीके पैरके लेश (क्षुद्रतम भाग) के बराबर है, वह (दमयन्तीके पैरके क्षुद्रतम भागके समान वस्तु) उसके हाथकी समानता करके मूर्ख ही कहलायेगी । और फिर (दमयन्तीके) अधर की समानता का अभिमान करने वाला वह पल्लव प्रवाल (अत्यधिक नवीन अर्थात् अतिशय लाल वर्णवाला) होनेके लिये अत्यन्त नया क्यों नहीं होगा । (क्योंकि अतिशय नवीनत्व (नया होकर) बहुत लालिमा प्राप्त किये बिना वह अधर की समानता नहीं कर सकता है) अथवा—दमयन्तीके अधरकी समानता का अभिमानी वह पल्लव प्रवाल (प्र + बाल = प्रबाल) अर्थात् अधिक मूर्ख क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । [जो पल्लव (दमयन्तीके पैरके क्षुद्रतम भागके समान होनेसे) पहले हाथकी समानता करके मूर्ख बन चुका है, वही पल्लव फिर हाथसे भी श्रेष्ठ अधरकी समानता करने का अभिमान (इच्छा मात्र ही नहीं, किन्तु अभिमान भी) करे वह महामूर्ख क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । लोकमें भी हीनतम व्यक्ति मध्यम व्यक्ति की समानता करने की इच्छा करने पर मूर्ख तथा अत्युत्तम व्यक्तिकी समान होने का अभिमान करनेपर महामूर्ख समझा जाता है । दमयन्तीके हाथ ही पल्लवसे अधिक सुन्दर तथा रक्त वर्ण हैं तो फिर अधर का क्या कहना है ? अर्थात् वह तो पल्लवसे अधिक सुन्दर एवं रक्त वर्ण है ही] ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः ।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥ ७२ ॥

अस्येति । अस्य भवत्करस्य भवत्याः पाणेः सर्गायैव सरोजसृष्टिः मम हस्तलेखो रेखाभ्यास इति विधाता अस्यां हरिणेक्षणायां भैम्यां हस्तलेखीकृतया अभ्यासीकृतया हस्तकृतपद्मरेखीकृतया च तया सरोजसृष्ट्या करणेनाह किम् ? भैम्यै कथयति किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ७२ ॥

"इस तुम्हारे हाथके बनानेके लिये ही कमलकी रचना मेरा हस्तलेख अर्थात् प्रथम रेखाभ्यास है" इस प्रकार ब्रह्मा मृगनयनी इस दमयन्तीमें हाथमें रेखा की गयी (या हाथमें लिखी गयी) उस कमल-रचना द्वारा कहते हैं क्या ? । [दमयन्तीके हाथमें कमलाकार रेखा (चिह्न) है, अतः मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा इस दमयन्तीके हाथमें कमलरेखा बनाकर 'हमने तुम्हारे हाथकी रचना करनेके लिये ही अभ्यासार्थ रेखारूपसे हाथमें अङ्कित कमलकी सृष्टि की है' यह कह रहे हैं । दूसरा कोई भी शिल्पी उत्तम वस्तु बनानेके पहले रेखा आदि बनाकर अभ्यास कर लेता है । दमयन्तीके हाथ कमलसे भी सुन्दर तथा कमल रेखाङ्कित होनेसे शुभ लक्षण सम्पन्न हैं] ॥ ७२ ॥

किं नर्मदाया मम सेयमस्या दृश्याऽभितो बाहुलता मृणाली ।
कुचौ किमुत्तस्थतुरन्तरीये स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः ॥ ७३ ॥

किमिति । स्मरोष्मणा स्मरसन्तापेन शुष्यत्तरमतिशुष्यत् । बाल्यमेव वाः वारि यस्यास्तस्या भैम्या एव नर्मदायाः क्रीडाप्रदायाः रेवायाश्च सम्बन्धिनी । 'रेवा तु नर्मदा' इत्यमरः । अभित उभयतो दृश्या सेयं बाहुलता मृणाली बिसलता किम् ? अत्र नर्मदाया विधेयप्राधान्यात् मृणाल्याः साक्षात् सम्बन्धात् "अभितः परितः" इत्यादिना द्वितीया नास्ति । कुचावेवान्तरीये अपामन्तस्तटे 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः । "सुप्सुपा" इति समासः । "ऋक्-पूः" इत्यादिना समासान्तोऽकारः । "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" उत्तस्थतुरुत्थितौ किम् ? ऊर्ध्वकर्मत्वात् परस्मैपदं रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

कामजन्य सन्ताप (पक्षा०—कामरूपी सन्ताप अर्थात् धूप) से अधिक सूख रहा है, शैशवरूप जल जिसका ऐसी तथा मुझे आनन्द देनेवाली इस दमयन्तीके (पक्षा०—इस नर्मदा नामक नदीके) दोनों ओर दिखलायी पड़ती हुई (अथवा—दर्शनीय अर्थात् सुन्दर बाहुलता बिसलता है क्या ? और दोनों स्तन जलके भीतर ऊपर उठे हुए दो द्वीप अर्थात् टापू हैं क्या ? कुछ टीकाकारोंने "स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः" विशेषण पदको केवल उत्तरार्द्धके साथ ही अन्वय किया है) । [जिस नर्मदा नदीमें दोनों ओर सुन्दर बिसलता दृष्टिगोचर होती है तथा धूपसे पानी के सूखनेसे दोनों ओर ऊपर उठे टापू दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार कामके द्वारा दमयन्तीका बचपन दूर होता जा रहा है और स्तन बढ़ गये हैं, बाहुलता बिसलताके समान मालूम पड़ रही हैं] ॥ ७३ ॥

तालं प्रभुस्यादनुकर्तुमेतावुत्थानसुस्थौ पतितं न तावत् ।
परं च नाश्रित्य तरुं महान्तं कुचौ कृशाङ्ग्याः स्वत एव तुङ्गौ ॥ ७४ ॥

तालमिति । तावत् पतितं च्युतं तालफलं कर्तृ उत्थानेन ऊर्ध्वावस्थानेन सुस्थौ सुप्रतिष्ठौ अपतितावित्यर्थः । एतौ कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु समर्थं न स्यात्, पतिताऽपतितयोः कुतः साम्यमिति भावः । परं पतितं च महान्तमतितुङ्गं तरुमाश्रित्य, तुङ्गं सदिति शेषः । स्वत एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्याः कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु कुतः स्वाभाविकौ यदित्यर्थः । अस्वाभाविकस्वाभाविकौन्नत्ययोः कथं साम्यमिति भावः ॥ ७४ ॥

(पेड़से गिरा हुआ) तालफल सर्वदा ऊपर हुए अर्थात् उन्नत दमयन्तीके दोनों स्तनोंकी समता (बराबरी) करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् समानता नहीं कर सकता, और दूसरा (बिना गिरा हुआ) तालफल बड़े पेड़का आश्रयकर स्वत एव बिना किसीको आश्रय किये अपने आप ऊँचे इसके दोनों स्तनोंकी समता करनेमें समर्थ नहीं है । [जो गिरा हुआ है वह उन्नतकी और जो दूसरे के आश्रयसे ऊँचा बना हुआ है वह स्वभावतः एव ऊँचा रहने

वालेकी समता नहीं कर सकता है; क्योंकि उनमें परस्परमें बहुत अन्तर है। दमयन्तीके दोनों स्तन तालफलके समान बड़े हैं तथा ऊपर को उठे हुए अर्थात् उन्नत हैं]॥ ७४॥

एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् ।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥७५॥

एतदिति॥ एतत्कुचस्पर्धितया ख्यातस्य लोके प्रसिद्धस्य घटस्य कुम्भस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वं तत्र तत्र दृष्टान्तत्वमजनि। किञ्च मणिकादिकारी अलिञ्जरादि-महाभाण्डनिर्माता कुलालः 'अलिञ्जरः स्यान्मणिकः' इत्यमरः। तस्मादेव शिल्पात् घटनिर्माणात् कुम्भकार इत्येव प्रसिद्धनामाजनि महत्संसर्ग इव तत्सङ्घर्षोऽपि ख्यातिकर इति भावः॥ ७५॥

इस दमयन्तीके स्तनोंका स्पर्द्धी होनेसे प्रसिद्ध घड़ा शास्त्रोंमें दृष्टान्त बन गया (यथा— "जो कृत्रिम है वह अनित्य है, जैसे-घड़ा" इस प्रकार अन्य वस्तुओंको छोड़कर केवल घड़ेका ही दृष्टान्त दिया जाता है (प्रसिद्धके साथ स्पर्द्धा करनेवाला अप्रसिद्ध भी प्रसिद्ध हो जाता है)। और कुण्डा, कमोरा आदि बनाने वाला कुलाल दमयन्ती कुचद्वयस्पर्द्धी उसी कारीगरी अर्थात् घड़ा बनानेसे ही 'कुम्भकार' अर्थात् कुम्हार नामसे प्रसिद्ध हो गया। [यद्यपि कुलाल अर्थात् कुम्हार कुण्डा भांड़ आदि बड़े, बड़े एवं कसोरा, पुरवा, दिआ, दिअरी आदि छोटे-छोटे भी वर्तनोंको बनाता है, किन्तु दमयन्तीके स्तनद्वयकी स्पर्द्धा करनेवाले घड़ेको बनाने के कारण ही उसका 'कुम्भकार' नाम पड़ा है]॥ ७५॥

गुच्छालयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥ ७६॥

गुच्छेति[1]। माणिक्यमयस्य हारस्य रोहितश्रीः लोहिता कान्तिः विदर्भसुभ्रूपयो-धरे भैमीकुचे रोहन्ति प्रादुर्भवन्ति। किम्भूते—गुच्छो हारविशेष आलय आश्रयो येषां तानि स्वच्छतमानि निर्मलतरा (मा) णि उदबिन्दुवृन्दवज्जलबिन्दुसमूह-वदाभा येषां तानि मुक्ताफलानि तैः फेनिलः फेनयुक्त इव उज्ज्वलतरोऽङ्को मध्यो यस्य। मुक्ताहारमाणिक्यहाराभ्यां भैमीकुचौ शोभेते इति भावः। अथ च पयोधरे मेघे रोहितश्रीः ऋजुशक्रधनुःशोभा प्रादुर्भवतीत्युक्तिः। 'हारभेदा यष्टिभेदाद्गुच्छ-गुच्छार्द्धगोस्तनाः, 'इन्द्रायुधं शक्रधनुस्तदेव ऋजुरोहितम्' 'रोहिते लोहितो रक्तः' इत्यमरः। फेनिलः, मत्वर्थे 'फेनादिलच्च' इतीलच्॥ ७६॥

'गुच्छ' नामक हारके अत्यन्त निर्मल जलबिन्दु समूहके समान मोतियोंसे मानो फेन युक्त, सुन्दर भ्रूवाली विदर्भराजकुमारी दमयन्तीके स्तनपर (पक्षा०—मेघमें) माणिक्योंके

---

१. 'जीवातु' व्याख्याऽनुपलब्धेरत्र 'नारायण' भट्टकृता 'प्रकाश' व्याख्यैव मयोपयुक्ततया प्रकाशितेत्यवधेयं पाठकैरिति।

हारकी लाल कान्ति (पक्षा०-सीधे० इन्द्रधनुष की शोभा) प्रकटित हो रही है। [दमयन्तीके स्वच्छतम मोतियोंके हार की श्वेत कान्ति तथा माणिक्य मणियोंके हारकी लाल कान्ति स्तनोंपर पड़ती है, वह श्वेतफेनयुक्त मेघमें सरल इन्द्रधनुषकी लालकान्ति-जैसी मालूम पड़ती है। ३२ या किसीके मतसे ७० लड़ियोंकी मुक्तामालाको 'गुच्छ' कहते हैं]॥ ७६॥

निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजोऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुबिम्बः।
चित्रं तथापि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम्॥ ७७॥

निःशङ्केति। निःशङ्कं यथा तथा सङ्कोचितानि मुकुलितानि पङ्कजानि येन सोऽयं मुखमेवेन्दुबिम्बोऽस्यां भैम्यामुदीत उदितस्तथापीन्दूदयेऽपि स्तनावेव कोकौ चक्रवाकौ। 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' इत्यमरः। तयोर्युग्मं स्तोकमल्पमपि विप्रयोगं नाञ्चति न गच्छति चित्रं मुखेन्दूदयेऽपि कुचकोकयोरवियोग इति रूपकोत्थापितो विरोधाभास इति सङ्करः॥ ७७॥

निःशङ्क होकर पद्मको संकुचित करनेवाला यह मुखरूप चन्द्रबिम्ब (या चन्द्रबिम्ब रूप मुख) इस दमयन्तीमें उदित हुआ है, तथापि स्तनरूप चक्रवाकमिथुन अर्थात् चकवा-चकई नामक पक्षी जोड़े भी विरह को नहीं प्राप्त कर रहे हैं अर्थात् दोनों स्तन सटे हुए हैं, यह आश्चर्य है। दमयन्तीका मुख साक्षात् चन्द्रमा है अत एव उसने [दिनमें कमलबन्धु सूर्यके रहनेसे चन्द्रमा सूर्यके भयसे कमलको सङ्कुचित नहीं कर पाता; किन्तु दमयन्तीके मुखचन्द्र को तो सूर्यसे कोई भय है ही नहीं, अतः यह (दमयन्ती मुखचन्द्र) निश्शङ्क होकर स्तन रूप कमलको सङ्कुचित करता है, अत एव दमयन्तीका स्तनद्वय कमलके कोरकके आकार वाला है। चन्द्रमाके उदय एवं कमलके संकुचित होनेपर रात्रि हो जाती है और उस समय चकवा-चकईका परस्परमें विरह रहता है—वे एक साथ नहीं रहते, किन्तु यहां चन्द्रके द्वारा कमलके सङ्कुचित होनेपर भी स्तनद्वयरूप चकवा-चकईकी जोड़ी परस्परमें थोड़ा भी या थोड़े समयके लिये भी अलग नहीं है (दोनों स्तन बड़े बड़े होनेके कारण परस्परमें मिले हुए हैं), यह आश्चर्य है। अथवा—सूर्यसे डरा हुआ प्राकृत चन्द्रमा केवल रातमें ही कमलोंको सङ्कुचित करता है, दिनमें नहीं, अतएव रात्रिका समय होनेसे चकवा-चकईका परस्परमें वियोग होना (अलग हो जाना) ठीक है; इस दमयन्तीका मुखचन्द्रमाने तो सूर्यसे निश्शङ्क होकर दिनमें भी कमलका सङ्कोच कर दिया है, अतएव रात न होनेसे चकवा-चकईरूप (स्तनद्वय) का थोड़ा भी वियोग नहीं है। (दोनों स्तन थोड़ा भी अलग-अलग नहीं हैं), किन्तु विशाल होनेके कारण परस्परमें मिले हुए हैं, यह आश्चर्य है? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है, इस प्रकार काकुद्वारा द्वितीयार्थकी सङ्गति होती है। दमयन्तीके स्तन कमलाकार एवं चक्रवाकाकार तथा बड़े-बड़े होनेसे परस्परमें मिले हुए हैं]॥ ७७॥

आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीरादीयतेऽसावनयोः क ताभ्याम्।
भयेन गोपायितमौक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत्॥ ७८॥

आभ्यामिति । आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीः शोभा सम्पच्च, आदीयते गृह्यते ताभ्यामिभकुम्भाभ्यामनयोः कुचयोः असौ श्रीः क्वादीयते ? न क्वापि इत्यर्थः । यत् यस्मात् तौ इभकुम्भौ भयेन कुचभीत्या गोपायितमौक्तिकौ अन्तर्गुप्तमुक्ताफलौ । गोपायतेः कर्मणि क्तः । इमौ कुचकुम्भौ प्रव्यक्तं प्रकाशितं मुक्ताभरणं याभ्यां तौ । यथा राज्ञा हृतधनो भयाद्धनशेषं गोपायति राजा तु प्रकाशयति तद्वदित्यर्थः । इभकुम्भश्रिय आदानादखण्डितस्वश्रीकत्वाच्च ताभ्यामप्यधिकौ कुचकुम्भाविति भावः ॥

ये (दमयन्तीके) दोनों स्तन हाथीके (मस्तकस्थ) कुम्भकी शोभा (पक्षा०—सम्पत्ति अर्थात् धन) ले लेते हैं और वे (हाथीके कुम्भ) इन (दोनों स्तनों) की शोभा (पक्षा०—सम्पत्ति) को कहां लेते हैं ? अर्थात् नहीं लेते ; क्योंकि उन हाथीके दोनों कुम्भोंने भयसे (राजरूप दमयन्तीके स्तन पुनः मेरी गज-मुक्तारूप सम्पत्तिको न छीन लें इस भयसे) अपने गजमुक्ताको भीतर छिपा रखा है तथा ये दमयन्तीके दोनों स्तन स्पष्ट दृश्यमान मुक्ता-भूषणवाले हैं अर्थात् अपने मुक्ताओंको बाहर दिखला रहे हैं । (राजा या बलवान् व्यक्ति प्रजाके धनको बलात्कारसे छीन लेते हैं और उन्हें बाहर सबके सामने दिखलाते हैं, छिपाते नहीं ; तथा दुर्बल प्रजा या दुर्बल व्यक्ति उस प्रकार धनके छीने जानेपर बचे हुए अपने धनको छिपाकर रखता है, क्योंकि उसे भय रहता है कि बचे हुए मेरे इस धनको भी वे फिर न छीन लें । उसी प्रकार नृपरूप दमयन्तीके स्तनद्वय प्रजारूप हाथीके कुम्भद्वयकी शोभा या धनको छीनकर गजमुक्ताभरणको बाहर धारण किये हुए हैं (पक्षा०—गजकुम्भद्वयसे ये स्तनद्वय अधिक शोभावाले हैं) और हाथीके कुम्भद्वयने शेष बचे हुए गजमुक्ताको भीतर छिपा रखा है ॥ दमयन्तीके स्तनद्वय हाथीके कुम्भद्वयसे अधिक सुन्दर हैं] ॥ ७८ ॥

करात्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत् ।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७९ ॥

कराग्रेति । कराग्रे हस्तस्याग्रे जाग्रत् प्रकाशमानः शतकोटिः वज्रं तत्सङ्ख्यं धनं च यस्य स महेन्द्रो ययोः कुचयोः कर्मणोरर्थी ताविमौ महेन्द्राभ्यर्थितौ कुचौ कर्म वटीं क्षुद्रकपर्दिकामपि 'वटः कपर्दे न्यग्रोधः' इति विश्वः । अपचयविवक्षायां स्त्रीलिङ्गप्रयोगः । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमराभिधानात् । लब्धुं न जातं न शक्तं निःस्वमित्यर्थः । सर्वं श्रीफलं बिल्वफलं कर्तृ । 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि' इत्यमरः । तुलयेदात्मनोपचिनुयाच्चेत् तदा उन्मदिष्णु उन्मादि स्यादित्यर्थः । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच् । उपमातीते वस्तुनि उपमात्वाभिमानः । तथा धनिकैकलभ्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद एवेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

जिसकी मुट्ठीमें वज्र (पक्षा०—सौ करोड़=एक अरब धन) प्रकाशित हो रहा है अर्थात् वर्तमान है, वह इन्द्र (पक्षा०—अरबपति महाधनिक) जिन (दोनों स्तनों) का

याचक है अर्थात् कामुक होनेसे स्वर्गोप्सराओंको छोड़कर मर्दन करना चाहता है (पक्षा०—महाधनिक होकर भी जिनसे याचना करता अर्थात् भिक्षा मांगता है), उनकी समता फूटी कौड़ीको भी नहीं पानेवाला सम्पूर्ण श्रीफल (बेल) करे तो वह पागल है। अथवा—जिसकी मुट्ठीमें······याचना है, उनकी समता यदि उन्मादित करनेवाला अर्थात् पका हुआ सम्पूर्ण श्रीफल भी करे तो वह (श्रीफल) फूटी कौड़ी (लक्षणासे स्तनशोभाका लेशमात्र) भी नहीं पावे। [दो स्तनोंकी समता पके हुए सम्पूर्ण (बहुत-से) बिल्वफल भी नहीं कर सकते तो फिर एक बिल्वफल कैसे कर सकता है? अथवा—जिन स्तनोंको स्वर्गकी अप्सराओंको त्यागकर वज्रधारी इन्द्र या महाधनिक कोई अरबपति चाहता है, उसे एक निर्धन व्यक्ति चाहे तो अवश्य ही वह पागल समझा जायेगा। पके हुए बिल्वफलसे भी सुन्दर सरस तथा उन्मादक दमयन्तीके दोनों स्तन हैं] ॥ ७९ ॥

स्तना[1]तटे चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम् ।
हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति स्खलनस्य रेखाः ॥ ८० ॥

स्तनेति। चन्दनेन पङ्किले पङ्कवति। "पिच्छादित्वादिलच्"। अस्याः स्तनयोः अतटे प्रपाते। 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः। जातस्य यावन्ति युवमानसानि तेषां सर्वेषां सम्बन्धिनः साकल्यार्थस्य यावच्छब्दस्य विशेषणसमासः। स्खलनस्य रेखा गमनमार्गा हारावलीरत्नानां मयूखधारा रश्मिपङ्क्तयः एवाकारा यासां ताः सत्यः स्फुरन्ति रत्नमयूखधारासु युवमानसस्खलनरेखाङ्कत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८० ॥

चन्दनसे पङ्किल (कीचड़युक्त) इस दमयन्तीके स्तनरूप अतट (प्रपात—झरनेके पानी गिरनेका बीहड़ मार्ग) में सम्पूर्ण तरुणोंके मनके स्खलित होनेकी रेखाएं अर्थात् चिह्न (दमयन्तीके) हारोंके रत्नोंकी किरणोंकी धारारूपमें स्फुरित हो रही हैं। [दमयन्तीके स्तन मानो एक पर्वत है, यह निरन्तर सौन्दर्यजलके बहते रहनेसे चन्दनलेपरूपी कीचड़से युक्त होकर पिच्छिल (फिसलने योग्य स्थान) हो रहा है, अतः वहां उसे देखकर सभी तरुण पुरुषोंका चित्त आकृष्ट होता है (उसे मर्दनादिद्वारा भोग करना चाहता है) किन्तु वहांसे स्खलित हो जाता है (ठहरता नहीं, बिछला (रपट) कर गिर पड़ता है), उसीके स्खलित होनेके चिह्नरूप ये हारके रत्नोंकी किरण धाराएं हैं। अन्यत्र भी ऊंचे स्थानसे कोई गिरता है तो उसके गिरनेके चिह्न पड़ जाते हैं। पाठभेदसे—चन्दनसे पङ्किल······स्तनरूपी गढेमें········। शेष अर्थ पूर्ववत् है। दमयन्तीके स्तनोंको देखकर सभी तरुण पुरुष उसे पाना चाहते हैं, किन्तु किसीको वहां स्थान नहीं मिलता है] ॥ ८० ॥

क्षीणेन मध्येऽपि सतोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रमणं वलिभ्यः ।
सर्वाङ्गशुद्धौ तद[2]नङ्गराज्ये विजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

---

१. "स्तनावटे" इति पाठान्तरम् ।
२. "तदनङ्गराज्यविजृम्भितम्" इति पाठान्तरम् ।

क्षीणेनेति । इहास्यां भीमभुवि भैम्यां भयङ्करस्थाने च क्षीणेन कृशेन दुर्बलेन च मध्ये अवलग्ने प्रबलशत्रुमध्ये च सता वसतापि उदरेण त्रिबल्यधोभागेन अत एव वलिभ्यः त्रिवलिभ्यः । बवयोरभेदात् बलिभ्यो बलवद्भ्यश्च सकाशात् आक्रमणमभिव्याप्तिरभिभवश्च न प्राप्यते इति यत् तदनाक्रमणं चित्रं, वलिसमीपे दुर्बलस्यानाक्रमणं चित्रमित्यर्थः । किञ्च सर्वेषामङ्गानां करचरणादीनां स्वाम्यमात्यादीनां च शुद्धौ सत्यामनङ्गस्य अङ्गहीनस्य कामस्य च राज्ये विजृम्भितं तदिदमन्यच्चित्रमित्यर्थः । अत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायाद्विरोधाभासः ॥ ८१ ॥

इस भीमकुमारी दमयन्तीमें (पक्षा०—भयङ्कर भूमिमें) क्षीण अर्थात् अत्यन्त कृश (पक्षा०—दुर्बल) और बीचमें स्थित (पक्षा०—कटि=कमरमें स्थित) उदर अर्थात् त्रिवलिका अधोभागस्थ पेट जो त्रिवलियोंसे (पक्षा०—तीन बलवान् पुरुषोंसे) आक्रान्त अर्थात् पीडित नहीं होता है; यह आश्चर्य है । सम्पूर्ण हाथ–पैर आदि अङ्गोंके (पक्षा०—अमात्य, मित्र आदि सात राज्याङ्गों के) शुद्ध अर्थात् निर्दोष रहने पर अनङ्ग (अङ्गहीन, पक्षा०—कामदेव) के राज्यमें अर्थात् युवावस्थामें विलसित हो रहा है यह दूसरा आश्चर्य है । [भयङ्कर भूमिमें दुर्बलके निवास करते रहनेपर भी उसपर तीन बलवानों का आक्रमण नहीं करना आश्चर्य है। अथवा—जो सर्वाङ्ग शुद्ध है वह अनङ्ग (अङ्ग रहित) राज्य है यह आश्चर्य है; यहां विरोध है, उसका परिहार 'काम देवका राज्य है' अर्थ द्वारा करना चाहिये । अथवा—जो राजा भीम की भूमि है अर्थात् राजा भीमके निषध राज्यमें 'अनङ्ग' (अनङ्गदेशसे भिन्न) राज्य है यह आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है । अथवा—जो भीम अर्थात् शिवजीकी भूमि है अर्थात् जहां शिवजी का राज्य है वहां कामदेवका राज्य है, यह आश्चर्य है । अथवा—भयङ्कर अर्थात् जङ्गल और पर्वत आदिसे बीहड़ भूमिमें रहनेवाले दुर्बलपर बलवान् का आक्रमण नहीं करना आश्चर्य है अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वैसे बीहड़ स्थानमें रहनेवाला व्यक्ति वहांके सभी स्थानोंसे परिचित एवं भागने, दौड़ने में अभ्यस्त हो जाता है, अत एव वहां पर बलवान् भी बाहरी व्यक्ति आक्रमणकर सफल नहीं होता । अभी दमयन्तीकी नयी तरुणावस्था होनेसे त्रिवलियोंमें सूक्ष्म रेखामात्र हैं, वे पेटपर लटक नहीं गयी हैं । हाथ पैर आदि सम्पूर्ण अङ्ग सुडौल एवं हृष्ट–पुष्ट हैं और उनमें कामदेव का साम्राज्य हो रहा है] ॥

मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमंशम् ।
केन स्तनौ संप्रति यौवनेऽस्याः सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्तेः ॥ ८२ ॥

मध्यमिति । वेधा इदमीयमेतदीयं मध्यमवलग्नं तनुकृत्य निर्माणकाले ह्रासयित्वा कमनीयमंशमुद्धृतं भागं न दध्यात् यदि क्वचिन्न स्थापयेद्यदि, संप्रति यौवने अनन्यप्रतिमाऽनन्योपमाङ्गदीप्तिर्यस्यास्तस्याः भैम्याः स्तनौ केन सृजेत् ? नूनमुदरोद्धृतसारेण अस्याः स्तनौ निर्मितवानित्युत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

यदि ब्रह्मा इस दमयन्तीकी कटिको पतली करके सुन्दर भागको (कहीं पर सुरक्षित)

नहीं रखते तो इस समय अर्थात् युवावस्थामें अनुपम अङ्गकान्तिवाली इस दमयन्तीके दोनों स्तनोंको किस (सुन्दर सामग्री) से बनाते। (अथवा—ब्रह्मा कटिको पतली करके इस (कटि) के सुन्दर भागको········) । [जिस प्रकार कोई शिल्पी किसी वस्तुको बनाते समय भविष्यमें बननेवाली वस्तु के लिये उसकी कुछ सुन्दर सामग्रियोंको सुरक्षित रखकर बादमें उन्हीं सुरक्षित सामग्रियोंसे दूसरी वस्तुको भी वैसी ही सुन्दर बनाता है, उसी प्रकार ब्रह्माने भी कटिको बनाते समय बचायी हुई सुन्दर सामग्रीसे इसके स्तनोंको बनाया है। यदि वह सम्पूर्ण सामग्रीको कटि भागके बनाने में ही व्यय कर देते तो पुनः दमयन्तीकी युवावस्था आनेपर अनुपम कान्तिवाली दमयन्तीके स्तनोंको बनानेके लिये संसारमें सुन्दर सामग्री नहीं मिलनेसे उन्हें ऐसा सुन्दर नहीं बना सकते। दमयन्तीको कटि पतली एवं सुन्दर है तथा स्तन भी वैसे ही सुन्दर हैं] ॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित् कर्त्रीयमप्यर्धतनूसमस्याम् ।
इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥ ८३ ॥

गौरीति। सुभगा भर्तृवल्लभा इयं दमयन्ती कदाचित् गौरीव पत्या भर्त्रा सह अर्धतनूसमस्याम्, अर्धाङ्गसङ्घट्टनां कर्त्री करिष्यतीति मत्वेति शेषः। विधाता अस्या मध्ये अर्धाङ्गमध्ये रोमावलीमेव मेचकसूत्रसीमानिर्णयार्थं नीलसूत्रं निदध इव निहितवान् किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

सौभाग्यवती या सुन्दरी यह दमयन्ती पार्वतीके समान किसी समय (विवाह होनेपर) पतिके साथ आधे शरीरको सङ्घटित करेगी, मानो इसी वास्ते ब्रह्माने इस दमयन्तीके (शरीर के) बीचमें रोमावलीरूप नील एवं चमकदार सूत्र (के चिह्न) को रख दिया है। [जैसे कोई शिल्पी काष्ठ आदिको बीचमें काले सूत्रसे चिह्नितकर विभाग कर देता है, वैसे ही ब्रह्माने दमयन्तीके शरीरके मध्यमें रोमावलि रूप काले सूतका चिह्न कर दिया है कि विवाह होनेपर यह दमयन्ती भी पार्वतीके समान पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बनेगी] ॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोजकुम्भौ गम्भीरमासाद्य च नाभिकूपम् ।
मद्दृष्टितृष्णा विरमेद्यदि स्यान्नैषां बतैषा सिचयेन गुप्तिः ॥ ८४ ॥

रोमावलीति। मद्दृष्टेस्तृष्णा पिपासाऽपि रोमावलीमेव रज्जुं सरोजावेव कुम्भौ तथा गम्भीरं नाभिमेव कूपञ्चासाद्य लब्ध्वा तदा विरमेत् शाम्येत्। अमीभिरुपायैः लावण्यामृतमुद्धृत्य सुष्ठु पीत्वेत्यर्थः। एषां साधनानामेषा सिचयेन वस्त्रेण 'वस्त्रन्तु सिचयः पटः' इति हलायुधः। गुप्तिश्छादनं न स्याद्यदि। बतेति खेदे। रूपकालङ्कारः ॥ ८४ ॥

मेरी दर्शनपिपासा (दमयन्तीके) रोमावलीरूपी रस्सीको, स्तनरूपी घड़ोंको तथा नाभि रूपी गम्भीर कूपको प्राप्तकर विरत, अर्थात् पूर्ण हो जाती, यदि ये रोमावली आदि कपड़ेसे (पक्षा०—खड्गधारी पहरेदार पुरुषोंसे) गुप्त (ढके हुए, पक्षा०—सुरक्षित) नहीं होते। [जिस

प्रकार रस्सी, घड़ा और गम्भीर कुएको पाकर भी खड्गधारी पुरुषोंसे राजकीय कूएके सुरक्षित रहनेसे मनुष्यकी प्यास शान्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार इन रोमावली आदिके कपड़ेसे ढके रहनेके कारण मेरी दर्शनेच्छा पूरी नहीं होती। अथवा—रोमावली आदि यदि कपड़ेसे ढके नहीं रहते तो उन्हें देखकर (नग्न परस्त्रीको देखनेका शास्त्रोंमें निषेध होने से) विराग हो जाता, अतः इनका कपड़ेसे ढका रहना ही अच्छा है। दमयन्तीकी रोमावली रस्सीके समान लम्बी, स्तन घड़ेके समान बड़े तथा नाभि कूएके समान गहरी हैं और कामुक पुरुषकी कामतृष्णाको दूर करनेवाले हैं]॥ ८४॥

उन्मूलितालानबिलाभनाभिश्छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा ।
मत्तस्य सेयं मदनद्विपस्य प्रस्वापवप्रोच्चकुचास्तु वास्तु ॥ ८५ ॥

उन्मूलितेति । उन्मूलितमुत्पाटितमालानं स्तम्भो यस्मात् बिलात् तद्बिलं तदाभा तन्निभा नाभिर्यस्याः सा। छिन्नं त्रुटितं स्खलच्छृङ्खलमिव रोमदाम रोमावलिर्यस्याः सा। प्रस्वापस्य वप्रौ निद्रार्हौ मृत्कूटाविव उच्चौ कुचौ यस्याः सा इयं दमयन्ती मत्तस्य मदनद्विपस्य वास्तु वसतिरस्तु स्यात्। औपम्यगर्भविशेषणं रूपकम् ॥ ८५ ॥

(मदमत्त हाथीसे) उखाड़े गये बांधनेके खूंटेके बिलके समान (गहरी) नाभिवाली, टूटकर पड़ी हुई लोहेकी शृङ्खला (हाथी बांधनेका सीकड़) के समान रोमावलीवाली और (उस मत्त गजके) सोनेके लिये मिट्टीकी ढेरके बनाये चौतरेके समान ऊंचे स्तनोंवाली यह दमयन्ती मतवाले कामदेवरूप हाथीका घर है। [दमयन्तीकी नाभि बहुत गम्भीर, रोमावली लोहेकी शृङ्खलाके समान लम्बी और ऊंचे २ स्तन साक्षात् कामदेवके स्थिर निवास स्थान हैं]॥ ८५॥

रोमावलिभ्रूकुसुमैः स्वमौर्वीचापेषुभिर्मध्यललाटमूर्ध्नि ।
व्यस्तैरपि स्थास्नुभिरेतदीयैर्जैत्रः स चित्रं रतिजानिवीरः[1] ॥ ८६ ॥

रोमावलीति । रतिर्जाया यस्य स रतिजानिः कामः स एव वीरः। 'जायाया निङ्'। मध्ये ललाटे मूर्ध्नि च मध्यललाटमूर्ध्नि। प्राण्यङ्गत्वात् द्वन्द्वे नपुंसकता। तस्मिन् व्यस्तैरसंहितैः स्थास्नुभिः स्थायिभिः। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः'। एतदीयै रोमावली च भ्रुवौ च कुसुमानि च तैरेव स्वस्य मौर्वीचापमिषवश्च तैः जेतैव जैत्रो जयशीलः। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। चित्रं भिन्नदेशस्थैरपि चापादिभिर्विजयत इत्याश्चर्यमित्यर्थः। अत एव विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः ॥ ८६ ॥

---

१. क्वचिदेतदर्थकमेवाधस्तनं पद्यं दृश्यते "पाठान्तरमिदम्, पूर्वश्लोकेनैव गतार्थत्वात्; एवमङ्केऽपि न पठन्ति" इति सुखावबोधाख्यव्याख्याकारो जिनराजः। तत्पद्यं यथा—

"पुष्पाणि बाणाः कुचमण्डनानि भ्रुवौ धनुर्भालमलङ्करिष्णु।
रोमावलीमध्यविभूषणं ज्या तथापि जेता रतिजानिरीशः॥" इति।

शूर रतिपति (कामदेव) कटि, ललाट तथा मस्तकमें अलग-अलग (क्रमशः) स्थित इस दमयन्तीके रोमावली, भ्रू तथा पुष्परूप अपने प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) रूप धनुष और बाणोंसे (तीनों लोक का) विजयी हो रहा है, यह आश्चर्य है । [अच्छासे अच्छा भी दूसरा कोई योद्धा प्रत्यञ्चा, धनुष तथा बाण-तीनों को एकत्र करके ही किसीको जीत सकता है, किन्तु यह कामदेवरूप योद्धाकी प्रत्यञ्चा दमयन्तीकी कटिमें रोमावली है, धनुष ललाटमें भ्रू है तथा बाण मस्तकमें पुष्प हैं; इस प्रकार तीनों अलग-अलग हैं, तथापि वह कामदेव त्रैलोक्य-विजयी हो रहा है, यह आश्चर्य है] ॥ ८६ ॥

अस्याः खलु ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्ब[1]प्रतिबिम्बवेशात् ।
स्मरप्रशस्तीरजताक्षरेयं पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् ॥ ८७ ॥

अस्या इति । अस्याः भैम्याः पृष्ठस्थली कायपश्चाद्भागः । 'पृष्ठं तु चरमं तनोः' इत्यमरः । सैव हाटकपट्टिका हेमफलकं तस्यां ग्रन्थिना बन्धेन निबद्धेषु संयतेषु केशेषु यन्मल्लीकदम्बं मल्लीकुसुमनिकुरम्बं तत्प्रतिबिम्बस्य वेशात् प्रवेशाद्धेतोः इयं रजताक्षरा रजतमयवर्णा स्मरप्रशस्तिः स्मरवर्णना खलु नैर्मल्यात् पृष्ठफलप्रतिबिम्बितानि धम्मिल्लमल्लिकाकुसुमानि हेमफलकविन्यस्ता राजती मदनप्रशस्तिवर्णावलीव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

इस दमयन्तीकी पीठरूपी सुवर्णपट्टिका (सुनहला बोर्ड) पर, गांठोमें बाँधे अर्थात् गुथे हुए केशोंमें मल्लिकाके पुष्पोंके समूहके प्रतिबिम्बित होनेके बहानेसे रुपहले अक्षरोंमें कामदेवकी प्रशस्ति लिखी गयी है । [दमयन्तीकी पीठ सुवर्णके समान गौर वर्णवाली तथा बोर्डके समान समतल है, उसमें केशोंमें गुथे हुए मल्लिकाके पुष्प-समूह प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, वे कामदेवकी रजत वर्णोंसे लिखित प्रशस्तिके समान मालूम पड़ते हैं । महापुरुषोंकी प्रशस्ति सुवर्णपटपर रजताक्षरोंमें लिखी जाती है] ॥ ८७ ॥

चक्रेण विश्वं [2]यदि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना निता[3]म्बद्वयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥ ८८ ॥

चक्रेणेति । मत्स्यकेतुः कामः सुदर्शनेन सुदर्शनाख्येन सुलभदर्शनेन च पितुः विष्णो चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि वीक्ष्य किल अमुना दुर्लभदर्शनेन नितम्बद्वयेन कटीफलकद्वयेनेव चक्रेण जगज्जिगीषति जेतुमिच्छति किमित्युत्प्रेक्षा ॥

मकरध्वज कामदेव पिता (श्रीकृष्ण भगवान्) के सुदर्शन (सुदर्शन नामक, पक्षा०—देखनेमें सुन्दर) चक्रसे संसारको यदि (पाठा०—युद्धमें) जीता गया देखकर दुर्लभ दर्शन-

---

१. "—कदम्बम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "युधि" इति पाठान्तरम् ।
३. "नितम्बमयेन" इति पाठान्तरम् ।

वाले इस (दमयन्तीके) नितम्बद्वयसे (पाठा०-नितम्बरूप चक्रसे) संसारको जीतना चाहता है क्या ? । [पिता श्रीकृष्ण भगवान्ने यदि संसारको सर्वप्रत्यक्ष चक्र सुदर्शन चक्रसे जीत लिया तो मुझे अप्रत्यक्ष चक्रातुल्य गोलाकार दमयन्तीके नितम्बद्वयसे संसारको जीतना चाहिये । इस प्रकार कामदेव पितासे भी बढ़कर काम करना चाहता है] ॥ ८८ ॥

रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणञ्च लावण्यजलञ्च बाला ।
तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्बिभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम् ॥ ८९ ॥

रोमावलीति । बाला दमयन्ती तारुण्यमेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्य यौवनाख्यस्येत्यर्थः । कुचावेव कुम्भौ तयोः कर्तुः निर्मातुः कुम्भकारस्य रोमावल्येव दण्डः स च नितम्ब एव चक्रञ्च ते गुणः सौन्दर्यादिः तमेव गुणं सूत्रञ्चेति शिलष्टरूपकम् । लावण्यमेव जलञ्च सहकारिचक्रं सहकारिकारणकलापं बिभर्ति शङ्के। रूपकोत्थापितेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८९ ॥

बाला दमयन्ती युवावस्थाके स्तनकलशको बनानेवाले (कुम्हार) के लिये (अपनी) रोमावलीको दण्ड, नितम्बको चक्र, अर्थात् कुम्हारका चाक, सौन्दर्य आदि गुणको सूत और लावण्यको पानी (इन घड़ा बनानेवाले के) सहकारी समूहको धारण करती है । [घड़ा बनानेके लिए दण्ड, चाक, सूत तथा पानीका होना आवश्यक है, अत एव दमयन्ती भी स्तनकलश बनानेवाले कुम्हारके लिये सब सामग्रियोंको उपस्थित करती है] ॥ ८९ ॥

अङ्गेन केनापि विजेतुमस्या गवेष्यते किञ्चलपत्रपत्रम् ।
नो चेद्विशेषादितरच्छदेभ्यस्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन ॥ ९० ॥

अङ्गेनेति । अस्याः सम्बन्धिना केनाप्यवाच्येनाङ्गेन मदनमन्दिरेणेत्यर्थः । चलपत्रपत्रमश्वत्थदलं 'बोधिद्रुमश्चलदलः' इत्यमरः । विजेतुं गवेष्यते अन्विष्यते किमित्युत्प्रेक्षा । 'मार्गत्यन्विष्यति गवेषयत्यन्विष्यति च' इति मल्लभट्टः । नो चेन्नान्विष्यते चेत् तस्याश्वत्थपत्रस्य कुतः कस्मादन्यस्मात् भयेनेतरच्छदेभ्यः वृक्षान्तरपत्रेभ्यः, पञ्चमीविभक्तेः । विशेषादतिशयात् कम्पस्तु अस्तु स्यात् । नान्यत्कम्पकारणं विद्म इत्यर्थः । बलिनान्विष्यमाणो दुर्बलो कम्पत इति च प्रसिद्धम् । अत्र सामुद्रिकाः । "अश्वत्थदलसङ्काशं गुह्यं गूढमपि स्थितम् । यस्याः सा सुभगा नारी धन्या पुण्यैरवाप्यते" ॥ ९० ॥

इस दमयन्तीका अवर्णनीय अर्थात् अतिसुन्दर (पक्षा०-अश्लील होनेसे नाम नहीं लेने योग्य) कोई अङ्ग अर्थात् योनि पीपलके पत्तेको अच्छी तरह जीतनेके लिये ढूढ़ रहा है क्या ? नहीं तो किसके भयसे उस पीपलके पत्तेमें दूसरे पत्तोंसे अधिक कम्पन होता है । [चूंकि पीपलका पत्ता अन्य पत्तोंकी अपेक्षा अधिक कांपता है, इससे अनुमान होता है कि दमयन्तीका सर्वसुन्दर अग्राह्यनामा अङ्ग उसको जीतनेके लिये खोज रहा है और इसी के भयसे वह कांप रहा है । अन्य भी कोई बलवान् पुरुष दुर्बलको जीतनेके लिये खोजता

रहता है तो वह उसके भयसे अधिक कांपता रहता है। दमयन्तीका योनि पीपलके पत्तेसे भी सुन्दरतम होनेसे सामुद्रिक शास्त्रोक्त शुभ लक्षणसे युक्त है]॥ ९० ॥

भ्रूश्चित्ररेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकाऽनेकाप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि ॥ ९१ ॥

भ्रूरिति। यत् यस्मात् अस्या भैम्या भ्रूश्चित्ररेखा अद्भुतविन्यासा अप्सराश्च, नासा नासिका तिलात् तिलकुसुमात् उत्तमा तिलोत्तमा नामाप्सराश्च, तथा ऊरुसृष्टिः रम्भा कदली अप्सराश्च। 'रम्भाकदल्यप्सरसोः' इति विश्वः। ततः तस्मात् इयमेकैव दृष्टा सती अनेकासामप्सरसां प्रेक्षणात्कौतुकानि पूरयति तादृशान् मानसोल्लासान् जनयतीत्यर्थः। अत्रैकस्यानेकात्मकताविरोधाभासनात् विरोधाभासालङ्कारः, स च श्लेषमूल इति सङ्करः ॥ ९१ ॥

जिस कारण इस दमयन्तको भ्रू चित्र रेखावाली (पक्षा०—चित्रलेखा नामकी अप्सरा) है, नाक तिलपुष्पसे उत्तम (पक्षा०—तिलोत्तमा नामकी अप्सरा) है, और ऊरुरूप यष्टि केलेके स्तम्भके समान या तद्रूप (पक्षा०—रम्भा नामकी अप्सरा) है; उस कारण अकेली यह दमयन्ती अनेक अप्सराओंके देखनेके कुतूहलको पूरा करती है। [इस दमयन्तीकी भ्रू, नाक तथा ऊरुके देखनेसे क्रमशः चित्रलेखा, तिलोत्तमा और रम्भा नामकी अप्सराओं देखनेका आनन्द मिलता है, यही कारण है कि इन्द्र उन अप्सराओंको छोड़कर इस दमयन्तीको प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहे हैं। लोकमें भी देखा जाता है कि पृथक्-पृथक् स्थित अनेक वस्तुओंको छोड़कर एकत्रित उन सब वस्तुओंको प्राप्त करना चाहता है।] ॥९१॥

रम्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्डं न चात्मनः स्वेन न चैतदूरू ॥
स्वस्यैव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोर्भ्रमेण ॥ ९२ ॥

रम्भेति। रम्भा कदल्यपि आत्मनः प्रकाण्डं स्कन्धं स्वेन स्वात्मना स्वयमित्यर्थः। प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात् तृतीया। न चिह्नयति किमेतस्या ऊरू च न चिह्नयति किं मिथो व्यत्यासपरिहाराय द्वयोरन्यतरस्यापि चिह्नं न चकार किमित्युत्प्रेक्षा। कुतः, येन कारणेन सा रम्भा अनयोरूर्वोर्भ्रमेणोरूभ्रान्त्येत्यर्थः। स्वस्यैव स्वकीयस्कन्धस्यैव उपरि पत्राणि दलानि प्रतिपक्षोपरिदेयानि साक्षरपत्राणि च दधाना जागर्ति। अत्र सौन्दर्ये सङ्घर्षिणी रम्भापि स्वस्मिन्नेव ऊरुभ्रान्त्या पत्रावलम्बनकरणात् भ्रान्तिमदलङ्कारः। तन्मूला चोक्तोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९२ ॥

कदली (केलेका वृक्ष) अपने स्तम्बको स्वयं चिह्नित नहीं करती है क्या? तथा इस दमयन्तीके ऊरुद्वयको चिह्नित नहीं करती है क्या? (अपने तथा दमयन्तीके ऊरुद्वयको परस्परमें समान होनेसे भेद करनेके लिए अपनेको तथा इसके ऊरुद्वयको भी अवश्यमेव चिह्नित करती है), (अथवा—कदली भी अपने स्तम्भ (खम्बे) को अपना है ऐसा जानती है क्या? तथा इस दमयन्तीके ऊरुद्वयको 'ये दोनों ऊरु दमयन्तीके हैं' ऐसा नहीं जानती

क्या ? (अपने स्तम्बको अपना तथा दमयन्तीके ऊरुद्वयको दमयन्तीका ऊरुद्वय नहीं समझती है क्या ?) क्योंकि इन दोनों (दमयन्तीके ऊरु) के भ्रमसे अपने ऊपर पत्रोंको (पत्तों की, पक्षा०–प्रतिपक्षीके ऊपर रखने योग्य लिखित पत्रोंको) धारण कर रही है। (प्रतिपक्षीके ऊपर लिखितपत्र रखनेका नियम होनेसे कदलीने चाहा कि प्रतिपक्षी उक्त ऊरुद्वयपर मैं साक्षर पत्र रख दूँ , किन्तु उक्त ऊरुद्वयके भ्रमसे उसने अपने ही ऊपर पत्रोंको रख लिया)। [केलेके खम्बेके ऊपर पत्तेका होना सर्वप्रत्यक्ष है । दूसरा कोई व्यक्ति दो वस्तुओं के समान आकार होनेसे भ्रममें पड़कर दूसरेमें करने योग्यको अपनेमें कर लेता है। दमयन्तीके ऊरु कदलीस्तम्भके समान रमणीय हैं] ॥ ९२ ॥

विधाय मूर्धानमधश्चरञ्चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम् ।
जाड्यञ्च नाञ्चेत् कदली बलीयस्तदा यदि स्यादिदमूरुचारुः ॥ ९३ ॥

विधायेति । कदली रम्भा तपोभिः तपश्चर्याभिः मूर्धानमधश्चरमधोवर्तिनं विधाय शिरोऽबुध्न्योरुत्तराधरभाववैपरीत्यञ्च लब्ध्वेत्यर्थः। स्वं स्वकीयमसारभावं निःसारत्वञ्च मुञ्चेचेत् बलीयो जाड्यमेकान्तशैत्यञ्च नाञ्चेत् न गच्छेत् । तदानीम्, इदमूरुचारुः अस्या उरू इव चारुः शोभना स्याद्यदि स्यादेवेत्यर्थः । अत्र कदल्याः अधःशिरस्त्वादिधर्मासम्बन्धेऽपि सम्बन्धसम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद इति सर्वस्वकारः ॥ ९३ ॥

यदि कदली मस्तक (ऊपरी भाग) को नीचेकी ओर करके तपस्यासे अपनी निःसारताको छोड़ देती तथा अत्यधिक अर्थात् नित्य रहनेवाली जडता (मूर्खता, पक्षा०—शीतलता) को छोड़ देती, तो इस दमयन्तीके ऊरुके समान सुन्दर हो सकती। [दमयन्तीके ऊरुद्वय ऊपरमें मोटा तथा नीचेमें क्रमशः पतला है, कोमल होते हुए भी ससार (बलयुक्त) है और ग्रीष्ममें शीतल तथा शीतकालमें उष्ण है, किन्तु कदली इसके सर्वदा विपरीत (ऊपरमें पतली तथा नीचेमें मोटी, कोमल तथा निःसार और सब समयमें शीतल) है, अतः वह सर्वदाके लिए ऊपरका भाग नीचे कर ले, कोमलताका त्यागकर सारयुक्त बन जाय तथा एकान्त शीतलताका त्यागकर दे, तब दमयन्तीके समान हो सकती है। अन्य भी कोई व्यक्ति किसी उत्तम व्यक्तिकी समानता पानेके लिये तपस्याके द्वारा मस्तक नीचाकर अपनी असारता तथा जडताका त्यागकर उसकी समानता पाता है । दमयन्तीका ऊरुद्वय अनुपम है] ॥ ९३ ॥

ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन तस्याः करः पराजीयत वारणीयः ।
युक्तं ह्रिया कुण्डलनच्छलेन गोपायति स्वं मुखपुष्करं सः ॥ ९४ ॥

ऊर्विति । तस्याः दमयन्त्याः ऊरुप्रकाण्डयोः ऊरुश्रेष्ठयोः ऊरुस्तम्भयोर्वा द्वितयेन वारणीयो वारणसम्बन्धी करो हस्तः पराजीयत पराजितः, स करः ह्रिया स्वं मुखं मुखभूतं पुष्करमग्रं वक्त्रं पङ्कजञ्च 'मुखं निःसरणे वक्त्रप्रारम्भोपाययोरपि । पुष्करं पङ्कजे

व्योम्नि पयः करिकराग्रयोः' इति विश्वः । कुण्डलनस्य भुग्नीकरणस्य च्छलेन गोपायति पिधत्ते युक्तम् । सपह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

उस (पक्षा०– कृशाङ्गी) दमयन्तीके उरुस्तम्भद्वयने हाथीके हाथ (सूंढ़) को जित लिया है, अत एव (पराजित) वह हाथ (हाथीका सूंढ़) लज्जासे अपने मुखकमल (पक्षा०– मुखरूप पुष्करको हाथीके सूंढ़के अग्रभागको 'पुष्कर' कहते हैं) लपेटनेके बहानेसे छिपा रहा है, यह उचित ही है । [लोकमें भी पराजित भलामानुष व्यक्ति लज्जासे अपने मुखको छिपाता है–सबके सामने मुख नहीं दिखाना चाहता] ॥ ९४ ॥

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली ।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः ॥ ९५ ॥

अस्यामिति । अस्यां दमयन्त्यां मुनीनामपि मोहं भ्रान्तिमासक्तिमिति यावत् । ऊहे तर्कयामि । उत्प्रेक्षा । कुतः, यत् यस्मात् महानधिको भृगुप्रपातो मुनिविशेषश्च, यस्याः कुचावेव शैलौ शीलयति परिचिनोतीति तच्छीली मुखं नानाप्रकारैः रदैर्दन्तैराह्लादयतीति तत्तथोक्तम् । अन्यत्र नारदमुनिमाह्लादयतीति नारदाह्लादि, तत् न भवतीति अनारदाह्लादि, तत् नेति नानारदाह्लादि, नारदाह्लादि इत्यर्थः । महाभाः महाप्रभः रतसर्गयोग्यः सुरतसम्पादनार्हः । अन्यत्र महाभारतस्य इतिहासस्य सर्गे निर्माणे योग्यः क्षमो व्यासो विस्तारो द्वैपायनश्च श्रिता ऊरू सक्थिनी येन सः श्रितोरुः । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । अत्र श्लेषमूलया मुनिमोहोत्प्रेक्षया मुनयोऽप्यस्यां मुह्यन्ति किमुतान्ये इति वस्तु व्यज्यते ॥ ९५ ॥

(मैं) इस दमयन्तीमें मुनियोंके भी मोह (होने) का तर्क करता हूं, क्योंकि–बड़ा प्रपात (जल गिरनेका तटरहित पर्वतीय स्थान–विशेष) स्तनरूपी पर्वतका परिशीलन करता है । (पक्षा०–बड़े तपस्वी भृगु मुनि स्तनरूपी पर्वतका परिशीलन करते हैं, वहां रहते हैं–तपस्याके लिये निवास करते हैं, या कामुक होकर उन्नत स्तनोंका मर्दन करना चाहते हैं । अथवा–अतट अर्थात् पर्वतीय प्रपात दमयन्तीके स्तनके शील–स्वभावका परिशीलन करता है, किन्तु वह आज तक भी इन स्तनोंके स्वभावको नहीं प्राप्त कर सका है); (दमयन्ती) का मुख अनेक अर्थात् बत्तीस दांतोंसे आह्लादित करनेवाला है (पक्षा०–मुख नारद मुनिको आह्लादित करनेवाला नहीं है ऐसा नहीं, किन्तु आह्लादित करनेवाला ही है अर्थात् नारद मुनि भी इसको गान विद्या सिखाने या स्वयं सीखनेके लिए इसके मुखको प्राप्तकर आह्लादित होते हैं, या–नारद मुनि भी कामुक होकर चुम्बनेच्छासे इस दमयन्तीके मुखको देखकर आह्लादित होते हैं) और अत्यन्त कान्तियुक्त तथा रतिके योग्य (ऊरुका) विस्तार ऊरुका आश्रय कर रहा है अर्थात् ऊरुद्वयका विस्तार (मोटापन) अतिशय कान्तियुक्त एवं रति योग्य है [पक्षा०–महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थकी रचना करनेवाले व्यास मुनि (केलेकी छायाके भ्रमसे इसके) ऊरुद्वयका आश्रय कर रहे हैं, या दमयन्तीका कामुक होकर भोगकी इच्छासे इसके ऊरुद्वयका आश्रय कर रहे हैं] ॥ ९५ ॥

क्रमोद्गता पीवरताधिजङ्घं वृक्षाधिरूढिं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

क्रमेति । अस्याः भैम्या अधिजङ्घं जङ्घयोः विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्वं वृक्षाधिरूढमाश्लेषविशेषं विदुषी किं ज्ञात्री किम् ? "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किञ्च भ्रमीभङ्गिभिर्वेष्टनविशेषैः आवृताङ्गमाच्छादितगात्रं वासो वस्त्रमपि लतावेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीणं किम् ? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्थमाश्लिष्येदिति भावः । अनयोर्लक्षणमुक्तं रतिरहस्ये— "रमणचरणमेकेनाङ्घ्रिणाक्रम्य भिन्नं श्वसितमपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुम् । निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम् ॥ तरुमिव कमितारं चुम्बनार्थाधिरूढा यदभिलषितरागात् तच्च वृक्षादिरूढम् । प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयन्ती द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीत्का तदीयम् ॥ वदनमुचितखेदा कम्पसाचुम्बनार्थं नमयति विनदन्ती तल्लतावेष्टितं स्यात् ॥" इति ॥ ९६ ॥

इस दमयन्तीकी जङ्घाओंमें क्रमशः ऊपरको बढ़ती हुई स्थूलता (मोटाई) वृक्षकी वृद्धिके क्रम (पक्षा०—आलिङ्गन विशेष) को जानती है क्या ? तथा लपेटनेके क्रमसे शरीरको ढका हुआ वस्त्र लताके (समान) लिपटनेके क्रम (पक्षा०—आलिङ्गन विशेष) में चतुर हैं क्या ? [जिस प्रकार वृक्ष जड़में पतला तथा क्रमशः ऊपरमें मोटा होता है, वैसे ही इस दमयन्तीकी जङ्घाएं भी हैं । पक्षा०—ये जङ्घाएं 'वृक्षारूढ'[1] नामक आलिङ्गनको जाननेवाली हैं तथा जिस प्रकार वृक्षमें लता लिपटी हुई रहती है, उसी प्रकार इसके शरीरमें भी वस्त्र लिपटा रहता है, पक्षा०—'लतावेष्टितक'[2] नामक आलिङ्गनको जानता है] ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् ।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

अरुन्धतीति । इयं दमयन्ती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री रतिश्च लक्ष्मीः पद्मा च जम्भद्विषद्दाराः शची च नवाम्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो नवमातरश्च यासामदृश्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भावः । तासां त्रयोदशानां चतुर्दशी इयमपि तदन्तः

१. टीकातिरिक्तमपि वृक्षारूढालिङ्गनलक्षणमन्यत्रेत्थमुक्तम्, तद्यथा—
"वृक्षारोहणवद्यत्र क्रमादाक्रम्यतेऽङ्गकम् । वृक्षाधिरूढकं नाम बुधा आलिङ्गनं विदुः ॥" इति ।
अन्यच्च—"बाहुभ्यां कण्ठमालिङ्ग्य कामिनी कान्त उत्थिते ।
अङ्कमारोहते तस्य वृक्षारूढः स उच्यते ॥" इति ॥

२. लतावेष्टितकालिङ्गनलक्षणमपि टीकोक्तभिन्नमन्यत्रोक्तम् तद्यथा—
'सव्यापसव्ययोगेन लतावत्परिवेष्टनैः । यत्र प्रत्यङ्गमाश्लिष्टं लतावेष्टितकं तु तत् ॥" इति ।
अन्यच्च—"उपविष्टं प्रियं कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि ।
तल्लतावेष्टितं ज्ञेयं कामानुभववेदिभिः ॥" इति ।

पातिनीत्युत्प्रेक्षा । तत् तस्मात् तदन्तःपातित्वात् इहास्यां दमयन्त्यां गुल्फौ पादग्रन्थी । 'तद्ग्रन्थिघुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । तयोर्द्वयेनाप्ता प्राप्ता या च सा अदृश्यसिद्धिश्च यददृश्यसिद्धिः येयं गुल्फयोरदृश्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । सतीति शेषः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्सा उचितैव तत् सम्बन्धिनोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः । गूढगुल्फत्वं स्त्रीलक्षणं तदस्यामस्तीति भावः ॥ ९७ ॥

अरुन्धती, कामपत्नी रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नव मातृकाएँ इनकी चौदहवीं यह दमयन्ती है, अतः उनकी जो अदृश्य सिद्धि है, वह इस दमयन्तीमें गुल्फ (दोनों पैरोंके नीचे जोड़पर दोनों ओर उठी हुई हड्डी अर्थात् गट्टों) को प्राप्त हुई है, वह उचित ही है। [नव मातृकाएं–चामुण्डा आदि सप्त[1] माताएं और गौरी तथा सरस्वती–ये नव मातृकाएं हैं, अथवा–ब्रह्माणी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंह, माहेन्द्री, चण्डिका और महालक्ष्मी नवमातृकाएं[2] हैं। अरुन्धती आदि तेरह महादेवियोंको जिस प्रकार अदृश्य सिद्धि प्राप्त है वैसी ही चौदहवीं दमयन्तीके भी गुल्फोंमें अदृश्य सिद्धि प्राप्त है। अथवा–अरुन्धती आदिको पातिव्रत्य धर्मके कारण जो अदृश्य सिद्धि प्राप्त है वह इस दमयन्तीके गुल्फोंमें प्राप्त है अर्थात् उनकी सिद्धि इस दमयन्तीके चरणोंपर लोटती है, अत एव उनसे भी यह दमयन्ती अधिक पतिव्रता है। अथवा–अरुन्धती आदिके गुल्फोंमें प्राप्त जो अदृश्य सिद्धि है, अर्थात् उनके गुल्फकी हड्डियां नहीं दिखलाई पड़तीं वह सिद्धि चौदहवीं इस दमयन्तीमें भी है अर्थात् यह दमयन्ती भी गुल्फोंकी हड्डियोंके नहीं दिखलाई पड़नेसे अरुन्धती आदिके समान ही सामुद्रिकशास्त्रोक्त सुलक्षणवाली है। अथवा–अरुन्धती आदि तेरहों महादेवियोंमें तो जो सिद्धि है वह सामान्य है क्योंकि यह दमयन्ती उनमें चौदहवीं है अर्थात् चतुर्दशी तिथि रूप है और उक्त अरुन्धती आदि तेरह देवियां प्रतिपदादि त्रयोदशी तिथि पर्यन्तके समान हैं, अत एव चतुर्दशी तिथिरूप इस दमयन्तीमें तो सिद्धि गुल्फोंमें प्राप्त है अर्थात् चरणोंमें लेटती है। या आप्त (कभी नहीं व्यभिचरित होनेवाली अर्थात् बिल्कुल नियत) है, अत एव यह दमयन्ती उन अरुन्धती आदि महादेवियोंसे भी विशिष्ट है। दमयन्तीके पैरके दोनों गट्टोंके छिपे हुए होनेसे यह दमयन्ती सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभ लक्षणसे युक्त है] ॥ ९७ ॥

अस्याः पदौ चारुतया महान्तावपेक्ष्य सौक्ष्म्याल्लवभावभाजः ।
जाता प्रवालस्य महीरुहाणां जानीमहे पल्लवशब्दलब्धिः ॥ ९८ ॥

---

१. तदुक्तम्—"ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः ॥" इति ।

२. तदुक्तमागमे—"ब्रह्माणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही नारसिंही च माहेन्द्री चण्डिका तथा ॥
महालक्ष्मीरिति प्रोक्ताः क्रमेणैता नवाम्बिकाः ॥" इति ।

अस्या इति। चारुतया सौन्दर्यगुणेन महान्तौ अस्याः पदौ पादौ अवेक्ष्य। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सौक्ष्म्यात् तदपेक्षयाऽल्पत्वादिति भावः। लवभावभाजोऽल्पत्वभाजी महीरुहाणां प्रवालस्य किसलयस्य पल्लवशब्दलब्धिः पद्भ्यां लवोऽल्प इति व्युत्पत्त्या पल्लवसंज्ञा प्राप्तिर्जाता जानीमह इत्युत्प्रेक्षामाह इत्यर्थः। "अस्मदोर्द्वयोश्च" इति विकल्पादेकस्मिन्नेव बहुवचनम् ॥ ९८ ॥

सुन्दरतासे श्रेष्ठ इस दमयन्तीके चरणोंको देखकर (दमयन्तीके चरणोंकी अपेक्षा) हीनताके कारण अल्पता (लघुता) को प्राप्त किये हुए, पेड़ोंके नवीन पत्तोंका 'पल्लव' (दमयन्तीके पैरका लेश है जिसमें ऐसा) नाम पड़ गया है, यह हमलोग समझते हैं। [पेड़ोंके नये २ अरुण वर्ण पत्तोंकी अपेक्षा दमयन्तीके चरण अत्यधिक लाल हैं] ॥ ९८ ॥

जगद्वधूमूर्धसु रूपदर्पात् यदेतयाऽधायि पदारविन्दम्।
तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैः ध्रुवं प्रवालप्रबलारुणं तत् ॥ ९९ ॥

जगदिति। यत् यस्मात्, एतया भैम्या रूपदर्पात् सौन्दर्यगर्वात्, द्वयमुभयं पदारविन्दं द्वेऽपि पदारविन्दे इत्यर्थः। जगद्वधूमूर्धसु अधायि निहितं, धाञः कर्मणि लुङ्। "आतो युक्चिण्कृतोः" इति युगागमः। तत् तस्मात्, तेषु मूर्धसु ये सान्द्राः सिन्दूरपरागरागाः तैः प्रवालाद्विद्रुमादपि प्रबलारुणमधिकारुणं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा ॥९९॥

जो इस दमयन्तीने सौन्दर्यके अभिमानसे संसार की स्त्रियोंके शिरपर दोनों चरणोंको रखा, उस कारणसे (अथवा—वे ही दोनों चरण) मानों उन संसार की स्त्रियोंके सघन सिन्दूरकी धूलिके रंग लालिमासे नवपल्लव (या मूंगा) से भी अधिक लाल हो गये हैं। संसारकी सधवा स्त्रियां जो शिरपर नवपल्लव या मूंगेसे भी अधिक अरुण वर्ण सिन्दूरपराग धारण करती हैं, वह अधिक सौन्दर्यशालिनी दमयन्तीका चरण द्वय है। दमयन्ती जगत की समस्त सुन्दरियोंसे भी अत्यधिक सुन्दरी है, तथा इसके चरणोंकी शोभा नवपल्लव, मूंगा और सिन्दूरपरागके समान है ॥ ९९ ॥

रुषारुणा सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्याः पदं श्रीः स्म विधेर्वृणीते।
ध्रुवं स तामच्छलयद्यतः सा भृशारुणैतत्पदभाग्विभाति ॥ १०० ॥

रुषेति। श्रीः लक्ष्मी रुषा पराजयक्रोधेन अरुणा सती सर्वगुणैर्जयन्त्या आत्मानमतिक्रामन्त्या भैम्याः पदं स्थानं विधेः सकाशात् वृणीते स्म वव्रे। स विधिस्तां श्रियमच्छलयत् प्रतारितवान् ध्रुवं स्थानार्थविवक्षया पदप्रार्थनायामङ्घ्रिदानादिति भावः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। यतः सा श्रीरेतत्पदभागे तस्याः भैम्याः अङ्घ्रिभाक् सती शोभा रूपेणेति भावः। भृशारुणा विभाति आरुण्यप्रत्यभिज्ञानात् तदङ्घ्रिरेवैतत्स्थानमिति जानीम इत्यर्थः ॥ १०० ॥

क्रोधसे लाल लक्ष्मी (पक्षा०—शोभा) ने सम्पूर्ण गुणोंसे विजय करती हुई इस दमयन्तीके पद (स्थान, स्वरूप या शोभा) को (चरणको नहीं) ब्रह्मासे वर मांगा (फिर) उस ब्रह्माने

उस लक्ष्मी (पक्षा०-शोभा) को अवश्य ही ठग दिया, क्योंकि वह (लक्ष्मी, पक्षा०—शोभा) अत्यन्त लाल (रक्तवर्ण) इस दमयन्तीके चरणोंको प्राप्त कर शोभती है। [दमयन्तीसे पराजित लक्ष्मी या शोभाने तो ब्रह्मासे दमयन्तीके पद अर्थात् दमयन्तीका संसारमें जो स्थान या शोभा है वही मेरा भी हो ऐसा वर मांगा था, किन्तु ब्रह्माने उसे अत्यन्त रक्तवर्ण दमयन्ती चरणोंको प्रदान किया। अथवा—अत्यन्त अरुण वह लक्ष्मी या शोभा इस दमयन्तीके चरणोंको प्राप्तकर शोभती है, इस पक्षमें 'भृशारुणा' शब्दका सम्बन्ध पहलेके समान दमयन्तीके चरणोंसे न होकर लक्ष्मी या शोभासे है, अतः लक्ष्मी दमयन्तीके चरणोंकी सेवा करती हुई शोभित होती है या दमयन्तीके चरणों की शोभा अत्यन्त लाल है, यह अर्थ होता है। ब्रह्माने लक्ष्मीको भी दमयन्तीका स्थान नहीं दिया, किन्तु उसके चरण सेवाका स्थान देकर ठग दिया, अतः प्रतीत होता है कि लक्ष्मी भी दमयन्तीके स्थानको पानेकी योग्यता नहीं रखती, केवल उसके पैरोंके भजन (सेवन) करनेकी ही योग्यता रखती है, यही कारण है कि ब्रह्माने लक्ष्मीको 'पद' शब्दका अर्थान्तर कर उक्त प्रकारसे ठग दिया]१००

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पदाब्जराजौ परिशुद्धपार्ष्णी।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥१०१॥

यानेनेति। यानेन गत्या दण्डयात्रया च जितो दन्तिनाथो गजश्रेष्ठो गजपतिश्च याभ्यां तौ परिशुद्धः निर्दोषो वशीकृतश्च पार्ष्णिः पश्चाद्भागः पार्ष्णिग्राहश्च ययोस्तौ तन्व्याः पदाब्जे एव राजानौ पदाब्जराजौ कतरस्य राज्ञः पत्युः परिपन्थिनश्च नतेन मानशान्तये रौद्रशान्तये च नम्रेण मूर्ध्ना स्वमात्मानं सेव्यं शुश्रूषयितुं सेवयितुमिच्छू अभिलाषुकौ न जाने। अत्र पदाब्जराजाविति रूपकस्य श्लेषेणाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १०१ ॥

गमन (गज तुल्य गति, पक्षा०—विजय यात्रा) से गजराजको विजय किये हुए तथा शुद्ध (निर्दोष, पक्षा०—वशमें किये गये) पार्ष्णि (चरणका पृष्ठभाग, पक्षा०—पार्ष्णिग्राह नृप-विशेष) वाले कृशाङ्गी (दमयन्ती) के दोनों चरणकमलरूपी राजा किस राजा (पतिभूत राजा, पक्षा०—पराजित राजा) के नम्र मस्तकसे (प्रणयकलहमें दमयन्तीको मानत्याग करते समय नम्रमस्तकसे, पक्षा०—अनुचिताचरण के कारण कुपित विजयी राजा को प्रसन्न करनेके लिये नम्र मस्तक से) अपनी सेवा करानेके लिये इच्छुक हैं अर्थात् सेवा कराना चाहते हैं, यह मैं नहीं जानता हूं। [जिस प्रकार हाथीवाले राजाओंको विजयी एवं दोषहीन पार्ष्णिगत राजा वाला कोई राजा किसीपर कुपित होकर पैरोंपर नम्र मस्तक होकर प्रणाम करनेसे उसके द्वारा सेवा कराता है, उसी प्रकार अपनी गजगतिसे गजराजोंके विजयी एवं दोष रहित पृष्ठभागवाले दमयन्तीके चरणकमलरूप राजा विवाह होनेपर प्रणयकलहमें प्रिया दमयन्तीको मानत्याग करनेके लिये पैरोंपर नवमस्तक पतिभूत किस राजाके द्वारा सेवा कराना चाहता हैं, यह ज्ञात नहीं है। दमयन्ती गजगामिनी है] ॥ १०१ ॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः स्वाखिलतुल्यजेतुः ।
उद्वेगभागद्वयताभिमानादिहैव वेधा व्यधित द्वितीयम् ॥१०२॥

कर्णेति। स्वस्या यान्यखिलानि तुल्यानि शष्कुलीकमलाद्युपमानवस्तूनि तेषां जेतुः भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। कर्णश्चाक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च पदञ्च कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः, तदादिर्यस्य तत् आदिशब्दात् कुचादिसंग्रहः। तदादिनोऽवयवजातस्य अद्वयताभिमानात् अद्वितीयत्वगर्वात् उद्वेगभाक् रोषभाक् वेधा इहास्यामेव भैम्यां द्वितीयं कर्णादिकं व्यधित विहितवान्। तदवयवानामप्रतिमतया परस्परमेवौपम्यमासीत्। यथा कर्णस्येतरकर्णेन करस्येतरकरणेत्यर्थः॥ १०२॥

अपने उपमानभूत समस्त वस्तुओंको जीतनेवाले कान, नेत्र, दांत, ओष्ठ, बाहु, हाथ और पैर आदि ('आदि' पदसे स्तन, जघन, अङ्गुल्यादि) के अपने समान दूसरेके न होनेके अभिमान होनेसे कुपित ब्रह्माने वहींपर अर्थात् कान आदिके समीपमें ही दूसरे कान आदि बना दिये। [दमयन्तीके कान, नेत्र, दाँत, ओष्ठ, बाहु, हाथ और पैर आदि अपने उपमान भूत क्रमशः पाश, कमल, पल्लव, लता, पल्लव या कमल और कमल आदि को सौन्दर्यातिशयसे पराजित कर 'हमारे समान कोई भी संसारमें सौन्दर्यशाली नहीं है' ऐसा अभिमान करने लगे, यह देख ब्रह्मा घबड़ा गये और उन्हें क्रोध आ गया, इससे उन्होंने उठाके पास ही वैसे ही सौन्दर्यशाली दूसरे कान, नेत्र आदिकी सृष्टि कर दी। अन्य भी कोई व्यक्ति अभिमानी व्यक्तिके पास ही में उसके प्रतिद्वन्द्वी वैसे ही व्यक्तिको नियुक्त कर देता है कि फिर यह अभिमान न करे। दमयन्तीके वाम कानके समान दाहिना कान तथा दाहिने कानके समान बांया कान है, इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। दमयन्तीके कान आदिकी समानता परस्परमें ही एक दूसरेसे है, सांसारिक पाश, कमल, पल्लव आदि पदार्थोंसे नहीं]॥

तुषारनिःशेषितमब्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधातुः ।
पञ्चास्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्याभिक्षाऽधुना माधुकरीसदृक्षा ॥१०३॥

तुषारेति। तुषारेण निःशेषितं नाशितमब्जसर्गं पद्मसृष्टिं पुनर्विधातुकामस्य स्रष्टुकामस्य विधातुरधुना इहास्यां भैम्यां पञ्चसु आस्यं चाङ्घ्री च करौ च तेषु अधिकरणैतावत्त्वे चेत्येकवद्भावप्रतिषेधः। इहाधिकरणं समानाधारत्वाद्वर्तिपदार्थः। तस्यैतावत्त्वं पञ्चत्वमभिख्याभिक्षा शोभायाच्ञा। 'अभिख्यानामशोभयोः' इत्यमरः। माधुकरी नाम पञ्चभिक्षा तया सदृक्षा सदृशी "दृशेः क्सश्च वक्तव्यः" इति क्सप्रत्ययः। वर्तत इति शेषः। एतदास्यादिपञ्चके यावल्लावण्यं तावात् पद्मेषु नास्तीत्यर्थः॥ १०३॥

हिम (तुषार, पाला) से सर्वथा नष्ट कमलोंकी पुनः रचना करनेके इच्छुक ब्रह्माकी, इस समय इस दमयन्तीके (कमलसे अधिक शोभा सम्पत्तियुक्त) मुख, दोनों चरण तथा

दोनों हाथ—इन पाँचोंमें शोभाकी याचना मधुकरी भिक्षाके समान होती है। [मधुकरी भिक्षा पांच गृहाश्रमियोंसे ली जाती है, यह शास्त्र वचन है। दमयन्तीके मुख, चरणद्वय और पाणिद्वय कमलसे अधिक एवं नित्य शोभायुक्त रहनेवाले हैं] ॥ १०३ ॥

एष्यन्ति यावद्गणनाद्दिगन्तान् नृपाः स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टुम् ।
इमे पदाब्जे विधिनापि[1] सृष्टास्तावत्य एवांगुलयोऽत्र रेखाः[2] ॥१०४॥

एष्यन्तीति । स्मरार्ता नृपा इमे पदाब्जे शरणे प्रवेष्टुं यावन्ती गणना यस्य तस्मात् यावद्गणनात् यावत्सङ्ख्याकात् दिगन्तात् यावत् सङ्ख्याकेभ्यः दिगन्तेभ्य इत्यर्थः । जातावेकवचनम्, एष्यन्ति, अत्रानयोः पदाब्जयोः तावत्य एव तत्सङ्ख्या एवाङ्गुलय एव रेखाः सृष्टाः, स्वयंवरार्थमागामिनां राज्ञामपादानदिक्सङ्ख्यासूचकरेखा इव दशाङ्गुलयः सृष्टा इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०४ ॥

कामपीडित राजालोग शरणभूत इन (दमयन्ती) दोनों चरणोंमें प्रवेश करने के लिये जितनी दिशाओंके अन्तसे आवेंगे, ब्रह्माने भी इन चरणोंमें उतनी ही अर्थात् दश अङ्गुलियोंको रेखारूपमें बना दी है (पाठा०—............अङ्गुलियां रेखा रूपमें नहीं बना दी है ? अर्थात् बना दी हैं)। [दमयन्तीके दोनों पैरोंकी दश अङ्गुलियोंको ब्रह्माने इस अभिप्रायसे बनाया है कि दशों दिशाओंके अन्ततकके राजा कामपीडित होकर रक्षा पानेके लिये इन दोनों चरणोंके पास आवेंगे] ॥ १०४ ॥

प्रियासखीभूतवतो[3] मुदेदं व्यधाद्विधिः साधुदशात्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्म सौभाग्यभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥१०५॥

प्रियेति । विधिर्विधाता प्रियायाः भैम्याःसखीभूतवतः सुहृद्भूतस्य अभूततद्भावे च्विः, भवतेः क्तवतुप्रत्ययश्च । इन्दोरिदं साधुदशत्वं समीचीनावस्थत्वं सम्यक् दशानां परिपाकं मुदा सन्तोषेण व्यधात् विहितवानित्यर्थः । अन्यथाऽस्येन्दोःएतस्याः पदस्य च्छद्म च्छलं यस्य तस्य सरागपद्मस्य सौभाग्ये सौन्दर्ये भाग्यं कथम् ? एतच्चरणशोणसरोजसादृश्यं कथमित्यर्थः ॥ १०५ ॥

प्रिया दमयन्ती मित्र के (पाठा०—पैरके नख) बने हुए चन्द्रमाकी अच्छी अवस्था (पक्षा०—दश संख्यात्व) को प्रसन्न ब्रह्माने कर दिया है। नहीं तो दमयन्तीके चरणके व्याजसे रक्तकमलकी शोभाको पानेका भाग्य चन्द्रमाको कैसे होता ?। [अब ब्रह्मा दयमन्तीके चरणोंकी रचनाकर रहे थे तब चन्द्रमा आकर उन चरणोंकी विनम्र भावसे सेवा करके चरणोंका मित्र बन गया अथवा—पाठान्तरसे दशनखरूप बनकर चरणोंकी

---

१. "विधिना निसृष्टा" इति पाठान्तरम् ।
२. "न रेखाः" इति पाठान्तरम् ।
३. "प्रियानखी" इति पाठान्तरमेव समीचीनं प्रतिभाति ।

सेवाकी यह देख ब्रह्मा चन्द्रमापर प्रसन्न हो गये और हर्षसे चन्द्रमाकी दशा अच्छी कर दी। यही कारण है कि जो चन्द्रमा पहले पद्मकान्तिको रात्रिमें उसके मुकुलित हो जानेसे नहीं प्राप्त करता था, उस पद्मकान्तिको पानेका सौभाग्य प्राप्त कर लिया है, वे पद्म दमयन्तीके चरण ही हैं। अन्य भी किसी व्यक्तिपर जब जगत्सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं तो उसकी अच्छी दशा कर देते हैं और उस व्यक्तिको सद्भाग्य प्राप्त होजाता है। दमयन्तीके चरण-नख चन्द्रतुल्य तथा चरण अरुण पद्मतुल्य हैं] ॥ १०५ ॥

यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुखञ्च बिभर्ति पूर्णेन्दु चतुष्टयं या ।
कला चतुःषष्टिरुपैतु वासं तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम् ॥१०६॥

यश इति। या सुभ्रूर्यशः कीर्तिः पदाङ्गुष्ठयोर्नखौ मुखञ्चेति पूर्णेन्दुचतुष्टयं बिभर्ति। तस्यामस्यां सुभ्रुवि सुन्दर्यां कलानां, षोडशभागानां विद्यानां च चतुरुत्तरा षष्टिः चतुःषष्टि वासं निवासं कथं नाम नोपैतु उपैत्वेवेत्यर्थः। चन्द्रचतुष्टये प्रतिचन्द्रं षोडशकलत्वाच्चतुःषष्टिकलासम्पत्तिरित्यर्थः। द्वयीनामपि कलानामभेदाध्यवसायेन अयं निर्देशः ॥ १०६ ॥

जो दमयन्ती यश, दोनों पैरों (पाठा०—हाथों) के अँगूठोंके दो नख तथा मुख—इन चार पूर्ण चन्द्रोंको धारण करती हैं, अतः सुन्दर भ्रूवाली इस दमयन्तीमें चौंसठ कलाएं क्यों नहीं निवास करें। [दमयन्तीका यश, पैरके अँगूठोंके दोनों नख तथा मुख पूर्ण चन्द्ररूप हैं, उन्हें धारण करनेवाली दमयन्तीमें प्रत्येक पूर्ण चन्द्रमामें १६–१६ कलाओंके होनेसे (१६×४=६४) चौंसठ कलाएं दमयन्तीमें अवश्य ही रहती हैं। दमयन्ती ६४ कलाओंमें प्रवीण है] ॥ १०६ ॥

सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरि यौवनेन ।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव ॥१०७॥

सृष्टेति। इयं तावत् विधिनैव अतिविश्वा विश्वमतिक्रान्ता विश्वातिशायिनीत्यर्थः। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः। सृष्टा निर्मिता अथ यौवनेन तस्य विधिकृतातिशयस्याप्युपरि नीता ततोऽप्यतिशयं प्रापितेत्यर्थः। अथ मनोभुवा वैदग्ध्यं प्रागल्भ्यमध्याप्य वाक्पथस्य वाङ्मार्गस्य पारस्परतीरमवाङ्मनसगोचरत्वमेवावापिता। अत्र क्रमेणैकस्यानेकधर्मसम्बन्धकथनात् एकस्मिन्नर्थवानेकमित्युक्तलक्षणपर्यायभेदः ॥ १०७ ॥

पहले तो ब्रह्माने ही इस दमयन्तीको संसारका अतिक्रमण करनेवाली अर्थात् विश्वातिशायिनी सुन्दरी बनाया, (फिर) युवावस्थाने इसे उस विश्वातिशायी सौन्दर्यके ऊपर पहुंचाया अर्थात् उस विश्वातिशायी सौन्दर्यको और अधिक बढ़ाया, (फिर) कामदेवने विदग्धता अर्थात् सब विषयोंमें चतुरताको पढ़ाकर इसे अवर्णनीय ही बना दिया। (अन्य भी कोई पढ़ा हुआ समुद्र व्यक्ति वाङ्मयको अभ्यासकर लेनेपर श्रेष्ठ-श्रेष्ठ शिक्षकोंको

प्राप्तकर अपनी ज्ञानराशिको उत्तरोत्तर बढ़ाकर संसारमें सबसे श्रेष्ठ बन जाता है। दमयन्ती विश्वातिशायी सौन्दर्यवाली, युवावस्थाको प्राप्त तथा कामचातुरीमें अतिनिपुण है) ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्यैतां नखावधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रां चित्राम्बुधौ तरदन्तरः।
हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीवृतभीमजा-
नयनविषयीभावे भावं दधार धराधिपः ॥१०८॥

इतीति। इतीत्थं स धराधिपो नलो हरिणरमणीनेत्रामेतां भैमीं चिकुरात् केशपाशादारभ्य नखावधि पदाङ्गुष्ठनखान्तं वर्णयंश्चित्राम्बुधौ आश्चर्यसागरे तरदन्तरः प्लवमानान्तरङ्गस्तथा हृदये भरणात् पूरणात् उद्वेलो निःसीमः आनन्दो यस्य स सन् सखीवृताया भीमजाया भैम्या नयनविषयीभावे दृग्गोचरत्वे भावमभिप्रायं दधार, तस्याः प्रत्यक्षीभवितुमैच्छदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार (श्लो० २०—१०६) मृगीतुल्य नेत्रवाली इस दमयन्तीके केशसे नखतक वर्णन करते हुए, आश्चर्यरूप समुद्रमें तैरते हुए अन्तःकरणवाले, (दमयन्तीके देखनेमात्रसे) हृदयके परिपूर्ण होनेसे तटाक्रान्त आनन्द (-रूप समुद्र)वाले होते हुए वे राजा नल सखियोंसे परिवृत भीमतनया (दमयन्ती) के प्रत्यक्ष (सामने) होनेका विचार किया अर्थात् प्रकट हो गये। [जैसे समुद्र भीतर जलके भरजानेपर उसे तटके बाहर फेंक देता है, वैसे ही दमयन्तीको देखकर नलका हृदय पहलेसे ही आनन्दपूर्ण हो गया था, फिर उसके अङ्गप्रत्यङ्गका वर्णन करनेसे वह आनन्दसागर उमड़ पड़ा। 'अष्टमसर्गके प्रथम श्लोकमें दमयन्तीद्वारा नलको देखे जानेका वर्णन होनेसे '...... तस्याः प्रत्यक्षीभवितुमैच्छत् (उस दमयन्तीके प्रत्यक्ष (सामने प्रकट) होनेकी नलने इच्छाकी) यह अर्थ ठीक नहीं होता, किन्तु 'प्रकटो जातः' (प्रकट हुए) यह नारायणभट्ट-सम्मत अर्थ युक्त प्रतीत होता है] ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं[1] तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः ॥ १०९॥

श्रीहर्षमित्यादि। गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिर्नामास्य कृतः प्रबन्धः तद्भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने
सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥ ७ ॥

---

१ "—भगिनी—" इति पाठान्तरम्।
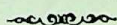
एक ग्रन्थकर्ता होनेसे गौडोर्वीशकुलशस्तिभणिति अर्थात् गौड देशके राजाके वंशकी प्रशंसाको कहनेवाले (पक्षा०—उक्त 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति' नामवाले ग्रन्थ विशेष । पाठा०—गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभगिनी अर्थात् गौड देशके राजाके कुलकी प्रशंसा । पक्षा०—'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' नामक ग्रन्थविशेष रूपी बहन] का सहोदर············ यह सप्तम सर्ग समाप्त हुआ । (शेष अर्थ पूर्ववत् जानें) ॥ १०९ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

अथाद्भुतेनास्तनिमेषमुद्रं[1]मुन्निद्ररोमाणममुं युवानम् ।
दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ॥१॥

अथेति । अथ नलप्रादुर्भावानन्तरमद्भुतेन दमयन्तीसाक्षात्कारजन्यविस्मयवशेन अस्ता निमेषमुद्रा निमीलनबन्धो यस्य तं निर्निमेषमित्यर्थः । उन्निद्ररोमाणं हृष्टरोमाणमिति च विस्मयानुभावोक्तिः । युवानममुं नलमन्यत्राद्भुतेन नलरूपसाक्षात्कारविस्मयेन अस्तनिमेषमुद्राः उन्निद्ररोमाणो युवतय इति परिणामः कार्यः । ता अमी सभासदाः समस्ताः सुदृशः स्त्रियः दृशा पपुरतितृष्णया ददृशुरित्यर्थः । तथा महीमघोनो भूदेवेन्द्रस्य भीमस्य सुता भैमी च पूर्वोक्तविस्मयानुभववती युवतिश्चेति भावः । तं दृशा पपावित्यर्थः । भैम्याः पृथगुपादानं दर्शनस्यानुरागपूर्वकत्वलक्षणविशेषद्योतनार्थः ॥ १ ॥

इस (नलके प्रत्यक्ष होने) के बाद दमयन्ती-दर्शनजन्य आश्चर्यसे निमेषरहित तथा रोमाञ्चयुक्त इस युवक (नल) को सम्पूर्ण सुलोचनाओं (सुन्दर नेत्रवाली सखियों) ने तथा राजा भीमकी पुत्री (दमयन्ती) ने सहसा (अर्थात् अतर्कितावस्थामें नलके वहां उपस्थित होने से उत्पन्न) आश्चर्यसे निमेष रहित (एकटक) होकर नेत्रसे (एकवचन 'नेत्र' शब्दका प्रयोग होनेसे कटाक्षपूर्वक) देखा । [परम सुन्दरी दमयन्तीके देखनेसे आश्चर्यचकित नल निर्निमेष एवं रोमाञ्चित हो ही रहे थे, किन्तु अन्तःपुरमें उनके सहसा प्रकट हो जानेसे सखियों सहित दमयन्ती भी आश्चर्य चकित होकर निमेषरहित दृष्टिसे युवक होनेसे दर्शनीय नलको देखने लगी। यहां 'सुदृशः' (सुन्दर नेत्रवाली) विशेषण देकर दृष्टिसे पान करना कहनेसे सुन्दर नेत्र होनेसे अधिक पान करने अर्थात् नलको देखनेमें सखियोंका सामर्थ्याधिक्य भी ध्वनित होता है। सब सखियोंके सहित दमयन्तीने नलको देखा] ॥ १ ॥

---

१. "—मुद्र—" इति पाठान्तरम् ।

कियच्चिरं दैवतभाषितानि निह्नोतुमेनं प्रभवन्तु नाम ।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः ॥ २ ॥

नन्वयमिन्द्रादिवाक्यातिक्रमेण कथमासां प्रादुरासीदित्यत्रोत्तरमाह—कियदिति। दैवतभाषितानि आहृत्य एवं दूत्यमाचरत्वेवंरूपाणीन्द्रवाक्यानि कियच्चिरं कियन्तं बहुकालमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, अव्ययविशेषणत्वात् किमिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । 'क्रियाव्ययानां भेदकान्येकत्वेऽपि' इति नपुंसकलिङ्गशेषेष्वमरः । एनं नलं निह्नोतुमाच्छादयितुं प्रभवन्तु शक्नुवन्तु नाम न शक्नुवन्तु खल्वित्यर्थः । सम्भावनायां लोट् । तथाहि—पलालजालैः व्रीह्यादितृणपूगैः पिहितः संरक्षणार्थमाच्छादितः इक्षुडिम्भः इक्षुप्ररोहः स्वयं स्वत एव प्रकाशं प्रादुर्भावमासादयति इक्ष्वङ्कुरस्येव कामिनोऽप्यतिप्रौढरागस्य दुर्वारो विकार इति भावः । अत्र नलेक्षुडिम्भयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन समानधर्मनिर्देशाद्दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २ ॥

देवताओंके कथन (अन्तर्द्धानरूप वरदानः, दे० ५।१३७) कितनी देरतक इस नलको रोकें, क्योंकि पुआलसे ढका हुआ गन्ने (ईख) का अङ्कुर स्वयमेव प्रकाशित हो जाता (बढ़कर उस पुआलके ऊपर आ जाता) है। [यहां पर 'गन्ने' के अंकुरका दृष्टान्त देकर कविने 'गन्ने'के अङ्कुरसे अन्तिम कालमें प्राप्त होनेवाले मधुर गुड–शर्करा आदिके समान नलका स्वयं प्रकट होनेका फल भी भविष्यमें मधुर अर्थात् उत्तम ही होगा, यह सूचित किया है]॥ २ ॥

अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत् ।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ॥ ३ ॥

अपाङ्गमिति । अस्य नलस्य दृशो रश्मिः भैमीमभिलष्य कामयित्वा यावदपाङ्गन्तस्या अपाङ्गदेशमपि नाप भैमीं तु नापेति किमु वक्तव्यं तावदेव स्मराशुगोऽस्यां सुभ्रुवि भैम्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं समूलाग्रमित्यर्थः । अभिविधावव्ययीभावः । ममज्जेत्यन्योन्यरागोक्तिः । अत्र दृष्टिपातस्मरपातयोः करणयोः पौर्वापर्यभङ्गोक्तिरित्यतिशयोक्तिभेदः ॥ ३ ॥

नलकी दृष्टि दमयन्तीकी अभिलाषा करके जब तक (अतिनिकटवर्ती) नेत्रप्रान्तको भी नहीं गयी (फिर दूरस्थ दमयन्ती तक पहुंचनेकी बात ही क्या है ?) तभी तक कामदेवका बाण सुभ्रू दमयन्तीके प्रत्येक अङ्गमें फल (बाणाग्रभाग) लेकर पङ्खतक अर्थात् पूरा बाण प्रविष्ट हो गया। [जबतक नल दमयन्तीको अच्छीतरह नहीं देख सके तभी तक प्रथमतः नलके लिए कामुकी दमयन्ती की कामवासना उन्हें देखकर अत्यन्त बढ़ गयी] ॥ ३ ॥

यदक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद्द्वावपि पञ्चबाणः ।
चक्रे न वैमत्यममुष्य[1] कस्माद्बाणैरनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः ॥ ४ ॥

1. "वैमुख्य—" इति पाठान्तरम् ।

पुनरप्यन्योऽन्यानुरागमेवाह—यदिति। पञ्चबाणो विषमेषुः द्वावपि भैमीनलौ अक्रममविद्यमानक्रमं युगपदित्यर्थः। विक्रमेण या शक्तिस्तस्याः साम्यात् साम्यमालम्ब्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। उपाचरत् उपाचचार विषमैः बाणैर्युगपत् उभावप्यवैषम्येण प्रहृतवानिति। अमुष्य समौपचरणस्य अर्धार्धशो विभागभाजो न भवन्तीति तथोक्तः विषमसङ्ख्यैः अशक्यसमविभागैरित्यर्थः। बाणैः शरैः कर्तृभिः पञ्चभिरिति भावः। वैमत्यमसम्मतिः कस्मात् कथं न चक्रे कृतं महच्चित्रमिति भावः। अत्र विषमैर्युगपदुभयत्र समप्रहारविरोधस्य स्मरमहिम्ना समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

पञ्चबाण (पांच बाणोंवाला अर्थात् कामदेव) पराक्रमसे उत्साहका अवलम्बनकर (अथवा—मानसिक उत्साहरूप बलके सामर्थ्य या समानतासे, अथवा—पक्षियोंके आक्रमणमें जो शक्ति उसकी समानतासे अर्थात् जिस प्रकार कबूतर एक साथ खलिहान आदिमें उतरते और दानोंको चूँगते हैं उसके समानतासे, अथवा—पक्षियोंकी बुद्धिके अर्थात् एक साथ दाना चूंगना उसकी समानतासे, अथवा—विक्रमतुल्य नल और शक्ति की तुल्यतासे, अथवा—विक्रमरूप नल और शक्तिरूपा दमयन्तीकी समानतासे) एक साथ दोनों (दमयन्ती-नल) को प्रहृत किया, (अथवा—नल-दमयन्तीको विक्रम-शक्तितुल्य अर्थमें पूजित या सत्कृत किया); वह (प्रहार करना) इस (कामदेव) का पांच बाण होनेसे आधा विभाग करनेके अयोग्य बाणोंसे विमतिभाव (विरुद्धभाव) क्यों नहीं किया? (यह आश्चर्य है)। [यदि पञ्चबाण कामदेव दमयन्ती और नलको एक साथ बाणोंसे आहत नहीं करके आगे पीछे आहत करता तो जिसे पहले आहत करता उसमें अधिक अनुराग तथा जिसे बादमें आहत करता उसमें कम अनुराग सिद्ध होता; इस प्रकार दोनोंका परस्परमें समान अनुराग नहीं प्रतीत होता। इससे कामदेवने एक साथ ही दोनोंको आहतकर परस्परमें दोनोंका समान अनुराग है, यह सिद्ध किया है। इसी प्रकार अपने बाणोंकी संख्या पांच होनेसे विना आधा-आधा विभाग किये अर्थात् विना ढाई-ढाई बाण किये दोनोंको पूरे पांच-पांच बाणोंसे आहत कर कामदेवने उनका परस्परमें समान अनुराग होना सिद्ध किया। यदि कामदेव पांच बाण होनेसे उनका ठीक आधा-आधा विभाग नहीं हो सकता था और जो बाण आधा होता वह खण्डित होनेसे निष्क्रिय हो जाता और यदि सब बाणों को आधा २ विभाग करते तो सबके सब निष्क्रिय हो जाते और प्रत्येक बाणोंके मादन आदि पृथक् धर्म होनेसे जिस बाणको आधा २ करता तो उसका गुण नष्ट हो जाता या बाणोंमें भी परस्पर वैमत्य (विरोध) होता कि मुझे क्यों दो टुकड़ा किया दूसरे को क्यों नहीं किया तथा यदि नल या दमयन्तीमेंसे किसीको दो और किसीको तीन बाणोंसे आहत करता तब भी कम दो बाणसे जो आहत होता उसमें कम अनुराग तथा तीन बाणोंसे जो आहत होता उसमें अधिक अनुराग सिद्ध होता, अतः ऐसा न्यूनाधिक बाणोंसे प्रदान न करके दोनों को समान बाणोंसे ही तथा एक साथ ही कामदेवने जो प्रहार किया, यह आश्चर्य है] ॥ ४ ॥

तस्मिन्नलोऽसाविति साऽन्वरज्यत् क्षणं क्षणं केह स इत्युदास्त[1] ।
पुरः स्म तस्यां वलतेऽस्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति । सा भैमी तस्मिन् पुंसि असौ नल इति हंसादिमुखश्रुतरूपसंवादान्नल इति मत्वा क्षणं क्षणमल्पकालमत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अन्वरज्यदनुरक्ताऽभवत् एतेन हर्षः सूचितः । पुरे स नलः क्वेहेत्यसम्भावितमिति मत्वेत्यर्थः । इति नैवोक्तार्थत्वादप्रयोगः । क्षणमुदास्त उदासीना स्थिता । आसेः कर्तरि लङ् तङ् । एतेन विषादः सूचितः, तथा चास्या भावसन्धिरासीदित्यर्थः । अथ नलस्य तस्यां भावसन्धिमाह—अस्य नलस्य चेतः पुरः प्रथमं तस्यां दमयन्त्यां वलते स्म चचालेति हर्षोक्तिः । पुनः दूत्यादनेन कर्त्रा नलेन न्यवर्ति नीचकृत्ये स्थितस्य इदमनुचितमिति बलात्कारेण निवर्तितमिति विषादोक्तिः, रागस्तु समग्ररूढ एवानयोरिति भावः ॥५॥

वह दमयन्ती उस (नल) में यह नल हैं यह मानकर अनुरक्त होती थी, वे यहां (अन्तःपुर या इस नगरमें भी) कहां से या कैसे आ गये ? यह मानकर उदासीन हो जाती थी और उस नलका चित्त उस दमयन्तीमें पहले (पाठा०—बारबार) चञ्चल हो उठता था, किन्तु बादमें दूत होनेसे वे अपने चित्तवृत्तिको हटा (रोक) लेते थे । [पहले तो दमयन्ती को हर्ष तथा बादमें नलके अन्तः पुरमें आनेकी संभावना न होनेसे दमयन्ती को तथा स्वयं देवोंके दूत होनेसे दमयन्तीमें अनुराग करना अनुचित होनेसे नलको उदासीनता हो जाती थी । इस प्रकार पूर्व वचन (श्लो० ४ के) अनुसार दोनोंमें समान अनुराग व्यक्त किया गया है] ॥ ५ ॥

कयाचिदालोक्य[2] नलं ललज्जे कयापि तद्भासि हृदा ममज्जे ।
तं कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

अथ तत्सखीनामपि तदा शृङ्गारभावा बभूवुरित्याह—कयेति । कयाचित्कन्यया नलमालोक्य ललज्जे लज्जितं, भावे लिट् । कयापि तद्भासि तल्लावण्ये हृदा ममज्जे हृदि तन्मयत्वं भावितमित्यर्थः । एतेन तत्प्राप्तिसङ्कल्पो गम्यते, भावे लिट् । कापि कन्या तं नलं स्मरमेव मेने, इति विस्मयोक्तिः । अन्या कन्या मनोभुवो वशभूयं वशत्वं "भुवो भाव" इति क्यप् । भेजे । एतेन औत्सुक्यं गम्यते ॥ ६ ॥

नलको देखकर कोई (पाठा०—कोई कुलीन) सखी लज्जित हो गयी, कोई सखी उनके सौन्दर्यमें हृदयसे मग्न हो गयी (सौन्दर्यके देखने मात्रसे कामपराधीन होकर स्मरान्ध हो गयी), किसी सखीने उनको (साक्षात्) कामदेव ही माना और कोई सखी सर्वथा कामपरवश हो गयी ॥ ६ ॥

---

१. "पुनः" इति पाठान्तरम् ।
२. "तं वीक्ष्य काचित्कुलजा" इति पाठान्तरम् ।

कस्त्वं कुतो वेति न[1] जातु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभातिभारात् ।
उत्तस्थुरभ्युत्थितिवाञ्छयेव[2] निजासनान्नैकरसाः कृशाङ्ग्यः ॥ ७ ॥

कस्त्वमिति । कृशाङ्ग्यः स्त्रियः एकरसा आनन्दरसपरवशाः सत्य इत्यर्थः । अत एवाप्रतिभाया अप्रतिपत्तेरतिभारादतिमहत्त्वादिति कर्तव्यता मोहातिरेकादित्यर्थः । तं नलं कस्त्वं कुतो वा आगत इति प्रष्टुमपि जातु कदापि न शेकुः । किञ्च अभ्युत्थितिवाञ्छया प्रत्युत्थानेच्छयेवोत्तस्थुः निजासनात्तु नोत्तस्थुः, तस्य तेजो विशेषाद्धठान्मनसैवोत्तस्थुः । न तु वपुषा रसपारवश्यादिति भावः ॥ ७ ॥

कृशाङ्गी बालाएं एक रस (आनन्दके परवश, पाठा०—अनेकरस अर्थात् भय, लज्जा और आनन्दके परवश) हो (अत एव) प्रतिभा-हीन हो जानेसे 'तुम कौन हो ? कहांसे आये हो ??' ऐसा नहीं पूछ सकीं; किन्तु एक रस (पाठा०—अनेकरस) होकर प्रतिभा-हीन हो जानेसे) अभ्युत्थानकी इच्छासे अपने आसनसे (भी) नहीं उठीं (अपि तु नलके तेजोविशेषसे मनसे ही अभ्युत्थान किया अर्थात् सभी नलको सहसा देखकर किंकर्तव्य विमूढ हो गयीं । पाठा०—……अभ्युत्थानकी इच्छासे हो अपने आसनसे उठ गयी अर्थात् खड़ी हो गयीं)। [अन्य भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट व्यक्तिके सहसा आनेपर उसका नाम तथा आनेका कारण निष्प्रतिभ होकर नहीं पूछता, किन्तु मानो विवश हो खड़ा हो जाता है] ॥७॥

स्वाच्छन्द्यमानन्दपरम्पराणां भैमी तमालोक्य किमप्यवाप ।
महारयं निर्झरिणीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम् ॥ ८ ॥

स्वाच्छन्द्यमिति । भैमी तं नलमालोक्य किमप्यनिर्वाच्यमानन्दपरम्पराणां स्वाच्छन्द्यमुच्छृङ्खलत्वम् । 'स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इत्यमरः । निर्झरिणी गिरिनदी धाराधरकेलिकालं मेघविहारकालं वर्षाकालमासाद्य वारां वारिणाम् । 'आपः स्त्रीभूम्नि वार्वारि' इत्यमरः । महारयमिवाप ॥ ८ ॥

दमयन्तीने उस नलको देखकर अनिर्वचनीय आनन्दाधिक्यको उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार पर्वतीय नदी वर्षाकालको प्राप्तकर जलके बड़े वेगको प्राप्त करती है। [नल-दर्शनसे दमयन्ती को वर्णनातीत आनन्द हुआ ॥ ८ ॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत् ।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः ॥ ९ ॥

तत्रेति । अस्या भैम्या दृक् दृष्टिरस्य नलस्य यत् अङ्गमग्रे प्रथममपश्यत् तत्रैव मग्ना सती अन्यदस्याङ्गं नायास्यत् नागमिष्यत्, यदि निमेषः पक्ष्मपातः चिराद्विच्छिद्य विच्छिद्य विरमय्य विरमय्य बुद्धिधारां ज्ञानपरम्पराम् अस्यै दृशे नादास्यत् न दद्यात् ।

---

१. "न शक्नुवत्यः" इति पाठान्तरम् ।
२. "वाञ्छयैव निजासनादेकरसाः" इति पाठान्तरम् ।

क्रियातिपत्तौ लृङ् । निमेषकृतबुद्धिविच्छेदादङ्गान्तरप्राप्तिः, न तु तृष्णयेति भावः ॥९॥

इस दमयन्तीकी दृष्टि इस नलके जिस अङ्गमें पहले पड़ी उसीमें मग्न होकर (फँस कर या डूबकर) दूसरे अङ्गको नहीं प्राप्त होती अर्थात् दूसरे अङ्गको नहीं देखती, यदि निमेष (पलकका गिरना) बहुत देरमें रुक-रुककर इस (दमयन्ती या दृष्टि) का बुद्धिविच्छेद नहीं कर देता । [बहुत बिलम्बतक एकटक देखते रहनेके बाद पलक गिरनेसे बुद्धि-विच्छेद होनेपर ही दमयन्ती नलके दूसरे २ अङ्गोंको देखती थी, पहले देखे जाते हुए अङ्गको देखनेसे सर्वथा सन्तुष्ट हो जानेके कारण दूसरे अङ्गको नहीं देखती थी]॥ ९ ॥

दृशापि सालिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाग्रावगताङ्गहर्षैः ।
अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

दृशेति । सा भैमी दृशा आलिङ्गितं प्राप्तमस्य नलस्याङ्गमङ्गान्तरं अग्रावगताङ्गहर्षैः पूर्वगृहीताङ्गजनितानन्दैः तत्पारवश्येनेत्यर्थः । न जग्राह नाज्ञासीत् । अथ कथञ्चिदनन्तरं अङ्गान्तरे ईक्षिते गृहीते तु निवृत्य पूर्वदृष्टमङ्गं न सस्मार तस्य तस्य लोकोत्तरत्वादिति भावः ॥ १० ॥

उस दमयन्तीने नेत्रसे आलिङ्गित अर्थात् देखे हुए भी नलके अङ्गको पूर्वज्ञात हर्षके कारण नहीं देखा और बादमें दूसरे अङ्गके देखनेपर पहले देखे हुए अङ्गका स्मरण नहीं किया । [नलके जिस अङ्गको दमयन्ती देखती थी, उसीको अत्यन्त रमणीय होनेके कारण देखने लग जाती थी, पहले देखे हुए अङ्गका स्मरण तक भी वह नहीं करती थी । अन्य कोई व्यक्ति पूर्वदृष्ट वस्तुका स्मरण करता है, पर दमयन्तीने स्मरण नहीं किया यह आश्चर्य है । और अन्य भी कोई व्यक्ति उत्तम वस्तु प्राप्तकर पूर्वप्राप्त वस्तुका स्मरण नहीं करता । नलके अङ्ग एक दूसरेसे बढ़कर सुन्दर थे]॥ १० ॥

हित्वैकमस्यापघनं विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसीमाम् ।
चिरं चकारोभयलाभलोभात् स्वभावलोला गतमागतञ्च ॥ ११ ॥

हित्वेति । स्वभावलोला अभिमतविषयलाभे किमु वक्तव्यमिति भावः । तद्दृष्टिर्भैमीदृष्टिरस्य नलस्य एकमपघनमवयम् । "अपघनोऽङ्ग"मित्ययान्तो निपातः । हित्वा अङ्गान्तरभुक्तिसीमावयवान्तरदेशं विशन्ती चिरमुभयोः लाभे लोभाद्गर्धनात् । "उभावुदात्तो नित्यम्" इत्यत्र पृथक्सूत्रकरणादेव नित्यमजादेशे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणमुभयशब्दस्य वृत्तावप्ययजर्थमिति कैयटः । गतमागतञ्च चकार उभयोरपि तथा रमणीयत्वादिति भावः ॥ ११ ॥

इस नलके एक अङ्गको (देखनेके बाद उसे) छोड़कर दूसरे अङ्गके देखनेकी सीमामें प्रवेश करती हुई स्वभावतः चञ्चल दमयन्ती-दृष्टिने दोनों (अङ्गों) के सौन्दर्य लाभ होनेके लोभसे गमनागमन किया अर्थात् कभी पूर्वदृष्ट अङ्गको देखा तो कभी दूसरे अङ्गको देखा । [जो स्वभावतः चञ्चल है वह बार २ इधर-उधर जाता-आता है, उसमें भी कदा-

चित् अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति होने लगे तब तो वह (स्वभाव चञ्चल व्यक्ति) अवश्य ही बार-बार इधर-उधर अर्थात् दोनों ओर आता जाता है। उसी प्रकार दमयन्तीकी दृष्टि भी स्वभाव चञ्चल (स्त्री की दृष्टिका चञ्चल होना गुण है, दोष नहीं) होनेसे कभी नलके पूर्व दृष्ट अङ्गको देखती थी तो कभी नये दूसरे अङ्गको देखती थी, क्योंकि वह यह चाहती थी कि दोनों अङ्गोंमेंसे जो अङ्ग अधिक सुन्दर हो उसे मैं देखूं, किन्तु बार-बार ऐसा करनेपर भी नलके दोनों या सभी अङ्गोंके एकसे एक सुन्दर होनेके कारण निर्णय नहीं कर सकनेके कारण उसे बार-बार गमनागमन करना पड़ा। अन्य भी कोई अधिक लाभेच्छु व्यापारी अधिक लाभ होनेकी सम्भावना होनेपर या अधिक लाभ होते रहने तक एकसे दूसरे स्थानमें बार-बार गमनागमन करता है]॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवीक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।
समानमानन्दमियं दधाना विवेद भेदं न विदर्भसुभ्रूः ॥ १२ ॥

निरीक्षितमिति। इयं विदर्भसुभ्रूर्वैदर्भी तस्य नलस्य सम्बन्धि निरीक्षितं च अवीक्षितं चाङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती तृष्णया पश्यन्ती समानमानन्दं दधाना भेदमिदं दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेकं न विवेद। उभे अप्यनवद्यया अपूर्ववदेव प्रीते इत्यर्थः॥

उस नलके सम्यक् प्रकारसे देखे हुए तथा नहीं देखे हुए अङ्गको सादर देखती एवं समान आनन्दको धारण करती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने (दोनोंमें) कोई भेद नहीं समझा। [अन्य कोई भी व्यक्ति देखे हुए पदार्थमें अनुत्कण्ठित तथा नहीं देखे हुए पदार्थमें उत्कण्ठित रहता है, किन्तु नलके सब अङ्गोंके एकसे एकके बढ़कर सुन्दर होनेसे दमयन्ती दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकारके अङ्गोंमें कोई भेद नहीं जान सकी, अपि तु उसने दोनों ही प्रकारके अङ्गोंमें समान आनन्दको प्राप्त किया। अन्य भी कोई योग साधनेवाली नारी वचनादिसे घट तथा वेदवाक्यादिसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष (वास्तविक स्वरूपका ज्ञान) होनेपर वेदादि वाक्यों से विचारकर निःसारभूत घटादि का त्याग एवं ससार ब्रह्मका ग्रहण कर महान् आनन्द प्राप्त करती है। किन्तु दमयन्तीने दोनों अङ्गोंमें जो समान आनन्द प्राप्त किया, यह आश्चर्य है अथवा—जगन्मात्रके ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण वह वस्तु पूर्वदृष्ट हो या न हो, किन्तु योग-साधक वह व्यक्ति उक्त दोनों प्रकारको वस्तुओं में ब्रह्मानन्दको समान रूपसे प्राप्त करता है उसी प्रकार उक्त द्विविध अङ्गोंके नलसम्बन्धी होनेसे अभेद होनेके कारण उनसे दमयन्तीको समान आनन्द प्राप्त हुआ, यह ठीक ही है]॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्यन्दतरीभवद्भ्याम् ।
तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम् ॥१३॥

सूक्ष्म इति। सूक्ष्मे तनीयसि घने सान्द्रे दृढे च नैषधस्य नलस्य केशपाशे केश-कलापे केशापबन्धने च। 'घनं सान्द्रे दृढे हार्यें पाशः पक्ष्यादिबन्धने' इति विश्वः। निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यामेकत्र विस्मयादन्यत्र यन्त्रलग्नाच्च निश्चलीभवद्भ्यां

तस्याः भैम्याः लोचने एव खञ्जनौ नेत्रोपमानपक्षिणौ । 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः' इत्यमरः । ताभ्यां तस्य केशपाशस्य सम्बन्धिनमनुबन्धं तत्र सक्तिं बन्धनञ्च विमोच्य मोचयित्वा गन्तुं नापारि न शेके । पारयतेर्भावे लुङ् । श्लिष्टविशेषणं रूपकम् ॥१३॥

महीन तथा सघन नलके केश-समूहमें (पक्षा०—केशरूपी जालमें) संलग्न होकर (पक्षा० —गिर कर अर्थात् फँसकर) निश्चल होते हुए (अनुरागसे निश्चल भावसे देखते हुए, पक्षा०—जालसे छुटकर बाहर निकलनेमें असमर्थ होते हुए) उस दमयन्तीके नेत्ररूपी दो खञ्जन पक्षी उस केशके अनुराग (पक्षा०-बन्धन) को छोड़कर अन्यत्र जाने (पक्षा०—जालसे छूटकर बाहर निकलने) के लिये समर्थ नहीं हो सके। [जिस प्रकार खञ्जन (खञ्जरीट) पक्षी महीन एवं सघन केशनिर्मित जालमें फँसकर बाहर निकलनेमें असमर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार खञ्जनके तुल्य सुन्दर दमयन्तीका नेत्रद्वय महीन एवं सघन नलके केश-समूहको देखनेमें संलग्न होकर अनुरागवश उसे छोड़कर दूसरे अङ्गको देखनेमें असमर्थ हो गया। सूक्ष्म एव सघन होनेसे शुभ लक्षणोंसे युक्त नलके केशसमूह को दमयन्ती सानुराग होकर देखने लगी ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य ।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

भूलोकेति । दमस्वसुर्दृष्टय एव सरोजानि क्रियाभेदाद्बहुत्वं तेषां राजिः भूलोकभर्तुस्तस्य नलस्य मुखं च पाणी च पादौ च मुखपाणिपादम् प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । तदेव पद्मानि तैः सह परीरम्भमाश्लेषमवाप्य समाना बन्धवः सबन्धवः । "जातिजनपद' इत्यादिना समानशब्दस्य 'स' भावः । तेषु बन्धमासक्तिं चिरं न तत्याज । स्निग्धा हि बन्धवः चिरमनाश्लिष्य न मुञ्चन्तीति भावः । पद्मत्वसजातित्वात् सबन्धुत्वम् ॥ १४ ॥

दमयन्तीके नेत्ररूप कमलसमूहने उस राजा नलके मुख, हाथ और चरणरूप कमलोंका आलिङ्गनकर अर्थात् देखकर समान बन्धुके बन्धन (अनुराग-बन्धन अर्थात् दर्शनासक्ति) को देरतक नहीं छोड़ा। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति समान बन्धुको प्राप्तकर देरतक उसका आलिङ्गन करना नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दमयन्तीके कमल तुल्य नेत्र नलके कमलतुल्य मुख हाथ और पैरको देरतक देखते रहे। नलके मुखादि तथा दमयन्तीके नेत्रके कमलतुल्य होनेसे परस्परमें उनका समान बन्धुत्व होना उचित ही है] ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा ।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मृष्टम् ॥ १५ ॥

तत्कालमिति । तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आनन्दमयी भवन्ती आनन्दात्मिका सती टित्वादुभयत्र ङीप् । तथा च भवत्तरोऽतिशयेन भवन्

१. 'अमुक्त' इति पाठान्तरम् ।

अनिर्वचनीयो निर्वक्तुमशक्यो मोहः अप्रतिपत्तिर्यस्याः सा आनन्दमग्नेत्यर्थः। सा भैमी विमुक्तसंसारिणोर्दशे अवस्थे तयोर्यौ रसौ स्वादौ ताभ्यां द्वौ स्वादौ यस्य तद्द्विस्वादन्तादृक् स्वादमित्यर्थः। मृष्टं शुद्धमुल्लासमुल्लासतामभुङ्क्त भुक्तवती। "भुजोऽनवन" इति लुङ् तङ्। आनन्दपारवश्यान्नैव किञ्चिद्विवेदेत्यर्थः ॥ १५ ॥

उस (नलको देखनेके) समय (नलके अलभ्य दर्शनलाभसे) आनन्दस्वरूपा तथा अत्यन्त अनिर्वचनीय मोह (अज्ञान या किंकर्तव्यमूढता, अथवा अतिशय सुरक्षित अन्तःपुरमें नल कैसे आगये, वे नहीं हैं क्या? इत्यादि भ्रम) वाली उस दमयन्तीने (ब्रह्मतुल्य नलदर्शनजन्य आनन्दसे) मुक्त तथा (मोह या भ्रम होनेसे) संसारीकी अवस्थाओं से शुद्ध उल्लास या मधुर द्विविध स्वादको प्राप्त किया। [मुक्त व्यक्ति ससारी नहीं होता एवं संसारी रहता हुआ व्यक्ति मुक्त भी नहीं होता; किन्तु दमयन्तीने एक साथ ही दोनों अवस्थाओंका आनन्द प्राप्त किया, यह आश्चर्य की बात है] ॥ १५ ॥

दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनितेति[1] नूनम् ।
न स व्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम् ॥ १६ ॥

अथ भैमी दूतसम्भाषणं विवक्षुर्नलैकबद्धप्राणायाः तस्यास्पदमनौचित्यं द्वाभ्यां परिहरति—दूत इत्यादि। नलस्य श्रियमिव श्रियं बिभर्तीति नलश्रीभृत् तत्सदृश इत्यर्थः। निदर्शनालङ्कारः। तस्मिन् दूते भाविभावा भविष्यदनुरागा इयं भैमी कलङ्किनो भग्नव्रता जनिता भविष्यतीति मत्वा जनिधातोर्लुट्। विधिर्विधाता इमां भैमीं प्रति नैषधस्य काय एव माया कपटं यस्य तं नलरूपधारिणं स्वयं साक्षादिन्द्रमेव दूतं न संव्यधात् न कल्पितवान्, उक्तदोषपरिहारायैवेन्द्रस्य तादृशीं बुद्धिं नाजीजनदित्यर्थः। नूनमिति वितर्के। वस्तुविचारत्वान्नायमुत्प्रेक्षालङ्कारः। दूतभावतिरोहितस्यापि तस्य वस्तुनो नलत्वान्नायं कलङ्क इति भावः ॥ १६ ॥

नलकी शोभा अर्थात् स्वरूपको धारण करनेवाले दूतमें भावी भाव करनेवाली यह (पतिव्रता) दमयन्ती (अन्य पुरुषमें भाव करनेसे) निश्चय ही कलङ्कयुक्त न होगी, इस लिये उस ब्रह्माने इस दमयन्तीके स्वयं इन्द्रको ही नलरूपधारी दूत नहीं बनाया। [यदि इन्द्र स्वयं नलका रूप धारण कर दूत बनकर दमयन्तीके यहां जायेंगे तो नलरूपधारी इन्द्रको वास्तविक नल समझकर अनुराग करनेके कारण पतिव्रता दमयन्तीको दोष लगेगा, इसी विचारसे ब्रह्माने इन्द्रको नलरूपधारी दूत बनाकर दमयन्तीके यहां नहीं भेजा। दूतरूपमें आनेपर भी वास्तविक नल होनेसे उनमें अनुराग करनेवाली पतिव्रता दमयन्तीके पातिव्रत्यमें कोई क्षति नहीं हुई] ॥ १६ ॥

पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदघेऽपि धावत् ।
तच्छिन्ति चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥ १७ ॥

---

१. "जनिमेति" इति पाठान्तरम् ।

नन्विन्द्रेऽपि समागते तदनभिलाषेनोक्तदोषावकाशः कुत इत्याशङ्क्य चित्तवृत्तीनां क्षणिकत्वान्न तथा श्रद्धेयमित्याह—पुण्य इति। मुनेर्यतेरपि किमुतान्यस्येति भावः। कस्य मनः पुण्ये स्यात् पुण्य एव प्रमाणं न कस्यापीत्यर्थः। कुतः, यद्यस्मादघे पापेऽपि धावदुच्छृङ्खलं प्रवर्तमानं तन्मन एव प्रमाणं निश्चायकमास्ते। किन्तु हृष्यत्करुण उद्यत्कृपः परमेश्वर एव तच्चिन्ति पापचिन्तकं भक्तस्य चित्तं रुणद्धि निवारयति। तस्मात् विधिविलसितमेवैतदिन्द्रचेष्टितमिति भावः ॥ १७ ॥

किसी भी मुनिका चित्त पुण्यमें (सत्कार्यमात्रमें ही) निश्चित रहता है ? अर्थात् किसी का भी नहीं, क्योंकि पाप (कर्म) में भी दौड़ता है (बिना विचार किये प्रवृत्त होना चाहता है), करुणाकर परमेश्वर या ब्रह्मा भक्तके उस (पाप या परमेश्वर) की चिन्ता करने वाले चित्तको रोकते हैं अर्थात् पापकर्मसे बचा लेते हैं। [अत एव विषय निःस्पृह मुनियोंके चित्तकी प्रवृत्ति भी सहसा पापकी ओर होती है परन्तु वे भगवत्कृपासे पापसे बच जाते हैं तो विषयोन्मुख दमयन्ती का चित्त नलके निश्चय नहीं रहनेपर भी तद्रूप नलमें अनुरक्त होने पर भी भगवत्कृपासे वास्तविक नलमें ही अनुरक्त हुआ। इस कारण उसके पातिव्रत्य धर्मको लेशमात्र भी क्षति नहीं पहुंची] ॥ १७ ॥

सालीकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुर्यथाप शालीनतया[1] न मौनः ।
तथैव तथ्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ॥१८॥

सम्प्रति धार्ष्ट्यदोषं परिहरति–सेति। मदनोन्मदिष्णुः उन्मदशीला "अलङ्कृञि" इत्यादिना इष्णुच्। सा भैमी यथा अलीकदृष्टे मिथ्यादृष्टे शालीनतया अधृष्टतया। "शालीनकौलीने अधृष्टाकार्यकारिणी" इति निपातः। मौनं नाप तदैव तथ्येऽपि नले न लेभे। एतत्सत्येऽनुचितमित्याशङ्क्य अर्थान्तरन्यासेन परिहरति। मुग्धेषु मदनोन्मादेषु सत्यमृषा सत्यासत्ययोर्विवेको विवेचना नास्तीत्यर्थः। अत एव न धार्ष्ट्यदोषोऽपीति भावः ॥ १८ ॥

कामोन्मत्ता वह दमयन्ती जिस प्रकार असत्यदृष्ट (स्वप्न–भ्रमादिमें देखे गये) नलमें भी अधृष्टतासे मौन नहीं रही, उसी प्रकार (अन्तःपुरमें दूतरूपमें आनेसे) सत्य दृष्ट (वास्तविक देखे गये) नलमें भी मौन नहीं रही अर्थात् नलको वहां देखकर बोली। [ठीक ही है—मोहित व्यक्तियोंमें वास्तविक या अवास्तविक का कौन विचार है अर्थात् कोई नहीं। (पाठा०—'अत्यन्तसलज्ज' शब्द दमयन्तीका विशेषण है। सिद्धान्तवागीश महोदयने जो 'शालीन' शब्दका 'निर्लज्ज या अतिप्रगल्भ' अर्थ किया है, वह 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' (अमर ३।१।२६), 'अथाधृष्टे शालीनशारदौ' (हैम ३।९७), 'अधृष्टौ च प्रोक्तौ शालीनशारदौ' (हला०—२।२२०); के वचनोंसे विरुद्ध होनेके कारण चिन्त्य है] ॥ १८ ॥

---

१. "शालीनतमा" इति पाठान्तरम्।

व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना स्वरेण साथ श्लथगद्गदेन ।
सखीजने[१] साध्वससन्नवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दुः ॥१९॥

व्यर्थीभवदिति । अथ द्विस्वादभागानन्तरं व्यर्थीभवन् भावपिधाने आकारगोपने यत्नो यस्याः सा गोप्तुमशक्येत्यर्थः । सा भैमी सखीजने साध्वसेन सन्नवाचि कुण्ठितमुखे कुण्ठिते सति, अन्यथा सखीमुखेनैव ब्रूयादिति भावः । नमदाननेन्दुर्लज्जानम्रमुखी सती श्लथगद्गदेन स्खलितेन स्वरेण तं नलं स्वयमूचे । कर्तरि लिङ् "ब्रुवो वचिः" ॥ १९ ॥

अपने भावको छिपानेमें असफल वह दमयन्ती भयसे सखियोंके चुप होनेपर (लज्जासे) नम्रमुखी होकर उस नलसे स्वयं बोली—[नलको सहसा अन्तःपुरमें उपस्थित देखकर भयसे सखियों को बोलनेमें असमर्थ देखकर दमयन्ती नलसे बोली । अन्यथा सखियोंसे ही पूछनेके लिये वह कहती] ॥ १९ ॥

नत्वा शिरोरत्नरुचापि पाद्यं सम्पाद्यमाचारविदातिथिभ्यः ।
प्रियात्तरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः[२] ॥२०॥

अथास्यातिथ्यं चिकीर्षुस्त्रिभिस्तत्कर्तव्यतामाह—नत्वेत्यादि । आचारविदा गृहस्थेन अतिथिभ्यो नत्वा पदयोर्निपत्य शिरोरत्नस्य रुचा कान्त्यापि पाद्यं पादार्थजलं "पादार्घाभ्यां च" इति यत्प्रत्ययः । सम्पाद्यं, किञ्च प्रियात्तराल्या प्रियवाक्यकदम्बकेन या रसधारा आनन्दलहरी तयापि वैधा विधिप्राप्तमधुपर्केण या तृप्तिः सा विधेया सम्पाद्या मुख्यानुकल्पोऽप्यनुष्ठेय इति भावः ॥ २० ॥

आचारज्ञ व्यक्तिको अतिथियोंके लिये प्रणामकर चूडामणि-कान्तिसे भी पाद्य (चरण-प्रक्षालनार्थ जल) देना चाहिये और प्रिय भाषणरूप रसधारासे भी विधिप्राप्त मधुपर्ककी तृप्ति करनी चाहिये । (पाठा०—'भाषणद्वारा भी मधुपर्कतृप्ति करनी चाहिये' अत एव आप-जैसे महापुरुषमें मेरा बोलना धृष्टता नहीं है) ॥ २० ॥

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि ।
आनन्दवाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः ॥२१॥

स्वात्मापीति । किञ्च शीलेनाचारप्रमाणेन स्वात्मा स्वदेहोऽपि । 'आत्मा जीवधृतौ देहः' इति वैजयन्ती । तृणं विधेयं तृणवदर्पणीयम्, निजापि आसनभूरुपवेशनस्थानं विहाय स्वयं तत उत्थाय देया, आनन्दवाष्पैरप्यम्भः पादोदकं कल्प्यम्, मधुभिर्म-

---

१. "सखचये साध्वसबद्धवाचि" इति पाठान्तरम् ।

२. क्वचित्तृतीयचतुर्थपादयोर्व्यत्यासेन (वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः प्रियात्तरालीरसधारयाऽपि इत्येवं) तथा "उक्त्यापि युक्ता मधुपर्कतृप्तिर्न तद्गिरस्त्वादृशि धृष्टता मे" इति पाठान्तरम् ।

धुप्रायैः वचोभिः पृच्छा कुशलप्रश्नः । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । भिदादित्वादङ् प्रत्ययः । विधेया कर्तव्या । 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः' इति स्मरणात् तृणाद्यसम्भवे तत्स्थाने स्वशरीरादिकमपि देयम् । अशक्तस्यानुकल्पेनापि शास्त्रार्थसिद्धेरिति भावः ॥ २१ ॥

विनयादि शीलके द्वारा (या सदाचार या स्वभावसे) अपने शरीरको भी तृण बनाना चाहिये अर्थात् तृण जिसप्रकार अतिनम्र होता है उसी प्रकार अपने शरीरको नम्र करना चाहिये (प्रणामादिसे नम्र बनना चाहिये, पक्षा०-शरीरको तृण स्थानीय बनाना चाहिये), अपने आसन की भूमिको भी छोड़कर देना चाहिये (स्थानान्तरके न होनेपर अपना आसन या भूमि छोड़कर उसे बैठनेके लिये देना चाहिये), आनन्दजन्य आंसूको जल (पादप्रक्षालनार्थ जल) बनाना चाहिये (जलके मिलनेकी सम्भावना नहीं होनेपर आनन्द जन्य आँसू को ही जल-स्थानीय समझना चाहिये, पक्षा०—अतिथिको देखकर हर्षित होना चाहिये ।) और मधुर वचनोंसे (कुशलादि) प्रश्न करना चाहिये । [अतिथि से मधुर भाषणकर उसके स्थान, वश, कुशल, आगमन कारण आदिके विषयमें प्रश्न करना चाहिये] ॥ २१ ॥

पदोपहारेऽनुपनम्रतापि सम्भाव्यतेऽपां त्वरयापराधः ।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलिसञ्जनेन स्वसंभृति[1]प्राञ्जलतापि तावत् ॥२२॥

पदेति । पदोपहारे पादोपचारप्रस्तावे त्वरया वेगेन आपामुदकानां अनुपनम्रता असन्निहितत्वमपराधः अपचारः सम्भाव्यते अपराधत्वेन गृह्यत इत्यर्थः । तत् तस्मात् अञ्जलिसञ्जनेनाञ्जलिबन्धेन तत्पूर्वकत्वमित्यर्थः । स्वस्यात्मनः संभृत्या सम्भरणेन सन्निधानेन प्राञ्जलता आर्जवं विधेयमिति यावत्, सापि तावत्कर्तुमर्हा आतिथ्यक्रियासामर्थ्ये विनयाचरणेनापि तच्चित्तोपार्जनं कर्तव्यम् । अन्यथा प्रत्यवायादिति भावः ॥ २२ ॥

पादप्रक्षालनार्थं शीघ्र जल नहीं लाना अपराध माना जाता है, उसे करनेके लिये तबतक (या सर्वथा) हाथ जोड़नेसे समीपमें अपनी उपस्थिति (अथवा-स्वयं विनम्रता, अथवा—आतिथ्य-समाग्री) करनी चाहिये अर्थात् जल आनेके पूर्व हाथ जोड़कर विलम्बसे जल आनेके अपराध की क्षमा-याचना करनी चाहिये । (अथवा—जल लानेके पूर्व स्वयं अतिथिके सामने हाथ जोड़कर उपस्थित नहीं होना अपराध समझा जाता है, अतः तबतक (जल आनेके पूर्व) हाथ जोड़कर अतिथिके सामने नमस्कार कर उपस्थित होना चाहिये, इससे सम्पूर्ण अतिथि-सत्कार सम्पन्न हो जाता है) ॥ २२ ॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि स्वमासनं तत्किमिति क्षणन्न ।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥२३॥

पुरेति । मया स्वमात्मीयमासनं पुरा पूर्वं त्वद्दर्शनक्षण एव परित्यज्य तत

१. "सुसंभृति" इति पाठान्तरम् ।

उत्थायेत्यर्थः । अत्यसर्जि अदायि तदेतदासनमनर्हमत्यश्लाघ्यमपि यदि वा अन्यतः कुतः प्रयातुमीहा वा तथापि किमिति क्षणं नालङ्क्रियेत भक्तजनानुकम्पया क्षणमात्रमत्रोपवेष्टव्यमिति भावः ॥ २३ ॥

मैंने पहले ही अपने आसनको छोड़कर (आपके लिये) दे दिया है, तो अयोग्य भी इस आसन को, यदि अन्यत्र जानेकी इच्छा हो तथापि क्षणमात्र (थोड़े समय तक) क्यों नहीं अलङ्कृत करते हैं ? [मेरा भाग्य इतना उत्तम नहीं कि आप मेरे यहां पधारें, अतः यदि अन्यत्र जाना चाहते हों, तथापि आपके पधारते ही छोड़े गये मेरे अयोग्य आसनको भी आप थोड़े समय तक अलङ्कृत करनेकी कृपा कीजिये] ॥ २३ ॥

निवेद्यतां हन्त समापयन्तौ शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम् ।
पदौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥२४॥

निवेद्यतामिति । शिरीषकोषस्य म्रदिमाभिमानं मार्दवगर्वं समापयन्तौ निवर्तयन्तौ इमौ पदौ । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तुच्छदयं निष्कृपं ते मनः (कर्तृ) कियद्दूरं कियच्चिरमित्यर्थः । प्रयासे निधित्सते निधातुमिच्छति । दधातेः सन्नन्ताल्लटि तङ् । "सनिमीमा" इत्यादिना इसादेशः । अत्र "लोपोऽभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः । निवेद्यतां ज्ञाप्यतां वाक्यार्थः (कर्म) । हन्तेत्यनुकम्पायाम् ॥ २४ ॥

शिरीष—पुष्पकी कोमलताके अभिमानको चूर करनेवाले अर्थात् शिरीष–पुष्पसे भी अधिक कोमल इन चरणोंको निर्दय आपका मन कितनी दूरतक प्रयास (प्रयत्नसाध्य कार्य) में लगावेगा अर्थात् आप कहां तक जावेंगे ? कृपाकर कहिये ॥ २४ ॥

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य ।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्यापि नानेन जनेन संज्ञा ॥२५॥

अनायीति । अद्य त्वया कतमो देशो वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशामनायि नीतो रिक्तीकृत इत्यर्थः । ययतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लुङ् । किञ्च त्वदाप्तसङ्केततया त्वयि लब्धसङ्गतिकतया कृतार्था सफला संज्ञा नामानेन जनेन आत्मना श्रव्यापि श्रोतुमर्हापि न किमिति काकुः । कश्च अचोदयत् कुतः आगतः किञ्च ते नामधेयं तन्निवेदनेनाप्यनुग्राह्योऽयं जन इति भावः ॥ २५ ॥

आज आपने किस देशको वसन्तमुक्त वनकी अवस्थावाला बना दिया है ? आपके सङ्केतसे कृतार्थ नामको भी यह जन (मैं दमयन्ती) नहीं सुन सकता है क्या ? [आप कहांसे आ रहे हैं तथा आपका शुभ नाम क्या है ?] ॥ २५ ॥

तीर्णः किमर्णोनिधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः ।
फलं किमेतस्य तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥२६॥

तीर्ण इति । सुरक्षिते साधुगुप्ते अत्यन्तदुष्प्रवेश इत्यर्थः । इहान्तःपुरे प्रवेशोऽभूदिति यत् एष प्रवेशः अर्णोनिधिरर्णव एव तीर्णो न किम् ? अर्णवसन्तरणतुल्यं न

किमित्यर्थः। किन्तु एतस्य साहसस्य फलं किमद्यापि चिरं विमृश्यापीत्यर्थः। तावन्न विनिश्चिनोमि निश्चेतुं न शक्नोमीत्यर्थः। अत्रान्तःपुरप्रवेशार्णवतरणलक्षणवाक्यार्थयोर्निर्दिष्टसामानधिकरण्यान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तुल्यमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठनिदर्शनाभेदः ॥ २६ ॥

'जो आपने सुरक्षित अन्तःपुरमें भी प्रवेश किया है' यह समुद्रपार नहीं किया है क्या ? अर्थात् आपका सुरक्षित इस अन्तःपुरमें प्रवेश करना बाहुसे समुद्र पार करनेके समान है। किन्तु इस साहस का फल क्या है (यहां आनेका इतना कठिन प्रयास आपने क्यों किया है ?) यह मैं अबतक निश्चित नहीं कर सकी हूं। [आप सुरक्षित इस अन्तःपुरमें आनेके कठिन प्रयास करने का प्रयोजन बतलाइये] ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतुं मन्ये मदक्ष्णोरपि तावदत्र ।
न लक्षितोरक्षिभटैर्यदाभ्यां पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥२७॥

तवेति। अथवा अत्रान्तःपुरे तव प्रवेशे मदक्ष्णोः सुकृतान्यपि तावत् यावदन्योऽपि हेतुः श्रोतव्य इति भावः। हेतुं कारणं मन्ये कुतः, यद्यस्मात् तन्वा मूर्त्या, जितपुष्पधन्वा जितकामः त्वं रक्षिभटै रक्षकयोधैर्नलक्षितः अलक्षितः सन्। नञर्थस्य न शब्दस्य "सुप् सुपा" इति समासः। आभ्यां मदक्षिभ्यां पीतोऽतितृष्णया दृष्टोऽसि। सुकृतविशेषं विना कथमीदृगभूतरूपसाक्षात्कारलाभ इति भावः ॥ २७ ॥

यहां आपके प्रवेश करनेमें मेरे नेत्राका पुण्य भी कारण है, क्योंकि शरीर (की शोभा) से कामदेवके जीतनेवाले आपको पहरेदारोंने नहीं देखा, अतः मेरे नेत्र देख रहे हैं। [यदि यहां आते हुए आपको पहरेदार देख लेते तो मैं आपका दर्शन नहीं पा सकती, अत एव मेरा अहोभाग्य है कि आप यहां तक आनेमें सफल हुए] ॥ २७ ॥

यथाकृतिः काचन ते यथा वा दौवारिकान्धङ्करणी च शक्तिः ।
रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनीभिस्[1]तथासि पीयूषभुजां सनाभिः ॥२८॥

यथेति। यया यतस्ते तव आकृतिर्मूर्तिः काचन अमानुषीत्यर्थः। यथा वा यतश्च द्वारि नियुक्ता दौवारिकाः तत्र नियुक्त इति ठक्। "द्वारादीनां च" इत्यैजागमः। तेषाम् अन्धीक्रियन्ते अनयेति अन्धङ्करणी दृष्टिप्रतिबन्धिका "आढ्यसुभग" इत्यादिना कृञः करणार्थे ख्युन्प्रत्ययः। "अरुर्द्विषत्" इत्यादिना मुमागमः, ख्युन्नन्तत्वात् ङीप्। शक्तिश्च काचनेत्यनुषज्यते। किञ्च जितकाञ्चनीभिर्जितहरिद्राभिः। निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः। समासान्तविधेरनित्यत्वात् "नद्यृतश्च" इति कबभावः। टाबन्तपाठे जितकनकाभिरित्यर्थः। रुचीभिर्दीप्तिभिः, कृदिकारादक्तिनो वा वक्तव्यः, रोचत इति रुच्यो देदीप्यमानोऽसि "राजसूयसूर्य" इत्यादिना कर्तरि क्यबन्तो निपातः। तथा ततो मूर्तिप्रभावतेजोभिः पीयूषभुजां देवानां सभाना

१. "काञ्चनाभि" इति पाठान्तरम्।

नाभिमूर्मूलं यस्य स सनाभिर्बन्धुरसि कश्चिद्दिव्यपुरुष उत्प्रेक्ष इत्यर्थः । "ज्योतिर्जन पद" इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः ॥ २८ ॥

जिस कारण लोकोत्तर अनिर्वचनीय तुम्हारा रमणीय रूप है और द्वारपालोंको अन्धा करनेका (उनसे अदृष्ट होनेका) लोकोत्तर अनिर्वचनीय सामर्थ्य है, उस कारणसे हल्दी (पाठा०—सुवर्ण) को जीतनेवाली कान्तियोंसे रुचिकर तुम अमृतभोजी देवताओंके समान हो। (अथवा—......सामर्थ्य है और हल्दी (पाठा०—सुवर्ण) को जीतनेवाली कान्तियोंसे रुचिकर हो, उस कारण तुम अमृतभोजी देवताओंके समान हो। [सुन्दरतम सौन्दर्य, सामर्थ्य कान्तिसे मैं आपको देवता मानती हूं, आप कोई देवता हैं क्या ?] ॥ २८ ॥

न मन्मथस्त्वं स हि नास्तिमूर्तिर्न वाश्विनेयः[1] स हि नाद्वितीयः ।
चिह्नैः किमन्यैरथवा तवेयं श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेषः ॥२९॥

नेति । त्वं देवेष्वपीति शेषः । मन्मथः कन्दर्पो नासि । हि यस्मात् स मन्मथः । अस्तिमूर्तिः विद्यमानमूर्तिः न भवतीति नास्तिमूर्तिः अनङ्गः । सुबधिकारे "अस्ति-क्षीरादिवचनम्" इति बहुव्रीहौ न-समासः । आश्विनेयोऽश्विनीपुत्रः न । हि यस्मात् सोऽद्वितीय एकाकी न । अथवा अन्यैश्चिह्नैरभिज्ञानैः किम् ? किन्तु तवेयं श्रीः शोभैव ताभ्यां द्वाभ्यामधिकोऽसाधारणो विशेषो व्यावर्तकधर्मः । तस्मादन्यः कोऽपि लोकोत्तरस्त्वमिति तत्त्वं किन्तु नलश्चेदसि धन्या भवामीति भावः ॥ २९ ॥

आप मन्मथ (कामदेव—मनको मथन करनेवाला) नहीं हैं, क्योंकि वह शरीरशून्य है (अथच आप मनको मथन करनेवाले नहीं, अपितु हर्षित करनेवाले हैं, यह भी ध्वनित होता है), अथवा—आप अश्विनीकुमार नहीं हैं, क्योंकि वह अकेला नहीं है (सर्वदा दो रहते हैं, अकेला कभी नहीं रहते, और आप अकेले हैं), अथवा दूसरे चिह्नों (अशरीरी होना या द्वितीयसे सहित होना) से क्या ? अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं है; उन दोनोंसे (अश्विनीकुमारसे, अथवा कामदेव तथा अश्विनीकुमारसे) यह शोभा ही असाधारण विशेषता है अर्थात् आपकी जो लोकोत्तर अधिक शोभा है, उसीसे आपको देखकर किसीको कामदेव तथा अश्विनीकुमार होनेका सन्देह नहीं होता, अतएव उनके अशरीरी या सदा दोनोंका साथ रहना—इन चिह्नोंसे कोई प्रयोजन नहीं है। [कामदेव तथा अश्विनीकुमारसे अधिक सुन्दर आप कौन हैं ?] ॥ २९ ॥

आलोकतृप्तीकृतलोक ! यस्त्वामसूत पीयूषमयूखमेतम्[2] !
कः स्पर्धितुं धावति साधु सार्धमुदन्वता नन्वयमन्ववायः ॥३०॥

आलोकेति । आलोकेन दर्शनेन त्वत्कर्मकेण उद्योतेन च । 'आलोकौ दर्शनोद्योतौ"

---

१. "—चाश्विनेयः—" इति पाठान्तरम् ।
२. "—मेनम्—" इति पाठान्तरम् ।

इत्यमरः । तृप्तीकृतलोक ! सन्तर्पितलोकेति सम्बुद्धिः । यः अन्ववायो वंशः एतं त्वामेव पीयूषमयूखं चन्द्रमिति रूपकम्, असूताजनयत् । अत एवोदन्वता उदधिना सार्धम् । "उदन्वानुदधिश्च" इति निपातनात्साधुः । साधु सम्यक् स्पर्धितुं धावति ननु अयमन्ववायः कः उदधितुल्यः ते वंशश्च क इति वक्तव्य इत्यर्थः । रूपकसङ्कीर्णोऽयमुपमालङ्कारः । नन्विति सम्बोधने ॥ ३० ॥

हे दर्शन (पक्षा०—प्रकाश अर्थात् चाँदनी) से संसार (पक्षा०—लोगों) को तृप्त करनेवाले ! जो वंश अमृतकिरण अर्थात् चन्द्ररूप तुमको उत्पन्न किया है, वह कौन वंश समुद्रके साथ स्पर्द्धा करनेके लिये सम्यक् प्रकारसे अग्रसर हो रहा है ?। [आपका वह कौन-सा वंश है, जो प्रकाशसे लोकतृप्तिकर चन्द्रमाको उत्पन्न करनेवाले समुद्रके साथ दर्शनसे जनतृप्तिकर आपको उत्पन्नकर स्पर्द्धा करनेके लिये अच्छी तरहसे अग्रसर हो रहा है ? आप किस वंशमें उत्पन्न हुए हैं ?] ॥ ३० ॥

भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वाऽमरं रक्षिजनाक्षिबन्धात् ।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्यास्तुत वस्तुतः सा ॥३१॥

इत्थं नलमेव मत्वैतावदुक्त्वा पुनर्नलसदृशमन्यं मत्वाऽन्यथा व्याहरतीत्याह—भूयोऽपीति । भूयः पुनरपि सा बाला भैमी तं पुरुषं रक्षिजनस्याक्षिबन्धादन्धीकरणादमानुषत्वाद्धेतोर्नलसुन्दरममरं कश्चिद्देवं मत्वा आतिथ्यान्यतिथ्यर्थानि "अतिथेर्ञ्यः" । चाटूनि प्रियवाक्यानि अपदिश्य व्याजीकृत्य तस्मिन् पुरुषे तिष्ठतीति तत्स्थां तन्निष्ठां "सुपि स्थः" इति कः । प्रियस्य नलस्य श्रियं शोभां वस्तुतः परमार्थतो दृष्ट्वैव अस्तुत स्तुतवती स्तौतेर्लङि तङ् । अत्रान्यधर्मस्यान्यसम्बन्धासम्भवेन प्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । न चैवं परपुरुषगुणस्तुतिप्रसङ्गः, वस्तुतस्तथात्वेऽपि तस्यास्तथाभिमानाभावादिति ॥ ३१ ॥

बाला वह दमयन्ती नलतुल्य सुन्दर उनको पहरेदारोंकी दृष्टिको व्यर्थ करनेसे देवता मानकर अतिथिसत्कारसम्बन्धी प्रिय कथनके बहानेसे उनमें स्थित प्रिय नलकी शोभाकी फिरसे प्रशंसा करने लगी। [बाला अर्थात् अपरिपक्व ज्ञानवाली होनेसे दमयन्तीका वास्तविक नलको भी कारण-विशेषसे देवता समझना उचित ही है] ॥ ३१ ॥

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।
खलत्वमल्पीयसि जल्पिते[1]ऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव ॥३२॥

अथ सर्वथापि स्तुतिकरणे कारणमाह—वागिति । गुणैरद्भुतैः अधिके स्तुत्यर्हे इत्यर्थः । वस्तुनि विषये मौनिता तूष्णींभावश्चेत् असह्यशल्यं दुस्सहशल्यप्रायं वाग्जन्मनो वाक्सत्ताया वैफल्यं स्यात् । अथैतत्परिहारायाह—अल्पीयसि जल्पिते अत्यल्पवचनेऽपि । भावे क्तः । खलत्वं दौर्जन्यमसहिष्णुत्वं स्यादित्यर्थः । तत्तस्माद्वन्दी

१. "जल्पिते तु" इति पाठान्तरम् ।

स्तुतिपाठकोऽयमिति भ्रमस्य भूमिता विषयित्वमेवास्तु। 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः। अवन्दिषु वन्दिभ्रमः श्रोतृदोषो न वाग्वैफल्यं खलत्वे एव स्तोतृदोषः। प्रत्युत सुगुणस्तुतिस्तस्य गुण एवेति तदङ्गीकरणमिति भावः ॥ ३२ ॥

अत्यधिक गुणयुक्त वस्तुके विषयमें चुप लगाना अर्थात् उसकी प्रशंसा न करना असह्य काँटेके समान वचनके जन्मलेनेके निष्फलता होती है (अथवा—वह वचनके जन्मलेनेकी विफलता असह्य शल्यरूप होता है और थोड़ा बोलनेमें दुष्टता होती है; इस कारण वन्दियोंके भ्रमका स्थान बनना ही ठीक है। [अतिगुणवान् वस्तुके विषयमें कुछ नहीं बोलना बोलनेवालेके लिये शल्यतुल्य दुःखदायी होता है, तथा उसके विषयमें थोड़ा बोलनेसे उसकी दुष्टता प्रकट होती है, इस कारण गुणसम्पन्न पुरुषकी विस्तृत प्रशंसा करनेवाले व्यक्तिको सुननेवाला भले ही वन्दी (भाट, चारण आदि) समझें, किन्तु उस गुणीकी प्रशंसा करना ही उचित है। इस पद्यको कविकी या स्वयं दमयन्तीकी ही उक्ति समझनी चाहिये] ॥

कन्दर्प एवेदमविन्दत त्वां पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म ।
चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥३३॥

अथ स्तौति—कन्दर्प इत्यादि। कन्दर्प एव पुण्येन सुकृतवशेन इदं त्वां त्वद्रूपमन्यजन्म जन्मान्तरं पुनरविन्दतेति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथमीदृग्रूपमिति भावः। किं तत्पुण्यं तदाह-चण्डीशस्य हरस्य चण्डं क्रूरमक्षि तृतीयनेत्रं तदेव हुताशस्तस्य कुण्डमग्न्यायतनं तस्मिन्निन्द्रियाणां मन्दिरमिन्द्रियाणामाश्रयः शरीरमिति यावत् तज्जुहाव तेन पुण्येनेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

जो (कामदेवने) शङ्करजीके भयङ्कर (तृतीय) नेत्ररूप अग्निकुण्डमें अपने शरीरको हवन कर दिया, उसी पुण्यसे कामदेव ही आपको पुनर्जन्मरूपमें प्राप्त किया है, ऐसा मैं मानती हूं। [कामदेवको शङ्करजीने नहीं जलाया, किन्तु वह पहलेसे भी अधिक सुन्दर शरीर पानेके लिये अपने शरीरको शङ्करजीके तृतीय नेत्ररूपी अग्निकुण्डमें हवन कर पुनर्जन्ममें आपको पाया है। अन्य कोई भी व्यक्ति सामान्य वस्तुको अग्निकुण्डमें हवन करनेसे उत्पन्न पुण्यके द्वारा पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर वस्तुको प्राप्त करता है। आप कामदेवसे भी अत्यधिक सुन्दर हैं] ॥ ३३ ॥

शोभायशोभिर्जितशैवशैलं करोषि लज्जागुरुमौलिमैलम् ।
दस्रौ हठात् श्रीहरणादुदस्रौ कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पम् ॥३४॥

शोभेति। किञ्च हठात् प्रसह्य श्रियः सौन्दर्यस्य हरणाद्धेतोःशोभायशोभिः सौन्दर्यकीर्तिभिः जितशैवशैलं निर्जितकैलासमैलमिलाया अपत्यं पुरूरवसम्। "तस्येदम्" इत्यण्प्रत्ययः। पर्यवसानाद्विशेषलाभः। लज्जया गुरुमौलिं दुर्भरशिरसं करोषि, दस्रावश्विनीसुतावुदस्रावुद्गतबाष्पौ करोषि, रोदयसीत्यर्थः। कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पं करोषि, कायकान्त्या सर्वानतिशय्य खेलसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(आप) हठसे शोभाका हरण करनेसे सौन्दर्यकीर्तिसे कैलासको जीतनेवाले पुरुरवाको लज्जासे नतमस्तक करते हैं, हठसे……जीतनेवाले अश्विनीकुमारोंको अश्रुयुक्त कर देते अर्थात् रुला देते हैं और हठसे……जीतने वाले कामदेवको सौन्दर्याभिमानसे हीन कर देते हैं ॥ ३४ ॥

अवैमि हंसावलयो वलक्षास्त्वत्कान्तिकीर्तेश्चपलाः पुलाकाः[1] ।
उड्डीय युक्तं पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः प्लवन्ते ॥३५॥

अवैमीति । वलक्षा धवलाः हंसावलयः तत्र कान्तिकीर्तेः सौन्दर्यकीर्तेः चपलाः चलिताः पुलाकास्तुच्छधान्यानीत्यवैमि जानामीत्युत्प्रेक्षा । 'स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये' 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इति चामरः । अत एवोड्डीयोत्पत्य पतिताः स्रवन्तीनां निम्नगानां वेशन्तानां पल्वलानां च पूरं प्रवाहं परितः समन्ततः । "अभितः परितः" इत्यादिना द्वितीया । प्लवन्ते इति युक्तं पुलकानां जलोपरि प्लवनमुचितमेवेत्यर्थः ॥३५॥

(मैं) श्वेत हंस-समूहको आपकी कान्तिकीर्तिका चञ्चल पुआल (पाठा०—बलाका) मानती हूं, (इसी कारण) उड़कर पुनः गिरे हुए वे नदी तथा छोटे २ गढ़ोंके (जल) प्रवाहके चारो तरफ तैरते हैं । [जिस प्रकार धान्यका निःसार भाग पुआल या पुआल की भुस्सी (पुअरसी) उड़कर गिरनेपर नदियों तथा गढ़ोंके पानी पर तैरती रहती है, उसी प्रकार नदियों तथा छोटे जलाशयोंके जलके सब ओर रहनेवाले श्वेत हंस-समूहको भी मैं आपके कान्तिकीर्तिको पुआल या पुअरसी समझती हूँ, श्वेततम कान्तिकीर्तिके पुआलका श्वेत होना उचित है । आपकी कान्तिकीर्ति हंस-समूहसे भी अतिशय स्वच्छ तथा गुणवती है] ॥ ३५ ॥

भवत्पदाङ्गुष्ठमपि श्रिता श्रीर्ध्रुवं न लब्धा कुसुमायुधेन ।
जेतुस्तमेतत्[2] खलु चिह्नमस्मिन्नर्धेन्दुरास्ते नखवेषधारि[3] ॥ ३६ ॥

भवदिति । कुसुमायुधेन कामेन भवतः पदाङ्गुष्ठं श्रिता श्रीरपि न लब्धा न प्राप्ता ध्रुवम् ? भवच्छ्रिता श्रीस्तु दूरापास्तेति भावः । तथा हि—तं कामं जेतुः स्मरहरस्य तृन्नन्तत्वात् "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । तज्जेतुरिति समासपाठे तृजन्तेन षष्ठीसमासः साधुश्चायमेव पाठः । तृन्नर्थस्य ताच्छील्यस्यानुपयोगात् रतीशजेतुरिति देशान्तरपाठस्त्वयुक्त एव प्रकृतार्थस्य सर्वनामोपादेयस्य स्वशब्दोपादाने पौनरुक्त्यदोषादिति । हस्तेन निर्दिशन्त्याह—एतदर्धेन्दुरूपं चिह्नमस्मिन्नङ्गुष्ठे नखकैतवेनास्ते खल्वित्यपह्नवभेदः । अर्धेन्दुचिह्नधारणादयमपि कामजेता यद्वा तच्चिह्नधारणात् तस्यापि स्मरस्य जेतेत्युभयथापि कथमेतच्छ्रीलाभः कामदेवस्येति भावः ॥ ३६ ॥

---

१. "बलाकाः" इति पाठान्तरम् । २. "तज्जेतुरेतत्" इति "रतीशजेतुः" इति च पाठान्तरे । ३. "नखकैतवेन" इति पाठान्तरम् ।

आपके (पैरके) अङ्गुष्ठकी शोभाको भी निश्चय ही कामदेव नहीं पा सका, क्योंकि उस (कामदेव) को जीतने वाले (शिवजी) का यह अर्धचन्द्ररूपी चिह्न नखका वेष धारणकर इस (अङ्गुष्ठ) में है। [शिवजीका भालस्थ अर्द्धचन्द्ररूप चिह्न आपके चरणोंके अंगूठेमें है, अत एव स्वविजयी शिवजीके भयसे कामदेव उस अंगूठेकी शोभाको भी नहीं पा सका तो फिर आपके सम्पूर्ण शरीर या अन्य किसी एक शरीरकी भी शोभाको कैसे पा सकता है। अन्य भी कोई व्यक्ति अपने विजेताके चिह्नको देखकर भयसे वहां नहीं जाता है। अथवा— जिस अर्द्धचन्द्ररूप चिह्नको शिवजी अपने शिरपर धारण करते हैं, वह चिह्न आपके चरणाङ्गुष्ठमें है, अतः कामविजयी शिवजीसे भी आपकी शोभाके श्रेष्ठ होनेसे आपके चरणाङ्गुष्ठश्रीको कामदेवका नहीं पाना ठीक ही है]॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णां तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दृश्येतरतां किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

राजेति। द्विजानां राजा चन्द्रो ब्राह्मणोत्तमश्च अनुमासं प्रतिमासं भिन्नोऽन्यः सन् अर्धेन्दुरन्यथैकस्य प्रतिकुहूषु मुखसायुज्याभावादिति भावः। पूर्णां राकास्विति भावः। तनुं शरीरं तपोभिः प्रत्यहं देवताभ्यः कलासमर्पणरूपैरिति भावः। तनूकृत्य कुहूषु अमावास्यासु दृश्येतरतामदृश्यतामेत्य भवन्मुखस्य सायुज्यमैक्यं प्राप्नोति किमित्युत्प्रेक्षा। यथा कश्चिद्ब्राह्मणः तीव्रेण तपसा ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति तद्वदित्यर्थः। अन्यथा कथं कुहूषु न दृश्यत इति भावः॥ ३७ ॥

द्विजराज (चन्द्रमा, पक्षा०–ब्राह्मणश्रेष्ठ) प्रत्येक मासमें भिन्न होता हुआ पूर्ण (सोलह कलाओंसे परिपूर्ण, पक्षा०—हृष्टपुष्ट या समस्त) शरीरको कृश करके 'कुहू' संज्ञक अमावस्याओंमें अदृश्य होकर आपके मुखके सायुज्य (समानता) को प्राप्त करता है क्या?। [जिस प्रकार कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण अपने समस्त शरीरको चान्द्रायण–सान्तपन आदि तपस्योंसे क्षीणकर अदृश्य होकर ब्रह्म सायुज्यको प्राप्त करता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी प्रत्येक मासमें सोलह कालाओंसे पूर्ण अपने पूर्ण शरीरको देवताओंके लिये प्रतिदिन एक एक कलाके समर्पण रूप तपस्यासे क्षीण करके 'कुहू' (सम्पूर्ण अदृश्य चन्द्रवाली अमावस्या तिथियों) में अदृश्य होकर आपके मुखके सायुज्य (एकीभाव अर्थात् सरूपता) को प्राप्त करता है क्या?। इस पद्यके "अनुमासभिन्नः" शब्द देनेसे प्रत्येक मासमें भिन्न २ चन्द्रमा है, एक ही चन्द्रमा प्रत्येक मासकी पूर्णिमाको पूर्ण तथा अमावस्याको क्षीण होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये]॥ ३७ ॥

कृत्वा[1] दृशौ ते बहुवर्णचित्रे किं कृष्णसारस्य तयोर्मृगस्य ।
अदूरजाग्रद्विदरप्रणाली[2]रेखामयच्छद्विधिरर्धचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

---

१. "विधाय चित्रे तव धीरनेत्रे" इति पाठान्तरम्।
२. "—प्रणालीच्छला· दृ—" इति पाठान्तरम्।

कृत्वेति। विधिर्विधाता बहुभिर्वर्णैः सितासितरूपैश्चित्रे सुदृश्ये तल्लक्षणत्वादिति भावः। ते तव दृशौ कृत्वा निर्माय कृष्णसारस्य मृगस्य सम्बन्धिन्योः तयोर्दृशोरदूरे समीपे जाग्रत्याविदरप्रणाल्याः स्फुटनमार्गस्य नेत्रप्रान्तवर्त्यर्धचन्द्ररेखाविशेषस्यच्छलात्। 'विदरः स्फुटनं भिदा' इत्यमरः। अर्धचन्द्रं गलहस्तिकामयच्छत् तत्समकक्षानर्हत्वादिति भावः। 'अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके गलहस्ते बाणभेदेऽपि' इति विश्वः। छलादयच्छदिति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या॥ ३८॥

ब्रह्माने बहुत वर्णों (कृष्ण, श्वेत और रक्तरूप) से विचित्र (अथवा –आश्चर्यजनक) बनाकर कृष्णसार (केवल कृष्ण अर्थात् काला ही जिसमें सारभूत है अन्य श्वे त तथा रक्त नहीं ऐसे) मृगके उन नेत्रोंके पार्श्वस्थित गर्तरूप रेखाके बहानेसे अर्द्धचन्द्र (गलहस्त अर्थात् गर्दनियां) दिया है क्या ? । [आपके नेत्रोंको ब्रह्माने कृष्ण-श्वेत रक्तवर्णसे बहुत विचित्र बनाया यह देख कृष्णसार (जिसमें केवल कृष्ण वर्ण ही सारभूत था, अन्य वर्ण नहीं थे ऐसे) मृगकी आँखें आपकी आँखोंसे समानता करने लगीं, अतः भले-बुरेके परीक्षक ब्रह्माने उस मृगकी आँखोंको गर्दनियां देकर बहिष्कृत कर दिया, वही चिह्न मृगों की आँखोंके नीचे गर्त (गढा) रूप रेखामें दृष्टि गोचर हो रहा है। अन्य भी किसी बड़ेकी बराबरी करनेवाले नीच व्यक्तिको न्यायकर्ता परीक्षक गर्दनमें हाथ डालकर बाहर कर देता है]॥ ३८॥

मुग्धः स मोहात् सुभगान्नदेहाद्ददद्भवद्भ्रूरचनाय चापम्।
भ्रूभङ्गजेयस्तव यन्मनोभूरनेन रूपेण यदा तदाभूत्॥ ३९॥

मुग्ध इति। भवद्भ्रुवो रचनाय निर्माणाय चापमुपादानत्वेन ददत् ब्रह्मण इति शेषः। 'नाभ्यस्ताच्छतु'रिति नुम्प्रतिषेधः। स मनोभूर्मोहादविमृश्यकारित्वलक्षणात्प्रवृत्तिनिमित्तान्मुग्धो मुग्धशब्दवाच्योऽभूत् सुभगात् सुन्दराद्देहात्तु न। पूर्वं कायः सौन्दर्यमुग्ध इत्युच्यते। सम्प्रति तु मौग्ध्यादित्यर्थः। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। कुतः यद्यस्मात् तवानेनेति हस्तनिर्देशः। रूपेण सौन्दर्येण करणेन यदा तदा सर्वदेत्यर्थः। भ्रूभङ्गेण भ्रूक्षेपमात्रेण जेयो जेतुं शक्योऽभूत्। कामस्त्वां रूपेण जेतुमशक्तोऽपि चापेनापि शक्नुयात्। सम्प्रति चापदानादुभयथापि भ्रष्टोऽभूदिति भावः॥ ३९॥

आपके भ्रूद्वयकी रचना करनेके लिए कामदेवने ब्रह्माको अपना चाप देता हुआ मोह (मूर्खता) से मुग्ध (मूढ) हो गया, आपके सौन्दर्यसे मुग्ध (सुन्दर) नहीं हुआ; इस कारण वह कामदेव सर्वदा आपके भ्रूभङ्ग मात्रसे (केवल भ्रूको थोड़ा टेढ़ा करनेसे ही आपके) इस रूपके द्वारा जीतने योग्य हो गया। [चाप सहित होकर भी कामदेव जब आपको नहीं जीत सकता था तब अपने धनुषको आपके भ्रूद्वय बनानेके लिये देकर धनुषसे रहित वह आपको कैसे जीत सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं जीत सकता, वह क्षुद्रतम शत्रुके समान थोड़ा भ्रूभङ्ग करनेसे ही जीतने योग्य हो गया है। अन्य भी कोई मूर्ख अपना शस्त्र शत्रुके

लिये देकर फिर शस्त्ररहित होनेसे उसे कदापि नहीं जीतता है। आपका भ्रूद्वय काम-धनुषके समान जगन्मोहक है]॥ ३९ ॥

मृगस्य नेत्रद्वितयं त्वदास्ये विधौ विधुत्वानुमितस्य दृश्यम् ।
तस्यैव च[1] त्वत्कचपाशवेशः पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छ एषः ॥ ४० ॥

मृगस्येति । त्वदास्ये विधौ त्वन्मुखचन्द्रे दृश्यं दृग्गोचरीभूतं नेत्रद्वितयं विधुत्वेन चन्द्रत्वेनानुमितस्य चन्द्रस्य मृगाविनाभावादिति भावः । मृगस्यैव तदीयमेवेत्यर्थः। किञ्च एषः तव कचपाशवेशः केशपाशसन्निवेशः तस्यैव मृगस्य पुच्छे वालधौ स्फुरच्चामरगुच्छ इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमनयोरीदृशी शोभेति भावः ॥ ४० ॥

आपके मुखरूपी चन्द्रमें दिखायी पड़ते हुए, चन्द्रत्वसे अनुमान किये गये मृगके ये दो नेत्र हैं (अथवा—···चन्द्रमें चन्द्रत्वसे···नेत्र दिखायी पड़ते हैं) तथा यह आपके केशपाश (केश-समूह) का वेश (रचना) उसी मृगके पूंछमें शोभित होते हुए चामर गुच्छ हैं (अथवा—यह शोभमान केशपाशवेश उस मृगका ही स्फुरित होते हुए चामरके गुच्छावाला पूंछ है) । [आपका मुख चन्द्ररूप, नेत्रद्वय मृगनयनरूप और केश-समूह मृग-पुच्छरूप है]॥ ४० ॥

आस्तामनङ्गीकरणाद्भवेन दृश्यः स्मरो नेति पुराणवाणी ।
तवैव देहं श्रितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वादः ॥ ४१ ॥

आस्तामिति । स्मरो भवेनेश्वरेणानङ्गीकरणादशरीरीकरणाद्धेतोर्दृश्यो नेति पुराणवाणी पुरातनवादस्तावदास्ताम् । तवैव देहं श्रितया "द्वितीयाश्रितातीते" त्यादिना समासः । श्रिया सौन्दर्येण न दृश्य इति नवो नूतनो वादस्तु वस्तु परमार्थः प्रतिभाति तदैतिह्यमात्रमिदं तु प्रत्यक्षमित्यर्थः । अतः पराजयलज्जानिमित्तमस्यादृश्यत्वमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

'कामदेव शिवजीके द्वारा (भस्म करनेके कारण) शरीर रहित करनेसे दृष्टिगोचर नहीं होता' यह पुराणवाणी (पुराणोंमें लिखित वचन, पक्षा०—पुरानी बात) रहे अर्थात् यों हीं पड़ी रहे, आपके ही शरीरका आश्रय की हुई (अथवा—शरीरका आश्रयकी हुई अर्थात् शरीर धारणकी हुई आपकी) शोभासे ही (परजयजन्य लज्जाके कारण) कामदेव दृश्य (दृष्टिगोचर, पक्षा०—सुन्दर) नहीं है, यह नया (अथवा—अपूर्व) वाद ठीक जचता है। [अथवा—आपकी शरीर-शोभासे ही कामदेव अदृश्य हो गया है । अन्य कोई भी व्यक्ति किसीसे पराजित होकर लज्जावश किसीके सामने नहीं आता है। अथवा—प्रतिभाका नया अतिवाद (अतिशयित कथन) है । वाणी एवं स्त्री जीर्ण है तथा वाद एवं नया पुरुष है; अतः इन दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है । पुरानी पड़ी हुई बातकी अपेक्षा नयी बातमें

१. "चञ्चत्कच·····पुच्छः" इति पाठान्तरम् ।

ही आस्था एवं विश्वास करना उचित है। आपकी शरीर शोभा कामदेव से भी बढ़ी–चढ़ी है]॥ ४१॥

त्वया जगत्युचितकान्तिसारे यदिन्दुनाऽशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येऽपि महेश्वरेण॥ ४२॥

त्वयेति। त्वया जगति उचितकान्तिसारे गृहीतलावण्यसर्वस्वे सति इन्दुना शिलोञ्छावेव वृत्तिः जीविका। 'उञ्छो धान्यकणादानं कणिकांशार्जनं शिलम्' इति यादवः। अशीलि शीलितेति यत् तत्तस्माद्धेतोः मनोरपत्यं पुमान् मानवः "तस्यापत्यम्" इत्यण्प्रत्यये णत्वम्। "अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः। नकारस्य तु मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः॥" तेन सोऽल्पो माणवकः। बालोऽपि स इन्दुर्महेश्वरेण महादेवेन महाराजेन च मौलौ शिरसि तथा यज्वराज्ये द्विजराजत्वेऽप्यारोपि आरोपित इत्युत्प्रेक्षा। प्रकृष्टधर्मः कस्मै फलाय न भवतीति भावः, त्रैलोक्याह्लादकश्चन्द्रोऽपि तल्लावण्यलेश एवेति तात्पर्यार्थः॥ ४२॥

आपसे अच्छी तरह चुने गये कान्तिके सारभूतवाले संसारके होने पर या संसारमें चन्द्रमाने जो शिल (कटे हुए खेतोंमेंसे एक–एक मञ्जरी अर्थात् बालको चुंगना) और उञ्छ (कटे हुए खेतोंमें एक–एक दाना चुंगना) वृत्तिका जो परिशीलन (एक बार ही नहीं अपितु सर्वदा) किया, उस कारण छोटे बच्चे (पक्षा०—प्राथमिक अवस्थावाले अर्थात् द्वितीयाके बालचन्द्र) को भी महेश्वर (शिवजी, पक्षा०—महाराज या महाधनिक) ने मस्तकपर तथा यज्ञकर्ताओं (द्विजों = ब्राह्मणों) के राज्यपर अर्थात् द्विजराज पदपर स्थापित किया। (आपने संसारकी कान्तिके सारभूत पदार्थों को अच्छी तरह एक–एक करके चुंग लिया—यहां चुंगनेसे निःसार या अल्पसार पदार्थों का त्याग ध्वनित होता है)—तो चन्द्रने बचे हुए उन सामान्य पदार्थों को ही अन्नके बालों तथा दानोंके समान उस प्रकार चुगा, जिस प्रकार मुनिजन अपनी जीविकाके लिये काटकर किसानों द्वारा धान्यके खेतोंसे ले जानेके बाद एक–एक बाल या दानों को चुंगते हैं (इस प्रकार जीविका करना तपस्या का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है), उस पुण्य प्रभावसे शङ्करजीने बाल भी चन्द्रमाको अपने मस्तकपर रखा तथा द्विजराज (ब्राह्मणों का राजा = अतिश्रेष्ठ) बनाया, अथवा—किसी महाराजने अपने मस्तकपर रखा और ब्राह्मण–श्रेष्ठ माना। अथवा—उक्त प्रकारसे शिल तथा उञ्छवृत्ति द्वारा जीविका करनेवाले ब्रह्मचारी बालकको महाराज या महाधनिक लोग भी माथे चढ़ाते (पूज्य मानते) और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ समझते हैं। अथवा—महाधनिक लोग माणवक (२० लड़ीवाले बहुमूल्य हार[1]) को कण्ठमें धारण करते हैं, किन्तु इसे मस्तकपर धारण किया यह अधिक आश्चर्य है। अथ च शिलोञ्छद्वारा जीवन–निर्वाह करनेसे

---

१. विविधहाराणां लतासंख्याबोधाय मत्कृता नामलिङ्गानुशासन (अमरकोष) स्यामर कौमुदी टिप्पणी (२।६।१०६, पृ० २२३–२२४) द्रष्टव्या।

अधिक पूज्य होनेके कारण मस्तकपर धारण किया जाना उचित ही है। आपकी शोभा संसारके सारभूत सुन्दर पदार्थों वाली तथा चन्द्रमाकी शोभा आपकी शोभासे अत्यन्त तुच्छ है, अतः जब अतितुच्छ शोभावाला चन्द्रमा जगत् का आह्लादक है तो फिर आपके विषयमें क्या कहना है। आप चन्द्रमासे भी अत्यधिक सुन्दर हैं]॥ ४२ ॥

आदेहदाहं कुसुमायुधस्य विधाय सौन्दर्यकथादरिद्रम् ।
त्वदङ्गशिल्पात्पुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्वकम्पि ॥ ४३ ॥

आदेहेति। ईश्वरेण शम्भुना कुसुमायुधस्य कामस्य देहदाहादारभ्य आदेहदाहं मर्यादायामव्ययीभावः। जगल्लोकं सौन्दर्यकथादरिद्रं सौन्दर्यवार्ता=शून्यं विधाय चिरेण त्वदङ्गस्य शिल्पान्निर्माणात् विश्वं पुनरन्वकम्पि अनुकम्पितं त्वया पुनः सौन्दर्यभरितं कृतमिति जाने इत्युत्प्रेक्षा। तव मूर्तिमतः कामात् को भेद इति भावः ॥ ४३ ॥

शङ्करजीने कामदेवके शरीर–दाहसे लेकर संसारको सौन्दर्यकी चर्चासे शून्य बनाकर फिर बहुत दिनोंके बाद आपके शरीरकी कारीगरी (रचना) से संसारपर दया की। [पहले कामके शरीरको जलानेपर संसारमें कहीं सुन्दरता का नामतक शेष नहीं रह गया था, किन्तु बहुत दिनों बाद आपकी इस सुन्दरतम शरीरसे फिर संसारपर शङ्करजीने अनुग्रह किया है। मानो आप दूसरा काम ही हैं। अन्य भी कोई ईश्वर (ऐश्वर्य–सम्पन्न राजा आदि) किसीको दरिद्र बनाकर बादमें अनुग्रहकर उसकी पूर्ति कर देता है]॥ ४३ ॥

मही कृतार्था यदि मानवोऽसि जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि ।
कुलं त्वयालङ्कृतमौरगञ्चेन्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥ ४४ ॥

महीति। मनोरथं मानवो मनुष्योऽसि यदि "तस्येदम्" इत्यण्प्रत्ययः। मही कृतार्था अमरेषु कोऽप्यसि यदि दिवा द्युलोकेन जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितं नपुंसके भावे क्तः। त्वया औरगं कुलं नागकुलमलङ्कृतं चेत् नागोऽसि चेदित्यर्थः। अधः सर्वाधः स्थितोऽपि नागलोकः कस्य लोकस्योपरि न। सर्वस्याप्युपरि वर्तत इत्यर्थः। "उपर्युपरिष्टात्" इति निपातः ॥ ४४ ॥

आप यदि मानव हैं तो (मृत्यु लोकमें निवास करनेके कारण) भूमि कृतार्थ हो गयी, यदि देवताओंमें कोई हैं तो स्वर्गने (सबको) जीत लिया, और यदि नागवंशको सुशोभित किये हैं अर्थात् नागवंशमें जन्म लिये हैं तो (नागवंशका निवास स्थान होनेसे सबके) नीचे रहता हुआ भी नागलोक किसके ऊपर (किस लोकसे श्रेष्ठ) नहीं है ? अर्थात् स्वर्ग–मर्त्य आदि लोकोंसे नागलोक (पाताल) ही श्रेष्ठ है । [आपके मानव होनेपर मही ("मह्यते=पूज्यते इति मही" इस विग्रहसे 'पूज्य' अर्थवाली भूमि) वास्तविक अर्थवाली हो गयी और देवकुलोत्पन्न होनेसे दिव् ("दीव्यति=विजिगीषते इति द्यौ" इस विग्रहसे 'विजयी' अर्थवाली दिव् अर्थात् स्वर्ग) भी विजयी हो गया और आपके नागवंशोत्पन्न होने

पर नागलोक 'न गच्छन्तीति अगाः, न अगाः नागाः, तेषां लोकः' इस विग्रहसे गमनशील न होनेसे अधोभागस्थ भी नागलोक आपके जन्म स्थान होनेसे सर्वोपरि गामी हो गया। आप मानव, देव और नाग-इनमेंसे किस वंशमें उत्पन्न हुए हैं] ॥ ४४ ॥

सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने ।
ममौ स भद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयात्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः ॥ ४५ ॥

सेयमिति । त्वयि चिन्त्यमाने स्वरूपतो गुणतश्च विभाव्यमाने सति सेयं विभावयन्ती मच्चित्तवृत्तिः उच्चैर्महतीमनुपपत्तिं न धत्ते समुद्रस्यास्त्यचुलुके अनुपपन्नता-बुद्धिं न करोतीत्यर्थः। तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते स समुद्रः त्वया आत्ता गृहीता गाम्भीर्य-महत्वे एव मुद्राचिह्नं यस्य स सन् । अत एव चुलके मुनिमुष्टिगर्भे ममौ भद्रं युक्त-मित्यर्थः । अन्यथा कथं तथा महतो गम्भीरस्य तस्य मुनिचुलुकितेति भावः । अत्र मानहेतोरात्तेत्यादिविशेषणगत्या निर्देशात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तत्सङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा भद्रमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ४५ ॥

आपका (गाम्भीर्य एवं महत्त्व का) विचार करनेपर मेरी चित्तवृत्ति इसमें अनुपपत्ति (युक्ति हीनता) को नहीं धारण करती है अर्थात् उस बातको असङ्गत नहीं समझती है । (वह बात यह है कि) आपके द्वारा महत्त्व तथा गाम्भीर्य की मर्यादाको ले लेने पर (उन दोनों से हीन) समुद्र (अगस्त्य मुनिके) चुल्लुमें समा गया । ['इतने विशाल समुद्रको अगस्त्य मुनिने बहुत ही छोटे अपने चुल्लुमें लेकर किस प्रकार पान कर लिया, यह बात पहले मेरे मनमें युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती थी, किन्तु अब वह बात युक्तिसङ्गत इस लिये जान पड़ती है कि आपने समुद्रके महत्त्व तथा गाम्भीर्यरूप मर्यादा को ले लिया है, अत एव वह समुद्र तुच्छ हो जानेके कारण अगस्त्य मुनिके चुल्लुमें समा गया।' अन्यथा इतने बडे समुद्रका किसीके चुल्लुमें समा जाना सर्वथा असम्भव ही था । आप समुद्रसे भी अधिक महत्त्व तथा गाम्भीर्य गुणसे युक्त हैं] ॥ ४५ ॥

संसारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनिः ।
बिम्बानुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टातिसरूपसृष्टिः ॥ ४६ ॥

संसारेति । किञ्चात्रास्मिन् संसारसिन्धौ वैरसेनिः नलस्तवानुबिम्बं जागर्ति स्फुरतीति जाने तर्कयामीत्यर्थः । कुतः, हि यस्माद्बिम्बानुबिम्बौ विहाय वर्जयित्वा धातुः अतिसरूपसृष्टिः जातुः कदाचिदपि न दृष्टा । अन्यथा कथमेतदत्यन्तसादृश्यमित्यर्थः । भवान् नल एवेति मे प्रतिभातीति भावः ॥ ४६ ॥

'इस संसाररूपी (निरवधि) समुद्रमें नल आपके प्रतिबिम्ब हैं' ऐसा मैं जानती हूं, क्योंकि बिम्ब और अनुबिम्बको छोड़कर ब्रह्माकी अत्यन्त समान रूपवाली रचना कभी नहीं देखी गयी है । [ब्रह्मा समान रूपवाली दो रचनाओं को कभी नहीं करते और आपकी आकृति नलके अनुबिम्ब (प्रतिबिम्बित होनेवाली वस्तु) के समान है, अत एव प्रतिबिम्बके

छायारूप होनेसे आप नल ही ज्ञात होते हैं, नहीं तो नलके स्वरूपके साथ इतनी समानता क्यों है ?] ॥ ४६ ॥

इयत्कृतं केन [1]महीजगत्यामहो महीयः सुकृतं जनेन ।
पादौ यमुद्दिश्य तवापि पद्यारजःसु पद्मस्रजमारभेते ॥ ४७ ॥

इयदिति । महीजगत्यां भूलोके केन जनेन इयदेतावन्महीयो महत्तरं सुकृतं कृतमहो, यं जनमुद्दिश्य तवापि पदौ पद्यारजःसु मार्गधूलिषु पद्मस्रजं पद्ममालामारभेते कुर्वाते अहो, यं जनमुद्दिश्यागतस्त्वं स धन्यो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

भूलोकमें किस आदमीने इतना अत्यधिक पुण्य किया है ? आश्चर्य है, जिसके उद्देश्यसे (अतिसुकुमार एवं सम्राट्) आपके भी चरण मार्गकी धूलियोंमें (चिह्नोंके द्वारा) कमल-मालाका आरम्भ करते हैं अर्थात् चिह्नरूपसे कमल-मालाकी रचना कर देते हैं । (पाठा०- हे पृथ्वीपति (नल) के समान कान्तिवाले !) । [जिस आदमीके उद्देश्यसे चरणों में कमल-चिह्न होनेसे चक्रवर्ती भी आप पैदल ही मार्गकी धूलियोंमें चल रहे हैं, वह व्यक्ति भूलोकमें महापुण्यात्मा है] ॥ ४७ ॥

ब्रवीति मे किं किमियं न जाने सन्देहदोलामवलम्ब्य संवित् ।
[2]कस्यापि धन्यस्य गृहातिथिस्त्वमलीकसम्भावनयाथवालम् ॥ ४८ ॥

ब्रवीतीति । इयं मे संवित् बुद्धिः सन्देहमेव दोलामस्मदुद्देशेन वा अन्योद्देशेन वा आगतस्त्वमित्येवंरूपामवलम्ब्य आरुह्य किं किं ब्रवीति किमपि किमपि तर्कयतीत्यर्थः । अतो न जाने न निश्चिनोमि । अथवा अलीकसम्भावनया मिथ्यावितर्कैणालं तत्साध्यं नास्तीत्यर्थः । अत एव गम्यमानसाधनत्वापेक्षया करणत्वात् तृतीया इति न्यासोद्योतकारः । किन्तु कस्य धन्यस्य ममान्यस्य वा गृहातिथिरसि त्वमेवानुकम्पस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

मेरी बुद्धि सन्देह (ये नल ही हैं, या दूसरा कोई है ?, ये मेरे ही उद्देश्यसे यहां आये हैं या दूसरे किसीके उद्देश्यसे आये हैं, इत्यादि अनेक प्रकारके संशय) रूपी झूलेका अवलम्बन कर अर्थात् उक्तरूपके अनेक सन्देहोंमें पड़कर क्या-क्या कह रही है ? यह मैं नहीं जानती । अथवा आप किसी धन्य (महापुण्यात्मा) के अतिथि हैं (पाठा०—आप किस धन्यके अतिथि हैं ?), अन्यथा (आप नल ही हैं या मेरे ही यहां आये हैं ऐसी) सम्भावना करना व्यर्थ है [क्योंकि मेरे इतने अधिक पुण्य कहां हैं ? जो आप नल हों या मेरे उद्देश्यमें यहां आये हों] ॥ ४८ ॥

प्राप्तैव तावत् तव [3]रूपसृष्टं निपीय दृष्टिर्जनुषः फलं मे ।
अपि श्रुती नामृतमाद्रियेतां तयोः प्रसादीकुरुषे गिरश्चेत् ॥ ४९ ॥

---

१. "महीमहेन्द्रमहः" इति पाठान्तरम् । २. "कस्यासि" इति पाठान्तरम् ।
३. "रूपसृष्टिं" इति पाठान्तरम् ।

प्राप्तैवेति । तावन्मे दृष्टिः तव रूपेणाकारेण सृष्टमुत्पादितममृतं निपीय जनुषो जन्मनः फलं प्राप्तैव अथ श्रुती श्रोत्रेऽप्यमृतं नाद्रियेतान्न पिबेतां किमिति काकुः पास्यत एवेत्यर्थः । चेद्यदि तयोः श्रुत्योः गिरं वाक्यं प्रसादीकुरुषे किमपि वदसीत्यर्थः । सर्वथा प्रश्नदानं उचितमेवेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

पहले मेरी दृष्टिने आपके रूपसे सम्पादित अमृत (पाठा०—आपकी रूपरचना) का पानकर जन्मके फलको प्राप्त कर लिया, अब कान भी (आपके भाषणरूप) अमृत का आदर नहीं करेंगे क्या ? (आपका वचनामृत नहीं सुनेगें क्या ?) अर्थात् अवश्य आदर करेंगे, यदि आप (अपने) वचनको उन दोनों (कानों) का प्रसाद करेंगे । [आप अपना वचनामृत सुनाकर मेरे कानोंको भी सन्तुष्ट कीजिये अर्थात् मेरे प्रश्नोंका उत्तर अवश्य दीजिये] ॥

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा ।
कर्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेणास्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

इत्थमिति । इत्थं मधुनः क्षौद्रादुत्थमुत्पन्नम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । रसं तत्सदृशं रसमुद्गिरन्ती स्रवन्ती तस्या ओष्ठ एव बन्धूकं बन्धुजीवकुसुमम् । 'बन्धूको बन्धुजीवः' इत्यमरः । तदेव धनुः तेन विसृष्टा मुक्ता प्रसूनाशुगस्य कुसुमेषोः पञ्चानां बाणानां समाहारः पञ्चबाणी । "तद्धितार्थ" इत्यादिना समाहारे द्विगुः । अकारान्तोत्तरपदत्वात्स्त्रियां "द्विगोः" इति ङीप् । वाणीमिषेण वाग्व्याजेनास्य कर्णात् कर्णं प्रविश्य ल्यप्लोपे पञ्चमी । अस्य नलस्य मनो विवेश कर्णद्वारा प्रविवेशेत्यर्थः ॥ ५० ॥

इस प्रकार (८।२०—४९) मधूत्पन्न रस अर्थात् मधुसदृश मधुर रस (या पुष्पराग) को बरसाती या निकालती हुई उस (दमयन्ती) के ओष्ठरूप दुपहरियाके फूल तद्रूप धनुषसे छोड़ी गयी पुष्पधन्वा (कामदेव) की पञ्चबाणी (पांच बाणोंका समूह) वाणी (दमयन्ती—वचन) के व्याजसे इस नलके कान द्वारा (कानमें प्रवेशकर) मनमें प्रविष्ट हो गयी । [कामदेव द्वारा धनुषसे छोड़े गये पांचों बाणोंके समान दमयन्तीकी वाणीसे नलके मनमें कामोद्दीपन हो गया] ॥ ५० ॥

अमज्जदामज्जमसौ[1] सुधासु प्रियं प्रियाया वदनान्निपीय ।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखे त्वमेया[2] ॥५१॥

अमज्जदिति । असौ नलः प्रियाया वदनात् प्रियं प्रियवाक्यं निपीय सुधासु आमज्ज मज्जानं धातुमभिव्याप्येत्यर्थः । अभिविधावव्ययीभावः । "अनश्च" इति समासान्तष्टच् । अमज्जदमृतास्वादसुखमन्वभूदित्यर्थः । तथा हि–द्विषन्मुखेऽपि तन्मुखतश्चेदित्यर्थः । या स्तुतिः स्वदते स्वादूभवति इष्टमुखे प्रियजनमुखे तु तस्याः स्तुतेर्मिष्टता स्वादुता अमेया अपरिच्छेद्या न किमिति काकुः ? अपि तु परिच्छेत्तुम-

---

1. "—दाकण्ठमसौ" इति पाठान्तरम् । 2. "प्रमेया" इति पाठान्तरम् ।

शक्यैवेत्यर्थः । अत्रेष्टमुखस्तुतेः द्विषन्मुखस्तुत्यपेक्षया कैमुत्येन स्वादुत्वोत्कर्षप्रतिपादनादर्थापत्त्यलङ्कारः । तस्य वाक्यभूतस्य आमज्जं सुधामज्जनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५१ ॥

ये (नल) प्रिया (दमयन्ती) के मुखसे प्रियवचनका पानकर (प्रिय वचनको सुनकर) 'मज्जा' नामक धातुतक (पाठा०—कण्ठतक) अमृतमें डूब गये। जो प्रशंसा शत्रुके मुखमें अर्थात् शत्रुके द्वारा कहने पर भी रुचती है, फिर उसकी मधुरता प्रियके मुखमें (प्रियजनके मुखके द्वारा कहने पर) अपरिमित नहीं होगी क्या अर्थात् प्रियजनके द्वारा की गयी प्रशंसा अवश्यमेव अधिक रुचिकर होगी (पाठा०—उसकी मधुरता प्रियजनके मुखमें परिमित नहीं होगी अर्थात् अपरिमित ही होगी)। [पहले तो शत्रुलोग किसीकी प्रशंसा करते ही नहीं और कोई शत्रु यदि किसीकी प्रशंसा करता भी है तो साधारण तथा थोड़ी ही करता है। इसके सर्वथा विपरीत प्रियजन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करते हैं, अतः यदि शत्रुकृत प्रशंसा भी रुचती है तो फिर प्रियजनकृत प्रशंसा कितना अधिक रुचेगी इसका प्रमाण नहीं किया जा सकता। प्रिया दमयन्तीके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर नलको अत्यधिक प्रसन्नता हुई]॥

पौरस्त्यशैलं जनतोपनीतां गृह्णन् यथाहर्पतिरर्घ्यपूजाम् ।
तथातिथेयीमथ संप्रतीच्छन्नस्या वयस्यासनमाससाद ॥५२॥

पौरस्त्येति । अथ नलः अह्नः पतिः अहर्पति सूर्यः "अहरादीनां पत्यादिषूपसङ्ख्यानम्" इति रेफादेशः । यथा जनानां समूहो जनता । ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् । तया उपनीतां समर्पिताम् अर्घार्थं जलमर्घ्यं "पादार्घाभ्याञ्च" इति यत्प्रत्ययः । तदेव पूजा तां गृह्णन् स्वीकुर्वन् पुरो भवः पौरस्त्यः । दक्षिणा पश्चात् पुरसस्त्यक् । तं शैलमुदयाद्रिमाससादेति शेषः । तथा अतिथिषु साधुमातिथेयीं पूजां, "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्"। सम्प्रतीच्छन् प्रतिगृह्णन् अस्या भैम्याः वयसा तुल्या सखी "नौवयोधर्म"त्यादिना यत्प्रत्ययः । तस्या आसनमाससाद । न तु भैम्याः दूत्यावस्थायामनौचित्यादिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ ५२ ॥

इसके बाद जनसमूहसे अर्पित अर्घ्य-(अर्घार्थ जल) पूजाको ग्रहण करते हुए सूर्य जिस प्रकार उदयाचलको प्राप्त करते (उदयाचलपर आरूढ होते) हैं, उसी प्रकार अतिथियोग्य पूजाको स्वीकार करते हुए वे (नल) इस (दमयन्ती) की सखीके आसनको (पाठा०—प्रियाके द्वारा दिये आसनको) प्राप्त किया अर्थात् उसपर बैठे। [स्वयं दूत होनेके कारण दमयन्तीके आसनपर बैठना अनुचित होनेसे वे उसकी सखीके आसन पर बैठे] ॥ ५२ ॥

अयोधि तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तामेव भूमीमवलम्ब्य भैमीम् ।
आह स्म यत्र स्मरचापमन्तश्छिन्नं भ्रुवौ तज्जयभङ्गवार्ताम् ॥५३॥

अयोधीति । तस्य नलस्य धैर्यमनोभवाभ्यां कर्तृभ्यां तां भैमीमेव रणभूमिमिति व्यस्तरूपकम् । अवलम्ब्य प्राप्य अयोधि, भावे लुङ् । यत्र युद्धे युद्धभूमौ वा अन्त-

मध्ये च्छिन्नं भ्रूवौ भ्रमीभ्रुवावेव स्मरचापं पूर्ववद्रूपकं तयोर्धैर्यमनोभवयोर्जयभङ्ग-वार्तामाह स्म स्मरचापभङ्गात् स एव भग्न इति भावः । कथञ्चित्कामं निरुध्य धैर्य-मेवावलम्बितवानित्यर्थः ॥ ५३ ॥

उस नलके धैर्य तथा कामदेवने उस दमयन्तीरूप युद्धभूमिका अवलम्बनकर (दमय-न्तीको ही अपना-अपना विषय बनाकर) युद्ध किया, जिस (युद्धभूमि) में बीचमें कटा हुआ (दमयन्तीका) भ्रूद्वयरूप कामधनुषने उन (नलके धैर्य तथा कामदेव) के (क्रमशः) जय तथा पराजयको बतला दिया । [दमयन्तीका भ्रूद्वय मध्यच्छिन्न कामधनुष था, अतएव टूटे हुए धनुषवाले कामदेवकी पराजय तथा नलके धैर्यका विजय हुई जिसका धनुष टूटता है, उसका पराजित होना उचित ही है, यहां कामका धनुष टूट गया । अतः वही नल धैर्यके द्वारा पराजित हुआ अर्थात् नलने दूत होने के कारण अपने सहज धैर्यसे दमयन्ती-विषयक कामवासनाको रोक लिया । दमयन्तीके भ्रूद्वय बीचमें मिले हुए नहीं होनेसे सामुद्रिकशास्त्रके अनुसार शुभ लक्षणसे युक्त हैं यह भी सूचित होता है] ॥ ५३ ॥

अथ स्मराज्ञामवधीर्य धैर्यादूचे स तद्वागुपवीणितोऽपि ।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति ॥५४॥

अथेति । अथ स नलस्तस्या भैम्या वाचा उपवीणितो वीणया उपनीतोऽपि तद्वाग्वीणाकृष्टचित्तोऽपीत्यर्थः । "सत्यापपाश" इत्यादिना वीणाशब्दादुपगाने णिचि कर्मणि क्तः । धैर्याद्धैर्यं विधाय ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्मरस्याज्ञामवधीर्य अवज्ञाय ऊचे उवाच । तथा हि-विवेकानां धराशतैर्धौतं क्षालितं सतां विदुषामन्तरन्तःकरणं कामो न कलुषीकरोति न विकर्तुं शक्नोतीत्यर्थः । अत्र पूर्वार्धे स्मरधैर्ययोर्धावितचि-त्तस्य धैर्यनियमनात्परिसङ्ख्यालङ्कारः । "एकस्य वस्तुनो भावादनेकत्रैकदा यदा । एकत्र नियमः सा हि परिसङ्ख्या निगद्यते ॥" इति लक्षणात् । तस्योत्तरार्धे समान्येन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थसरूपोऽर्थान्तरन्यास इति सङ्करः ॥५४॥

इसके बाद उस दमयन्तीके वाणीरूप वीणासे प्रशंसित भी नल धैर्यका अवलम्बनकर कामाज्ञा (कामवासना) को दबाकर बोले; विचारकी सैकड़ों धाराओंसे धोये गये, सज्जनोंके अन्तःकरणको काम मलिन नहीं करता है । [पहले नलको दमयन्तीकी वाणीरूप वीणासे प्रशंसित होनेके कारण दमयन्ती-विषयक काम-वासना उत्पन्न हुई, किन्तु उन्होंने अपना दौत्य विचारकर सहज धैर्यसे उस कामवसनाको दबा दिया, क्योंकि सज्जनोंका मन सैकड़ों विवेक धाराओंसे अत्यन्त स्वच्छ रहनेके कारण कामवासनासे कलुषित कभी नहीं होता । लोकमें भी जिसे सैकड़ों धारायुक्त जलसे धोया जाता है, वह अत्यन्त स्वच्छ रहता है] ॥ ५४ ॥

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागतं माम् ।
वहन्तमन्तर्गुरुणादरेण प्राणानिव स्वःप्रभुवाचिकानि ॥५५॥

हरिदिति । मां गुरुणा आदरेण अतिप्रयत्नेन स्वःप्रभूणामिन्द्रादीनां व्याहृतार्थां वाचो वाचिकानि सन्देशवाक्यानि । 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । "वाचो व्याहृतार्थायाम्" इति ठक् । प्राणानिव त्वदीयानेवेत्यर्थः । अन्तरन्तरात्मनि वहन्तं हरित्पतीनामिन्द्रादिदिक्पालानां सदस आस्थानादागतं त्वदीयमेवातिथिं प्रतीहि त्वामेवोद्दिश्यागतं विद्धीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

बड़े आदरसे स्वर्गाधीशोंके संदेशोंको (अपने या उन्हींके) प्राणोंके समान हृदयमें धारण करते हुए तथा दिक्पालोंकी सभासे आये हुए मुझको तुम तुम्हारा (अपना) ही अतिथि जानो । [इन्द्रादि दिक्पालोंके जिन वाचिक संदेशोंको मैं हृदयमें आदरपूर्वक धारण कर रहा हूं, वे प्राणोंके समान प्रिय हैं. अतएव उनको सुनकर पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है, और मैं दिक्पालोंके स्थानसे तुम्हारे ही यहां आया हूं] ॥ ५५ ॥

विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासनमुज्झितं किम् ।
या दूतता नः फलिना विधेया सैवातिथेयी पृथुरुद्भवित्री ॥५६॥

विरम्यतामिति । सपर्या पूजा भूतवती भूतैव भवतेः क्तवतुप्रत्यये ङीप् । विरम्यतामवसीयतां भावे लोट् । विनिश्यतां उपविश्यतां किं किमर्थमासनमुज्झितं त्यक्तम् ? फलिना फलवती, "फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः" । विधेया कर्तव्या नोऽस्माकं या दूतता दूत्यं सैव पृथुर्महती आतिथेयी अतिथिपूजा उद्भविती भाविनी ॥ ५६ ॥

पूजा (अतिथि–सत्कार) हो गयी, (इससे) विरत होवो, बैठो, (दूतरूप मुझे देखकर) आसनको क्यों छोड़ दिया ? (अतिथि–सत्कार करना गृहस्थमात्रका धर्म है, अतएव मैंने आसन छोड़ दिया है और आपका अतिथि सत्कार करना चाहती हूं, ऐसा मत कहो क्योंकि) सफल की जानेवाली मेरी जो दूतता है, वही बड़ी (महत्त्वपूर्ण) अतिथि–पूजा होगी । [तुम अतिथि सत्कारको छोड़कर मेरी दूतताको जो सफल करेगी, वही मेरा बड़ा भारी अतिथि–सत्कार होगा । तुम मेरे दूत-कर्मको सफल करो] ॥ ५६ ॥

कल्याणि ! कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते ।
अलं विलम्बेन गिरं मदीयामाकर्णयाकर्णतटायताक्षि ॥५७॥

कल्याणीति । हे कल्याणि ! भद्रे ! तवाङ्गकानि कोमलान्यङ्गानि कल्यानि पटूनि कच्चित्तमां ? किच्चिदिति प्रश्नार्थमव्ययम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । तस्मात् "अतिशायने तमबिष्ठनौ" इति तमप् । "किमेत्तिङव्ययघात्" इत्यामुप्रत्ययः । किञ्च ते चित्तमनाविलमकलुषं कच्चितमाम् ? आकर्णतटात्कर्णतटपर्यन्तं मर्यादायामव्ययीभावः । ततः "सुप्सुपा" इति समासे आकर्णतटायते अक्षिणी यस्याः सेति "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्," "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप् । "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" । हे आकर्णतटायताक्षि ! विलम्बेनालं मदीयां गिरमाकर्णय ॥ ५७ ॥

हे भद्रे ! तुम्हारे कोमल शरीर नीरोग (स्वस्थ) हैं न ? और तुम्हारा चित्त प्रसन्न

न ? ; हे कान्तिक विशाल नेत्रोंवाली (दमयन्ती) ! (कार्यमें बाधक होनेसे अधिक कुशल प्रश्नमें) विलम्ब करना व्यर्थ है, मेरी बात सुनो । [किसी कार्यको पूरा करनेके लिए शरीर का नीरोग एवं चित्तका प्रसन्न रहना अत्यावश्यक होनेसे तथा धर्मशास्त्रके वचनानुसार क्षत्रियसे नीरोग-सम्बन्धी कुशल पूछनेका विधान होनेसे प्रश्नान्तरमें अधिक समय न लगाकर उक्त विषयमें ही कुशल प्रश्न करनेके बाद अपनी देव-दूत-सम्बन्धिनी बात सुननेके लिये नल दमयन्तीको सावधान कर देते हैं] ॥ ५७ ॥

कौमारमारभ्य गणा गुणाना हरन्ति ते दिक्षु धृताधिपत्यान् ।
सुराधिराजं सलिलाधिपञ्च हुताशनञ्चार्यमनन्दनञ्च ॥५८॥

कौमारमिति । हे भैमि ! कौमारं तव कुमारवय आरभ्य "प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्"। ते तव गुणानां गणाः दिक्षु धृताधिपत्यान् दिशामधीशान् सुराधिराजमिन्द्रं सलिलाधिपं वरुणञ्च हुताशनमग्निश्च अर्यमनन्दनं सूर्यतनयं यमञ्च हरन्ति आकर्षयन्ति ॥ ५८ ॥

कुमारावस्थासे आरम्भकर तुम्हारे गुणोंके समूह दिशाओंमें आधिपत्य (स्वामित्व) को धारण करनेवाले अर्थात् दिक्पाल-देवराज इन्द्र, जलाधीश वरुण, अग्नि और सूर्यपुत्र यमको आकृष्ट करते हैं । [तुम्हारी कौमारावस्थासे ही तुम्हारे गुण-समूहको सुनकर उक्त इन्द्रादि चारो दिक्पाल तुमसे आकृष्ट हो गये हैं] ॥ ५८ ॥

चरच्चिरं शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति ।
तेषां रुचश्चौरतरेण चित्तं पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तम् ॥५९॥

चरदिति । शैशवयौवनयोरिदं शैशवयौवनीयं, "वृद्धाच्छः" तच्च तत् द्वैराज्यं द्वयो राज्ञोः (कर्म) ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः । तद्भाजि शैशवयौवनाख्यराज्यद्वयाक्रान्तायामित्यर्थः । एतेनास्या वयःसन्धिरुक्तः, तस्यां त्वयि चिरं चरद्वर्तमानं तेषामिन्द्रादीनां चित्तं (कर्तृ) रुचः कान्तेश्चौरतरेण विरहितेजोहारिणेत्यर्थः । पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तमपहृतधैर्यधनं सत् खेदमति द्वैराज्ये प्रजानां चोरबाधा जायत इति भावः । अत्र वयोद्वयद्वैराज्ये पञ्चेषुणा चोरेण तेषां धैर्यवित्तं हृतमिति रूपकम् । तद्धेतुकत्वात् खेदस्य वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५९ ॥

बाल्य तथा तारुण्यकी (दो अवस्थारूप) राज्यद्वयके प्राप्त अर्थात् बाल्य तथा तारुण्यकी अवस्थाओंके मध्यमें स्थित तुममें बहुत समयसे वर्तमान उन (इन्द्रादि चारो दिक्पालों) का (विरहियोंके मुखकी) कान्ति की अतिशय चोरी करनेवाले पञ्चबाण (कामदेव) से लूटे (अपहरण किये-चुराये) गये, धैर्यरूपी धनवाला चित्त कब तक खेदको प्राप्त करेगा ? [बाल्य-यौवनावस्था की सन्धिमें स्थित तुममें उन इन्द्रादि दिक्पालोंका चित्त आसक्त हो रहा है और विरही होनेसे उनकी कान्तिको चुराने (नष्ट करने) वाला एवं पांच बाण धारण करनेवाला कामदेवरूप डांकू उनके धैर्यरूपी धनको लूट लिया है । ऐसा (कान्ति

एवं धैर्यसे हीन) उन दिक्पालोंका चित्त कबतक खिन्न रहेगा अर्थात् तुम उनपर कबतक अनुग्रह करोगी ? [लोकमें भी दो राज्यों की सीमाके मध्यमें चलनेवाले व्यक्तिकी सम्पत्तिको जब बाण आदि शस्त्र धारण करनेवाला कोई प्रसिद्ध चोर या डांकू लूट लेता है तब वह खिन्न रहता है। बाल्य-तारुण्यकी वय:सन्धिमें स्थित तुममें इन्द्रादि दिक्पालोंका चित्त आसक्त हैं, तुम्हारे विरहसे उनकी कान्ति नष्ट हो गई है और उनका धैर्य छूट गया है]॥५९॥

तेषामिदानीं किल केवलं सा हृदि त्वदाशा विलसत्यजस्रम् ।
आशास्तु नासाद्य तनूरुदाराः पूर्वादयः पूर्ववदात्मदाराः ॥ ६० ॥

तेषामिति । इदानीं तेषामिन्द्रादीनां हृदि सा प्रसिद्धा त्वदाशा केवलं त्वद्यतितृष्णा एव आशा दिक् च । 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति वैजयन्ती । अजस्रं विलसति किल विजृम्भते खलु । आत्मदाराः स्वभार्याः पूर्वादयः प्राच्यादयः आशा दिशस्तु उदारा दक्षिणा महतीश्च तनूरासाद्य पूर्ववत् हृदि न विलसन्ति । 'उदारो महति ख्याते दक्षिणे दानशौण्डके' इति वैजयन्ती । अपूर्वनायिकानुरक्ते हृदि पूर्वनायिकाश्चतुरा अपि न लगन्ति । तथा महत्यो दिशः परमाणौ हृदि न लगन्तीति च भावः । त्वदाशापरवशास्ते स्वकीयं प्राच्याद्याशापरिपालनाधिकारमपि विस्मृत्य स्थिता इति तात्पर्यार्थः । अत्रोभयोराशयोरेकत्र हृदि प्राप्तौ एकस्या भैम्याशाया एव तन्नियमनात्परिसङ्ख्या । यद्यप्येकस्य उभयत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसङ्ख्येत्यालङ्कारिकाणां लक्षणं तथापि मीमांसकैरुभयोरेकत्र प्राप्तावेकस्यैव नियमनमित्यङ्गीकाराच्चमत्कारकारित्वाविशेषाच्च उपलक्षणत्वेनोभयाङ्गीकारे को विरोधः ? अथवा एकस्य हृदयस्य आशाद्वयप्राप्तावेकत्रैव नियमनाद्वापि लभ्यत इति सर्वथा परिसङ्ख्या समस्त्येव । स च श्लिष्टशब्दोपात्तयोराशययोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषभित्तिकाभेदरूपातिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः ॥ ६० ॥

इस समय उन (इन्द्रादि दिक्पालों) के हृदयमें वह तुम्हारी (त्वद्विषयिणी) आशा (अत्यधिक तृष्णा, पक्षा०—दिशा) ही बढ़ रही हैं, स्वपत्नीरूप पूर्व आदि दिशाएं उदार (अनुकूल, पक्षा०—विशाल) शरीरको प्राप्तकर पहलेके समान नहीं विलसित होती हैं। [जिस प्रकार अपूर्व नायिकानुरक्त चित्तमें चतुर एवं अनुकूल नायिकाएं भी नहीं रुचती हैं, उसी प्रकार विशाल भी पूर्व पत्नीरूप दिशाएं उन इन्द्रादि दिक्पालोंके परमाणु-परिमित हृदयमें नहीं समाती है । तुम्हें पानेकी अतितृष्णके परवश वे इन्द्रादि देव अपने दिक्पालत्वकार्यको भी भूल गये हैं] ॥ ६० ॥

अनेन सार्धं तव यौवनेन कोटिं परामच्छिदुरोऽध्यरोहत् ।
प्रेमापि तन्वि[1] ! त्वयि वासवस्य गुणोऽपि चापे सुमनःशरस्य ॥ ६१ ॥

अनेनेति । हे भैमि ! वासवस्य त्वय्यसीमा निरवधिः प्रेमा अनुरागोऽपि

१. "भैमि" इति पाठान्तरम् ।

तवानेन यौवनेन सार्धमभिवृद्धो ऽविच्छिन्नः सन् । "विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" । परां कोटिमुत्कर्षमध्यरोहत् । तथा सुमनःशरस्य पुष्पेषोश्चापे गुणो मौर्व्यपि परामुत्तरां कोटिमटनिमध्यरोहत् । 'अत्युत्कर्षाश्रयः कोटयः' इत्यमरः । अत्र प्रेमगुणयोः प्रकृतयोरेव विशेषणसाम्येनौपम्योपगमात् केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता तयोरेव परां कोटिमिति श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायरूपादतिशयोक्तिमूला यौवनेन सार्धमिति सहार्थसम्बन्धोक्तेः सहोक्तिरित्यनयोः सङ्करः ॥ ६१ ॥

हे तन्वि ! (पाठा०—हे भैमि !) तुममें इन्द्रका अखण्डित (या अतिशय दृढ) प्रेम भी तुम्हारी इस युवावस्थाके साथ अत्यन्त अधिक बढ़ गया है तथा पुष्पबाण (कामदेव) की प्रत्यञ्चा भी धनुषकी दूसरी कोटी (किनारे) पर चढ़ गयी है। [तुम्हारे युवावस्थाके प्रारम्भ से ही इन्द्रका तुममें प्रेम हो गया है, जैसे-जैसे तुम्हारी युवावस्था बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे तुममें इन्द्रका प्रेम भी दृढ़ होता जाता है; इतना ही नहीं, किन्तु कामदेव भी अपने धनुषके दूसरे किनारेपर प्रत्यञ्चा चढ़ा लिया है अर्थात् तुम्हारी बढ़ती हुई युवावस्थाके साथ इन्द्रका प्रेम भी तुममें बढ़ता जाता है और वे क्रमशः अधिक काम पीडित होते जाते हैं] ॥ ६१ ॥

> प्राचीं प्रयाते विरहं[1] दधत्ते तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की ।
> परापराधैर्निदधाति भानौ रुषारुणं लोचनवृन्दमिन्द्रः ॥ ६२ ॥

प्राचीमिति । इन्द्रस्ते विरहं दधत् दधानः सन् अत एव प्राचीं दिशं प्रयाते प्राप्ते भानावधिकरणे तापाच्चन्द्रस्यापि विरहितापकारकत्वादिति भावः । रूपाच्च उदयकाले उभयोरपि रक्तत्वादिति भावः । शशाङ्कशङ्की चन्द्र इति भ्रान्त्या परापराधैश्चन्द्रदोषैस्तापादिभिः हेतुभिः रुषाऽरुणं लोचनवृन्दं निदधाति क्रोधाद्दहन्निव अक्षिसहस्रेणापीच्चत इत्यर्थः । क्रोधान्धस्य कुतः सापराधानपराधविवेक इति भावः । अत्र कविसम्मतसादृश्येन भानौ शशाङ्कभ्रमाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

तुम्हारे विरहको धारण करते हुए इन्द्र (पाठा०—ये इन्द्र तुम्हारे विरहसे) पूर्व दिशाको सूर्यके प्राप्त होनेपर अर्थात् सूर्योदय होनेपर सन्ताप तथा रूपसे चन्द्रोदय होनेपर विरही होनेके कारण सन्तापसे तथा उदय कालमें रक्त वर्ण होने के कारण रूपसे सूर्यमें ही चन्द्रमाकी शङ्का करते हुए अर्थात् सूर्यको चन्द्रमा मानते हुए दूसरेके अर्थात् चन्द्रमाके अपराधोंसे (सहस्र) नेत्र-समूहको क्रोधसे रक्तवर्ण कर लेते हैं। [प्रातःकाल जब रक्तवर्ण सूर्य उदय लेते हैं, तब तुम्हारे विरहसे युक्त इन्द्र सन्ताप-कारक एवं लाल वर्ण होनेसे सूर्यको ही चन्द्रमा समझकर—यह चन्द्रमा मुझे बहुत सन्तप्त करता है, इस प्रकारके चन्द्र-सम्बन्धी अपराधके कारण क्रोधसे सूर्यपर ही आंखोंको लाल करते हैं, क्रोधी पुरुषको अपराधी तथा अनपराधी का विवेक नहीं रह जाता है। इन्द्र तुम्हारे विरहसे चन्द्रोदय होनेपर तो सन्तप्त

---

१. "विरहादयं ते" इति पाठान्तरम् ।

होते ही हैं, किन्तु सूर्योदय होनेपर भी अर्थात् दिनमें भी तुम्हारे विरहसे सन्तप्त होते रहते हैं] ॥ ६२ ॥

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं यत्तदेव योऽद्यापि न संवृणोति ।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे गन्ता स कामः खलु कामवस्थाम् ॥ ६३ ॥

त्रिनेत्रेति । त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्रः । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारण' इत्यमरः । तेन तन्मात्रेण रुषा यत्कृतमनङ्गत्वमिति भावः । तदेव यः कामोऽद्यापि न संवृणोति नाच्छादयितुं शक्नोतीत्यर्थः । स कामोऽद्य सहस्रनेत्रे इन्द्रे रुष्टे क्रुद्धे सति कामवस्थां दशां गन्ता गमिष्यति । गमेर्लुट् । न वेद न जाने खलु । वाक्यार्थः कर्म । "विदो लटो वा" इति मिपो णलादेशः । त्रिनेत्रमास्कन्द्य नष्टः कामः सहस्रनेत्रं कथं जेष्यतीत्यर्थः । कामस्त्वत्कृते निःशङ्कमिन्द्रं दुःखाकरोतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६३ ॥

केवल तीन नेत्रोंवाले (शङ्करजी) ने क्रोधसे जो (अनङ्गत्व = शरीराभाव) किया, उसी (अनङ्गत्व) को जो काम आज भी नहीं पूरा कर सका है तो सहस्र नेत्रोंवाले (इन्द्र) के रुष्ट होनेपर वह कामदेव किस (वर्णनातीत) अवस्थाको प्राप्त करेगा, यह नहीं जानता हूं। [जो कामदेव क्रोधसे तीन नेत्रोंवाले शङ्करजीके द्वारा की गयी अपनी क्षतिको बहुत दिन बीतनेपर भी आजतक पूरा नहीं कर सका, वह कामदेव हजार नेत्रोंवाले इन्द्रके रुष्ट होने पर जिस अवस्थाको पावेगा, वह कल्पनातीत ही है। लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी साधारण शत्रुद्वारा की गयी हानि की पूर्ति करनेमें असमर्थ है तो वह बड़े शत्रुके द्वारा की गयी हानिको पूरा कर लेगा यह सर्वथा असम्भव ही है। कामदेव इन्द्रको सर्वदा पीडित कर रहा है] ॥ ६३]

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद्व्यलीकान्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि ।
बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६४ ॥

पिकस्येति । सः प्रभुरिन्द्रः पिकस्य कोकिलस्य वाङ्मात्रकृतात् न तु कामवत् कायकृतादिति भावः । व्यलीकादप्रियान्नन्दने नन्दनाख्ये आनन्दकरेऽपीति गम्यते । वने न नन्दति किमुतान्यत्रेति भावः । किञ्च बालस्य कृशस्य चूडाशशिनोऽपराधात् अपकारात् सन्तापरूपात् किमुत पूर्णेन्दोरिति भावः । शूलिनः शिवस्याप्याराधनं पूजां न शीलति नाचरति । "शीलसमाधौ" इति भौवादिकाल्लट् । इन्द्रो विरहपारवश्यादावश्यकं किमपि कर्म न करोतीत्यर्थः । अत्रानन्दशिवाराधनसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६४ ॥

प्रभु (निग्रहानुग्रह–समर्थ) वे इन्द्र कोयलके केवल वचनमात्रसे (कामके समान शरीरसे नहीं) किये गये अप्रिय कार्यसे (आनन्दकारक) 'नन्दन' (नामक अपने उद्यान) में भी आनन्दित नहीं होते हैं और बाल (एक कलामात्र) (शिवजीके) चूडामें स्थित चन्द्रमाके अपराधसे शिवजीका पूजन भी नहीं करते हैं। [जो नन्दन अर्थात् आनन्द-

दायक है, उसमें भी आनन्दित नहीं होना आश्चर्य है, अथवा लोकमें भी अप्रिय बोलनेवाले पुत्रमें कोई आनन्दित नहीं होता है। तथा केवल एक कलावाला ही चन्द्रमा इन्द्रको इतना अधिक सताता है कि वे उसी अपराधसे नित्य कृत्यरूप शिवजीका पूजन भी छोड़ दिये हैं, फिर पूर्णिमाका चन्द्रमा होता तो इन्द्रको कितना कष्ट होता ?, अथवा—बाल शत्रुको भी उन्नत स्थानपर आश्रय देनेवाले शूलधारीके समीप कोई व्यक्ति नहीं जाता है। तुम्हारे विरहसे व्याकुल इन्द्रको पिककूजन नहीं रुचता, तथा उन्होंने नित्यकर्मरूप शिवपूजन भी छोड़ दिया है] ॥ ६४ ॥

तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदृशां दिशन्ति[1] ।
कुहूगिरं चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ॥ ६५ ॥

तमोमयीति । स्मरेषवः कुसुमेषुबाणाः परागैः रजोभिः करणैर्दिशः शक्रदृशां सम्बन्धे तमोमयीकृत्य तत्प्रकृतवचने मयडन्तादभूततद्भावे च्विः । अत एव दिक्तमसोरसम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । कुहूः कुह्वाख्या गीः कूजितं यस्य । अन्यत्र तु कुहूरमावास्येति गीर्वचनं यस्य । 'कुहूः स्यात्कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इति विश्वः । तस्य द्विजस्याण्डजस्य कोकिलस्येत्यर्थः । अन्यत्र विप्रस्य 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । चञ्चुपुटं मुखं राकारजन्यां पूर्णिमायामपि सत्यवाचं दिशन्त्यादिशन्ति कथयन्तीत्यर्थः । राकायामपि कुह्वामिव तमन्धीकुर्वन्तीत्यर्थः । अत्र श्लिष्टोपात्तयोर्द्वयोरपि कुह्वोर्द्विजयोश्चाभेदाध्यवसायमुक्त्वा कुहूत्वसत्यवादित्वस्य विरुद्धस्यापि पूर्वोक्तातिशयोक्तिहेतुना सिद्धेर्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं सत् श्लेषातिशयोक्तेर्विरोधैरङ्गैः सङ्कीर्यते । तेन शक्रस्य राकायां कुहूभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इत्यूह्यम् ॥६५॥

कामदेवके बाण (पुष्पमय होनेसे) परागों (पुष्प—मकरन्दों, पक्षा०—धूलियों) के द्वारा दिशाओंको अन्धकारमय बनाकर 'कुहू' शब्द करनेवाले द्विज (पक्षी अर्थात् कोयल, पक्षा० —ब्राह्मण) के चञ्चुपुट (पक्षा०—मुख) को पूर्णिमा की रात्रिमें भी सत्यवचनवाला अर्थात् आज कुहू (अदृष्ट चन्द्रकलावाली अमावास्या तिथि) ही है पूर्णिमा नहीं, ऐसा बतलाते (पाठा०—करते) हैं। [कामदेवके बाण पुष्पमय हैं, अतः इन्द्रको लक्ष्यकर छोड़े गये उनके परागोंसे पूर्णिमा तिथिको भी इन्द्र अमावास्या ही समझते हैं, कोयल कूहू शब्द करता है तो उसके द्वारा कामपीडित इन्द्र पूर्णिमा तिथिको भी अमावस्या मानते हैं। अन्य कोई सिद्ध वचनवाला ब्राह्मण भी पूर्णिमाको अमावस्या कहता है तो वह अपने तपोबलसे उस अमावस्या तिथिको ही पूर्णिमा सिद्ध कर देता है। इन्द्र तुम्हारे कामुक होकर पिकवचन सुननेसे कामान्ध हो रहे हैं और उन्हें चन्द्र सन्तप्त कर रहा है] ॥ ६५ ॥

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मर्तुं स किं नाशनिना करोति ।
अभेद्यमस्याहह ! वर्म न स्यादनङ्गता चेद्गिरिशप्रसादः ॥ ६६ ॥

---

१. "सृजन्ति" इति पाठान्तरम् ।

शरैरिति । स इन्द्रः प्रसूनैरेव शरैस्तुदत आत्मानं विध्यतः स्मरस्य स्मरमित्यर्थः । "अधीगर्थ"—इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । अशनिना वज्रेण स्मर्तुं न करोति किं स्मृतिमात्रशेषं कुर्यादेव । किन्तु तस्य स्मरस्य गिरिशस्य प्रसादः प्रसादलब्धमित्यर्थः । कार्यकारणयोरभेदोपचारः । सोल्लुण्ठश्चैतदनङ्गता अभेद्यं वर्मेति रूपकम् । न स्याच्चेत् । अहहेत्यद्भुते खेदे वा साङ्गत्वे पुनर्वज्रलक्ष्यलाभादेनं हन्यादेवेत्यर्थः । तथा पीडयत्येनमनङ्गोऽपीति भावः ॥ ६६ ॥

इन्द्र पुष्परूप बाणोंसे पीडित करते हुए कामदेवको वज्रके द्वारा स्मरणीय क्या नहीं कर देता अर्थात् अवश्य ही कर देता, अहह ! अर्थात् आश्चर्य (या खेद) है, यदि शिवजी का प्रसादरूप (कामदेवकी) अनङ्गता ही उसका अभेद्य कवच नहीं होता। [कामदेव पुष्पमय अर्थात् अतिशय कोमल भी बाणोंसे इन्द्रको सर्वदा पीडित कर रहा है, ऐसे कोमल शस्त्रवाले शत्रुको इन्द्र अतितीक्ष्ण वज्रसे अवश्य नामशेष कर देते अर्थात् मार डालते, किन्तु शिवजीने उस कामदेवको भस्मकर अनङ्ग (शरीर–शून्य) बना दिया है और वही अनङ्गता (शरीर–शून्यता) उस कामदेवका दृश्य लक्ष्य नहीं होनेसे अभेद्य कवच हो रहा है, यही कारण है कि इन्द्र तीक्ष्ण वज्रसे भी उसपर विजय नहीं पाते हैं। अदृश्य लक्ष्यका भेदन करना किसी शूरवीरके लिये सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार शिवजीने कामदेवको जलानेसे अनङ्ग बनाकर एक प्रकार वरदान ही दे दिया है, जो वह तीक्ष्ण वज्रधारी देवराज इन्द्रको भी निरन्तर पीडित करता जाता है और वे उसका कुछ नहीं कर पाते] ॥ ६६ ॥

धृताधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नानार्द्रशय्यारचनाय लूनैः[1] ।
अप्यन्यदारिद्र्यहराः प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

धृतेति । अन्येषां दारिद्र्यं हरन्तीत्यन्यदारिद्र्यहरा अपि । हरतेरनुद्यमनेऽच् । अमराणां तरवः कल्पद्रुमा भवत्या वियोगात् सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः । धृताऽधृतिररतिर्येन तस्येन्द्रस्य नानाविधानामार्द्रशय्यानां शिशिरशयनानां रचनाय लूनैः प्रवालैः दरिद्रा रिक्ता जाताः, तापस्तु तथापि नापेत इति भावः । सुरद्रुमाणां प्रवालदारिद्र्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

तुम्हारे विरहमे अधीर उस (इन्द्र) के अनेक आर्द्र (ठण्डी या विरह सन्तापसे सूखी जाती हुई, या सन्तापके कारण सूखनेसे दूसरी–दूसरी) शय्याओंके लिये तोड़े गये नवपल्लवोंसे दूसरोंकी दरिद्रता दूर करनेवाले भी देववृक्ष (कल्पतरु, मन्दार आदि) स्वयं दरिद्र हो रहे हैं। [तुम्हारे विरहसे सन्तप्त इन्द्रकी इतनी अधिक नयी–नयी शीतल शय्या देववृक्षोंके नवपल्लवोंसे बनायी जाती है कि उन देववृक्षोंके पल्लव तो समाप्त हो गये, किन्तु इन्द्रका सन्ताप दूर नहीं हुआ] ॥ ६७ ॥

---

१. "—दनार्द्र—इति," —"दन्यान्य—" इति च पाठान्तरे ।

रवैर्गुणास्फालभवैः स्मरस्य स्वर्णाथकर्णौ बधिरावभूताम् ।
गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥ ६८ ॥

रवैरिति । स्वर्णाथस्य स्वर्गनाथस्येन्द्रस्य "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम् । कर्णौ स्मरस्य गुणास्फालभवैः ज्याघट्टनप्रभवैः रवैः बधिरावभूताम् । एवं बाधिर्ये सति गुरोर्बृहस्पतेः सकाशात् स्मरमोह एव निद्रा तस्याः प्रबोधे दक्षाण्यक्षराणि विवेकज्ञानोपदेशवाक्यानि शृणोतु शृणुयात् किम् ? न शृणोत्येवेत्यर्थः । त्वद्विरहमोहान्धमेनं बृहस्पतिरपि बोधयितुं न प्रभवतीति भावः ॥ ६८ ॥

कामदेवके प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) के खींचनेसे होनेवाले शब्दों (धनुष्टङ्कारों) से स्वर्गाधीश (इन्द्र) के कान बहरे हो गये हैं, अत एव वे (इन्द्र) कामजन्य मोह-निद्राको दूर करनेमें समर्थ, गुरु (बृहस्पति, पक्षा०-श्रेष्ठजन) के अक्षरों अर्थात् वचनों (उपदेशों) को क्यों (या कैसे) सुनें । [किसी महान् शब्द अर्थात् कोलाहलके होते रहनेपर बहरे (शब्दान्तर सुननेमें असमर्थ) कानोंसे दूसरे गुरुजनोंकी भी बात नहीं सुनाई पड़ती है । इन्द्र तुममें इतना अधिक आसक्त हो गये हैं कि वे अपने गुरु बृहस्पतिके उपदेशोंको भी नहीं सुनते हैं] ॥ ६८ ॥

अनङ्गतापप्रशमाय तस्य कदर्थ्यमाना मुहुरामृणालम् ।
मधौ मधौ नाकनदीनलिन्यो वरं वहन्तां शिशिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

अनङ्गेति । नाकनद्याः स्वर्णद्या नलिन्यो मधौ मधौ वसन्ते वसन्ते तस्येन्द्रस्यानङ्गतापप्रशमाय मुहुरामृणालं मृणालपर्यन्तम् , अभिविधावव्ययीभावः । कदर्थाः कुत्सितवस्तूनि, "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इति कोः कदादेशः । कदर्थाः क्रियमाणाः कदर्थ्यमानाः उत्पीड्यमानाः सत्य इत्यर्थः । तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्मणि लटः शानजादेशः । शिशिरेऽनुरागं वरम् । वरमिति मनाक् प्रिये । वहन्तां वासन्तिकोपचाराणां तासां तत्र पूर्वोक्तोपद्रवभयादिति भावः । वहेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम् ॥ ६९ ॥

उस (इन्द्र) के काम-सन्तापकी शान्तिके लिए प्रत्येक वसन्त ऋतुमें पीडित होती हुई, मन्दाकिनीकी कमलिनियां शिशिर ऋतुमें अधिक प्रेम करती हैं। [शिशिर ऋतुमें कमलिनियोंके पुष्प तथा पत्ते ही नष्ट होते हैं, मृणाल (डण्ठल) नष्ट नहीं होते, किन्तु वसन्त ऋतुमें तुम्हारे विरहमें इन्द्रके अधिक कामसन्तप्त होनेपर उसकी शान्तिके लिए कमलिनोके मृणालोंको उखाड़-उखाड़कर उपयोग करनेसे वे अत्यन्त पीडित (नष्ट) हो रही हैं, अत एव शत्रुभूत शिशिर ऋतुमें भी वे स्नेह करती हैं, क्योंकि वही शिशिर ऋतु उन कमलिनियोंकी रक्षा वसन्त ऋतुकी अपेक्षा अधिक करती हैं। लोकमें भी कोई व्यक्ति अत्यन्त पीडित होनेपर रक्षा करनेवाले शत्रुमें भी स्नेह करने लगता है । इन्द्र तुम्हारे विरहसे प्रत्येक वसन्त ऋतुमें अधिक कामजन्य सन्तापसे पीडित होते हैं] ॥ ६९ ॥

दमस्वसः सेयमुपैति तृष्णा[1]जिष्णोर्जगत्यग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् ।
दृशां यदब्धिस्तव नाम दृष्टित्रिभागलोभार्तिमसौ बिभर्ति ॥ ७० ॥

दमेति । हे दमस्वसः ! दमयन्ति ! जिष्णोः शक्रस्य 'जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः' इत्यमरः । सेयं तृष्णा आशा जगति अग्रेभवमग्रिमम्, "अग्रादिपश्चाड्डिमज् वक्तव्यः"। तच्च तल्लेख्यं च तस्य लक्ष्मीमुग्रगण्यतामुपैति अपूर्वत्वादिति भावः । कुतः यद्यस्मा-द्दृशामब्धिराकरोऽसाविन्द्रस्तव दृष्टेस्त्रिभागस्तृतीयांशः सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वाङ्गीकारात् । तत्र लोभेन तृष्णया आर्तिमाधिं बिभर्ति नाम धत्ते खलु। तदेतदाढ्यतमस्य कणिकालोभवच्चित्रीयत इत्यर्थः । तल्लेशलाभ एव स्वदृष्टिसम्पत्तेः फलमित्यभिमानस्तस्येति भावः ॥ ७० ॥

हे दमयन्ति ! विजयशील (पाठा०–इन्द्र) की प्रसिद्ध अर्थात् अत्यन्त बढ़ी हुई यह तृष्णा संसारमें अग्रिम लेखकी शोभा (अग्रगण्यता) को प्राप्त कर रही है, जो नेत्रोंका समुद्र अर्थात् बहुत नेत्रोंवाला (इन्द्र) भी तुम्हारे नेत्रके तृतीयांश (तिहाई भाग) अर्थात् कटाक्षके लोभकी पीडाको धारण करते हैं। [जो नेत्रोंका समुद्र है अर्थात् सहस्र नेत्रोंवाला है, वह भी तुम्हारे नेत्रके तृतीयांश (तिहाई भाग) के लोभसे पीडित हो रहा है। अतः यह बात संसारमें सर्वप्रथम गिनी जायेगी तथा संसारमें भी जिसके पास हजारोंकी सम्पत्ति है, वह एक तृतीयांशके लिए लोभकर दुःखित हो तो वह सर्वप्रथम गणनीय बात होगी। और देवोंका राजा इन्द्र भी तुम मानुषीको पानेके लिए दुःखित हो रहा है यह संसारमें सर्वप्रथम गणनीय बात होगी। इन्द्र तुम्हारे कटाक्ष की प्राप्तिके लोभसे पीडित हो रहे हैं] ॥ ७० ॥

अग्न्याहिता नित्यमुपासते यां देदीप्यमानां तनुमष्टमूर्तेः ।
आशापतिस्ते दमयन्ति ! सोऽपि स्मरेण दासीभवितुं न्यदेशि ॥७१॥

अथ भगवतोऽग्नेरवस्थां वर्णयति—अग्नीति। अग्न्याहिता आहिताग्नयः, "वाहि-ताग्न्यादिषु" इति निष्ठायाः परनिपातः । यां देदीप्यमानां जाज्वल्यमानां दीप्य-मानां, दीप्यतेर्यङन्तात्कर्तरि लट् । शानजादेशः । अष्टमूर्तेरीश्वरस्य तनुं नित्यमु-पासते, हे दमयन्ति ! आशापतिर्दिक्पतिः सोऽग्निरपि स्मरेण कर्त्रा तव दासीभवितुं न्यदेशि दासो भवेत्यादिष्ट इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(अब (श्लो० ७१ से ७६ तक) नल अग्निके दूतकार्यको आरम्भ करते हैं—) अग्नि-होत्रीलोग अष्टमूर्ति (शङ्करजी) की देदीप्यमान जिस मूर्ति अर्थात् अग्निकी सर्वदा उपासना करते हैं, कामदेवने दिक्पाल उस अग्निको भी तुम्हारा दास बननेके लिये आज्ञा दे दिया है। [कामवशीभूत अग्नि भी, कामदेवको भस्म करनेके कारण शत्रु कामदेवकी भी 'तुम

1. "हरेः—" इति पाठान्तरम् ।

दमयन्तीका दास बनो' इस आज्ञाका पालन करनेको तैयार हो रहा है। अग्नि भी तुम्हारा पति होकर दास बनने की इच्छा कर रहे हैं] ॥ ७१ ॥

त्वद्गोचरस्तं खलु पञ्चबाणः करोति सन्ताप्य तथा विनीतम्।
स्वयं यथास्वादिततप्तभूयः परं न सन्तापयिता स भूयः ॥ ७२ ॥

त्वदिति। पञ्चबाणः कामस्त्वद्गोचरस्त्वामेव लक्षीकृत्य इत्यर्थः। तमग्निं सन्ताप्य तथा तेन प्रकारेण विनीतं शिक्षितं करोति खलु। यथा येन प्रकारेण स्वयं स्वादितमनुभूतं तप्तभूयं तप्तत्वं येन स सन्। "भुवो भावे" इति भावे क्यप्। भूयः पुनः परमन्यं सन्तापयिता न सन्तापयिष्यति स्वयमनुभूतदुःखः स्वात्मदृष्टान्तेन परं तथा न दुःखाकरोतीति भावः ॥ ७२ ॥

कामदेव तुम्हें लक्ष्यकर उस अग्निको सन्तप्तकर इतना अधिक विनीत कर रहा है कि सन्ताप–दुःखका स्वयं अनुभव किये हुए वे अग्नि फिर किसीको सन्तप्त नहीं करेंगे। [अब तक अग्निको यह अनुभव नहीं था कि सन्तापसे कितनी अधिक पीडा होती है, अतः वे दूसरोंको सन्तप्त किया करते थे, किन्तु अब तुम्हारे विरहमें कामदेवके द्वारा स्वयं सन्तापजन्य दुःखका अनुभव कर लेने पर वे इस बातको समझ जायेंगे कि सन्तापसे बहुत अधिक पीडा होती है, और भविष्यमें अपना दृष्टान्त रखकर दूसरे किसीको सन्तप्त नहीं किया करेंगे। लोकमें भी जब तक स्वयं दुःखका अनुभव नहीं होता तभी तक कोई व्यक्ति दूसरोंको सताया करता है; किन्तु स्वयं दुःख पाया हुआ व्यक्ति अपने अनुभूत दुःखके समान ही दूसरोंके दुःखको समझकर किसीको नहीं सताता है। तुम्हारे विरहमें अग्नि कामपीडासे अत्यधिक सन्तप्त हो रहे हैं] ७२ ॥

अदाहि यस्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनालयेन।
स निर्दहंस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः ॥ ७३ ॥

अदाहीति। यो दशार्धबाणः पञ्चेषुः पुरा पुरारेर्नयनालयेन नयनाश्रयेण नेत्राग्निना अदाहि दग्धः स पञ्चेषुरधुना भवदक्षिवासी त्वन्नेत्रनिष्ठः सन् तमग्निं निर्दहन् वैरशुद्धेर्वैरनिर्यातनादधमर्णः ऋणी न अनृणोऽभूदित्यर्थः। यो यथा यस्यापकरोति स तस्य तथैव प्रतिकृत्य निर्वैरो भवतीति भावः ॥ ७३ ॥

पहले शिवजीके जिस नेत्रस्थित अग्निने कामदेवको जलाया था, इस समय तुम्हारे नेत्रमें स्थित वही कामदेव उस (अग्नि) को अत्यन्त जलाता (तुम्हारे विरहसे सन्तप्त करता) हुआ वैरका बदला लेनेसे (उस अग्निका) ऋणी नहीं है। [पहले कामदेवको शिवजीके नेत्रमें स्थित अग्निने जलाया था, अब वही कामदेव तुम्हारे नेत्रमें रहता अर्थात् कटाक्षद्वारा अग्निको अत्यन्त सन्तप्त करता हुआ पुराने वैरका बदला चुका दिया है। जिस अग्निने पहले रुद्र (शिव) रूप पुरुषके नेत्रका आश्रय कर कामदेवको सामान्य रूपसे ही जलाया, इसकी अपेक्षा स्त्रीरूप तुम्हारे नेत्रमें स्थित कामदेव उस अग्निको अत्यन्त (सामान्यरूपसे नहीं,

किन्तु विशेष रूपसे) जलाता हुआ वैरका बदला चुकानेसे अग्निकी अपेक्षा कामदेवका अधिक पुरुषार्थ प्रकट होता है। लोकमें भी ऋण लिया हुआ व्यक्ति मूल धनसे सूदके साथ अधिक धन देकर ऋणसे मुक्त हो जाता है। तथा जो किसीकी थोड़ी हानि करता है, वह व्यक्ति हानि करनेवाले व्यक्तिकी अत्यधिक हानिकर अपने वैरका बदला चुका लेता है। कामोद्दीपक तुम्हारे नेत्रोंको देखकर अग्नि तुम्हारे विरहसे अत्यन्त सन्तप्त हो रहे हैं]॥ ७३ ॥

सोमाय कुप्यन्निव विप्रयुक्तः स सोममाचामति हूयमानम् ।
नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते ॥ ७४ ॥

सोमायेति । विप्रयुक्तस्त्वद्वियुक्तोऽग्निः सोमाय चन्द्राय कुप्यन्निव जिघांसन्निवेत्यर्थः । "क्रुधद्रुह" इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । हूयमानं यज्ञे दीयमानं सोमं सोमरसमाचामति पिबति । तथा हि यत्र पुरुषे शत्रोर्नामापि जागर्ति प्रकाशते तं शत्रुनामधारिणं तेजस्विनः परावमानासहिष्णवः, 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति लक्षणात् । कतमे सहन्ते न केऽपीत्यर्थः । तेजस्विनां शत्रुनामाप्यसह्यमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपार्थान्तरन्यासः ॥ ७४ ॥

विप्रयुक्त (विरहयुक्त, पक्षा०—ब्राह्मणोंसे युक्त) वह (अग्नि) सोम (चन्द्रमा) पर कोप करते हुएके समान, (यज्ञोंमें) हवन किये जाते हुए सोम (सोमलता) को भक्षण करते हैं अर्थात् उसे नष्ट करते हैं। ('चन्द्रमापर क्रोधकर सोमलताको नष्ट करनेसे क्या लाभ है ?, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि) जहां (जिस पुरुषमें) शत्रुका नाम भी रहता है, उसको कौन तेजस्वी सहते हैं ? अर्थात् कोई भी तेजस्वी नहीं सहते । [तेजस्वियोंको शत्रुका नाम भी असह्य होता है, अतः तुम्हारे विरहमें अग्निको पीडित करनेसे शत्रुभूत सोम अर्थात् चन्द्रमाके नामको सोम अर्थात् सोमलतामें देखकर यज्ञोंमें हवन की गयी सोमलताका अग्नि आचमन कर जाते हैं अर्थात् आचमन करनेके समान अत्यन्त सरलतासे नष्ट कर (जला) देते हैं। चन्द्रमा भी अग्निको तुम्हारे विरहमें अत्यन्त पीडित कर रहा है] ॥ ७४ ॥

शरैरजस्रं कुसुमायुधस्य कदर्थ्यमानस्तव[1] कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्विनिवेद्यमानादप्येष[2] मन्ये कुसुमाद्बिभेति ॥ ७५ ॥

शरैरिति । हे तरुणि ! तव कारणाय त्वदर्थे त्वत्कृते, तादर्थ्ये चतुर्थी । कुसुमायुधस्य शरैः कुसुमबाणैरजस्रं कदर्थ्यमानः पीड्यमान एषोऽग्निः अभ्यर्चयद्भिः पूजयद्भिर्विनिवेद्यमानात्समर्प्यमाणादपि कुसुमाद्बिभेति मन्ये । उत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

तुम्हारे कारण (पाठा०—हे तरुणि ! तुम्हारे लिए) पुष्पबाण (कामदेव) के बाणों (पुष्पों) से अत्यन्त पीड्यमान यह (अग्नि, पाठा०—यह देव अर्थात् अग्नि) पूजा करनेवालोंके द्वारा चढ़ाये गये (एक) पुष्पसे भी डरता है। ऐसा मैं मानता हूं। [पुष्पायुध काम-

---

१. "तरुणि त्वदर्थे" इति पाठान्तरम् । २. "एष देवः" इति पाठान्तरम् ।

देवके पुष्पमय बाणोंसे अग्नि इतना पीडित हो रहे हैं कि पूजामें चढ़ाये गये एक पुष्पको भी उसे काम-बाण समझकर भयभीत हो जाते हैं। लोकमें भी किसीसे पीडित व्यक्ति पीडा देनेके उद्देश्यसे नहीं आने पर भी उसे देखकर यह मुझे पीडित करनेके लिये ही आया है, ऐसा समझकर भयभीत हो जाता है] ॥ ७५ ॥

स्मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता संवर्तिका शैवलवल्लिचित्रा ।
चकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

स्मरेन्धन इति । तेनाग्निना स्मरेन्धनेन कामाग्निदाह्ये वक्षसि दत्ता तापशान्तये न्यस्ता शैवलवल्लिभिश्चित्रा कर्बुरा संवर्तिका नवदलम् । 'संवर्तिका नवदलं बीजकोशो वराटकः' इत्यमरः । चेतोभवपावकस्य कामाग्नेर्धूमाविला कीलपरम्परा ज्वालावलिरिव चकास्ति दीप्यते । 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः ॥ ७६ ॥

उस (अग्नि) के द्वारा कामदेवके इन्धन (अपनी) छातीपर रखा हुआ शेवाल-लतासे चित्रित (कर्बुर) कमल कामाग्निके धूम-मलिन ज्वाला-समूहके समान शोभित होता है। [कामदेव तुमसे विरहित अग्निके हृदयको जलाता है, अतः कामस्वरूप अग्निका इन्धन (दाह्य पदार्थ) अग्निका हृदय हुआ, इसके अतिशय सन्तप्त होनेसे अग्नि अपनी छातीपर शीतलताके लिये शेवालयुक्त कमल रख लिये, उनमें शेवाल तो कामरूप अग्निके धूमके समान तथा कमल पिङ्गलवर्ण ज्वालाके समान शोभते अर्थात् मालूम पड़ते हैं। तुमसे विरहित अग्निको कामदेव अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है] ॥ ७६ ॥

पुत्री सुहृद्येन सरोरुहाणां यत्प्रेयसी चन्दनवासिता दिक् ।
धैर्यं विभुः सोऽपि तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥ ७७ ॥

अथ यमस्य विरहावस्थां वर्णयति—पुत्रीति । येन सरोरुहाणां सुहृत्सूर्यः पुत्री पुत्रवान् एतेनाभिजन उक्तः । चन्दनैर्मलयजैः द्रुमैर्वासिता सुरभिता दिक् दक्षिणा यत्प्रेयसी यस्य प्रियतमा एतेन भोगसम्पत्तिरुक्ता । स विभुर्वैवस्वतोऽपि तथैव हेतोस्त्वन्निमित्तादेव । "षष्ठी हेतुप्रयोग" इति षष्ठी । धैर्यं स्मरस्य प्रतापज्वलने प्रतापाग्नौ जुहाव परवशो वर्तत इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

(अब (श्लो० ७७ से ७९ तक) नल यमका दूत कार्य करना आरम्भ करते हैं-) कमलोंके मित्र (सूर्य) जिससे पुत्रवान् हैं तथा चन्दन (चन्दन वृक्ष, पक्षा०—चन्दनलेप) से सुवासित दिशा अर्थात् दक्षिण दिशा जिसकी परम प्रिया स्त्री है; सर्वसमर्थ वह (यम) भी तुम्हारे ही कारणसे (अपने) धैर्यको कामदेवके प्रतापरूपी अग्निमें जला दिये हैं। [प्रथम पादसे यमका उत्तम कुल तथा द्वितीय पादसे भोग सम्पत्तिका उल्लेख किया गया है; अतः उत्तम कुलोत्पन्न तथा भोग साधन सम्पन्न भी यम तुम्हारे लिये कामपीडित होकर अपना धैर्य छोड़ रहे हैं। अथ च जिसके पिता (सूर्य) कमलोंके मित्र हैं तथा परम प्रिया चन्दनसे

---

१. "रराज" इति पाठान्तरम् ।

सुरभित है, वे दोनों शीतल पदार्थ (कमल तथा चन्दन) भी यमके कामज सन्तापको शान्त करनेमें असमर्थ हो रहे हैं, यह आश्चर्य है]॥ ७७ ॥

तं दह्यमानैरपि मन्मथैधं हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः ।
कृच्छ्रेऽप्ययसौ नोज्झति तस्य सेवां सदा यदाशामवलम्बते यः ॥७८॥

तमिति । मलयो मलयाद्रिः मन्मथैधं कामाग्नीन्धनम् । 'काष्ठं दार्विन्धनन्त्वेध' इत्यमरः । तं यमं दह्यमानैस्तदङ्गसङ्गात्पञ्चबाणैरपि प्रवालैः पल्लवैरेव हस्तैरुपास्ते तस्य शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तञ्चैतदित्याह–यो जनः सदा यस्याशां देशम् अनुरागञ्चावलम्बते । असौ जनः कृच्छ्रे आपद्यपि तस्य सेवां नोज्झति न त्यजति यो यदुपजीवी तस्य तत्सेवा विपत्स्वपि कर्तुमुचितेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७८ ॥

मलय पर्वत कामदेवके इन्धनरूप उस (यम) को (यमशरीरके अधिक जलते रहनेसे) जलते हुए भी (अपने) हाथरूप पल्लवोंसे सेवा करता है, जो (मलय पर्वत) जिस (यम) की आशा (दक्षिण दिशा, पक्षा०—भरोसा) का सर्वदा अवलम्बन करता है, वह (मलय पर्वत) कष्टमें (अपने हाथरूप पल्लवोंके जलते रहनेपर अथवा कामाग्निसे यमके दुःखित होनेपर) भी उस (यम) की सेवाको नहीं छोड़ता है (यह उचित ही है) । [लोकमें भी कोई व्यक्ति जिसका भरोसा रखता है या जिसके राज्यमें रहता है; उसके ऊपर कष्ट पड़नेपर स्वयं कष्ट सहता हुआ भी उसकी सेवामें संलग्न रहता है । कामाग्निसे सन्तप्त यम अपने शरीर पर मलयाचलमें उत्पन्न पल्लवोंको शीतलता पानेके लिए रखते हैं, किन्तु वे सन्तप्त शरीरपर पड़नेसे जल जाते हैं । यम तुम्हारे लिए अत्यन्त सन्तप्त हो रहे हैं] ॥ ७८ ॥

स्मरस्य कीर्त्येव सितीकृतानि तद्दोःप्रतापैरिव तापितानि ।
अङ्गानि धत्ते स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि ॥ ७९ ॥

स्मरस्येति । स यमो भवद्वियोगात्पाण्डूनि चण्डेन तीव्रेण ज्वरेण जर्जराणि अत एव क्रमात् स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि धवलीकृतानीव तस्य स्मरस्य दोःप्रतापैस्तापितानीव स्थितानीत्युभयत्राप्युत्प्रेक्षा । अङ्गानि धत्ते । अत्र यथासङ्ख्योत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ७९ ॥

वे यम तुम्हारे वियोगके कारणसे पाण्डुवर्ण तथा तीव्र ज्वरसे जर्जरित (अतएव क्रमशः) मानो कामदेवकी कीर्तिसे श्वेत किये गये तथा उस कामदेवके बाहु-प्रतापसे सन्तप्त शरीरोंको धारण करते हैं । [विरहियोंके शरीरका पाण्डुवर्ण तथा जर्जरित होना प्रसिद्ध है, अत एव यमके भी शरीर के जर्जरित होनेमें कविने उत्प्रेक्षा की है कि यमके शरीर कामदेव की कीर्तिसे पाण्डु तथा बाहु-प्रतापसे जर्जरित हो गये हैं । श्वेत कीर्तिसे शरीरका श्वेत (पाण्डु) होना तथा प्रतापसे जर्जरित होना उचित ही है] ॥ ७९ ॥

यस्तन्वि ! भर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः ।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः ॥ ८० ॥

अथ वरुणस्य विरहं वर्णयति—य इत्यादि । हे तन्वि ! कृशाङ्गि ! यो देवः सायं घुसृणेन कुङ्कुमेन समालम्भने अनुलेपने कौतुकिन्याः कुतूहलवत्याः आतपारुण्यात् कुङ्कुमलिप्तवद्भासमानाया इत्यर्थः । दिशः प्रतीच्या भर्ता प्रातः प्राच्या अपि तथात्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं सायं ग्रहणम् । स वरुणः तदा तस्मिन् काले तुभ्यञ्चेतः प्रजिघाय प्रहितवान् । "हेरचङि" इति कुत्वम् । यदा यस्मिन् काले गतः प्रयातः नित्यं पन्थानं गच्छतीति पान्थो निवृत्य नैति नायाति अपुनरावृत्तिलिङ्गान्नूनं चित्रास्वात्योः प्रहितवानित्युत्प्रेक्षा । "नन्दन्ति न निवर्तन्ते चित्रास्वात्योर्गता नरा" इति वचनात् । अत एवात्र कवेः पान्थशब्दप्रयोगः "पथो ण नित्यम्" इति नित्याध्वगमने पथिन् शब्दात् णप्रत्ययपान्थादेशयोर्विधानात् । अत एव "नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणम्" इति काशिकायाम् । तच्चित्तं त्वय्येव सानन्दं विहरति न निवर्तत इति तात्पर्यम् ॥

(अब (श्लो० ८० से ८३ तक) नल वरुणके दूतकार्यको आरम्भ करते हैं—) हे तन्वि ! जो (वरुण) सायङ्कालमें कुङ्कुमसे शरीर–लेपन करने वाली दिशा (पश्चिम दिशा) के स्वामी हैं, वे (वरुण) भी तुम्हारे लिए मनको तब भेज दिये हैं, जब (से लेकर अब तक) गया हुआ वह पथिक अर्थात् वरुण का मन लौट कर नहीं आता है । [स्त्री पतिके साथ सम्भोग करनेकी इच्छासे सायङ्कालमें अपने शरीरमें जिस प्रकार कुङ्कुम आदिका लेप करती है, उसी प्रकार अपने पति वरुणके साथ सम्भोग को चाहने वाली पश्चिम दिशा सायङ्कालमें रक्तवर्ण हो जाती है, ऐसी उस पश्चिम दिशाके स्वामी वरुणने अपने मनको तुममें इस समयतक आसक्त कर रखा है कि तुमसे उसका मन अभीतक विमुख नहीं हुआ है । वरुण भी तुम्हें चाह रहे हैं] ॥ ८० ॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थः क्षुधितः शिखावान् ।
निजः पतिः संप्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्थः स्मरतापदुःस्थः ॥ ८१ ॥

तथेति । तथा क्षुधितः बुभुक्षितः । "वसतिक्षुधोः" इति निष्ठायामिडागमः । अश्वामुखोत्थः शिखावान् वडवाग्निः पयोनिधीनां तापाय न भवति यथासौ स्मरदाहेन दुःखं तिष्ठतीति दुःस्थोऽस्वस्थो निजः पतिर्वरुणः हृदि तिष्ठतीति हृदिस्थः स्मर्यमाण एव वारीणि पातीति वारिपो वारिरक्षकोऽपि सन् तापाय भवति तथा साक्षात्कुक्षिस्थोऽपि वडवाग्निर्न तापयतीत्यर्थः । ईदृक् तापासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८१ ॥

कामसन्तापसे अस्वस्थ जल–रक्षक भी हृदयस्थ (स्मरणीय, पक्षा०—बीचमें स्थित) अपना पति (वरुण) समुद्रोंको जैसा सन्तापकारक हो रहा है, वैसा (हृदयस्थ, पक्षा०—बीचमें स्थित एवं जल–रक्षक) वडवामुखसे उत्पन्न भूखा अग्नि अर्थात् क्षुधार्त वडवाग्नि भी समुद्रोंको सन्तापकारक नहीं होता है । [वरुण तथा वडवाग्नि—इन दोनोंके जल–रक्षकत्व तथा हृदिस्थत्वके समान होनेपर भी समुद्रोंको वडवाग्नि वैसा सन्तप्त नहीं करता, जैसा कामसन्तप्त वरुण सन्तप्त करता है । समुद्रोंके बीचमें वडवाग्नि रहता है और जलाधीश होने

से वरुण भी उनके हृदयमें निवास करते हैं, उनमें वडवाग्निके द्वारा समुद्रोंको उतना सन्ताप नहीं होता, जितना कामसन्तप्त वरुणके द्वारा होता है, अतः वडवाग्निकी अपेक्षा विरहाग्नि ही अधिक दाहक है। लोकमें भी सज्जन दास दुःखित या शोकसन्तप्त स्वामीको देखकर अधिक दुःखित या सन्तप्त होते हैं]॥ ८१ ॥

यत्प्रत्युत त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति दुर्विनीता ।
ततो विधत्तेऽधिकमेव तापं तेन श्रिता शैत्यगुणा मृणाली ॥ ८२ ॥

यदिति । तेन वरुणेन श्रिता सन्तापशान्तये सेविता शैत्यमेव गुणो यस्याः सा शैत्यगुणा शीतलैकस्वभावेत्यर्थः । तथापि दुर्विनीता प्रतिकूलचारिणी मृणाली बालमृणालम् । अल्पत्वविवक्षायां स्त्रीलिङ्गता । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमरः । "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इति ङीष् । यद्यस्मात्तव मृदुबाहू वल्याविव तयोः स्मृतीनां स्रजं मालां गुम्फति रचयति अजस्रं स्मारयतीत्यर्थः । ततस्त्वद्बाहुस्मारकत्वाद्धेतोः प्रत्युत वैपरीत्येन । प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्य इति गणव्याख्यानम् । अधिकं तापमेव विधत्ते वितन्यते एतेनास्य ज्वरावस्थोक्ता । अत्र मृणाल्याः कविसम्मतसादृश्याद्बाहुवल्लीस्मारकत्वोक्तेः स्मरणालङ्कारः । तदुपजीवनेन तस्यास्तापशान्तिहेतोस्तद्विपरीततापकार्योत्पत्तिकथनाद्विरुद्धकार्योत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेद इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ८२ ॥

उस वरुणके द्वारा धारण की गयी शीतल गुणवाली (फिर भी सन्ताप करनेसे) दुर्विनीत अर्थात् दुष्टस्वभाववाली मृणाली जिस कारण तुम्हारे बाहुलताके स्मरण–मालाको गूंथती है अर्थात् तुम्हारे बाहुलताके स्मरणोंको दिलाती है, अतएव वह अधिक सन्तापको देती है। [लोकमें भी लाभके लिए रखा गया दुर्जन लाभकी जगह हानि ही करता है। तापशान्तिके लिये धारणकी हुई मृणाललता समान सादृश्य होनेसे तुम्हारी बाहुवल्लीका स्मरणकराकर वरुणके सन्तापको घटानेकी अपेक्षाब ढ़ाती ही है]॥ ८२ ॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि तापभाजि ।
तच्चित्तमग्नैर्मदनस्य बाणैः कृतं शतच्छिद्रमिव क्षणेन ॥ ८३ ॥

न्यस्तमिति । ततस्तदनन्तरमपि तेन वरुणेन तापभाजि हृदये न्यस्तं मृणालदण्डस्य बिसकाण्डस्य खण्डं सकलं तस्य वरुणस्य चित्ते मग्नैर्मदनस्य बाणैः क्षणेन शतं छिद्राणि यस्य तत्तथा कृतमिव प्रतिकूलाचरणरोषाच्छतधा प्रणीतमिव बभासे । उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

सन्तापयुक्त हृदयमें (छातीपर) उस (वरुण) के द्वारा रखा गया मृणालदण्डका टुकड़ा, उस (वरुण) के चित्तमें धसे हुए काम–बाणोंसे मानों तत्काल किये गये सैकड़ों छिद्रोंसे युक्त किये गयेके समान शोभित होता है। [स्वभावतः सच्छिद्र कमल नाल–खण्ड वरुणके मनमें निमग्न कामबाणोंसे छिद्रयुक्त किया गया–सा ज्ञात होता है। तुम्हारे विरहसे वरुण कामबाणोंसे जर्जरित हो रहे हैं]॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीतिलकेषु तेषु मनोभुवो विक्रमकामचारः ।
अमोघमस्त्रं भवतीमवाप्य मदान्धतानर्गलचापलस्य ॥ ८४ ॥

इतीति । हे भैमि ! भवतीमेवामोघमस्त्रमवाप्य मदान्धतया अनर्गलचापलस्य उच्छृङ्खलचेष्टितस्य मनोभुवः कामस्य त्रिलोकीतिलकेषु त्रिभुवनभूषणेषु तेष्विन्द्रादिषु विषये इतीत्थं विक्रमस्य कामचारः स्वाच्छन्द्यवृत्तिर्वर्तत इति शेषः ॥८४॥

तीनों लोकके भूषणरूप उन (इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण) में तुम अमोघ अस्त्रको प्राप्तकर (स्थित) मदान्धतासे निर्बाध चपलतावाले कामदेवके इस प्रकार (श्लो० ५८ से ८३ तक वर्णित क्रमसे) पराक्रमकी स्वेच्छाचारिता हो रही है। [लोकमें भी अन्य कोई मदान्ध व्यक्ति सफल अस्त्र पाकर तथा चपलताके वशीभूत होकर निर्बाध रूपसे श्रेष्ठ लोगोमें भी अपना दुर्व्यवहार करने लगता है, और मदान्ध होनेसे चञ्चल व्यक्तिका बड़े लोगोंमें भी उचितानुचितका विचार छोड़कर दुर्व्यवहार करना कोई आश्चर्य नहीं है; अथ च-मदान्ध होनेसे चपल हाथीका श्रेष्ठ लोगोंमें भी अपना पराक्रमका स्वच्छन्द प्रयोग करना आश्चर्य नहीं है। मदान्ध कामदेव तुमको साधन बनाकर त्रैलोक्य श्रेष्ठ इन्द्रादिको निरन्तर पीडित कर रहा है] ॥ ८४ ॥

सारोऽथ धारेव सुधारसस्य स्वयंवरः श्वो भविता तवेति ।
सन्तर्पयन्ती दमयन्ति ! तेषां श्रुतिः श्रुती नाकजुषामयासीत् ॥ ८५ ॥

सार इति । अथानन्तरसमये हे दमयन्ति ! तव स्वयंवरः श्वः परेऽह्नि भविता भविष्यतीति श्रुतिर्वार्ता। 'श्रुतिः श्रोत्रे अथाम्नाये वार्तायां श्रोत्रकर्मणि' इति विश्वः । सुधारसस्य सारः सारभूता धारेव सन्तर्पयन्ती नाकजुषामिन्द्रादीनां श्रुती श्रोत्रे अयासीत् प्राप "सारोत्थे"ति पाठे सारप्रभवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

हे दमयन्ति ! 'तुम्हारा स्वयम्वर कल होगा' यह बात अमृत रसके सारभूत (पाठा०—सारोत्पन्न) धाराके समान सन्तृप्त करती हुई उन स्वर्गनिवासियों (इन्द्रादि देवों) के दोनों कानोंमें पहुंचती है अर्थात् इन्द्रादि देवोंने तुम्हारे स्वयंवरके समाचारको बड़े आनन्दके साथ सुना है ॥ ८५ ॥

समं सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः स्वदारनासापथिकैर्मरुद्भिः ।
अनङ्गशौर्यानलतापदुःस्थैरथ प्रतस्थे हरितां मरुद्भिः ॥ ८६ ॥

सममिति । अथ स्वयंवरवार्ताश्रवणानन्तरमनङ्गस्य शौर्यानलेन प्रतापाग्निना यस्तापस्तेन दुःस्थैरस्वस्थैर्हरितां दिशां सम्बन्धिभिर्मरुद्भिर्देवैरिन्द्रादिभिः स्वस्वामिभावसम्बन्धे षष्ठीसमासः । समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । "नित्यं सापत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारश्च । तद्भवेन दुःखेन तीक्ष्णैर्दुःसहैः स्वदाराणां नासासु पन्थानं गच्छन्तीति पथिकैः पान्थैर्मरुद्भिः समं वायुभिः सह 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । प्रतस्थे प्रस्थितं भावे लिट् । शच्यादिभिरिन्द्रादिकलत्रैरागामिसापत्न्यदुःखाद्दीर्घमुष्णञ्च निः-

श्वसितमित्यर्थः। अत्र पवनामरप्रस्थानयोः कार्यकारणभावात्तदङ्गलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितः सहोक्त्यलङ्कारः। "सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः। कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरिहोच्यते॥" इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

इस (स्वयंवर-समाचार सुनने) के बाद कामदेवके प्रतापाग्निरूप सन्तापसे पीडित दिक्पाल (इन्द्रादि), सपत्नीजन्य दुःखसे तीव्र (तेज और उष्ण, पक्षा०-असह्य) अपनी (अपनी) स्त्रियोंके नासामार्गगामी वायुओंके साथ चल दिये। [तुम्हारे स्वयंवरके समाचारसे जब इन्द्रादि देव चलने लगे तब उनकी स्त्रियोंने हमारी सपत्नी (सौत) लानेके लिये ये हमारे पति जा रहे हैं, इस दुःखसे नाकके रास्ते लम्बा-लम्बा निःश्वास छोड़ा। स्व-स्व-पत्नियोंके उष्ण तथा तीव्र निःश्वास वायुके साथ गमन करनेसे कविने उनके (दमयन्ती लाभरूप) कार्यकी सिद्धिमें अशकुन होना सूचित किया है। लोकमें भी जानेके समयमें छींक होनेसे जन्ताको अनिष्ट होता है।]॥ ८६ ॥

अपास्तपाथेयसुधोपयोगैस्त्वच्चुम्बिनैव स्वमनोरथेन[1]।
क्षुधञ्च निर्व्यापयता तृषञ्च स्वादीयसाध्वा गमितः सुखं तैः॥ ८७॥

अपास्तेति। पथि साधु पाथेयम्। 'पाथेयं संबलं स्मृतम्' इति यादवः। "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्"। तच्चासौ सुधा च तस्या उपयोगोऽपास्तो यैरिन्द्रादिभिः क्षुधं बुभुक्षां तृषं तृष्णां पिपासां निर्वापयता शमयता स्वादीयसा अमृतादपि स्वादुतरेण त्वच्चुम्बिना भवद्गोचरेण स्वयं मनोरथेनैवाध्वा सुखं गमितो नीतः, अमृतमप्युत्सृज्य त्वद्ध्यानमात्रसम्बन्धाः प्राप्ता इत्यर्थः॥ ८७ ॥

पाथेय (रास्तेका कलेवा) रूप अमृतका उपयोग (पाठा०-उपभोग) नहीं किये हुये उन (इन्द्रादि देवों) ने भूख और प्यासको दूर करते हुए तथा (अमृतसे भी) अधिक स्वादिष्ट त्वद्विषयक मनोरथ (तुम्हें पानेकी आशा, पक्षा०-मनरूपी रथ) से ही (पाठा०-मानो मनोरथसे अर्थात् दमयन्तीको प्राप्तकर इस-इस प्रकार रमण करेंगे, इत्यादि कल्पनासे) मार्गको सुखपूर्वक पूरा (तय) कर लिया है। [भूख-प्यासकी शान्तिके लिये पथिक मार्गका पाथेय लेकर चलता है, किन्तु इन्द्रादि देवोंने अमृतरूप उत्तम पाथेयका भी उपयोग नहीं किया (उसे साथमें भी नहीं लाये); क्योंकि त्वद्विषयक मनोरथसे ही उन्हें भूख-प्यासने नहीं सताया, अतएव उनका मार्ग सुखपूर्वक पूरा हो गया। 'मनोरथ' शब्दके प्रयोगसे वे इन्द्रादि देव तुम्हारे लिये मनके समान अतितीव्रगामी रथसे आये अर्थात् अत्यन्त शीघ्र यहां पहुंचे। मनके समान रथका तीव्रवेग होनेसे मार्गमें उनका समय बहुत कम लगा, इस कारण भी वे इन्द्रादि मार्गमें भूख-प्यासले पीडित नहीं हुए तथा अमृत-जैसे श्रेष्ठ पाथेयका भी उपयोग नहीं किया। अन्य भी पथिक तीव्र वेगसे चलनेवाली सवारीके द्वारा अपने अभीष्ट स्थानको सुखपूर्वक शीघ्र पहुंच जाता है तथा रास्तेमें बहुत समय नहीं

---

१. "सुधोपभोगैः" इति, ततोऽग्रे "त्वच्चुम्बिनेव" इति च पाठान्तरम्।

लगनेसे भूख–प्याससे व्याकुल नहीं होनेके कारण पाथेयका भी उपयोग नहीं करता]॥८७॥

प्रिया मनोभूशरदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः ।
सुरेषु सारैः क्रियतेऽधुना तैः पादार्पणानुग्रहभूरियं भूः ॥ ८८ ॥

प्रिया इति । त्वमेवार्थः प्रयोजनं तेन निमित्तेन प्रिया दयिताः देवीः शच्यादिदाराः मनोभुवः कामस्य शरा एव दावो दवाग्निस्तस्य दाहे विरहानले निमज्जयद्भिः सद्भिः सुरेषु सारैः श्रेष्ठैरिन्द्रादिभिरधुना इयं भूर्विदर्भदेशः पादार्पणमेवानुग्रहस्तस्य भूः स्थानं क्रियते कुण्डिनोपकण्ठ एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

तुम्हारे लिए प्रिय देवियों (या देवी अर्थात् सती प्रियाओं) को काम–बाणरूप दावानलके दाहमें मग्न करते अर्थात् विरहके कारण कामबाणाग्नि पीडित करते हुए, देवोंमें प्रधान वे (इन्द्रादि) इस समय इस (कुण्डिनपुरीकी) भूमिको चरणके अर्पणरूप अनुग्रहका स्थान बना रहे हैं । [जो देव पृथ्वी पर कभी नहीं चरण रखते थे, वे देवश्रेष्ठ इन्द्रादि तुम्हारे लिये इस भूमिपर पधारे हुए हैं और उनकी प्रिया देवाङ्गनाएं विरह पीडित हो रही हैं] ॥ ८८ ॥

अलङ्कृतासन्नमहीविभागैरयं जनस्तैरमरैर्भवत्याम् ।
अवापितो जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं निक्षिप्य सन्देशमयाक्षराणि ॥ ८९ ॥

अलङ्कृतेति । अलङ्कृत आसन्नमहीविभागो भूप्रदेशो यैस्तैः समीपं गतैस्तैरमरैरयं जनः स्वयमित्यर्थः । भवत्यां विषये त्वां प्रतीत्यर्थः । सन्देशमयाक्षराणि सन्देशरूपाणि वाक्यानि निक्षिप्य अर्पयित्वा जङ्गमलेख्यस्य चललेख्यस्य लक्ष्मीमवापितः तेषामहं सन्देशहर इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

(इस कुण्डिनपुरीकी) समीपस्थ भूमिके हिस्सेको सुशोभित किये हुए अर्थात् कुण्डिनपुरीके पासमें ठहरे हुए उन इन्द्रादि देवोंने इस आदमीको अर्थात् मुझे तुममें अर्थात् तुम्हारे लिये सन्देशमय अक्षरोंको रख (या लिख) कर चल लेखकी शोभाको प्राप्त कराया है अर्थात् तुम्हारे लिये अपना सन्देश मुझे सुनाकर जङ्गम (चलनेवाला) लेख बनाया है । [कुण्डिनपुरीके पासमें ही ठहरे हुए इन्द्रादिने तुम्हारे लिये अपना मौखिक सन्देश मेरे द्वारा भेजा है] ॥ ८९ ॥

एकैकमेते[2] परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति ।
त्वं मूर्च्छतान्नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि ॥ ९० ॥

एकैकमिति । एते देवाः एकैकं प्रत्येकमेवेत्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । "एकं बहुव्रीहिवदि"ति बहुव्रीहिवद्भावात्सुलोपः क्रियाविशेषणं चैतत् अन्यथैकत्वनपुंसकत्वानुपपत्तेः केषुचित्पुस्तकेषु "प्रत्येकमि"त्येव पाठः । पीनस्तनयोरुपपीड्य पीनस्तनोपपीडं "सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्ष" इति णमुल्प्रत्ययः । परिरभ्यालिङ्ग्य सन्दिशन्ति

---

१. "–लेख–" इति पाठान्तरम् । २. "प्रत्येकमेते" इति पाठान्तरम् ।

वाचिकं कथयन्ति । किमिति–स्मर एव भिल्लोऽन्त्यजभेदः । 'मूलाश्लेषादयो भिल्लाः कथ्यन्ते ह्यन्त्यजातयः' इति हलायुधः । तस्य शल्यैः शूरैर्मूर्च्छतां मुह्यतां नोऽस्माकं मुदे त्वं विशल्या उद्धृतशल्या च सा औषधिर्वल्ली विशल्यकरणीलता । एधि भव अस्तेर्लोण्मध्यमैकवचनं "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इत्येकारः । "हुझल्भ्यो हेर्धिः(१)", "धि च" इति सकारलोपः ॥ ९० ॥

ये (इन्द्रादि चारों देव) एक-एक (पाठा०—प्रत्येक) बड़े-बड़े स्तनोंको उपपीडित करते हुए आलिङ्गनकर तुम्हारे विषयमें अर्थात् तुमको सन्देश भेजे हैं कि—तुम कामदेवरूपा भील (मारनेवाला व्याधा) के बाणोंसे मूर्च्छित होते हुए हमलोगोंकी विशल्य (बाण-रहित करनेवाली) नामक औषधि-लता बनो अर्थात् हमलोगोंको वरणकर हमलोगोंकी कामपीडा दूर करो ॥ ९० ॥

त्वत्कान्तिमस्माभिरयं पिपासन् मनोरथाश्वासनयैकयैव ।
निजः कटाक्षः खलु विप्रलभ्यः कियन्ति यावद्भण वासराणि ॥ ९१ ॥

अथ षोडशभिः श्लोकैः सन्देशमेवाह—त्वदित्यादि । हे भैमि ! त्वत्कान्तिं त्वल्लावण्यामृतं पिपासन् पातुमिच्छन्, पिबतेः सनन्ताल्लटः शत्रादेशः । अयं निजोऽस्मदीयः कटाक्षोऽस्माभिः कियन्ति वासराणि यावत् कियद्दिनपर्यन्तमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, अवधौ यावच्छब्दः । एकया मनोरथेन मनोरथप्राप्त्या या आश्वासना तयैव अयं ते मनोरथ इदानीमेव प्राप्स्यत इत्येवमुपसान्त्वनयैव विप्रलभ्यः प्रतार्यः खलु ? भण पथिकैस्तृषित इवेति भावः । अलं कालयापनया, द्रिद्गत्वो वयमनुकम्पनीया इति तात्पर्यार्थः ॥ ९१ ॥

तुम्हारे सौन्दर्यको पीनेकी इच्छा करनेवाले इस अपने कटाक्षको हमलोग कितने दिनोंतक केवल एक ही मनोरथके आश्वासन (तुम्हें प्रिया दमयन्ती अवश्य प्राप्त होगी, ऐसी शान्त्वना) से वञ्चित करते रहेंगे ? यह निश्चतरूपसे कहो । [जिस प्रकार मार्गमें चलते-चलते प्यासे हुए बच्चेको 'थोड़ी दूर चलनेपर शीघ्र ही पानी मिलेगा' इस प्रकार शान्त्वना देकर कुछ समयतक ही उसे वञ्चित किया जा सकता है, कई अर्थात् अनेक दिनोंतक नहीं, उसी प्रकार हमलोगोंका कटाक्ष अर्थात् दृष्टि तुम्हारे सौन्दर्यकी प्यासी है, उसे तुम्हारी प्राप्तिरूप मनोरथपूर्णताके आश्वासनसे हमलोग कितने दिनोंतक वञ्चित करते रहेंगे ? यह निश्चत कहो, क्योंकि बहुत दिनोंतक उसे एक ही आश्वासनसे वञ्चित करते रहना हमलोगोंके लिए अशक्य है । अतः तुम शीघ्र ही हमलोगों को स्वीकृत करो] ॥ ९१ ॥

---

(१) "चिन्त्यमिदम् धि च" इति सकारलोपानवकाशात् । अत्र हि 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे'ति एत्वे तस्याभीयतयाऽसिद्धत्वेन हेर्ध्यादेशे "श्नसोरल्लोप" इति अलोपे 'एधि' इत्यस्य सिद्धत्वादिति बोध्यम् ।

[1]निजे सृजास्मासु भुजे भजन्त्यावादित्यवर्गे परिवेषवेषम् ।
प्रसीद निर्वापय तापमङ्गैरनङ्गलीलालहरीतुषारैः ॥ ९२ ॥

निज इति । हे भैमि ! निजे स्वीये भुजे बाहू आदित्यवर्गे सुरवर्गे सूर्यवर्गे चास्मासु परिवेषस्य वेष्टनस्य सूर्यपरिधेश्च वेषमाकारं भजन्त्यौ सृज कुरु आलिङ्गेत्यर्थः। 'परिवेषो रवेः पार्श्वमण्डले वेष्टने तथा, इत्यजपालः । प्रसीद प्रसन्ना भव अनङ्गलीलालहरीभिर्मदनविहारोर्मिभिः तुषारैः शीतलैरङ्गैस्तापं निर्वापय शमय ॥ ९२ ॥

तुम अपनी भुजाओंको आदित्य समूह (देव-समूह, पक्षा०—सूर्य-समूह) हमलोगोंमें परिवेष (वेष्टन, पक्षा०—सूर्यमण्डलका घेरा) की शोभावाली बनाओ। (पाठा०—यदि हमलोगोंपर तुम्हारी कृपा है तो आवो, शीघ्र अङ्कपाली (कण्ठमें बाहुको वेष्टितकर आलिङ्गन) को दो) प्रसन्न होवो, (पाठा०—हे सुन्दर अङ्गोंवाली) काम-लीलाकी तरङ्गोंसे शीतल (अपने) अङ्गोंसे (हमलोगोंके कामजन्य) सन्तापको ठण्डा करो । [सूर्य-समूहमें परिवेषका होना, तथा तरङ्गोंकी शीतलतासे सन्तापका शान्त होना उचित ही है ॥ सकाम तुम्हारे शरीर-स्पर्शसे हमलोगोंका सन्ताप दूर हो जायेगा, अतः अविलम्ब प्रसन्न होकर हमलोगोंका आलिङ्गन करो] ॥ ९२ ॥

दयस्व नो घातय नैवमस्माननङ्गचाण्डालशरैरदृश्यैः ।
भिन्ना वरं तीक्ष्णकटाक्षबाणैः प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रैः ॥ ९३ ॥

दयस्वेति । हे भैमि ! नोऽस्माकं दयस्व अस्माननुकम्पस्वेत्यर्थः । "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति षष्ठी । अदृश्यैरलक्ष्यैरनङ्ग एव चाण्डालस्तस्य शरैरेवमस्मान् न घातय न मारय । किन्तु प्रेमैव रसोऽनुरागो जलं च तस्मात्पवित्रैः शुद्धैस्तव तीक्ष्णैः कटाक्षैरेव बाणैर्भिन्ना विदारिताः सन्तः प्रेमः प्रियामहे । प्रपूर्वादिणो लडुत्तमबहुवचनम् । वरं मनाक् प्रियम् । जीवनासम्भवे वरं चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणमिति भावः ॥ ९३ ॥

(तुम) दया करो, अनङ्ग (काम, पक्षा०—शरीरहीन होनेसे अदृश्य) रूप चण्डालके अदृश्य बाणोंसे हमलोगोंको मत मरवावो। तुम्हारे प्रेमरस (पक्षा०—जल) से पवित्र (पूर्ण, पक्षा०—शुद्ध) तीक्ष्ण कटाक्षरूप बाणोंसे विदीर्ण हमलोग भले ही (या अच्छी तरह) प्रसन्न होंगे। [चण्डालके अपवित्र बाणोंसे मरनेकी अपेक्षा जलके द्वारा धोनेसे पवित्र तीक्ष्ण बाणोंसे मरजाना हमलोग अच्छा मानते हैं । तुम्हारे विरहमें हमलोग अदृश्य काम-बाणोंसे आहत हो रहे हैं, अतः वैसा न करके तुम स्वयं ही प्रत्यक्षमें आकर प्रेमपूर्ण तीक्ष्ण कटाक्षोंसे हमलोगों पर प्रहार करो, उस सानुराग तीक्ष्ण कटाक्षप्रहारसे हमलोग बहुत प्रसन्न होंगे। लोकमें भी किसीसे प्रेरित

---

१. "अनुग्रहोऽस्मासु यदि त्वदीयस्तदेहि देहि द्रुतमङ्कपालीम्" इति पादद्वयस्थाने क्वचित्पाठः । २. "तन्वङ्गि" इति पाठान्तरम् ।

चण्डालके अदृश्य बाणोंसे पीडित होनेवाला व्यक्ति उसकी अपेक्षा प्रत्यक्षमें आये हुए उस प्रेरक व्यक्तिके तीक्ष्ण बाणोंसे मर जाना उत्तम मानता है] ॥ ९३ ॥

त्वदर्थिनः सन्तु परःसहस्राः प्राणास्तु नस्त्वच्चरणप्रसादः ।
विशङ्कसे कैतवनर्तितञ्चेदन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

त्वदिति । हे भैमि ! त्वामर्थयन्त इति त्वदर्थिनः त्वत्कामुकाः सहस्रात् परे परःसहस्राः सहस्राधिकसङ्ख्याका इत्यर्थः । 'परःशताद्यास्ते येषां परा सङ्ख्या शताधिका' इत्यमरः । पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य सहस्रशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात् सुडागमः । सन्तु, नोऽस्माकं प्राणास्तु त्वच्चरणयोः प्रसादोऽनुग्रहः वयं त्वदेकायत्तजीविता इत्यर्थः । अथ कैतवनर्तितं कपटनाटकं विशङ्कसे चेत् अन्तश्चरो हृदयान्तर्वर्ती पञ्चशरः प्रमाणम् , काम एवात्र साक्षी स हि महती देवतेति भावः ॥ ९४ ॥

सहस्रोंसे अधिक लोग तुम्हे चाहनेवाले (भले ही) हों, किन्तु हमलोगोंके प्राण तुम्हारे चरणोंके प्रसाद हैं (तुम्हारे चरणोंके प्रसन्न होनेपर ही हमलोग जीवित रह सकते हैं, अन्यथा नहीं); यदि तुम (हमलोगोंके इस कथनमें) कपटभाषण की आशङ्का करती हो तो (इस विषयमें हमलोगोके भीतर स्थित) कामदेव ही प्रमाण अर्थात् साक्षी है । [भीतरतक घूमनेवाला तथा देवरूप होनेसे कामदेव ही हमलोगोंकी बातको सत्यरूपमें प्रमाणित करेगा, अतः ऐसे प्रामाणिक साक्षीके रहते तुमको हमलोगोंकी बातमें आशङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ तुम्हारे विना हमलोग नहीं जीवेंगे, अतः कृपाकर हमलोगोंको वरण करो] ९४ ॥

[नास्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसायनानि[1] ।
सुधारसादभ्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वैदर्भि ! निजाधरं नः ॥ १ ॥]

अस्माकमिति । हे वैदर्भि दमयन्ति ! मदनः कामो धत्तूरो वा स एव अपमृत्युरकालमरणं तस्मात्त्राणाय रक्षणाय पीयूषममृतमेव रसायनानि रसायनभेषजानि न समर्थानीति शेषः । 'अस्माकमि'त्यस्य मदनापमृत्युना त्राणेन पीयूषरसायनैर्वाऽपि सम्बन्धो यथेष्टं कार्यः। ततो हेतोः प्रसीद अस्मासु प्रसन्ना भव । कीदृशी प्रसन्नतेत्याह-सुधेति । सुधाऽमृतमेव रसो रसायनौषधं माधुर्यादिषड्रसा वा तस्मादभ्यधिकमतिशयितमपमृत्युवारणे आस्वादने वेत्यर्थः । निजाधरं स्वाधरं प्रयच्छ देहि, पानायेति शेषः । अत्र 'प्रसीद' पदोपादानाद्देवानामतिशयितं दीनवचनमिति सूच्यते ।

---

१. अयं श्लोको वक्ष्यमाण (८।१०४) श्लोकार्थक एवं म० म० शिवदत्तशर्मभिष्टिप्पण्यां क्वाचित्कत्वेनोल्लिखित इति मयाऽप्यसौ देव-राष्ट्र-वाण्योः क्रमशो व्याख्यातोऽनूदितश्चेति बोध्यम् । परं तैः "अस्माक·····" इति पाठ उल्लिखितोऽपि न यथार्थसङ्गतिक इति मया तत्र "नास्माक·····" इति पाठः परिवर्तितः ।

अन्योऽपि अपमृत्युभीतो मानवो रसायनौषधसेवनेनापि त्राणमलभमानस्तस्मादुत्तमं- रसायनं सेवित्वा प्राणरक्षणं कामयते । स्त्रीणामधरेऽमृतस्थितिः "केचिद्वदन्त्यमृत- मस्ति पुरे सुराणां केचिद्वदन्ति वनिताऽधरपल्लवेषु ।" इति कविजनोक्त्या प्रसिद्धैव । नित्यं सेव्यमानस्य महागुणस्यापि भेषजादेर्गुणास्तत्सेविनः पुरुषस्य सात्म्यं प्रतिपद्य न तथा रोगप्रशमनार्थं शक्ता भवन्ति यथा नवीनभेषजमित्यतोऽपि नित्यसेव्यमान- स्वर्लोकस्थामृतापेक्षया दमयन्त्यधरस्थामृतभेषजयाचनं देवानां नासङ्गतमित्यवधेयम् ॥

हे दमयन्ति ? इस मदन (कामदेव) रूप अपमृत्यु (अकालमृत्यु या दुर्गतिपूर्वक मृत्यु) से बचानेके लिये हमलोगोंका अमृतरूपी रसायन औषध नहीं समर्थ है (अतः) प्रसन्न होवो, अमृतरूपी रस (रसायन औषध, पक्षा०—षड्रस भोजन) से भी अधिक (अपमृत्युनाशक होनेसे अथवा माधुर्यातिशययुक्त होनेसे श्रेष्ठ) अपना अधर (हमलोगोंको पान करनेके लिये) दो। ['प्रसीद' पदके कहनेसे अपमृत्युसे भयभीत देवोंकी अतिदीनता सूचित होती है। जिसप्रकार लोकमें भी जब कोई व्यक्ति रसायन औषधोंके सेवन करनेसे स्वास्थ्यलाभ नहीं करता तो उनरसायनोंको त्यागकर उनसे अधिक गुणकारी रसायनको किसी दूसरेसे आर्त होकर मांगता है, उसी प्रकार दमयन्तीके विरहसे कामपीडित देवोंका अमृतसेवनसे अपनी पीडा शान्त होती हुई न देखकर दमयन्तीसे कामपीडा-शामक अधरामृतकी याचना करना उचित ही है। तथा यह भी देखा जाता है कि जिस औषधका नित्य सेवन किया जाता है वह उन रोगी के लिये सात्म्य हो जाता है (उसका रोगपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे किसी विषैले पदार्थको नित्य खानेवाला व्यक्ति उससे नहीं मरता और दूसरा (नहीं खानेवाला) तत्काल मर जाता है), अतः अमृत देवताओंका नित्य भोज्य पदार्थ होनेसे सात्म्य होनेसे उनकी कामपीडारूपी रोगके दूर करनेमें सर्वथा अनुपयुक्त है इस कारण भी उक्त देवोंका दमयन्तीके अधरस्थ अमृतरूपी दूसरी दवाका पानकर कामपीडारूपी अपना रोग शान्त करनेकी इच्छा करना उचित ही है। स्त्रियोंके अधर तथा स्वर्गमें अमृतकी स्थिति कविसमयके अनुसार निर्णीत है] ॥ १ ॥

अस्माकमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदयं चिराय ।
बहिस्त्वयालङ्क्रियतामिदानीमुरो मुरं विद्विषतः श्रियेव ॥ ९५ ॥

अस्माकमिति । भवत्या पूज्यया । भवतेर्डवतुप्रत्ययः । "उगितश्च" इति ङीप् । त्वयाऽस्माकमेतदन्तर्वर्ति हृदयं स्वान्तं चिराय चिरात्प्रभृति अध्यासितं तावदधि- ष्ठितमेव । अवधारणे तावच्छब्दः । निरन्तरचिन्तयेति भावः । किं त्विदानीं बहिर्बा- ह्यमपि हृदयं वक्षः 'हृदयं वक्षसि स्वान्तम्' इति विश्वः । मुरं मुरस्य विद्विषतो विष्णोरुरो हृदयं द्विषोऽमित्र इति शतृप्रत्ययः । "द्विषः शतुर्वा" इति विकल्पात् "न लोके" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । श्रियेवालङ्क्रियताम् ॥ ९५ ॥

पूज्य आप हमलोगोंके इस हृदय (अन्तःकरण, पक्षा०—भीतर) में स्थित हैं ही; अतः आप बहिर्दृश्यमान हृदय (छाती) को उस प्रकार अलङ्कृत करें जिस प्रकार लक्ष्मी विष्णुके हृदयको अलङ्कृत करती है । [चिरकालसे निवास किये हुए स्थानको पुनः सर्व प्रत्यक्षमें सुशोभित करनेमें तुम्हें निषेध नहीं करना चाहिये, क्योंकि विष्णुके भीतर हृदयमें चिरकालसे स्थित लक्ष्मी उनके बाहर हृदयको भी सुशोभित करती है ॥ तुम्हें हमलोग बहुत समयसे हृदयसे चाहते हैं, अतः अब तुम हमलोगोंको स्वीकार करनेकी कृपा करो] ॥ ९५ ॥

दयोदयश्चेतसि चेत्तवाभूदलङ्कुरु द्यां विफलो विलम्बः ।
भुवः स्वरादेशमथाचरामो भूमौ धृतिं यासि यदि स्वभूमौ ॥ ९६ ॥

दयेति । तव चेतसि दयोदयः दयाविर्भावः अभूच्चेत् द्यां स्वर्गमलङ्कुरु विलम्बो विफल इत्यर्थः । 'शुभस्य शीघ्रम्' इति न्यायादिति भावः । अथाथवा स्वभूमौ स्वजन्मस्थाने भूमौ भूलोके धृतिं सन्तोषं यासि यदि तर्हि भुवो भूमेः स्वरादेशं स्वर्गसंज्ञामाचरामः वयं चात्रैव स्थास्याम इत्यर्थः । स्वाधिष्ठित एव स्वर्ग इति भावः ॥

तुम्हारे चित्तमें (हमलोगोंके ऊपर) यदि दयाका उदय हुआ है तो (तुम) स्वर्गको अलंकृत करो, विलम्ब करना निष्फल (व्यर्थ) है अर्थात् विलम्ब मत करो । अथवा अपनी उत्पत्तिकी भूमि अर्थात् अपनी जन्मभूमिमें (निवास करनेसे) यदि तुम सन्तुष्ट होती हो तो हमलोग पृथ्वीको ही स्वर्ग बना देंगे अर्थात् पृथ्वीपर ही तुम्हारे साथ रहते हुए हमलोग इसे स्वर्गकी भोग–सामग्रियोंसे पूर्ण कर देंगे (पाठा०–यदि तुम्हें अपनी जन्मभूमिमें अनुराग है तो हमलोग पृथ्वीको ही स्वर्ग बना देंगे) । [तुम्हारी इच्छाके अनुसार हमलोग स्वर्ग या पृथ्वी —दोनोंमेंसे कहीं भी तुम्हारे साथ रहनेके लिये तैयार हैं, इस कारण शीघ्र ही हमलोगोंको स्वीकार कर तुम बतलाओ कि कहां रहना चाहती हो ?] ॥ ९६ ॥

धिनोति नास्मान् जलजेन पूजा त्वयान्वहं तन्वि ! वितन्यमाना ।
तव प्रसादाय नते तु मौलौ पूजास्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥ ९७ ॥

धिनोतीति । हे तन्वि ! त्वया अन्वहमनुदिनं वीप्सायामव्ययीभावे "अनश्च, नपुंसकादन्यतरस्याम्" इति समासान्तः, "अह्नष्टखोरेव" इति टिलोपः । वितन्यमाना क्रियमाणा जलजेन जातावेकवचनम् । जलजैः पूजा अस्मान् न धिनोति न प्रीणयति । किन्तु तव प्रसादाय प्रसादार्थं नते नम्रे मौलौ मूर्ध्नि त्वत्पदपङ्कजाभ्यां नोऽस्माकं पूजा अस्तु । प्रणयापराधेषु त्वत्पादताडनार्थिनो वयमिति भावः ॥ ९७ ॥

हे तन्वि ! तुम्हारे द्वारा प्रतिदिन कमलोंसे विशिष्ट रूपसे की जानेवाली पूजा हमलोगोंको प्रसन्न नहीं करती है, (अतएव, प्रणयकुपित) तुम्हें प्रसन्न करनेके लिए नम्र हमलोगोंके मस्तकोंपर तुम्हारे चरण–कमलोंसे पूजा होवे । [तुम देव मानकर हमलोगोंकी जो कमलोंसे पूजा करती हो, उससे हमलोग प्रसन्न नहीं हैं, अतः तुम्हारे स्वीकार कर लेनेपर पति होकर

---

१. "क्षमामेव देवालयतां नयामो भूमौ रतिश्चेत्तव जन्मभूमौ" इति पाठान्तरम् ।

हमलोग प्रणयमें कुपित हुई तुमको प्रसन्न करनेके लिये जब तुम्हारे चरण कमलोंपर मस्तक झुकावेंगे तब तुम उन चरण-कमलोंसे हमलोगोंके मस्तकके ऊपर प्रहारकर (पक्षा० — हमलोगोंके मस्तकपर चरणरूप कमलोंको रखकर) जो पूजा करोगी उसीसे हमलोग सन्तुष्ट होंगे, सामान्य कमल-पुष्पकी अपेक्षा अतिशय श्रेष्ठ चरण-कमलों द्वारा की गयी पूजासे हमलोग अधिक प्रसन्न होंगे। हमलोगोंको तुम पतिरूपमें स्वीकार करो]॥ ९७ ॥

स्वर्णैर्वितीर्णैः करवाम वामनेत्रे ! भवत्या किमुपासनासु ।
अङ्ग ! त्वदङ्गानि निपीतपीतादर्पाणि पाणिः खलु याचते नः ॥ ९८ ॥

स्वर्णैरिति । हे वामनेत्रे ! चारुलोचने ! भवत्या त्वया निजोपासनासु पूजासु वितीर्णैः समर्पितैः स्वर्णैः कनककमलादिभिः किं करवाम न किमपीत्यर्थः। यतः स्वर्णाचलवासिनो वयमिति भावः। किन्तु, अङ्गेत्यामन्त्रणे, निपीतो गृहीतः पीतायाः हरिद्राया दर्पः कान्तिगर्वो यैस्तानि, 'निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः । त्वदङ्गानि नोऽस्माकं पाणिर्याचते खलु । पीतदर्पाणीति पुंल्लिङ्गपाठे पीतानां स्वर्णादिद्रव्याणां दर्पमिति व्याख्येयम्। स्वर्णादुत्कृष्टवस्तुसम्भवे अपकृष्टस्वर्णस्वीकारो न युक्त इति भावः। साधुश्चायमेव पाठः। अन्यथा स्वर्णसञ्चारिणां त्वदङ्गेषु स्वर्णादुत्कर्षे वक्तव्ये हरिद्रामात्रादुत्कर्षोक्त्यनौचित्यादिति ॥ ९८ ॥

हे सुलोचने ! (हमलोगोंकी) पूजाओंमें दिये (दक्षिणा रूपमें चढ़ाये) गये सुवर्णोंसे हमलोग क्या करेंगे अर्थात् पूजामें चढ़ाये गये उन सुवर्णोंकी सुवर्ण पर्वत (सुमेरु पर्वत) पर निवास करनेवाले हमलोगोंको कोई आवश्यकता नहीं है। हे अङ्ग (हे प्रिये)! हमलोगोंका हाथ सुवर्ण आदि पीले पदार्थोंके अभिमानको अच्छी तरह नष्ट करनेवाले तुम्हारे अङ्गोंकी याचना करता है। [जो हमलोग स्वर्णपर्वत पर निवास करते हैं तो पूजामें अर्पित थोडे-से सुवर्णोंकी चाहना करना हमलोगोंके लिये उचित नहीं है, हां, तुम्हारे जिन अङ्गोंने पीले-पीले सुवर्ण आदि श्रेष्ठ द्रव्योंके अभिमानको सर्वथा चूर्णित कर दिया है, उन्हें ही हम चाहते हैं ॥ तुम्हारे गौर वर्णवाले अङ्ग सुवर्णादिसे भी अधिक सुन्दर एवं पीले हैं, अतएव हमलोग उन्हें ही चाहते हैं। पीले वर्णवाले पदार्थोंके दर्पका अतिशय पान करनेवालेको उनकी अपेक्षा अधिक पीला होना उचित ही है, अतः उन्हीं श्रेष्ठ अङ्गोंकी हम याचना करते हैं, याचकको निराश करना अनुचित होनेसे तुम अपने सुवर्णातिशय गौर अङ्गोंको देकर हमारी याचना पूरी करो]॥ ९८ ॥

वयं कलादा इव दुर्विदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्धि दहेम हेम ।
प्रसूननाराचशरासनेन सहैकवंशप्रभवभ्रु ! बभ्रु ॥ ९९ ॥

वयमिति । प्रसूननाराचशरासनेन कामचापेन सह एकवंशप्रभवे एककारणोत्पन्ने अत्यन्ततत्सदृशे इति यावत्। भ्रुवौ यस्याः सा तद्भ्रूरित्यूङन्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः। अन्यथा अनूङन्तस्य भ्रूशब्दस्योवङ्स्थानस्यानदीत्वात् सम्बुद्धावम्बार्थेत्यादिना

नदीह्रस्वो न स्यात्। ननु ऊङन्त इत्युक्तं कथमूकारादिति चेत्, सत्यम्, अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामित्यत्र "अलाबूः, कर्कन्धूः" इति भाष्यकारेणोदाहरणादूकारादप्यूङस्त्येवेति ज्ञायते। अत एव वामनः—"ऊकारादप्यूङ्प्रवृत्ते"रिति। तदेतत् सम्यग्विवेचितमस्माभिः कुमारसम्भवसञ्जीविन्यां, विमानना सुभ्रु ! कुतः पितुर्गृह इत्यत्र। तस्याः सम्बुद्धिः एकवंशप्रभवभ्रु ! वयं कलाः स्वर्णखण्डान् द्यन्ति खण्डयन्तीति कलादाः स्वर्णकारा इव। 'कलादा रुक्मकारका' इत्यमरः। तव गौरिम्णा सह स्पर्धत इति तत्स्पर्धि अत एव प्रबलविरोधितया दुर्विदग्धमविदग्धं बुद्धिशून्यं च बभ्रु पिङ्गलम्। 'बभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः। हेम सुवर्णं दहेम। त्वदङ्गस्पर्धापराधादविशुद्धेश्चास्माकं दाह्यस्वर्णसमर्पणात् सर्वानवद्याङ्गसमर्पणमेव सन्तर्पणमिति भावः ॥ ९९ ॥

हे कामदेवके चापके साथ एक वंश (कुल, पक्षा०—बांस) में उत्पन्न सुन्दर भौंहोंवाली ! सुवर्णकार (सुनार) के समान हमलोग तुम्हारे (शरीरकी) गौरताके साथ स्पर्द्धा करनेवाले (अतएव अर्थात् बड़ेकी समानता करनेसे ही) दुर्विनीत पिङ्गल वर्णवाले सुवर्णको जलाते हैं। [तुम्हारे शरीरकी शोभासे कम शोभावाले सुवर्ण तुम्हारे शरीरकी गौरताके साथ स्पर्द्धा करनेके कारण अग्निमें जलते हैं, हमलोग तुम्हारे हैं, अतएव तुम्हारे शरीरके प्रतिस्पर्द्धीको अग्निमें डालकर दण्डित करते हैं। अतएव हमलोगोंको सामान्य सुवर्णकी आवश्यकता नहीं है, अपि तु स्वर्णाधिक सुन्दर अपना शरीर देकर हमलोगोंको कृतार्थ करो]९९

सुधासरःसु त्वदनङ्गतापः शान्तो न नः किं पुनरप्सरस्सु ।
निर्वाति तु त्वन्ममताक्षरेण सूनाशुगेषोर्मधुशीकरेण ॥ १०० ॥

सुधेति। हे भैमि ! सुधासरःसु अमृतसरसीषु नोऽस्माकं त्वत्कृतानङ्गतापो न शान्तः अप्सरःस्वपां सरःसु ऊर्वश्यादिवेश्यासु वा किं पुनः किमुत ? किन्तु सूनाशुगेषोः कामबाणस्य मधुशीकरेण मकरन्दबिन्दुना तत्सदृशेनेत्यर्थः। तव ममताक्षरेण ममताव्यञ्जकवाक्येन मदीया यूयमित्येवंरूपेण निर्वाति शाम्यति। यद्विरहादयं तापः स तत्सङ्गमैकसाध्यो नोपायान्तरसाध्य इत्यर्थः ॥ १०० ॥

हे दमयन्ति ! अमृत सरोवरमें स्नान करनेपर भी हमलोगोंका त्वत्कृतकामताप शान्त नहीं हुआ, अतः रम्भा आदि वेश्याओंके साथ रमण करनेसे उसको शान्त होनेकी आशा ही नहीं। किन्तु काम बाणके मकरन्द बिन्दुके सदृश तेरे ममता व्यञ्जक (तुम मेरे हो) वाक्य से वह शान्त होता है। [तेरे विरहसे जो हमलोगोंका ताप है, वह केवल तेरे सङ्गमसे ही निवृत्त हो सकता है, अन्यथा नहीं] ॥ १०० ॥

खण्डः किमु त्वद्गिर एव खण्डः किं शर्करा तत्पथशर्करैव ।
कृशाङ्गि ! तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणन्नु दिक्षु प्रथितं तदिक्षुः ॥ १०१ ॥

खण्ड इति। हे कृशाङ्गि ! खण्डः खण्डशर्करा त्वद्गिर एव त्वद्वचस एव खण्डः

शकलः किमु ? 'स्यात्खण्डः शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः' इति विश्वः । तथा शर्करा सिताख्यशर्करा तस्या गिरः पन्थास्तत्पथः तस्मिन् मार्गे शर्करा शिलाशकलप्रचुर-मृदेव किम् ? 'शर्करा खण्डविकृतावुपला कर्परांशयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः । दिक्षु प्रथितं प्रख्यातमिक्षुरित्याख्यं तत् तृणं तव गिरः त्वद्गिरः भङ्गी भङ्गवान् तरङ्गितो रसः शृङ्गारादिरुदकं च तदुत्थं कच्छे अनूपे तृणं नु ? उत्सेति पाठे रसोत्सो रसप्रवाहः तस्य कच्छतृणं किमित्यर्थः । 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । सर्वत्रान्यथा कथं खण्डादीनामीदृङ्माधुर्यमिति भावः । किंवादयस्तूत्प्रेक्षाया-मत्रोत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टत्वात्सजातीयसंसृष्टिः । अत्र द्रव्ये वैशेषिककारः—"मत्स्य-न्दिकाः खण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः । यथा यथा हि नैर्मल्यं मधुरत्वं तथा तथा ॥ धौतत्वान्निर्मलत्वाच्च तथा सिततमक्रमात् । बालुकेव भृशं सूक्ष्मा सुस्निग्धा सित-पिङ्गला ॥ मत्स्याण्डाकृतिसादृश्ययोगान्मत्स्यन्दिका स्मृता । स्फटिकोपलखण्डाभः खण्डस्तच्छर्करा समा ॥ शर्करा निर्मला सैव सिता तु सितशर्करा । निर्मलेव सिता सा तु राजराज इतीरिता" ॥ इति ॥ १०१ ॥

हे कृशाङ्ग ! तुम्हारी वाणी का खण्ड (लेशमात्र) खण्ड (खाँड़) है क्या ?, उस (तुम्हारी वाणी) के मार्गकी शर्करा (छोटे-छोटे कङ्कड़) शर्करा (शक्कर अर्थात् चीनी) है क्या ? और उस (तुम्हारी वाणी) की भङ्गी (व्यङ्ग्यादि पूर्ण रचना) के रस (शृङ्गारादि रस, पक्षा०—जल) के किनारेमें उत्पन्न जो तृण है, वह दिशाओंमें (चारों तरफ अर्थात् सर्वत्र) इक्षु अर्थात् गन्ना कहलाया क्या ? । [तुम्हारी वाणीके खण्ड होनेसे ही वह खण्ड (खाँड़) कहलाया और उसमें माधुर्य हुआ, तुम्हारी वाणीके रास्तेमें शर्करा (छोटे-छोटे कङ्कड़) रूप होनेसे ही वह शर्करा (शक्कर) कहलाया और उसी सम्बन्धसे उसमें माधुर्य आया तथा तुम्हारी वाणीकें शृङ्गारादिरसपूर्ण (या जलपूर्ण) तट प्रान्तज तृणही सर्वत्र इक्षु (गन्ना) कहलाया और उसमें भी उसी वाणीके सम्बन्धसे मधुरता आयी । तुम्हारी वाणीकी अपेक्षा खाँड़, शक्कर तथा गन्नेके अत्यन्त तुच्छ होनेसे वे उस वाणीके खण्ड, मार्गके कङ्कड़ तथा तटोत्पन्न तुच्छ तृण रूप हैं, एवं तुम्हारी उस वाणीके सम्बन्धसे ही उनमें भी मधुरता आ गयी है ॥ तुम्हाणी वाणी खाँड़, शक्कर तथा गन्नेसे भी अत्यधिक मधुर है] ॥ १०१ ॥

ददाम किं ते सुधयाधरेण त्वदास्य एव स्वयमास्यते यतः[1] ।
विधुं[2] विजित्य स्वयमेव भावि त्वदाननं तन्मखभागभोजि ॥ १०२ ॥

किञ्च नेष्टदानेन त्वदाराधने शक्ता वयं किन्तु त्वत्करुणैकशरणा इत्याशयेनाह—ददामेति । ते तुभ्यं किं ददाम किं वितराम दातव्यं किमपि नास्तीत्यर्थः । अमृत-मस्तीति चेत् तवैवास्तीत्याह । कुतः यतो यस्मात् कारणात् सुधया अधरेणाधर-रूपेण त्वदास्य एव स्वयं साक्षादास्यते स्थीयते, भावे लट् । यज्ञभागोऽस्तीति चेत्

१ "हि" इति पाठान्तरम् । २ "चन्द्रं" इति पाठान्तरम् ।

सोऽपि ते जयलभ्य इत्याह—त्वदाननं कर्तृ विधुं चन्द्रं स्वयमेव परानपेक्षं विजित्य तस्य विधोर्मखे यागे भागमंशं भोक्तुं शीलमस्येति तद्भोजि भावि भविष्यत् तत्स्थानाधिपत्यादत्र धर्मलाभ इति भावः ॥ १०२ ॥

तुमको हमलोग क्या दें ? (तुमको देने योग्य कोई उत्तम पदार्थ हम लोगोंके पास नहीं है) जिसे देकर हमलोग तुम्हें प्रसन्न कर सकें), क्योंकि (पाठा० निश्चयसे) अधररूप अमृत तो तुम्हारे मुखमें स्वयं निवास करता है (अतः देवभोज्य अमृत भी अपूर्व पदार्थ न होनेसे तुमको देना ठीक नहीं है, तुम्हारा मुख चन्द्रमाको जीतकर स्वयं ही उस (चन्द्रमा) के यज्ञ भागको प्राप्त करेगा (अतः स्वयं प्राप्य यज्ञ भाग भी तुमको देना ठीक नहीं जचता) [समस्त श्रेष्ठ वस्तुओंसे तुम्हें सम्पन्न रहनेके कारण कोईभी वस्तु तुम्हें देने योग्य नहीं है, जिसे देकर हमलोग तुम्हें प्रसन्न कर सकें] ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वामरभावमस्मदिति त्रपोदञ्चि वचो न किन्नः ।
त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषामः ॥ १०३ ॥

त्वदायत्तमेवेत्याह—प्रिय इति । हे प्रिये ! दमयन्ति ! अस्मदस्मत्तः अमरभावममरत्वमविनाशित्वं च वृणीष्वेत्येवंरूपं नोऽस्माकं वचः त्रपामुदञ्चतीति त्रपोदञ्चि लज्जावहं न भवति किम् ? भवत्येवेत्यर्थः । कुतः, येन कारणेन तव पादावेव पद्मे ते एव शरणं प्रविश्य रक्षकं प्राप्य वयं स्वयमनामयं जिजीविषामो जीवितुमिच्छामः । स्वयं क्षुधितस्यान्नार्थिनस्तद्दातुः क्षुद्भैषज्यप्रतिज्ञावत् परिहासास्पदमेवेति भावः ॥१०३॥

'हे प्रिये ! हम लोगोंसे (तुम) अमरत्व का वर मांगो ऐसा हम लोगों का कहना लज्जा-पूर्ण बात नहीं है क्या ? अर्थात् अवश्यमेव लज्जा पूर्ण बात है; क्योंकि तुम्हारे चरण-कमलमें शरण पाकर हम लोग स्वयं जीना चाहते हैं । [स्वयं दूसरेके चरणोंमें शरण प्राप्तकर जीनेकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति उसीको अमरत्व का वरदान देना चाहे तो वह वचन लज्जास्पद ही होगा ॥ १०३ ॥

अस्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ ।
प्रसीद तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छ पातुं रदनच्छदन्नः ॥ १०४ ॥

न चामृतसेविनां वः कुतो मरणप्रसक्तिरिति वाच्यमित्याह—अस्माकमिति । हे दमयन्ति ! अस्मान्मदनादेवापमृत्योः सकाशादस्माकं त्राणाय रक्षणाय असौ पीयूषरसोऽपि नालम् , किन्तु तस्मात् पीयूषरसादधिकं निजं त्वदीयं रदनच्छदमोष्ठं पातुं नोऽस्मभ्यं प्रयच्छ देहि प्रसीद प्रसन्ना भव ॥ १०४ ॥

यह अमृतरस (पाठा०—अमृतरूपी रसायन औषध) भी हम लोगोंको इस कामदेव रूप अपमृत्यु (अकाल मरण या दुर्गतिपूर्वक मरण) से बचानेके लिये नहीं है, (कामदेव हम लोगों को दुर्गत करके मार डालेगा और अमृत उससे हम लोगोंको नहीं बचा सकेगा), इस कारण उससे अधिक (श्रेष्ठ अमृत युक्त) अपना अधर पान करनेके लिए हम लोगोको

दो, प्रसन्न होवो । [यदि कोई साधारण औषध रोगीकी प्राणरक्षा नहीं करता, तब उससे भी अधिक श्रेष्ठ औषध उस रोगीको पिलाकर उसकी प्राणरक्षा करना उचित माना जाता है, अतः अमृत पीनेसे हम लोगोंके प्राणरक्षा नहीं हो सकती, इस कारण तुम अमृतसे भी अधिक गुणवाले अपने अधरामृतका पान कराकर हम लोगोंकी प्राणरक्षा करो] ॥ १०४ ॥

प्लुष्टश्चापेन रोपैरपि सह मकरेणात्मभूः केतुनाऽभू-
द्धत्तां नस्त्वत्प्रसादादथ मनसिजतां मानसो नन्दनः सन् ।
भ्रूभ्यां ते तन्वि ! धन्वी भवतु तव सितैर्जैत्रभल्लः स्मितैस्ता-
दस्तु त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाधीनमीनध्वजाङ्कः ॥ १०५ ॥

प्लुष्ट इति । हे तन्वि ! दमयन्ति ! आत्मना स्वयमेव भवतीत्यात्मभूः कामः स्वैः स्वकीयैः चापेन रोपैर्बाणैः, 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । मकरेणैव केतुना च सह प्लुष्टो दग्धोऽभूत् । स आत्मभूरथेदानीं तव प्रसादाद्धेतोः नोऽस्माकं तव च सम्भूयेत्यर्थः । "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इति युष्मदस्मदोरेकशेषे परशेषः । मानसो मनःसम्बन्धी नन्दनः पुत्रः आनन्दयिता च सन् । 'नन्दनो हर्षके सुते' इति विश्वः । मनसि जातो मनसिजस्तस्य भावस्तत्ता तां "सप्तम्यां जनेर्डः, हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्" इत्यलुक् । धत्तां दधातु "तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम्"। प्लुष्टः दग्ध आत्मभूर्भवत्वस्तु मनसोऽप्यात्मत्वादित्यर्थः । "आत्मा देहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धिषु" इति विश्वः । त्वय्यस्मासु च कामस्तुल्यवृत्तिरस्त्विति भावः । किञ्च ते तव भ्रूभ्यां धन्वी चापवान् भवतु । धन्वन्शब्दाद्व्रीह्यादिपाठादिनिः । तव सितैर्निर्मलैः स्मितैर्हसितैः जैत्रा भल्ला यस्य सः जित्वरेषुः स्ताद्भवतु अस्तेर्लोटि तेस्तातङादेशः । तव नेत्रे एव चञ्चत्तरावतिचञ्चलौ शफरौ तयोर्युगं तदधीनस्तल्लभ्यो मीनरूपो ध्वज एवाङ्को लाञ्छनं यस्य सोऽस्तु त्वन्नेत्राभ्यां मीनध्वजवानस्त्वित्यर्थः । अत्र यथासंख्यसङ्कीर्णो रूपकालंकारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १०५ ॥

आत्मभू (स्वयम् या मनसे उत्पन्न होने वाला = कामदेव) धनुष, बाणों तथा मकररूप पताका के साथ दग्ध हो गया अर्थात् जल गया; फिर वह तुम्हारी तथा हम लोगोंकी प्रसन्नतासे अर्थात् हम दोनोंके सहयोगसे मनः सम्बन्धी पुत्र (पक्षा०—मनका आनन्ददाता) होता हुआ मनसिजभाव को धारण करे (मनके भी आत्मा-होनेसे फिर आत्मभू बने) । और हे तन्वि ! (वह मनसिज) तुम्हारे भ्रूद्वयसे धनुषवाला होवे, श्वेत वर्ण मुस्कानोंसे विजयी भालोंवाला होवे और तुम्हारे नेत्ररूपी शोभमान (या चञ्चल) मीनद्वयवाली पताकाके चिह्न से युक्त अर्थात् उक्तरूप मीनद्वयचिह्नित पताका वाला बने । [चाप, बाण तथा पताकाके साथ भस्म हुआ भी कामदेव हमारे तथा तुम्हारे साथसे मनसे उत्पन्न, मनको आनन्दित करनेवाला तथा उक्त प्रकारसे धनुष आदिसे पुनः युक्त होवे] ॥ १०५ ॥

स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि तव श्रीषु मग्नः कटाक्षः
श्रोत्रे गीतामृताब्धौ त्वगपि ननु तनूमञ्जरीसौकुमार्ये ।
नासा श्वासाधिवासेऽधरमधुनि रसज्ञा चरित्रेषु चित्तं
तन्नस्तन्वङ्गि ! कैश्चिन्न करणहरिणैर्वागुरा लम्भितासि ॥१०६॥

स्वप्नेनेति । हे तन्वङ्गि ! तनून्यङ्गानि यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः । "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यः" इति ङीप् । कृशाङ्गि ! प्रतिरजनि रजन्यां रजन्यां, वीप्सायामव्ययीभावः । स्वप्नेन (कर्त्रा) प्रापितायाः स्वप्नदृष्टायाः तव श्रीषु सौन्दर्यलहरीषु नोऽस्माकं कटाक्षो मग्नः गीत एवामृताब्धौ सुधासमुद्रे श्रोत्रे मग्ने, तनूः मूर्तिरेव मञ्जरी कुसुमगुच्छः तस्याः सौकुमार्ये मार्दवे त्वगपि मग्ना । ननु श्वासाधिवासे निश्वासमारुतसौरभे नासा मग्ना अधरमधुन्यधरामृते रसज्ञा रसना मग्ना चरित्रेषु चेष्टासु चित्तं मग्नं तत् तस्मात् कैश्चित् करणैरिन्द्रियैरेव हरिणैस्त्वं वागुरा मृगबन्धिनी रज्जुः न लम्भिता न प्रापितासि सर्वैरपि प्रापितेत्यर्थः । अस्माकं सर्वेन्द्रियसम्मोहनं ते रूपशिल्पमिति भावः । अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्वषड्वाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपकेण सङ्कीर्यते । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १०६ ॥

हे तन्वि ! प्रत्येक रात्रिमें स्वप्नमें देखी गयी तुम्हारी शोभाओंमें कटाक्ष (हम लोगोंकी दृष्टि), गीतरूप अमृत समुद्रमें दोनों कान, निश्चित रूपसे शरीर–मज्जन को सुकुमारतामें त्वक् (चर्मेन्द्रिय), श्वास वायुकी विशिष्ट सुगन्धिमें नाक, अधरामृतमें रसज्ञा (रसको जानने वाली जीभ) और चरित्रोंमें चित्त (मन) डूब गया; इस कारणसे तुमने हम लोगोंके किन इन्द्रियोंको जालमें नहीं फँसा लिया है ? अर्थात् हम लोगोंको सभी इन्द्रिय (नेत्र, कान, त्वक्, नाक, जीभ और मन) रूप हरिणियाँ तुम्हारी शरीर–शोभादि रूप जालमें फँस गयी हैं [अथवा—जिस कारणसे प्रतिरात्रिको स्वप्नमें देखी गयी तुम्हारी शोभामें हम लोगोंकी दृष्टि डूब गयी, अतः दर्शन–शक्तिसे शून्य होनेके कारण हम लोगोंको कान आदि इन्द्रियरूप हरिणियां तुम्हारे गीत–समुद्रादिरूप जालमें फँस गयीं । दृष्टिहीन व्यक्तिका जालमें फँसना अत्यन्त सरल होता है ॥ हम लोगों की प्रत्येक इन्द्रियां तुम्हारे वशीभूत होरही हैं, अत एव तुम हम लोगोंको वरण करनेकी कृपा करो] ॥ १०६ ॥

इति धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्रहारकस्य ।
सफलय मम दूततां वृणीष्व स्वयमवधार्य दिगीशमेकमेषु ॥१०७॥

इतीति । इतीत्थं धृता सुरसार्थस्येन्द्रादिवृन्दस्य वाचिकस्रक् सन्देशवाक्यपरम्परा येन तस्य निजस्य रसनातलस्यैव पत्रस्य लेखस्य यो हारकस्तस्य मम दूततां सफलय सफलां कुरु, एषु मध्ये एकं दिगीशं स्वयमात्मनैवावधार्य निश्चित्य वृणीथाः वृणीष्व । वाचिको व्याख्यातः । अत्र नलदूत्यसाफल्यस्य वरणवाक्यार्थहेतुकत्वात्

पूर्ववदलङ्कारः। स च रसनातलपत्रस्य यो हारकस्तस्येति रूपकेण सङ्कीर्यते। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १०७ ॥

इस प्रकार (श्लो० ५७ से १०६ तक) देवसमूहके वाचिक (मौखिक सन्देश) रूप मालाको अपने जिह्वातलरूपी पत्रपर धारण (अङ्कित) कर यहां उसे पहुंचानेवाले मेरी दूतताको सफल करो, स्वयं निश्चयकर उनमेंसे किसी एकका वरण करो । [मैंने उन इन्द्रादि देवोंके मौखिक सन्देशको जिह्वातलरूपी पत्रपर धारणकर तुम्हारे पास पहुंचा दिया है, अब तुम स्वयं ही विचारकर उनमेंसे किसी एकको स्वीकार करो; क्योंकि मैंने इन्द्रादि चारों देवोंकी दूतता करना स्वीकार किया है, अतः उनमें-से किसी एकको स्वीकार करनेके लिये अपना निर्णय देना या विशेष रूपसे समर्थन करना मेरा अन्याय पूर्ण पक्षपात होगा, इससे तुम स्वयंही निर्णयकर उन चारोंमेंसे किसी एकको स्वीकार करो] ॥ १०७ ॥

आनन्दयेन्द्रमथ मन्मथमग्नमग्निं केलीभिरुद्धर तनूदरि ! नूतनाभिः ।
आसादयोदितदयं शमने मनो वा नो वा यदीत्थमथ तद्वरुणं वृणीथाः॥१०८॥

आनन्दयेति । हे तनूदरि ! कृशोदरि ! नूतनाभिरभिनवाभिः केलीभिः क्रीडाभिः मन्मथमग्नमिन्द्रमानन्दय, अथवा तादृशमेव अग्निं ताभिरुद्धर, अथवा शमने यमे उदितदयं जातानुकम्पं मनः आसादय निवेशय। इत्थं नो वा यदि अथ तत्तर्हि मन्मथमग्नं वरुणं वृणीथाः वृणीष्व ॥ १०८ ॥

हे कृशोदरि ! इन्द्रको आनन्दित करो, अथवा मन्मथमग्न (मनको मथन करनेवाले कामदेवमें डूबे हुए) अग्निका नयी-नयी केलियोंसे उद्धार करो (ऊपर निकालो अर्थात् रक्षा करो), अथवा यममें दयायुक्त मनको लगावो और यदि ऐसा नहीं है अर्थात् इन्द्र, अग्नि और यमको नहीं चाहती हो तो वरुणको वरण करो। [इन इन्द्रादि चारों देवोंमें-से किसी एकका वरणकर हमारी दूतताको सफल करो] ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तस्यागादयमष्टमः कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महा-
काव्ये चारुणि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षमित्यादि। कवीनां कुलेन समूहेन अदृष्टे अध्वनि यत्पान्थं नित्यपथिकं तस्मिन् चारुणि शोभने वैरसेनेर्नलस्य चरिते तस्य श्रीहर्षस्य महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलोऽयमष्टमः सर्गः अगात् सम्पूर्ण इति भावः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥

कविकुल समूहके·····किया, उसके रचित, तथा कवि-समूहसे पहले नहीं देखे गये मार्गमें नित्य गमन करनेवाले अर्थात् कवि-समूहोंके अदृष्टपूर्व रचनाओंसे पूर्ण सुन्दर नैषध चरित महाकाव्यमें यह अष्टम सर्ग समाप्त हुआ। शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गवत् जानें ॥

* नवमः सर्गः *

इतीयमक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटामनिच्छां विवरीतुमुत्सुका ।
तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छयाऽशृणोद्दिगीशसन्देशगिरो न गौरवात् ॥१॥

अथ दमयन्तीवृत्तान्तं वक्तुं विततबहुतरदूतवाक्यश्रवणजनितामिन्द्राद्यनुराग-शङ्कां तावद्वारयति—इतीति । इयं दमयन्ती अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवं द्वन्द्वैक-वद्भावः । "अचतुर" इत्यादिना समासान्तादिनिपातनात् साधुः । तस्य विभ्रमो विकारः स एव इङ्गितं चेष्टा तैरेव स्फुटां व्यक्तामनिच्छामिन्द्रादिविषयामिति शेषः । तथा विवरीतुं वाचा निषेद्धुमुत्सुका उद्युक्ता सती । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः । निषेधस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् तज्ज्ञानार्थमशृणोदित्यर्थः । किञ्च तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया नलवागमृतपिपासया चेत्यर्थः । दिगीशसन्देशगिरः अशृणोत् । मात्रपदव्यावर्त्यमाह–गौरवादिति । न तु दिगीशादीनां गौरवात् । अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम् । लक्षण-न्तूक्तमादिमसर्गे ॥ १ ॥

उस दमयन्तीने नेत्र तथा भ्रूके विकार (या विलास) की चेष्टाओंसे स्पष्ट अनिच्छा (इन्द्रादिमें या उनके सन्देश सुननेमें प्रेमके अभाव) को विशेषरूपसे प्रकट करनेके लिये उत्कण्ठित हो केवल नलकी उक्तिमात्रको सुननेकी इच्छासे ही दिक्पालोंके सन्देशवचनोंको सुना, (उन दिक्पालोंका सन्देश महत्त्वपूर्ण होनेसे सुनना ही चाहिये इत्यादि) गौरवसे नहीं सुना । (अथवा—……इच्छासे ही सुना, दिक्पालोंके सन्देशवचनके गौरवसे नहीं सुना) । [जिस कार्यको करनेकी इच्छा नहीं रहती, उससे सम्बद्ध बातको भी सुनते समय मनुष्यके नेत्र तथा भ्रू आदि अनिच्छासे सङ्कोचादि द्वारा विकृत हो जाते हैं, उसी प्रकार नलोक्त दिक्पाल-सन्देशोंको सुनते समय दमयन्तीने नेत्र एवं भ्रूको विकृतियुक्त कर उनके सन्देश पालनेकी अनिच्छा प्रकटकी, किन्तु अन्तःपुरमें प्रविष्ट इस व्यक्तिकी आकृति नलतुल्य सौम्य है अतः इसके वचन भी अतिशय मधुर होनेसे अवश्य सुनने चाहिये, इस भावनासे उसके कहे हुए दिक्पालोंके सन्देशोंको उसने सुना, दिक्पालोंका सन्देश होनेसे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा या नहीं सुननेसे हमें पाप होगा इत्यादि गौरवका ध्यानकर अथवा—देवोंका सन्देश नहीं सुननेसे वे हमें शापसे दण्डित करेंगे इस भयसे डरकर नहीं सुना ॥ दमयन्तीने दिक्पालोंके सन्देशको सुनते समय ही नेत्र–भ्रू–विकारके द्वारा उनमें अपनी अनिच्छा प्रकटकी] ॥ १ ॥

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय तां दिगीशसन्देशमयीं सरस्वतीम् ।
इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिं जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

तदिति । वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी दमयन्ती तेन नलेनार्पितां प्रयुक्तां दिगीशसन्देश-मयीं तद्रूपां सरस्वतीं वाचमश्रुतवद्विधायाश्रुतामिव कृत्वा । "तेन तुल्यं क्रिया चेद्व-तिः" । उर्वीतलशीतलद्युतिं भूलोकचन्द्रं तं नलमिदं वक्ष्यमाणं जगाद गदितवती ॥२॥

विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) उस नलके द्वारा कही गयी दिक्पालोंके सन्देशोंसे भरी हुई उस वाणीको अनसुनीकर भूतलचन्द्र उस नलसे बोली—। [दिक्पालोंके सन्देशमें आस्था नहीं रहनेसे दमयन्तीका उसे अनसुनी करना ठीक ही है। जब दूरतम आकाशका चन्द्रमा भी भूतलस्थ लोगोंका आह्लादक होता है, तब भूतलस्थ चन्द्रमा नलके अत्यन्त समीप होनेसे भूतलवासियोंके लिये आह्लादित होना आश्चर्य नहीं है] ॥ २ ॥

मयाङ्ग ! पृष्टः कुलनामनी भवानमू विमुच्यैव किमन्यदुक्तवान् ।
न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्रियेऽपि सेयं भवतोऽधमर्णता ॥ ३ ॥

मयेति। हे अङ्ग ! भोः श्रीमन् ! मया भवान् कुलनामनी पृष्टः सन् पृच्छतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः, 'अप्रधाने दुहादीना'मिति वचनात्। किं किमर्थममू कुलनामनी विमुच्य अन्यदुक्तवान् किमप्यसङ्गतमिव प्रलपसीति भावः। तदकथने को दोषस्तत्राह—नेति। अत्र कुलनामप्रश्ने मह्यमुत्तमर्णायै इति शेषः। "धारेरुत्तमर्ण" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। धारयतीति धारयः "अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारी"त्यादिना शप्रत्ययः। उत्तरस्य धारयः तस्य भवतः तव सेयमधमः ऋणेन अधमर्णः। मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषः। तस्य भावस्तत्ता सा ह्रियेऽपि न किम् ? लोके उत्तमर्णेन याच्यमानस्याधमर्णस्य तदप्रदानं लज्जायै भवत्येव, भवतस्तु सापि नास्तीति भावः॥ ३ ॥

हे अङ्ग ! (आत्मीय बन्धो !) मुझसे कुल तथा नाम पूछे गये आप उन (कुल तथा नाम) को छोड़कर (इन्द्रादिके संदेशरूप अप्रासङ्गिकबात) दूसरा कुछ क्यों कहे ? (ऐसा कहना आपको उचित नहीं था)। इस (उत्तर देनेके विषय) में मेरे उत्तररूपी ऋणको धारण किये हुए आपका यह ऋणित्व अर्थात् ऋण धारण करनेका भाव क्या लज्जाके लिए नहीं है अर्थात् लज्जाके लिए है ही। [किसीसे ऋण लेकर मांगनेपर भी उसे नहीं चुकाना साधारण व्यक्तिके लिए भी लज्जाकी बात होती है तो आप-जैसे सत्पुरुषके लिये तो ऐसा करना बहुत ही लज्जाकी बात है। क्योंकि मैंने आपसे आपका कुल तथा नाम पूछा है, अतः आप उनका उत्तर जबतक नहीं देते हैं तबतक एक प्रकारसे उत्तर देनेके लिये मेरे ऋणी हैं और अपना कुल तथा नाम बतलाकर ही ऋणमुक्त हो सकते हैं, किन्तु आपने अपना कुल तथा नाम न कहकर जो दिक्पालोंका सन्देश-बहुल अप्रासङ्गिक बातें कहीं, उससे आपको लज्जा आनी चाहिये, कोई भी भला आदमी किसी भी भले आदमीसे उचित प्रश्नका उत्तर न देकर ऐसी बे-सिर-पैरकी बातें नहीं कहता, अतः आपने यह उचित नहीं किया है] ॥३॥

अदृश्यमाना क्वचिदीक्षिता क्वचिन्ममानुयोगे भवतः सरस्वती ।
क्वचित्प्रकाशां क्वचिदस्फुटार्णसं सरस्वतीं जेतुमनाः सरस्वतीम् ॥४॥

अदृश्यमानेति। ममानुयोगे प्रश्ने विषये। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। क्वचित् कुलनामविषये अदृश्यमाना अप्रकाशितेत्यर्थः। क्वचित् कुत आगतः कस्य

स्वमित्यत्र ईक्षिता दृष्टा प्रकाशितार्थेति यावत् ईदृशी भवतः सरस्वती क्वचित् प्रकाशोदकां क्वचिदस्फुटार्णसमप्रकाशोदकां सरस्वतीं वाचं सरस्वतीं नदीं च। 'सरस्वती नदीभेदे गोवाग्देवतयोर्गिरि। स्त्रीरत्ने चापगायाञ्च' इति विश्वः। जेतुं मनो यस्याः सा जेतुमनाः। "तुं काममनसोरपि" इति मकारलोपः। अत्र नलवाचः सरस्वतीनदीधर्मसम्बन्धात्तज्जिगीषोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४ ॥

मेरे प्रश्न (आपके कुल तथा नामको पूछने) के विषयमें कहीं पर (कुल–नाम नहीं बतलानेसे) नहीं दिखलायी देती हुई तथा कहीं पर ('कहांसे कहांपर आये हैं' इस प्रश्नका 'दिक्पालोंकी सभासे आये हुए मुझे अपना ही अतिथि समझो (८।५५)' ऐसा उत्तर देनेसे) दिखलायी देती हुई आपकी वाणी कहीं पर (बाहर जलप्रवाह होनेसे) दिखलायी देती हुई तथा कहींपर (भीतर जल–प्रवाह होनेसे) नहीं दिखलायी देती हुई सरस्वती नदीको जीतना चाहती है। [जिस प्रकार सरस्वती नदीका जलप्रवाह कहीं पर दिखलायी देता है और कहीं पर नहीं दिखलाई देता, उसी प्रकार आपने कुल तथा नामको तो नहीं बतलाया और कहांसे आये हैं? इस प्रश्नका उत्तर (८।५५) बतलाया; अतएव अप्रासङ्गिक बातको छोड़कर अपना कुल तथा नाम बतलाइये] ॥ ४ ॥

गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः श्लथा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि ॥५॥

गिर इति। श्रवः सुधाः कर्णामृतानि तव गिरः श्रुता एव, किन्तु भवन्नाम्नि विषये श्रुतिस्पृहा श्रवणेच्छा न श्लथा न निवृत्ता। न च सुरसन्देशश्रवणादेव तन्निवृत्तिरित्याह–तथा हि पिपासुता पिपासेत्यर्थः। वारिणा वारिपानेनैव शान्तिमुपैति अधिकादनल्पादपि दुग्धात् क्षीरात् मधुनः क्षौद्राद्वा जातु कदापि न शाम्यति, तद्वदत्रापीति। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५ ॥

कानोंको (सन्तृप्त करनेसे) अमृत आपके वचन (मैंने) सुने, (किन्तु) आपके नामके विषयमें कानोंकी अभिलाषा अर्थात 'आपका नाम क्या है ?' ऐसी इच्छा शिथिल नहीं हुई। इतना अधिक आपके मधुर वचन सुननेपर भी मैं आपका नाम सुनना चाहती हूं; क्योंकि प्यास पानीसे ही शान्त होती है, अधिक दूध या शहदसे कभी नहीं। [जिस कारण अधिक भी दूध या मधुसे प्यास नहीं शान्त होती, किन्तु पानीसे ही शान्त होती है, उसी प्रकार आपके नाम सुननेकी मेरी इच्छा दूसरी बातोंसे नहीं शान्त होती; अतएव कृपाकर अपना नाम बतलाइये। यहांपर प्यासका दृष्टान्त देनेसे यह सूचित होता है कि प्यासे व्यक्तिको जल पिलानेसे ही पुण्य होता है, अधिकसे अधिक दूध या शहद देने या पिलानेसे नहीं, उसी प्रकार अपना नाम बतलानेसे मेरी तद्विषयिणी इच्छाकी निवृत्ति करके आप पुण्य लाभ कीजिये, दूसरी बातें कहनेसे कुछ लाभ नहीं है, प्याऊ लगाकर प्यासे व्यक्तियोंकी प्यासको पानी द्वारा शान्त करनेसे पुण्यलाभ होनेकी बात सर्वविदित है] ॥ ५ ॥

बिभर्ति वंशः कतमस्तमोऽपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम् ।
तमन्यसामान्यधियावमानितं त्वया महान्तं बहु मन्तुमुत्सहे ॥ ६ ॥

बिभर्तीति । तमोऽपहं भवादृशमीदृशं नायकरत्नं राजश्रेष्ठं हारमध्यमणिं च । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः । कतमो वंशः कुलं वेणुश्च । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः । बिभर्ति ? किमर्थमिति चेत् । अन्यसामान्यधिया पूर्वं सर्वसाधारणबुद्ध्या अवमानितं दृष्टं तथाप्यद्य त्वया महान्तं तमुत्कृष्यमाणं वंशं बहुमन्तुं बहुं कर्तुमुत्सहे, सर्वोऽपि हि वंशो मान्यैः पुरुषधौरेयैरेव प्रकाशते न स्वरूपत इति भावः । अत्र मध्यमणिरूपार्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव । अत्र वेणोर्मुक्तायोनित्वे प्रमाणम् । 'करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्यां[1]ब्धिशुक्त्युद्भववेणुजानि । मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' ॥ इति ॥ ६ ॥

कौन वंश (सूर्य या चन्द्रमाके कुलमें कौनसा कुल, पक्षा०—कौन-सा बांस) अन्धकार (अज्ञान या क्रोध —नाशक आप—जैसे (परमश्रेष्ठ) नायक रत्न (नायकोंमें रत्नतुल्य पक्षा०—मालाके मध्यमें स्थित श्रेष्ठ मणि) को धारण करता है अर्थात् आप किस वंश (पक्षा०—रत्नोत्पादकबांस) में उत्पन्न हुए हैं ? अन्य साधारण बुद्धिसे अपमानित तथा आपसे महान् अर्थात् महत्त्वको प्राप्त उस (कुल, पक्षा०—बांस) का मैं बहुमान (अधिक सत्कार) करनेके लिये उत्साह करती हूं । [कोई भी कुल या बांस आरम्भसे स्वयमेव उन्नत नहीं रहता है, पहले वह सर्वसामान्य दृष्टिसे देखे जानेके कारण अपमानित ही रहता है किन्तु उसे उस वंशमें उत्पन्न कोई महापुरुष ही उन्नत करता है । अतएव आप बतलाइये कि आपने किस वंशमें जन्म लेकर उसे उन्नत किया है ?] ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरतां पुनः स तां गिरानुजग्राहतरां नराधिपः ।
विरुत्य विश्रान्तवतीं तपात्यये घनाघनश्चातकमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

इतीति । इतीरयित्वा इत्थं व्याहृत्य विरतां तूष्णीभूतां तां भैमीं स नराधिपः नलः तपात्यये ग्रीष्मान्ते विरुत्य पिपासया आक्रन्द्य विश्रान्तवतीं विरतां चातकानां मण्डलीं समूहं घनाघनो वर्षुकाब्द इव । 'वर्षुकाब्दो घनाघनः' इत्यमरः । पुनर्गिरा वचनेन गर्जितेन चानुजग्राहतरामतिशयेनानुगृहीतवान् । आदरात् प्रत्युवाचेत्यर्थः । "किमेत्तिङ्" इत्यादिना आम्प्रत्ययः ॥ ७ ॥

वह राजा नल, ऐसा (श्लो० ३-६) कहकर चुप हुई उस दमयन्तीपर ग्रीष्मकालके बाद बोलकर विश्रान्त (प्याससे थकी) चातकमण्डलीपर बरसनेवाले मेघके समान अतिशय अनुग्रह किया । [जिस प्रकार ग्रीष्म कालके बाद बोलते-बोलते प्याससे थककर चातक-समूहके चुप होजानेपर मेघ बहुत गरज और बरसकर उसे अनुगृहीत करता है उसी प्रकार नलके वंश तथा नाम सुननेके लिये बहुत समयमे उत्सुक एवं बार-बार पूछकर चुप हुई

1. "-त्स्याहि-" इति पाठः समीचीनो भाति, अहेरपि रत्नोपलब्धेर्दर्शनात् ।

दमयन्ती को नलने पुनः बोलकर अनुगृहीत किया । नल दमयन्तीके बार-बार पूछनेपर पुनः बोले—] ॥ ७ ॥

अये ! ममोदासितमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने ।
गरौ गिरः पल्लवनार्थलाघवे मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता ॥ ८ ॥

अये इति । अये ! दमयन्ति ! न विद्यते अतिप्रयोजनमधिकप्रयोजनं यस्मिन् तस्मिन् द्वयेऽपि कुलनाम्नोर्युगलेऽपि मम जिह्वया उदासितं माध्यस्थ्येन स्थितं, 'नपुंसके भावे क्तः' । तथा हि-पल्लवनं विस्तरणं वृथाशब्दप्रलपनमिति यावत् । तच्चार्थलाघवञ्च वक्तव्यार्थसङ्कोचनञ्च गिरः वाचः गराविव विषप्रायावुभावित्यर्थः । मितमल्पाक्षरं सारं महार्थञ्च वचो वाक्यं वाग्मिता वक्तृत्वम्, अन्यथा वाचालता स्यादिति भावः । "वाचो ग्मिनिः" । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

हे दमयन्ति ! विशेष प्रयोजनसे हीन उन दोनों (कुल तथा नामके कहने) में मेरी जिह्वाने उदासीनता धारणकी अर्थात् विशेष प्रयोजन नहीं होनेके कारणसे ही मैंने अपना कुल तथा नाम नहीं कहा, (क्योंकि बातको) अत्यन्त बढ़ाना और अर्थका सङ्कोच करना (थोड़ेमें कहने योग्य बातको बहुत बढ़ाकर कहना तथा बहुत अर्थवाली बातको थोड़े अर्थमें कहना)—ये दोनों ही वचनके विष (विषतुल्य) हैं, (अत एव विषतुल्य ऐसी बातको माध्यस्थ्य धारणकर छोड़नाही उचित है); क्योंकि (शब्दमें) परिमित तथा (अर्थमें) सारयुक्त वचन (कहना) ही पाण्डित्य है । [पूछने परभी निःसार बातका उत्तर देना अनुचित मानकर ही मैंने मेरे वंश तथा नामके विषयमें तुम्हारे पूछने परभी उत्तर नहीं दिया है] ॥ ८ ॥

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्या समकेति केति च ।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदे विधातुं खलु युष्मदस्मदी ॥ ९ ॥

कुलनामकथनं वृथेत्युक्तं, तत्र नामकथनस्य वैयर्थ्यमाह—वृथेति । का वर्णपद्धतिरक्षरपङ्क्तिः । कयानुपूर्व्यानुक्रमेण मयि समकेति संज्ञात्वेन सङ्केतितेतीयं कथा प्रश्नोक्तिश्च वृथा । किमुतोत्तरमिति भावः । नामरूपापरिज्ञाने कथमावयोर्मिथः संवादस्तत्राह-आवयोस्तव मम चेत्यर्थः । त्यदाद्येकशेषे यत्परं तदिति वचनादस्मदः शेषता । अक्ष्णोः समीपे समक्षं सम्मुखेन । समीपार्थेऽव्ययीभावे शरत्प्रभृतित्वात् समासान्तः । व्यवहारं मिथःसंकथां विधातुं युष्मच्चास्मच्च युष्मदस्मदी पदे त्वमहमित्येतौ शब्दावित्यर्थः । क्षमे समर्थे खलु ॥ ९ ॥

'मुझमें कौन वर्ण समूह (कौन-कौन-से अक्षर) किस आनुपूर्वी (क्रम) से सङ्केतित हैं; यह चर्चा (प्रश्न) भी व्यर्थ है (तो तत्सम्बन्धी उत्तर तो सर्वथा व्यर्थ है ही । क्योंकि) हम दोनोंके प्रत्यक्ष व्यवहार (बातचीत) करनेके लिये युष्मद् और अस्मद् (शब्दके) पद

२. "गरः" इति पाठान्तरम् ।

ही समर्थ हैं। ['तुम यह कहो, मैंने यह कहा' इत्यादि प्रकारसे ही प्रत्यक्षमें बातचित होनेसे नाम तथा वंशका भी परिचय देना व्यर्थ है]॥ ९॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः।
अथावदातं तदहो विडम्बना यथा तथा प्रेष्यतयोपसेदुषः॥ १०॥

अकथने च कारणमाह—यदीति। मम कुलं स्वभावादुज्ज्वलमकलङ्कं न यदि, ततस्तर्हि तस्य कुलस्योद्भावनं प्रकटनं कुत औचिती औचित्यं नोचितमित्यर्थः। धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् औचिती व्याख्यातव्या। अथावदातमुज्ज्वलं तथापि यथा तथा कथञ्चिदपि प्रेष्यतया किङ्करतया उपसेदुषः प्राप्तस्य मम तत् कुलोद्भावनं विडम्बना परिहासः। अहो॥ १०॥

यदि मेरा वंश स्वभावसे ही निर्मल (निर्दोष-श्रेष्ठ) नहीं है तो उसका कहना किस प्रकार उचित है? अथवा (यदि मेरा वंश स्वभावतः) निर्मल है तो दूत बनकर आये हुए मेरा उसको कहना विडम्बना है, अहो! आश्चर्य है। [यदि मेरा वंश नीच है तो नीच अर्थात् सदोष उस वंशका परिचय देना कैसे सम्भव है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपना भी दोष नहीं बतलाता तो भला वंशका दोष कैसे बतला सकता है? और यदि मेरा निर्मल कुल है तो भी मैं इस समय दूसरे का दूत बनकर तुम्हारे पास आया हूं और किसी उच्च कुलमें उत्पन्न कोई व्यक्तिका किसीके दूतका कार्य करना अच्छा नहीं समझा जाता, इस दृष्टिसे भी उच्च कुल होने पर भी इस समय तुमसे बतलाना मेरे कुल का उपहास ही है; यही कारण है कि मैं अपना नाम तथा वंश नहीं बतलाता]॥ १०॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तवापि निर्बन्धरसो न शोभते।
हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति श्रमो गिरां ते घटते हि संप्रति॥११॥

इतीति। इतीत्थं प्रतीत्य कुलनामकथनं वृथेति निश्चित्यैव मयाऽवधीरिते उपेक्षिते सति तवापि निर्बन्धरसो निर्बन्धेच्छा न शोभते। किंतु सम्प्रति हरित्पतीनामिन्द्रादीनां प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशं प्रत्युत्तरं प्रतीत्यर्थः। ते तव गिरां श्रमः प्रयत्नः वाग्व्यापारो घटते युज्यते हि॥ ११॥

इस (श्लो० ८–१०) विश्वाससे ही मुझसे तिरस्कृत (उत्तर नहीं दिये गये प्रश्नके विषय) में तुम्हारा भी अधिक आग्रह नहीं शोभता है (अथवा—इस विश्वाससे ही मैंने कुल–नाम (के उत्तर देने) का तिरस्कार किया है अर्थात् कुल-नाम नहीं बतलाये हैं, तुम्हारा भी (उस विषयमें) अधिक आग्रह नहीं शोभता है; अत एव) इस समय दिक्पालोंके प्रतिवाचिक (सन्देशका प्रत्युत्तर) के प्रति तुम्हारे वचनों का श्रम उचित है अर्थात् इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देश देना युक्त है। [निरर्थक मेरे नाम तथा कुलके उत्तरके लिये आग्रह छोड़कर प्रासङ्गिक दिक्पालोंके सन्देशोंका उत्तर देना युक्त है]॥ ११॥

तथापि निर्बध्नति ! तेऽथवा स्पृहामिहानुरुन्धे मितया न किं गिरा।
हिमांशुवंशस्य करीरमेव मां निशम्य किं नासि फलेग्रहिग्रहा ॥१२॥

तथापीति । तथापि वैयर्थ्येऽपि निर्बध्नति ! निर्बन्धकारिणि ! बध्नातेः शत्रन्तादुगितश्चेति ङीबन्तात् सम्बुद्धिः । इहार्थे ते तव स्पृहां वाञ्छां मितया गिरा नानुरुन्धे नानुवर्ते किम् ? अनुरोत्स्याम्येवेत्यर्थः । कुलस्वरूपमात्रं कथयामीत्यर्थः। रुधेर्लटि तङ् । मां हिमांशुवंशस्य करीरं सोमकुलाङ्कुरमेव निशम्य फलं गृह्णातीति फलेग्रहिः सफलः ग्रहः आग्रहो यस्याः सा सफलाभिनिवेशा नासि किम् ? तावता न तुष्यसि किमित्यर्थः । "फलेग्रहिरात्मम्भरिश्चे"ति निपातनात् साधुः ॥ १२ ॥

अथवा तथापि (कुल तथा नामके नहीं बतलानेका कारण कहनेपर भी) हे आग्रहशीले (आग्रह करनेवाली दमयन्ति) ! परिमित वचनसे (थोड़े शब्दोंमें उत्तर देनेसे) इस विषय में तुम्हारी उत्कट इच्छाको (मैं) क्यों न रोक दूं ? (अथवा—इच्छा का क्यों नहीं अनुरोध करूं अर्थात् अनुकूल बनकर उत्तर दे दूं ?) चन्द्रवंश (चन्द्रकुल, पक्षा०–चन्द्ररूप बांस) का करीर (बालक, पक्षा०--अङ्कुर अर्थात् कोपल) ही मुझको सुनकर तुम सफल आग्रहवाली नहीं हो क्या ? अर्थात् अवश्य ही सफल आग्रहवाली हो । [जिस प्रकार बांसमें बड़े-बड़े बांस उत्पन्न होते हैं, उनमें छोटे-से कोपलका कोई विशिष्ट स्थान नहीं रहता, उसी प्रकार चन्द्रवंशमें बहुतसे बड़े राजा हो चुके हैं, उनमें मैं एक बालक (अप्रसिद्ध सामान्य व्यक्ति) हूं, मेरा कोई विशिष्ट स्थान नहीं है । इस प्रकार कहते हुए नलने अपनेको प्रकाशित नहीं किया है, अपि तु अपनेको साधारण बतलाकर छिपाया है] ॥ १२ ॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः ।
अतो[1]ऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति ॥१३॥

कुलमुक्तं नाम तु न वाच्यमित्याह—महाजनेति । महाजनानां सतामाचारस्य परम्परा सम्प्रदायः ईदृशी । तामेवाह–साधवः सन्तः स्वनाम नाददते न गृह्णन्ति नाम । नामेति प्रसिद्धौ—"नामानुकीर्तनं पुंसामात्मनश्च गुरोः स्त्रियाः । दिनमेकं हरत्यायु"रिति निषेधादिति भावः । अतो निषेधात् तत् पुनस्तन्नाम तु अभिधातुं नोत्सहे न शक्नोमि । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । तथा हि–जनो लोक अचारमुचमाचारत्यजं विगायति किल गर्हते खलु ॥ १३ ॥

महापुरुषोंके आचारकी ऐसी परम्परा है कि सज्जन लोग अपनानाम नहीं लेते, [2] इस कारण मैं उसे (नामको) कहनेके लिये उत्साह (इच्छा) नहीं करता हूं अर्थात् नहीं कहना चाहता हूं; क्योंकि आचार छोड़नेवालेकी लोक निन्दा करता है । [अतएव मैं बड़ोंके आचार-

---

१. "ततो–" इति पाठान्तरम् ।

२. तदुक्तम्—"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥" इति ।

का त्यागकर आत्मनिन्दा कराना नहीं चाहता, इसी कारण अब तुम्हें भी मेरे नाम जाननेके लिए आग्रह नहीं करना चाहिये]॥ १३॥

अदोऽयमालप्य शिखीव शारदो बभूव तूष्णीमहितापकारकः।
अथास्य रागस्य दधा पदे पदे वचांसि हंसीव विदर्भजाददे॥ १४॥

अद इति। अहितानामरीणामपकारकः अपकर्ता अन्यत्राहीनां तापकारकोऽतिहिंसाकरः। अयं नलः शरदि भवः शारदः, "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्"। शिखी केकीव अदः इदं वचनमालप्य व्याहृत्य तूष्णीं बभूव। अथानन्तरमस्य वाक्यस्य सम्बन्धिनि पदे सुप्तिङन्तरूपे पदे विषये रागस्य श्रवणेच्छाया दधातीति दधा धरित्री प्रत्यक्षरं सुधास्वादविच्छिन्नतृष्णेत्यर्थः। "ददातिदधात्योर्विभाषा" इति दधातेरप्रत्यये श्लाविति द्विर्भावः, 'अजाद्यतष्टाप्'। अन्यत्र पदे पदे चरणद्वये अस्य चञ्चूपुटे रागस्य लौहित्यस्य दधा। 'राजहंसास्तु ते चञ्चूचरणैर्लोहितैः सिता' इत्यमरः। विदर्भजा वैदर्भी हंसीव वचांस्याददे उवाचेत्यर्थः। शरदि निःशब्दाः शिखिनः राजहंसाः शब्दायन्ते तद्वदिति भावः॥ १४॥

शत्रुओंका अपकारक (शत्रुओंको मारनेवाले, पक्षा०—भोक्ता होनेके कारण सर्पोंको सन्तप्त करनेवाले), शारद (निपुण, पक्षा०—शरत्कालीन) मोरके समान ये नल यह वचन (श्लो० ८—१३) कहकर चुप हो गये। इस (नलके चुप होने) के बाद इस (नल) के पद-पद (सुबन्त-तिङन्तरूप प्रत्येक पद) में अनुरागको धारण करनेवाली विदर्भेश-कुमारी दमयन्ती (पक्षा०—शरद् ऋतु आनेसे इस मयूरके चुप होनेके बाद मुख-राग (चोंचकी लालिमा) को प्रत्येक चरणोंमें धारण करती हुई हंसी अर्थात् राजहंसी (राजहंसका मुख और पैर लाल होते हैं) के समान वचनको ग्रहण किया अर्थात् बोली। [वर्षा ऋतुमें मयूरकी बोली प्रिय होती है, शरद् ऋतुमें मयूरकी बोलीमें रूक्षता आ जाती है और वह शरद् ऋतुके आनेपर चुप हो जाता है तथा राजहंसी मधुर बोलने लगती है। यहां नलको मयूर तुल्य कहनेसे उनके वचनमें कुछ रूक्षता तथा दमयन्तीको राजहंसी तुल्य कहनेसे उसके वचनमें मधुरता सूचित की गयी है तथा नलके केवल अपना वंशमात्र ही बतलाकर मौन धारण करनेसे उनके वचनमें शरत्कालीन मयूरके समान रूक्षता और अग्रिम वचनोंमें नलकी प्रशंसा करते हुए ही पुनः नाम विषयक प्रश्न करनेसे दमयन्तीके वचनमें शरत्कालीन राजहंसी-वचनके समान मधुरताका होना उचित ही है। तथा शरत्कालमें मयूरस्थानीय नलका उक्त प्रकारसे रूक्ष वचन बोलकर चुप होना और उसके बाद राजहंसी-स्थानीय दमयन्तीका मधुर वचन बोलनेका आरम्भ करना भी उचित ही है]॥ १४॥

सुधांशुवंशाभरणं भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसंशयः।
कियत्सु मौनं वितता कियत्सु वाङ्महत्यहो वञ्चनचातुरी तव॥ १५॥

सुधांशिवति । भवान् सुधांशुवंशाभरणमिति श्रुतेऽपि विशेषविषये संशयस्तत्रापि क इति सन्देहो नापैति अतो विशेषो वक्तव्य इति भावः । अथावाच्यत्वान्नोच्यते तर्हि कियद्वाच्यं तदेव विविच्यतामित्याह—कियत्स्वर्थेषु मौनं कियत्सु विषयेषु वाग्वितता विस्तृता न किञ्चिदत्र नियामकमस्तीति भावः । किंतु तव वञ्चनचातुरी प्रतारणाचातुर्यं महती । अहो ! औचितीवच्चातुरी व्याख्येया ॥ १५ ॥

'आप चन्द्रवंशके आभरण हैं' यह सुननेपर भी (मेरा) विशेष सन्देह(ये नल हैं या दूसरा कोई है, इस प्रकारका नाम-विषयक सन्देह) दूर नहीं होता है (अतः आप अपना नाम वतलाकर मेरा सन्देह सर्वथा दूर कर दीजिये), कुछ विषयों (नाम आदि) में मौन तथा कुछ विषयों (कहांसे आये, कहां आये इत्यादि) में अत्यन्त विस्तृत (हम इन्द्रादि दिक्पालोंके पाससे तुम्हारे ही यहां अतिथि आये हैं, उनके संदेश लाये हैं इत्यादि बहुत विस्तृत) आपकी बोलनेकी चतुराई है, यह आश्चर्य है। [आप मेरे कुछ प्रश्नोंका उत्तर न देकर तथा कुछ प्रश्नोंका वढ़ाचढ़ाकर उत्तर देकर जो मुझे ठगनेकी चतुरता कर रहे हैं, इससे मुझे बड़ा आश्चर्य होता है] ॥ १५ ॥

मयापि देयं प्रतिवाचिकं न ते स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते ।
परेण पुंसा हि ममापि सङ्कथा कुलाबलाचारसहासनासहा ॥ १६ ॥

अथ यदुक्तं नामकथनं निषिद्धमिति तत्र प्रतिबन्दीं गृह्णाति—मयापीति । स्वनाम मम कर्णसुधां कर्णामृतमकुर्वते अश्रावयते इत्यर्थः । ते तुभ्यं मयापि प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशनं न देयं, कुतः, हि यस्मान्ममापि परेण पुंसा सङ्कथा सम्भाषणं कुलाबलानां कुलाङ्गनानामाचारस्य सहासनं सहवासस्तस्य न सहत इत्यसहा अक्षमा । 'पचाद्यच्' । कुलस्त्रीसमाचारविरुद्धेत्यर्थः ॥ १६ ॥

अपने नामको मेरे कानोंमें अमृत नहीं बनाते हुए (अपना नाम मुझसे नहीं वतलाते हुए) आपके लिये मैं भी प्रत्युत्तर (इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशका उत्तर) नहीं देती हूं, क्योंकि परपुरुषके साथ विशेष गोष्ठी अर्थात् सम्भाषण कुलाङ्गनाके आचारके सहवासके विरुद्ध है। [जिस प्रकार नाम ग्रहण आपके लिये सज्जनाचार विरुद्ध (श्लो०—१३) है, उसी प्रकार परपुरुषके साथ सम्भाषण करना भी मेरे लिये कुलीन स्त्रियोंके सदाचारके विरुद्ध है; अतएव जब तक आप अपना नाम नहीं बतलायेंगे, तब तक मैं भी आपके वचनोंका उत्तर नहीं दूंगी] ॥ १६ ॥

हृदाभिनन्द्य प्रतिवन्द्यनुत्तरः प्रियागिरः सस्मितमाह स स्म ताम् ।
वदामि वामाक्षि ! परेषु मा क्षिप स्वमीदृशं माक्षिकमाक्षिपद्वचः ॥१७॥

हृदेति । स नलः प्रियाया गिरो वाक्यानि हृदा हृदयेन अभिनन्द्यानुमोद्य प्रतिवन्द्याः पूर्वश्लोकोक्त्या अनुत्तरः तां प्रियां सस्मितमाह स्म उक्तवान् । 'लट् स्म' इति भूते लट् । हे वामाक्षि ! चारुलोचने ! वदामि । मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकम् ।

'मधुभेदो मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायामित्यण्प्रत्ययः। तदाक्षिपत् निराकुर्वत् तत्सदृशमित्यर्थः। ईदृशं लोकोत्तरं स्वं वचः परेषु परपुरुषेषु मा क्षिप मा निधेहि सत्यं कुलस्त्रीणां परपुरुषसम्भाषणमनुचितमङ्गीकृतं च स्वयं तु न परपुरुष इति भावः ॥ १७ ॥

(पर पुरुषके साथ सम्भाषण करना कुलाङ्गनाओंके आचारसे विरुद्ध होनेके कारण मैं भी आपसे अपना नाम नहीं बतलानेतक उत्तर नहीं दूंगी, इस प्रकारके दमयन्तीके वचनरूप) प्रतिवन्दीसे अनुत्तर (उत्तर देनेमें असमर्थ) वे नल प्रिया (दमयन्ती) के वचनोंको (अथवा—प्रिय वचनोंको अर्थात् मेरा नाम जाननेके लिए यह इतना आग्रह कर रही है तथा परपुरुषसे भाषण नहीं करना चाहती ऐसी प्रिय वार्तोंको) सुनकर मुस्कानके साथ उस दमयन्तीसे बोले—हे वामाक्षि ! (सुन्दर नेत्रवाली, या कटाक्ष करनेसे टेढ़े नेत्रवाली, दमयन्ति !) मैं कहता हूं अर्थात् अपना नाम बतलाता हूं। मधुको तिरस्कृत करता हुआ ऐसा (अनिर्वचनीय) अपना वचन दूसरों (परपुरुषों) में मत कहो। [अथवा—सस्मित अर्थात् हंसते-हंसते मधुको तिरस्कृत ………। अथवा—उक्तरूप वचन परपुरुषसे मत कहो, किन्तु इन्द्रादि दिक्पालोंसे ही कहो। अथवा—ऐसे आत्मीय मुझको परपुरुषोंमें मत फेंको अर्थात् मुझे परपुरुष मत समझो, किन्तु इन्द्रादिके दूत होनेसे आत्मीय ही समझो, अतएव इन्द्रादिके सन्देशका उत्तर मुझे देने में कुलाङ्गनाचारका भङ्ग मत समझो। अथवा—मधुका तिरस्कार करनेवाला अर्थात् अतिशय मधुर वचन दूसरोंसे मत कहो, किन्तु मुझसे ही कहो। अथवा—मुझे परपुरुषमें मत फेंको अर्थात् परपुरुष मत समझो किन्तु नल ही समझो] ॥ १७ ॥

करोषि नेमं फलिनं मम श्रमं दिशोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम् ।
त्वमित्थमर्हासि सुरानुपासितुं रसामृतस्नानपवित्रया गिरा ॥ १८ ॥

करोषीति। हे भैमि ! भीमजे ! मम इमं श्रमं सुरकार्यप्रयासं फलिनं फलवन्तं 'फलवान् फलिनः फली' इत्यमरः। "फलबर्हाभ्यामिनच्वक्तव्यः।" न करोषि कथं, कञ्चनैकमपि दिशः प्रभुं दिगीशं नानुगृह्णासि, त्वमित्थं रसो माधुर्यमेवामृतं तत्र स्नानेनावगाहेन पवित्रया पूतया गिरा सुरानुपासितुमर्हसि स्नाताधिकारत्वाद्देवपूजाया इति भावः ॥ १८ ॥

मेरे इस परिश्रम (इन्द्रादि का दूत बनकर यहां तक आनेका प्रयास) को सफल नहीं करोगी ? (अपितु सफल करना चाहिये), किसी एक दिक्पालको (स्वयंवर में वरण करनेका आश्वासन देकर) अनुगृहीत नहीं करती हो ? अर्थात् करना चाहिये। तुम इस प्रकारसे (प्रतिवन्दी बनाकर) माधुर्यरसरूपी अमृतसे स्नान करनेके कारण पवित्र वचनसे देवोंकी (इन्द्रादि चारों दिक्पालोंकी या इनमेंसे किसी एक दिक्पालकी) उपासना करनेके योग्य हो अर्थात् मुझको जैसे प्रतिवन्दी (श्लो० १५) बना दिया है, वैसे देवताओं-

को वरणकर उन्हें प्रतिवन्दी बनाकर उनकी सेवा करो। [चारो दिक्पालोंमेंसे किसी एकको वरण करनेका प्रतिसन्देश देकर उनका सम्मान करो] ॥ १८ ॥

सुरेषु सन्देशयसीदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां न भारतीम् ।
मदर्पिता दर्पकतापितेषु या प्रयातु दावार्दितदाववृष्टिताम् ॥ १६ ॥

सुरेष्विति । ईदृशीं लोकोत्तरां बहु प्रभूतां रसस्रवेण रसप्रवाहेन स्तिमितां भरितां भारतीं सुरेषु न सन्देशयसि सन्देशं न करोषि । सन्देशशब्दात् तत्करोतीति ण्यन्ताल्लटि सिप् । या भारती दर्पकेण कन्दर्पेण तापितेषु तेषु मयार्पिता सती दावार्दिता दावाग्निदग्धाऽरण्ये या वृष्टिः तत्तां प्रयातु सन्तापसंहरणात् तत्सदृशी भवेदिति निदर्शनालङ्कारः । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः ॥ १९ ॥

माधुर्य रसके क्षरण से परिपूर्ण अथवा वक्रोक्त्यादिसे सरस ऐसी बहुत-सी वाणीको देवोंमें नहीं सन्देश देती हो (तुम ऐसी वाणी का सन्देश देवोंके लिए दो), मेरे द्वारा अर्पण की गयी अर्थात् सुनायी गयी (अथवा—तुम्हारे द्वारा मुझमें अर्पणकी गयी अर्थात् इन्द्रादिके लिये प्रतिसन्देशरूपमें मुझसे कही गयी) जो वाणी कामदेवसे सन्तप्त उन (देवों) में दावाग्निसे पीडित वनमें वृष्टिके समान होती है। [जिस प्रकार दावाग्निसे जलते हुये वन के सन्ताप को वृष्टि शान्त करती है, उसी प्रकार मुझसे प्रतिसन्देशरूपमें कही गयी माधुर्यरसपूर्ण तुम्हारी वाणी कामानल सन्तप्त देवोंके सन्तापको दूर करेगी; अतएव तुम्हें देवोंके लिए सन्देश देना उचित है] ॥ १९ ॥

यथा यथेह त्वदपेक्षयानया[1] निमेषमप्येष जनो विलम्बते ।
रुषा शरव्यीकरणे दिवौकसां तथा तथाद्य त्वरते रतेः पतिः ॥ २० ॥

यथा यथेति । हे भैमि ! एष अयं जनः स्वयमित्यर्थः । यथा यथा यावत् यावदित्यर्थः । इह त्वत्समीपे त्वदपेक्षया त्वदनुरोधेन निमेषमपि विलम्बते, रतेः पतिः कामो रुषा दिवौकसां देवानां शरव्यीकरणे लक्ष्यीकरणे तथा तथाद्य त्वरते, अतः क्षिप्रमेव प्रतिवाचं देहीत्यर्थः ॥ २० ॥

यह जन अर्थात् मैं तुम्हारी उत्तर देनेके अनुरोध से (पाठा०—अपेक्षासे अर्थात् तुम्हरे उपेक्षासे, प्रतिसन्देश नहीं देनेसे) जैसे-जैसे निमेषमात्र भी बिलम्ब करता है, वैसे-वैसे रतिपति (कामदेव) देवोंको बाणो का निशाना बनाने में आज शीघ्रता करता है। [अतएव तुम बहुत शीघ्र अर्थात् निमेष मात्र भी विलम्ब नकर उत्तर दो] ॥ २० ॥

इयच्चिरस्यावदधन्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्ययशांनिर्निमेषौ ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न ॥२१॥

इयदिति । मत्पथे मदागमनमार्गे इयच्चिरस्य इयच्चिरमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे

---

1. "त्वदुपेक्षया—" इति पाठान्तरम् ।

द्वितीयार्थेऽव्ययम् । चिराय चिरात्राय 'चिरस्याद्याश्चिरार्थका' इत्यव्ययेष्वमरः। अवदधन्ति अवहितानि सन्ति। "वा नपुंसकस्य" इति शतुर्नुमागमः। इन्द्रनेत्राणि (कर्म) अशनिर्वज्रो न निर्ममौ किम्? नूनं, वज्रमयानीत्यर्थः। अन्यथा कथमीदृग्विलम्बनसहत्वमिति भावः। सत्वरकार्ये क्षिप्रकर्तव्ये मन्थरं मन्दं मां धिगस्तु ममेयं निन्दा प्राप्तेत्यर्थः। कुतो यत्र मयि परेषां प्रेष्यः कर्मकरः तस्य यो गुणः क्षिप्रकारित्वलक्षणः सोऽपि न स्थितः। त्वदीयप्रत्युत्तरविलम्बनान्ममेयमदक्षता प्राप्तेत्यहो कष्टं परप्रेष्यभाव इति भावः ॥ २१ ॥

इतने विलम्ब तक मेरे मार्गमें सावधान अर्थात् मेरे मार्गको देखती हुई इन्द्रकी आंखों को वज्रने नहीं बनाया क्या? (वज्र ने ही इन्द्रकी आंखोंको इतना दृढ़ बना दिया है कि वे इतना विलम्ब करने पर भी मेरे मार्गको देखते रहनेमें समर्थ हो सकी हैं। अन्यथा वे इतना विलम्ब सहन करनेमें कभी भी समर्थ नहीं होतीं)। शीघ्र किये जानेवाले का 'में शिथिल मुझको धिक्कार है, जिसमें दूसरेके दूत (अथवा—श्रेष्ठ दूत) का गुण भी नहीं है। [भेजे गये दूतको शीघ्र वापस जाकर भेजनेवालेसे उसके कार्यकी सिद्धि या असिद्धि होनेका समाचार कहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे उत्तर देनेमें विलम्ब करनेके कारण ही मुझमें यह दोष आ रहा है, अतएव तुम शीघ्र दिक्पालोंके सन्देशका उत्तर देकर मुझे वापस करो] ॥ २१ ॥

इदं निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधायि स्वगतं विदग्धया।
अधिस्त्रि तं दूतयतां भुवः स्मरं मनोदधत्या नयनैपुणव्यये ॥ २२ ॥

इदमिति। क्षितिभर्तरि भूपे इदं निगद्य स्थिते तूष्णीं भूते सति, स्त्रीष्वधिस्त्रि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वः। भुवः स्मरं भूलोकमन्मथं तं पुरुषं दूतयतां दूतकृत्ये निषिद्धमत्यतिसुन्दरमेनं दूतं कुर्वतामित्यर्थः। यथा भरतः—'नोज्ज्वलं रूपवन्तं च नार्थवन्तं न चातुरम्। दूतं वापि हि दूतीं वा बुधः कुर्यात्कदाचन ॥' इति। नयनैपुणव्यये नीतिचातुर्यशून्यत्वे मनो दधत्या निदधत्या एते नीतिशून्या इति जानन्त्यैवेत्यर्थः। अत एव विदग्धया कुशलया दमयन्त्या स्वगतमप्रकाशं यथा तथा आत्मन्येवाभ्यधायि अभिहितं, 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्' इति दशरूपके लक्षणात्। अहो बुद्धिमान्द्यमेषां यदेनं कामं दूत्ये नियुक्तवन्त इति भावः ॥ २२ ॥

इस प्रकार (श्लो० १७–२१) कहकर राजा (नल) के (मौन धारणकर) स्थित होनेपर पृथ्वीके कामदेव उसको स्त्री (मुझ दमयन्ती) में दूत करते हुए अर्थात् दूत बनाकर भेजने हुए (इन्द्रादि) की नीतिकी निपुणताकी समाप्तिमें मन (अपने मन) को धारण करती हुई अर्थात् भूलोकमें कामदेवरूप उस पुरुषको मुझ स्त्रीके विषयमें दूत बनाकर भेजनेसे इन्द्रादि नीति ज्ञानसे शून्य हैं ऐसा अपने मन में समझती हुई, (अत एव) चतुर

उस दमयन्तीने स्वगत (आप ही आप—दूसरेके द्वारा नहीं सुनने योग्य) कहा। [अथवा······भेजते हुए इन्द्रादिके मनको नीति निपुणतासे हीन धारण करती हुई (समझती) हुई·········। इतने सुन्दर तथा चतुर व्यक्तिको मेरे पास दूत भेजनेवाले इन्द्रादि दिक्पाल नीति में चतुर नहीं है, ऐसा समझकर दमयन्तीने अपने-आप कहा]॥२२॥

जलाधिपस्त्वामदिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय स स्फुटम् ।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा ॥२३॥

स्वगतवाक्यमेवाह—जलेति । जलाधिपो वरुणः लडयोरभेदात् जडाग्रणीश्च मयि विषये मां प्रतीत्यर्थः । त्वामदिशदतिसृष्टवान् ध्रुवम् ? । स प्रसिद्धः परेतराजो यमः प्रेतमुख्यश्च त्वां प्रजिघाय प्रहितवान् स्फुटमसन्दिग्धम् । मरुतो देवाः तद्वता मरुत्वता इन्द्रेण वातुलेन च । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । प्रहितोऽसि निश्चितमूर्ध्वमुखेन तेजसा अग्निना स्थूलदृशा च नियोजितः प्रेषितोऽसि । ते च प्रेषितवन्तः त्वञ्च प्रेषितः सत्यमेवैतत् निष्फलोऽयमारम्भ इति स्वगतमुवाचेत्यर्थः ॥ २३ ॥

मेरे विषयमें (अत्यन्त सुन्दरी एवं युवती मेरे पास) तुमको (लोकोत्तर सुन्दरतम युवकको) निश्चय ही जलाधीश (वरुण, पक्षा०—'डलयोरभेदः, इस वचनके अनुसार जड़ों अर्थात् मूर्खोंके राजा) ने भेजा है। स्पष्ट ही उस (प्रसिद्ध) परेतराज (यम, पक्षा०—मरे हुए लोगों अर्थात् अचेतनोंके राजा=अतिशय अचेतन) ने भेजा है। (तुम) निश्चय ही मरुत्वान् (इन्द्र, पक्षा०—वायु-समूह) से ही भेजे गये हो। ऊपर मुखवाले तेज (अग्नि, पक्षा०—ऊपर मुखवाले पिशाच) से ही (दूत कार्यमें) नियुक्त हुए हो। [ऊपर मुखवाले व्यक्तिका नीचेकी वस्तुका देखना असम्भव होनेसे ऊर्ध्व मुख अग्निने तुम्हारी सुन्दरताको नहीं देखा, यह ठीक ही है)। वरुण, यम, इन्द्र तथा अग्नि वस्तुतः ये क्रमशः जडोंका राजा, मृतकों (अचेतनों) का राजा, वायुसमूह (आंधी) और ऊर्ध्वमुख पिशाच ही हैं; जिन्होंने भूलोकके कामदेवरूप तुमको मेरे पास दूतरूप में भेजते हुए यह नहीं विचारा कि इस युवक सुन्दर पुरुषको देखकर युवती एवं सुन्दरी दमयन्ती आसक्त हो जायेगी और यदि हम लोगोंको वरण करना चाहती भी होगी तो इसे देख हम लोगोंको वरण करनेका विचार छोड़कर इसे ही वरण कर लेगी, अतः इसे वहां भेजना उचित नहीं है]॥ २३ ॥

अथ प्रकाशं निभृतस्मिता सती सतीकुलस्याभरणं किमप्यसौ ।
पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखं विदर्भाधिपसम्भवादधे ॥ २४ ॥

अथेति । अथ स्वगतोक्त्यनन्तरं सतीकुलस्य पतिव्रतावर्गस्य किमप्यनिर्वाच्यमाभरणमलङ्कारभूता असौ विदर्भाधिपसम्भवा वैदर्भी निभृतस्मिता गम्भीरस्मिता सती प्रकाशं यथा तथा पुनस्तेन सहाभाषणमेव विभ्रमो विनोदः तत्रोन्मुखमुत्सुकं मुखमास्यमादधे आबभाषे इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इसके (पूर्व श्लोकोक्त स्वगत भाषण) के बाद परोक्ष रूपसे स्मित की हुई, पतिव्रता और पतिव्रता-समूहका कोई (अनिर्वचनीय) भूषण-स्वरूप यह विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) ने फिर उस (नल) के साथ सम्भाषणके विलासमें उत्कण्ठित मुखको प्रकटरूपसे धारण किया अर्थात् वहां उपस्थित सखी आदि सब लोग द्वारा सुन सकें ऐसे बोली। [अथवा अतिनिर्मल या प्रसन्न मुखको धारण किया, 'सती' तथा 'सती कुलका आभरण' कहनेसे दमयन्तीने पहले जिस पुरुष (नल) को मनसे वरण कर लिया है, अब दिक्पालोंका सन्देश सुनकर भी अपने निश्चयपर ही दृढ़ रहेगी यह सूचित होता है। पुनः बोलने में नलके साथ सम्भाषण करनेकी उत्कण्ठा ही कारण है, इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशका गौरव नहीं]॥ २४॥

वृथापरीहास इति प्रगल्भता ननेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरादतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते॥ २५॥

वृथेति। भवति पूज्ये त्वादृशि विषये वृथा परीहास इति वाक्। "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुल" मिति परेर्दीर्घः। प्रगल्भता प्रागल्भ्यं दोषावहेत्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदोपचारः। ननेति च वागत्यन्तनिषेधोक्तिश्च, आभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। विगर्हणा गर्ह्योक्तिः स्यादित्यर्थः। अनुत्तरात् उत्तराप्रदानात् अवज्ञा अनादरदोषो भवति। अतो हेतोस्ते तुभ्यं प्रतिवाचं प्रत्युत्तरं प्रदित्सुः प्रदातुमिच्छुरस्मि। परमार्थतस्तु प्रत्युत्तरानर्हमेव दाक्षिण्यात्ते वदामीति तात्पर्यम्॥ २५॥

आप—जैसे (श्रेष्ठ व्यक्ति) में 'यह धृष्टता है' ऐसा कहना परिहास है (अथवा—'यह परिहास है' ऐसा कहना धृष्टता है), 'नहीं नहीं' ऐसा वचन निन्दा है, आपके विषयमें उत्तर नहीं देनेसे (आपका) अपमान होता है इस कारण मैं आपका उत्तर देना चाहती हूं। [यदि मैं आपसे 'आप मेरे साथ धृष्टताकर यह बात कह रहे हैं' ऐसा कहूं तो मेरी सखियां मेरा परिहास करेंगी कि 'ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तिके साथ इस प्रकारका अनुचित वचन दमयन्ती कह रही है, इसे ऐसे अपरिचित पुरुषके साथ ऐसा वर्ताव करना नहीं चाहिये, (अथवा—यदि मैं आप-जैसे श्रेष्ठ व्यक्तिसे 'आप मेरे साथ परिहास कर रहे हैं' ऐसा कहूं तो मेरी सखियां एक अपरिचित व्यक्तिके साथ ऐसा कहने पर मुझे धृष्ट समझेंगी। वार-वार यदि मैं आपको निषेध करती हूं तो उक्त प्रकार से वे सखियां मेरी निन्दा करेंगी, और आपके बातोंका बिल्कुल ही उत्तर नहीं देती हूं तो आपका अपमान होता है, बस, इसी कारणसे मैं आपकी बातोंका उत्तर देना चाहती हूं, इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशका महत्त्वपूर्ण समझकर नहीं उत्तर देना चाहती। इन्द्रादि दिक्पालोंकी अपेक्षा मैं आपको ही गौरवकी दृष्टिसे देखती हूँ]॥ २५॥

कथं नु तेषां कृपयापि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा॥ २६॥

कथमिति । तेषामिन्द्रादीनां कृपयापि (कर्त्र्या) मनुष्यस्य भावो मानुष्यकम् । "योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्" । तदेव लान्छनं कलङ्को यस्य तस्मिन्निर्दोषजनविषयेऽस्मिन्नित्यर्थः । असौ वागस्मान् वृणीष्वेति वचनं कथमसावि सूता अनुचितमित्यर्थः । सूतेः कर्मणि लुङ् । वा अथवा ईश्वराः स्वामिनः स्वभावभक्तिप्रवणं जनं प्रति कया वाचा मुदं नोद्गिरन्ति भक्तवात्सल्यात् नीचमपि भक्तजनमत्युच्चयापि वाचा बहु कुर्वन्ति कृपालवः स्वामिन इत्यर्थः । तथा च तद्वचनमुपचारत्वेन गृह्यते । न तु कर्तव्यतयेति भावः ॥ २६ ॥

मनुष्यत्वसे लाञ्छित (चिह्नित, पक्षा०—लान्छन 'दोष') युक्त जनमें अर्थात् मुझमें उन (इन्द्रादि दिक्पालोंकी यह वाणी 'तुम मुझे वरण करो' यह कहना) कृपासे भी क्यों नहीं है । अथवा स्वभावतः भक्तितत्पर (भक्तजन) के प्रति प्रभुलोग किस वचन से हर्षको प्रकट नहीं करते, स्वाभाविक भक्तिमें तत्पर सदोष व्यक्तिको भी जिस किसी वाणीसे अपनाकर सर्व समर्थ (ऐश्वर्य–सम्पन्न) लोग अपना हर्ष प्रकट करते ही हैं, अत एव मानुषी होनेसे लान्छनयुक्त (सदोष) मुझसे लान्छनरहित (निर्दोष) देवता वरण करनेकी जो याचना करते हैं वह एक मात्र मेरी स्वाभाविक भक्तिसे प्रसन्न उनका मेरे ऊपर हर्षित होकर कृपा करना ही हैं । वे देवता केवल मेरे नमस्कार करनेके योग्य हैं, वरण करनेके योग्य नहीं] ॥ २६ ॥

अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः ।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना ॥ २७ ॥

अहो इति । सुराङ्गनासङ्गमेन शोभत इति तच्छोभि तस्य भावस्तत्ता तां बिभर्तीति तद्भृतो महेन्द्रस्य हंसावल्या मांसला मांसवती सान्द्रतरेति यावत् । सिध्मादित्वाल्लच् । सा श्रीर्यस्य तस्य ह्रदस्य सरसो बलाकयेव मया निमित्तेन प्रबला महती विडम्बना परिहासः कथमौचिती न कथञ्चिदित्यर्थः । अहो, सति सुरस्त्रीजने मानुषीमनुसरतो महेन्द्रस्यामृतमप्यवधीर्योदकपानप्रवृत्तिरपि सम्भाव्यत एवेति भावः ॥ २७ ॥

देवाङ्गना (इन्द्राणी, या उर्वशी आदि अप्सराओं) के सङ्गमको शोभाभावको धारण करनेवाले महेन्द्रकी बलाका (बकपङ्क्ति या बकस्त्री) से हंसावलि (हंस–समूह) से पूर्ण शोभावाले तालाबके समान मुझसे बड़ी भारी विडम्बना ही है, अहो यह आश्चर्य है । [हंस-पङ्क्तिसे शोभित रहनेवाले तडागको एक बलाकासे शोभित करनेकी बातके समान देवाङ्गनाओंके साथ सम्भोग करनेवाले इन्द्रका तुच्छतम मुझ मानुषीको चाहना परिहास-मात्र है, अथ च हंसकी अपेक्षा बलाकाके समान देवाङ्गनाओंकी अपेक्षा अतितुच्छ होनेसे इन्द्रके द्वारा मेरी चाहना करना मेरा केवल परिहास है, अतः ऐसा कदापि नहीं हो सकता] ॥ २७ ॥

पुरःसुरीणां भण केव[1] मानवी न यत्र तास्तत्र तु सापि शोभिका।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाङ्के किमारकूटाभरणेन न श्रियः ॥ २८ ॥

पुर इति। सुरीणां सुरस्त्रीणां, "जातेरस्त्रीविषयादि"त्यादिना ङीप्। पुरोऽग्रे मानवी मानुषी केव न कापि। तुच्छेत्यर्थः। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे भण वद। किंतु यत्र लोके ताः सुरस्त्रियो न सन्ति तत्र सा मानव्यपि शोभत इति शोभिका शोभमाना, "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्ये"तीकारः। अकाञ्चने काञ्चनाभरणरहिते, अकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः। नास्ति किञ्चनास्येत्यकिञ्चनो निःस्वः। उच्चावचाकिञ्चनाऽकुतोभयानीति मयूरव्यंसकादिषु निपातनात्तत्पुरुषः। तस्य नायिका भार्या तस्या अङ्के देहे आरकूटस्य रीतिविकार आरकूटम्। 'रीतिः स्त्रियामारकूटम्' इत्यमरः। तेनाभरणेन श्रियः शोभा न। किन्तु, सुरस्त्रीविहारिणो महेन्द्रस्य मानुषीकामुकत्वं काञ्चनाभरणत्यागेनारकूटाभरणस्पृहेव महत्परिहासास्पदमित्यहो कष्टमिति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २८ ॥

देवियोंके आगे मानुषी क्या है (पाठा०—किससे, किस गुणसे श्रेष्ठ है? अर्थात् किसी भी गुणसे श्रेष्ठ नहीं है) अर्थात् कुछ नहीं है—बहुत तुच्छ है। जहांपर वे देवियां) नहीं हैं, वहांपर वह (मानुषी) शोभती है, सुवर्णसे वर्जित निर्धन व्यक्तिकी स्त्रीके शरीरमें पीतलके एक भूषणसे भी शोभा नहीं होती है क्या? अर्थात् अवश्य होती है। ["निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" नीतिके अनुसार जहां देवियां नहीं हैं, वहीं अर्थात् देवियोंसे हीन भूलोकमें ही मैं सुन्दरी हूं किन्तु देवियोंके सामने अर्थात् देवियोंसे परिपूर्ण स्वर्गमें मेरा सौन्दर्य किसी गणनामें नहीं है, अत एव देवाङ्गनाओंको छोड़कर मुझे चाहना इन्द्रके लिये स्वर्णका त्यागकर पीतलके एक भूषणकी इच्छा करनेके समान असम्भव या उपहासास्पद है] ॥ २८ ॥

यथा तथा नाम गिरः किरन्तु ते श्रुती पुनर्मे बधिरे तदक्षरे।
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाधिपे ॥ २९ ॥

यथा तथेति। यथा तथा येन तेन प्रकारेण ते गिरः किरन्तु वर्षन्तु नाम। किन्तु, मे मम श्रुती श्रोत्रे पुनस्तदक्षरे तासां गिरां वर्णमात्रेऽपि विषये बधिरे। अश्रुतप्रायं तदित्यर्थः। तथा हि—पृषत्किशोरी कुरङ्गयुवतिः। 'पृषच्च पृषतो विन्दौ कुरङ्गेऽपि च कीर्तितः' इत्यजपालः। द्विपाधिपेऽपि श्रेष्ठगजेऽपि असङ्गतामयुक्तां मनोवृत्तिमभिलाषं कथं कुरुतां कुर्यात्, तत्प्रायमिदं नो मनीषितमिति भावः। अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २९ ॥

वे (इन्द्रादि दिक्पाल) जैसे-तैसे (जिस किसी तरह से या इच्छासे) बातें कहें (किन्तु मेरे) कान उनके अक्षर (एक भी अक्षरके सुननेमें, फिर अधिक बातोंको कौन

---

१. "केन" इति "कैव" इति च पाठान्तरम्।

कहे ?) बहरे हैं। (पक्षा०—वेद भी जैसे-तैसे अर्थात् अप्रामाणिक तथा अनर्गल बातें ग्रहण नहीं करते)। बालमृगी गजराजमें अनुचित मनोवृत्तिको भी कैसे करे ?। [जब निकृष्ट पशुजातीय एवं बाल अर्थात् अबोध मृगी भी श्रेष्ठतम गजराजकी अनुचित इच्छा नहीं करती तो भला मैं मनुष्य होकर श्रेष्ठतम इन्द्रादिकी इच्छा कैसे कर सकती हूं, अत एव मैं उनकी उटपटांग (बे-सिर-पैरकी) बातोंका एक अक्षर भी नहीं सुनती, पूरी बातें सुनना तो असम्भव ही है] ॥ २९ ॥

अदो निगद्यैव नतास्यया तया श्रुतौ लगित्वाभिहितालिरालपत् ।
प्रविश्य यन्मे हृदयं ह्रियाह तद्विनिर्यदाकर्णय मन्मुखाध्वना ॥ ३० ॥

अद इति । अदः इदं वचो निगद्योक्त्वैव नतास्यया अवनतमुख्या तया दमयन्त्या श्रुतौ श्रोत्रे लगित्वा आसन्ना भूत्वाभिहिता कथिता आलिः सखी आलपत् आलपितवती । किमित्यत आह—इयं दमयन्ती ह्रिया लज्जया मे मम हृदयं प्रविश्य यद्वच आह ब्रूते । मम मुखेनैवाध्वना विनिर्यद्विनिर्गच्छत् तद्वचः आकर्णय श्रृणु ॥ ३० ॥

यह (श्लो० २५-२९) कहकर झुकी हुई उस (दमयन्ती) के द्वारा कानके पास जाकर कही गयी सखी बोली—(हे दूत !) लज्जासे मेरे हृदयमें घुसकर (इस दमयन्तीने) जो कहा, मेरे मुखरूपी मार्गसे निकलते हुए उसे तुम सुनो । [इतना कहनेके बाद दमयन्तीने झुककर लज्जासे स्वयं न कहकर सखीके कानमें कहा कि 'अब तुम्हीं कहो'। फिर वह सखी दूतसे बोली । चित्र आदिमें नलका रूप जैसा दमयन्तीने देखा था तथा नलने भी अपने वंश एवं नामका परिचय देते हुए कहा था, उससे ये नल ही हैं ऐसा दमयन्तीको प्रायः विश्वास हो गया था, अतएव लज्जाभूषण एक कुलाङ्गनाके लिये पति या परपुरुष के सामने स्वयं ही अपना प्रेम प्रकट करनेमें लज्जा होना अनुचित है, अतः दमयन्तीने झुककर सखीके कानमें अपने नल-विषयक प्रेमकी बात कहने के लिये कहा तो उसकी सखी दमयन्तीकी ओरसे बोलने लगी। लोकमें भी लज्जाशील कोई व्यक्ति अपनी बात स्वयं नहीं कहकर अपना मनोभाव जाननेवाले प्रिय मित्रादिके द्वारा कहलाता है।

बिभेति चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात् किल ॥ ३१ ॥

बिभेतीति । चिराय चिरात्प्रभृति चित्तेऽर्पितः स्थापितो नैषधेश्वरो नलो यया सा स्त्री ईदृशीं परविषयां चिन्तामपि कर्तुं बिभेति । कुत इत्यत आह—मृणालस्य तन्तुरिव च्छिदुरा च्छेदशीला, "विदिभिदिच्छिदेः" इत्यादिना कर्मकर्तरि कुरच् । सत्याः पतिव्रताया या स्थितिः मर्यादा सा लवादल्पादपि चापलाल्लौल्याद्धेतोः त्रुट्यति किल त्रुटति खलु । "वा भ्राशे" त्यादिना श्यन्प्रत्ययः ॥ ३१ ॥

(सखी दमयन्तीकी ओरसे कह रही है, अतएव सखीका कथन दमयन्तीका ही कथन समझना चाहिये) चिर कालसे चित्तमें निषधराज (नल) को स्थापित की हुई मैं ऐसा (इन्द्रादि दिक्पालोंका वरण करूं या नहीं) विचार भी करने में डरती हूं (फिर वरण करना तो दूर की बात है, क्योंकि) मृणाल तन्तुके समान शीघ्र टूटनेवाली पतिव्रता मर्यादा लेशमात्र भी चञ्चलता करनेसे अवश्य ही टूट जाती है। [बहुत दिनोंसे मैंने नलको अपने चित्तमें स्थापित किया है, अतः इन्द्रादिके वरण करने या न करनेका विचार करनेमें भी मुझे भय लगता है कि जिस मनमें नल बहुत दिनोंसे रहते हैं, वे उसके गतिविधिको अच्छी तरह समझते हैं और यदि उस मनने दूसरेको वरण करने या नहीं करनेका विचार भी किया तो निषधेश्वर एक विशाल देशका राजा होनेसे उसको (मुझे) बहुत कठोर दण्ड देंगे, मनके द्वारा ही किसी बातका विचार करना सम्भव होनेसे वहां बहुतकालसे स्थित एक राजाके लिये उसकी स्थिति जानना अत्यन्त सरल बात है और यह भी कारण है कि सती स्त्रीके मनमें भी परपुरुषको वरण करने या न करनेका विचार आनेसे उसके सतीत्वकी मर्यादा टूट जाती है, अतएव मैं इन्द्रादि दिक्पालोंके सन्देशपर मनसे विचार भी नहीं करना चाहती, कार्यसे उन्हें स्वीकार करना तो दूर की बात है, साक्षात् कार्यरूपमें स्वीकृत किये हुएका त्याग करना सर्वथा असम्भव ही है। मैंने निषधेश्वर नलको बहुत समयसे मनसे वरणकर लिया है, अतः इन्द्रादिको वरण करनेका विचार भी नहीं करूंगी] ॥ ३१ ॥

ममाशयः स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि ।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते ॥३२॥

ममेति । अथवा ममाशयश्चित्तवृत्तिः स्वप्नदशायाः स्वप्नावस्थायाः आज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्य इतरं पुरुषं यदि अस्पृशत् प्राप्तवान् । तर्हि समस्तस्य साक्षिणी निजा स्वकीया बुद्धिरेव तत्र विषये कुतः पुनर्विबुधैः इन्द्रादिभिः न पृच्छ्यते नानुयुज्यते । सर्वसाक्षिणः स्वयं किं न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अथवा मेरी चित्तवृत्ति स्वप्नावस्थाकी आज्ञासे (स्वप्नावस्थामें) भी नलको छोड़कर यदि दूसरेका स्पर्श करे (मनसे स्वप्नमें भी यदि मैं नलके अतिरिक्त किसी की इच्छा करूं तो) इस विषयमें सबकी साक्षिणी अर्थात् सबके मनोभावको जाननेवाली अपनी बुद्धिसे ही विबुध (इन्द्रादि देव, पक्षा०—विशिष्ट पण्डित) वे क्यों नहीं पूछते हैं ? । ['सती दमयन्ती स्वप्नमें भी नलके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषका विचार करेगी क्या ?' इस बातको सब कुछ जाननेवाली अपनी बुद्धिसे ही विशिष्ट ज्ञानी इन्द्रादि देव क्यों नहीं समझ लेते ? अर्थात् स्वयं बुद्धिमान् रहते हुए भी इन्द्रादिने जो सन्देश आपके द्वारा मेरे लिये भेजा है, वह अबुद्धिपूर्वक ही भेजा है और अबुद्धिपूर्वक किया गया कार्य कदापि सफल नहीं होता है। इन्द्रादिके अबुद्धिपूर्वक किये गये प्रस्तावको मैं कदापि स्वीकार नहीं करूंगी] ॥ ३२ ॥

अपि स्वमस्वप्नमसूषुपन्नमी परस्य दाराननवैतुमेव माम् ।
स्वयं दुरध्वार्णवनाविकाः कथं स्पृशन्तु विज्ञाय हृदापि तादृशीम् ॥३३॥

अपीति । अमी इन्द्रादयः देवाः अस्वप्नं स्वप्नवर्जितं स्वमात्मानं मां परस्य दाराननवैतुमज्ञातुमेव असूषुपन् स्वापितवन्तः । स्वापेर्णौ चङि "द्युतिस्वाप्यो"रिति सम्प्रसारणम् । अन्यथा सर्वज्ञानां तेषामस्मिन्नेवांशे कथमज्ञानमित्यर्थः । तदेवोपपादयति—स्वयं दुष्टोऽध्वा दुरध्वः, "उपसर्गादध्वन" इति समासान्तोऽच् । स एवार्णवस्तस्य नावा तरन्तीति नाविकाः कर्णधाराः सन्तः "नौ द्व्यचष्ठन्" इति ठन्प्रत्ययः । कथं तादृशीं मां हृदा विज्ञायापि स्पृशन्तु स्पृशेयुः । स्वयममार्गनिवारकाणां तत्प्रवृत्तिरनर्हेति भावः ॥ ३३ ॥

ये (इन्द्रादि देव) मुझे परस्त्री (दूसरेकी अर्थात् नलकी स्त्री) नहीं समझनेके लिये ही अस्वप्न अर्थात् नहीं सोनेवाले (देवोंको नहीं नींद आना पुराणादिमें प्रसिद्ध है) अपनेको सुला लिया क्या ? (क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो) कुमार्गरूपी समुद्रके कर्णधार (समुद्रमें यात्रा करनेवालोंको सुरक्षित पार करनेवाले नाविकके समान कुमार्गमें प्रवृत्त मनुष्यको रोककर सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेवाले वे इन्द्रादि दिक्पाल) हृदयसे वैसी (परस्त्री) जानकर भी (अथवा—परस्त्री जानकर भी हृदयसे) कैसे स्पर्श करते ? [कुमार्गसे बचानेवाले वे देव हृदयसे मुझे परस्त्री जानकर भी स्पर्शसे दूषित करना चाहते हैं, अतः मालूम पड़ता है कि सर्वदा जागरूक रहनेवाले वे इन्द्रादि देव 'यह दमयन्ती दूसरेकी स्त्री है' इस बातको नहीं जाननेके लिये मानो सो गये थे, और सोये हुए पुरुष-द्वारा किया गया कार्य अबुद्धिपूर्वक होता है उसपर कोई बुद्धिमान् व्यक्ति विचार भी नहीं करना चाहता, अतएव अबुद्धिपूर्वक किये गये इन्द्रादिके कार्यपर विचार करना मूर्खता है] ॥

अनुग्रहः केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने ।
स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रसद्य भिक्षां वितरीतुमीशताम् ॥३४॥

अनुग्रह इति । मनुष्येषु जन्म यस्य तस्मिन्नपि मादृशे जने यन्मनश्चित्तं वर्तते एष केवलोऽनुग्रह एव किन्तु सोऽनुग्रहो विधेयः कर्तव्यश्चेत्तर्हि अमी इन्द्रादयो देवाः प्रसन्ना भूत्वा मे मह्यं तं नलमेव भिक्षां वितरीतुं दातुम् , "ऋतो वा" इति दीर्घः । ईशतामीश्वरा एव भवन्तु । नलसङ्घटनेनैवानुग्राह्योऽयं जनो नान्यथा मन्तव्य इति भावः ॥ ३४ ॥

मनुष्यसे उत्पन्न मेरे—जैसे (सामान्य) व्यक्तिमें जो (इन्द्रादि दिक्पालोंका) मन (अनुरक्त) है, यह केवल (मुझपर उन लोगोंका) अनुग्रह है और यदि वह अनुग्रह (उन देवोंको मुझपर) करना है तो प्रसन्न होकर (वे) उसी (नल) को मेरे लिए भिक्षा देनेके लिए होवें । [तुच्छ मानुषी मुझपर देवोंके मनका अनुरक्त होना कृपा

करना मात्र है, अतएव वे इन्द्रादि देव उस नलको ही पतिरूपमें भिक्षा देकर कृपाको चरितार्थ करें] ॥ ३४ ॥

अपि द्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

अपीति। हे धीर ! द्रढीयः दृढतरं मम प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञामपि शृणु। तामेव प्रतिज्ञामाह—स नृपः नलः इमं मदीयं पाणिं न पीडयेत् न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि निजस्यायुषः स्वेनात्मना वैरितां शात्रवं हुताशनश्च उद्बन्धनश्च वारि च तैः वारितां निवृत्तिं करवै करवाणि ॥ ३५ ॥

और, (तुम) मेरी अत्यन्त दृढ प्रतिज्ञाको सुनो; यदि वे राजा (पक्ष०—मानवरक्षक-अतएव वे नल मानवके नाते मेरी रक्षा अवश्य करेंगे, यह ध्वनित होता है।) इस हाथको पीडित नहीं किये अर्थात् मेरे साथ विवाह नहीं किये तो मैं अपनी आयुके अपने शत्रुभावको अग्नि, उद्बन्धन (डाल आदि ऊंचे स्थानोंमें बांधना), या पानीसे निवृत्तकर लूंगी अर्थात् अग्निमें जलकर, डाल आदिमें अपनेको बांधकर या पानीमें डूबकर वैरी अपनी आयुको नष्टकर दूंगी अर्थात् मर जाऊंगी। ['यदि मेरे दुर्भाग्यवश या इन्द्रादिके अनुरोध वा बलप्रयोगके कारण यदि नल मुझसे विवाह नहीं करेंगे तो मैं अग्नि आदि के द्वारा आत्म-हत्या कर लूंगी, किन्तु दूसरे किसीका वरण नहीं करूंगी' यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा सुन लो और इतना सुनने पर भी आप कुछ पुनः कहेंगे तो वह अनुचित ही नहीं, अपि तु असफल भी होगा] ॥ ३५ ॥

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥३६॥

न चात्मनो व्यापादनमयुक्तमित्यत्राह—निषिद्धमिति। यत्रापदि यदि सती धर्म्या क्रिया सर्वथा सर्वप्रकारेण नावति न रक्षति। तत्र निषिद्धमप्याचरणीयम्। तथा हि राजपथे राजवीथ्यामपि घनाम्बुना सान्द्रोदकेन मेघजलेनातिपिच्छिले पङ्किले सति बुधैः विद्वद्भिः अपथेनामार्गेणापि क्वचित्प्रदेशे गम्यते। "पथो विभाषा" इति समासान्तः। "अपथं नपुंसकम्"। सर्वथा स्त्रीणां प्राणत्यागेनापि पातिव्रत्यं रक्षणीयमिति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३६ ॥

आपत्तिमें निषिद्ध (कार्य) भी करना चाहिये, जहां (जिस आपत्तिमें या जिस स्थान वा समयमें) श्रेष्ठ कार्य सर्वथा नहीं बचा सकता हो। अधिक जलसे राजमार्ग (सड़क, या प्रशस्त रास्ते) के पङ्कयुक्त होनेपर विद्वान् (विवेकशील व्यक्ति) भी कहींपर मार्गको छोड़कर चलते हैं। आत्महत्या करना शास्त्र विरुद्ध होनेपर भी आपत्तिसे छुटकारा न हो सकनेकी अवस्थामें वह आत्महत्या करना भी शास्त्र विरुद्ध नहीं होता है, अतएव नलकी

प्राप्ति न होनेपर कामसन्ताप नहीं सह सकनेके कारण मुझे आत्महत्या कर लेना ही आपत्तिसे छुटकारा पानेका एकमात्र सरल उपाय है, नलके अतिरिक्त दूसरे किसीका वरण करना नहीं] ॥ ३६ ॥

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम् ।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते ॥ ३७ ॥

स्त्रियेति । वाग्मिषु वावदूकेषु तेष्विन्द्रादिषु विषयेषु स्त्रिया मया उत्तरं सम्यक् यथा भवति तथा विवरीतुं प्रपञ्चयितुं जातु कदाचिदपि न शक्यते । तत् तस्मात् कारणात् अत्र मद्भाषितानां वचनानामेव सूत्राणां पद्धतौ मार्गे विषये ते तव प्रबन्धृता प्रबन्धकर्तृत्वमस्तु, प्रतिबन्धृता प्रतिबन्धकर्तृत्वं नास्तु । उभयत्रापि तृजन्ताद्धन्धेस्तल् । अस्मिन्निषेधोत्तरे ममानुकूलो भव, न प्रतिकूल इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्त्री मैं विद्वान् उन (इन्द्रादि देवों) के विषयमें सम्यक् प्रकारसे उत्तर देनेके लिये कदापि समर्थ नहीं हूं, इस कारण मेरे भाषण सूत्रसमुदायमें आप प्रबन्धकार (विशद व्याख्या करने वाला) बनें, प्रतिबन्धक (बाधक) न बनें। [मैं स्त्री जाति स्वल्प बुद्धिवाली हूं और वे इन्द्रादि दिक्पाल पुरुष जाति एवं बुद्धिमान् हैं, अतः उनके प्रति मैं विस्तारपूर्वक उत्तर नहीं दे सकती; इस कारण आप संक्षेप में कहे गये मेरे उत्तर को उनके सामने संक्षिप्ताक्षर सूत्रोंकी विस्तृत भाष्य तथा वार्तिकादि व्याख्यानके समान स्पष्ट रूपसे कह दें, किन्तु मेरे उत्तर का प्रतिकूल अर्थ कहकर बाधक न बनें। जिस प्रकार संक्षिप्ताक्षर सूत्रों के अनुसार ही उसके व्याख्यानभूत भाष्य या वार्तिक आदि प्रबन्ध किये जाते हैं, प्रतिकूल नहीं, उसी प्रकार आप भी मेरे उत्तरोंके अनुकूल ही इन्द्रादिसे कहें, प्रतिकूल न कहें] ॥ ३७ ॥

निरस्य दूतः स्म तथा विसर्जितः प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम् ।
कुतूहलेनेव मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य डिम्भेन पिकः प्रकोपितः ॥३८॥

निरस्येति । स दूतः तथा तेन प्रकारेण निरस्य न्यक्कृत्य विसर्जितः सन् कुतूहलेन हेतुना डिम्भेन शिशुना मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य अनुकृत्य प्रकोपितः पिकः कोकिल इव प्रिया उक्तिः वचनं यस्य स तादृशोऽपि कदुष्णमीषत्परुषं, "कवं चोष्णे" इति कोः कदादेशः । अक्षरं वाक्यमाह ॥ ३८ ॥

उस प्रकार (श्लो० ३०–३७ पाठा०—दमयन्ती तथा दमयन्तीकी ओरसे बोलने वाली उसकी सखीसे) खण्डनकर प्रेषितप्राय (प्रायः भेजा गया-सा) प्रिय भाषण करनेवाला भी दूत (नल), बालकके द्वारा कौतूहलसे बार बार 'कूहू' शब्दका अनुकरण कर रुष्ट किये गये कोकिलके समान कुछ कडु अक्षर (अप्रिय वचन) कहने लगा-(अथवा—खण्डितकर विसर्जित दूत उस प्रकार प्रियभाषी भी दूत···) । [जब कोयल बोलता है, तब बालक उसके शब्दको सुननेके लिये उसके शब्दका अनुकरण 'कुहू–कुहू' शब्द करते हैं, उससे वह अधिक

क्रुद्ध हो जाता है ऐसी कोयलकी प्रकृति है; उसी प्रकार दूत नल भी दमयन्तीके बारबार आग्रह करने पर कुछ रूक्षतायुक्त वचन बोले] ॥ ३८ ॥

अहो मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते त्वमप्यमीभ्यो विमुखीति कौतुकम् ।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किञ्च तं स वा[1] कवाटं घटयन्निरस्यति ॥३९॥

अहो इति । ते इन्द्रादयोऽपि त्वामनु त्वामुद्दिश्य मनस्तन्वते कुर्वन्ति अहो आश्चर्यं त्वमपि अमीभ्य इन्द्रादिभ्यः विमुखी पराङ्मुखीति यत्कौतुकं चित्रमित्यर्थः । किञ्च क्व वा लोके निधिर्निर्धनमेति, क्व वा स निर्धनः कदाचिद्दैवयोगादागतमपि तं निधिं वा कवाटं घटयन् निरस्यति द्वारं पिधाय निषेधतीत्यर्थः । ईदृशं वश्चेष्टितमिति दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३९ ॥

वे (अतिशय श्रेष्ठ इन्द्रादि) तुम्हारे प्रति (या–पीछे) मन को बढ़ाते हैं अर्थात् तुम्हें चाहते हैं, यह (उत्तम देवोंका निकृष्ट मानुषीको चाहना) आश्चर्य है । तुम भी उन (श्रेष्ठ इन्द्रादि) से पराङ्मुख हो, यह बड़ा आश्चर्य है । निधि दरिद्रको कहां आती है ? अथवा वह दरिद्र किवाड़ बन्दकर (पाठा०—वह दरिद्र वचनरूपी किवाड़ बन्द करता हुआ) उसको कहां रोकता है ? । ['हीन व्यक्तिको श्रेष्ठ व्यक्ति चाहे' यह आश्चर्य की बात है और 'वह हीन व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्तिके चाहने पर भी उससे विमुख रहे (उसे न चाहे)' यह और आश्चर्य की बात है । इस कारण 'इन्द्रके चाहने पर भी तुम उन्हें नहीं चाहती' यह बड़े आश्चर्य की बात है; क्योंकि दरिद्र व्यक्तिके पास महानिधि कहीं भी नहीं आती, और उसके आनेपर दरिद्र उसे रोकनेके लिये किवाड़ बन्द नहीं करता ये दोनों बातें एकसे एक बढ़कर आश्चर्यान्वित करनेवाली हैं । तुम्हें इन्द्रका चाहना दरिद्रके पास निधि आनेके समान तथा तुम्हारा उन्हें मना करना आये हुए निधिको रोकनेके लिये किवाड़ बन्द करनेके समान है । ऐसा न कहीं देखा ही गया और न सुना ही गया, अतः तुम्हारा देवों से विमुख होना सर्वथा अनुचित है] ॥ ३९ ॥

सहाखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद्गुरुमादरं त्वयि ।
त्वमीदृशि श्रेयसि संमुखेऽपि तं[2] पराङ्मुखी चन्द्रमुखि ! न्यवीवृतः ॥

सहेति । हे चन्द्रमुखि ! महेन्द्रस्य रागाद्धेतोः । त्वयि गुरुं महान्तमादरमखिलस्त्रीषु विषये अवहेलया अनादरेण सह वहे त्वय्यादरमन्यास्वनादरं च वहामि, त्वामेव भाग्यवतीं मन्य इत्यर्थः । वहेः स्वरितेत्वादात्मनेपदं, सहोक्तिरलङ्कारः । ईदृशि श्रेयसि सन्मुखे अभिमुखे सत्यपि त्वं पराङ्मुखी सती, तं पूर्वोक्तमादरं न्यवीवृतः निवर्तितवत्यसि । वृतेर्णौ चङि सिचि रूपम् । "उरदि"त्यकारे सन्वद्भावे चाभ्यासेकारः ॥ ४० ॥

हे चन्द्रमुखि ! तुममें इन्द्रके अनुराग करनेसे मैं सम्पूर्ण स्त्रियोंमें अनादरके साथ अधिक

---

१. "वाक्कवाटम्" इति पाठान्तरम् । २. "किम्" इति पाठान्तरम् ।

आदर करता हूं (अथवा—हे चन्द्रमुखि ! इन्द्रके······साथ तुममें अधिक आदर करता हूं), ऐसे कल्याणके सामने आनेपर भी तुम विमुख होती हुई (उस कल्याणसे मुंह मोड़ती हुई) उसको वापस लौटा रही हो (पाठा०—विमुख होती हुई क्यों वापस लौटा रही हो ?)। ['देवराज इन्द्र भी तुममें अनुराग करते हैं, इस कारण तुम ही परम सुन्दरी हो, अन्य स्त्रियां नहीं, इस प्रकार मैं तुमको अधिक आदर तथा दूसरी स्त्रियोंको अनादरसे देखता हूं, परन्तु ऐसे सामने आये हुए कल्याणको पराङ्मुखी होकर लौटानेसे मैं अब तुम्हें अभागिनी मानता हूँ, पूर्वोक्त श्लोक (३८) के अनुसार नलने कुछ कटु वचन कहा]॥ ४० ॥

दिवौकसं कामयते न मानवी नवीनम[1]श्रावि तवाननादिदम् ।
कथं न वा दुर्ग्रह दोष एष ते हितेन सम्यग्गुरुणापि शाम्यते ॥४१॥

दिवौकसमिति । मानवी मानुषी, दिवौकसं देवं न कामयते नापेक्षत इति इदं नवीनमश्रुतपूर्वं वचस्तवाननादश्रावि श्रुतम् हन्त, एष ते तव दुर्ग्रहदोषः सूर्यादिग्रहदोषश्च। 'अथार्कादिनवग्रहाः' इति वैजयन्ती। हितेनाप्तेनानुकूलेन च गुरुणा पित्रादिना, गीष्पतिना च। 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्योः' इत्यमरः। कथं वा सम्यङ् न शाम्यते न निवर्त्यते। शमेर्ण्यन्तात्कर्मणि लट्। गुरुरात्मवतां शास्ता, "किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ" इति वचनादपत्यशासने ग्रहान्तरनिरासे च गुर्वोरेवाधिकारादिति भावः। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः॥

'मानुषी देवको नहीं चाहती है' यह नवीन (नयी बात, पाठा०–विचित्र बात) तुम्हारे मुखसे (मैंने) सुनी, ('संसारमें सभी लोग अपनेसे श्रेष्ठ की चाहना करते हैं' इस सर्वसम्मत सिद्धान्तसे विपरीत होने से तुमने बिलकुल ही नयी बात कही)। तुम्हारे इस दुराग्रह (बुरे हठ) दोषको हित (हितकारी) पिता आदि गुरुजन भी क्यों नहीं अच्छी तरह शान्त (दूर) करते हैं ? अथवा—तुम्हारे अच्छी तरहसे हितकारी पिता आदि गुरुजन इस दुराग्रह दोषको क्यों नहीं शान्त करते हैं ?। तुम्हारे हितैषी पिता आदि गुरुजनको चाहिये कि तुम्हारे इस दुराग्रह को छुड़ाकर तुम्हें इन्द्र आदि देवोंमें से किसी एकको वरण करनेका उपदेश दें। अथवा–तुम्हारे इस दुष्ट ग्रह अर्थात् शनि–सूर्य आदिके दोष अर्थात् तज्जन्य पीडा आदिको (केन्द्र या उच्च स्थानमें रहनेसे) हितकारक गुरु (बृहस्पति ग्रह) क्यों नहीं सर्वथा शान्त करते हैं ? अथवा—तुम्हारे वरण–सम्बन्धी इन्द्रादिके आग्रह दोषको (उनके आचार्य) गुरु भी क्यों नहीं सर्वथा दूर करते ? तुम्हारा दुराग्रह हितकारक पिता आदि, अथवा श्रेष्ठस्थान (केन्द्र) आदिपर स्थित होनेसे हित (उस दोषका नाशक) बृहस्पति ग्रह क्यों नहीं सर्वथा शान्त करता ? अथ च इन्द्रके तुम्हारे विषयमें अनुरागको अपना शिष्य मानकर बृहस्पतिरूप गुरु क्यों नहीं सर्वथा दूर करेगा ?, अथवा—सर्वत्र 'सम्यक्' शब्दका सम्बन्ध 'हित' शब्दके साथ करके अर्थ लगाना चाहिये] ॥ ४१ ॥

---

१. "विचित्र" इति पाठान्तरम् ।

अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम् ।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ॥४२॥

अथ मानुषीं देवा न ग्रहोष्यन्तीति यदि तदपि नेत्याह—अनुग्रहादिति । दिव-मोको येषां द्यौरोको येषामिति वा पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां दिवौकसां देवाना-मनुग्रहादेव नरो मानुष्यकं मनुष्यभावं निरस्य "ओपधादुगुरूपोत्तमाद्वुञ्" इति वुञि "यस्ये"ति लोपे "प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवान" इति प्रकृतिभावा"दपत्यस्य च तद्धितेऽनाती"ति यलोपाभावः । दिव्यतामेति तत्परिग्रहाद्देवभूयमपि ते भवितेति भावः । तथा हि—रसः पारदः । 'देहधात्वम्बुपारद' इति रसशब्दार्थेषु विश्वः । स हि संस्कारबलाल्लोहान्तरसुवर्णीकरणे समर्थः सिद्धरस उच्यते । तत्स्पृशामयसामपि तत्स्पर्शात्स्वर्णीभूतायसामपीत्यर्थः । अयोऽधिकारे अयःप्रस्तावे स्वरितत्वमधिकृतत्वं तेषु परिगणनेति यावत् । "स्वरितेनाधिकार" इति वैयाकरणपरिभाषाश्रयणादेवं व्यपदेशः । स्वृ शब्दोपतापयोरिति धातोर्दैवादिकात् क्तः । कुत इष्यते नेष्यत एवेत्यर्थः । रसस्पृष्टायसः स्वर्णभाव इव तत्रापि तत्स्पृष्टाया देवत्वमेव न मानुष-त्वमित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः स्पष्टः ॥ ४२ ॥

मनुष्य देवोंके अनुग्रहसे ही मनुष्यभाव को छोड़कर दिव्यभाव (देवत्व) को पाता है अर्थात् मनुष्यसे देव बन जाता है । औषधादि से सिद्ध पारद (पारा) का स्पर्श करने वाले लोहोंका लोहेके अधिकार (प्रस्ताव) में (पाठा०—विकारमें अर्थात् लोहेके बने पदार्थोंमें) गणना कहां से होती है अर्थात् नहीं होती । [जिस प्रकार औषधसे तैयार किये गये पारद के स्पर्शसे जब लोहा सोना बन जाता है, तब उसे लोह नहीं कहा जाता, किन्तु सोना कहा जाता है; उसी प्रकार जब इन्द्रादि देवोंमें से किसीको वरण कर लेगी, तब तुम मानुषी न रह कर देवी बन जाओगी, क्योंकि देवोंके अनुग्रहसे जब सामान्य मनुष्य भी देव बन जाता है तब जिस तुमको देव बड़े अनुरागसे चाहते हैं, उस तुमको मानुषी नहीं रहने देंगे, किन्तु देवी बना लेगें; अत एव देवोंके स्वीकार करने पर तुम मानुषी से देवी बन जावोगी तब मानुषी देवों को नहीं चाहती यह तुम्हारा कहना भी असङ्गत है तथा— "स्वरितेनाधिकारः (पा० सू० १।३।११)" इस पाणिनिके सूत्र द्वारा अधिकारका अभाव करने पर फिर कहांसे अधिकार हो सकता है ? । देवोंके अनुग्रहसे तुम देवी बन जावोगी, अतः देवोंको वरण करो] ॥ ४२ ॥

हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषित्रुवा कथम् ।
उपेक्षितेक्षोः करभाच्छमीरतादुरुं वदे त्वां करभोरु ! भो इति ॥४३॥

हरिमिति । हरिमिन्द्रं देवं परित्यज्य नलं नरमभिलाषुका ताच्छील्येनाभिलषन्ती "लषपत" इत्यादिना उकञ् । "न लोक" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्कर्मणि द्विती-यायां गम्यादिपाठात्समासः । अत एव विदुषी ज्ञात्री "विदेः शतुर्वसुः" "उगित-

श्चेति" ङीप्। ब्रवीतीति ब्रुवा विदुष्या ब्रुवा विदुषीब्रुवेति कर्मणि षष्ठीसमासः। विदुषीमात्मानं ख्यापयन्ती पण्डितम्मन्येत्यर्थः। "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः" इति ह्रस्वः, ब्रुञः पचाद्यच्। एतस्मादेव निपातनाद्गुणवच्या-देशयोरभावः। ईदृशी त्वं कथं न लज्जसे मणिं विहाय काचग्रहणवत्कथं न लज्जा-करमित्यर्थः। अत एवाद्य त्वामहमेवं व्याकरिष्यामीत्याह—उपेक्षितेति। उपेक्षितेक्षोः परिहृतेक्षुकाण्डात् शमीरताच्छमीभक्षणलालसात् करभादुष्ट्रात् उरुं मौढ्यनाधिका-न्त्वाम्भोः! करभोरु! हे करभोर्विति सम्बोध्य वदे वक्ष्यामि। भासनादिसूत्रेण ज्ञानार्थे तङ्। न तु करभः करभागविशेषः तद्वदुरू यस्या इति व्युत्पत्त्येत्यर्थः।'करभो मणिबन्धादिकनिष्ठान्तर उष्ट्रकः' इत्युभयत्रापि विश्वः। अथ सम्बोधनार्थकाः—'स्युः प्याट् पाडङ्ग हे है भोः' इत्यव्ययेष्वमरः। चादिपाठान्निपातसंज्ञायाम् 'ओत्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिसन्धिः। अनव्ययपक्षेऽपि भवच्छब्दतकारस्य रुत्वादिकार्ये यलोप-स्यासिद्धत्वादवादेशनिवृत्तौ भो इत्येव सन्धिः, किन्त्वत्र स्त्रीसम्बोधने स्त्रियाम् "उगितश्च" इति ङीप्प्रत्यये भवतीति सम्बुद्धिः स्यात्। न तु भो इति। करभोर्वि-त्यत्र करभ इवोरू यस्या इति "उरूत्तरपदादौपम्य" इत्यूङ्प्रत्ययः। करभादुरुः कर-भोरुः इति पक्षे तु मनुष्यजातिविवक्षायां ब्रह्मबन्धूरित्यादिवत्। "ऊङुतः" इत्यूङ्-प्रत्यये नदीह्रस्वः। यथाह वामनः—"मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे" इति। अहो कष्ट-मुष्ट्रचेष्टितवत् त्वच्चेष्टितं हास्यास्पदं जातमिति भावः॥ ४३॥

इन्द्रको छोड़कर नल (राजा नल, पक्षा०—नरसल नामका तृण विशेष; या 'रलयो-रभेदः' इस वचनके अनुसार नर अर्थात् मनुष्य अर्थात् नरसल तृणके समान तुच्छ नर) को चाहती हुई तथा अपने को पण्डिता कहती हुई तूँ क्यों नहीं लज्जित होती? हे करभोरु! गन्नेको छोड़कर (कड़वी तथा कण्टकादिवाली) शमीमें अनुरक्त ऊंटसे अधिक (ऊँटसे भी अधिक हीन बुद्धिवाली) तुम्हे क्यों न कहूँ? [इन्द्रको छोड़कर तृणतुल्य तुच्छ मानवको चाहने वाली तुममें बुद्धिका लेश भी नहीं है, अतः फिर भी अपनेको बुद्धिमती समझनेमें तुम्हें लज्जा आनी चाहिये और इस कारण 'तुम मानुषी होने मात्रसे करभोरू (ऊंटसे बड़ी) हो, हाथीके सूंड या हाथके मणिबन्धसे कनिष्ठा अङ्गुलितकके भागविशेषके समान सुन्दर जघन होनेसे 'करभोरू' नहीं हो। अथ च ऊंटसे भी बड़ी अर्थात् अधिक मूर्खा हो' ऐसा मैं क्यों न कहूं अर्थात् तुम्हारे विषयमें ऐसा कहना अनुचित नहीं है। ऊंटको भी कभी-कभी ऊँचे-नीचेका ज्ञान होता है, परन्तु तुममें उतना भी नहीं है; अतः तुम ऊँटसे भी हीन ज्ञानवाली हो]॥ ४३॥

विहाय हा सर्वसुपर्वनायकं त्वयाद्दतः किं नरसाधिमभ्रमः।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः॥४४॥

---

१. "त्वयाधृतः" इति "वृथा धृतः" इति च पाठान्तरे।

विहायेति। किञ्च हा बत ! त्वया सर्वसुपर्वनायकं देवेन्द्रं विहाय नरे मनुष्ये साधिमभ्रमः साधुत्वभ्रान्तिः। पृथ्वादिपाठात् साधोरिमनिच्प्रत्ययः। किं किमर्थमादृतः ? अथवा नियतिः केन लङ्घ्यत इत्याशयेनाह—श्वसितस्य धारया निश्वासपरम्परया (कर्त्र्या) मुखं मुखद्वारं विपुलं विमुच्य वृथैव नासापथेन नासारन्ध्रेणातिक्लिष्टेन धावनश्रम आदृतः खल्विति शेषः। तद्वत्तवापि ईदृशी भवितव्यतेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४४ ॥

सब देवोंके प्रभु (इन्द्र) को छोड़कर तुमने मनुष्यमें श्रेष्ठताके भ्रमका क्यों आदर किया अर्थात् मनुष्यको श्रेष्ठ क्यों समझा ! (अथवा—'रलयोरभेदः' इस नियमके अनुसार नलको श्रेष्ठ क्यों समझा ?) अथवा—'किनर—' पद को एक मान कर निन्दित मनुष्य (अथवा—निन्दित नल, अथवा—देवापेक्षासे हीन 'किन्नर' देव योनि-विशेष) को श्रेष्ठ क्यों समझा !; पाठा०—धारण किया, व्यर्थमें धारण किया ? मुख छोड़कर श्वास धारा (श्वासप्रवाह) को नाकके मार्गसे चलने का प्रयास करना व्यर्थ है। [सब देवोंके स्वामी इन्द्रको छोड़ कर मनुष्य (या नल या किन्नर) को उनसे श्रेष्ठ समझने का आग्रह करना विशाल मुखविलको छोड़कर सङ्कीर्ण नाकके विलसे श्वास लेनेके श्रमके समान व्यर्थ श्रम बढ़ाना है; अत एव तुम ऐसे भ्रममें न पड़कर देवराज इन्द्रको वरण करो] ॥ ४४ ॥

तपोऽनले जुह्वति सूरयस्तनूर्दिवे फलायान्यजनुर्भविष्णवे।
करे पुनः कर्षति सैव विह्वला बलादिव त्वां वलसे न बालिशे ! ॥४५॥

तप इति। किञ्च सूरयः सन्तः अन्यस्मिन् जनुषि जन्मान्तरे भविष्णवे भाविन्यै। 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः। "भुवश्च" इति इष्णुच्प्रत्ययः। "भाषायामपीष्यते" भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। दिवे स्वर्गायैव फलाय तनूः शरीराणि तपोऽनले जुह्वति त्यजन्ति। "अदभ्यस्ता" दित्यदादेशः। त्वां पुनः सा प्राणान्तिकतपःसाध्या द्यौरेव विह्वला उत्सुका सती बलाद्बलात्कारादिव करे कर्षति हे बालिशे ! मूढे ? 'शिशावज्ञे च बालिशः' इत्यमरः। न वलसे न चलसि नेच्छसीत्यर्थः। अहो ते दुर्बुद्धिरिति भावः ॥ ४५ ॥

विद्वान् लोग दूसरे जन्ममें होने वाले स्वर्ग (की प्राप्ति रूप) फलके लिये तप (चान्द्रायणादि व्रत तपश्चर्यारूप) अग्निमें अपने शरीरोंको हवन करते हैं अर्थात् चान्द्रायणादि व्रत करनेमें शरीरको कृश करते हैं, वही (इन्द्रादि रूप स्वर्ग) व्याकुल होकर तुम्हें बार बार मानो हठसे खींच रहा है; (किन्तु) हे मूर्खे ! (तुम उसे) नहीं चाहती (यह आश्चर्य है)। [जिस स्वर्गको पानेके लिये विद्वान्लोग भी (मूर्ख नहीं या एक ही विद्वान् नहीं; अपि तु बहुत-से विद्वान्) तपस्यादिके द्वारा अपनेको हवन कर देते हैं, वही स्वर्ग अपने यहां आश्रय देनेके लिये हठपूर्वक तुम्हें बार बार खींच रहा है, फिर भी तुम उसे नहीं चाहती, यह बड़ी मूर्खता है ॥ तुम अपना मूर्खता पूर्ण दुराग्रह छोड़कर इन्द्रादिको वरण करो] ॥ ४५ ॥

यदि स्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम् ।
दिविस्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः ॥४६॥

अथ यदुक्तं नलालाभे हुताशनोद्बन्धनादिना मरिष्यामीति तत्रोत्तरमाह— यदीत्यादिना चतुष्टयेन । हे मुग्धे ! नलं विना नलालाभे स्वमात्मानमुद्बन्धुं मनो यस्याः सा उद्बन्धुमनाः पाशेन मर्तुकामा । "तुं काममनसोरपि" इति मकारलोपः । भवेर्यदि स्याश्चेत् ततोऽन्तरिक्षगां भवन्तीं दुर्मरणदोषादन्तरिक्षगतां सतीं त्वामिति शेषः । दिविस्थितानामन्तरिक्षगतानां स्वर्गतानां च प्रथितः पतिः प्रसिद्धः स्वामी हरिरिन्द्रो हरिष्यति ग्रहीष्यति जन्मान्तरेऽपि त्वां न त्यक्ष्यतीत्यर्थः । तथा हि— न्याय्यं न्यायप्राप्तं वस्तु क उपेक्षते न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः । अस्वामिकद्रव्यस्य राजगामित्वं न्याय्यमिति भावः ॥ ४६ ॥

(अब दूत नल पूर्व (५।३५) श्लोकोक्त दमयन्तीके वचनका खण्डन क्रमशः चार श्लोकों (५।४६-४९) में कर रहे हैं—) यदि तुम नलके विना अपनेको बाँधनेकी (शाखा आदिमें बाँधकर मरने) की इच्छा करती हो तो अन्तरिक्षमें जाती हुई तुमको स्वर्ग का स्वामी (इन्द्र) वहां से अर्थात् अन्तरिक्षसे हरण कर लेंगे; न्याययुक्त वस्तु की कौन उपेक्षा करता है ? [आत्महत्या कर जब तुम अन्तरिक्ष में जाने लगोगी तब तुम्हें स्वर्गपति इन्द्र ग्रहण कर लेंगे, क्योंकि 'विना स्वामीकी वस्तु जिस राजाके राज्यमें जाती है, वह उस राज्यके स्वामी की हो जाती है' इस प्रकारसे भी इन्द्र तुम्हें प्राप्त कर लेंगे, और इन्द्रका वह कार्य न्याय संगत होगा अतः तुम स्वयं ही इन्द्रको वरण कर लो] ॥ ४६ ॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदस्मिन्महती दया[1]दृता ।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाङ्ग ! यदङ्गमर्प्यते ॥४७॥

निवेक्ष्यस इति । हे मुग्धे ! नलेनोज्झिता सती अनले निवेक्ष्यसे यदि जीवित-नैस्पृह्यादग्निं प्रवेक्ष्यसि चेदित्यर्थः । आधारत्वविवक्षया सप्तमी । "नेर्विशः" इत्यात्मनेपदम् । तत् तर्हि अस्मिन्ननले अनलाख्ये सुरेऽपि तदधिष्ठातरि देवे च भूतमात्र इति भावः । महती दया आदृता कृता स्वीकृतेत्यर्थः । कुतः यद्यस्मादनेनानलेन चिरादर्थनया याच्ञयापि दुर्लभमङ्गं शरीरम् , अङ्ग ! अयि ! त्वयैव स्वयमात्मनैव अर्प्यते दीयते तथा स स्फुटतममेव जीवग्राहं ग्रहीष्यतीति भावः । अत्र नलालाभे जीवितजिहासोरनलग्रहणबुद्धिरूपानर्थोक्तेर्विषमप्रभेदः । "विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना चासौ विषमालङ्कृतिस्त्रिधेति" लक्षणात् ॥ ४७ ॥

यदि नलसे त्यक्त (नलसे अविवाहित) तुम अनल (अग्नि, पक्षा०—नलभिन्न) में नियुक्त होयेगी अर्थात् अग्निमें प्रवेश करोगी, तब इस देव अर्थात् अग्नि पर तुमने बड़ी दया का आदर किया अर्थात् दया की (पाठा०—दया धारण की; क्योंकि) चिर कालसे

---

१. "दया कृता" इति, "दया धृता" इति च पाठान्तरम् ।

याचनासे भी दुर्लभ (अपने) शरीरको हे अङ्ग ! इस अग्निके लिये, स्वयं समर्पण कर दोगी। [इस समयमें अग्नि तुम्हारे शरीरकी याचना कर रहे हैं, पर तुम नहीं दे रही हो, और बादमें नलके विवाह न करने पर अपने शरीरको मरनेके लिए अग्निमें छोड़ना अर्थात् अग्निके लिये स्वयं समर्पण करना, अग्निपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, क्योंकि नायकके द्वारा आलिङ्गनादिके लिए नायिकासे याचना करने पर न देना तथा बादमें स्वयं अपनेको समर्पण करना नायकके विशेष आनन्दका कारण माना जाता है। क्या करने पर क्या परिणाम होगा, तुम यह नहीं समझती, अत एव मैं तुम्हें इतना कह रहा हूं यह बात आत्मीयता सूचक 'अङ्ग' पदसे ध्वनित होती है] ॥ ४७ ॥

जितं जितं तत्खलु पाशपाणिना विना नलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि ।
तदा त्वदाख्यान् बहिरप्यसूनसौ पयःपतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥४८॥

जितमिति । हे मुग्धे ! नलं विना वारि प्रवेक्ष्यसि यदि मरणार्थमिति शेषः । अथेदानीं पाशः पाणौ यस्य तेन पाशपाणिना वरुणेन प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः । जितं जितमभीक्ष्णं जितं खलु । भावे क्तः । "नित्यवीप्सयोरि"ति नित्यार्थे द्विर्भावः । 'नित्यमाभीक्ष्ण्ये' इति काशिका । तदा वारिप्रवेशकाले असौ पयःपतिर्वरुणोऽपि त्वदाख्यान् त्वन्नामकान् । बहिरप्यसून् बहिर्वर्तिनः प्राणान् वक्षसि वक्ष्यतेतराम् । वहेः स्वरितेत्वात् लृटि तङि तरप्यामुप्रत्ययः । सोऽपि त्वां जीवग्राहं ग्रहीष्यतीत्यर्थः । अत एव पूर्व एवालङ्कारः ॥ ४८ ॥

यदि तुम नलके विना (नलके नहीं मिलने पर मरनेके लिए) पानीमें प्रवेश करोगी तो वरुणने अवश्य ही जीत लिया (क्योंकि) उस समय (पानीमें प्राणत्याग करनेके लिए तुम्हारे प्रवेश करने पर) पानीके स्वामी ये वरुण तुम्हारे नाम वाले अर्थात् दमयन्ती नामक तुम्हारे प्राणोंको बाहर भी हृदयमें वहन करेंगे। [अब तक तो वरुण तुमको भीतर अन्तःकरणमें ही ग्रहण करते हैं, किन्तु जब तुम मरनेके लिये जलमें प्रवेश करोगी तब वे वरुण तुमको बाहर भी हृदयसे आलिङ्गन करेंगे, यह उनकी बड़ी भारी विजय होगी] ॥४८॥

करिष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे ।
प्रियातिथिः स्वेन गता गृहान् कथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि ॥४९॥

करिष्यस इति । अथ विदुषी पण्डिता विदग्धा त्वं यदि तु अत एव दूषणादेतस्मादेवोद्बन्धनादिना स्वमृत्यवे स्वमरणाय अन्यमुपायमनशनादिकं करिष्यसे, तदा प्रियातिथिरतिथिप्रिया त्वं स्वेन स्वत एव गृहान् धर्मराजगेहं गता सती धर्मराजं वैवस्वतमतिथिसत्तममिति भावः । कथं न चरितार्थयिष्यसि न कृतार्थं करिष्यसि ? कर्तव्यमेवेदं कृतयुगधर्मत्वात् स्वयं गत्वार्थिमनोरथपूरणस्येति भावः ॥ ४९ ॥

यदि इसी दोष (उद्बन्धन, अग्नि-प्रवेश और जल प्रवेश करनेसे क्रमशः इन्द्र, अग्नि और वरुण मुझे प्राप्त कर लेंगे इस दोष) से पण्डिता तुम किसी दूसरे उपाय (मरनेका

यत्न) को करोगी तो अतिथिको प्रिय मानने वाली तूँ घरपर आये हुए धर्मराज (यम) को क्यों नहीं कृतार्थ करोगी ? [नलके नहीं मिलनेपर उद्बन्धनादि मरण-साधनोंको उक्त कारणों (२।४६-४८) से दूषित समझ कर यदि तुम किसी दूसरे उपायका अवलम्बन करेगी तब मरने पर यमके यहां सबका जाना निश्चित होनेसे वे चिराभिलषित तुम्हें पाकर कृतार्थ हो जायेंगे; अत एव किसी प्रकार भी नलको न पाकर मरनेमें इन्द्रादि दिक्पालोंमें से कोई एक तुम्हें पालेगा यह सोच कर तुम्हें नलको वरण करनेका दुराग्रह छोड़कर इन्द्रादिमें से किसी एकका वरण कर लेना ही श्रेयस्कर है] ॥ ४९ ॥

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता ।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ॥५०॥

निषेधेति । हे विदग्धे ! अथवा तव एष इन्द्रादिनिषेधो निषेधवेषो निषेधाकारो विधिरङ्गीकार एव । तथा हि-वाचि वचने वक्रता वक्रोक्तिचातुरी व्यङ्ग्योक्तिचातुरीति यावत् । सा तवैव युक्ता खलु । कुतः, इदं वक्रवाक्यं वञ्चनाचातुर्यं यस्य ध्वनेर्व्यञ्जकवृत्तेर्विजृम्भितं विजृम्भणं, "नपुंसके भावे क्तः" । विदग्धनारीवदनं सूक्तिचतुरस्त्रीमुखं तदाकरस्तस्य ध्वनेरुत्पत्तिस्थानमित्यर्थान्तरन्यासः । ततः स्थूणानिखननन्यायेन विधिमेव द्रढयितुमेतन्निषेधनाटकमिति निषेधेन विधिरेव व्यज्यत इति भावः ॥ ५० ॥

अथवा निषेधरूपमें यह तुम्हारी स्वीकृति ही है अर्थात् तुम इन्द्रादि को स्वीकार ही कर रही है (क्योंकि) तुम्हारे ही वचनमें व्यङ्ग्योक्ति उचित है। जिस ध्वनि—('ध्वनि' नामक उत्तम काव्य) का यह विजृम्भित (विलास) है, चतुर स्त्रियोंका मुख उस (ध्वनि) का खजाना है अर्थात् चतुर स्त्रियोंके मुखसे ही उत्तमरूपसे व्यङ्ग्यके वाहुल्य की प्राप्ति देखी जाती है ॥ [तुम व्यङ्ग्यपूर्वक निषेध करती हुई भी इन्द्रादिको स्वीकार ही कर रही हो ऐसा मैं मानता हूं] ॥ ५० ॥

भ्रमामि ते भैमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु[1] निपत्य कत्यदः ।
त्रपामपाकृत्य मनाक् कुरु स्फुटं कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तमः ॥५१॥

एवं सुरस्वीकारपक्षमेव सिद्धवत्कृत्य निर्बध्य पृच्छति—भ्रमामीति । हे भैमि ! ते तव सरस्वती वाक् नदीभेदश्च, तस्यारसः शृङ्गारो जलञ्च तस्य प्रवाहस्तस्य चक्रेषु पुटभेदाख्यावर्तेषु वक्रोक्तिरूपेष्वित्यर्थः । वक्रेष्विति पाठेऽप्ययमेवार्थः । 'चक्राणि पुटभेदाः स्युरित्यत्र' 'वक्राणीति' पाठस्यापि स्वामिनाङ्गीकारात् । कति कियन्त्यमूनि चक्राणि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा निपत्य भ्रमामि मुह्याम्यावर्ते च । अत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायान्निपातनादिक्रियानिर्वाहः । अलं वक्रोक्त्येति तात्पर्यं किन्तु कतमः सुरोत्तमः कृतार्थनीयो वरणीयः ? एतदेव त्रपां मनागपाकृत्य शिथिली-

---

१. वक्रेषु" इति पाठान्तरम् ।

कृत्य स्फुटं कुरु व्यक्तं ब्रूहीत्यर्थः। नात्र लज्जितव्यम्, "आहारे व्यवहारे च त्यक्त-लज्जः सुखी भवेदिति" न्यायादिति भावः॥ ५१॥

हे दमयन्ति! तुम्हारी वाणीके रस माधुर्य (पक्षा०—सरस्वती नदीका जल) के प्रवाह (वक्रोक्ति आदि पक्षा०—धारा) के चक्रों (समूहों, पक्षा०—भँवरों) में गिरकर कब तक घूमूंगा भ्रममें पड़ा रहूंगा (पक्षा०—चक्कर लगाता रहूंगा)? (अतः) लज्जाको थोड़ा कम कर स्पष्ट करो (अथवा—लज्जाको कम कर थोड़ा स्पष्ट करो अर्थात् संकेत करो कि—) किस देव श्रेष्ठको (वरण करनेसे) कृतार्थ करोगी?। [जिस प्रकार कोई व्यक्ति नदीके जल प्रवाहके भँवरमें पड़कर चक्कर काटता रहता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे रसयुक्त वाणीके वक्रोक्त्यादिके समूहमें पड़कर यह नहीं निर्णय कर सका हूं कि तुम्हारा स्पष्ट आशय क्या है? अर्थात् किस देवश्रेष्ठ (दिक्पाल होनेसे या तुम्हारे वरण करनेसे देवश्रेष्ठता प्राप्त होना उचित ही है) को वरण करोगी? अतः थोड़ा सङ्कोच छोड़कर स्पष्ट कहो]॥५१॥

मतः किमैरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव।
सहस्रनेत्रान्न पृथङ्मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः॥ ५२॥

अथैकस्मिन्नेव नामग्राहमनुरागमष्टभिः पृच्छति—मत इत्यादि। हे भैमि? ऐरावतकुम्भयोः कैतवेन मिषेणेत्यपह्नवभेदः। प्रगल्भौ कठोरौ पीनौ च स्तनौ यस्यास्तस्याः दिशः प्राच्याः धवः पतिरिन्द्रस्तव मतः सम्मतः किम्? किंशब्दः प्रश्ने। "मतिबुद्धी" त्यादिना वर्तमाने क्तः। क्तस्य च वर्तमान इति तद्योगात्तवेति षष्ठी। युक्तञ्चैतदित्याह—मम मते मत्पक्षे त्वदङ्गस्य लक्ष्मीं लावण्यसम्पदमवगाहितुं सम्यग्ग्रहीतुं सहस्रनेत्रात् सहस्राक्षात् पृथगन्योऽपि इत्यर्थः। "पृथग्विने" त्यादिना पक्षे पञ्चमी। क्षमो न। अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्। तस्य पूर्वोक्तापह्नवेन संसृष्टिः॥ ५२॥

ऐरावतके कुम्भ (मस्तकस्थ मांसपिण्ड) के व्याजसे कठोरस्तनवाली दिशा (पूर्व दिशा) का पति अर्थात् इन्द्र तुम्हें अभीष्ट है क्या?, मेरे मतमें इन्द्रके विना (दूसरा कोई) तुम्हारे शरीरकी शोभाको देखनेमें समर्थ नहीं है। [तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरमें शोभा फैली हुई है, उसे एक साथ सम्यक् प्रकारसे देखनेके लिये अधिक (सहस्र) नेत्रों वाला इन्द्र ही समर्थ हो सकता है, दूसरा कोई दो नेत्रवाला नहीं; अत एव तुम इन्द्रको चाहती हो तो मेरी भी इसमें सम्मति है]॥ ५२]॥

प्रसीद तस्मिन् दमयन्ति! सन्ततं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैर्जगत्प्रभुः।
पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनुं घनामातनुतां स कण्टकैः॥५३॥

प्रसीदेति। हे दमयन्ति! तस्मै इन्द्राय प्रसीद प्रसन्ना भव। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। जगत्प्रभुः स इन्द्रः सन्ततं तनुं निजाङ्गं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैरत एव पुलोमजायाः शच्याः

लोचनयोस्तीक्ष्णकण्टकैर्निशितबर्बुरादिद्रुमावयवविशेषैस्तथा व्यथाकरैः सपत्नीभावैरित्यर्थः। कण्टकैः पुलकैः 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः' इति उभयत्रापि वैजयन्ती। घनां सान्द्रामातनुतां करोतु, शच्याः सपत्नी भवेत्यर्थः। अत्र पुलकेषु कण्टकत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ॥ ५३ ॥

हे दमयन्ति ! उन (इन्द्र) के लिये प्रसन्न होवो, संसारके स्वामी (वे इन्द्र) तुम्हारे शरीरके सङ्ग (आलिङ्गनादि स्पर्श) से उत्पन्न (तथा सौतमें प्रेम करनेसे इन्द्राणीके नेत्रोंके लिये तीक्ष्ण काँटे) रोमाञ्चोंसे शरीरको सर्वदा परिपूर्ण करें। [तुम्हारे आलिङ्गनादिसे जब इन्द्रके शरीरमें पूर्णतया रोमाञ्च होगा, तब सौतमें प्रेम करनेके कारण वह रोमाञ्च इन्द्राणीके नेत्रोंके तीक्ष्ण काँटोंके समान मालूम पड़ेगा। अथ च—सौतके शरीरसे उत्पन्न सन्तानको पतिके क्रोडमें देखनेसे दूसरी सौतके नेत्रोंमें काँटे-जैसा चुभता है, उसे वह नहीं सहन करती, अतः तुम्हारे शरीरके सङ्गसे उत्पन्न कण्टक (रोमाञ्च, पक्षा०—सन्तान) को पति इन्द्रके शरीरमें देखनेसे इन्द्राणीको काँटे चुभने-जैसी वेदना होगी॥ तुम इन्द्रको वरण करो] ॥ ५३ ॥

अबोधि[1] तत्त्वं दहनेऽनुरज्यसे स्वयं खलु क्षत्रियगोत्रजन्मनः ।
विना तमोजस्विनमन्यतः कथं मनोरथस्ते वलते विलासिनि ॥५४॥

अबोधीति। हे विलासिनि ! विलासशीले ! "वौ कषलसकत्थस्रम्भ" इति घिनुण्प्रत्ययः। तत्त्वं त्वन्मनोरथस्वरूपमबोधि बुद्धम्। कर्मणि लुङ्। तदेवाह—स्वयं त्वमित्यर्थः। दहने जातवेदसि अग्निदेवे अनुरज्यसे अनुरक्तासि खलु। रञ्जेर्दैवादिकात् स्वरितेतः कर्तरि लट्। "अनिदिताम्" इत्यादिना अनुनासिकलोपः। कुतः, क्षत्रियगोत्रे जन्म यस्यास्तस्यास्ते ओजस्विवंशजाया इत्यर्थः। मनोरथः ओजस्विनं तमग्निं विनाऽन्यतोऽन्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः। कथं वलते प्रवर्तते न कथमपीत्यर्थः। एतेनोभयोरोजस्वित्वेन समागमानुरूप्याद्दहनानुरागित्वं ते युक्तमिति समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं व्यक्तमेव ॥ ५४ ॥

स्वयं (विना किसीकी प्रेरणा किये ही) अग्निमें अनुरक्त हो रही हो तुम्हारे मनोरथका स्वरूप मैंने समझ लिया। क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न हुई तुम्हारा मनोरथ (अभिलाषा, पक्षा०—मनोरूपा या मनके समान तीव्रगामी रथ) उस तेजस्वी (अग्नि) के विना दूसरे (तेजसे हीन किसी व्यक्ति) में प्रवृत्त होता है ? अर्थात् नहीं होता है। [तुम क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न होनेसे तेजस्विनी हो, और तेजस्विनीका तेजस्वी व्यक्ति में ही अनुराग होना उचित है, क्योंकि तेजस्वी व्यक्तिका मनके तुल्य रथ या चाहना अन्य किसी ब्राह्मणादि शान्त व्यक्तिके प्रति कभी नहीं जाता, अतः तुम्हारा अग्निमें स्नेह करना ठीक है]॥

---

१. "असंशयं रज्यसि जातवेदसि" इति पाठान्तरम्।

त्वयैकपत्न्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्यं न मनः कथञ्चन ।
हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिता ॥५५॥

न च दाहाद्भेतव्यमित्याह—त्वयेति । एकपत्न्या मुख्यपतिव्रतया, अत एव त्वया तनुतापशङ्कया देहदाहसम्भावनया वा ततोऽग्नेर्मनः कथञ्चन कथञ्चिदपि न निवर्त्यं न निवर्तयितव्यं, वृतेर्ण्यन्ता "दचो यदिति" यत्प्रत्ययः । कुतस्तस्याग्नेः परीक्षणक्षणे अग्निदेवेन पातिव्रत्यपरीक्षावसरे सतीषु विषये हिमेनोपमा साम्यं यस्यास्सा वृत्तिः। शतशः शतकृत्वो निरूपिता निर्धारिता, न तु घुणाक्षरवत् सकृदित्यर्थः । तस्मात् त्वया न भेतव्यं प्रत्युत स एव साध्वीं त्वां दग्धुं बिभेतीति भावः। अत्र पूर्ववाक्यस्यैकपत्नीपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकमेकं काव्यलिङ्गम्, तस्याप्युत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकञ्चेत्यनयोः सङ्करः ॥ ५५ ॥

मुख्य पतिव्रता तुमको (अपने) शरीरके सन्तापकी शङ्कासे उस (अग्नि) से मनको किसी प्रकार नहीं लौटाना चाहिये अर्थात् तुम्हें अग्निमें ही अनुरक्त रहना चाहिये; (क्योंकि) परीक्षा (सतीत्व आदिकी परीक्षा) के समयमें उस (अग्नि) का व्यवहार पतिव्रताओं (के विषय) में सैकड़ों वार (अथवा—सैकड़ों पतिव्रताओंमें) हिम (बर्फ) के समान (ठण्डा) निश्चित हो चुका है । [यह प्रसिद्ध एवं सबके अनुभवसे सिद्ध बात है कि अग्नि सन्तापकारक है, परन्तु जब-जब सतियोंकी परीक्षा हुई है तब तब उनके विषयमें अग्नि सन्तापकारक अर्थात् उष्ण न होकर शीतल हो गया है, और तुम भी सतियोंमें प्रधान हो, अतः तुम्हें अग्निसे सन्तापजन्य पीडा होनेका भय नहीं करना चाहिये] ॥५५॥

स धर्मराजः खलु धर्मशीलया त्वयास्ति चित्तातिथितामवापितः ।
ममापि साधु[1] प्रतिभात्ययं क्रमश्चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः ॥५६॥

स इति । अथवा स प्रसिद्धो धर्मराजो यमः धर्मं शीलयतीति धर्मशीला धर्मचारिणी । "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" । तया त्वया चित्तातिथितां चित्तगोचरत्वमवापितोऽस्ति खलु ? कामितः किमित्यर्थः । खलुशब्दो जिज्ञासायाम् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । तथा चेद्वरमित्याह—ममाप्ययं क्रमः क्रमणं प्रवृत्तिः साधु यथा तथा प्रतिभाति परिस्फुरति । तथा हि—योग्येन सह योग्यस्य समागमः सम्बन्धश्चकास्ति शोभते, उभयोर्धार्मिकत्वादिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५६ ॥

धर्मशील तुमने धर्मराजको मनका अतिथि बनाया है अर्थात् तुम धर्मराजको मनसे चाहती हो क्या ? । मुझे भी यह क्रम (प्रवृत्ति) अच्छी जचती है; क्योंकि योग्यके साथ योग्यका (ही) सङ्गम शोभता है । ['धर्मशील तुम धर्मराजको चाहती हो' इस विषयमें मेरी भी सम्मति है, अत एव तुम धर्मराज (यम) को अवश्य वरण करो] ॥ ५६ ॥

---

१. "साधुः" इति पाठान्तरम् ।

अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवै[1]रगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि ।
धुतावधिं कालममृत्युशङ्किता निमेषवत्तेन नयस्व केलिभिः ॥ ५७ ॥

अजातेति । हे भैमि! अगस्त्यभासा निर्मलत्विषि दिशि दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थः । तेन धर्मराजेन सह । "वृद्धो यूने"ति ज्ञापकात् सहाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया । अविद्यमानं मृत्युशङ्कितं मरणशङ्का यस्याः सा सती अन्तकस्यैवात्मदासत्वादिति भावः । अजातो विच्छेदलवो विघ्नलेशो येषु तैः स्मरोत्सवैः सम्भोगैरेव केलिभिर्विनोदैः धुतोऽवधिरन्तो यस्य तमनन्तकालं निमेषवत् निमेषतुल्यं नयस्व यापय । वरान्तरस्वीकारे दुर्लभमिदं सौभाग्यमिति भावः ॥ ५७ ॥

अगस्त्य (अगस्त्य मुनि या अगस्त्य नक्षत्र) के प्रकाशसे निर्मल कान्तिवाली दिशा (दक्षिण दिशा) में उस (यम) के साथ (यमके ही अपना पति होनेसे) मृत्युकी शङ्कासे रहित होकर लेशमात्र भी भङ्ग नहीं होने वाली कामके उत्सवरूप (पाठा०—कामसे उत्पन्न) क्रीडाओंसे निरवधि अर्थात् अनन्त समयको निमेषके समान व्यतीत करो । [अगस्त्य मुनि प्रसन्न होकर यमकी दक्षिण दिशाको निर्मल करते हैं, उस दिशामें; और लोगोंके मारनेवाले होने पर भी पति होनेसे अपने मरनेकी शङ्का छोड़कर निरन्तर होनेवाली कामक्रीडासे अनन्त समयको निमेष मात्र समयके समान (सुख का बहुत अधिक समय भी अत्यन्त थोड़ा ज्ञात होता है अतः अधिक आनन्द दायक होने से अनन्त समय भी तुम्हें निमेषके बराबर मालूम पड़ेगा) व्यतीत करो । तुम धर्मराजको वरण कर अनन्त समय तक उनके साथ काम क्रीडा करो] ॥ ५७ ॥

शिरीषमृद्वी वरुणं किमीहसे पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवम् ।
विहाय सर्वान् वृणुते स्म किन्न सा निशापि शीतांशुमनेन हेतुना ॥

शिरीषेति । अथवा शिरीषमृद्वी त्वं पयःप्रकृत्या जलस्वभावेन वरुणशरीरस्य तथात्वात् कारणगुणवशेनेत्यर्थः । मृदुवर्गे वासवमिन्द्रं श्रेष्ठं वरुणमीहसे किमिच्छसि वा ? तदपि योग्यमेवेति शेषः । तथा हि—सा मृदुस्वभावा निशापि अनेनैव मृदुस्वभावत्वेन हेतुना कारणेन । "सर्वनाम्नस्तृतीया च" इति तृतीया । सर्वांस्तीक्ष्णान् सूर्यादीन् विहाय शीतांशुं न वृणुते स्म किम् ? वृणुत एव । दृष्टान्तालङ्कारः ॥५८॥

शिरीष (के फूल) के समान कोमल तुम जल-प्रकृतिक होनेसे कोमल पदार्थोंके इन्द्र अर्थात् सबसे अधिक कोमल वरुणको चाहती हो क्या ? वह (विख्यात) रात्रि भी इसी कारण सबोंको छोड़कर (कठिन पदार्थों या सूर्य आदि कठिन ग्रहों) को छोड़कर ठण्डे किरणों वाले चन्द्रमा को नहीं वरण करती है क्या ? अर्थात् अवश्य वरण करती है । [जिस प्रकार कोमल स्वभाववाली रात्रि अन्य ग्रह या कठिन पदार्थों को छोड़ कर कोमल चन्द्रमा को वरण करती है, उसी प्रकार शिरीषके-पुष्पोंके समान कोमलाङ्गी तुम जलस्वभाव

---

१. "स्मरोद्भवैः" इति पाठान्तरम् ।

होनेसे अतिशय कोमल वरुणको वरण करना चाहती हो तो यह चाहना उत्तम है ॥ [मृदु प्रकृति होनेके कारण तुम भी अन्य इन्द्र, अग्नि, यमको छोड़कर अतिशय कोमल प्रकृति वरुण को वरण करो] ॥ ५८ ॥

असेवि यस्त्यक्तदिवा दिवानिशं श्रियः प्रियेणानणुरामणीयकः ॥
सहामुना तत्र पयःपयोनिधौ कृशोदरि! क्रीड यथामनोरथम् ॥५९॥

असेवीति । हे कृशोदरि ! अनणु महद्रामणीयकं रमणीयत्वं यस्य सोऽतिरमणीयो यः पयःपयोनिधिः त्यक्ता द्यौः येन तेन श्रियः प्रियेण लक्ष्मीपतिना दिवा च निशा च दिवानिशमहोरात्रयोरित्यर्थः। द्वन्द्वैकवद्भावे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। असेवि सेवितः । तत्र पयःपयोनिधौ क्षीराब्धौ अमुना वरुणेन सह यथामनोरथं यथेच्छं क्रीड, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः ॥ ५९ ॥

लक्ष्मीके पति (विष्णु) ने स्वर्गको छोड़कर रात-दिन अतिशय सौन्दर्यवाले जिसका आश्रय किया है, हे कृशोदरि ? उस क्षीरसमुद्र (या समुद्र) में इस (वरुण) के साथ इच्छानुसार क्रीडा करो । [स्वर्गको भी छोड़कर विष्णु भगवान् रात-दिन पयोनिधिमें रहते हैं, अतः ज्ञात होता है कि वह स्वर्गसे भी अधिक सुन्दर है, और वह पयोनिधि इस वरुणको स्वीकार करनेसे इच्छापूर्वक क्रीडा करनेके लिए तुम्हें प्राप्त हो रहा है, अतएव तुम वरुणको स्वीकारकर पयोनिधिमें विष्णुके समान क्रीडा करो] ॥ ५९ ॥

इति स्फुटं तद्वचसस्तयादरात् सुरस्पृहारोपविडम्बनादपि ।
कराङ्कसुप्तैककपोलकर्णया श्रुतञ्च तद्भाषितमश्रुतञ्च तत् ॥ ६० ॥

इतीति । इतीत्थं स्फुटं स्फुटार्थं तत्पूर्वोक्तं तद्भाषितं नलवाक्यं तद्वचसो नलवचसः आदरात् सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तद्वचनस्यानुरागाच्चेत्यर्थः। सुरेष्विन्द्रादिषु स्पृहाया अभिलाषस्यारोप एव विडम्बनं परिहासः तस्मादपि कारणात् कराङ्के करोत्सङ्गे सुप्तं विश्रान्तमेकं कपोलकर्णं द्वन्द्वादौ श्रुतस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादेककपोल एककर्णश्च यस्यास्तयेत्यर्थः। तया दमयन्त्या श्रुतमश्रुतञ्च सुरस्पृहारोपरोषात् करतलेनैकं कर्णं पिधाय नलादरादेकेन श्रुतं नतु द्वाभ्यामित्यर्थः। एककपोलरोधस्तु चिन्तावशादिति मन्तव्यम् । अत्रादरविडम्बनयोः श्रुताश्रुताभ्यां हेतुहेतुमद्भावेन यथासङ्ख्यसम्बन्धात् यथासङ्ख्यालङ्कारः ॥ ६० ॥

इस प्रकार (श्लो० ३८-५९) स्पष्ट नलके वचनको एक हाथ पर कपोल तथा कानको रखी हुई उस (दमयन्ती) ने उस (नलाकृति दूत) के वचनको आदरसे तथा देवोंमें स्पृहाके आरोपकी विडम्बनासे क्रमशः सुना भी और नहीं भी सुना । [दमयन्ती नलाकृतिको दूतमें देखकर उनके वचन को सुननेमें उत्सुक थी और यह दूत इन्द्रादि देवोंमें स्पृहा रखनेवाली निःसार बातें कह रहा है जिनको कि पतिव्रताधर्मके विपरीत होनेसे नहीं सुनना चाहती थी, इस प्रकार हाथके ऊपर कपोल तथा कान रखे हुए दमयन्तीने नलाकृति सुन्दर होनेके आदरसे

उस वचनको सुना तथा देवविषयक स्पृहासे परिपूर्ण होनेसे निःसार उस बातको नहीं सुना। हाथपर कपोल तथा कानके रखनेसे पतिव्रता दमयन्तीने एक कान बन्द कर लिया था, अतः एक कानके द्वारा सुना गया वचनका आधा सुना जाना उचित ही है। हाथपर कपोल रखनेसे दमयन्तीका उक्तबातको सुनते हुए चिन्तित होना सूचित होता है] ॥ ६० ॥

चिरादनध्यायमवाङ्मुखी मुखे ततः स्म सा वासयते दमस्वसः ।
कृतायतश्वासविमोक्षणाथ तं क्षणाद्बभाषे करुणं विचक्षणा ॥ ६१ ॥

चिरादिति । ततो नलवाक्यानन्तरं सा दमस्वसा दमयन्ती अवाङ्मुखी चिन्ताभरात् नम्रमुखी सती मुखे वाचि चिराच्चिरमनध्यायं मौनम्, "अध्यायन्याये"त्यादिना घञन्तो निपातः । "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम् । वासयते स्म वासितवती, लटि "लट् स्मे" इति भूते लट् । "न पादम्" इत्यादिना वसेर्ण्यन्तात्तस्य परस्मैपदप्रतिषेधात् "णिचश्चे"त्यात्मनेपदम् । किन्तु विचष्ट इति विचक्षणा वक्त्री सा "अनुदात्तेतश्च हलादे"रिति युच्प्रत्यये टाप् । "असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्य" इति ख्याञादेशाभावः । कृतमायतश्वासस्य विमोक्षणं विमोचनं यया सा सती दीर्घं निश्वस्येत्यर्थः । मोक्षयतेश्चौरादिकात् ल्युट् । तं नलं क्षणात् क्षणं विलम्ब्येत्यर्थः । करुणं दीनं यथा तथा बभाषे एते मौनश्वासावाङ्मुखत्वादयश्चिन्तानुभावा ज्ञेयाः । "ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृ"दिति लक्षणात् ॥ ६१ ॥

उसके बाद नीचे मुखकी हुई दमयन्तीने चिरकाल तक मुखमें अनध्याय को बसाया अर्थात् कुछ समय तक चुप रही। इस (चुप रहने) के बाद लम्बी सांसको छोड़ती हुई चतुर दमयन्ती क्षण (मुहूर्त) भरमें करुण (करुणायुक्त, अथवा—करुण पूर्वक, अथवा— ('अकरुण' पदच्छेद करके) अकरुण अर्थात् निष्ठुर, वचन) बोली—[मौन धारण करनेसे अधोमुखी होना तथा दीर्घ श्वास छोड़नेसे दूत—वचन सुननेसे दमयन्तीका चिन्तित होना सूचित होता है। दीर्घश्वास छोड़नेसे आँधी का आना और उसमें क्षणमात्र अनध्याय रखनेके बाद ही अध्ययनका आरम्भ करना धर्मशास्त्रके अनुसार उचित होनेसे दमयन्तीका वैसाही करना उसके 'विचक्षण' विशेषणकी औचित्य-प्रतीति कराता है] ॥ ६१ ॥

विभिन्दता दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः ।
प्रयातजीवामिव मां प्रति स्फुटं कृतं त्वयाप्यन्तकदूततोचितम् ॥ ६२ ॥

विभिन्दतेति । दुष्कृतिनीं पापिष्ठां पापोक्तिग्राहित्वादिति भावः । मम श्रुतिं श्रोत्रं दिगिन्द्राणामिन्द्रादीनां दुर्वाचिकानि दुष्टसन्देशा एव सूचयस्तासां सञ्चयैः समूहैर्विभिन्दता विदारयता परपुरुषप्रसङ्गत्वादिति भावः । त्वयापि प्रयातो जीवो जीवितं यस्यास्तां प्रेतामिव मां प्रति स्फुटं व्यक्तं यथा तथा अन्तकदूततायां यमदूतत्वस्योचितं (कर्म) कृतम् । पतिव्रतानां परपुरुषवार्तापि यमयातनाया नातिरिच्यत इति भावः ॥

तुमने भी अर्थात् नलके समान सुन्दर एवं सज्जन भी तुमने नहीं सुनने योग्य (इन्द्रादि

पर पुरुषोंके सन्देशको सुननेसे) पापी मेरे कानोंको दिक्पालोंके दुष्ट सन्देशरूपी सूइयोंके समूहों से छेदते हुए (अत एव) मरी हुई के समान मेरे प्रति स्पष्ट ही यमदूतके योग्य काम किया है। [सती होनेके कारण मेरे कानोंको परपुरुष सम्बन्धी कोई बात नहीं सुननी चाहिये, किन्तु मेरे कानोंने सुनकर पाप किया है और मैं मृतप्राय हो गयी हूं, तथा सुन्दर आकृति होनेसे मधुरभाषी होना उचित होने पर भी तुमने ऐसे कर्णकटु सन्देश रूपी सूइयोंसे मेरे कानोंको मर्माहत करते हुए यमदूतका ही वास्तवमें कार्य किया है। यमदूत भी मरे हुए व्यक्तिके अङ्गोंमें बहुत-सी सूइयोंको धसा-धसाकर उसे पीडित करते हैं। 'दुष्कृतिनीं' शब्द को 'मां' शब्दका विशेषण मानकर 'पापिनी मेरे प्रति' भी अर्थ हो सकता है। अथवा—'अदुष्कृतिनीं' अर्थात् पाप रहित कानोंको······। तुम इन्द्र आदि चारो दिक्पालोंके दूत होकर भी केवल यमके दूतका कार्य किया, यह सर्वथा अनुचित किया। अन्य भी बौद्ध आदि सर्वथा दोष होन श्रुति अर्थात् वेदको दुष्ट वचनोंसे दूषित करते हैं] ॥ ६२ ॥

त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमसीमयत्वाल्लिपिरूपभागिव[1] ।
श्रुतिं ममाविश्य भवद्दुरक्षरं सृजत्यदः कीटवदुत्कटा रुजः ॥ ६३ ॥

त्वदिति । त्वदास्यान्निर्यत् निर्गच्छत् ममालीकमारोपितत्वान्मिथ्याभूतं दुर्यशो दुःसमज्या तदेव मसी तन्मयत्वाल्लिपिरूपभाक् लिप्यक्षरतां प्राप्तमिव स्थितमदः इदं भवतो दुरक्षरमतः किमित्यादि दुर्वाक्यं कीटवद्दंशादिजन्तुवत् मम श्रुतिं श्रोत्रमाविश्य उत्कटा महत्तराः रुजः व्यथा सृजति जनयति । रूपकोत्प्रेक्षासङ्कीर्णेयमुपमा ॥

तुम्हारे मुखसे निकली हुई मेरी मिथ्या कीर्तिरूपी मषी (स्याही) मय होनेसे लिपि (लेख) रूपको प्राप्त (पाठा०—······मषीमयी तथा लिपिरूपको प्राप्त, अथवा—······मषीमय तथा सुन्दर लेखरूपको प्राप्त), यह आपका दुष्ट अक्षर (वाला वचन) मेरे कानमें घुसकर कीड़ेके समान तीव्र पीडा करता । [आपका मुख मषीपात्र (दावात) तुल्य है उससे इन्द्रादिके अनुराग विषयक मेरे अपयशके तुल्य मषीमय (अपयशके कृष्णवर्ण होनेसे उसको मषी (स्याही) कहना उचित ही है) अर्थात् स्याहीसे लिखा गया, तुम्हारा कहना, दुष्ट अक्षर वाला है और उसके सुननेसे मेरे कानों में ऐसी तीव्र पीडा हो रही है, जैसे बाहर से कानके भीतर प्रवेश किया हुआ कीडा तीव्र पीडा करता है। तुम्हारा सन्देश कर्णकटु एवं मुझ पतिव्रताके लिए अपकीर्तिकारक है, अतः उसे मैं कदापि स्वीकार नहीं करूंगी]॥६३॥

तमालिरूचेऽथ विदर्भजेरिता प्रगाढमौनव्रतयैकया सखी ।
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाह स्म[2] रसज्ञया मया ॥ ६४ ॥

तमिति । अथानन्तरं विदर्भजेरिता दमयन्तीचोदिता आलिः सखी तं नलमूचे । किमित्यत आह—सौम्य ! इयं सखी भैमी प्रगाढं दृढं मौनव्रतं यस्यास्तया एकया

१. "—मसीमयं सल्लिपि—" इति पाठान्तरम् । २. "स्वरसज्ञया" इति नारायणभट्टैर्व्याख्यातं पाठान्तरं युक्तमिति बोध्यम् ।

रसज्ञया जिह्वया तपां समाराधयति भजते । देवताराधने मौनं युक्तमिति भावः । मया मद्रूपया अन्यया रसज्ञया जिह्वया कामाभिज्ञया च भवन्तमाह स्म । अनन्त-रवाच्यं लज्जया स्वयं वक्तुमशक्ता मन्मुखेन वक्तीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

इस (दमयन्तीक इतना (श्लो० ६२–६३) कहनेके) के बाद दमयन्तीसे प्रेरित सखी बोली—(पक्षा०—दृढ मौनरूप व्रतको धारण करनेवाली) अर्थात् बिलकुल मौन एक रसज्ञा (जीभ, पाठा०—अपनी जीभ) से लज्जाको आराधना (मौन रहकर लज्जाको धारण) करती है, तथा दूसरी रसज्ञा (अपने रस अर्थात् अभिप्रायको जाननेवाली, पाठा०—अपनी रसज्ञा) मुझसे अर्थात् मेरे द्वारा आपके प्रति कहलाती है। [मेरी सखी दमयन्ती स्वयं कहने में लज्जित होकर अपने अभिप्रायको मेरे द्वारा आपके प्रति कहला रही है। दृढ व्रतमें आसक्त व्यक्तिको कार्यान्तरासक्त होनेसे आराध्यदेवकी आराधनामें त्रुटि होनेका भय होनेसे उसका उस कार्यान्तरमें अपने भावको जाननेवाले दूसरे व्यक्तिको नियुक्त करना उचित ही है] ॥ ६४ ॥

तमर्चितुं[1] संवरणस्रजा नृपं स्वयंवरः सम्भविता परेद्यवि ।
ममासुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरैस्तदन्तरायः पुनरेष वासरः ॥ ६५ ॥

स्वयमेव दमयन्ती भूत्वाह—तमित्यादि । मम संवरणस्रजा तं नृपं नलमर्चितु-मर्चयितुमर्चतेर्भौवादिकात्तुमुन् । परेद्यवि परेऽहनि "सद्यः परुत्" इत्यादिना निपा-तनात् साधुः । स्वयंवरः सम्भविता सम्भविष्यति । किंतु पुरः सरन्तीति पुरःसराः पुरोगास्तैः "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः"रिति टप्रत्ययः । ममासुभिः प्राणैः सह गन्तुं मनो यस्य स गन्तुमनाः प्राणानादाय गन्तुकाम इत्यर्थः । "तुं काम मनसोरपि" इति मकारलोपः । एष वासरः पुनः वासरस्तु तस्य स्वयंवरस्यान्तरायो विघ्नः । दिनमा-त्रविलम्बोऽपि दुःसह इति भावः । एतेन कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यमुक्तम् ॥ ६५ ॥

मेरी वरणमालासे उस राजा (नल) की पूजा (वरणमाला पहनाकर उन्हें वरणद्वारा उनका आदर) करनेके लिये कल स्वयंवर होगा, आगे जानेवाले मेरे प्राणोंके साथ जानेकी इच्छा करनेवाला (मुझे पहले मारकर व्यतीत होनेवाला) यह (आजका) दिन उस (स्वयंवर) का विघ्नरूप है। [जिस राजा नलके लिये मेरी इतनी उत्सुकता है कि व्यतीत होता हुआ भी यह दिन मुमूर्षु व्यक्तिके प्राणोंके समान नहीं व्यतीत हो रहा है अर्थात् एक दिनका विलम्ब भी मुझे असह्य हो रहा है, तो उनको छोड़कर मैं इन्द्रादिको वरण करूंगी यह कैसे सम्भव है ? अर्थात् कदापि ऐसा होना सम्भव नहीं है] ॥ ६५ ॥

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी ।
नखैः किलाख्यायि विलिख्य पक्षिणा तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः ॥

[1] नारायणभट्टैरिमौ श्लोकौ (६५-६६) "श्लोकद्वयमेकान्वयम्" इत्युक्त्वा सहैव व्याख्यातौ ।

ततः किमत आह—तदिति । तत्तस्मात् औत्सुक्यादद्य विश्रम्य मे मम दयालुरेधि भव, अद्यास्मद्गेहे निवासेन मामनुगृहाणेत्यर्थः । अस्तेर्लोटि सिपि "हुझल्भ्यो हेर्धिः", "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च"त्येकारः । तन्निवासस्य फलमाह—भवन्तं विलोकत इति भवद्विलोकिनी सती दिनं निनीषामि, त्वद्विलोकनेन दिनं नेतुमिच्छामीत्यर्थः । मद्दर्शनात् कथं ते कालयापनमित्याशङ्क्याह—स मत्प्रियो नलः पत्त्रिणा दूतहंसेन नखैर्विलिख्य तवैव रूपेणाकारेण समः सदृश आख्यायि किल, आख्यातः खलु । ख्यातेः कर्मणि लुङ् । चिणो युगागमः । अतस्त्वद्दर्शनात् दिनं नेष्यामि । सदृशदर्शनादीनां कालविनोदनसाधनत्वाद्वियोगिनामिति प्रागेवोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ६६ ॥

(केवल आजका दिन नल-वरणमें विघ्नस्वरूप हो रहा है), अतएव आज विश्रामकर (यहां रुककर) आप मुझपर दयालु होवें, (क्योंकि) आपको देखती हुई मैं (इस) दिनको बिताना चाहती हूं । पक्षी अर्थात् राजहंसने नखोंसे लिखकर आपके ही रूपके समान उस मेरे प्रिय (नल) को बतलाया है, [अतएव प्रियके समानाकार आपको उस हृदयस्थ प्रियकी बुद्धिसे देखनेसे मुझे परपुरुष-दर्शनजन्य दोष भी नहीं लगेगा, इस प्रकार आपको देखते रहनेसे मेरे प्राणोंको बचाकर आप दयालु बनिये] ॥ ६६ ॥

दृशोर्द्वयी ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखेन्दुलक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते ।
असावपि श्वस्तदिमां नलानने विलोक्य साफल्यमुपैतु जन्मनः ॥६७॥

अद्येह विश्रामे न केवलं ममैव साफल्यं किन्तु तवापीत्याह—दृशोरिति । हे सौम्य ! विधिना स्रष्ट्रा ते तव दृशोर्द्वयी वञ्चितास्ति विफलीकृता वर्तते । यत् यस्मात् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न वीक्षते स्वमुखस्य स्वचक्षुषा द्रष्टुमशक्यत्वादिति भावः । तत्तस्मादसौ ते दृग्द्वय्यपि श्वः परेऽहनि इमां त्वन्मुखलक्ष्मीं नलानने विलोक्य उभयनिष्ठत्वात् समानधर्मस्येति भावः । जन्मनः साफल्यमुपैतु । अत्र दूते सुरबुद्ध्या दूतनलमुखलक्ष्म्योर्भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

तुम्हारी भी दोनों आँखें भाग्य (या ब्रह्मा) से वञ्चित (ठगी गयी) हैं जो तुम्हारे मुखकी शोभाको नहीं देखती हैं, इससे ये आँखें भी नलके मुखमें इस शोभाको देखकर जन्मकी सफलताको प्राप्त करें । [कोई भी व्यक्ति अपने मुखकी शोभाको अपने नेत्रोंसे नहीं देखता और दर्पण आदिमें भी प्रत्यक्ष शोभाको नहीं देखता, किन्तु उसके प्रतिबिम्बको देखता है, अतः यदि तुम आज यहां रहकर विश्राम कर लोगे तो मेरे प्राण बचानेसे परोपकार करनेका पुण्यभागी बनोगे तथा अपने मुखकी कान्तिको ही मेरे प्रिय नलके मुखमें देखकर अलभ्यलाभ (क्योंकि ऐसा दूसरेके लिये असम्भव ही है) होनेसे अपने नेत्रोंको भी सफल कर लोगे । इस कारण आज तुम्हें 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' या 'एक पन्थ दो काज' इस नीतिवचनोंका अनुसरणकर यहां रुक जाना चाहिये] ॥ ६७ ॥

ममैव पाणौकरणेऽग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसम्पादितमङ्ग ! सङ्गतम् ।
न हा सहाधीतिधृतः स्पृहा कथं तवार्यपुत्रीयमजर्यमर्जितुम् ॥६८॥

ममैवेति । किञ्च अङ्ग ! भो ! मम पाणौकरणे पाणिग्रहण एव "नित्यं हस्ते पाणावुपयमने" इति पाणौ शब्दस्य गतित्वात् "कुगतिप्रादय" इति समासः। अग्निसाक्षिकं यथा तथा विवाहाग्निसन्निधावेवेत्यर्थः। प्रसङ्गात् स्वयंवरप्रसङ्गात् सम्पादितं सङ्गतमुभयोरानुरूप्याद्युक्तम् । आर्ययोः श्वशुरयोः पुत्र आर्यपुत्रो भर्ता नलः तदीयमार्यपुत्रीयं, "वृद्धाच्छः" न जीर्यतीत्यजर्यं सङ्गतं रामसुग्रीवयोरिव स्थिर-सख्यमित्यर्थः। "अजर्यं सङ्गत"मिति यत्प्रत्ययान्तो निपातः। अर्जितुं सम्पादयितुं सहाधीतिः सब्रह्मचारिता तां धारयतीति धृत् सारूप्यभृदित्यर्थः । धृधातोः क्विप्। तस्य तव स्पृहा कथं नास्ति। हेति विषादे। सर्वथा स्पृहणीया तत्सङ्गति-रित्यर्थः ॥ ६८ ॥

हे अङ्ग ! मेरे विवाहमें ही अग्नि-साक्षिपूर्वक प्रसङ्ग (इन्द्रादिके दूतकार्य-सम्बन्धी सुअवसर) से प्राप्त यह (नलके साथ आपकी) मैत्री है (इन्द्रादिके दूतकार्यके सुअवसरमें मेरे विवाहमें ही अनायास प्राप्त तथा विवाहकी अग्निके सामने होनेसे दृढतम मैत्री तुम्हारी नलके साथ हो जायगी. समानकी मैत्री समानके साथ अनायास ही होनेसे यह अवसर तुम्हें नहीं खोना चाहिये)। कुल-शील-रूप आदिसे समान तुम्हारा तथा श्रेष्ठ माता-पितावाले नलकी कभी शिथिल नहीं होनेवाली मित्रताको प्राप्त करनेके लिये तुम्हें चाह क्यों नहीं होती ? हाय ! खेद है। (अथवा—हे अङ्ग ?················प्रसङ्गसे प्राप्त दोनोंके योग्य होनेसे योग्यतम, श्रेष्ठ माता-पिताके पुत्र (नल) की दृढ मित्रता पानेकी चाहना तुम्हें क्यों नहीं होती ? हाय ! खेद है)। [संसारमें एक कार्यके प्रसङ्गमें अनायास ही यदि दूसरा कार्य भी सिद्ध होनेकी आशा होती है तो बुद्धिमान् व्यक्ति उस लाभका त्याग नहीं करते, अतएव तुम्हें इस इन्द्रादि दूतकार्यके प्रसङ्गसे अनायास प्राप्त मैत्रीका त्याग नहीं करना चाहिये। साथ ही जैसे तुम उत्तम कुलोत्पन्न एवं शील सम्पन्न हो, वैसे नल भी हैं अग्निके साक्षी होनेसे वह मैत्री अत्यन्त दृढतम होगी, ऐसे उत्तम लाभको तुम नहीं चाहते यह खेद एवं आश्चर्य है। और नलके साथ तुम अध्ययन किये हो अर्थात् कुल-शीलादिके समान होनेसे तुम दोनोंका सतीर्थ्य-भाव है तथा सतीर्थ्यके साथ मैत्री करना भला कौन नहीं चाहता ? तथा जिस प्रकार इन्द्रादिके साथ मेरा विवाह करानेके लिये तुम प्रयत्नशील हो, वैसे नलके साथ भी विवाह करानेके लिये तुम्हें प्रयत्न-शील होना चाहिये, क्योंकि इन्द्रादि देव तो केवल १-१ दिशाओंके पति हैं और नल राजा सब दिक्पालोंका अंश होनेसे इन्द्र आदिकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, अतएव तुम एक रात रहकर नलसे मित्रता अवश्य करो। 'अङ्ग' पदके सम्बोधन करनेसे—'तुम मेरे अङ्गतुल्य अति निकटके व्यक्ति हो अतः इतना अधिक तुमको मैं कह रही हूं' यह ध्वनित होता है] ॥ ६८ ॥

दिगीश्वरार्थं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलिः ।
प्रसद्यतां नाद्य निगाद्यमीदृशं दधे दृशौ बाष्परयास्पदे भृशम् ॥६९॥

दिगीश्वरेति । किञ्चाहं त्वया दिगीश्वरार्थं कथञ्चनापि कदर्थनीया निर्बन्धनीया नास्मि, अयमञ्जलिः कृतः प्रार्थये त्वामित्यर्थः । प्रसद्यतां प्रसन्नेन भूयतां, भावे लोट् । अद्य ईदृशं दिगीशसन्देशरूपं न निगाद्यं न वाच्यम्, "ऋहलोर्ण्यत्", "गद-मदे"त्यादिनानुपसर्गादेव यतो विधानात् । किं बहुना—भृशं बाष्परयास्पदे अश्रु-वेगाश्रयौ दृशौ दधे धारयामि रोदिमीत्यर्थः । नैवं दुःखाकर्तुमुचितमिति भावः ॥६९॥

तुम दिक्पालोंके लिये मुझे किसी प्रकार मत कदर्थित करो (सताओ) मैं हाथ जोड़ती हूं, प्रसन्न होवो, आज ऐसा मत कहो, क्योंकि (ऐसा करनेसे मैं अधिक अश्रुयुक्त नेत्रवाली होती हूं अर्थात् रोने लगती हूं । [कल ही मेरे शुभ विवाहका स्वयंवर है, अतएव प्रसन्नताके अवसरपर मुझसे तुम दिक्पालोंके अनुराग आदिका वर्णन कदापि न करो, क्योंकि वैसा करनेसे मैं पीड़ाके वेगको नहीं रोक सकनेके कारण रो पड़ती हूं और विवाह–जैसे शुभ कार्यमें रोना अमङ्गलसूचक है, अतः मैं हाथ जोड़ती हूं, तुम मेरे ऊपर कृपा करो और इस सम्बन्ध में आगे कुछ मत कहो] ॥ ६९ ॥

वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेक्षे नलभामपीहया ।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः ॥७०॥

वृणे इति । किञ्च दिगीशान् वृणे इति का कथा, अत्यन्तासम्भावितमित्यर्थः । तथा हि—नलस्य भां कान्तिमपि त्वन्निष्ठामिति शेषः । त्वयीति त्वयि परपुरुषे स्थिते इति हेतोः तथेहया तादृगनुरागेण नेक्षे । इह त्वयि या नलभा तां नलभा-मिति केचित् योजयन्ति । नन्वेवं सुरावधीरणे बलवद्विरोध इत्याशङ्क्याह—सतीव्रते पातिव्रत्ये एवाग्नौ जीवितं तृणयामि तृणीकरोमि, जीवितास्पृहाणां पतिव्रतानां न कुतश्चिद्भयमिति भावः । स्मरभयन्तु दूरापास्तमित्याह—स्मरस्तु तत्प्रसिद्धं किं वस्त्वस्तु कः पदार्थो भवेत् न कोऽपीत्यर्थः । कुतः यः स्मरो भस्म भस्मीभूतः व्रतैक-जीविनां सोऽपि तुच्छः किं करिष्यतीत्यर्थः । चारित्रैकपरायणाः सत्यो न किञ्चिद्गण-यन्तीति भावः ॥ ७० ॥

'मैं दिक्पालोंको वरण करूँगी' इसकी क्या बात है ? (दिक्पालोंको वरण करनेकी कोई बात ही नहीं है), तुममें नलकी कान्तिको भी (मैं) वैसा (अनुरागके साथ) चेष्टा (कटाक्षादि) से नहीं देखती हूं (अथवा—यहां स्थित तुममें नलकी कान्तिको भी मैं उस प्रकार (नल–विषयक अनुरागके समान) नहीं देखती हूं । अथवा—यहां स्थित तुममें नलकी कान्तिको भी मैं वैसी (जैसी हंसने नखसे नलका चित्र बन कर दिखलाया था वैसी) कान्तिको भी नहीं देखती हूं । इस प्रकार इन्द्रादि दिक्पालोंके वरण नहीं करनेमें उनके साथ विरोध होनेका भी मुझे भय नहीं है, क्योंकि नलके नहीं मिलनेपर सतीव्रत-

रूपी अग्निमें (अथवा—तीव्रता (काष्ठादिके अधिक एवं सूखा होनेसे अधिक ज्वाला) सहित अग्निमें) जीवनको तृणतुल्य कर दूंगी अर्थात् धधकती अग्निमें तृणके समान शीघ्र जलकर मर जाऊंगी। कामदेव तो क्या वस्तु है? अर्थात् कुछ नहीं, जो (कामदेव) भस्ममात्र अर्थात् भस्मवत् अकिञ्चित्कर है अथवा—जो कामदेव भस्म है वह क्या वस्तु है? अर्थात् अत्यन्त तुच्छ वस्तु है। अथ च—जो 'स्मर' (स्मरणीय—स्मृतिमात्रमें होने योग्य—काममें आने योग्य नहीं अर्थात् मृत) है वह क्या वस्तु है? अतएव कामदेव भस्मवत् होनेसे सामान्य व्यक्तिका भी कुछ नहीं कर सकता तो मुझ जैसी सतीका क्या कर सकता है?॥

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया ॥७१॥

न्यवेशीति। हे सौम्य! यो धर्माख्यः चिन्तामणिर्जिनेन देवेन अर्हता रत्नत्रितये जैनपरिभाषया सद्दृष्टिज्ञानवृत्ताख्ये रत्नत्रये न्यवेशि निवेशितः "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु"रिति तैरुक्तत्वात्। विशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। स धर्मचिन्तामणिः यया स्त्रिया कपाली हरः तत्कोपानलभस्मनस्तद्रूपस्य कामस्य कृते, कृत इति तादर्थ्येऽव्ययम्। उज्झितस्त्यक्तः तया स्त्रिया तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं विस्तृतम्। कामाख्यभस्मान्धतया चरित्रत्यागिन्या स्त्रिया स्वकुलमेव भस्मसात् कृतं भवेदित्यर्थः। अतो नलैकव्रताया ममाग्रे महेन्द्रादिनामग्रहणमपि न कार्यमिति भावः॥७१॥

जिनेन्द्र (या बुद्ध) ने जिस (धर्मरूप चिन्तामणि) को रत्नत्रय (तीन रत्नों—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप तीन रत्नों) में रखा है, उस धर्मरूपी चिन्तामणिको जिस स्त्रीने कपालधारी (शिवजी, पक्षा०—कपाल धारण करनेसे अकिञ्चन व्यक्ति-विशेष) के क्रोधाग्निसे भस्म अर्थात् कामदेव के लिये छोड़ दिया (कामवशीभूत होकर चारित्रका त्यागकर दिया), उस स्त्रीने अपने वंशमें वही भस्म फैला दिया। [जिनेन्द्रने सम्यक् चरित्ररूपी धर्मचिन्तामणिको तीन रत्नों (रत्नत्रय) में गिना है, ऐसे उत्तम पदार्थको जिसने कपालधारी (अकिञ्चन भिक्षुक) के क्रोधाग्निसे भस्म अर्थात् कामदेवके लिये त्याग करती है, वह उत्तम एवं निर्मल पदार्थपर भस्म फेंकनेके समान अपने निर्मलकुलको दूषित कर देती है; अतः मैं अपने चारित्ररूपी धर्मका त्यागकर कुल में कलङ्क नहीं लगाऊंगी अर्थात् एक वार नलको वरणकर लेनेपर पुनः इन्द्रादिमेंसे किसीको वरण नहीं करूंगी] ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषरसौरसीरसौ गिरः स्वकन्दर्पहुताशनाहुतीः।
कृतान्तदूतं न तया यथोदितं कृतान्तमेव स्वममन्यतादयम् ॥ ७२ ॥

निपीयेति। असौ नलः पीयूषरसस्यामृतरसस्य उरसा निर्मिता औरसीः आत्मजाः सदृशीरित्यर्थः। "उरसोऽण् चे"त्यण्प्रत्ययः। संज्ञाधिकारादभिधेयनियम इति काशिका। स्वकन्दर्पहुताशनस्य निजकामाग्नेराहुतीरुद्दीपनीर्गिरो भैमीवाक्यानि

निपीय स्वमात्मानं तया भैम्या यथोदितं यथोक्तं तदनतिक्रमणेनेत्यर्थः । "यथासादृश्य" इत्यव्ययीभावः । कृतान्तदूतं नामन्यत किन्त्वदयं निर्दयं यथा तथा स्वं कृतान्तमेवामन्यत । दूतधर्मत्वात् निर्दाक्षिण्यं वक्ष्यामीत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

ये (नल) अमृत-रस-तुल्य तथा अपनी कामाग्निकी आहुतिरूप अर्थात् बढ़ानेवाली वाणी (दमयन्तीका कथन) सुनकर उसने जैसा यमका दूत कहा था (श्लो० ६६) वैसा नहीं, किन्तु अपनेको निर्दय यम ही माना (अथवा—अपनेको सम्यक् प्रकार यम ही माना) । [यमदूत तो केवल प्राणियोंको यमके समीप पहुंचा देते हैं, उन्हें निर्दयतापूर्वक दण्डित करनेवाला तो यम ही है, अतएव मैंने ऐसी पतिव्रताको इन्द्रादिका सन्देशसे जो कष्ट पहुंचाया है वह निर्दय यमके कार्य-जैसा है । ऐसे निर्दयतापूर्वक इन्द्रादिके दूत-कर्म करनेपर भी उनमें अननुरक्त तथा अपनेमें अनुरक्त दमयन्तीको देखकर नलका कामोद्दीपन होना उचित ही है] ॥ ७२ ॥

स भिन्नमर्मापि तदार्तिकाकुभिः स्वदूतधर्मान्न विरन्तुमैहत ।
शनैरशंसन्निभृतं विनिश्वसन् विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः ॥७३॥

स इति । विचित्रवाक्षु चित्रशिखण्डिनन्दनो बृहस्पतिः । 'जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः' इत्यमरः । स नलस्तस्याः भैम्या आर्त्या, निमित्तेन काकुभिः करुणोक्तिभिर्भिन्नमर्मापि विदीर्णहृदयोऽपि स्वदूतधर्मादकपटभूताद्विरन्तुं नैहत नैच्छत् । किन्तु स्वेच्छाभङ्गान्निभृतं विनिश्वसन् शनैरत्वरया अशंसदब्रवीत् ॥ ७३ ॥

उस दमयन्तीके पीडायुक्त वचनोंसे भिन्नमर्मवाले भी वे (नल) अपने दूत-धर्मसे विरत नहीं हुए । धीरेसे (दमयन्तीसे छिपाकर) दीर्घश्वास लेते हुए, आश्चर्यजनक बातों (के कहने) में बृहस्पति वे नल बोले—(अथवा—विरत नहीं हुए और दीर्घश्वास·········वे नल (कामपीडित होनेके कारण) धीरेसे बोले—) । [दमयन्तीके वचनोंसे कामपीडित होनेपर भी नल का दूत-कर्मसे विरक्त न होना उनका धीरोदात्त नायक होना सूचित करता है]

दिवोधवस्त्वां यदि कल्पशाखिनं कदापि याचेत निजाङ्गनालयम्[1] ।
कथं भवेरस्य न जीवितेश्वरी[2] न मोघयाच्ञः स हि भीरु! भूरुहः ॥७४॥

दिव इति । वक्ष्यमाणविभीषिकानुगुणमामन्त्रयते-हे भीरु ! भयशीले ! "भियः क्रुक्लुकनौ" इति क्रुप्रत्ययः । "ऊङुत" इत्यूङ् । "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" । दिवोधवः स्वर्पतिरिन्द्रः कदापि निजाङ्गनालयं कल्पशाखिनं त्वां याचेत यदि दुह्यादिपाठाद्द्विकर्मकत्वम् । तदा कथमस्येन्द्रस्य जीवितेश्वरी न भवेः भवेरेवेत्यर्थः । कुतः हि यस्मात्स भूरुहः कल्पवृक्षः न मोघयाच्ञः सफलप्रार्थनः ॥ ७४ ॥

(सामादि चार उपायोंके प्रयोगमें निपुण नल अष्टम सर्गमें इन्द्रादि दिक्पालोंका

---

१. "निजाङ्गणालयम्" इति पाठान्तरम् । २. "जीवितेश्वरा" इति "प्रकाश" सम्मतं पाठान्तरम् ।

दमयन्तीमें अनुराग वर्णन करनेसे साम, इस सर्गमें "अहो मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते" इत्यादि श्लोकों (९।३९—४५) से उन देवोंका अनुग्रह कहनेसे दान, "यदि त्वमुद्वन्धुमना विना नलम्" इत्यादि श्लोकों (९।४६—४९) से भेदका प्रदर्शन करनेके बादभी यहांसे भेद तथा दण्डका प्रयोग करते हुए दमयन्तीको इन्द्रादिके पक्षमें लानेकी चेष्टा करते हैं—) हे भीरु ! यदि स्वर्गाधीश (इन्द्र) अपने आँगनमें स्थित अर्थात् अत्यन्त निकटस्थ कल्पवृक्षसे तुमको कभी याचना करेंगे तो तुम इस (इन्द्र) की प्राणेश्वरी (पत्नी) कैसे नहीं होवोगी अर्थात् तुम्हें अवश्य ही इन्द्रकी पत्नी होना पड़ेगा: क्योंकि वह कल्पवृक्ष याचनाको विफल करनेवाला नहीं है। [इन्द्र स्वर्गके पति हैं और उनके आँगनमें ही कल्पवृक्ष है, अतएव तुम्हारे अस्वीकार करनेपर भी यदि इन्द्र चाहेंगे तो कल्पवृक्षसे तुम्हें मांगेंगे और दूसरे की किसी भी याचनाको विफल नहीं करनेवाला वह कल्पवृक्ष अपने स्वामी इन्द्रकी याचनाको कदापि विफल नहीं करेगा और तुम्हें इन्द्रके लिए दे देगा तो तुम्हें इन्द्रकी पत्नी बनना ही पड़ेगा, अतः अच्छा मार्ग यही है कि तुम स्वयं इन्द्रको स्वीकार कर लो] ॥ ७४ ॥

शिखी विधाय त्वदवाप्तिकामनां स्वयं हुतस्वांशहविः स्वमूर्तिषु ।
क्रतुं विधत्ते यदि सार्वकामिकं कथं स मिथ्यास्तु विधिस्तु वैदिकः ॥७५॥

शिखीति । शिखी अग्निः त्वदवाप्तिकामनां विधाय स्वमूर्तिषु स्वविग्रहेषु आहवनीयादिषु स्वयमेव हुतं स्वांशं स्वदेवताकं हविर्येन सः सार्वकामिकं सर्वकामप्रयोजनकं, "प्रयोजन" मिति ठक् । क्रतुं विधत्ते यदि तदा स वैदिको वेदावगतो विधिरनुष्ठानं कथं तु मिथ्यास्तु निष्फलः स्यात् । अत्र स्वशब्दत्रयेण क्रमादग्नेरेव कर्तृदेवताहवनीयादिरूपताप्रतिपादनात् कर्मणि प्रमादानवकाशः सूचितः । तस्माद्वेदप्रामाण्यादनलसादसीति सिद्धमिति भावः ॥ ७५ ॥

तुम्हें पानेकी इच्छाकर अपनी मूर्तियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्निरूप अग्नित्रय) में अपने अंशभूत हविष्यको स्वयं हवन करनेवाला अग्नि यदि सार्वकामिक (सर्वकार्यसाधक) यज्ञ करेंगे तो वह वैदिक विधि (यज्ञानुष्ठान क्रिया) मिथ्या कैसे होगी ? । [यहांपर अग्निको ही यजमान, देवता और आहवनीयका तीन 'स्व' शब्दों द्वारा प्रतिपादन किया गया है । जो अग्निदेव दूसरोंके द्वारा किये गये यज्ञका फल उन्हें देकर वैदिक विधिको सत्य करते हैं, तो वे तुम्हें पानेके लिए स्वयं यज्ञ करके अवश्य पा लेंगे, अतः अग्निको पहले स्वेच्छासे ही तुम स्वीकार कर लो] ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठतः करं वरं प्रदातुं वलिताद्बलादपि ।
मुनेरगस्त्याद्वृणुते स धर्मराड् यदि त्वदाप्तिं भण का तदा गतिः ॥७६॥

सदेति । स धर्मराड्यमः सदा सर्वदा तस्य धर्मराजस्याशां दिशम्, दक्षिणामधितिष्ठतोऽधिवसतः । अत एव बलादपि वरमेव करं बलिं प्रदातुं वलितात् प्रवृत्तादगस्त्यान्मुनेस्त्वदाप्तिं त्वत्प्राप्तिं वृणुते यदि, तदा का गतिः ? भण । वाक्यार्थः कर्म ॥

यम सर्वदा उन (धर्मराज) की दिशामें रहनेवाले तथा कर (राज-भाग) देनेके लिये आये हुए अगस्त्य मुनिसे बलपूर्वक भी तुमको वर मांग लेंगे (अथवा—बलपूर्वक स्वयं धर्मराजके पास कर देनेके लिए आये हुए अगस्त्य मुनिसे तुमको वर मांग लेंगे) तो क्या गति होगी ? कहो। [अगस्त्य मुनि सर्वदा धर्मराजकी दिशा दक्षिणमें रहनेसे उनके प्रजारूप हैं, अतएव वे कर देनेके लिए धर्मराजके पास आवेंगे तो धर्मराज तुम्हें पानेका ही वरदान कररूपमें अगस्त्य मुनिसे बलपूर्वक (राजाका बलपूर्वक प्रजासे कर लेना अनुचित नहीं है) भी मांगेंगे तो तुम्हें यमराजके लिए अगस्त्यजी अवश्य ही दे देंगे, इस प्रकार तुम धर्मराजके हाथसे किसी तरह नहीं बच सकती, अतः तुम धर्मराजको स्वयं स्वीकार कर लो। 'धर्मराज' शब्दके प्रयोगसे उनका वह कार्य धर्म विपरीत नहीं हो यह भी ध्वनित होता है] ॥ ७६ ॥

क्रतोः कृते जाग्रति वेत्ति कः कति प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः ।
त्वदर्थमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतसः पाणिगतैव वर्तसे ॥ ७७ ॥

क्रतोरिति । किञ्च क्रतोः कृते क्रत्वर्थमपां प्रभोः वरुणस्य वेश्मनि कति कामधेनवो जाग्रति वर्तन्ते को वेत्ति ? असङ्ख्याकाः सन्तीत्यर्थः । स वरुणस्त्वदर्थं त्वत्सिद्ध्यर्थं तत्रैकामपि गां याचते चेत् , दमयन्तीं देहीति प्रार्थयते चेत् तर्हि प्रचेतसो वरुणस्य पाणिगतैव वर्तसे । तदा कस्त्वां मोचयिष्यतीति भावः ॥ ७७ ॥

यज्ञके लिये वरुणके घरमें कितनी कामधेनु हैं यह कौन जानता है ? अर्थात् बहुत-सी हैं, (अतः) वह वरुण तुम्हारी याचना यदि एक (कामधेनु) से भी करेंगे तो तुम प्रचेता (वरुण, पक्षा०—उत्कृष्ट चित्तवाले) के हाथमें ही हो। [जिस किसी अपरिचित व्यक्तिकी भी याचना को एक भी कामधेनु पूरी कर देती है, तो जिस वरुणके घरमें ही सर्वदा अनेक कामधेनु हैं, उनमें-से एक कोई भी स्वामी वरुणके याचना करनेपर तुम्हें उनके लिए दे देगी, अतएव तुम स्वयं ही वरुणको पहलेसे ही प्रसन्नतापूर्वक वरण कर लो। लोकमें भी यज्ञादिके लिये गौका पालना सर्वविदित है] ॥ ७७ ॥

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची ।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयंवरः ॥ ७८ ॥

नेति । किञ्च पतिव्रता शची पत्युरिन्द्रस्यानिच्छया असम्मत्या कारणेन विघ्नसिद्धये स्वयंवरविघातार्थं सन्निहिता न यदि=न स्यात् चेत् । विशसति हिनस्तीति विशसो हिंसकः, पचाद्यच् । तस्य कर्म वैशसं, युवादित्वादण्प्रत्ययः । राजव्रजस्य राजन्यकस्य वैशसान्मिथो विरोधाद्धेतोः परस्परस्पर्धिनोऽन्योन्यसङ्घर्षिणो वरा वोढारो यस्मिन् स तथोक्तः स्वयंवर एव कुतः कुतस्तरां नलवरणमिति भावः । स्वयंवरे शचीसन्निधानादविघ्नसिद्धिरिति शास्त्रम् । तथा च रघुवंशे—'सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः' इति ॥ ७८ ॥

("दिवौधवरत्वां यदि कल्पशाखिनं" आदि चार श्लोकों९-७४-७७से प्रत्येक देवके विषयमें भेदका प्रतिपादनकर उपाय-प्रयोग-निपुण नल अब दण्डका प्रतिपादन करते हैं—) पतिव्रता इन्द्राणी पतिकी अनिच्छा (इन्द्रकी इच्छाको तुम्हें नहीं पूरी करने) से विघ्नको साधने (दूर करने) के लिए यदि (स्वयंवरस्थलमें) नहीं रहेगी तो राज-समूहकी क्रूरता (तुम्हें प्राप्त करने के लिए द्वेष) से परस्पर वरणार्थियोंवाला वह स्वयंवर ही कहांसे अर्थात् कैसे होगा ? अर्थात् कदापि नहीं होगा। [स्वयंवरमें इन्द्राणी उपस्थित रहकर विघ्ननिवारण करती हैं, यह शास्त्र-वचनसे प्रमाणित है। इन्द्राणी पतिव्रता हैं, अतः सपत्नीरूपमें तुम्हें पानेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रको बुरा नहीं मानेंगी और तुम्हारे द्वारा इन्द्रकी इच्छा पूरी नहीं होगी तब इन्द्र यह चाहेंगे कि इन्द्राणी स्वयंवरमें जाकर विघ्ननिवारण न करें और पतिव्रता इन्द्राणी भी पतिदेवकी स्वयंवरमें इन्द्राणीके सम्मिलित होनेकी इच्छा नहीं होनेसे नहीं आवेगी तो परस्परमें तुम्हें वरण करनेके इच्छुक राजाओंमें सङ्घर्ष होनेसे तुम्हारा स्वयंवर ही निर्विघ्न पूरा नहीं हो सकेगा, अतएव तुम्हें इन्द्रका वरणकर लेना चाहिये] ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानतां मिथो मुखस्य रोषात् परुषाणि जल्पतः ।
मृधं किमच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि क्षोणिभुजां दिदृक्षसे ॥७९॥

निजस्येति । मिथो रोषात् परुषाणि जल्पतो निजस्य मुखस्य वदनस्य वृत्तान्तमजानतां रोषान्ध्यात् स्वोक्तमप्यविजानतां क्षोणिभुजां सम्बन्धि अच्छत्रका आयुधभङ्गेनापनीतच्छत्रा ये दण्डास्तेषां ताण्डवं तदेव मृधं युद्धं दण्डादण्डीत्यर्थः । तथा तेषामपि भङ्गे भुजाभ्यां भुजाभ्यां प्रवृत्तं युद्धं भुजाभुजि युद्धं च गम्यमानार्थत्वात् च-शब्दाप्रयोगः "तत्र तेनेदमिति सरूपे" इति बहुव्रीहाविच् कर्मव्यतीहारे इतीच्प्रत्ययः । तिष्ठद्गुपाठादव्ययीभावसंज्ञा । दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" इत्यात्मनेपदम् ॥ ७९ ॥

आपसमें कटु वचन बोलते हुए अपने मुखके वृत्तान्तको (भी) क्रोधके कारण नहीं जानते ('किसके प्रति क्या कहना चाहिये' इस बातको नहीं समझते) हुए (अथवा—क्रोधसे आपसमें कटु बोलते हुए अपने मुखके व्यापारको नहीं समझते हुए) राजाओंकी (शस्त्रके छिन्न-भिन्न हो जानेके बाद, छत्ररहित छत्रोंके दण्डोंके ताण्डव अर्थात् छत्रोंके दण्डोंकी लड़ाई तथा उसके भी टूट जानेपर बाहुकी) लड़ाई अर्थात् मल्लयुद्धको देखना चाहती है क्या ? (अथवा········राजाओंका शस्त्रोंसे छत्ररहित दण्डोंके ताण्डववाला बाहुयुद्ध देखना चाहती हो क्या ?) [इन्द्राणीके स्वयंवरमें विघ्ननिवारणार्थ नहीं आनेपर वहां राजाओंमें भयङ्कर युद्ध होगा] ७९ ॥

अपार्थयन् याज्ञिककृत्क्रतिश्रमं ज्वलेद्रुषा चेद्वपुषा तु नानलः ।
अलं नलः कर्तुमनग्निसाक्षिको विधिं विवाहे तव सारसाक्षि ? कम् ॥८०॥

अपार्थयन्निति । हे सारसाक्षि ! सरोरुहाक्षि ! 'सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः । तव विवाहे अनलोऽग्निः याज्ञिकस्य फूत्कृतिश्रमं याजकफूत्कृतिश्रमं समिन्धनप्रयासमपार्थयन् व्यर्थयन् रुषा रोषेणैव ज्वलेत् वपुषा स्वरूपेण तु न ज्वलेच्चेत् तदा नलः अग्न्यभावादग्निसाक्षिको न भवतीत्यनग्निसाक्षिकस्तं कं विधिमनुष्ठानं कर्तुमलं शक्तः न कञ्चिदित्यर्थः ॥ ८० ॥

याजक (हवनकर्ता पुरोहित आदि) के फूंकनेको व्यर्थ करता हुआ अग्नि यदि क्रोधसे जले तथा शरीर (ज्वाला) से नहीं जले तो नल तुम्हारे विवाहमें अग्निसाक्षित्वके विना किस विधि (लाजा होम आदि कार्य) को करने के लिये समर्थ होगा? अर्थात् किसी विधिको करनेमें समर्थ नहीं होगा। [क्रोधके कारण अग्निके हवनकर्ताओं द्वारा फूंकनेपर भी नहीं जलनेसे नलके साथ तुम्हारा सविधि विवाह नहीं हो सकेगा, अतः तुम अग्निको वरण कर लो]॥

पतिंवरायाः कुलजं वरस्य वा यमः कमप्याचरितातिथिं यदि ।
कथं न गन्ता विफलीभविष्णुतां स्वयंवरः साध्वि ! समृद्धिमानपि ॥८१॥

पतिंवराया इति । किञ्च यमोऽन्तकः पतिं वृणीत इति पतिंवरा वधूः । "संज्ञायां भृतॄवृ" इत्यादिना खच् । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" । तस्या वरस्य वोढुर्वा कुलजं कमपि जनमतिथिमभ्यागतमाचरिता यदि मारयिष्यति चेदित्यर्थः । "अनद्यतने लुट्" । हे साध्वि ! समृद्धिमान् सर्वसाधनसम्पन्नोऽपि स्वयं व्रियते अस्मिन्निति स्वयंवरः स्वयंवरकर्म । "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्चे"त्यप्रत्ययः । विफलीभविष्णुतां "भुवश्च" इति इष्णुच्प्रत्ययः । कथं न गन्ता, गमिष्यत्येवेत्यर्थः । गमेर्लुट् । वृथा नलैकासक्तिहतासीति भावः ॥ ८१ ॥

यम पतिको वरण करनेवाली तुम्हारे या पति (नल) के कुलमें उत्पन्न (किसी बान्धव) को यदि अतिथि बना लेंगे अर्थात् तुम्हारे या नलके कुलमें उत्पन्न किसी व्यक्तिकी मृत्यु हो जायेगी तो हे पतिव्रते ! समृद्धियुक्त भी स्वयंवर कैसे होगा ? अर्थात् अशौचके कारण स्वयंवर रुक जायेगा, अतएव तुम नलको वरण करनेका दुराग्रहकर यमको रुष्टकर अपने या नलके कुलमें उत्पन्न किसी आत्मीय बान्धवकी मृत्युका कारण बननेकी मूर्खता न करो] ॥ ८१ ॥

अपां पतिः स्वामितया परः सुरः स ता निषेधेद्यदि नैषधक्रुधा ।
नलाय लोभायतपाणयेऽपि तत् पिता कथं त्वां वद संप्रदास्यते ॥८२॥

अपामिति । हे साध्वि ! अपांपतिः स प्रसिद्धः परः सुरः स्वामितया अप्पतित्वान्नैषधे नले क्रुधा क्रोधेन ता अपो निषेधेत् प्रतिबध्नीयात् यदि तत्तर्हि लोभेन आयतपाणये प्रसारितहस्तायापि लौल्याज्जलं विना जिघृक्षतेऽपीत्यर्थः । नलाय पिता भीमस्त्वां कथं सम्प्रदास्यते न कथञ्चिदित्यर्थः । वद । वाक्यार्थः कर्म ॥ ८२ ॥

वे दूसरे देव अर्थात् वरुण स्वामी होनेसे नल-विषयक क्रोधके कारण जलको यदि मना कर देंगे तो तुम्हारे पिता लोभ (तुम्हें पानेके लोभ) से हाथ फैलाये हुए नलके लिये

कैसे देंगे ? कहो। [कन्यादानका नलके साथ करनेका शास्त्रीय विधान होनेसे स्वामी वरुणके निषेध करनेपर तुम्हारे पिता तुम्हारा कन्यादान नहीं कर सकेंगे, इस प्रकार तुम नलको नहीं प्राप्त कर सकोगी, अतः वरुणको ही वरण कर लो] ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति ! चिन्तय ।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ॥ ८३ ॥

सम्प्रति हितार्थसंग्रहकारिकामाह—इदमिति । हे दमयन्ति ! मया इदं महद्धितं ते तव तुभ्यं वाभिहितं, मोहं मौढ्यं विहाय चिन्तय विमृश । तथा हि–सुरेषु विघ्न एवैकः परं प्रधानं येषां तेषु विघातकेषु सत्सु को नरः करस्थमप्यर्थं वस्त्ववाप्तुमीश्वरः शक्तः, न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः । तस्मादलं दुरन्तेन बलवद्विरोधेनेति भावः ॥ ८३ ॥

हे दमयन्ति ! मैंने यह (श्लो० ७४–८२) तुम्हारे लिये बहुत बड़ा हितकारक वचन कहा है, तुम मोह (नलके मोह) को छोड़कर विचार करो। देवोंके एकमात्र विघ्नके लिये तैयार होनेपर कौन आदमी (पक्षा०—"रलयोरभेदः" नीतिके अनुसार कौन नल) हाथमें स्थित वस्तुको पानेके लिये समर्थ होता है ? अर्थात् कोई नहीं । [यदि किसी काममें मनुष्य भी विघ्न करता है तो प्रायः वह काम भी पूरा नहीं होता, तो फिर देवों (एक ही नहीं, किन्तु अनेक (या ४ चार) देवों) के केवल विघ्न करनेमें ही लग जानेपर किसी मनुष्यकी शक्ति नहीं है कि हाथमें आयी हुई भी वस्तुको प्राप्त कर ले। अतएव तुम मेरी हितकारी वचन मानकर तथा नलका मोह छोड़कर इन्द्रादि दिक्पालोंमें–से किसीको वरण करो] ॥ ८३ ॥

इमा गिरस्तस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति सम्प्रत्ययमाससाद सा ।
निवारितावग्रहनीरनिर्झरी नभोनभस्यत्वमलम्भयद्दृशी ॥ ८४ ॥

इमा इति । सा दमयन्ती इमास्तस्य दूतस्य गिरश्चेतसा विचिन्त्य पर्यालोच्य तथेति सम्प्रत्ययं विश्वासमाससाद । अथ निवारितावग्रहो निष्प्रतिबन्धो नीरनिर्झरो ययोस्ते दृशौ लोचने नभोनभस्यत्वं श्रावणभाद्रपदत्वम् । 'नभाः श्रावणिकश्च सः, स्युर्नभस्यः प्रोष्ठपदपदा भाद्रपदाः समाः' इत्यमरः । अलम्भयत् प्रापयदित्युपमातिशयोक्ती । तत्र लभेः प्राप्त्यर्थत्वेऽपि तदुपसर्जनगत्यर्थविवक्षायां "गतिबुद्धी"त्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वं, गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वे तु कर्मत्वं नास्त्येव । यथा माघे "सितं सितिम्ने"त्यत्र । यदाह वामनः—"लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे" इति । लभेश्चेति नुमागमः ॥ ८४ ॥

उस दमयन्तीने उस नलके इन वचनों (९।७४–८२) को मनसे अर्थात् मनोयोग-पूर्वक (अच्छी तरह) विचारकर 'वैसा ही है' ऐसा विश्वास कर लिया (अथवा—मनसे वैसा ही है, यह मनसे निश्चय कर लिया) और बादमें वर्षाके प्रतिबन्धसे रहित (अतएव) जल–प्रवाहयुक्त नेत्रोंको श्रावण–भाद्रपद मास बना लिया । [सूखाके नहीं पड़नेपर जिस

प्रकार श्रावण–भाद्रपद मासमें वर्षा होनेसे जल प्रवाहरूपसे बहने लगता है, वैसे ही दमयन्तीके नेत्रोंसे अनवरोध अश्रुधारा गिरने लगी। दमयन्ती नलकी बातपर विश्वासकर बहुत रोने लगी] ॥ ८४ ॥

स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाशया ।
निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाविलौ मणीव नीलौ तरलौ विलेसतुः[1] ॥८५॥

स्फुटेति। अथ कज्जलेनाञ्जनेनाविलौ मलिनौ बिन्दू अश्रुबिन्दू तद्विलोचनाभ्यामेव स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव भृङ्गमिथुनमिव कुचकुड्मलयोराशया लौल्येन हृदि वक्षसि निपत्य तरलौ चञ्चलौ हारमध्यगौ नीलौ मणी इव इन्दनीलरत्ने इव। "ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य" इत्युभयत्रापि प्रगृह्यत्वनिषेधात् सवर्णदीर्घः। विलेसतुः विरेजतुः। "अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि" त्येत्वाभ्यासलोपौ॥

विकसित कमलद्वयसे (अधिक सुगन्धि पानेकी आशासे उड़कर) कृष्णवर्ण भ्रमरमिथुन जिस प्रकार कमलकलिका पर बैठने को जाता है, उसी प्रकार उस दमयन्तीके नेत्रद्वयसे स्तन-कुड्मलकी प्राप्तिकी आशासे, कज्जलसे काले आंसूके दो बूंद हृदयपर गिरकर चञ्चल एवं नीले रंगके रत्न अर्थात् नीलम मणिके समान शोभने लगे। [दमयन्तीके नेत्र विकसित कमल, स्तन कमलकलिका, कज्जल कृष्ण अश्रुविन्दुद्वय भ्रमरदम्पति एवं हृदय पर लटकते हुए नीलमके दो दानोंके समान हैं। [भ्रमरमिथुन विकसित कमलके रसका पानकर विकसित होनेवाले कमलपर चला जाता है। भ्रमरमिथुन समान कज्जल कृष्ण अश्रुविन्दुद्वय दमयन्तीके हृदयस्थ स्तनपर गिरा] ॥ ८५ ॥

धुता पतत्पुष्पशिलीमुखाशुगैः शुचेस्तदासीत् सरसी रसस्य सा ।
रयाय बद्धादरयाश्रुधारया सनालनीलोत्पललीललोचना ॥ ८६ ॥

धुतेति। पतद्भिः पुष्पशिलीमुखाशुगैः पुष्पबाणैर्विशिखैरन्यत्र पतन्तः पुष्पाणि शिलीमुखा अलयश्च येषां तैराशुगैर्वायुभिः। धुता कम्पिता। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ, आशुगौ वायुविशिखौ' इति चामरः। रयाय बद्धादरया रययुक्तया अश्रुधारया निमित्तेन सनालनीलोत्पलस्य लीलेव लीला ययोस्ते लोचने यस्याः सा भैमी तदा शुचेः रसस्य शृङ्गारस्य सम्बन्धिनि अन्यत्र शुचेर्ग्रीष्मस्य सम्बन्धिनि, कार्श्यादिति भावः। ग्रीष्मशृङ्गारयोः शुचिरित्यभिधानात् रसस्य जलस्य सरसी सर आसीत्। अत्र भैम्यः शृङ्गाररसरसीत्वेन ग्रीष्माम्बुसरसीत्वेन च रूपणाद्रूपकालङ्कारः। तस्य श्लेषोपमाभ्यामङ्गाभ्यां सङ्करः स्पष्टः॥ ८६ ॥

गिरते हुए पुष्पवाण (कामदेव) के बाणोंसे (अथवा—पुष्पोंपर गिरते अर्थात् आते हुए भ्रमरों तथा वायुओंसे या भ्रमरयुक्त वायुओंसे, अथवा—हंसादि पक्षियों, भ्रमरों तथा

---

1. "विरेजतुः" इति 'प्रकाश' कारसम्मतं पाठान्तरम् ।

वायुओंसे, अथवा—'धुतापतत्.........' पदमें 'आपतत्' पदच्छेद करके 'गिरते हुए' के स्थानमें 'आते हुए' अर्थ समझना चाहिये) पीडित (पक्षा०—कम्पित) तथा वेगके लिये आग्रहयुक्त अर्थात् अतिवेगयुक्त अश्रुधारासे नालसहित कमलके समान नेत्रवाली वह (दमयन्ती) उस समय 'विप्रलम्भ' नामक शृङ्गार रस (पक्षा०—ग्रीष्मके जल या निर्मल जल, या शोकरस) का तडाग बन गयी थी। नेत्रसे धाराप्रवाह अश्रु गिरनेसे नेत्र कमलके समान, अश्रुधारा कमलनालके समान वर्णित है, ग्रीष्म ऋतुमें पानीके कम रहनेसे कमल-नाल दिखलायी पड़ता तथा जल निर्मल हो जाता है और वह सनाल कमल कम्पित होने लगता है। [दमयन्ती उस समय कामपीड़ित होकर धारा प्रवाह आंसू गिराती हुई रोने लगी]॥ ८६ ॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः ।
व्यधात्प्रियावाप्तिविघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥८७॥

अथेति । अथ स्मरविकारोदयानन्तरं प्रियावाप्तिविघातस्य प्रियप्राप्तिप्रतिबन्धस्य निश्चयात् दूना परितप्ता "स्वादय ओदित" इत्योदित्वातिदेशात् "ओदितश्च" इति दूङो निष्ठानत्वम् । अत एव सा दमयन्ती उद्भ्रमन्ती उन्माद्यन्ती रुदती अश्रूणि मुञ्चती गतक्षमा नष्टधैर्या ससम्भ्रमा सत्वरा लुप्ता रतिर्विषयान्तरस्पृहा यस्याः सा स्खलन्ती मतिस्तत्त्वावधारणशक्तिर्यस्याः सा सती मृदूनि परहृदयद्रावणानि परिदेवितानि विलापवचनानि व्यधात् । अथ प्रियावाप्तिविघातप्रयुक्तचिन्ताविषादभावा उद्भ्रमादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

इसके बाद प्रिय (नल) को प्राप्त नहीं होनेके निश्चयवाली वह दमयन्ती, उन्मादित होती हुई, रोती हुई, दुःख सहनेमें असमर्था या धैर्यहीन, (जीवनको भारभूत माननेसे) घबड़ाई हुई, (किसी अन्य विषयमें) स्नेह न करती हुई, किंकर्तव्यमूढ तथा परितप्त होती हुई सुननेवालोंको दयार्द्र करनेवाला विलाप करने लगी ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनात्मनस्तनुष्व मद्भस्मचयं यशश्चयम् ।
विधे ! परेहाफलभक्षणव्रती पताद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाफलैः ॥ ८८ ॥

अथ त्रयोदशभिः श्लोकैः परिदेवितान्येवाह—त्वरस्वेत्यादि । हे पञ्चेषुहुताशन ! कामाग्ने ! त्वरस्व त्वरितो भव । मद्भस्मनाश्चयं राशिमेवात्मनस्ते यशश्चयं यशोराशिं तनुष्व विस्तारय स्त्रीवधख्यातिं सम्पादयेत्यर्थः । हे विधे ! विधातः ! परेषामीहाफलस्य क्रियाफलस्य भक्षणे व्रती नियमी सन् न तु तपस्व्यन्तरवद्वन्यफलभक्षणव्रतीत्यर्थः । अद्याफलैर्नलानवाप्त्या निष्फलैर्ममासुभिः प्राणैः तृप्यन् तृप्तः सन् पत पतितो भव । स्त्रीवधपातकी भवेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

(अतिसन्तापकारक होनेसे) हे कामरूप अग्नि ! शीघ्रता करो, मेरे भस्ममय (मेरे चितामें जल जानेसे भस्मबहुल) कीर्तिसमूहको फैलाओ, हे विधे ! दूसरेकी चेष्टाके फलको

नष्ट करनेवाला अर्थात् दूसरोंके अभीष्टफलमें प्रतिबन्धक तुम मेरे निष्फल (निरर्थक) प्राणोंसे तृप्त होते हुए पतित हो जावो [दूसरोंकी चेष्टाके फलको नष्ट करनेका व्रत रखनेवाले तुम तद्विरुद्ध मेरे प्राणोंसे तृप्त होते हो—मुझ निरपराधिनी स्त्रीका वध करते हो—इस व्रत-भङ्गरूपी पापके कारण पतित हो जावो अर्थात् नरक चले जाओ या स्वर्गभ्रष्ट हो जावो; व्रतके भङ्ग होनेसे पतित होना उचित ही है। अथवा—दूसरोंके अभीष्ट फलको नष्ट करनेमें सर्वदा लगे रहने एवं मुझ स्त्रीके प्राणोंसे तृप्त होनेके कारण तुम पतित हो जावो] ॥८८॥

भृशं वियोगानलतप्यमान ! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि।
स्मरेषुभिर्भेद्य ! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त ! कथं न दीर्यसे॥ ८९॥

भृशमिति। हे भृशं वियोगानलेन तप्यमान ! दह्यमान ! हे स्वान्त ! हृदय ! त्वमयोमयं यदि तर्हि किं न विलीयसे अयोघनस्यापि तापात् विलयनदर्शनादयोम-यमपि नासीति भावः। हे स्मरेषुभिर्भेद्य ! अत एव वज्रमपि नासि वज्रस्य लोहलेख्यत्वाभावादिति भावः। किन्तु कथं न दीर्यसे न विदलसि वज्रादन्यस्य लोहलेख्य-त्वादिति भावः। न ब्रवीषीति काकुः। किमिति न ब्रूषे त्वत्स्वरूपमित्यर्थः ॥ ८९॥

हे विरहाग्निमें सन्तप्त होते हुए (हृदय) ! यदि तुम लोहमय हो तो क्यों नहीं द्रवित होते हो ? (अग्निमें तपता हुआ लोहा द्रवित हो जाता है और तुम द्रवित नहीं होते हो अतः तुम लौहमय नहीं हो अर्थात् लौहसे भी कठिन हो)। [हे कामाग्निसे भिन्न होने योग्य हृदय ! तुम वज्र भी नहीं हो (क्योंकि वज्र पुष्पबाणोंसे कभी भेद्य नहीं होता), क्यों नहीं विदीर्ण होते हो, नहीं बोलते हो अर्थात् तुम्हें बोलना चाहिये कि तुम्हारा स्वरूप क्या है ?] ८९॥

विलम्बसे जीवित ! किं द्रव द्रुतं ज्वलत्यदस्ते हृदयं निकेतनम्।
जहासि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमहो तवेदृशम् ॥ ९०॥

विलम्बस इति। हे जीवित ! प्राणवायो ! किं विलम्बसे द्रुतं द्रव शीघ्रं गच्छ। कुतः, यतस्ते तव अदो निकेतनमावासगृहं हृदयं ज्वलति प्रज्वलति। अद्यापीदानी-मपि मृषा वृथा सुखासिकां सुखासनं धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः। न जहासि। दह्यमाने गेहे न वस्तव्यमित्यर्थः। तथा तव जीवनस्य ईदृशमालस्यमपूर्वं नूतनमहो॥

हे जीवित ! क्यों विलम्ब करते हो ? शीघ्र भागो (क्योंकि) तुम्हारा घर (निवास स्थानभूत) यह हृदय (कामाग्निसे) जल रहा है; अब भी सुखपूर्वक बैठनेको नहीं छोड़ते हो, तुम्हारा ऐसा यह आलस्य विचित्र है। [महा आलसी भी व्यक्ति घरमें आग लगते ही सुखपूर्वक नहीं बैठा रहता, किन्तु शीघ्र घरसे भाग जाता है, किन्तु विरहाग्निसे अपने निवासस्थानरूप हृदयके जलते रहनेपर भी तुम नहीं निकलते (मैं नहीं मर जाती) ऐसा आलस्य करनेसे बड़ा आश्चर्य होता है। कामाग्निपीडित प्राणोंको त्यागकर मेरा मर जाना ही अच्छा है] ॥ ९०॥

दृशौ ! मृषापातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे ।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः ॥ ९१ ॥

दृशाविति। हे दृशौ ! मृषापातकिनोऽनृतपातकिनो मनोरथा नलदिदृक्षारूपाः पृथू महत्यौ विप्रलम्भानर्हे इत्यर्थः। वां युवामपि कथं विप्रलेभिरे वञ्चयामासुः। साहसिकाः किन्न कुर्युरित्यर्थः। मनोरथा वां विफला इत्यर्थः। किञ्च प्रियश्रियो नलसौन्दर्यस्य प्रेक्षणघाति दर्शनघातकं स्वं स्वकीयं पातकं जन्मान्तरकृतमिति भावः। अश्रुभिः शतं समाः वत्सरान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। क्षालयतं गुरुपापं गुरुप्रायश्चित्तापनोद्यमित्यर्थः। अहो मे दर्शनाशापि निरस्तेति भावः ॥ ९१ ॥

हे दोनों नेत्र ! असत्य (सर्वदा संसारको ठगने) से पातकी (पतित) मनोरथोंने विशाल (बड़े, पक्षा०—श्रेष्ठ) भी तुम दोनोंको कैसे ठग लिया ? (अथवा—पातकी मनोरथोंने असत्यसे विशाल भी तुम दोनोंको कैसे ठग लिया ? अथवा—तुम दोनोंके पातकी मनोरथोंने········।) 'हम तुम दोनोंको नलका दर्शन करा देंगे' ऐसा विश्वास देकर नलका दर्शन न करानेसे असत्यभाषी मनोरथोंने तुम दोनोंके साथ अन्याय किया। नेत्रोंके बड़े तथा मनोरथोंके उनसे छोटे होनेसे बड़े नेत्रोंको छोटे मनोरथोंके द्वारा ठगा जाना अत्यन्त अनुचित है। प्रिय (नल) की शोभाके देखनेका विनाशक अपने पापको आंसुओं (पक्षा०—जलों) से सैकड़ों वर्ष धोवो। [जिस प्रकार कहीं धब्बा लग जाता है तो उसे पानीसे कई बार धोया जाता है। उसी प्रकार नल शोभाका दर्शन नहीं करनेसे जो पाप हुआ है, सैकड़ों वर्षों तक रोनेसे उसका प्रायश्चित्त करो। नलके दर्शन तक या उसके अभावमें जीवनभर तुम्हें रोना पड़ेगा] ॥ ९१ ॥

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।
वियोगमेवेच्छ मनः ! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यसावपि ॥ ९२ ॥

प्रियमिति। हे मनः ! तव ईप्सितमाप्तुमिष्टं प्रियं न लभे, तदलाभे ईप्सितं मृत्युं मरणञ्च न लभे तस्मात् त्वं मम यदिच्छसि तन्न स्यादित्यन्वयव्यतिरेकदर्शनादिति भावः। अतो मे प्रियेण वियोगमेवेच्छ तव प्रसादादसौ वियोगो मे मम न भवति नलप्राप्त्यभावे मरणमेव मे शरणमित्यर्थः। अत्र संयोगार्थं वियोगप्रार्थनाद्विचित्रालङ्कारः। "विचित्रं स्वविरुद्धस्य फलस्याप्त्यर्थमुद्यमः" इति लक्षणात् ॥ ९२ ॥

हे मन ! (मैं) तुम्हारे प्रिय (नल) को नहीं पाती हूं और तुम्हारे अभिलषित मृत्युको भी नहीं पाती हूं, तुम जो चाहते हो वही मेरा कार्य नहीं होता है अर्थात् तुम्हारी इच्छाके विपरीत ही मेरा सब कुछ होता है, (अत एव तुम) प्रिय (नल) से विरह की इच्छा करो, कि तुम्हारी प्रसन्नतासे मेरा वह (नलके साथ विरह) भी न होवे [तुम जिस नल या मृत्युको चाहते हो उनमें-से एक भी नहीं हो रहा है-सर्वथा उसके विपरीत ही हो रहा है अतएव तुम यदि नलका विरह चाहोगी तो उसके भी विपरीत

होनेसे नलके साथ मेरा संयोग हो ज येगा और यह कार्य तुम्हारी कृपासे होगा, अतएव तुम वैसा ही करो] ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम् ।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः ॥ ९३ ॥

नेति । द्विषत्सु चन्द्रादिवैरिमध्ये अतिवाममतिवक्रमङ्गजं कामं काकुवाक्यैः करुणोक्तिभिः न याचे न प्रार्थये, किन्तु दक्षिणं दक्षिणदिग्भवं दाक्षिण्यवन्तं च पवनं याचे, किमिति ? अयं पवनो यया दिशा प्रियो नलः सञ्चरते तया दिशा तद्दिग्भागेनापि मद्भस्म किरतु क्षिपतु । प्रार्थनायां लोट् । ननु दक्षिणोऽपि शत्रुपक्षः कथमुपकरिष्यति तत्राह–वैरविधिर्वैराचरणं वधावधिर्मरणान्तः मरणान्तानि वैराणीति न्यायादित्यर्थः ॥

शत्रुओंमें (चन्द्र, चन्दन, काम, मलयानिल आदि बहुत-से शत्रुओंमें) अत्यन्त वाम अर्थात् प्रतिकूल (अथवा—स्त्रीका या स्त्री वचनका उल्लङ्घन करनेवाला, अथवा—रति है सुन्दरी जिसकी ऐसा, अथवा—रति (स्वस्त्री) का सुन्दर पति, अथवा—रति अर्थात विरही लोगोंके अनुरागमें प्रतिकूल) अङ्गज अर्थात् कामदेव (पक्षा०—पुत्र) से दीन वाक्यों द्वारा मैं याचना नहीं करती हूं, किन्तु दक्षिण (अनुकूल, पक्षा०—दाक्षिण्य गुणसे युक्त, या दक्षिण दिशासे आनेवाले) पवनसे याचना करती हूं । (प्रतिकूल आचरण करनेवाले पुत्रसे भी कोई याचना नहीं करता, किन्तु दक्षिण (दाक्षिण्य गुण युक्त, या अनुकूल) शत्रुसे भी दीन वचन कह कर याचना कर लेता है, मेरी याचना यह है कि यह दक्षिण पवन मेरे भस्म (मेरे मरनेके बाद चितामें जलानेसे उत्पन्न भस्म) को उस दिशामें फेंके अर्थात् उड़ावे, जिस दिशामें प्रिय (नल) हैं, (क्योंकि) वैरका अन्त मरणतक होता है । [मरनेके बाद भी किसीसे कोई बैर नहीं रखता, अतः दक्षिण पवन (मलयानिल) के अपना शत्रु होनेपर भी मैं उससे दीन वचन कहकर प्रार्थना करती हूं कि दक्षिण दिशामें स्थित विदर्भ देशसे मेरे मृत शरीरके भस्मको उत्तर दिशामें स्थित निषध देशमें उड़ाते हुए पहुंचा कर नलके साथ सम्बद्ध देशमें मेरे भस्मको पहुंचानेसे मुझे कृतार्थ करे] ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥

अमूनीति । गच्छन्ति विपरिवर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षणः एकोऽप्ययं क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः । कियत् सहिष्ये, मृत्युर्मरणञ्च मे नास्ति हि स कान्तस्तु अन्तः अन्तरात्मनि मां नोज्झिता नोज्झिष्यति, स्फुटं तं कान्तं मनश्च नोज्झिता तन्मनश्च कायवायवः प्राणा नोज्झितारः । हन्त का गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

ये युग वीत रहे हैं, क्षण (एक क्षणका समय) नहीं बीत रहा है (अथवा—कष्टप्रद ये युग बीत रहे हैं, हर्षकारक एक क्षण भी नहीं वीत रहा है । क्षणमें एक वचन, युगमें बहुवचन तथा 'गम्' धातुमें वर्तमानका प्रयोग होनेसे एक क्षणका समय भी अनेकों युगोंके

समान होकर बीत रहा है, अभी बीत नहीं गया है न मालूम कबतक बीतेगा ? यह ध्वनित होता है, कब तक मैं (दुःख) सहूंगी, मेरी मृत्यु भी नहीं है; [क्योंकि निश्चय ही कान्त (प्रिय, या मनोरम नल) अन्तरात्मामें मुझे नहीं छोड़ेगा, और उसे (नलको) मेरा मन नहीं छोड़ेगा तथा उस मनको काय-वायु अर्थात् शरीरस्थ प्राणवायु नहीं छोड़ेगा (इस प्रकार) परम्पराके सर्वदा बने रहनेसे मेरी मृत्यु भी दुर्लभ है] ॥ ९४ ॥

मदुग्रतापव्ययसक्तशीकरः सुराः ! स वः केन पपे कृपार्णवः ।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु सङ्कल्पकणश्रमेण वः ॥९५॥

मदिति । हे सुराः ! मदुग्रतापव्यये मदतितीव्रसन्तापशान्तौ शक्ता व्यापृताः शीकरा यस्य स प्रसिद्धो वो युष्माकं कृपार्णवः केन पपे पीतः । अगस्त्येन प्रसिद्धार्णव इवेति भावः । त्वल्लोभेनैव पीत इत्यत्राह–सङ्कल्पकणश्रमेण अभिध्यानलेशप्रयासेन मत्तोऽप्युत्तमा कोटिः स्त्र्यन्तरमित्यर्थः । वो युष्माकं मुदे आशु नोदेति किमु शच्यादिवदिति भावः । तस्मादनुकम्पनीये जने विपरीताचरणमनुचितमिति तात्पर्यार्थः ॥

हे देवों ! मेरे तीव्र (नल-विरहजन्य) सन्तापके नाश करनेमें समर्थ विन्दुवाला आप लोगोंका कृपासमुद्र किसने पी लिया है 'एक जल-समुद्रको तो अगस्त्य मुनिने पी लिया था' यह पुराणादिमें उल्लिखित वचनोंसे ज्ञात है, किन्तु आप लोगोंके जिस कृपा समुद्रका एक बूंद भी हमारे सन्तापको दूर करनेमें समर्थ है, उसे किसने पी लिया अर्थात् आप लोग मुझपर कृपा क्यों नहीं करते ? आप लोगोंके लेशमात्र सङ्कल्प (इच्छा) के परिश्रमसे शीघ्र ही मुझसे उत्तम करोड़ों स्त्रियां आप लोगोंके हर्षके लिए नहीं उत्पन्न हो जायेंगी क्या ? [अर्थात् यदि आप लोगोंके थोड़ी-सी इच्छा मात्र करनेसे मुझसे भी उत्तम करोड़ों स्त्रियां उत्पन्न होकर आप लोगोंको हर्षित कर सकती हैं तो एक तुच्छ मुझे चाहकर आपलोग क्यों पीडित कर रहे हैं, अतः कृपाकर मुझे चाहना छोड़ दीजिये] ॥ ९५ ॥

ममैव वाहर्दिवमश्रुदुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते ।
कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्य देवता भवत्वरण्ये रुदितं न मे गिरः ॥९६॥

अथ मदीयमार्तघोषं देवा नाकर्णयन्तीत्यत्राह—ममैवेति । वा अथवा अह्नि च दिवा च अहर्दिवमहरहरित्यर्थः । ममैवाश्रुदुर्दिनैरश्रुवर्षैरित्यर्थः । प्रसह्य बलाद्वर्षासु ऋतौ वर्षर्तौ 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः । "ऋत्यक" इति प्रकृतिभावः । प्रसञ्जिते प्रवर्तिते सति देवताः सुष्ठु सुप्त्वा सुषुप्य । "वचिस्वपी" त्यादिना सम्प्रसारणम् । "सुविदुर्भ्यः सुपिसूतिसमा" इति षत्वम् । मे गिरः कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्तस्य तदयोगादत एव मे गिरः कथमरण्ये रुदितम् । "क्षेपे" इति समासः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । न भवतु । विधेयप्राधान्यादेकवचनम् । सम्भावनायां लोट् । निष्फलं वचनमरण्यरुदितप्रायमित्यर्थः । वर्षासु भगवतो हरेः स्वापादन्यत्रापि देवतात्वसामान्यादारोप्यव्यपदेशः । अत्र तत्कालस्य वर्षात्वेन

देवतानां स्वापेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिद्वयम्, तथा तद्गिरामरण्यरुदितासम्भवेन सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः तेन सङ्कीर्णः ॥ ९६ ॥

अथवा रात-दिन मेरे ही अश्रुरूपी दुर्दिनों (मेघाच्छन्न दिनों) से वर्षा ऋतुके होनेसे सोकर देवलोग मेरी प्रार्थनाको कैसे सुनें ?, (अतएव) मेरे वचनका अरण्यरोदन (जंगलमें रोना) कैसे नहीं हो? अर्थात् अरण्यरोदन होवे ही। [वर्षा ऋतुमें देवताओंका सोना पुराणादि वचनोंसे प्रतीत है, उस वर्षा ऋतुको रात-दिन रोनेसे आंसुओंके द्वारा दुर्दिन बनाकर मैंने ही उत्पन्न किया है, अतएव मेरे द्वारा ही उत्पादित वर्षा ऋतुमें वे देवता सो रहे हैं और सोया हुआ कोई भी व्यक्ति किसी की बात नहीं सुनता, यही कारण है कि सोये हुए वे देवता लोग मेरी प्रार्थनाको नहीं सुन रहे हैं और वह अरण्य रोदन (सून-सान स्थानमें विलाप) हो रहा है, अतएव इसमें मेरा ही अपराध है, देवता लोगोंकी कृपाकी कमी मेरे ऊपर नहीं है] ॥ ९६ ॥

इयं न ते नैषध ! दृक्पथातिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना।
ह्रदे ह्रदे हा न कियद्गवेषितः स वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति यः ॥

इयमिति। हे नैषध! इयं त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः। जनस्य स्वस्यैवेत्यर्थः। यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्पथातिथिर्न दृग्गोचरो न, देशविप्रकर्षादिति भावः। किञ्च यः खगो हंसो वक्ति नलाय मद्यातनां निवेदयेत् स खगोऽपि वेधसा अगोपि क्वापि गुप्तः। कुतः, ह्रदे ह्रदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्यर्थः। वीप्सायां द्विरुक्तिः। कियन्न गवेषितो नान्विष्टः। हा बतेत्यर्थः ॥ ९७ ॥

हे नल ! तुम्हारेमें परायण अर्थात् तुम्हारे अधीन जीवनवाले मनुष्यकी अर्थात् मेरी यह यातना (कठिनतम पीडा) तुम्हारे दृष्टिगोचर नहीं है। अर्थात् तुम्हें दूर देशमें रहनेसे तुम इस यातना को नहीं देख रहे हो (अथवा—...... दृष्टिगोचर नहीं है ? अर्थात् मेरे अन्तःकरणमें होनेसे तुम स्वाश्रित मेरी तीव्र यातनाको अवश्य देख रहे हो, परन्तु यह अर्थ-कल्पना पद्यके उत्तरार्द्धसे विरुद्ध होनेसे हेय है) हाय ! खेद है कि जो पक्षी (राजहंस) भी (मेरी इस यातनाको तुमसे जाकर) कहता, उसे ब्रह्माने छिपा लिया है; (क्योंकि) प्रत्येक तडागों में मैंने उसे कितना नहीं खोजा ? अर्थात् प्रत्येक तडागोंमें खोजनेपर भी वह हंस नहीं मिला अतः मालूम पड़ता है कि उसे उसके स्वामी ब्रह्माने छिपा लिया है, और स्वामिभक्त वह हंस भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, अन्यथा यदि वह मिल जाता तो अवश्य मेरी इस यातनाको तुम्हें सुनाता और तुम आकर शीघ्र मुझे इस पीडासे मुक्त करते, परन्तु ब्रह्माको यह इष्ट नहीं है, इसी कारण उसने उस हंसको कहीं छिपा लिया है] ॥ ९७ ॥

ममापि किं नो दयसे दयाधन ! त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशयं विधिस्तु वाच्यः क तवागसः कथा ॥९८॥

ममापीति । हे दयाधन ! कृपानिधे ! मम मनस्त्वदङ्घ्रिमग्नं [illegible]रणशरणं वेत्थ यदि वेत्सि चेत् "विदो लटो वा" इति सिपस्थलादेशः । ममापि किं नो दयसे ममापि किं नानुकम्पसे, "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति षष्ठी । अथवा परस्याशयं हृदयं सन्तमसे महामोहान्धकारे । 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्यमरः । "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । निमज्जयन् विधिस्तु वाच्य उपालभ्यः, तवागसोऽपराधस्य कथा क्व । विधिना व्यामोहितो मामिमां न वेत्थ, न तु निर्दयत्वादित्यर्थः ॥ ९८ ॥

हे दयाधन (परमदयालो नल)! यदि मेरे मनको तुम्हारे (नलके) चरणोंमें मग्न जानते हो तो मुझपर दया क्यों नहीं करते ? (अथवा—मेरे समक्ष क्यों नहीं उदय लेते अर्थात् प्रकट होते ? । अथवा) दूसरेके अभिप्राय (पक्षा०—अन्तःकरण) को घने अन्धकार (पक्षा०—अज्ञान) में डुबानेवाला भाग्य ही निन्दाके योग्य है, तुम्हारे अपराधकी कौन बात है ? अर्थात् कोई नहीं । [मेरे दुर्भाग्यके कारण ही तुम्हें स्वयं या हंसके द्वारा मेरी यातना नहीं मालूम है, अतः इसमें तुम्हारे अपराधकी कोई बात नहीं है, तुम्हारे पास तक मेरी इस यातनाका समाचार पहुंचनेमें बाधक भाग्यका ही यह दोष है, अतः वही निन्दनीय है, तुम नहीं] ॥ ९८ ॥

कथाऽवशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते ।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ ! नाधुना ॥९९॥

कथेति । हे नाथ ! तव कृते त्वदर्थं सा दमयन्ती कथैवावशेषोऽवसानं तं गतेति तव श्रोत्रपथं कथं नोपैष्यति उपैष्यत्येवेत्यर्थः । तदापि तच्छ्रवणकालेऽपि दयाणुना कृपालेशेन मां समनुग्रहीष्यसे तावदनुग्रहीष्यस्येवेत्यर्थः । "ग्रहोऽलिटी" तीटो दीर्घः । अधुना न यदि न चेत् मास्तु पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भावः ॥ ९९ ॥

हे नाथ ! वह (दमयन्ती) तुम्हारे अर्थात् नलके लिए मर गयी यह (समाचार) कानोंतक क्यों नहीं जाय अर्थात् अवश्य जायगा ('मेरे लिये दमयन्ती मर गयी' इस बातको लोगोंके द्वारा तुम अवश्य सुनोगे । अतः) यदि इस समय मुझे अनुगृहीत नहीं करते हो तो उस समय (मरनेके बाद) भी लेशमात्र दयासे अच्छी तरह अनुगृहीत करोगे, ऐसी मैं सम्भावना करती हूं । मेरे मरनेपर भी कुछ शोक करना भी मेरे लिये तुम्हारा बड़ा अनुग्रह होगा । दूसरा भी कोई स्वामी अज्ञान या दूरस्थ होनेके कारण स्वामिभक्तके ऊपर यदि अनुग्रह नहीं करता, किन्तु उसी स्वामीके निमित्त मरे हुए उस स्वामिभक्त व्यक्तिके लिये अवश्य पश्चात्ताप आदि करके उसे अनुगृहीत करता है] ॥ ९९ ॥

ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हतासुभिः प्राणसमः समङ्क्षम ॥१००॥

ममेति । हे नाथ ! ममेदमान्तरं हृदयं विदरीतुं, "वृतो वा" इति दीर्घः । आदरि

अभ्युदरवत्, तत्तस्माद्विदारणाद्धेतोः हे अर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये याचे किमिति ? प्राणसमः प्राणतुल्यः त्वं हृदि भिदां भेदमेव। "षिद्भिदादिभ्योऽङ्"। द्वारमवाप्य मार्गं लब्ध्वा मे मम हतैस्त्वदप्राप्त्या विफलैरसुभिः सममेव मा गमः मा निर्गच्छ गमेर्लुङ्। "पुषादी" त्यादिना च्लेरङादेशः। "न माङ्योग" इत्यडागमाभावः। प्राणोत्क्रमणकाले त्वया जन्मान्तरेऽपि त्वत्प्राप्तिकामाया मे हृदयान्नापयातव्यम्। "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः" इति भगवद्वचनादिति भावः ॥ १०० ॥

मेरा यह अन्तःकरण विदीर्ण होनेके लिये तैयार है अर्थात् शीघ्र विदीर्ण होना चाहता है, इस कारण हे याचकोंके कल्पवृक्ष (नल)! मैं कुछ अर्थात् बहुत छोटी याचना करती हूँ (याचकोंके कल्पवृक्ष होनेसे तुम मेरी याचनाको भी निष्फल नहीं करोगे यह मुझे विश्वास है। वह याचना यह है कि—) हृदयमें भेदनरूप द्वारको प्राप्तकर (तुम्हें नहीं पानेसे अभागे मेरे प्राणोंके साथ तुम मत चला जाना। [तुम मेरे प्राणोंके समान हो, अतः सम्भव है कि तुम्हारे विना हृदयके विदीर्ण होनेपर हतभाग्य मेरे प्राण विदारणरूप द्वारसे निकल जायेंगे, किन्तु तुम भी उसी द्वारसे मत निकल जाना अर्थात् जन्मान्तरमें भी तुम्हीं से ही मैं हृदयसे अनुरक्त होकर पुनः प्राप्त करूं, यही मेरी याचना है] ॥ १०० ॥

इति प्रियाकाकुभिरुन्मिषन् भृशं दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः।
नृपं स योगेऽपि वियोगमन्मथः क्षणं तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुनः ॥

इतीति। दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतो निरुद्धः स वियोगमन्मथो विप्रलम्भशृङ्गारः। इतीत्थं प्रियायाः काकुभिः करुणोक्तिभिः उन्मिषन्नुद्बुद्धः सन् तं नृपं योगे सन्निधाने सत्यपि क्षणं पुनरुद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तचित्तमुन्मत्तचित्तमिति यावत्। अजीजनदकार्षीदित्यर्थः। उन्मत्तचित्तविभ्रमः सन्निधिविप्रयोगः सर्वथा विकरोतीति भावः ॥ १०१ ॥

दिक्पालोंके दूतकर्मसे हृदयमें शान्त विरह मन्मथ अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गारने साक्षात्काररूप संयोगमें भी इस प्रकार (९।८८–१००) प्रिया दमयन्तीके दीनवचनों से अत्यन्त बढ़ता हुआ क्षणमात्र उस राजा (नल) को फिर अतिशय उन्मादित (या विह्वल) कर दिया॥१०१॥

महेन्द्रदूत्यादि समस्तमात्मनस्ततः स विस्मृत्य मनोरथस्थितैः।
क्रियाः प्रियाया ललितैः करम्बिता विकल्पयन्नित्थमलीकमालपत् ॥१०२॥

अथोन्मादानुभावः प्रलापः प्रवृत्त इत्याह—महेन्द्रेति। तत उन्मादोदयानन्तरं स नल आत्मनो महेन्द्रदूत्यादि समस्तं सर्वकृत्यं विस्मृत्य मनोरथस्थितैः सङ्कल्पविकल्पितैर्विलासैः करम्बिता मिश्रिताः प्रियायाः क्रियाः शृङ्गारचेष्टा विकल्पयन्नालोचयन्नित्थं वक्ष्यमाणप्रकारेणालीकमबुद्धिपूर्वकमालपत् ॥ १०२ ॥

इसके बाद वे नल अपने सम्पूर्ण इन्द्रादिदूतकर्मादिको भूलकर मनोरथसे कल्पित

विलासोंसे मिश्रित प्रियाकी क्रियाओं (विलाप चेष्टाओं, या शृङ्गार चेष्टाओं) को विचारते हुए बिना समझे (अज्ञानपूर्वक) कहने लगे— । [उन्मादके कारण प्रणयकलह आदिकी सम्भावना करते हुए दमयन्तीसे कहने लगे । उन्मादयुक्त व्यक्तिका अपना कर्तव्य भूलना तथा प्रलाप करना अनुचित नहीं होनेसे नलका भी इन्द्रादिके दूतकर्मको भूलकर अज्ञान-पूर्वक दमयन्तीके सामने प्रलाप करना दोषजनक नहीं हुआ] ॥ १०२ ॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः ।
पुरस्त्वयालोकि नयन्नयन्न किं तिरश्चलल्लोचनलीलया नलः ॥१०३॥

अथ प्रलापमेवाष्टादशभिराह—अयीत्यादि । अयि प्रिये ! भैमि ! कस्य कृते कं प्रति विलप्यते । भावे लट् । मुखम् अश्रुबिन्दुभिर्विलिप्यते । प्रदूष्यते । कर्मणि लट् । हेति खेदे । पुरोऽग्रे नमन् प्रणमन् अयं नलस्त्वया तिरश्चलतः तिर्यक् प्रसरतो लोचनस्य लीलया विलासेन । साचीकृतदृष्टयेत्यर्थः । नालोकि न दृष्टः किम् ? अपरोक्षे परोक्षवदुपालम्भो न युक्त इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

हे प्रिये ! किसके लिये अर्थात् क्यों विलाप करती हो ? हाय ! तुम्हारा मुख आँसुओं-की बूंदोंसे लिप्त (व्याप्त) हो रहा है, सामने नम्र होते हुए इस (नल) को अर्थात् मुझे तुमने तिर्यक् चञ्चल कटाक्षसे (अथवा—तिर्यक् चञ्चल नेत्र-विलास (कटाक्षादि) से युक्त तुमने नम्र होते हुए अर्थात् (प्रणय कुपित तुमको प्रसन्न करनेके लिए) चरणोंमें प्रणाम करते हुए इस नलको अर्थात् मुझे नहीं देखा क्या ? [प्रणयकुपित होनेसे तुम्हारे नेत्र कुटिल हो रहे हैं तथा आँसुओंसे भर गये हैं, यही कारण है कि तुमको प्रसन्न करनेके लिये सामने अपने चरणोंपर झुके हुए भी मुझको तुमने नहीं देखा है, अतएव अब रोना बन्द करो और प्रसन्न होवो] ॥ १०३ ॥

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव ।
मसारसाराक्षि[1] ! ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः ॥१०४॥

चकास्तीति । मसारसाराविन्द्रनीलमणिश्रेष्ठौ ताविवाक्षिणी यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः । हे मसारसाराक्षि ! घनाश्रुबिन्दुस्रुतेः सान्द्राश्रुबिन्दुच्युतेः । कैतवात्तव बिन्दोरनुस्वारस्य च्युतमेव च्युतकं बिन्दुच्युतकं विचित्रवाक्यभेदः तत्रातिचातुरी चकास्ति भाति, ततस्तच्चातुर्यादेव संसारं भवं संसारशब्दञ्चात्मना स्वसामर्थ्येन च ससारं सारवन्तं च्युतानुस्वारञ्च तनोषि असंशयं संशयो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । त्वया मे संसारसाफल्यमिति भावः । अत्र कैतवशब्देनाश्रुबिन्दुच्युतेस्ताद्रूप्यापह्नवेन वर्णात्मकबिन्दुच्युतकत्वारोपादपह्नवभेदः, तदुपजीवनेन ससारमिति श्लिष्टपदोपात्तप्रागुक्तार्थद्वयाभेदाध्यवसायेन बिन्दुच्युतकाख्याकाव्यकरणोत्प्रेक्षणात् श्लेषमूला सापह्नवोत्प्रेक्षा सा चासंशयमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ १०४ ॥

---

१. "मसारताराक्षि" इति पाठान्तरम् ।

हे नीलमके समान श्रेष्ठ नेत्रोंवाली (पक्षा०—नीलमके समान पुतलियोंसे युक्त नेत्रोंवाली) ! सघन (अविरल) अश्रुबिन्दुओंके गिरनेके बहानेसे (पक्षा०—सघन अश्रुरूप बिन्दुके नहीं रहनेसे) बूंदोंको गिरानेकी अत्यन्त चतुरता (पक्षा०—'बिन्दुच्युतक' नामक शब्दालङ्कारवाले विचित्र काव्यकी अत्यन्त चतुरता) शोभती है। जिस (चतुरता) से तुम 'संसार' (जगत्, पक्षा०—'संसार' शब्द) को अपने द्वारा निश्चय ही 'ससार' (सारयुक्त, पक्षा०—बिन्दु अर्थात् अनुस्वारके नहीं रहनेसे 'ससार' शब्द) कर रही हो। [तुम अविरल अश्रुबिन्दुओंको जो गिरानेका बहाना कर रही हो, यह तुम्हारी बिन्दुओंको गिराने (पक्षा०—बिन्दुच्युतक शब्दालङ्कारयुक्त विचित्र काव्यरचना करने) में चतुरता है अर्थात् तुम सबसे अधिक अलीक रोदनमें चतुर हो। उस चतुरतासे ही (असार भी) संसार (पक्षा०—'संसार' शब्द) को तुमने 'ससार' (श्रेष्ठ वस्तुसे युक्त, पक्षा०—'ससार' शब्द) कर दिया, अतएव संसारमें तुम्हारे-जैसा अलीक रोदन करनेमें कोई चतुर नहीं है यह तुम्हारा अलीक रोदन भी बहुत ही शोभित हो रहा है। जिस रचनामें किसी शब्दके बिन्दु अर्थात् अनुस्वार हटा देनेसे उस शब्दका दूसरा अर्थ हो जाता है, वह 'बिन्दुच्युतक'[1] नामक शब्दालङ्कारसे युक्त विचित्र काव्य होता है] ॥१०४॥

अपास्तपाथोरुहि शायितं करे करोषि लीलानलिनं किमाननम् ।
तनोषि हारं कियदश्रुणःस्रवैरदोषनिर्वासितभूषणे हृदि ॥१०५॥

अपास्तेति। हे प्रिये ! किं किमित्यपास्तं त्यक्तं पाथोरुट् लीलापयोरुहं येन तस्मिन् करे शायितं स्थापितमारोपितमाननमेव लीलानलिनं करोषि, लीलाकमलपरिहारेण करकपोलकरणे किं कारणमित्यर्थः। अदोषाण्येव निर्वासितानि परित्यक्तानि भूषणानि येन तस्मिन् हृदि अश्रुणःस्रवैरश्रुधाराभिरेव हारं कियत्तनोषि किमर्थं रोदिषीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

(विरहके कारण) लीलाकमलसे शून्य हाथमें मुखको (रखकर उसे) लीलाकमल क्यों बना रही हो ? (चिन्ताको छोड़कर लीलाकमलको हाथमें ग्रहण करो, हाथ अर्थात् हथेलीपर मुख मत रखो)। बिना अपराधके ही निकाले गये हारोंवाले अर्थात् हाररहित हृदयमें आंसूके गिरानेसे हारको कबतक बनाओगी ? (सापराध व्यक्तिको निर्वासित किया

---

१. तद्यथा—"धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः ।
गुरूणां वंचने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ॥" इति ।

अस्य 'ये धर्ममेवाधर्मं विदन्ति, साधुजनानां पक्षस्य नाशाय उद्यताः, गुरूणां वञ्चने प्रतारणे संलग्नाः सन्ति; ते नरके दुःखं प्राप्नुवन्ति' इति सामान्योऽर्थः। 'वंचन' शब्दगस्यानुस्वारस्य नाशे 'ये धर्ममधर्मञ्च जानन्ति, साधुजनानां पक्षपातार्थमुद्यताः सन्ति, गुरूणां वचने सादराः सन्ति, हे नर ! ते के नरा दुखं प्राप्नुयन्ति न केऽपीत्यर्थः' इत्यन्योऽर्थो बिन्दुनाशेन जायत इतीदं पद्यं बिन्दुच्युतकाख्यशब्दालङ्कारयुतं विचित्रं काव्यमिति बोध्यम् ।

(बाहर निकाला) जाता है, किन्तु तुमने अपराध नहीं करनेपर भी हारोंको निकाल दिया है और उनके स्थानपर अश्रुबिन्दुओंको अविरल गिराकर हार-सा बना रही हो, यह अनुचित है, अतः रोना बन्द करो, हृदयको हारसे अलङ्कृत करो] ॥ १०५ ॥

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत् परिमार्जयामि ते ।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ॥१०६॥

दृशोरिति । इदं ते दृशोरक्ष्णोर्मिलदुत्पद्यमानममङ्गल्यममङ्गलकारि जलमश्रु तावत् करेण परिमार्जयामि परिमार्ज्मि, मृजेश्चौरादिकाल्लट् । अथाश्रुमार्जनानन्तरम्, अपराधमात्मवञ्चनदोषं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः समं त्वच्चरणकमलरेणुभिः सहेति सहोक्त्यलङ्कारः । आत्मनो मौलिना मुकुटेन प्रणामेनेत्यर्थः । परिमार्जयामि ॥१०६॥

(तुम्हारे) नेत्रोंमें लगे हुए अमङ्गलकारक इस जल (आंसू) को पहले (अथवा—सम्यक् प्रकारसे) हाथसे परिमार्जित (दूर) करता हूं अर्थात् पोंछता हूं। इसके बाद तुम्हारे चरणकमलद्वयकी धूलिके साथ (अपने किये गये तुम्हारे वञ्चनारूप) अपराधको अपने मस्तकसे परिमार्जित (दूर) करता हूं। [रोना अशुभ है, अतः तुम मत रोवो, तथा यदि मेरे अपराधके कारण तुम रो रही हो तो उस अपराधको चरणकमलोंपर मस्तक रखकर क्षमा कराता हूं, अत एव तुम मेरा अपराध क्षमाकर प्रसन्न हो जावो] ॥ १०६ ॥

मम त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यजत्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ॥ १०७ ॥

ममेति । हे अकारणमेव रोषणे ! कोपने ! "क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च" इति युच्प्रत्ययः । रोहिणी लोहितवर्णा, "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" इति ङीप् नकारश्च । मम किरीटमाणिक्यमयूखानां मञ्जरी सैव रोहिणी चन्द्रप्रिया सैव तारा अस्य पुरःस्थितस्य तवाच्छाङ्घ्रिनखस्यैवामृतद्युतेश्चन्द्रस्योपासनां करोतु, रोहिण्याश्चन्द्रसेवौचित्यादिति भावः। रुषं रोषं त्यज अभीक्ष्णन्त्यजेत्यर्थः। "नित्यवीप्सयोः" इति नित्यार्थे द्विर्भावः । नित्यमभीक्ष्णम् । "प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मना"मिति भावः । रूपकालङ्कारः ॥ १०७ ॥

मेरी रोहिणी (लाल वर्ण, पक्षा०—'रोहिणी' नामकी तारा) मुकुटमें माणिक्योंके किरणोंका समूह या मञ्जरीके समान कान्ति इस (प्रत्यक्षस्थित) तुम्हारे निर्मल चरण-नखरूपी चन्द्रमाकी सेवा करे, हे निष्कारण क्रोध करनेवाली प्रिये ! क्रोधको छोड़ो छोड़ो। [मैं तुम्हारे चरणोंपर मस्तकसे प्रणाम करता हूं, तुम बहुत शीघ्र क्रोधको छोड़ो, निष्कारण क्रोध मत करो। चन्द्रमाकी स्त्री 'रोहिणी' नामकी तारा चन्द्रमाकी जिस प्रकार उपासना करती है, उसी प्रकार मेरी रक्तवर्ण मुकुटमें जड़े हुए माणिक्योंकी लालवर्णवाली कान्ति तुम्हारे चरणोंकी उपासना करती है, अतएव इस सेवासे निष्कारण क्रोधको छोड़कर तुम मेरे ऊपर शीघ्र ही प्रसन्न हो जावो] ॥ १०७ ॥

तनोषि मानं मयि चेन्मनागपि त्वयि श्रये तद्बहुमानमानतः ।
विनम्य वक्त्रं यदि वर्तसे कियन्नमामि ते चण्डि! तदा पदावधि ॥१०८॥

तनोषीति । हे चण्डि ! अतिकोपने ! मनागीषदपि मानं मयि रोषमपि तनोषि चेत् । तत्तर्हि त्वयि विषये आनतः सन् बहुमानं श्रये सन्मानं कुर्वे, प्रतिकोपाशक्तेरिति भावः । अतिकोपं चेति गम्यते । किञ्च वक्त्रं कियत् किञ्चिद्विनम्य विनमय्येत्यर्थः । अन्तर्भावितो णिजर्थः । वर्तसे तदा ते पदावधि पादपर्यन्तं नमामि । पूर्वोक्त एवाभिप्रायः ॥ १०८ ॥

यदि तुम मुझमें थोड़ा भी मान करती हो, तो मैं तुम में नम्र होकर अधिक मान (पक्षा०—सत्कार) करता हूं । (और) हे चण्डि (कोपशीले प्रिये) ! यदि मुखको (रोषके कारणसे) कुछ अर्थात् थोड़ा भी झुकाकर रहती हो तो मैं (अपने मुखको) तुम्हारे चरणों तक झुकाता हूं । [तुम्हारे थोड़े मानको बहुत मानसे तथा थोड़ी मुखकी नम्रताको चरणों तक अपने मुखको नम्रकर क्रमशः तुम्हारे मान तथा क्रोधको दूर करता हूं । अतएव मान तथा क्रोध छोड़कर तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होवो] ॥ १०८ ॥

प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ।
क्व याचतां कल्पलतासि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ॥१०९॥

प्रभुत्वेति । हे भैमि ! प्रभुत्वभूम्ना प्रभुत्वप्रयुक्तगौरवेणानुगृहाण वा न वा, किन्तु प्रणाममात्रस्याधिगमे स्वीकारेऽपि कः श्रमः को भार इत्यर्थः । अथ सोऽपि माभूत् दर्शनमात्रेणापि किं नानुगृह्णासीत्याह—क्वेति याचतामर्थिनां कल्पलतासि, क्व ? त्वं क्वेत्यर्थः । असीतित्वमर्थवाक्यालङ्करणयोर्युष्मदर्थानुवादेऽपीति गणव्याख्यानात् । मां प्रति दृष्टिदाने बद्धमुष्टिता लुब्धता क्व ? 'स्याद्बद्धमुष्टिः कृपणे कृपणादिषु चेष्यत' इति विश्वः । विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः ॥ १०९ ॥

(मेरे जीवनका एकमात्र आधार होनेसे मेरे ऊपर तुम्हारा पूर्ण प्रभुत्व है, अतएव उस) प्रभुत्व की बहुलतासे (मुझे) अनुगृहीत करो या न करो किन्तु केवल (मेरे) प्रणाममात्र के स्वीकार करनेमें कौन प्रयास है ? (प्रभु प्रजा या दासजन पर अनुग्रह करे या न करे; किन्तु दासके प्रणामको तो स्वीकार करता ही है, अतएव तुम मेरे अपराधको क्षमा करो या न करो; किन्तु मेरे प्रणामको तो अवश्य स्वीकार करो) । याचना करनेवालोंकी कल्पलता हो यह कहां ? (तथा) मेरे प्रति दृष्टि मात्र देने अर्थात् एक नजर देखनेमें भी तुम्हारी बद्धमुष्टिता (कृपणता, पक्षा०—कुछ नहीं देना पड़े इसके लिए मुट्ठी बांध लेना) कहां ? अर्थात् दोनोंमें महान् अन्तर है, अतः तुम केवल कटाक्षमात्रसे भी देखकर मुझे अनुगृहीत करो ॥ १०९ ॥

स्मरेषुबाधां सहसे मृदुः कथं हृदि द्रढीयः कुचसंवृते तव ।
निपत्य वैसारिणकेतनस्य वा व्रजन्ति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥११०॥

स्मरेति । हे भैमि ! मृदुः मृदङ्गी त्वं स्मरेषुबाधां कामबाणव्यथां कथं सहसे ? अथवा विसरतीति विसारी स एव वैसारिणो मत्स्यः "विसारिणो मत्स्ये" इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तत्केतनस्य कामस्य बाणाः द्रढीयोभ्यां दृढतराभ्यां कुचाभ्यां संवृते तव हृदि निपत्य विमुखाः कुचप्रतिहत्या पराङ्मुखाः । अत एवोत्पतिष्णवः उत्पतनशीलाः, "अलङ्कृञि" त्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः । तत्तां व्रजन्ति वा, अन्यथा कथमुपेक्षस इति भावः ॥ ११० ॥

सुकुमारी तुम कामदेवके बाणोंकी पीडाको क्यों सहती हो ? अथवा मीनकेतन अर्थात् (कामदेवके बाण दृढ स्तनोंसे संवृत तुम्हारे हृदयमें गिरकर अर्थात् लगकर विमुख होते (लौट जाते, या मुड़ जाते) तथा उछल जाते हैं । [जिस प्रकार कठिन पत्थर आदिमें गिरे हुए बाण या कील आदि मुड़ते तथा उछल जाते हैं, उसी प्रकार दृढ स्तनरूप कवचसे सुरक्षित तुम्हारे हृदयमें कामबाण कोई असर नहीं करते हैं, अन्यथा सुकुमारी तुम कामदेवके बाणोंकी पीडाको कैसे सहती । दृढ कवचसे सुरक्षित योद्धाके शरीरमें बाणोंका असर नहीं होना उचित ही है] ॥ ११० ॥

स्मितस्य संभावय सृक्कणा कणान् विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवोः ।
अपाङ्गरथ्यापथिकीञ्च हेलया प्रसह्य[1] सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११॥

स्मितस्येति । स्मितस्य कणान्मन्दहासलेशान् सृक्कणा ओष्ठप्रान्तेन । 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी' इत्यमरः । सम्भावय सम्मानय भ्रुवोरञ्चलमन्तं लीलया चलं चञ्चलं विधेहि । तथा अपाङ्गरथ्या कटाक्षमार्गः । तत्र पन्थानं गच्छतीति पथिकीं सञ्चारिणीं "पथः ष्कन्" इति ष्कन्प्रत्यये "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । दृशं ममोपर्युपरिष्टात्, "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेने"ति षष्ठी । हेलया प्रसह्य बलात् सन्धेहि प्रसारयेत्यर्थः । "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे" त्येकारः ॥ १११ ॥

ओष्ठप्रान्तसे मधुर हासके लेशोंको सुशोभित करो, भ्रूद्वयके प्रान्तको लीलासे चञ्चल करो अर्थात् विलासपूर्वक भ्रूक्षेप करो, नेत्रप्रान्तरूपी मार्गमें नित्य चलनेवाली अर्थात् कटाक्ष करनेवाली दृष्टिको मेरे ऊपर अर्थात् मुझे लक्ष्यकर बलात्कारसे (पाठा०—प्रसन्न होकर विलाससे या अनायाससे) फेंको अर्थात् मुझे कटाक्षपूर्वक देखो (पाठा०—प्रसन्न होवो) ॥ १११ ॥

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषां स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः ।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी विकाशिपङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥११२॥

समापयेति । किञ्चाश्रुविप्रुषां प्रावृषं वर्षर्तुं वृष्टिमित्यर्थः । समापय मा रोदीरित्यर्थः । प्रावृट्समाप्तेः फलमाह – स्मितेन मन्दहासेन कौमुदीमुदो विश्राणय वितर । श्रण दान इति चौरादिकाल्लोट् । दृशावेव खञ्जनद्वयी खञ्जनपक्षियुगमितो

---

१. "प्रसह्य" इति "प्रसीद" इति च पाठान्तरम् ।

मयि खेलतु प्रसरतु, ते मुखं विकासि पङ्केरुहमस्तु, प्रसन्नं भवत्वित्यर्थः ॥११२॥

अश्रु–बिन्दुओंके वर्षाकालको समाप्त करो अर्थात् रोना बन्द करो, मधुर हासके चन्द्रिका हर्षको (मुझे) दो, चञ्चल होनेसे नेत्ररूप दो खञ्जन पक्षी इधर (मेरे पास, या मेरे ऊपर) खेलें और तुम्हारा मुख विकसित कमल होवे। [वर्षाकालके समाप्त होनेपर शरद् ऋतुकी निर्मल चांदनीका होना, खञ्जन पक्षीका खेलना और कमलका विकसित होना उचित ही है, अतः तुम रोना बन्दकर हंसो, कटाक्षसे देखो और प्रसन्नमुखी होवो] ॥११२॥

सुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजान्तर्मम कर्णकूपयोः ।
दृशौ मदीये मदिराक्षि! कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

सुधेति । हे मदिराक्षि ! मदकराक्षि ! "इषिमदी"त्यादिना औणादिकः किरच्प्रत्ययः। अक्षरस्रजा वर्णावल्या वाग्गुम्फेन कर्णकूपयोरन्तः सुधारसस्योद्वेलनकेलिमुन्मज्जनलीलां सृज । आलपेत्यर्थः। किञ्च मदीये दृशौ स्मितश्रिया करणेन पायसपारणाविधिं पायसभोजनविधिमपि कारय। 'परमान्नन्तु पायसम्' इत्यमरः। "हृक्रोरन्यतरस्याम्" इति विकल्पादणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ११३ ॥

वर्णोंकी माला (वचन–समूह) से मेरे कर्णकूपद्वयके भीतर अमृतरसकी अतिशय क्रीडाको करो अर्थात् अपने वचनामृतसे मेरे कानोंको तृप्त करो, हे मतवाले नेत्रोंवाली ! मेरे दोनों नेत्रोंको मधुर मुस्कानकी शोभासे खीरकी पारणा करावो [आज तक मेरे नेत्रोंने तुम्हारे दर्शनाभावरूप उपवास व्रत किया है, अतः मधुर मुस्कानसे उन्हें पायस (दूधसे बने पदार्थ–खीर) से पारणा करावो अर्थात् मधुर मुस्कानको दिखाकर उन्हें सन्तुष्ट करो। व्रतीको खीरकी पारणासे सन्तुष्टकर तृप्त करना उचित ही है] ॥ ११३ ॥

ममासनार्धे भव मण्डनं नन प्रिये ! मदुत्सङ्गविभूषणं भव ।
भ्रमाद्भ्रमादालपमङ्ग ! मृष्यतां विना ममोरः कतरत्तवासनम् ॥११४॥

ममेति । हे प्रिये ! ममासनार्धे मण्डनं भव। तत्रोपविशेत्यर्थः। नन। अत्यनुचितमेतदित्यर्थः। किंतु मदुत्सङ्गविभूषणं भव, अङ्कमारोहेत्यर्थः। तदपि नेत्याह—भ्रमाद्भ्रमादालपं भ्रमादालपं भ्रमादालपमित्यर्थः। लपेर्लङ्। अङ्ग ! भो ! मृष्यतां क्षम्यतां, किंतु ममोरो वक्षो विना तवासनं कतरत् किमस्ति ? चापले द्वे भवत इति वक्तव्यमिति ननेत्यादौ चापले द्विर्भावः। चापलं संभ्रमान्निवृत्तिः सम्भ्रमश्चानौचित्यभयादिति। अत्र भैम्याः क्रमेणाधारवृत्तिकथनात्पर्यायालङ्कारः। 'एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्यायः' इति सर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ११४ ॥

मेरे सिंहासनपर भूषण बनो अर्थात् सिंहासनको अलङ्कृत करो, नहीं नहीं, मेरे उत्सङ्ग (अङ्क, क्रोड अर्थात् गोदी) का विशिष्ट अलङ्कार बनो, हे अङ्ग ! यह भी अत्यन्त भ्रमसे (मैंने) कहा (पाठा०—हे अङ्ग ! मैंने भ्रमसे कहा), क्षमा करो, मेरे वक्षःस्थलके अतिरिक्त

तुम्हारा आसन कौन–सा है ? अर्थात् कोई नहीं । [तुम्हारे योग्य आसन मेरा वक्षःस्थल ही है, मेरा सिंहासन या उत्सङ्ग नहीं । उन्हें तो मैंने भ्रमसे कह दिया था, अतः उसकी क्षमा चाहता हूं] ॥ ११४ ॥

अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने ! स्थिता मदन्तर्बहिरेषि चेद्दुरः ।
स्मराशुगेभ्यो हृदयं बिभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयसंपुटे मम ॥ ११५ ॥

किञ्चोरःस्थलाद्यवस्थानेषु ममापि कामादभयमित्याह—अधीतेति । अधीता अभ्यस्ता पञ्चाशुगस्य पञ्चेषोर्बाणानां वञ्चना प्रतारणाविद्या यया सा तथोक्ता तस्याः सम्बुद्धिः । प्रायेण मनस्विनां लज्जावशंवदतया मदनवञ्चनताच्छील्यादित्थं सम्बोध्यते स्वहृदयप्राणसामर्थ्यसूचनार्थं हे भैमि ! त्वं मदन्तर्ममाभ्यन्तरे स्थिता अवस्थिता । अथ बहिरुरश्चैषि प्राप्नोषि चेत् तत्तर्हि मम हृदयं (कर्तृ) त्वन्मये त्वदात्मके संपुटे पेटिकायां प्रविश्य स्मराशुगेभ्यः स्मरशरेभ्यो न बिभेतु । त्वया गुप्तस्य मे कुतः कामाद्भयमित्यर्थः ॥ ११५ ॥

हे कामबाणको वञ्चना करनेकी विद्याको पढ़ी हुई दमयन्ती ! मेरे अन्तःकरण अर्थात् हृदयके भीतरमें स्थित तुम यदि बाहर (वक्षःस्थलपर) आवोगी तो त्वद्रूप सम्पुट (वक्स आदि) में प्रवेशकर मेरा हृदय कामदेवके बाणोंसे नहीं डरेगा । [सर्वदा अन्तःकरणमें स्थित यदि बाहर आकर आलिङ्गन करोगी तो मुझे कामदेव पीडित नहीं करेगा, क्योंकि बाहर–भीतर रूप दो सम्पुटोंमें प्रवेश करनेके कारण कामबाणोंसे मेरा हृदय निर्भय हो जायगा] ॥ ११५ ॥

परिष्वजस्वानवकाशबाणता स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽस्तु नौ ।
दृढा मम त्वत्कुचयोः कठोरयोरुरस्तटीयं परिचारिकोचिता ॥११६॥

परिष्वजस्वेति । हे प्रिये ! परिष्वजस्व आलिङ्ग । तथा सति लग्ने मिथोघटिते नौ आवयोर्हृदयद्वये स्मरस्यानवकाशा नीरन्ध्रत्वान्निरवकाशा बाणा यस्य तस्य भावस्तत्ता अस्तु । इत्थमालिङ्गनं स्मरशरप्रवेशानवकाशकारकमिति भावः । किञ्च दृढा कठोरा ममेयमुरस्तटी कठोरयोस्त्वत्कुचयोः परिचारिका उचिता युक्ता । समानगुणयोः सम्बन्धो युक्त इत्यर्थः । अत्र समालङ्कारः । "सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः" इति लक्षणात् ॥ ११६ ॥

(तुम मेरा) आलिङ्गन करो, हम दोनोंके हृदयद्वयके मिल (परस्परमें अत्यन्त चिपक) जानेपर कामबाणके प्रवेश करनेका भी अवकाश (खाली स्थान) नहीं रहेगा । दृढ (मजबूत, या विशाल) मेरी यह उरस्तटीको तुम्हारे कठिन दोनों स्तनों की सेविका होना उचित है । योग्य व्यक्तियोंका परस्पर समागम होना उचित ही है । परस्परमें अत्यन्त चिपके हुए किसी स्थान या शरीर आदिमें तीसरे किसी सूक्ष्म वस्तुके प्रवेश करने की आशङ्का नहीं रहती; अतः तुम मेरा गाढ आलिङ्गन करो, जिससे कामपीडा दूर हो जाय] ॥ ११६ ॥

शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया ।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः ॥ ११७ ॥

शुभेति । यत्र यस्मिन् तवाधरे रेखया रेखाभिरित्यर्थः । जातावेकवचनम् । त्वदनङ्गजन्मनः त्वदीयमन्मथोदयस्य सम्बन्धी शुभाष्टवर्गः शुभसूचकाष्टवर्गो ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धः अलिख्यत रेखारूपेण लिखितः । रेखारूपस्यैव शुभावेदकत्वात् बिन्दुरूपस्य वैपरीत्याच्चेति भावः । मदीयदन्तक्षतानां राज्या रञ्जनैः बिम्बफलवत् पाटलः सोऽधरः भूर्जतां भूर्जपत्रत्वमर्जतु भजतु । अर्जेर्भौवादिकाल्लोट् । अत्राधररेखाणामष्टवर्गरेखात्वमधरस्य भूर्जपत्रत्वं चोत्प्रेक्ष्यते । तेन च कामोदयस्य शुभोदर्कत्वं व्यज्यते । जन्मकालग्रहाधीनभाविशुभावेदको रेखाबिन्दुलेख्यश्चक्रविशेषोद्धार्यो ग्रहसन्निवेशविशेषोऽष्टवर्गः ॥ ११७ ॥

तुम्हारे कामके उत्पत्ति (पक्षा०—विना शरीरसे उत्पन्न अर्थात् मानसपुत्र) का शुभ अष्टवर्ग रेखाओंसे जिस तुम्हारे अधरमें (ज्यौतिषी विद्वान् या ब्रह्मा द्वारा) लिखा गया है, मेरे दन्तक्षतसमूहके द्वारा रंगने से बिम्बफलके समान लाल वह अधर भूर्जपत्र बने । [पुत्रकी कुण्डलीमें आठ रेखाओंवाला अष्टवर्ग ज्यौतिषी विद्वान् लिखते हैं, उनमें रेखाओंका रहना शुभ तथा बिन्दुओंका अशुभ माना जाता है और वह कुण्डली भोजपत्रपर लिखी जाती है; यहां तुम्हारे अधरमें रेखाएं अष्टवर्गकी रेखाएं हैं और मेरे दन्तक्षत–समूह के द्वारा रंगनेसे तुम्हारा अधर ही भूर्जपत्र है । तुम्हारे अधरमें रेखाओंका होना सामुद्रिक शास्त्रानुसार शुभसूचक है । प्राचीन कालमें वर्तमान काल-जैसा कागजकी सुलभता नहीं रहनेसे यहां जन्मपत्री (कुण्डली) को भूर्जपत्र पर लिखनेका वर्णन किया गया है । प्राचीन कालके लिखित ग्रन्थ अब भी ताडपत्र आदिमें ही उपलब्ध होते हैं ॥ ११७ ॥

तवाधराय स्पृहयामि यन्मधुस्रवैः श्रवःसाक्षिकमाक्षिका गिरः ।
अधित्यकासु स्तनयोस्तनोतु ते ममेन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं नखः ॥११८॥

तवेति । किञ्च तवाधराय स्पृहयामि । अधरं पातुमिच्छामीत्यर्थः । "स्पृहेरीप्सित" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । कुत इति चेत्—यस्याधरस्य मधुस्रवैः माक्षिकद्रवैः तव गिरो वचनानि श्रवसी श्रोत्रे साक्षिणी यस्य तच्छ्रवःसाक्षिकं माक्षिकं यासु ताः । श्रोत्रपेया इति भावः । भवन्तीति शेषः । किञ्च ते स्तनयोरधित्यकासूर्ध्वभागेषु

१. "प्रकाश" व्याख्यायां 'न वर्तसे⋯⋯(९।११९) इत्यस्यानन्तरं व्याख्यातो 'जीवातु' व्याख्याने सर्वत्रानुपलम्भात् कैश्चित्यक्तश्चायं श्लोकः 'अयि प्रिये कस्य⋯⋯ (९।१०३)' इत्यस्य व्याख्यायामतः प्रलापमेवाष्टादशभिराचष्टे' इत्युक्त्या एतच्छ्लोकं विना तदष्टादशश्लोकपूर्त्यभावान्मद्रपुरस्थराजकीयपुस्तकालयस्थग्रन्थेऽस्य 'जीवातु' व्याख्योपलम्भादयं श्लोकोऽत्र स्थापित इत्यवधेयम् । 'जीवातु' व्याख्यामेधयमानेन पं० जीवानन्दशर्म्मणाप्ययं श्लोको न व्याख्यातः ।

'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । "उपाधिभ्यान्त्यकन्नासन्नारूढयो" इति त्यकन्प्रत्ययः । एतेन स्तनयोरद्रिरूपणं गम्यते । मम नखः इन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं चन्द्रकलोदयचित्रं तनोतु । कुचकुम्भयोर्नखक्षतञ्च कर्तुमिच्छामीत्यर्थः ॥११८॥

(मैं) तुम्हारे अधरको चाहता हूं अर्थात् अधरका पान करना चाहता हूं, जिसके मधुक्षरणसे तुम्हारे वचन-कान है साक्षी, जिसका ऐसे मधु हैं। तुम्हारे स्तनद्वयरूप पर्वतके ऊपरी भागोंमें मेरा नख रेखाके उदयसे आश्चर्यका विस्तार करे अर्थात् स्तनोंपर नखक्षत भी करना चाहता हूं। [पर्वतके शिखरपर जिस प्रकार वक्र चन्द्रोदय होता है, उसी प्रकार तुम्हारे अतिविशाल स्तनोंके ऊपर नखक्षतकर पर्वतपर वक्र चन्द्रोदय होने के आश्चर्य का विस्तार करना चाहता हूं] ॥ ११८ ॥

न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी ।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः ॥११९॥

नेति । हे भैमि ! त्वं सन्मथेन कविना कृता नाटिका रूपकविशेषो सन्मथनाटिका सती कथं न वर्तसे, वर्तस एवेत्युत्प्रेक्षा । मन्मथोद्दीपनेति च प्रतीयते । उभयं श्लिष्टविशेषणैरुपपादयति—प्रकाशं स्फुटं रोमावलिः सूत्रमिव रोमावलिसूत्रं तद्धारिणी अन्यत्र सूत्रधारः कथाप्रस्तावकः तद्वती सूत्रधारिणी तव अङ्गहारे मुक्ताहारे नायको मध्यमाणिक्यं रुचिं शोभामेति अन्यत्र नायकः कथानायकोऽङ्गहारे अङ्गविक्षेपे रुचिं प्रीतिमेति । शिखामणिः शिरोरत्नञ्च द्विजराजश्चन्द्रस्य विशेषेण दूषको निन्दको विदूषकस्ततोऽपि रमणीय इत्यर्थः । अन्यत्र द्विजराट् ब्राह्मणो विदूषको नायकस्य हास्यप्रायो नर्मसचिवः शिखामणिरादरणीय इत्यर्थः । एवं सूत्रधारादियोगात् कथं न नाटिकासीत्यर्थः । अन्यत्र यौवनालङ्कारादियुक्ता कथं न सन्मथोद्दीपनेत्यर्थः । "आलम्बनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः । तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुर्धोद्दीपनक्रमः"। इति लक्षणात्॥

शोभमान (नाभिके अधोभागस्थ) रोमसमूहरूप सूत्रको धारण करनेवाली तुम कामोन्मादिनी नहीं हो क्या ? अर्थात् कामोन्मादिनी ही हो, तुम्हारे शरीर अर्थात् हृदयके हारमें (अथवा—हे अङ्ग ! तुम्हारे हारमें मध्य भागस्थ बड़ा मनिया (हारका दाना) शोभा पा रहा है तथा (निर्मल, गोलाकार तथा आह्लादक होनेसे) चन्द्रमाको अत्यन्त तिरस्कृत करनेवाला मुकुट का मणि (अथवा—चोटीमें स्थापित मणि–विशेष) शोभित हो रहा है । [नाटिका[1] पक्षमें—स्पष्टतया रोमावलीरूप सूत्रधार (नान्दीके बाद कथांशको सर्वप्रथम सूचित

१. नाटिकालक्षणं साहित्यदर्पण उक्तं विश्वनाथेन । तद्यथा—
"नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका। प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा । नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा ॥
सम्प्रवर्तेत नेताऽस्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः । देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः । वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥"

करनेवाला पात्र-विशेष) वाली कविकी नाटिका (उपरूपकभेद गत लघुनाटक-विशेष) नहीं हो क्या ? अर्थात् अवश्य हो; तुम्हारे अङ्गहार अर्थात् नृत्यमें नायक अर्थात् मुख्य पात्र प्रीतिको पा रहा है, तथा शिखामणि (नायकपूज्य चूडामणि) द्विजराज (ब्राह्मणादि वर्णत्रयका राजा अर्थात् ब्राह्मण) विदूषक (नायकका नर्मसचिव हास्यकारक पात्र विशेष) है] ॥ ११९ ॥

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्मम त्वमेकासि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

गिरा इति । गिरा सम्भाषणेनानुकम्पस्व, चुम्बनैर्दयस्व दयां कुरु, मया कुचौ शुश्रूषयितुं प्रसीद, अन्यथा कथमहं जीवेयमित्याशयेनाह—यत् यस्मात् चान्द्रस्य करोत्करस्य किरणसमूहस्य निशेव नलस्य मम त्वमेका जीवितमसि चन्द्रस्य दिवापि जीवनसम्भवात् करग्रहणं तस्य निशैकशरणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

वचनसे अनुकम्पा करो अर्थात् मुझसे बातें करके मुझे अनुकम्पित करो, चुम्बनोंसे (चुम्बनोंको देकर) दया करो, मुझसे स्तनोंकी शुश्रूषा करानेके लिये प्रसन्न होवो, चन्द्र-सम्बन्धी किरण-समूहों का रात्रिके समान नलका अर्थात् मेरा एकमात्र तुम्हीं जीवन हो। [जिस प्रकार किरण-समूहोंसे युक्त चन्द्रमाका जीवन रात्रि है, उसी प्रकार मेरा प्राणाधार एकमात्र तुम्हीं हो; अत एव सम्भाषण कर, चुम्बन देकर तथा स्तन-मर्दन करा कर मुझे अनुगृहीत करो; अन्यथा मैं नहीं जी सकता हूं] ॥ १२० ॥

मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसाववुध्यत ।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयाऽसृजद्गिरः ॥१२१॥

मुनिरिति । अथैवं भ्रान्त्यनन्तरमसौ नलो मुनिर्यथा मुनिरिव प्रबोधवानुत्पन्नतत्त्वावबोधः सन्नात्मानं स्वं स्वरूपं प्रकाशयन्तं सन्तमबुध्यत, नलरूपता प्रकाशितेत्यबुद्धेत्यर्थः। अथ प्रपन्नां प्राप्तां तां प्रकृतिं स्वभावं विलोक्यापि ज्ञात्वापि अवाप्तः उद्बुद्धः संस्कारो निजदूतत्वस्मारकवासना येन तस्य भावस्तत्ता तया गिरो दूत्यानुगुणान्येव वाक्यान्यसृजदवोचदित्यर्थः । यथा मुनिर्योगलब्धात्मतत्त्वावबोधोऽपि वासनावशात् बाह्यमनुसन्धत्ते तथा नलोऽपि प्रकटितात्मा पुनः संस्कारवशात् दूत्यमेवानुसरन्नुवाचेत्यर्थः ॥ १२१ ॥

इसके बाद (गत श्लोकमें अपना नाम प्रकाशित करनेके बाद) यह नल मुनिके समान प्रबोधयुक्त हुए अपने स्वरूप ('मैं नल हूं' ऐसा) को प्रकाशित करते हुए समझ (यह नल ही हैं, ऐसा जान) कर प्रकृतिस्थ रोदन तथा विलापादिसे रहित उस दमयन्ती (अथवा—दूतधर्मसे उद्बुद्ध अपनी प्रकृति) को देखकर फिर संस्कारको प्राप्त करने ('मैं दूत हूं' अतः अपने दूत-कार्यको छोड़ना उचित नहीं है, ऐसे संस्कारके उत्पन्न होने) से वचन बोले—

[शास्त्रादि अभ्यास तथा योग आदिके द्वारा संसारके आवागमन को दूर करनेमें समर्थ ज्ञानको पाया हुआ योगी अपनेको स्वप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जान लेता है, और वैसा जानकर पूर्व संस्कारोंसे या प्राप्त ब्रह्मज्ञानसे सत्त्वादि गुणत्रयरूप एवं संसारोत्पादिनी अनादि अविद्याको पृथग्भूत जानकर 'मैं पहले मनुष्य था' इत्यादि जानता है और इस प्रकार आत्मा तथा प्रकृति को विवेकके द्वारा जानकर बातें करता है, उसी प्रकार नलने दमयन्तीके विलापादिसे उन्मादित होकर पहले दूतधर्मको भूल कर बोलते हुए जब नाम बतलाकर अपना परिचय दे दिया, तब दूत-सम्बन्धी संस्कारके फिर उद्बुद्ध होने से दूतोचित वचन बोलने लगे] ॥ १२१ ॥

अये मयात्मा किमनिह्नुतीकृतः किमत्र मन्ता स तु मां शतक्रतुः ।
पुरः स्वभक्त्याथ नमन् ह्रियाविलो विलोकिताहे न तदिङ्गितान्यपि ॥

अये इति । अये इति विषादे । 'अये विषादे क्रोधे च' इति विश्वः । मया आत्मा स्वरूपं किं किमर्थमनिह्नुतीकृतः प्रकाशितः, अत्रात्मप्रकाशने स शतक्रतुरिन्द्रस्तु मां किं मन्ता मंस्यते । अथ पुरोऽग्रे स्वभक्त्या नमन् प्रणमन् ह्रिया आविलः कलुषः सन् तस्येन्द्रस्येङ्गितानि चेष्टितान्यपि न विलोकिताहे न विलोकयिष्यामि । लुटीट् । तन्मुखमवलोकितुमपि नोत्सहे इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

अरे ! मैंने अपने स्वरूपको क्यों प्रकाशित कर दिया अर्थात् 'मैं नल हूं' ऐसा दमयन्ती को क्यों जना दिया (यह तो बड़ा अनुचित हो गया), इस (मेरे दूतकर्मके) विषयमें शतक्रतु (इन्द्र, पक्षा०—सैकड़ों अर्थात् बहुत अधिक क्रोध करनेवाले) क्या मानेंगे ? अर्थात्—मुझे अपने दूत-कर्मसे भ्रष्ट ही मानेंगे। पहले (दूत कर्मको स्वीकार करते समय) तथा इस समय (अपना कर्तव्यपालन न करनेके कारण) लज्जासे नम्र मैं उनकी चेष्टाओं (क्रोधजन्य भ्रूभङ्ग आदि विकारों) को भी नहीं देखूंगा, दुःख है। [कर्तव्यसे भ्रष्ट होनेके कारण मैं इन्द्रके सामने लज्जासे मुख भी ऊपर नहीं उठा सकूंगा। लोकमें भी कर्तव्यभ्रष्ट दास स्वामीके सामने मुख नहीं उठाता] ॥ १२२ ॥

स्वनाम यन्नाम मुधाभ्यधामहं महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्झितम् ।
हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः[1] ॥ १२३ ॥

स्वेति । यद्यस्मात् मुधा वृथैव स्वनाम अभ्यधान्नाम ? अवोचं खलु ? तन्महदेतन्महेन्द्रकार्यमुज्झितं त्यक्तम् । अहो हनूमदाद्यैः दूतपथो यशसा सितीकृतो धवलीकृतो मया पुनर्द्विषां हसैर्हासैः, "स्वनहसोर्वा" इत्यप्प्रत्ययः । सितीकृतो धवलीकृतः । यशोवद्धासस्यापि धवलत्वादिति भावः । विश्वेश्वरीये तु हासस्य धावल्येऽपि शत्रुहासस्य मालिन्यापादकत्वादित्याशयेन मेचकीकृतमिति व्याख्यातम् । "सितौ

१. "शितीकृतः" इति पाठान्तरम् ।

धवलमेचकौ" इत्यमरः। अत्र हनूमद्ग्रहणं पूर्वकल्पाभिप्रायमन्यथा कृतत्रेतावर्तिपुरुषयोः पौर्वापर्यविरोधादिति ॥ १२३ ॥

मैंने जो अपना नाम व्यर्थमें प्रकट कर दिया, यह महेन्द्रका बड़ा कार्य छोड़ दिया। हनुमान् आदिके द्वारा (ठीक २ दूतकार्य करके) यशसे श्वेत किये गये मार्गको मैंने शत्रुओंकी हँसी (उपहास) से श्वेत (पाठा०—काला अर्थात् दूषित) कर दिया। [हनुमान् आदि दूतोंने अपना दूतकार्य यथोचित करके यश प्राप्त किया तथा मैंने अपने नामको यहां बतलाकर बड़ा अनुचित किया, अतः मेरे शत्रु 'इन्द्रादि दिक्पालोंका दूतकार्य स्वीकारकर नलने वहां पर अपना ही कार्य सिद्ध किया, या इन्द्रादिका नहीं किया, ऐसा उपहास करेंगे, इस प्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होकर मैंने शत्रुओंका उपहास प्राप्त किया] ॥ १२३ ॥

धियात्मनस्तावदचारु नाचरं परस्तु यद्वेद स तद्वदिष्यति।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम् ॥१२४॥

धियेति। अथवा तावदात्मनो धिया बुद्धिपूर्वकमित्यर्थः। अचारुसाधु नाचरं एवं स्थिते परोऽन्यो जनो यदचारु वदिष्यति तत्तु जनानामवनाय रक्षणायोद्यमिनमुद्योगिनं विष्णुमिति शेषः, जनानामर्दयतीत्यर्दनं संहर्तारम्। नन्द्यादित्वात् ल्युट् प्रत्ययः। अथ क्षये कल्पान्ते जगज्जीवानां पिबतीति पिबं संहर्तारं रुद्रमिति शेषः। "पाघ्रादिना" शप्रत्ययः। शिवं शान्तं वदन्, शिवमशिवमशिवं शिवञ्च वदन्नित्यर्थः। स पर एव वेद अनर्गलो लोकस्तावदास्तां ममानपराधित्वमन्तर्यामिसाक्षिकमिति भावः ॥ १२४ ॥

(अथवा—) यह कार्य (स्व-नाम-प्रकाशन) मैंने बुद्धिसे नहीं किया अर्थात् अबुद्धिपूर्वक (उन्मादित होनेसे अज्ञानपूर्वक) किया (अतः मेरा कोई अपराध नहीं है, फिर भी) लोगोंकी रक्षाके लिए प्रयत्नशील (विष्णुको) जनार्दन (मनुष्योंको पीडित करनेवाला) तथा प्रलयकालमें संसारके प्राणोंको पीने (नष्ट करने) वाले (रुद्रको) शिव (मङ्गल करनेवाला) कहनेवाले दूसरे व्यक्ति (या शत्रु) जो (अज्ञानपूर्वक नाम प्रकाशित करनेसे दोषरहित होनेपर भी मुझे सदोष) कहेंगे, वह मैं जानता हूं। लोग अनर्गल बातें कहा करते हैं, उसे रोकनेका कोई उपाय नहीं है ॥ १२४ ॥

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभरात् यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम्।
विदन्तु ते तत्त्वमिदं तु दन्तुरज्जनानने कः करमर्पयिष्यति ॥ १२५ ॥

स्फुटतीति। अदो हृदयं त्रपाभराल्लज्जातिभारात् स्फुटति किम्? स्फुटिष्यति किम्? "आशंसायां भूतवच्च" इति चकारादाशंसायां भविष्यदर्थे वर्तमानवत्प्रत्ययः। यद्यस्मात् स्फुटनादस्य हृदयस्य शुद्धिर्विबुधैर्देवैर्विबुध्यतां ज्ञायताम्। अतः स्फुटनमाशास्यमित्यर्थः। परन्तु ते विबुधास्तत्त्वं हृदयशुद्धिं विदन्तु, तथापि दन्तुर-

मतिर्विषमन्तदेवाह–जनानने कः करमर्पयिष्यति न कोऽपीत्यर्थः । कथञ्चिद्देवताप्रत्यायनेऽपि जनप्रत्यायनं दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ॥ १२५ ॥

('दमयन्तीके सामने अपने नामको प्रकाशितकर मैंने इन्द्रादि दिक्पालोंका दूतकार्य नहीं किया' इस) लज्जाके बोझ (अधिकता) से यह मेरा हृदय क्यों विदीर्ण हो रहा है (ऐसा होना उचित नहीं है) क्योंकि विबुध (इन्द्रादिदेव, पक्षा०—विशिष्ट ज्ञानवाले—पण्डित) इसकी अर्थात् मेरे हृदयकी शुद्धिको अच्छी तरह जानें । वे देवता प्रकाशमान (सर्वान्तर्यामी होनेसे स्पष्ट दिखलाई पड़ता हुआ) इस तत्त्व (मेरी निष्कपट वृत्ति) को जानें, लोगोंके मुखपर हाथ कौन रखेगा (लोगोंके मुखको कौन बन्द करेगा) ? अर्थात् कोई नहीं । [दुनियांके लोग चाहे कुछ कहें, सर्वान्तर्यामी देवता मेरी निष्कपट वृत्तिको जानते हैं, अतः मुझे लज्जित एवं दुःखित नहीं होना चाहिये] ॥ १२५ ॥

मम श्रमश्चेतनयानया फली बलीयसाऽलोपि च सैववेधसा ।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः ॥ १२६ ॥

ममेति । मम श्रमो दूत्यप्रयासः अनया चेतनया स्वरूपनिगूहनबुद्ध्या फली सफलः स्यात् , बलीयसा बलवत्तरेण वेधसा दैवेन सा चेतनैवालोपि नाशिता च । तथा हि-दैवस्य स्वरसात् स्वेच्छातो विनश्वरं वस्त्वर्थं सुरेश्वरः शक्रोऽपि प्रतिकर्तुं नेश्वरो न शक्त इत्यर्थान्तरन्यासः । ईदृशी भवितव्यतेति भावः ॥ १२६ ॥

इस चैतन्य ('मैं दूत हूं' ऐसे ज्ञान) से मेरा परिश्रम (दूतकर्म) सफल है, उस (चेतना) को बलवान् दैवने ही नष्टकर दिया (दैववश मेरा चैतन्य ही नष्ट हो गया, अन्यथा मैं अपना नाम कदापि प्रकाशित नहीं करता, अतः मेरा कोई अपराध नहीं है; क्योंकि) दैवेच्छासे नाशशील पदार्थको देवेन्द्र भी ठीक करनेके लिये समर्थ नहीं हैं तो मनुष्य होकर मैं कैसे ठीक कर सकता हूं । [अतः मुझे अपनेको कर्तव्यभ्रष्ट नहीं मानना चाहिये] ॥ १२६ ॥

इति स्वयं मोहमयोर्मिनिर्मितं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम् ।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेमहंसराट् ॥ १२७ ॥

इतीति । इतीत्थं नैषधे नले मोहमयोर्मिणा अज्ञानविलसितेन निर्मितं निजमात्मीयं स्वयं प्रकाशनं स्वस्वरूपप्रकटिनं प्रति शोचति व्यथमाने सति दयालुर्हेमहंसराट् सुवर्णराजहंसः तथा व्यथामग्नस्य तस्य नलस्योद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया, धरतेरुत्पूर्वात् सन्नन्तात् स्त्रियामप्रत्यये टाप् । लघु क्षिप्रमागादागतः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार (श्लो० १२२–१२६) मोहरूपी महातरङ्गोंसे निर्मित (अपने नामके) प्रकाशनको नलके सोचते (उस विषयको लेकर पश्चात्ताप करते) रहनेपर दयालु सुवर्णमय राजहंस उस प्रकारकी अनिर्वचनीय अर्थात् बड़ी पीड़ामें फँसे हुए उस नलका उद्धार करनेकी इच्छासे शीघ्र आ गया ॥ १२७ ॥

नलं स तत्पत्तरवोर्ध्ववीक्षिणं स एष पक्षीति भणन्तमभ्यधात् ।
नयादयैनामति मा निराशतामसून् विहातेयमतः परं परम् ॥ १२८ ॥

नलमिति । स राजहंसः तस्य हंसस्य पक्षरवेण निमित्तेनोर्ध्वं वीक्षत इति वीक्षिणं तथा एष स सर्वोपकारी पक्षीति भणन्तमेव नलमभ्यधात् अभिहितवान् । हे अदय ! निर्दय ! एनां दमयन्तीमतिनिराशतां नैराश्यं मा नय प्रापय । कुतः अतः परमियं परं केवलमसून् प्राणान् विहाता विहास्यति । जहातेर्लुट् । तदेतत्प्राणत्राण-काङ्क्षिणा त्वया नैवमाशाच्छेदः कार्य इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

उस राजहंसने, उस (राजहंस) के पंखोंके शब्दसे ऊपर देखनेवाले तथा यह वही पक्षी (मेरा पूर्व परिचित एवं परमोपकारी राजहंस)है, ऐसा कहते हुए नलसे कहा कि तुम इस (दमयन्ती) को प्राप्त (स्वीकृत) करो—हे निर्दय ! इस (दमयन्ती) को अत्यन्त निराश मत करो (क्योंकि यदि तुम इस प्रकार (श्लो० १२२–१२६) अपने नामको प्रकाशित करनेके लिए खेद करोगे तो) इसके बाद यह दमयन्ती केवल प्राणोंको ही छोड़ेगी अर्थात् मर जायेगी (और इस कारण तुम्हें स्त्रीवधजन्य पाप लगेगा, अतएव अब इसे स्वीकार करनेकी दया करो) (अथवा……हे निर्दय ! 'अतिमा इयम् अनिराशताम्' अर्थात् अपनी शोभासे लक्ष्मीको जीतनेवाली इस दमयन्तीको निराश मत करो । अथवा—…………इसे स्वीकार करो । 'हे अतिम ! इयम् अनिराशताम्' अर्थात् 'अतिक्रान्त (अत्यधिक) शोभावाले नल ! इसे निराश मत करो' । तुम अत्यन्त सुन्दर हो और यह भी अत्यन्त सुन्दरी है; अतः योग्यका योग्यके साथ ही समागम होना उचित होनेसे इसे निराश न करो, स्वीकार करो अन्यथा तुम्हें पतिरूपमें प्राप्त नहीं करनेसे यह शीघ्र ही मर जायेगी और इसके विरहमें तुम भी अपना प्राण-त्याग कर दोगे; इस प्रकार दोनोंका जीवन व्यर्थमें चला जायेगा, अतः विकल्प छोड़कर अब तुम इसे स्वीकार करने की दया करो ॥)

सुरेषु पश्यन्निजसापराधतामियत्प्रयस्यापि यदर्थसिद्धये ।
न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान् सतां हि चेतः शुचितात्मसाक्षिका ॥ १२९ ॥

सुरेष्विति । हे नल ! भवान् तदर्थस्य सुरकार्यस्य सिद्धये इयदेतावत् प्रयस्या-प्यायस्यापि, यसु प्रयत्न इति धातोः समासे क्त्वो ल्यबादेशः । सुरेषु विषये निजां सापराधतामेव पश्यन् उत्प्रेक्षमाणः सन् कूटसाक्षीभवनस्य कपटसाक्षीभावस्य । अभूततद्भावे च्विः। उचितो न अनपराधिन्यात्मन्यपराधोत्प्रेक्षित्वमेव कूटसाक्षित्वं तत्ते अनुचितमित्यर्थः । तथा हि-सतां चेतःशुचिता चित्तशुद्धिः आत्मसाक्षिका स्वप्रमा-णिका हि । स्वयं प्रमितेऽर्थे किं विचारणयेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

उन (इन्द्रादि दिक्पालों) के लिये इतना प्रयास करके भी देवताओंके विषयमें अपने अपराध (मैंने दयमन्तीके सामने अपना नाम प्रकाशितकर देवताओंके साथ विश्वासघात किया, ऐसे अपने दोष) को देखते हुए आप कपटसाक्षी (असत्य भाषण करनेवाला

गवाह) नहीं होते हो अर्थात् तुम निष्कपट कार्यकर्ता ही होते हो; क्योंकि सज्जनोंके मनकी शुद्धि (निष्कपटता) आत्मसाक्षिणी रहती है। [सज्जन व्यक्ति कपटयुक्त व्यवहार करके दूसरेके मालूम नहीं होने पर भी अपने मनमें स्वयं ही लज्जित होते हैं, अतः तुम्हारा मन अपने कर्तव्यपालनसे शुद्ध है तो दूसरे लोगोंके निन्दा या उपहास आदि करनेकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये] ॥ १२९ ॥

इतीरिणापृच्छ्य नलं विदर्भजामपि प्रयातेन खगेन सान्त्वितः ।
मृदुर्बभाषे भगिनीं दमस्य स प्रणम्य चित्तेन हरित्पतीन्नृपः ॥ १३० ॥

इतीति । इतीरिणा इत्थंवादिना नलं विदर्भजामपि भैमीं चापृच्छ्यामन्त्र्य प्रयातेन प्रयाणप्रवृत्तेन खगेन हंसेन सान्त्वितो बोधितः स नृपश्चित्तेन हरित्पतीनिन्द्रादीन् प्रणम्य मृदुरार्द्रचित्तः सन् दमस्य भगिनीं दमयन्तीं बभाषे ॥ १३० ॥

उक्त प्रकार (श्लो० १२८–१२९) से कहनेवाले तथा नल और दमयन्तीसे भी पूछकर (अनुमति लेकर) गये हुए पक्षी (हंस) से आश्वासित वह राजा (नल) मनसे ('अब मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं है, अतएव आपलोग मुझे क्षमा करें' ऐसा मनमें ही कहते हुए) दिक्पालोंको प्रणामकर दयालु होते हुए दमयन्तीसे बोले—॥ १३० ॥

ददेऽपि तुभ्यं कियतीः कदर्थनाः सुरेषु रागप्रसवावकेशिनीः ।
अदम्भदूत्येन भजन्तु वा दयां दिशन्तु वा दण्डममी ममागसा॥१३१॥

दद इति । हे प्रिये ! सुरेषु विषये रागप्रसवे अनुरागजनने अवकेशिनीः बन्ध्या असमर्था इत्यर्थः । 'बन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । कियतीरियत्तारहिता इत्यर्थः । कदर्थनाः कुत्सनाः । अश्लीलप्रयोगानिति यावत् । तुभ्यं केवलं प्रियार्हायै इति भावः । ददेऽपि ददाम्यपि अतिगर्हितमाचरामीत्यर्थः । अपि गर्हायाम् । 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चय' इति विश्वः । किञ्चैवं सति अमी देवाः अदम्भेनाकपटेन दूत्येन दूतकर्मणा । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । दयां वा भजन्तु आगसा अपराधेन मम दण्डं दण्डनं वा दिशन्तु, इतः परमिमां तु न कदर्थयामीति भावः ॥ १३१ ॥

देवोंमें अनुरागको उत्पन्न करनेमें बन्ध्य अर्थात् निष्फल, तुम्हें भी कितनी (अधिक परिमाणयुक्त) पीडा दूं ? (इन्द्रादि देवोंके विषयमें इतना अधिक कहनेपर भी तुममें उनके प्रति अनुरागाङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत तुम्हें और मुझे भी पीडा होती है, अतएव अब देवताओंमें अनुरागकर उन्हें वरण करनेके लिये कोई भी बात कहकर तुम्हें पीडित नहीं करूंगा), निष्कपट दूतता करनेसे वे (इन्द्रादिदेव) मुझपर दया करें अथवा मेरे अपराधों (कार्यसिद्धि नहीं करनेसे मेरे दोषों) का दण्ड दें । [देवलोग निष्कपट दूतकार्य करके भी मेरे असफल होनेपर यदि दया न करके मुझे अपराधी समझकर दण्ड

देंगे, उसे मैं सहन कर लूंगा, किन्तु देवोंके वरण करनेके विषयमें कुछ भी कहकर तुम्हें दुःखित नहीं करूंगा]॥ १३१ ॥

अयोगजामन्वभवं न वेदनां हिताय मेऽभूदियमुन्मदिष्णुता।
उदेति दोषादपि दोषलाघवं कृशत्वमज्ञानवशादिवैनसः॥ १३२॥

अयोगजामिति। इयमुन्मदिष्णुता उन्मत्तता। "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः। मे हितायोपकारायाभूत्। कुतः, अयोगजां वियोगोत्थां वेदनां नान्वभवम्। तथा हि–अज्ञानवशात् अज्ञानबलादेनसः पापस्य कृशत्वं ज्ञानकृतापेक्षयाल्पत्वमिव दोषादुन्माददोषादपि दोषस्य वियोगदुःखस्य लाघवमल्पत्वमुदेति तस्माद्दोषोऽपि कदाचिदुपकरोतीति भावः॥ १३२॥

यह उन्मादशीलता भी मेरे हितके लिए हुई, (क्योंकि मैंने) विरहजन्य वेदनाको नहीं पाया (उन्मादीको किसीके प्रियाप्रियके कारण पीडा नहीं होती, अतः मुझे भी उन्मादसे जो पीडाका अनुभव नहीं हुआ, यह अच्छा ही हुआ)। अज्ञानके कारण पापके लाघवके समान (एक) दोषके कारण भी (दूसरे) दोषका लाघव होता है। [जानकारीमें पाप करनेसे जितना दोष लगता है, उतना दोष अजानकारीमें पाप करनेसे नहीं लगता, अतएव एक दोषसे भी दूसरे दोषमें अपेक्षाकृत कमी होती ही है। प्रकृतमें—यदि मुझे उन्माद नहीं होता तो मुझे और अधिक पीडा होती, उन्माद होना मेरे लिए अच्छा ही हुआ]॥ १३२॥

तवेत्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कदर्थनात्यर्थतयागमद्दयाम्।
प्रकाशमुन्माद्य यदद्य कारयन्मयात्मनो मामनुकम्पते स्म सः॥१३३॥

तवेति। हे प्रिये! इतीत्थं तव कदर्थनानां मदीयाप्रियोक्तिरूपकुत्सनानामत्यर्थतया अत्याधिक्येन हेतुना मे मम सम्बन्धी अयोगे यः स्मरपावकः कामाग्निः सोऽपि दयामगमत् दयालुरभूदित्यर्थः। यद्यस्मादद्य स कामाग्निः (प्रयोजककर्ता) उन्माद्य मामुन्मत्तं कृत्वा मया प्रयोज्येन आत्मनो मत्स्वरूपस्य प्रकाशं प्रकाशनं कारयन् त्वामनुकम्पते स्म। तस्मात् कामाग्नेरपि दयोत्पन्नेत्युत्प्रेक्षा। किं बहुना उन्मादप्रसादात् उभावप्यावां कृतार्थौ स्व इति तात्पर्यार्थः॥ १३३॥

तुम्हारी (मेरे द्वारा कहे गये अप्रिय वचनोंसे उत्पन्न) पीडाके आधिक्यसे मेरे विरहानलने भी दया की, क्योंकि मुझे उन्मादितकर वह विरहानल मुझसे अपना अर्थात् नलका प्रकाशन करता हुआ तुम्हें अनुकम्पित करता है। [त्वद्विषयक विरहानल यदि मुझे पीडित नहीं करता तो मैं न तो उन्मादित ही होता और न अपने स्वरूपका ('मैं नल हूं' इस प्रकार) प्रकाशन ही करता, इस अवस्थामें मेरे विरहसे तुम मर जाती और तुम्हारे विना मैं भी मर जाता, इस कारण विरहानलने अधिक पीड़ा देनेसे मुझे उन्मादितकर जो मेरे स्वरूपको मुझसे ही प्रकाशित कराया (मेरा नाम मुझसे ही कहलवाया), वह उसने

'अपने प्रिय नलको मैं प्राप्त कर लूंगी' ऐसा निश्चय होनेसे तुम्हारे प्राण बच जायेंगे और तुम्हारे प्राण बच जानेसे मेरे भी प्राण बच जायेंगे, अतएव विरहानलने मुझे पीडाधिक्यसे उन्मादितकर तथा मेरे नामको प्रकाशित कराकर बड़ी दया की] ॥ १३३ ॥

अमी समीहैकपरास्तवामराः स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे ।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृतानुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम् ॥

अमी इति । अमी अमरास्तव समीहायां त्वत्कृतानुरागे एकपरा एकाग्रास्ते च त्वामपेक्षन्ते इत्यर्थः । त्वञ्च मामपि स्वकिङ्करं निजदासं कर्तुमीशिषे शक्नोषि अपि शब्दात्तानपीत्यर्थः । "ईशः से" इतीडागमः । किन्तु विचार्य विमृश्य कार्यं सृज उत्पादय । अतः अनुतापः पश्चात्तापः कृतः सन् त्वयि पार्ष्णिविग्रहं पार्ष्णिग्राहकृत्यं मुधा माविधात् माकार्षीत् । अविमृश्यकरणात्पश्चात्तापस्ते मा भूदित्यर्थः । विपूर्वाद्धातेर्लुङि "न माङ्योग" इत्यडभावः ॥ १३४ ॥

ये देव तुम्हारी अभिलाषामें ही तत्पर हैं अर्थात् ये देव ही तुम्हें चाहते हैं तुम उन्हें नहीं चाहती तुम मुझे भी ('भी' शब्दसे देवोंको भी वरणकर) अपना दास बनानेके लिये समर्थ हो अर्थात् 'मैं तुममें अनुराग नहीं करता' यह बात नहीं है, किन्तु मैं तुम्हें यद्यपि चाहता हूं तथापि मेरा अनुराग अप्रयोजक है, (देवोंको या मुझे पतिरूपमें वरणकर दास बनानेमें तुम स्वतन्त्र हो, अतएव अब) विचार कर कार्य करो, जिससे तुझे किये गये वरणरूप कार्यका पश्चात्ताप बादमें विरोध न करे । [देवोंको वरण करनेपर मैं नलको ही वरण करती तो अच्छा होता ऐसा तथा मुझे वरण करनेपर 'मैं देवोंको वरण करती तो अच्छा होता' ऐसा व्यर्थमें पश्चात्ताप न होवे, इस कारण सोचकर कार्य करो । इसी प्रकार 'देवोंमें भी इन्द्रको वरणकर 'मैं यम, अग्नि, वरुण तथा नलमें-से किसीको वरण करती तो अच्छा होता इत्यादि सबके सम्बन्धमें कल्पनाकर लेनी चाहिये] ॥ १३४ ॥

उदासितेनेव मयेदमुद्यसे भिया न तेभ्यः स्मरतानवान्नवा ।
हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥१३५॥

एतच्च माध्यस्थ्येनैवोच्यते न तु पक्षपातेनेत्याह—उदासितेनेति । उदासितेनौदासीन्येन माध्यस्थ्येनैवेत्यर्थः, भावे क्तः कर्तरि वा । उदासितेन मध्यस्थेनैव मया इदं पूर्वोक्तमुद्यसे । वदेः कर्मणि लटि यकि, "वचिस्वपी" त्यादिना सम्प्रसारणम् । तेभ्यः सुरेभ्यो भिया वा स्मरतानवात् कामप्रयुक्तकार्श्याद्वा न । युवादित्वादण्प्रत्ययः । तस्माद्विमृश्य कुर्विति भावः । अथ विमृश्यैव कुर्वे त्वद्वरणमेवेति निश्चयस्तत्राह—मदसुव्ययेन मत्प्राणसमर्पणेन ते तव हितं पथ्यं प्रियं यदि स्यात् । तदा मत्प्राणसमर्पणमिति शेषः । तव प्रेमणि विषये शुद्धिलब्धये आनृण्यलाभाय भवति । त्वत्कृतानुरागोपकारस्य प्राणसमर्पणमेव प्रत्युपकार इति भावः ॥ १३५ ॥

मैं मध्यस्थ अर्थात् तटस्थ होकर ही यह (श्लो० १३४) वचन तुमसे कहता हूं, उन

(देवों) के भयसे नहीं, या कामदौर्बल्यके कारण (अथवा—कामदौर्बल्यके भय) से नहीं; यदि मेरे प्राणोंके व्यय (मरने) से भी तुम्हारा हित हो तो (वह मेरा मरण) तुम्हारे प्रेममें शुद्धि पाने (अनृण होने) के लिए होवे। [मैंने पूर्ववचन किसी पक्षपातसे, देवोंके भयसे या अपनमें कामकी शिथिलता होनेसे नहीं कहा है; किन्तु तटस्थतासे ही कहा है कि 'देवों तथा मुझमें-से किसी एकको वरण करो'। हां, तुम यह भी मत चिन्ता करो कि 'यदि मैं इनको (नलको) नहीं वरण करूंगी तो मर जायेंगे, क्योंकि यदि मेरे मरनेसे तुम्हारा हित हो तो उस े लिये मैं सहर्ष तैयार हूं अर्थात् मैं अपने प्राणोंसे तुम्हारा हित चाहता हूं, क्योंकि ऐसा करनेसे मैं तुम्हारे प्रेमका ऋणी नहीं रहूंगा]॥ १३५॥

[1]इतीरितैर्नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा।
ऋतोरधिश्रीः शिशिरानुजन्मनः पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा ॥ १३६॥

इतीति। इतीत्थमीरितैरभिहितैर्नैषधस्य नलस्य सूनृतैः सत्यप्रियवाक्यैरेवामृतैः सा विदर्भजन्मा वैदर्भी शिशिरमनु जन्म यस्य तस्य शिशिरानुजन्मनः शिशिरानन्तरभाविनः ऋतोर्वसन्ततोरधिका श्रीर्दूरविकस्वरैरतिश्लाघ्यैः पिकस्वरैर्यथा कोकिलकूजितैरिव भृशमुल्ललास जहर्ष। अत्र सूनृतानामुपमानभूतकोकिलालापवत्तादात्मिकत्वेनातिश्राव्यत्वद्योतनार्थं वसन्तस्य शिशिरानुजन्मत्वेन व्यपदेशः॥ १३६॥

इस प्रकार (श्लो० १३१-१३५) कहे गये पाठा०—ऐसे इन नलके सत्य तथा अमृतवत् प्रियवचनोंसे वह विदर्भकुमारी दूर तक पहुंचनेवाले कोयलके स्वरोंसे वसन्तऋतुकी अधिक शोभाके समान अत्यन्त हर्षित हुई। [नलका मुझमें अनुराग है, देवोंसे यह डरते नहीं, ये नल ही हैं, इत्यादि वचनोंसे दमयन्ती हर्षित हुई पिकस्वरके साथ नल वचनकी तथा वसन्तश्रीके साथ दमयन्तीकी उपमा देनेसे नलके वचनका पिकस्वरके समान मदनोद्दीपक एवं मधुर होना और दमयन्तीका वसन्त ऋतुकी विशिष्ट शोभाके समान प्रिय होना ध्वनित होता है]॥ १३६॥

नलं तदावेत्य तमाशये निजे घृणां विगानञ्च मुमोच भीमजा।
जुगुप्समाना हि मनो द्रुतं तदा सतीधिया दैवतदूतधावि सा॥१३७॥

नलमिति। तदा नलस्य स्वरूपगोपनकाले दैवतदूते धावति प्रवर्तत इति दैवतदूतधावि यथा तथा द्रुतं मनः सतीधिया पतिव्रतात्वाभिमानेन हेतुना जुगुप्समाना बीभत्समाना भीमजा तदा नलस्य स्वरूपकथनकाले तं दूतं नलमवेत्य बुद्ध्वा निजे आशये घृणां परपुरुष इति जुगुप्सां विगानमात्मनिन्दां च मुमोच॥ १३७॥

उस समय (नलके अपने स्वरूपको छिपानेके समय) देव-समूहके दूतकी तरफ दौड़नेवाले अर्थात् 'यह देवोंका दूत है' ऐसा समझनेवाले मनको सती बुद्धिसे जुगुप्सित करती हुई ('सती मैं देवदूत इस पुरुषसे सम्भाषण कैसे करूं' इस प्रकार जुगुप्सित करती

1. "इतीदृशैः" इति पाठान्तरम्।

हुई, पाठा०—सतीबुद्धिसे बलात्कारसे लौटाती हुई) उस भीमकुमारी दमयन्तीने उस समय (नलके आत्मस्वरूपको प्रकट कर देनेपर) उसे (उस दूतको) नल जानकर अपने मनमें जुगुप्सा और निन्दाको छोड़ दिया। [यह मन स्वभावतः बुरा है, इस कारण यह जुगुप्सा तथा अनुचित करनेवाला है, ऐसी निन्दा उत्पन्न हुई थी, अथवा—नलको पानेकी आशा न रहनेसे शरीरमें घृणा और सतीका परपुरुष उसमें भी कामुकोंके दूतके साथ सम्भाषण करनेसे निन्दा उत्पन्न हुई थी। दमयन्तीने नलभिन्न देवदूतके प्रति अपने मनके अनुगमन करनेसे उस मनके विषयमें पहले जुगुप्सा तथा अनुचित कर्ता होनेसे निन्दा की, किन्तु नलके निश्चय होनेके बाद' इस नलमें जो मेरा मन अनुरक्त हुआ' यह उत्तम ही हुआ इस कारण हर्षित हुई] ॥ १३७ ॥

मनोभुवस्ते भविनां मनः पिता निमज्जयन्नेनसि तन्न लज्जसे ।
अमुद्रि सत्पुत्रकथा त्वयेति सा स्थिता सती मन्मथनिन्दिनी धिया ॥

मनोभुव इति । हे मन्मथ ! मनोभुवो मनोजन्यस्य ते भाविनां संसारिणां मनः पिता, तत् पितरं मनः एनसि एवं दुश्चिन्तापापे निमज्जयन्न लज्जसे। त्वया एवं पितृद्रोहिणा सत्पुत्राणां कथा पितृभक्तताख्यातिरमुद्रि मुद्रिता निवारिता इत्येवं सा भैमी धियान्तः करणेन मन्मथनिन्दिनी सती स्थिता। तूष्णीं स्थिता सती कथञ्चित् किञ्चिदुवाचेत्यर्थः॥ १३८ ॥

(सती दमयन्ती कामसे कहती है कि—) मनोभू अर्थात् मनसे उत्पन्न होनेवाले तुम्हारा पिता प्राणियोंका मन है, उसे (पितृस्थानीय मनको) पाप (परपुरुषाभिलाषरूप पाप) में डुबाते अर्थात् लगाते हुए तुम लज्जित नहीं होते ? अर्थात् ऐसा अनुचित कार्य करते हुए तुम्हें लज्जा आनी चाहिए। तुम अर्थात् तुम्हारे-जैसे कुपुत्रोंने सुपुत्रोंकी कथा (उत्तम पुत्रोंसे पिता पुण्यलोकको प्राप्त करते हैं, ऐसी कथा) को समाप्तकर किया है। इस प्रकार बुद्धिसे कामदेवकी निन्दा करती हुई पतिव्रता वह दमयन्ती स्थित हुई (नलके निश्चय हो जानेपर कामदेवकी निन्दा करनेसे विरत हुई, अथवा—कुछ बोली) ॥ १३८ ॥

प्रसूनमित्येव तदङ्गवर्णना न सा विशेषात् कतमत्तदित्यभूत् ।
तदा कदम्बं निरवर्णि रोमभिर्मुदश्रुणा प्रावृषि हर्षमागतैः ॥ १३९ ॥

प्रसूनमिति । सा प्रसिद्धा तदङ्गवर्णना भैमीशरीरस्तुतिः प्रसूनं सामान्यतः पुष्पमेवाभूत्, किन्तु तत्प्रसूनं कतमत् किं जातीयमिति विशेषात् विशेषोल्लेखान्नाभूत्। तत्काले मुदश्रुणा प्रावृषि वर्षासु आनन्दवाष्पवर्षे सतीत्यर्थः। हर्षं विकासमागतैः प्रावृषेण्यत्वात् कदम्बकुसुमविकासस्येति भावः। लोमभिः लोमव्याजेनेत्यर्थः। कदम्बं कदम्बकुसुममिति निरवर्णि निरैक्षि प्रत्यक्षेणैवालक्षीत्यर्थः। 'निर्वर्णनन्तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। तदा पुलकितं तदङ्गं बालकदम्बकल्पमासीदित्यर्थः। एतच्च "स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू । अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ

सात्त्विकाः परिकीर्तिता ॥" इत्युक्तसकलसात्त्विकोपलक्षणमिति द्रष्टव्यम्। तदङ्गस्य कदम्बाभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ १३९ ॥

(पहले) 'पुष्प है' इतना ही दमयन्तीके शरीरका वर्णन हुआ, वह पुष्प कौन-सा (किस नामका) है ?, इस प्रकार विशेष रूपसे वह (दमयन्तीके शरीरका वर्णन) नहीं हुआ। तब (नलका निश्चय हो जानेपर हर्षाश्रुसे वर्षा ऋतुके होनेपर हर्षित रोमाञ्चों से अर्थात् दमयन्तीके हर्षाश्रु गिरनेके बाद रोमाञ्च युक्त होनेपर वह पुष्प 'कदम्ब' है, यह वर्णन हुआ। [वर्षाकालमें कदम्ब पुष्पको विकसित होनेसे हर्षाश्रुके बाद रोमाञ्चित दमयन्ती-शरीरको कदम्ब पुष्प माना गया है] ॥ १३९ ॥

मयैव संबोध्य नलं व्यलापि यत्स्वमाह मद्बुद्धमिदं विमृश्य तत्।
असाविति भ्रान्तिमसाद्[2] दमस्वसुः स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः॥१४०॥

मयेति। मया नलमेव सम्बोध्य व्यलापीति यत् तदिदं मद्विलपितं विमृश्यालोच्यासौ नलः मद्बुद्धं स्वसम्बोधनलिङ्गेन मया ज्ञातमेव स्वमात्मानमाह। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्' इत्यमरः। अनया ज्ञातस्य मे किं गोपनेनेति मत्वा नलोऽहमिति कथितवानित्यर्थः। आहेति भूते णलन्तभ्रमादिति वामनः। अत्र तु वर्तमानसामीप्याद्वा गतिरिति। दमस्वसुः या भ्रान्ति स्तां भ्रातिमसौ नलः स्वेन भाषितः कथितः स्वोद्भ्रमविभ्रमाणां स्वोन्मादविलसितानां क्रमः 'अये प्रिये' इत्यादिश्लोकोक्तप्रकारो येन स सन् असात् असासीत् अच्छैत्सीदित्यर्थः। स्यतेर्लुङि "विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः" इति वा सिचो लुक्। उन्मादादात्मप्रकाशनमिति नलवाक्यादेवावगमात्तु स्वेन ज्ञात्वा दूतभ्रान्तिर्निवृत्तेत्यर्थः ॥ १४० ॥

मैंने अर्थात् दमयन्तीने ही नलको सम्बोधितकर (श्लो० ९७-१००) जो विलाप किया और इस नलने उस (विलाप) को मुझसे जाने गये अपनेको (दमयन्तीने मुझे पहचान लिया तभी मुझे नाम लेकर सम्बोधितकर रही है, ऐसा मानकर अपनेको) जो प्रकाशित किया (श्लो० १०३-१२०), ऐसे दमयन्तीके भ्रमको, स्वयं (नल द्वारा ही) बतलाये गये (श्लो० १२२-१२६) हैं अपने उन्मादविलास (अथवा—उन्माद तथा विलास) जिसके द्वारा ऐसे नलने दूर (पाठा०—क्रम) कर दिया ['मुझसे पहचाने गये अपने (नल) को जानकर ही नलने मेरे सामने अपने को प्रकट किया, ऐसे भ्रमको दमयन्तीने छोड़ दिया] ॥ १४० ॥

विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम्।
पुरस्तमूचेऽभिमुखं यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः ॥ १४१ ॥

विदर्भेति। सा विदर्भराजप्रभवा वैदर्भी ततः परं नलोऽयमिति ज्ञानानन्तरं त्रपायाः सखी लज्जिता सती नलं वक्तुं साक्षात् सम्भाषितुं नालं न शशाक। कुतः,

[2] "-मशा-" इति पाठान्तरम्।

पुरः पूर्वमत्रपा निस्त्रपा सती तं नलमभिमुखं यथा तथा ऊच इति यत् तेनैव हेतुना ह्रियो महाह्रदे महति लज्जाह्रद इत्यर्थः। घटस्य स्वरूपमितिवत् कथञ्चिद्भेदनिर्देशः। ममज्ज मग्ना ॥ १४१ ॥

इसके बाद लज्जित विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) नलसे अधिक नहीं बोल सकी, क्योंकि उस नलके आगे लज्जारहित होकर (नलका परिचय नहीं होनेसे सङ्कोचको छोड़कर जिस कारणसे बोली, उस कारणसे ही लज्जाके महाह्रद (विशाल तडाग) में अर्थात् लज्जारूपी महातडागमें डूब गयी। [पुरुषका यथार्थ परिचय नहीं रहनेपर पहले बहुत बढ़-चढ़कर उससे बातें करना और बादमें परिचय होते ही अत्यन्त लज्जित होना स्त्रियोंका स्वभाव होनेसे दमयन्तीका भी अत्यन्त लज्जित होना उचित ही है] ॥ १४१ ॥

यदापवार्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसि प्रियाय सा ।
विहस्य सख्येव तमब्रवीत्तदा ह्रियाधुना मौनधना भवत्प्रिया ॥१४२॥

यदेति। सा भैमी, यदा अपवार्य व्यवधायापि सख्याः श्रवसि श्रोत्रे प्रियायोत्तरं दातुं न शशाक तदा सख्येव विहस्य तं नलमब्रवीत्। किमिति अधुना भवत्प्रिया भैमी ह्रिया मौनधना बद्धमौना, न तु वैराग्याद्द्वेषाद्वेति भावः ॥ १४२ ॥

जब वह (दमयन्ती) कोई आड़ करके (पर्दा करके या कुछ मुखको तिर्छा करके अर्थात् नलकी दृष्टिसे छिपाकर) भी सखीके कान में नलका उत्तर नहीं कह सकी; तब हंसकर सखीने ही कहा कि—"आपकी प्रिया इस समय लज्जासे मौनधना [मौन ही है धन जिसका ऐसी अर्थात् मौन धारण करनेवाली (लज्जासे चुप) हो गयी है] ॥ १४२ ॥

पदातिथेयाँल्लिखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम् ।
जगाद यां सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम् ॥१४३॥

पदेति। इयं भवत्प्रिया लिखितस्य चित्रगतस्य ते पदयोरातिथेयानतिथिषु साधून् पाद्यभूतानित्यर्थः। "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्"। लोचननिर्झरान् बाष्पपूरान्वितन्वती यां प्रसूनबाणोपनिषदं कामरहस्यं जगाद त्वदागमात् प्रागिति शेषः। सैव प्रसूनबाणोपनिषन्मम मुखात् त्वया स्वयं निशम्यतां श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अविरल बहते हुए आंसुओंको (चित्रादिमें) लिखे गये आपके चरणोंका आतिथेय (अतिथिके विषयमें सद्व्यवहारी) बनाती हुई अर्थात् चित्रादिमें लिखित आपके चरणोंमें गिरकर बहुत रोती हुई इस दमयन्तीने जिस (कामोपनिषद् अर्थात् कामविषयक सत्य वचन) को कहा है, उसी कामोपनिषद् को मेरे मुखसे सुनिये— । [मैं स्वकपोलकल्पित कुछ नहीं कर रही हूं, जो कुछ कह रही हूँ, वह उपनिषद्वचनके समान सत्य वचन है; अतः उसे आपको सुनना और उसपर विश्वास करना चाहिये] ॥ १४३ ॥

असंशयं स त्वयि हंस एव मां शशंस न त्वद्विरहाप्तसंशयाम् ।
क चन्द्रवंशस्य वतंस ! मद्वधान्नृशंसता संभविनी भवादृशे ॥ १४४ ॥

असंशयमिति । हे चन्द्रवंशस्य वतंसावतंस ! "वष्टि वागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इत्यकारलोपः । स हंसः त्वद्विरहेणाप्तसंशयां प्राप्तप्राणसन्देहां मां त्वयि विषये न शशंसैव असंशयम् । अन्यथा भवादृशे त्वद्विधे "त्यदादिषु" इत्यादिना कञ्प्रत्ययः । "आ सर्वनाम्न" इत्याकारादेशः । मद्वधाद्धेतोर्नृशंसता घातुकत्वं स्त्रीवधपातकित्वमिति यावत् । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । क्व सम्भविनी सम्भवति न क्वापि सम्भवितेत्यर्थः । सज्जनस्य दयानिधेस्तव नेदृक्कार्यं युक्तमिमि भावः ॥१४४॥

हे चन्द्रवंशके भूषण (नल) उस हंसने ही तुमसे तुम्हारे वियोगसे प्राणसशयको प्राप्त इस दमयन्तीको प्रायः कहा है, किन्तु आप–जैसे (कुलीन तथा शूरवीर व्यक्ति) में ऐसी (अवर्णनीय) क्रूरता कहांसे सम्भव है ? अर्थात् कदापि नहीं सम्भव है । [एक सामान्य व्यक्ति भी किसी सामान्य व्यक्तिको मारनेकी इच्छा नहीं करता तो आप–जैसे शूरवीर तथा कुलीन आदमी स्त्रीवधरूपी क्रूर कार्य करे यह कदापि सम्भव नहीं है; अतः इसमें आपका कोई दोष नहीं है] ॥ १४४ ॥

जितस्त्वयास्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः ।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधराः किलामराः ॥१४५॥

जित इति । विधुश्चन्द्रस्त्वया आस्येन जितः । स्मरः श्रिया सौन्दर्येण जितः । कुतः कारणात् तौ विधुस्मरौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ त्वयि जेतरि स्थिते निरपराधां मां किमिति मारयत इत्यर्थः । अथ तवेति त्वदीयेति कृत्वा यदि तत्तर्हि मया जितं त्वां विना जीवनाभावात् मरणमेव मे प्रियमित्यर्थः । सेत्स्यति चैतदित्याह–अमरा मोघसङ्कल्पस्य धरन्तीति धराः, "पचाद्यच्" न किल । सत्यसङ्कल्पाः खलु देवाः, देवौ च विधुस्मराविति भावः । अत्र नलापकारासमर्थयोर्विधुस्मरयोस्तदीयजनापकारकथनात् प्रत्यनीकालङ्कारः । "बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे । यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥" इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

तुम्हारे मुखने चन्द्रमाको तथा शोभाने कामदेवको जीत लिया है, वे दोनों मेरे वधके लिये क्यों प्रतिज्ञा किये हुए हैं ? 'यदि मैं तुम्हारी हूं' ऐसा समझकर (वे चन्द्रमा तथा कामदेव) मुझे सता रहे हैं तो मैने जीत लिया, देवतालोग असफल सङ्कल्पको नहीं धारण करते । [तुम्हारे मुख तथा शोभाने या तुमने उन चन्द्रमा तथा कामदेवके साथ विरोध किया है, परन्तु वे दोनों निरपराध मुझे क्यों सता रहे हैं ? कहो । जिस प्रकार विजित व्यक्ति विजेता व्यक्तिको नहीं सता सकनेके कारण उसके आश्रित अन्य व्यक्तियोंको सताया करता है, उसी प्रकार यदि तुम्हारे मुख तथा शोभासे विजित क्रमशः चन्द्रमा तथा कामदेव तुम्हें सताने में असमर्थ होनेसे तुम्हारा जानकर मुझे सता रहे हैं तो यह बात मुझे परम हर्ष देनेवाली है, अतः मैंने भी जीत लिया, क्योंकि देवता मनमें कभी असफल या असत्य बात नहीं धारण करते अर्थात् 'सत्यसङ्कल्पधारी देवता भी मुझे तुम्हारा मानते हैं' यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताका विषय है] ॥ १४५ ॥

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम् ।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः ॥१४६॥

निजेति । विधुश्चन्द्रः निजैरंशुभिः निर्दग्धस्य मदङ्गस्य मच्छरीरस्य भस्मभिर्लाञ्छनोन्मृजां स्वकलङ्कपरिमार्जनम्, "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" । मुधा वृथैव वाञ्छति, नलमुखसाम्यार्थमिति शेषः । तथा हि—हे प्रिय ! वधूवधेन मद्वधपातकेनैव पुनः कलङ्कितः सन् तावतापि मदङ्गभस्मनोन्मार्जनेनापि त्वदास्यतां तत्तुल्यतामित्यर्थः । यास्यति प्राप्स्यति किम् ? न यास्यत्येवेत्यर्थः । अत्र विधोर्नलास्यसाम्याय भैम्यङ्गभस्मभिः स्वकलङ्कमार्जनाद्वधूवधकलङ्कप्राप्तिकथनादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥

चन्द्रमा अपने किरणोंसे बिलकुल जलाये गये मेरे शरीरके भस्मोंसे (अपने) लाञ्छन को मार्जित (भस्मसे रगड़कर कलङ्कको दूर) करना व्यर्थमें ही चाहता है, क्योंकि स्त्रीवधसे पुनः कलङ्कित (वह चन्द्रमा) उतनेसे भी तुम्हारे मुखश्रीको प्राप्त करेगा क्या ? अर्थात् कदापि नहीं प्राप्त करेगा । [जिस प्रकार लोकमें कोई व्यक्ति भस्मसे रगड़कर वर्तन आदिके धब्बेको दूर करना चाहता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी मुझे जलाकर उस मेरे शरीरके भस्म से अपना कलङ्क दूरकर तुम्हारे मुखकी शोभाको पाना चाहता है, किन्तु वह मेरे शरीरके भस्मसे अपने कलङ्कको उक्त प्रकारसे दूर कर लेने पर भी स्त्री का वध करनेसे पुनः कलङ्कित हो जायेगा अतः तुम्हारे मुखकी शोभाको वह चन्द्रमा कदापि नहीं पा सकता । चन्द्रमा मुझे मरणान्त पीडा दे रहा है] ॥ १४६ ॥

प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाशुगः ।
त्वदेकचित्ताहमसून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम् ॥१४७॥

प्रसीदेति । हे प्रिय ! प्रसीद स्वशरान्मनोभुवे कामाय यच्छ देहि । "पाघ्रा" दिना दाणो यच्छादेशः । स कामो धुतकौसुमाशुगः त्यक्तकुसुमबाणस्तैस्त्वच्छरैर्मां हन्तु हिनस्तु । तस्योपयोगमाह—अहं त्वय्येकस्मिंश्चित्तं यस्याः सा सती असून् प्राणान् विमुञ्चती त्यजन्ती, "आच्छीनद्योर्नुम्" इति विकल्पान्नुमभावः । अत एव त्वमेव भूत्वा, 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' इत्यादिगीताप्रामाण्यादिति भावः । तं कामं तृणवत्तृणतुल्यं जयामि जेष्यामीत्यर्थः । आशंसायां वर्तमानवत्प्रत्ययः ॥ १४७ ॥

प्रसन्न होवो, अपने बाणोंको कामदेवके लिए दो, वह कामदेव अपने (कोमल) पुष्पके बाणोंको हटा कर उन (लोहमय तथा अतितीक्ष्ण आपके बाणों) से मुझे मार डाले । तुम्हारे (ध्यान) में परायण मैं प्राणोंको छोड़ती हुई नल (नलरूप) ही होकर उस (काम) को तृणके समान (अतिसरलतासे) जीत लूंगी । [कामदेव मुझे पुष्पमय बाणोंसे पीडित कर रहा है, मार नहीं रहा है, अतः यदि तुम लोहमय तथा अतितीक्ष्ण अपने बाण कामदेवको दे दोगे तो वह अपने अल्पसार पुष्पमय बाणोंसे मुझे पीडित करना छोड़कर आपके दिये हुए उन बाणोंसे मुझे शीघ्र मार डालनेमें समर्थ होगा और इस प्रकार मरनेके

समय तुम्हारेमें संलग्न चित्तवाली मैं त्वद्रूप (नल ही) हो जाऊंगी और फिर सरलतासे तृणतुल्य कामदेवको जीतकर उससे बदला चुका लूंगी। कामदेव मुझे अत्यन्त पीडित कर रहा है, अत एव ऐसे जीनेसे मरना अच्छा है]॥ १४७॥

श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं ततः।
स्तवे रवेरप्सु कृताप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत् कुमुद्वती ॥१४८॥

ननु श्रुतयोऽपि देवानेव गायन्ति किमिति तत्तेषु वेदवेद्येषु विगानमत आह—श्रुतिरिति। श्रुतिर्वेदोऽपि सुराणां गुणगायनी गुणस्तोत्र्येव यदि, कर्तरि ल्युट्, टित्वात् ङीप्। त्वदङ्घ्रौ मग्नस्य त्वच्चरणैकशरणस्य जनस्य स्वस्येत्यर्थः। ततः किं तैर्देवैः कोऽर्थ इत्यर्थः। तथा हि—अप्सु कृताप्लवैः कृतावगाहैः जनैः रवेरर्कस्य स्तवे स्तोत्रे कृते सति कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनी, "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" टिलोपे ङीप्। जातु कदापि मुदस्यास्तीति मुद्वती मोदवती विकासवती न भवेत्, कथमपीति शेषः। दृष्टान्तालंकारो लक्षणन्तूक्तम् ॥ १४८ ॥

वेद यदि देवोंका गुणगान करते हैं तो तुम्हारे चरणोंमें लीन उन वेदोक्त गुणगानों या देवों से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। जलमें स्नान किये हुए (ब्राह्मण आदि) के सूर्यकी स्तुति करनेपर कुमुद्वती कभी भी नहीं हर्षित होती। [जो जिसमें मग्न है, उसीके गुणगानसे उसे प्रसन्नता होती है, अतः तुममें मग्न मैं वेदस्तुत देवों को भी नहीं चाहती हूं]॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न ध्रिये ममावगन्तासि न भावमन्यथा।
त्वदर्थमुक्तासुतयाशु नाथ मां प्रतीहि जीवाभ्यधिक ! त्वदेकिकाम् ॥१४९॥

कथास्विति। हे नाथ ! कथासु शिष्ये कथामात्रशेषा भवामि मरिष्यामीत्यर्थः। शिष असर्वोपयोग इति धातो र्दैवादिकात् प्राप्तकाले कर्तरि लट्। वरं मनाक् प्रियम् अद्य न ध्रिये न स्थास्ये न जीविष्यामीत्यर्थः। धृङ् अवस्थाने इति धातोस्तौदादिकात् प्राप्तकाले कर्तरि लट्। रिङ्शयग्लिङ्क्षु" इति रिङादेशः। अन्यथा जीवेन परीक्षणे मम भावमाशयं नावगन्तासि नावगमिष्यसि, गमेर्लुटि सिप्। त्वदर्थे तुभ्यं मुक्तासुतया त्यक्तप्राणतया आशु मां हे जीवाभ्यधिक ! अत एव त्वमेवैको मुख्यो यस्यास्तां त्वदेकिकां त्वदेकशरणामित्यर्थः। शैषिके कपि कात्पूर्वस्येकारः। प्रतीहि जानीहि ॥ १४९ ॥

आज (इतनी पीडा देनेवाले दिनोंमें) भले ही कथाशेष हो जाऊंगी अर्थात् मर जाऊंगी, किन्तु रहूंगी (जीऊंगी) नहीं; अन्यथा (मेरे जीवित रहनेपर तुम) मेरे भावको नहीं जानोगे अर्थात् 'दमयन्ती मुझे प्राणपणसे चाहती है' ऐसा नहीं मानोगे। हे नाथ ! (पाठा०—हे असुनाथ अर्थात् हे प्राणनाथ अथवा—हे सुन्दरनाथ)! तुम्हारे लिए प्राणोंको छोड़नेसे हे प्राणाधिक ! मुझे एकमात्र तुम्हारेमें परायण शीघ्र जानो। [लोकमें भी कोई व्यक्ति

१. "सुनाथ" इति "तया सुनाथ" इति च पाठान्तरम्।

अल्पमूल्य वस्तुको छोड़ कर बहुमूल्य वस्तुको पाना चाहता है, अतः मैं भी तुम्हारी अपेक्षा तुच्छ अपने प्राणोंको छोड़कर भी तुम्हें पाना चाहती हूं। स्वामी (पाठा०—श्रेष्ठ स्वामी) भी अपने स्वामीके लिये प्राणत्याग करनेवाले दासपर कृपाकर उसे अपनाता है, अतएव आप भी मुझे शीघ्र अपनाइये। 'मेरे लिये ही दमयन्तीने प्राणत्याग किया है' ऐसा लोगोंसे मालूम करके ही 'दमयन्ती मुझे प्राणाधिक मानती थी, इसी लिए मेरे वास्ते उसने अपना प्राणत्याग कर दिया' ऐसा तुम्हें भी विश्वास होगा, अन्यथा नहीं] ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतेरपि रक्षणं भयाद्यदर्थिसाधारणमस्त्रभृद्व्रतम् ।
प्रसूनबाणादपि मामरक्षतः क्षतं तदुच्चैरवकीर्णिनस्तव ॥ १५० ॥

महेन्द्रेति । महेन्द्रहेतेर्वज्रायुधादपि यद्भयं तस्माद्रक्षणं, "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति क्रमादुभयत्रापादानत्वात् पञ्चमी । अर्थिष्वर्थिमात्रेषु साधारणमस्त्रभृतां व्रतं प्रसूनमेव बाणो यस्य स कुसुमबाणः कामस्तस्मादपि मां स्त्रियमिति भावः अरक्षतः अत एवावकीर्णिनः क्षतव्रतस्य । 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः । तव तदुच्चैर्महत् व्रतं क्षतं सर्वाभयदानव्रतिनस्ते पुष्पभृतः स्त्र्युपेक्षणे महत्कष्टमापन्नमित्यर्थः ॥ १५० ॥

'महेन्द्र (सामान्यतः इन्द्र नहीं, किन्तु 'बड़े' इन्द्र) के शस्त्र (वज्र) के भयसे (भी डरे हुए व्यक्तिकी) रक्षा करना' यह सामान्यतः ('स्त्री की रक्षा नहीं करना, पुरुषकी रक्षा करना; या पुरुषकी रक्षा नहीं करना, किन्तु स्त्री की रक्षा करना' इत्यादि किसी व्यक्ति-विशेषमें पक्षपात छोड़कर) शस्त्रधारियोंका व्रत है, (किन्तु पुष्पबाण अर्थात् कामदेव पक्षा०—-कोमल पुष्पोंके बाण) से भी मेरी रक्षा नहीं करते हुए तुम्हारा वह (सर्वसाधारणकी रक्षा अर्थात् इन्द्रके बाणोंसे भी डरे हुएकी रक्षा करनेका) व्रत अच्छी तरह क्षतव्रत भग्न हो गया। [जब महेन्द्रके शस्त्र (वज्र) से भी डरे हुए व्यक्तिकी पक्षपातसे रहित होकर रक्षा करना शस्त्रधारियोंका व्रत है, तब सामान्य फूलके बाणोंसे भी मेरी रक्षा नहीं कर सकनेवाले व्रतभ्रष्ट आपका वह व्रत सर्वथा भग्न हो गया। अतएव तुम ऐसा न करके पुष्पबाण (कामदेव) से मेरी रक्षा करो] ॥ १५० ॥

तवास्मि मां घातुकमप्युपेक्षसे मृषामरं हामरगौरवात् स्मरम् ।
अवेहि चण्डालमनङ्गमङ्ग ! तं स्वकाण्डकारस्य मधोः सखा हि सः ॥

तवेति । तवास्मि त्वदीयाहमस्मि, शरणागतत्राणं विहितमिति भावः । एवं सति मां घातुकं शरणागतस्त्रीहन्तारमपीत्यर्थः । "लषपते" त्यादिना उकञ्, "न लोके"त्यादिना कर्मणि षष्ठीनिषेधात् द्वितीया । अत एव मृषामरमलीकामरं स्मरम-मरमिति गौरवादुपेक्षसे हा कष्टम् ! किं तु अङ्ग ! भोस्तमनङ्गं चण्डालमवेहि । कुतः, हि यस्मात्सोऽनङ्गः स्वकाण्डकारस्य, स्वेषुकारस्य मधोर्वसन्तस्य पुष्पकरत्वात् स्वस्य पुष्पाशुगत्वाच्चेति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाण' इत्यमरः । सखा हि इषुकारस्य चण्डालविशेषत्वात् तत्संसर्गिणोऽपि चण्डाला एवेत्यर्थः ॥ १५१ ॥

मैं तुम्हारी हूँ, मुझे मारनेवाले झूठे अमर (देव बने हुए) कामदेवको देवके गौरवसे उपेक्षा करते हो, हाय ! खेद है । हे अङ्ग (सर्वथा आत्मीयजन) ! उस कामदेवको चण्डाल जानो, क्योंकि वह अपने (कामदेवके) वाणों (पुष्पमय वाणों) को बनानेवाले वसन्तका मित्र है । [कामके वाणोंको बनानेवाला वसन्त ऋतु चण्डाल है, अतः उसका साथ करनेवाला कामदेव भी संसर्ग दोषसे चण्डाल है, और वह तुम्हारा आश्रय करनेवाली अर्थात् शरणमें आयी हुई मुझे मार रहा है, तथा उसे अमर (देव) जानकर तुम उसकी उपेक्षा कर रहे हो, यह ठीक नहीं है] ॥ १५१ ॥

लघौ लघावेव पुरः परे बुधैर्विधेयमुत्तेजनमात्मतेजसः ।
तृणे तृणेढि ज्वलनः खलु ज्वलन् क्रमात् करीषद्रुमकाण्डमण्डलम् ॥

लघाविति । बुधैस्तज्ज्ञैः पुरः पूर्वं लघौ लघावेव लघुप्रकारेऽल्पप्रकारएव । "प्रकारे गुणवचनस्ये"ति द्विर्भावः । परे शत्रौ पूर्वादिभ्यो विकल्पात् सर्वनामाभावः । आत्मतेजसः स्वप्रतापस्योत्तेजनमुद्दीपनं विधेयम् ; तथा हि–ज्वलनोऽग्निः स नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । तृणे ज्वलन् क्रमात्करीषाः शुष्कगोमयाः, 'गोविट्गोमयमस्त्रियाँ तत्तु शुष्कं करीषोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां द्रुमकाण्डानां वृक्षस्कन्धानाञ्च मण्डलं समूहं तृणेढि हिनस्ति दहति खल्वित्यर्थः । तृहि हिंसायां लट् "रुधादिभ्यः श्नम्", "तृणह इम्" गुणढत्वादिकार्यम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५२ ॥

विद्वानोंको पहले छोटे–छोटे शत्रुपर ही अपने तेजको उत्तेजित करना चाहिये; क्योंकि घासमें जलती हुई अग्नि क्रमसे कण्डा (सूखा उपला अर्थात् गोहरी) तथा वृक्षोंके स्कन्ध–समूहको नष्ट करता (जलाता) है । [जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ तेजस्वी अग्नि भी अतिशय क्षुद्र शत्रु घासकी भी उपेक्षा नहीं करता और उसे नष्ट करते हुए क्रमशः वृक्ष–स्कन्धरूप बड़े–बड़े शत्रुओंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम्हें भी कामदेवको छोटा शत्रु समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । तुम मुझे कामदेवसे बचाओ] ॥ १५२ ॥

सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्प्रता मयि ।
गिरापि वक्ष्यन्ति मखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥ १५३ ॥

सुरेति । तव स्वयमेव वृणोतीति स्वयंवरा, "पचाद्यच्" । तस्यां मयि अनुकम्प्रता अनुकम्पित्वं, "नमिकम्पि" इत्यादिना ताच्छील्ये रप्रत्ययः । भावार्थे तल् प्रत्ययः । अयं कियान् सुरापराधः तत्प्रेषितस्यापि मया वृतत्वात्ते कोऽपराध इत्यर्थः । अथापराद्धत्वेऽपि मखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवास्ते मुखलज्जयैव मुखदाक्षिण्येनैव इदमपराद्धत्वं गिरापि न वक्ष्यन्ति । अपिशब्दान्मनसापि न स्मरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

स्वयं (किसीके कहने–सुननेसे नहीं) वरण करनेवाली मुझमें दया करना अर्थात् मेरी प्रार्थनासे पत्नीरूप मुझे स्वीकार करना देवोंके विषयमें कितना अपराध है अर्थात् कोई बड़ा

अपराध नहीं, किन्तु अत्यन्त छोटा अपराध है। (मुझे पत्नी होनेपर) यज्ञोंमें सन्तुष्ट करनेसे सुख (सम्मुख—सामनेमें) लज्जासे वे देव (अथवा—तुम्हारे मुखलज्जासे देव वचनसे भी (और हृदयसे भी) यह (अपराध-विषयक बात) नहीं कहेंगे । [मैं किसीके कहने-सुननेसे तुम्हें वरण नहीं करती, किन्तु स्वेच्छासे करती हूं, और तुम देवोंके दूतरूपमें यहां आकर उनके कामकी उपेक्षा करके अपना काम करते, तब देवोंके प्रति तुम बड़ा अपराधी होते; किन्तु तुमने ऐसा नहीं किया, वल्कि देवोंके दूतका कार्य अच्छी तरह किया, फिर भी मैं तुम्हारे दूतकार्यसे प्रभावित नहीं होकर यदि स्वयं तुम्हें वरण करती हूं तो इसमें तुम्हारा कोई बड़ा अपराध नहीं है और इस तुच्छ अपराधको भी ये देव, जब हम दोनों यज्ञोंमें उन देवोंको हविष्यादिसे तृप्त करेंगे तो लज्जाके कारण वे मुखसे भी नहीं कहेंगे और न हृदयमें ही रखेंगे अर्थात् परमदयालु वे देवता सन्तुष्ट होकर तुम्हारे इस तुच्छ अपराधको उस प्रकार सर्वथा भूल जायेंगे, जिस प्रकार सामान्य अपराध करनेवाले दास पर उसके उत्तम कार्यसे अत्यन्त सन्तुष्ट स्वामी भूल जाता है; अतः तुम देवोंके अपराधकी आशङ्का छोड़कर मुझे स्वीकृत करो] ॥ १५३ ॥

व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे ।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१५४॥

व्रजन्त्विति । अथवा हे नल ! ते देवा अपि ते तव सम्बन्धिनं स्वयंवरं व्रजन्तु वरं साध्वेवैतदित्यर्थः । कुतः, मया तानेव प्रसाद्य प्रसन्नान् कृत्वा वरिष्यसे । न च ते दुराधर्षा इत्याह–सर्वथा–तान् देवानपि दया न स्पृशेदिति न । किं तु स्पृशेदेवेत्यर्थः । सम्भवस्य निषेधनिवर्तने द्वौ नञ्प्रतिषेधौ स्तः । तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा न । लोके त्वां मदनं च विना न कोऽपि निष्कृप इति भावः ॥ १५४ ॥

वे-वे अर्थात् सब देव भी श्रेष्ठ स्वयंवरमें (अथवा—स्वयंवरमें भले ही) आवें, मैं उन्हें ही प्रसन्न कर तुम्हें वरण करूंगी। क्या उन्हें भी (जैसे तुम्हें दया नहीं आती वैसे दया नहीं छूएगी अर्थात् दया नहीं आयेगी ? अर्थात् अवश्य दया आवेगी; क्योंकि वे (देव) भी कामदेव या तुम नहीं हो । [एक कामदेव ही ऐसा निर्दय है कि मुझे अत्यन्त पीडित कर रहा है, दूसरे तुम ऐसा निर्दय हो कि स्वयं वरण करनेकी इच्छावाली भी मुझे स्वीकृत नहीं करते, किन्तु वे इन्द्रादि देवता तुम दोनों-जैसे निर्दय नहीं हैं, जो मेरी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर दया न करें जब वे इस स्वयंवरमें आकर मुझपर दया करके तुम्हें वरण करनेके लिए मुझे आदेश दे देंगे, तब तो देवोंके प्रति तुम्हारे तुच्छतम अपराधकी भी आशङ्का नहीं रह जायेगी] ॥ २५४ ॥

इतीयमालेख्यगतेऽपि वीक्षिते त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययाऽनया ।
पदे पदे मौनमयान्तरीपिणी प्रवर्तिता सारघसारसारणी ॥ १५५ ॥

इतीति । हे सौम्य ! आलेख्यगते चित्रगतेऽपि त्वयि वीक्षिते सति स्मरव्रीडयोः

समस्यया समष्ट्या अनया भैम्या पदे पदे वचने वचने स्थाने स्थाने अन्तर्गता आपोऽस्येत्यन्तरीपमन्तस्तटं, 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः। "ऋक्पूः" इत्यादिना समासान्तोऽप्रत्ययः । "द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ई"दितीकारः । मौनमयं मौनरूपमन्तरीपं यस्याः सा मौनान्तरीपोद्गतेत्यर्थः। सर्वधन्वीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः, "अट्कुप्वाङि"त्यादिना णत्वम् । इतीयं उक्तरूपा सारघसारस्य मधुसारस्य सारणी स्वल्पनदी। 'सारणी स्वल्पसरित्' इति विश्वः । प्रवर्तिता चित्रगतस्य तवाग्रे एवं मधुवर्षिणी वागुक्तेत्यर्थः । अत्र विषयस्य वाचोऽनुपादानेन विषयिण्याः सारघसारण्या एवोपनिबन्धात्तयोर्भेदेऽप्यभेदोक्तेश्चातिशयोक्तिभेदः॥ १९९ ॥

चित्रगत भी तुम्हें देखकर कामदेव तथा लज्जाके संक्षिप्त मिश्रणसे युक्त (यह मेरी सखी दमयन्ती कामके वशीभूत होकर बोलना चाहती है, किन्तु लज्जावश नहीं बोलती) पद-पद (बात-बात, पक्षा०—स्थान-स्थान) में अर्थात् प्रत्येक बात (पक्षा०—स्थान) में मौनमय अन्तरीप (टापू—जलवेष्टित शुष्क स्थान-विशेष) वाली यह दमयन्ती मधुके सारभूत पदार्थकी नदी (पाठा०—..........पदार्थको बहानेवाली) हो जाती है। [जिस प्रकार नदी टापुओंमें स्थान-स्थानपर रुक-रुककर बहती है, उसी प्रकार यह दमयन्ती आपको चित्रमें भी देखकर काम एवं लज्जाके वशीभूत होकर बात-बातमें सरस मधुधारावाली नदीके तुल्य हो जाती है। अतएव जब यह चित्रमें भी आपको देखकर कामवशीभूत हो जाती है तो प्रत्यक्ष आपको देखनेपर अपने (नल) में इस दमयन्तीका अनुराग न होनेकी आशङ्का करना सर्वथा अनुचित है]॥ १५५॥

चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यते न
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि निजभिया किन्नु कृत्ताङ्गुलीकः।
कृत्वा मित्रं मधुमधिवनस्थानमन्तश्चरित्वा
सख्याः प्राणान् हरति हरितस्त्वद्यशस्तज्जुषन्ताम् ।। १५६ ।।

चण्डाल इति । हे नल ! विषमविशिखः कामस्ते तव सम्बन्धी चण्डालः वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञयेति स्मरणात् । मादृङ्मारणार्थमेव त्वया भृतः कोऽपि चण्डाल इत्यर्थः। अत एव न दृश्यते न स्पृश्यते च एकत्रानङ्गत्वादन्यत्र शास्त्रनिषेधाच्चेति भावः । किं च निजभिया स्वीयापराधदण्डभयेन त्वयि विषये त्वामुद्दिश्य कृत्ताङ्गुलीकः । अपराधेऽपि त्राणार्थं छिन्नाङ्गुलीकः । "नद्यृतश्च" इति कप्। "पद्यमङ्गुलिविच्छेद उरोविन्यस्तमत्तरम्। तन्नामकरणं चेति दास्यमेतच्चतुष्टय" मिति दासचिह्नत्वादिति भावः । अत एवाङ्गुलिविहीनत्वादनङ्गः ख्यातः किं नु ? अतः किमत आह—मधुं वसन्तमपि मित्रं कृत्वा सहायञ्च कञ्चन सम्पाद्येत्यर्थः। अन्तरन्तः करणमेव अधिवनस्थानमरण्यदेशं चरित्वा भ्रान्त्वा सख्याः स्वसख्या भैम्याः प्राणान् हरति तत्स्त्रीजन्यं त्वद्यशो दुर्यश इत्यर्थः । हरितो दिशो जुषन्तां

सेवन्तां दिगन्तविश्रान्तमस्त्वित्यर्थः। अत्र कामस्य चण्डालधर्मयोग्यचण्डालत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। मन्दाक्रान्तावृत्तमुक्तम् ॥ १५६ ॥

तुम्हारा विषमबाण (पांच बाणोंवाला) कामदेव चण्डाल है, वह स्पर्श तो करता है, किन्तु दिखलायी नहीं देता, तुम्हारे विजय होते रहनेपर वह अनङ्ग (अङ्गसे रहित) विख्यात है, फिर कटी हुई अङ्गुलिवाला होनेकी क्या बात है ?। वनभूमिमें वसन्तको मित्र बनाकर भीतर (हृदयके भीतर) में घुसकर सखी (दमयन्ती) के प्राणों को हर रहा है, दिशाएं (ऐसे मित्रवाले) तुम्हारी कोर्तिका सेवन करें। [पक्षा०—विषम (विषतुल्य या विषमें बुझे हुए बाणोंवाला त्वत्सम्बन्धी चण्डाल (भयङ्कर बाणोंको ग्रहण करनेवाला) है, वह स्पर्श करता (छूकर पीडित करता) है, किन्तु दिखलायी नहीं देता। तुम्हारे द्वारा उसका विजय करते रहनेपर वह अनङ्ग (शरीररहित) कहलाता है तो कटी हुई अङ्गुलिवाले (चण्डालकी अङ्गुलिका कटा हुआ रहना शास्त्रोंमें वर्णित है) का क्या कहना ? अर्थात् शरीर रहित चण्डालरूप कामदेव जब मुझे इतना पीडित कर रहा है तो सम्पूर्ण शरीरयुक्त केवल एक अङ्गुलिसे रहित चण्डाल जितना अधिक पीडित करेगा ? उसका क्या कहना है ? जल अर्थात् द्रव पदार्थोंमें मदिराको मित्र बनाकर अर्थात् पीकर घरमें घुसकर वह तुम्हारा चण्डाल (मेरी) सखी दमयन्तीके प्राणोंको हरण कर (मार) रहा है, दिशाएं तुम्हारी कीर्ति अर्थात् व्यङ्ग्यसे अपकीर्तिको धारण करें। यदि तुम दमयन्तीको अनुगृहीत नहीं करोगे तो वह मर जायेगी और तुम्हारी अपकीर्ति सब दिशाओंमें फैल जायेगी; अतएव तुम इसे अनुगृहीतकर इसकी प्राणरक्षा करो] ॥ १५६ ॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहितां नतमौलिरपत्रपया स निजाम् ।
अमरैः सह राजसमाजगतिं जगतीपतिरभ्युपगम्य ययौ ॥ १५७ ॥

अथेति । अथ भैमीवाक्यश्रवणानन्तरं जगतीपतिर्नलः भीमभुवैव भैम्यैव रहो रहस्यभिहितां निजामात्मीयाममरैः सह राजसमाजस्य राजसभाया गतिं प्राप्तिमपत्रपया स्ववरणलज्जया नतमौलिर्नम्रमुखः सन् अभ्युपगम्याङ्गीकृत्य ययौ । तोटकवृत्तम् । "इह तोटकमम्बुधिसैः कथित"मिति लक्षणात् ॥ १५७ ॥

इसके बाद (मैं जिस दूत–कार्यके लिए आया था, वह पूरा नहीं हुआ, अपि तु मुझे अब देवोंका प्रतिपक्षी बनकर स्वयंबरमें आना पड़ेगा ऐसी) लज्जासे नतमस्तक राजा (नल) एकान्तमें भीमनन्दिनी (दमयन्ती) के द्वारा ही कहे गये देवोंके साथ राजसभा (स्वयंवर) में अपना आना स्वीकार कर चले गये ॥ १५७ ॥

श्वस्तस्याः प्रियमाप्तुमुद्धुरधियो धाराः सृजन्त्यारया-
न्नम्रोन्नम्रकपोलपालिपुलकैर्वे तस्वतीरश्रुणः ।
चत्वारः प्रहराः स्मरार्तिभिरभूत सा यत् क्षपा दुःक्षपा
तत्तस्यां कृपयाखिलेव विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता ॥ १५८ ॥

श्व इति । श्वः परेऽहनि प्रियं नलमाप्तुमुद्धुरधियः सन्नद्धबुद्धेः अत एव स्यात् प्रवाहवेगान्नम्राश्चोन्नम्राश्च दन्तुरा इत्यर्थः । तैः कपोलपाल्योर्गण्डभित्त्योः पुलकै रोमाञ्चैर्वेतस्वतीः वेतसलतावतीः, "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्, मादुपधायाश्चे"त्यादिना मकारस्य वकारः । अश्रुणो धारा आनन्दबाष्पप्रवाहान् सृजन्त्या जनयन्त्यास्तस्या भैम्याः यत् यस्मात् कारणात् चत्वारः प्रहरा अपि चतुर्याममात्रापीत्यर्थः । सा क्षपा स्मरार्तिभिः स्मरपीडाभिर्दुःक्षपा दुरतिवाहाभूत्, तत् तस्मादस्यां भैम्यां कृपया कृपयैवेत्यर्थः । विधिना वेधसा अखिलैव सर्वापि रात्रिस्त्रियामा यामत्रयवत्येव कृता । सत्यमिति शेषः । गम्योत्प्रेक्षा ॥ १५८ ॥

कल प्रिय (नल) को पानेके लिये उत्कण्ठित बुद्धिवाली, और कपोल भित्तिपर ऊंच–नीच रोमाञ्चोंसे बेंतयुक्त नदीरूप अश्रु–धाराओंको बहाती हुई (नदीमें ऊंचे–नीचे बेंत रहते हैं और कपोलभित्तिमें ऊंचे-नीचे रोमाञ्च हो रहे हैं) उस दमयन्तीकी वह चार प्रहरोंवाली (एक) रात्रि काम–पीडाओंसे कष्टसे क्षीण होगी, अतएव उसपर कृपा करनेवाले ब्रह्माने सम्पूर्ण रात्रिको (चार प्रहरोंवाली सम्पूर्ण रात्रिको एक प्रहर घटाकर) 'त्रियामा' अर्थात् तीन प्रहरवाली कर दिया । [रात्रि यद्यपि चार प्रहरोंकी होती है, तथापि उसे 'त्रियामा' कहते हैं, इसीपर कविकुल शिरोमणि 'श्री हर्ष' ने उत्प्रेक्षा की है कि विरहिणी दमयन्तीके लिए चार प्रहरवाली एक रात्रिको भी व्यतीत करना दुःशक्य जानकर कृपालु ब्रह्माने सम्पूर्ण रात्रिको चार प्रहरके स्थानमें तीन प्रहरका बना दिया है । लोकमें भी कोई दयालु व्यक्ति किसी दुखियाके दुःखसे दयार्द्र होकर उसके कठिन कार्यको सरल कर देता है] ॥ १५८ ॥

तदखिलमिह भूतं भूत्यगत्या जगत्याः
पतिरभिलपति स्म स्वात्मदूतत्वतत्त्वम् ।
त्रिभुवनजनयावद्वृत्तवृत्तान्तसाक्षात्-
कृतिकृतिषु निरस्तानन्दमिन्द्रादिषु द्राक् ॥ १५९ ॥

तदिति । जगत्याः पृथिव्याः पतिर्नलः इह दमयन्तीसमक्षं भूतं वृत्तं तदखिलं स्वात्मनः स्वस्य दूतत्वं तत्त्वं दूतस्वरूपं त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं, "तद्धितार्थे"त्यादिना समाहारे द्विगुः । "द्विगुरेकवचनं" पात्रादित्वान्न स्त्रीत्वम् । तस्मिन् जनानां यावन्तो वृत्ता यावद्वृत्तं "यावदवधारण" इत्यव्ययीभावः । यावद्वृत्तञ्च ते वृत्तान्ताश्च तेषां साक्षात्कृतौ साक्षात्करणे कृतिषु कुशलेष्विन्द्रादिषु विषये द्राक् सपदि निरस्तानन्दं तेषामिष्टविघाताद्विहतसन्तोषं यथा तथा भूतगत्या सत्यभङ्ग्या । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः । अभिलपति स्म कथितवान् । मालिनीवृत्तम् । "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति लक्षणात् ॥ १५९ ॥

जगतीपति (राजानल) ने यहां (दमयन्तीके पास, या दमयन्तीके विषयमें) हुए उस सम्पूर्ण अपने दूतकार्यके सार (या यथार्थता) को बीते हुए क्रमसे (वहां जिस क्रमसे जैसी-जैसी बात-चीत हुई थी उसी क्रमसे । अथवा—भूतगति-अन्तर्धान होकरव हां जानेके कारण भूत तुल्यगति-से बीते हुए सम्पूर्ण अपने दूतकार्यके सारको देवोंके कार्य सिद्ध करनेमें असफल होनेके कारण) आनन्दरहित होकर तीनों लोकोंके मनुष्योंके समस्त बीते हुए वृत्तान्तोंको साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) करनेवाले इन्द्र आदि देवोंसे शीघ्र कह दिये । [तीनों लोकोंके लोगोंके बातोंको प्रत्यक्ष करने तथा निष्कपट होकर समस्त बात स्पष्ट कह देनेसे इन्द्र आदिको नलपर सन्देह करने या रुष्ट होनेका कोई अवसर ही नहीं आया] ॥ १५९ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरःसुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
संदृब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १६० ॥

श्रीहर्षमिति । सन्दब्धं ग्रथितमर्णववर्णनमर्णववर्णनाख्यप्रबन्धो येन तस्येत्यर्थः । 'ग्रथितं ग्रन्थितं दृब्धम्' इत्यमरः ॥ १६० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने नवमः सर्गः समाप्तः ॥ ९ ॥

कवीश्वर-समूहके.............किया, "अर्णववर्णन" नामक ग्रन्थके रचयिता, उसके रचित सुन्दर नलके चरित अर्थात् "नैषध चरित".........यह नवम सर्ग समाप्त हुआ । शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान जाननी चाहिये ॥ १६० ॥

यह 'मणिप्रभा" टीकामें "नैषधचरित" का नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

— ❧ —

दशमः सर्गः

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥ १ ॥

अथ स्वयंवरवृत्तान्तं वर्णयति—रथैरित्यादि। अथ नलप्रयाणानन्तरं कुलजाः कुलीनाः शस्त्रेषु शस्त्रविद्यासु शास्त्रेषु त्रय्यादिषु च दृष्टं पारं यैस्ते दृष्टपाराः पारदृश्वानः शम्बरवैरिणः कामस्य, यः कायव्यूहः शम्बरासुरजयार्थं मायया गृहीतो यः शरीरसमूहः, तस्य श्रीरिव श्रीः शोभा येषां ते कन्दर्पकल्पा इत्यर्थः। श्रिया सम्पदा जितो यक्षराजः कुबेरः यैस्ते कुमारा राजकुमाराः 'कन्या वरयते रूपमि'त्याद्युक्तसमग्रगुणसम्पन्ना इत्यर्थः। रथैः साधनैः स्वयं व्रियतेऽस्मिन्निति स्वयंवरस्तम्। 'ऋदोरप्'। स्वयंवरभुवं, तदा आयुः आयाताः। आङ् पूर्वाद्यातेर्लङि 'लङः शाकटायनस्यैवेति' वैकल्पिको झेर्जुसादेशः। अत्र कायव्यूहश्रिय इति निदर्शना, श्रीजितयक्षराजाश्च व्यतिरेकः इत्यलङ्कारयोः संसृष्टिः। अस्मिन् सर्गे उपेन्द्रवजेन्द्रवज्रातदुपजातयश्च वृत्तानि ॥ १ ॥

इसके बाद (धनुष आदि) शस्त्र तथा (वेद आदि) शास्त्रविद्यामें पारङ्गत, कामदेवकी शरीर शोभाके समान शोभावाले, सम्पत्तिसे कुबेर को जीतनेवाले श्रेष्ठकुलोत्पन्न राजकुमार रथोंसे स्वयंवर स्थानको आये। ['कन्या वरके सौन्दर्य, माता सम्पत्ति, पिता विद्या, बान्धवजन श्रेष्ठ कुल चाहते हैं' [१] इस नीतिके अनुसार स्वयंवरमें आये हुए राजकुमारोंमें सभी उक्त गुण रहनेसे तथा हाथी घोड़ा आदि वाहनोंको छोड़कर रथोंके द्वारा आनेसे उनकी विवाह-योग्यता सूचित होती है। शास्त्रकी अपेक्षा शस्त्रकी ही क्षत्रियोंके लिये प्रमुखता व्यक्त करनेके लिये यहां शस्त्रविद्याको पहले तथा शास्त्रविद्याको बादमें कहा गया है] ॥ १ ॥

नाभूदभूमिः स्मरसायकानां नासीदगन्ता कुलजः कुमारः।
नास्थादपन्था धरणेः कणोऽपि व्रजेषु राज्ञां युगपद्व्रजत्सु ॥ २ ॥

नेति। कुलजः कुलीनः, कोऽपीति शेषः। कुमारः स्मरसायकानामभूमिरविषयो नाभूत् तथा अगन्ता स्वयंवराप्रयाता च नाभूत्। किञ्च राज्ञां व्रजेषु युगपद्व्रजत्सु सत्सु धरणेः कणोऽपि भूलेशोऽप्यपन्था अपथं मार्गशून्य इत्यर्थः 'पथो विभाषा' इति विकल्पात् समासान्ताभावः। नास्थात् न स्थितः, 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक्। अत्र राज्ञां कार्त्स्न्येन स्मरेषुविषयत्वस्वयंवरगन्तृत्वाभ्यां सकलभूमेः पथित्वेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥२॥

---

१. तदुक्तम्—'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ॥
बान्धवा कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥' इति।

कोई भी सत्कुलोत्पन्न कुमार कामबाणके लक्ष्यसे हीन नहीं रहा और (स्वयंवरमें) नहीं आनेवाला नहीं रहा अर्थात् सभी कुलीन कुमार दमयन्तीके स्वयंवर का समाचार सुनकर कामबाणसे पीड़ित हो स्वयंवरमें आये । राज-समूहके एक साथ चलते (स्वयंवरमें आते) रहनेपर भूमिका थोड़ा-सा भाग भी मार्गहीन नहीं रहा अर्थात् पृथ्वीका सब भाग राजाओंके स्वयंवरमें आनेसे मार्ग बन गया । [दमयन्तीके स्वयंवरका समाचार सुनकर कामबाण पीड़ित सभी राजकुमार पृथ्वीके सब भागोंसे स्वयंवरमें पहुंचे] ॥ २ ॥

योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम् ।
द्रष्टुं परैस्ताननुरोद्धुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः ॥ ३ ॥

योग्यैरिति। योग्यै रूपयौवनादिना सम्बन्धार्हैः नृपजां भैमीं वरीतुम्। 'वृतो वा' इति दीर्घः। अनर्हैः रूपयौवनादिशून्यैः, वीरः प्रसभेन बलेन हर्तुं परैः कैश्चिन्निःस्पृहैः केवलं द्रष्टुमेव स्वयंवरमिति शेषः, अन्यैस्तु तान् राजन्यादीननुरोद्धुमुपासितुं व्रजद्भिः करणैस्तद्राजन्यैरित्यर्थः। ककुभो दिशः स्वमात्रशेषाः स्वरूपमात्रावशिष्टा बभूवुः। अत्रापि ककुभां स्वमात्रशेषत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ३ ॥

(श्रेष्ठवंश आदिसे) योग्य कुछ राजकुमार दमयन्तीको वरण करनेके लिये, (श्रेष्ठवंश आदिसे) अयोग्य (किन्तु) शूरवीर कुछ राजकुमार दमयन्ती कोब लात्कारसे हरण करनेके लिये, (उक्त दोनों गुणोंसे हीन) कुछ लोग दमयन्ती या स्वयंवरको देखनेके लिये और कुछ लोग आये हुए उन लोगोंकी सेवा करनेके लिये; इस प्रकारके आते हुए उन लोगोंसे सब दिशाएं खाली हो गयीं । [स्वयंवरमें आनेवाले लोगोंमें कुछ राजकुमार ऐसे थे जो अपने श्रेष्ठवंश तथा गुणोंसे दमयन्तीको न्यायपूर्वक वरणकर ले जाना चाहते थे, उक्त गुणोंसे हीन होनेसे अयोग्य कुछ शूरवीर राजकुमार दमयन्तीको बलात्कारसे हरणकर ले जाना चाहते थे, जो न तो श्रेष्ठवंश आदिवाले थे और न शूरवीर ही थे ऐसे कुछ लोग दमयन्तीको या स्वयंवरको देखने मात्रके लिये आ रहे थे और कुछ लोग वहां आये हुए उन सबोंकी सेवाके लिये आ रहे थे; इस प्रकार झुण्डके झुण्ड आते हुए लोगोंसे सब दिशाएं खाली हो गयीं । दमयन्तीके स्वयंवरमें किसी न किसी निमित्तसे सब दिशाओंसे बहुत लोग आये] ॥ ३ ॥

लोकैरशेषैरवनिश्रियन्तामुद्दिश्य दिश्यैर्विहितो प्रयाणे ।
स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिमापुः ककुभां विभागाः ॥ ४ ॥

लोकैरिति। अवनिश्रियं भूलोकलक्ष्मीं तां भैमीमुद्दिश्याभिसन्धाय दिश्यैर्दिक्षु भवैः, 'दिगादिभ्यो यत्'। अशेषैर्लोकैर्जनैः प्रयाणे विहिते सति ककुभां विभागाः

---

१. 'परिकर्तुमन्यैः' इतिपाठान्तरम्। अनुरोद्धुमित्यत्र उपरोद्धुमिति च पाठान्तरम्।

प्रदेशाः स्ववर्तिनां स्वनिष्ठानां तेषां तेषां जनानां यन्त्रणया सम्बन्धेनार्तेः पीडायाः विश्रान्तिं विरतिमापुः, भाररहित्यात् सुखावस्थानं चक्रुरित्यर्थः ॥ तद्वदलघयतेरयुत्प्रेक्षा गम्या ॥ ४ ॥

पृथ्वीकी शोभा दमयन्तीके उद्देश्यसे दिशामें होनेवाले सब लोगोंके वहांसे यात्रा करनेपर दिशाओंके विभागोंने अपने यहां रहनेवाले उन-उन आदमियोंके सम्बन्ध (या सङ्कीर्णतापूर्वक निवास) से उत्पन्न पीड़ाकी विश्रान्तिको प्राप्त किया अर्थात् अपने-अपने यहां रहनेवाले लोगोंके स्वयंवरमें चले जानेसे दिशाओंने थोड़ा हल्कापन प्राप्त किया ॥ ४ ॥

तलं यथेयुर्न तिला विकीर्णाः सैन्यैस्तथा राजपथा बभूवुः ।
भैमीं स लब्धामिव तत्र मेने यः प्राप भूभृद्भवितुं पुरस्तात् ॥ ५ ॥

तलमिति । यथा विकीर्णा उपरि क्षिप्तास्तिलास्तलं भूतलं नेयुः नाप्नुयुः सैन्यैः सैनिकैः । 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः । 'सेनाया वे'ति ण्यप्रत्ययः । राजपथा राजमार्गास्तथा तिलमात्रावकाशरहिता बभूवुः । तादृक्सम्बन्धासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धस्योक्तेरतिशयोक्तिभेदः । किञ्च तत्र समये यो भूभृद्राजा पुरस्ताद्भवितुं गन्तुं प्राप प्राप्तः स राजा भैमीं लब्धामिव मेने । यदि पूर्वंगतो भवेयं तर्हि स्वयं भैमीं लप्स्य इत्यभिमानादहंपूर्विकया सर्वे समाजग्मुरित्यर्थः ॥ ५ ॥

(ऊपरमें) विखेरे गये तिल भी भूमिपर नहीं गिर सके, इस प्रकार राजमार्ग (सड़कें) सेनाओंसे व्याप्त हो गये अर्थात् ठसाठस भर गये । (उस प्रकार ठसाठस भरनेसे तिल गिरनेके भी स्थानसे शून्य) उस राज मार्गमें जो राजा आगे पहुंच सका, उसने दमयन्ती को प्राप्त हुई-सी समझा । [उस प्रकार अत्यन्त सङ्कीर्ण राजमार्गमें सब राजा अहमहमिका ('मैं आगे पहुंचूं' २ ऐसी इच्छा) से आगे पहुंचकर दमयन्तीकी प्राप्ति समझते थे] ॥ ५ ॥

नृपः पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः कश्चन नुद्यमानः ।
यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वाप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम् ॥ ६ ॥

नृप इति । पुरःस्थैर्जनैः प्रतिरुद्धवर्त्मा निरुद्धमार्गः पश्चात्तनैः पश्चाद्भवैः पृष्ठत आगतैरित्यर्थः । 'सायं चिरमि'त्यादिना ट्युल्प्रत्ययस्तुडागमश्च । नुद्यमानः प्रेर्यमाणः कश्चन नृपः यन्त्रस्थस्य तैलाकर्षणयन्त्रलग्नस्य सिद्धार्थस्य सर्षपस्य पदे स्थाने अभिषेकं लब्ध्वापि सर्षपत्वं प्राप्यापीत्यर्थः । स्वमात्मानमसिद्धार्थमसर्षपममन्यतेति विरोधः । अपिशब्दो विरोधद्योतनार्थः । असिद्धार्थं भैमीप्राप्तिरूपसिद्धिरहितममन्यतेत्यविरोधाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । अत्र संमर्दे यन्त्रस्थसर्षपवद्विशीर्णस्य मे कुतोऽर्थसिद्धिरित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ६ ॥

आगे चलनेवालोंसे रुके हुए मार्गवाला तथा पीछे चलनेवालोंसे (आगे बढ़नेके लिये) प्रेरित किया जाता हुआ कोई राजा कोल्हूमें पड़े हुए सरसोंके स्थानमें अभिषिक्त होकर

भी अपनेको असफल (दमयन्तीकी प्राप्ति) से वञ्चित माना। [पक्षा०—यन्त्रस्थित सिद्धार्थ (सिद्ध मनोरथवाले) के स्थानमें अभिषेकको प्राप्तकर भी अपनेको असिद्धार्थ (असफल मनोरथवाला) माना, यह विरोध होता है, इसका परिहार ऊपरके अर्थसे हो जाता है। धक्केमें दोनों ओरसे कोल्हूके सरसोंके समान दबाया गया कोई राजा बहुत दुःखी हुआ अथवा—सङ्कीर्ण भागमें सरसोंके समान पीसे जाते हुए मुझे दमयन्ती कैसे प्राप्त होगी? अर्थात् नहीं प्राप्त होगी इस प्रकार दुःखी हुआ]॥ ६ ॥

राज्ञां पथि स्त्यानतयानुपूर्वी[1]विलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम्।
आह्वानसंज्ञानमिवाग्रकम्पैर्दधुर्विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः ॥ ७ ॥

राज्ञामिति । विदर्भेन्द्रपुरी कुण्डिनपुरं तस्यां पताकाः अग्रकम्पैः स्वाग्रचलनैः पथि मार्गे स्त्यानतया संहततया सैन्यसङ्कीर्णतयेत्यर्थः । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वत' इति स्त्यायतेर्निष्ठानत्वम् । आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्त्या अक्रमचङ्क्रमणाशक्त्या विलम्बभाजां राज्ञामाह्वानसंज्ञानमाकारणचेष्टां दधुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

कुण्डिनपुरीकी पताकाएं (वायुसे) आगे हिलनेसे मार्गमें अत्यन्त सङ्कीर्णतासे क्रमको (क्रमशःगतिको) उल्लङ्घन करनेमें असमर्थ होनेसे विलम्ब करनेवाले राजाओंको बुलानेका सङ्केत करती थी । [लोकमें भी भीड़से पिछड़े हुए व्यक्तिको जिस प्रकार कोई व्यक्ति हाथ आदिसे आगे बढ़नेका सङ्केत करता है, उसी प्रकार कुण्डिनपुरीकी वायुप्रेरित पताकाओंने भी भीड़से आगे बढ़नेमें असमर्थ राजाओंको शीघ्र आगे बढ़नेका सङ्केत किया। राजाओंने दूरसे कुण्डिनपुरीकी पताकाओंको देखा]॥ ७ ॥

प्राग्भूय कर्कोटक आचकर्ष सकम्बलं नागबलं यदुच्चैः ।
भुवस्तले कुण्डिनगामिराज्ञां यद्वासुकेश्चाश्वतरोऽन्वगच्छत् ॥ ८ ॥

प्रागिति । भुवस्तले भूपृष्ठे कुण्डिनगामिनाम् । श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानात् द्वितीयासमासः । राज्ञां सम्बन्धि सकम्बलं सप्रावारमुच्चैर्महद्यन्नागबलं गजबलं (कर्म) कर्क इति पदच्छेदः । अटतीत्यटकः शीघ्रं गन्ता, हृद्यगतिर्वा । 'बहुलमन्यत्रापी'त्यौणादिकः क्युन्प्रत्ययः । कर्कः श्वेताश्वः । 'पृष्ठ्यः स्थौरी सितः कर्कः' इत्यमरः । जातावेकवचनम् । प्राग्भूय अग्रसरो भूत्वा प्रागिति च्व्यन्तस्य गतित्वाद्गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । आचकर्ष आकृष्टवान् । अश्वपूर्वं गजा गच्छन्तीति प्रसिद्धम् । तन्नागबलमश्वतरो गर्दभादश्वायामुत्पन्नो वेसराख्यो वाहनविशेषः । 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' इति तरप्प्रत्ययः । तस्य तनुत्वमन्यपितृकतेति काशिका । सोऽन्वगच्छत् । अत्रापि जातावेकवचनम् । अग्रतोऽश्वास्ततो गजास्ततोऽश्वतरा जग्मुरित्यर्थः। अन्यत्र भुवस्तले रसातले कुण्डिनगामिनः वासुकेर्वासुकिमहानागस्य सम्बन्धि, सकम्बलं कम्बलाख्यनागेन्द्रसहितम् । 'कम्बलो नागराजे स्यात् सास्नाप्रावारयोरपि'

---

१. '—नुपूर्व्या' इति पाठान्तरम् ।

इत्युभयत्रापि विश्वः। यदुच्चैर्नागबलमहिसैन्यं 'ग्रहाग्राहिगजे नागाः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती। कर्कोटको नाम नागविशेषः प्राग्भूयाचकर्ष तं नागबलमश्वतरो नाम नागविशेषोऽन्वगच्छत्। 'अश्वतरो वेसरे च नागराजान्तरेऽपि च' इत्युभयत्रापि विश्वः। कम्बलकर्कोटकाश्वतरादियुक्तो वासुकिश्च सबल आगत इत्यर्थः। अत्रोभयोः करिनागबलयोः प्रकृतत्वात् केवलं प्रकृतिश्लेषः॥ ८॥

भूतलपर कुण्डिनपुरीको जानेवाले, राजाओंके झूल-सहित जिस महान् हाथियोंके समूहको शीघ्रगामी (या हृदगामी) सफेद घोड़ेने आगे होकर आकृष्ट किया, उस हाथियोंके समूहको खच्चरोंके समूहने अनुगमन किया। (पहले घोड़े, मध्यमें हाथी और पीछे खच्चर चलते थे)। (पक्षा०-पृथ्वीके नीचे अर्थात् पातालमें स्थित, कुण्डिनपुरीको जानेवाले वासुकि ('वासुकि' नामक सर्पराज) के कम्बल नामके सर्पके सहित जिस महान् नागसेना (सर्पोंके समूह) को कर्कोटक नामके सर्पने आगे होकर आकृष्ट किया, उस नागसेनाका अश्वतर नामके सर्पने अनुगमन किया)। [पातालवासी सर्पराज वासुकि भी 'कर्कोटक, कम्बल, अश्वतर' नामक सर्पोंकी सेनाओंके साथ कुण्डिनपुरीमें पहुंचे]॥ ८॥

आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता मुखश्रीः।
विस्पष्टमाचष्ट दिशां जनेषु रूपं पतित्यागदशानुरूपम्॥ ९॥

आगच्छदिति। आगच्छतामुर्वीन्द्राणां राज्ञाञ्चमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता धूसरीकृता दिशां मुखश्रीः पतित्यागदशानुरूपं भर्तृप्रवासावस्थोचितरूपं प्रोषिते मलिना कृशेत्युक्ताकारं जनेषु विषये विस्पष्टमाचष्ट जनेभ्यः प्रकटीचकारेत्यर्थः। अत्रान्यधर्मस्यान्यत्रासम्भवाद्दिशां प्रोषितभर्तृकारूपमिव रूपमिति साहश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धाख्यो निदर्शनाभेदः हरिद्वधूनामिति देशान्तरपाठे रूपकं व्यक्तम्॥ ९॥

(कुण्डिनपुरीको) आते हुए भूपालोंकी सेनासे उड़ी हुई धूलियोंसे पाण्डुरित दिशाओं के मुखकी शोभाने (परदेशमें जानेके कारण अथवा सपत्नीको वरण करनेके कारण) पतियोंके त्यागकी दशाके अनुकूल अवस्था अर्थात् मलिनता युक्त अवस्थाको लोगों में स्पष्ट रूपसे कह दिया अर्थात् प्रकट कर दिया। [पतियोंको परदेशके लिये प्रस्थान करने पर या सपत्नी लानेके लिये प्रस्थान करनेपर स्त्रियों का मुख मलिन होना ठीक ही है। कुण्डिनपुरीको आनेवाले राजाओंकी सेनाओंकी धूलिसे सब दिशाएं मलिन हो गयीं]॥ ९॥

आखण्डलो दण्डधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैर्ययेे तदुद्वाहरसान्न शेषैः॥ १०॥

अथेन्द्रादिलोकपालवृत्तान्तमाह—आखण्डल इति। आखण्डलः इन्द्रः, दण्डधरो यमः, कृशानुरग्निः, पाशी वरुण इति प्रसिद्धैः चतुर्भिः ककुभां नाथैः भैम्याः स्वगुणेन

---

१. 'कृष्टैः स्वयंवरे तत्र गतं न शेषैः' इति पाठान्तरम्।

स्वसौन्दर्यगुणेनैव गुणरज्ज्वेति श्लिष्टरूपकं बद्ध्वा कृष्टैरिवेत्युत्प्रेक्षा । तदुद्वाहरसाद्भै-मीपरिणयरागादेव ययेे कुण्डिनं प्रति यातम् । यातेर्भावे लिट् । शेषैरवशिष्टैः नैर्ऋता-दिभिः षड्भिर्न यये ॥ १० ॥

इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण-ये चारों दिशाओं (क्रमशः पूर्व, दक्षिण, अग्निकोण और पश्चिम दिशाओं) के स्वामी दमयन्तीके द्वारा अपने **गुण** (सुन्दरता आदि गुण, पक्षा०—रस्सी) से बांधकर खींचे गयेके समान उस (दमयन्ती) के साथ विवाहके अनुरागसे आये (पाठा०—उस स्वयंवरमें आये); शेष (नैर्ऋत्य, वायु, कुबेर, आदि छः) दिक्पाल नहीं आये ॥ १० ॥

मन्त्रैः पुरं भीमपुरोहितस्य तद्बद्धरक्षं विशति क्व रक्षः ।
तत्रोद्यमं दिक्पतिराततान यातुं ततो जातु न यातुधानः ॥ ११ ॥

अथ षड्भिर्नैर्ऋताद्यनागमने कारणमाह—मन्त्रैरित्यादि । भीमस्य भीमभूपतेः पुरोहितस्य मन्त्रैः रक्षोघ्नमन्त्रैर्बद्धरक्षं कृतरक्षणं तत् पुरं कुण्डिनपुरं रक्षो राक्षसः क्व विशति न क्वापीत्यर्थः । ततो रक्षाबन्धाद्धेतोः यातुधानो नैर्ऋतः, दिक्पतिः जातु कदापि तत्र पुरं यातुं गन्तुमुद्यमं नाततान न चकार ॥ ११ ॥

(शेष ६ दिक्पालोंके स्वयंवरमें नहीं आनेका कारण कहते हैं—) राजा भीमके पुरोहितके मन्त्रोंसे सुरक्षित कुण्डिनपुरमें राक्षस कहां प्रवेश करें अर्थात् कहीं भी नहीं । इसी कारणसे (नैर्ऋत्यका) दिक्पाल राक्षसने अर्थात् नैर्ऋत्यने वहां (कुण्डिनपुरमें) जानेके लिये कभी उद्योग नहीं किया । [मन्त्रोंसे सुरक्षित स्थानोंमें राक्षसोंका प्रवेश नहीं करना शास्त्रवचनसे सिद्ध है । जिस प्रकार लोकमें कोई मनुष्य स्वयं प्रवेश नहीं कर सकने योग्य स्थानमें प्रवेश करनेके लिये कभी उद्योग नहीं करता है । उसी प्रकार नैर्ऋत्य दिशाके पतिका मन्त्ररक्षित कुण्डिनपुरमें अपना प्रवेश अशक्य मानकर वहां जानेके लिये उद्योग नहीं करना उचित ही है] ॥ ११ ॥

कर्तुं शशाकाभिमुखं न भैम्या मृगं दृगम्भोरुहनिर्जितं यत् ।
तस्या विवाहाय ययौ विदर्भान् तद्वाहनस्तेन न गन्धवाहः ॥ १२ ॥

कर्तुमिति । गन्धवाहो वायुः भैम्या दृगम्भोरुहाभ्यां नयनारविन्दाभ्यां निर्जितं मृगं स्ववाहनमृगमभिमुखीकर्तुं न शशाकेति यत् तेनाशक्तत्वेन तद्वाहनो मृगवाहनः सन् इति शेषः । तस्या भैम्या विवाहाय विदर्भान् जनपदान् न ययौ । वाहनं विना गन्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

वायु दमयन्तीके द्वारा मुख-कमलसे जीते गये मृगको दमयन्तीके सम्मुख नहीं कर सके; उसी कारण मृगवाहन वायु उसके साथ विवाह करनेके लिये विदर्भदेशको नहीं गये । [दमयन्तीने अपने नेत्र-कमलसे मृगको जीत लिया है, वायु देवका वाहन वह मृग एक वार पराजित होनेसे वायुके द्वारा प्रेरित होनेपर भी दमयन्तीके सामने मुख नहीं कर

सका, इसी कारण (वाहनके अभावसे) वायव्य दिक्पाल वायुदेव विना वाहनके स्वयंवरमें जाना अनुचित होनेसे दमयन्तीके साथ विवाह करनेके लिये विदर्भ देशको नहीं गये, एकबार हारे हुए मृगका पुनः उसके सामने नहीं जाना उचित ही है]॥ १२ ॥

जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः।
स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सबेरस्तां प्रत्यगान्न स्त्रितरां कुबेरः ॥ १३ ॥

ननु श्रुतवित्तादिसम्पन्नः कुबेरः किमिति न यातस्तत्राह—जाताविति। कामः कुमार्याः, अभिलाषः, जातावभिजने कौलीन्ये इत्यर्थः। प्रवणो न तत्परः, वित्ते धने च न प्रवणः, गुणे श्रुतशीलादौ च न प्रवणः, किन्तु सौन्दर्य एव प्रवणः। कुतः? स कामो वामो वक्रः, सुन्दरश्च इत्यर्थः। अत एव भणन्ति—'कन्या वरयते रूपमि'ति। तस्मात् स्वच्छे स्फटिकमयत्वाद्बिम्बग्राहिणि स्वशैले कैलासे ईक्षिता कुत्सा गर्हा यस्य तद् बेरं शरीरं यस्य सः, सम्यगवगतस्वकौरूप्य इत्यर्थः। स कुबेरः स्त्रित-रामुत्कृष्टस्त्रीं त्रैलोक्यसुन्द रीमित्यर्थः। 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्यामि'ति घादिपरो ह्रस्वः। तां दमयन्तीं प्रति नाऽगात्, कौरूप्यलज्जया न गत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

कामदेव या कुमारी-विषयक इच्छा (श्रेष्ठ) जातिमें नहीं तत्पर है, (श्रेष्ठ) धनमें नहीं तत्पर है और (श्रेष्ठ) गुणमें नहीं तत्पर है; किन्तु सुन्दरतामें ही तत्पर है; (क्योंकि) वह काम वाम (प्रतिकूल, पक्षा०—सुन्दर) है, (ऐसा विचारकर) निर्मल पर्वत (स्फटिकके समान स्वच्छ कैलास पर्वत) में अपने कुरूप शरीरको देखे हुए कुबेर स्त्री-श्रेष्ठ दमयन्तीके प्रति (उसके साथ विवाह करनेके लिये स्वयंवरमें) नहीं आये। ['कन्या वरयते रूपम्' वचनके अनुसार कन्या केवल सुन्दरताको ही प्रमुखता देती है, श्रेष्ठ जाति, धन या गुणको नहीं; अतः जाति, धन तथा गुणमें उत्तम होते हुए भी उत्तर दिक्पाल कुबेर सुन्दर नहीं होनेसे स्वयंवरमें नहीं आये] ॥ १३ ॥

भैमीविवाहं सहतेऽस्य कस्मादर्धं तनुर्या गिरिजा स्वभर्तुः।
तेन व्रजन्त्या विदधे विदर्भानीशानयानाय तयान्तरायः ॥ १४ ॥

भैमीति। गिरिजा पार्वती स्वभर्तुरीश्वरस्य भैमीविवाहं कस्मात् सहते न कस्मा-दपीत्यर्थः। असहने कारणमाह—या भर्तुरर्द्धं तनुः समांशपरत्वान्नपुंसकत्वं, 'पुंस्यर्धोऽ-र्धं समेंऽशके' इत्यमरः। भर्तुरर्धाङ्गभूता कथं सापत्न्यं सहत इति भावः। तेना-सहनेन निमित्तेन विदर्भान् जनपदान् व्रजन्त्या तया देव्या ईशानस्येश्वरस्य यानाय विदर्भान् प्रति प्रयाणाय अन्तरायो विघ्नो विदधे विहितः। अचलत्यर्धे कथमर्धान्तरं चलेत् चलने वा शरीरं विशीर्येत निष्क्रियं वा स्यात्। तस्मादीशानदिक्पालो नायात इत्यर्थः ॥ १४ ॥

जो पार्वती शिवजीका आधा शरीर है, वह (सपत्नी होनेसे) दमयन्तीके विवाहको कैसे सहन करती ? अर्थात् नहीं सहन करती; इसी कारण विदर्भ देशको जाती हुई उस

पार्वतीने ईशान (शिवजी) की यात्रामें विघ्न कर दिया । [ईशान कोणके स्वामी शिवजी का आधा शरीर पार्वतीका और आधा अपना है, पत्नी भागवाले आधे शरीरको छोड़कर जाना असम्भव या निष्क्रिय होनेसे दमयन्तीके विवाहकी इच्छा रहनेपर भी शिवजी विदर्भ देशको नहीं जा सके ॥ सपत्नी लानेको असहन करना स्त्रियोंका स्वभाव होता है, अतः पार्वतीका भी वैसा करना उचित ही है]॥ १४ ॥

स्वयंवरं भीमनरेन्द्रजाया दिशः पतिर्न प्रविवेश शेषः ।
प्रयातु भारं स निवेश्य कस्मिन्नहिर्महीगौरवसासहिः कः ॥ १५ ॥

स्वयंवरमिति । दिशः पतिर्दिक्पालः शेषः शेषाहिः भीमनरेन्द्रजाया भैम्याः स्वयंवरं न प्रविवेश । कुतः स शेषो भारं भूभारं कस्मिन्निवेश्य निधाय प्रयातु न कस्मिन्नपीत्यर्थः । तथा हि महीगौरवं महीभारं सासहिर्भृशं सोढा । 'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ' इति किकिनौ तयोर्लिड्वद्भावात् 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । अन्योऽहिः सर्पः कोऽस्ति न कोऽपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

दिशा (नीचेकी दिशा अर्थात् पाताल) के स्वामी शेषनाग भीमराजकुमारी (दमयन्ती) के स्वयंवरमें नहीं प्रवेश किये अर्थात् नहीं आये; (क्योंकि) वह (पृथ्वीके) भारको किसपर रखकर आते, पृथ्वीके भारको अच्छी तरह सहन करनेवाला कौन (दूसरा) सर्प है ? अर्थात् कोई नहीं । [लोकमें भी अपने कार्यभारको अपने सदृश व्यक्तिपर सौंपकर ही कोई बाहर जाता है, अन्यथा नहीं; अतः अधोदिक्पाल शेषनाग भी पृथ्वीके भारको उठानेमें समर्थ किसी सर्पके नहीं मिलनेसे दमयन्तीके विवाहके साथ इच्छा होनेपर भी उसके स्वयंवरमें नहीं जा सके]॥ १५ ॥

ययौ विमृश्योर्ध्वदिशः पतिर्न स्वयंवरं वीक्षितधर्मशास्त्रः ।
व्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ वा समं विवाहः क्व पितामहेन ॥१६॥

ययाविति । वीक्षितं सम्यक् परिशीलितं धर्मशास्त्रं येन स ऊर्ध्वदिशः पतिर्ब्रह्मा विमृश्यायुक्तमिति निश्चित्यैव स्वयंवरं न ययौ । तथा हि पितामहेन ब्रह्मणा पितुः पित्रा च समं विवाहः । 'पितामहो विरिञ्चिः स्यात्तातस्तु जनकोऽपि च' इति विश्वः । लोके क्व व्यलोकि दृष्टः ? श्रुतिषु वेदेषु स्मृतौ धर्मशास्त्रे वा क्व श्रुतः ? न क्वापीत्यर्थः । 'असपिण्डां यवीयसीम्' इति स्मरणादिति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १६ ॥

धर्म शास्त्रोंको देखे हुए ऊपर दिशाके स्वामी ब्रह्मा विचारकर स्वयंवरमें नहीं गये, लोकमें, वेदमें अथवा मन्वादि स्मृतिमें पितामह (बाबा = पिताके पिता, पक्षा० — ब्रह्मा) के साथ विवाह कहां देखा गया है ? अर्थात् कहीं नहीं । [धर्मशास्त्रज्ञ ऊर्ध्वदिक्पाल पितामह का विचारकर उक्त कार्य करना उचित ही है]॥ १६ ॥

भैमीनिरस्तं स्वमवेत्य दूत्या मुखात् किलेन्द्रप्रमुखा दिगीशाः।
स्पन्दे मुखेन्दौ च वितत्य मान्द्यं चित्तस्य[1] ते राजसमाजमीयुः ॥१७॥

भैमीति। अथ पूर्वोक्ताश्चत्वार एव इन्द्रप्रमुखा दिगीशा दूत्याः स्वप्रेषितदूतिकायाः मुखात् स्वमात्मानं भैम्या निरस्तं परिहृतमवेत्य ज्ञात्वा चित्तस्य मान्द्यं विषादजाड्यं स्पन्दे गत्यां मुखेन्दौ च वितत्य प्रकाश्य विषादात् मन्दगतयो विवर्णमुखाश्च भूत्वेत्यर्थः। एतेन सानुभावो विषाद उक्तः। राजसमाजमीयुः किल ॥ १७ ॥

इन्द्र आदि दिक्पाल दूतीके मुखसे दमयन्तीके द्वारा अपनेको निरस्त (अस्वीकृत) जानकर चित्तकी (पाठा०—धीरे-धीरे) मन्दता (विषादज जड़ता) को गमन तथा मुखचन्द्रमें भी विस्तृतकर अर्थात् विषादसे मन्दगति एवं उदासीन मुख होकर वे राजसमूहमें पहुंचे ॥ १७ ॥

नलभ्रमेणापि भजेत भैमी कदाचिदस्मानिति शेषिताशा।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा ॥ १८ ॥

अथोपायान्तरवैफल्यादिन्द्रादयः तां वञ्चयित्वा ग्रहीतुं प्रवृत्ता इत्याह—नलेति। अथ राजसभाप्राप्त्यनन्तरं सा महेन्द्रादीनां चतुष्टयी भैमी कदाचित् कस्याञ्चिद्वेलायां नल इति भ्रमेण भ्रान्त्याप्यस्मान् भजेत वृणीतेत्येव शेषिताशा एतावन्मात्रावशेषितमनोरथा सती। उपायान्तरोपगमादिति भावः। अलीकरूपा काल्पनिकस्वरूपा अत एव काचिदनिर्वाच्या चतुर्नली नलचतुष्टयी अभूत्। चत्वारोऽपि नलरूपं दधुरित्यर्थः। 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारद्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रियां 'द्विगो'रिति ङीप् ॥

'दमयन्ती नलके भ्रमसे (नल समझकर) भी हमलोगोंको वरण करले' एकमात्र इस बची हुई आशावाले वे इन्द्र आदि चारों दिक्पाल असत्य रूपवाले कोई अर्थात् अनिर्वचनीय (अपूर्व) चार नल बन गये। [इन्द्रादिने कपट से नलका रूप धारण कर लिया] ॥ १८ ॥

प्रयस्यतान्तद्भवितुं सुराणां दृष्टेन पृष्टेन परस्परेण।
तद्द्वैतसिद्धिर्न बतानुमेने स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेव ॥ १९ ॥

प्रयस्यतामिति। असः स भवितुं तद्भवितुं नलीभवितुं तच्छब्दात् 'अभूततद्भावे च्विः'। प्रयस्यतां प्रयतमानानां यस्यतेः दैवादिकाल्लटः शत्रादेशः। सुराणां सम्बन्धिनि द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। तस्य नलस्य द्वैतं तत्सिद्धिर्द्वितीयनलत्वसिद्धिः। तदत्यन्तसारूप्यसिद्धिरिति यावत्। दृष्टेन असौ नलतुल्यो जातो न वेति जिज्ञासितेन, परस्परेण नानुमेने। अतिप्रयासेनापि नलतुलां नारोहदेवेति भावः। बतेति खेदे। तथा हि—स्वाभाविकात् स्वभावसिद्धाद्रूपात् क्रियया निर्वृत्तं कृतकं रूपं 'ड्वितः क्त्रिः,' 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति क्त्रिर्मप् च। अन्यद्विलक्षणमेव हीनमेवेत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥१९॥

---

1. 'चिरस्य' इति पाठान्तरम्।

नल होने (नलका रूप धारण करने) के लिये प्रयत्न करनेवाले देवोंके परस्परमें देखने तथा पूछनेसे नलके द्वितीय रूपकी सिद्धि नहीं हुई खेद है; (क्योंकि) स्वाभाविकसे कृत्रिम (बनावटी) दूसरा अर्थात् हीन ही होता है। [नलका रूप धारणकर उन इन्द्रादि देवोंने परस्परमें देखा तथा एक दूसरेसे 'मैं नलके समान हो गया क्या' ऐसा पूछा तो स्वयं भी उन्हें अपना-अपना रूप नलके समान नहीं मालूम पड़ा तथा स्वेतर देवत्रयने भी 'यह रूप वास्तविकमें नलतुल्य नहीं बना' ऐसा कहा। इस प्रकार वे इन्द्रादि देव नलका रूप धारणकर भी खेद है कि नलके समान नहीं हो सके]॥ १९ ॥

पूर्णेन्दुमास्यं विदधुः पुनस्ते पुनर्मुखीचक्रुरनिद्रमब्जम् ।
स्ववक्त्रमादर्शतलेऽथ दर्शं दर्शं बभञ्जुर्न तथातिमञ्जु ॥ २० ॥

पूर्णेन्दुमिति। ते देवाः पुनः पूर्णेन्दुं पूर्णचन्द्रमेवास्यं विदधुः मुखं चक्रुः। तथा पुनरनिद्रं विकचमब्जं पद्मं मुखीचक्रुः। नलमुखसाम्यलाभाय पुनश्चन्द्रेण पद्मेन च मुखानि निर्ममुरित्यर्थः। अथानन्तरं स्ववक्त्रमादर्शतले दर्पणान्तर्दर्शं दर्शं दृष्ट्वा दृष्ट्वा पुनः पुनर्दृष्ट्वेत्यर्थः। आभीक्ष्ण्ये णमुल् द्विर्वचनं च। तथा नलमुखवदतिमञ्जु अतिसुन्दरं नेति बभञ्जुर्भग्नं चक्रुः निनिन्दुरित्यर्थः। अत्र पूर्णेन्द्वादिकारणसामान्येऽपि विवक्षितकार्यानुत्पत्तिकथनाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः। 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्निगद्यत' इति लक्षणात् ॥ २० ॥

उन इन्द्रादि देवोंने बार-बार पूर्ण चन्द्रमाको मुख बनाया तथा बार-बार खिले हुए कमलको (नलके मुखकी समानता पानेके लिये) मुख बनाया और दर्पणमें बार-बार अपने मुखको देखकर 'वैसा अर्थात् नलके समान अत्यन्त मनोहर नहीं है' (इस कारण) उसे बिगाड़ दिया (या उस बनावटी मुखकी) निन्दा की। [नलके मुखको पूर्ण चन्द्रमाके समान मानकर इन्द्रादि देवों ने पहले अपने मुखको पूर्ण चन्द्रमासे बनाया, किन्तु दर्पणमें देखनेसे नलके मुख की सुन्दरता अपने मुखमें नहीं होनेसे 'नलके मुखको विकसित कमलके समान सुन्दर मानकर उस पूर्ण चन्द्रनिर्मित अपने मुखको बिगाड़कर उसके स्थानमें विकसित कमलसे अपना मुख बनाकर फिर दर्पणमें देखनेसे फिर भी नलके मुखकी सुन्दरता अपने मुखमें नहीं आनेसे उसे भी बिगाड़कर फिर उसके स्थानमें पूर्णचन्द्रसे अपने मुखको बनाया। इस प्रकार अनेकबार पूर्ण चन्द्रमा तथा विकसित कमलसे अपने मुखको बना-बनाकर दर्पणमें देखनेपर नलके मुखकी सुन्दरता अपने मुखमें नहीं आनेसे उसे बार-बार बिगाड़ा और अपनी रचनाकी निन्दा की। लोकमें भी कोई कारीगर किसी वस्तु के समान बनाते हुए उसे बार-बार देखता और उसके समान नहीं होनेपर उसे बिगाड़कर पुनः बनाता है, और फिर भी वैसा नहीं होनेपर निन्दा करता है। बार-बार पूर्ण चन्द्रमा तथा विकसित कमलसे मुखको बनानेपर भी वे इन्द्रादि देव नलके मुखकी सुन्दरता अपने मुखमें नहीं ला सके]॥ २० ॥

तेषां तथा[1] लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम्॥ २१॥

तेषामिति। तथा तेन प्रकारेण निजास्येन प्रयोज्येन नलाननस्य श्रियं लब्धुं लम्भयितुमिति णिजर्थो ग्राह्यः। यद्वा निजास्येन साधनेन तां श्रियं लब्धुं प्राप्तुमनीश्वराणामसमर्थानां बर्हिर्मुखानामग्निवक्त्राणाम्, 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः। 'बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजः, बर्हिश्शुष्मा कृष्णवर्त्मा' इति चामरः। तेषामिन्द्रादीनां सम्बन्धि, अनलाननत्वं वह्निमुखत्वम्, अथ च नलस्याननमिव आननं येषां ते नलानना इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः। ते न भवन्तीत्यनलाननाः तेषां भावः इत्यनलानलत्वं नलाननतुल्याननराहित्यं, पुनरुक्तिदोषम् 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुत्या तेषां वह्निमुखत्वे पूर्वं सिद्धेऽपि पुनर्वह्निमुखत्वसम्पादनमिति पुनरुक्तिः, अथ च पूर्वं नलरूपाप्राप्त्या नलाननतुल्याननराहित्ये सिद्धेऽपि पुनरलीकनलीभूत्वा चन्द्रादिनाऽपि नलसदृशाननत्वाप्राप्त्या अनलाननत्वमिति पुनरुक्तिरित्येतादृशपुनरुक्तिदोषमित्यर्थः, तरीतुं परिहर्तुं, नालं न समर्थः, न तु नलाननत्वसम्भावनापीत्यर्थः। द्वयोरप्यनलाननत्वयोर्भेदेऽपि श्लिष्टैकपदोपादानमहिम्नैकत्वाभिमानात्पौनरुक्त्यव्यपदेशः। अत्र नलाननश्रीलिप्सूनां तेषां न केवलं तदलाभः प्रत्युत दुस्तरतरपुनरुक्तिदोषरूपानर्थोत्पत्तिश्चेति द्वितीयो विषमालङ्कारभेदः। 'यत्रानर्थस्य वा भवे'दिति लक्षणात्॥२१॥

उस प्रकार (नलके समान अपना मुख बनानेसे। पाठा०—तब अर्थात् नलके समान अपना मुख बनाते समय) नलके मुखकी शोभाको अपने मुखसे प्राप्त कराने (या करने) के लिये असमर्थ उन अग्निमुख अर्थात् देवों का अनलाननत्व (अग्निमुखत्व, पक्षा०—नलभिन्नमुखत्व) पुनरुक्ति दोषको दूर करनेके लिये समर्थ नहीं हुआ। [देव पहले अनलमुख (अग्निमुख) (पक्षा०—नलभिन्नमुख) थे, वे अपना मुख नलके समान सुन्दर बनानेकी चेष्टा करनेपर भी अनलानन (अग्निमुख, पक्षा—नलासदृशमुख) ही रह गये अर्थात् अनलाननत्वको छोड़नेके लिये बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे देव नलाननत्वको प्राप्त नहीं कर सके; किन्तु अनलाननत्वरूप पुनरुक्ति से युक्त ही रहे। अन्य भी कोई अपण्डित व्यक्ति पुनरुक्ति दोषको दूर करनेमें जैसे समर्थ नहीं होता है, वैसे वे देव भी बहुत चेष्टा करनेपर भी अनलाननत्वको नहीं दूर कर सके]॥ २१॥

प्रियावियोगक्वथितात्[2] किमैलाच्चन्द्राद्गृहीतैर्ग्रहपीडितात्ते।
ध्मातात्भवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वङ्कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम्॥२२॥

प्रियेति। ते देवाः प्रियावियोगेनोर्वशीविरहाग्निना क्वथितात् दग्धादैलादिलात्मजात्पुरूरवसः कर्पूरादेरिवेति भावः। तथा ग्रहपीडिताद्राहुनिष्पीडिताच्चन्द्राच्च यन्त्रनिष्पीडितात्तिलसर्षपादेरिवेति भावः। भवेन हरेण ध्मातात् स्मरतोऽपि कामाच्च

---

१. 'तदा' इति पाठान्तरम्। २. '—तादिवैला—' इति पाठान्तरम्।

मुखमारुतसन्धुक्षिताग्निदग्धात् खदिरकाष्ठादेरिवेति भावः । गृहीतैरुपात्तैः सारैः साधनैः स्वमात्मानं नलस्यानुकल्पं प्रतिनिधिं कल्पयन्ति स्म किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा तदनुकल्पतापि कुत इति भावः । अन्येनापि क्वथनपीडिताग्निदाहादिना वस्तुसारः समाकृष्यते । एतेन प्रियावियोगादिजन्यक्वथनादिरहितैलचन्द्रादितोऽपि लनस्य सौन्दर्याधिक्यं व्यज्यते ।'मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधम': इत्यमरः ॥२२॥

प्रिया (उर्वशी) के वियोगसे क्वथित पुरुरवासे (क्वथित करनेसे सिद्ध कपूरादिके समान), ग्रह अर्थात् राहुसे पीडित चन्द्रमासे (कोल्हूमें पेले गये तैलके समान), और शिवजीके द्वारा जलाये गये कामदेवसे (फूंककर जलायी गयी खैर आदिकी लकड़ीके समान) भी लिये हुए सारभूत पदार्थसे वे देव अपनेको नलके समान बनावेंगे क्या ? । [जिस प्रकार लोकमें कोई कारीगर आदि क्वाथकर, निचोड़कर तथा अग्निमें फूंककर तैयार किये गये सारभूत पदार्थसे किसी दूसरेके समान सुन्दर वस्तु बनाता है; उसी प्रकार वे देवता उक्त एल, चन्द्र तथा कामसे सार लेकर अपनेको नलके समान सुन्दर बना सकते हैं, क्योंकि प्रिया-विरह क्वथन रहित ऐल (पुरुरवा), ग्रह निष्पीडन रहित चन्द्र तथा शिवध्यानरहित कामदेवके तुल्य नल तीनोंसे अधिक श्रेष्ठ हैं] ॥ २२ ॥

नलस्य पश्यत्वियदन्तरं तैर्भैमीति भूपान् विधिराहृतास्यै ।
स्पर्धां दिगीशानपि कारयित्वा तस्यैव तेभ्यः प्रथिमानमाख्यत् ॥२३॥

नलस्येति । विधिर्ब्रह्मा नलस्य तैर्भूपैः सह इयत् एतत् परिमितम्, अन्तरं तारतम्यम्, इयं भैमी पश्यत्विति हेतोः एतान् भूपानाहृत आहृतवान् । हरतेर्लुङि तङ् 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिज्लोपः । किञ्च दिगीशानपि स्पर्धां कारयित्वा नलरूपधारणादिद्वारा दिगीशैरपि नलेन सह मत्सरङ्कारयित्वेत्यर्थः 'हृक्रोरन्यतरस्या'मिति विकल्पादणिकर्तुः कर्मत्वम् । तस्य नलस्यैव तेभ्य इन्द्रादिभ्योऽपि 'पञ्चमीविभक्ते' इति पञ्चमी। प्रथिमानमाधिक्यमस्यै भैम्यै आख्यदाख्यातवान् । ख्यातेर्लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङि'ति च्लेरङादेशः । त्रैलोक्यातिशायि लावण्यमस्येति भैमीं प्रत्याययितुमेव ब्रह्मा स्वयम्वरव्याजेन त्रिलोकीमेकत्राचकर्षेत्युत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

'दमयन्ती (अन्यान्य आये हुए राजाओंके साथ) इतने (पाठा०—इस) अन्तर (तारतम्य) को देखे' इस कारण राजाओंको इस (दमयन्ती) के लिये बुलाया तथा दिक्पालोंके द्वारा स्पर्द्धा कराकर उन दिक्पालोंसे नलकी हा श्रेष्ठताको दमयन्तीके प्रति बतलाया ['सब राजाओंमें नल ही श्रेष्ठ हैं' इस बातको दमयन्ती राजाओंको विना प्रत्यक्षमें देखे नहीं जान सकती थी, इस कारण ब्रह्माने नलसे राजाओंकी न्यूनता बतलानेके लिये स्वयंवरमें राजाओंको दमयन्तीके सामने बुलाया । नलके हमलोगोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर होनेसे विना नलका रूप ग्रहण किये अपना देवरूप ग्रहणकर स्वयंवरमें जानेसे हमलोगोंको दमयन्ती नहीं वरण करेगी, किन्तु नलको ही वरण करेगी, अत एव नलके साथ देवोंके

द्वारा स्पर्द्धा कराकर ब्रह्माने दमयन्तीसे यह स्पष्ट सूचित कर दिया कि इन्द्रादि देवताओंसे भी नल ही अधिक सुन्दर है, क्योंकि कोई भी चतुर व्यक्ति अपने कार्यको साधनेके लिये बड़ेके साथ ही स्पर्द्धा करता है छोटेके साथ नहीं, अत एव तुम (दमयन्ती) सर्वश्रेष्ठ नलको ही वरण करो] ॥ २३ ॥

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाऽभूद्धृतदिव्यरत्नैः ।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजाते ॥ २४ ॥

सभेति । सभा सा राजसभा नलश्रियो यमकैः पुनरुक्ताकारैस्तद्रूपधारिभिरित्यर्थः । धृतानि दिव्यानि रत्नानि यैस्तै रत्नाभरणभूषितैरित्यर्थः । यमाद्यैश्चतुर्भिर्नलं विना तदा नलस्यानागमनात्तेन विनाभूतैरित्यर्थः । अत एव पारिजाते पारिजाताख्ये देवद्रुमे भामायाः सत्यभामायाः अङ्गणस्य चत्वरस्य प्राघुणिके अतिथौ सति, तया उपहृते सतीत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणिक आगन्तुरतिथिः स्मृतः' इति हलायुधः । धृतदिव्यरत्नैर्मूलादग्रपर्यन्तं धृतमुक्तादिदिव्यरत्नैः, चतुर्भिर्देवद्रुमैर्मन्दारादिभिः, 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः । द्यौः स्वर्ग इवाभूत् अभादित्यर्थः, मन्दारादिषु सत्स्वपि पारिजातं विना यथा द्यौर्न शोभते, तथा नलरूपधारिषु यमादिषु सत्स्वपि नलं विना स्वयंवरसभा न शुशुभे । सभायामिन्द्रादयः समागता नलो नागत इति भावः ॥ २४ ॥

वह सभा (राजसभा) नलकी शोभाके यमक अर्थात् नलकी शोभाके प्रतिनिधिरूप (नलरूप नहीं) तथा दिव्य रत्नोंको पहने हुए यम आदि चारों दिक्पालोंसे 'पारिजात' (नामक देववृक्ष) के सत्यभामाके आँगनेमें अतिथि होनेपर अर्थात् सत्यभामाके यहां अतिथिरूपमें पारिजातके जानेपर ऊपरसे नीचे तक दिव्य रत्नोंसे लदे हुए चार देववृक्षों (मन्दार, सन्तान, कल्पवृक्ष तथा हरिचन्दन) से युक्त स्वर्ग ही हुई। [जिस प्रकार पारिजातके विना दिव्यरत्नोंसे युक्त भी मन्दार आदि चार देववृक्षोंके रहनेपर भी स्वर्गकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार दिव्य रत्नोंको पहने हुए भी नलरूपधारी यमादि चार दिक्पालोंके पहुंचनेपर भी उस राजसभा (स्वयंवर) की शोभा नहीं हुई । यम आदि चारों दिक्पाल स्वयंवरमें नलका रूप धारणकर पहुंच गये और नल नहीं पहुंचे] ॥ २४ ॥

तत्रागमद्वासुकिरीशभूषाभस्मोपलेहस्फुटगौरदेहः ।
फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः ॥ २५ ॥

तत्रेति । ईशभूषा योगपट्टसम्पादनार्थं तत्र वासात् ईश्वराभरणभूतः, अत एव भस्मन उपलेहेनोपलेपेन तदङ्गरागभस्मसङ्क्रमणेनस्फुटगौरदेहः शुभ्राङ्गः वासुकिः फणीन्द्रवृन्दैः सर्पराजगणैः प्राणिगद्यमानो व्याह्रियमाणः, 'नेर्गदनद' त्यादिना णत्वम् । प्रसीदजीवशब्दावादिर्यस्य सोऽनुजीविवादः सेवकजन-

कोलाहलः यस्य स आदिशब्दाज्जयादि शब्दसंग्रहः वासुकिः तत्र स्वयंवरे आगमदागतः ॥ २५ ॥

शिवजीका भूषण तथा (शिवजीके शरीरस्थ; पाठा०—शिवजीके योगपट्ट-सम्पादनार्थ निवास करनेसे, द्वितीय पाठा०—शिवजीके भूषण भस्मके लेपसे शुभ्र अर्थात् गौर वर्ण शरीरवाला और कर्कोटक आदि नागराजोंसे कहे जाते हुए 'प्रसीद जीव' (प्रसन्न होवो, जीवो) आदि अनुचरोक्त वचनोंवाला वासुकि वहांपर (स्वयंवर स्थलमें) आया । [पहले श्लोक (१०८) से वासुकिके पातालसे चलनेका तथा इस श्लोकसे वासुकिके स्वयंवरमें पहुंचनेका वर्णन होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है] ॥ २५ ॥

द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत् क्षणादवापे सुरभूमिपालैः ।
तत्कालमालम्भि न केन यूना स्मरेषुपक्षानिलतूललीला ॥ २६ ॥

द्वीपान्तरेभ्य इति। तत् पुटभेदनं कुण्डिनपुरं द्वीपान्तरेभ्यः, प्लक्षादिभ्यः,अपादाने पञ्चमी। सुराश्च भूमिपालाश्च तैः, अथवा सुरभूमयः देवभूमयः द्वीपान्तरलक्षणाः। देवानां भोगदेहशालित्वेन द्वीपान्तराणाञ्च भोगभूमित्वेन सुरभूमित्वव्यपदेश इति भावः पालयन्ति ये तैः राजभिरित्यर्थः, क्षणादवापे अवाप्तम्। तथा हि तस्मिन्काले तत्कालं स्वयम्बरकालमित्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। केन यूना स्मरेषूणां पक्षानिलेन तूलस्य कार्पासादेर्लीला इव लीला विलासः नालम्भि न प्राप्तः। 'चिण्भावकर्मणो' रिति लभेः कर्मणि लुङि चिण्। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इत्युपसृष्टाद्वैभाषिको नुमागमः। अत्राखिलयूनां कामुकत्वेन कुण्डिनप्राप्तिरूप-कारणेन द्विपान्तरस्थभूपानां झटिति कुण्डिनप्राप्तिरूपकार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर,न्यासः। स च तूललीलेति निदर्शनासङ्कीर्णः॥ २६ ॥

उस कुण्डिननगरको दूसरे (प्लक्ष, शाक आदि) द्वीपोंसे देवता तथा राजा लोग अथवा (द्वीपान्तररूप) देवभूमिके पालनेवाले राजालोग) शीघ्र आ गये; (क्योंकि) उस समय कौन युवक कामबाणके पङ्खकी हवासे रूईकी लीला (समानता) को नहीं प्राप्त किया ? अर्थात् सभी युवकोंने किया। [जिस प्रकार वायु वेगसे प्रेरित रूई उड़कर शीघ्र एक स्थानसे सुदूर दूसरे स्थानमें पहुंच जाती है, उसी प्रकार कामबाण-पीडित द्वीपान्तरवासी राजा लोग भी शीघ्र ही कुण्डित नगरमें पहुंच गये] ॥ २६ ॥

रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः ।
प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम् ॥ २७ ॥

रम्येष्विति। सः कुण्डिननाकनाथः कुण्डिनेन्द्रो भीमः राजचक्रं राजमण्डलं रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन स्थापनेन सपर्यया अर्घ्यपाद्यादिपूजया तथा प्रियोक्तिः प्रियवचनं दानं गन्धमाल्यताम्बूलादिसमर्पणमादरः समादरः सम्मानो वा, नम्रता

विनयाचरणमेवमाद्यैरुपचारैराद्यशब्दाद्भोजनादिसंविधानसङ्ग्रहः । चारु सम्यगुपाचरत् सन्तोषितवान् ॥ २७ ॥

कुण्डनके स्वामी राजा भीमने सुन्दर प्रसादोंमें ठहराने, अर्घ्य-पाद्यार्घ्य आदि, प्रिय भाषण, पान, माला, चन्दनादिलेप आदिके दान, आदर-सत्कार तथा नम्रता आदिसे राज-समूहका उत्तम सत्कार किया ॥ २७ ॥

चतुःसमुद्रीपरिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे ।
औदार्यदाक्षिण्यदयादमानां चतुष्टयीरक्षणसौविदल्लाः ॥ २८ ॥

युक्तं चैतदित्याह–चतुरिति । चतुःसमुद्र्येव परिखा वलयं यस्य तस्मिन् वासिताः स्थापिताः कीर्तय एव दाराः कलत्राणि यस्मिन् तस्मिन् नृपाणां राज्ञामन्तःपुरे पृथिवीपुरे इति भावः । औदार्यं त्यागः दाक्षिण्यं परचित्तानुवर्तनं दया कृपा दम इन्द्रिययमनं तेषां चतुष्टय्येव रक्षणे रक्षणार्थं, सौविदल्ला कञ्चुकिनः । 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः । औदार्यादिगुणचतुष्टयेन नृपाणां कीर्त्तिः रक्ष्यते, तद्विहीनानां कुतः कीर्त्तिरिति भावः । स्वकीर्त्तिरक्षणार्थं तेन राज्ञा भीमेन ते राजनः सत्कृता इति तात्पर्यम् । रूपकालङ्कारः ॥ २८ ॥

चार समुद्ररूप परिखा (खाई) वाले तथा कीर्तिरूपिणी स्त्रियोंको जहां ठहराया गया है ऐसे राजाओंके (भूमिरूपी) अन्तःपुरमें उदारता, दाक्षिण्य (अनुकूल व्यवहार करना), दया और इन्द्रिय संयम—ये चारों (अन्तःपुरकी) रक्षामें कञ्चुकी (कञ्चुकी तुल्य) हैं । [जिस प्रकार अन्तःपुरस्थ स्त्रियोंकी रक्षा कञ्चुकी करता है, उसी प्रकार कीर्तिरूपिणी स्त्रीकी रक्षा उदारता आदि चारों करते हैं । इनके विना कीर्तिकी रक्षा नहीं हो सकती, इसी कारण चक्रवर्ती होकर भी राजा भीमने अपनेसे अवर (हीन) राजाओंका भी उक्त प्रकार (१०।२७) से सत्कार किया ॥ २८ ॥

अभ्यागतैः कुण्डिनवासवस्य परोक्षवृत्तेष्वपि तेषु तेषु ।
जिज्ञासितस्वेप्सितलाभलिङ्गः स्वल्पोऽपि नावापि नृपैर्विशेषः ॥२९॥

अभ्यागतैरिति । अभ्यागतैर्नृपैः कुण्डिनवासवस्य कुण्डिनेन्द्रस्य भीमस्य सम्बन्धिषु परोक्षवृत्तेषु गूढनिष्पन्नेष्वपि अपिना प्रत्यक्षवृत्तानां परिग्रहः, तेषु तेषूपचारेषु जिज्ञासितस्य ज्ञातुमिष्टस्य प्रयत्नान्वेषणीयस्य इत्यर्थः । जानातेः सनन्तात् कर्मणि क्तः । स्वेप्सितलाभस्य भैमीलाभस्य लिङ्गं चिह्नं गमकभूतः इति भावः । स्वल्पोऽपि विशेष उपचारतारतम्यं नावापि न लब्धः, यस्मिन् नृपे उपचारविशेषः परिलक्ष्येत तस्मै एव भैमीं दास्यतीति हेतोः महानुपचारविशेषः कस्य क्रियते इति परिज्ञानेच्छायां नृपैः कुत्रापि तद्विशेषो नावगतः, भीमेन सर्वेषां राज्ञां तुल्य एव समादरः कृतः, तत एव सर्वेऽप्यमंसत यत् भैमीलाभो ममैव भविष्यतीति भावः ॥ २९ ॥

आये हुए राजाओंने कुण्डिनेश्वर (भोज) के उन-उन परोक्ष (प्रिय भाषण आदि)

व्यवहारोंमें भी जाननेके लिए अभीष्ट (दमयन्ती प्राप्तिरूप अपने अभीप्सित) लाभका कोई थोड़ा भी विशेष नहीं पाया। [आये हुए राजाओंने सोचा था कि 'राजा भीम स्वयंवरमें आये हुए जिस राजाका अधिक सत्कार करेंगे उसीके लिए दमयन्ती भी देंगे' अतः इस बातका पता लगानेपर उन्होंने किसी राजाके प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे किये गये सत्कारमें थोड़ी भी न्यूनाधिकता नहीं देखी, अतएव समस्त राजा यही समझते थे कि मुझे ही दमयन्ती मिलेगी; अथवा—गुप्त सत्कार-विशेषसे भीम राजाका अभिप्राय बहुत दुरूह था, अतः किसीको कुछ अनुमान नहीं हो सका कि दमयन्ती अमुक राजाको मिलेगी। राजा भीमने स्वयंवरमें आये हुए सब राजाओंका समान रूपसे सत्कार किया]॥

अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न सम्ममौ नैष तथा समाजः ।
यथा पयोराशिरगस्त्यहस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः ॥ ३० ॥

सर्वेषां राज्ञां कुण्डिननगरे समावेशो जात इत्याह—अङ्क इति। विदर्भेन्द्रपुरस्य कुण्डिनपुरस्याङ्के अभ्यन्तरे एष समाजो राजसङ्घोऽगस्त्यहस्ते पयोराशिः समुद्रः यथा मुरारेः जठरे जगद्वा यथा तथा न सम्ममौ न सम्मितः इति न, किन्तु तथैव सम्ममावित्यर्थः। शङ्क इत्युत्प्रेक्षायाम्। मुनिहस्तहरिकुक्ष्योपम्येन अल्पेऽपि पुरे समाजस्य महतः सम्मानोत्प्रेक्षणादुपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः। तेनाधाराधेययोरनानुरूप्यलक्षणाधिकालङ्कारस्तन्महत्वमत्यद्भुतं वस्तु च व्यज्यते ॥ ३० ॥

विदर्भराजकी नगरी कुण्डिनपुरमें अगस्त्य मुनिके हाथ (चुल्लू) में समुद्रके समान और विष्णुके उदरमें संसारके समान यह राज-समूह नहीं समाया ऐसा नहीं, अपि तु समाया ही। [स्वयंवरमें आये हुए सब राजा विशाल कुण्डिनपुरीमें बड़े आनन्दसे निवास किये]॥ ३०॥

पुरे पथिद्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयैव ।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥ ३१ ॥

पुर इति। तत्र पुरे उत्सववाञ्छया विवाहोत्सवाभिलाषेण पन्थानो द्वाराणि गृहाणि च तान्येव चित्रीकृतानि तेषामभ्यागतानां महीभुजामाभरणप्रभाभिः नभोऽपि किर्मीरं चित्रमकारि। अपिशब्दात् पथिद्वारगृहाणि च चित्रीकृतानीति किं वाच्यम्? 'चित्रं किर्मीरकल्माषः शबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः। अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः ॥ ३१ ॥

उस नगरमें उत्सवकी इच्छासे राजमार्गके द्वारोंके घर (अथवा—राजमार्ग, द्वार, तथा घर; अथवा—राजमार्गके द्वारवाले घर) चित्रित (रंग-विरंगे सजावटोंसे युक्त) किये ही गये थे (इसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु) उन राजाओंके भूषणोंकी कान्तिओं (किरणों) से आकाश भी ('अपि' शब्दसे उक्त राजमार्गके द्वारोंके घर भी) चित्रित कर दिये गये (यह आश्चर्य है)॥ ३१॥

विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीस्तेषां तथाऽभूत् परिचारकेऽपि ।
अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं यथागतं नायकमेव कञ्चित् ॥३२॥

विलासेति । तेषां राज्ञां परिचारके सेवकेऽपि विलासानां कटाक्षविक्षेपादिश्रृङ्गार-चेष्टानां, वैदग्ध्यस्य वक्रोक्त्यादिभाषणे चातुर्यस्य विभूषणानां च श्रीः सम्पत्तिः तथा अभूत् यथा स्त्रियः शिशवो बालिशाः अज्ञाश्च । 'शिशावज्ञे च बालिश' इत्यमरः । तं परिचारकमागतं कञ्चिन्नायकं राजानमेव अज्ञासिषुरमंसत । विवेकिनस्तु तत्त्वत एव जानन्तीति भावः । राजभृत्याश्च राजकल्पा इति राज्ञामैश्वर्योक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३२ ॥

उन राजाओंके सेवकोंमें भी विलास (श्रृङ्गारपूर्ण कटाक्ष आदि), चातुर्य तथा भूषणों (रत्नादि जड़े हुए सुवर्णालङ्कारों) की शोभा वैसी थी; जिससे स्त्री, बालक-मूर्ख (स्वल्पज्ञ) लोग आये हुए उसीको कोई नायक (राजा) समझ लिया। [स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके सेवक भी कटाक्षादि श्रृङ्गारभावसे पूर्ण, चतुर तथा बहुमूल्य भूषण पहने थे अतएव सामान्य बुद्धिवाले उन्हें भी राजकुमार ही समझते थे] ॥ ३२ ॥

अ[1]स्वेदगात्राश्चलचामरौघैरमीलनेत्राः प्रतिवस्तुचित्रैः ।
अम्लानमाला विपुलातपत्रैर्देवा नृदेवाश्च भिदां न भेजुः ॥ ३३ ॥

अथ श्लोकद्वयेन राज्ञां देवानां च भेदो दुर्लक्ष्य इत्याह—अस्वेदेत्यादि । चलचामराणामोघैरस्वेदानि गात्राणि येषां ते तथोक्ताः, वस्तूनि वस्तूनि प्रतिवस्तु, वीप्सायामव्ययीभावः । चित्रैरद्भुतैः 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः । मीला मीलकाः । 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियामप्रत्यये टाप् । तदगृहीतानि अमीलानि अनिमिषाणि, यद्वा न मीलन्तीत्यमीलानि, पचाद्यच् । तानि नेत्राणि येषां ते तथोक्ताः अनिमिषदृष्टय इत्यर्थः । तथा विपुलैरातपत्रैर्निमित्तैरम्लानमाला देवा इन्द्रादयः नृदेवा राजानश्च भिदां भेदं, 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । न भेजुः । देवपक्षे सर्वत्र उपलक्षणे तृतीया; राजपक्षे हेतौ तृतीया । देवानां स्वेदाद्यभावस्य स्वाभाविकत्वात् चामरौघादीनामुपलक्षितत्वं राजपक्षे तु स्वेदाभावस्यास्वाभाविकत्वेन चामरौघादीनां तत्तत्साधनत्वं बोध्यम् । अत्रास्वेदगात्रादिपदार्थानां विशेषणगत्या देवभेदाभावहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३३ ॥

(स्वभावतः) पसीनेसे रहित शरीरवाले तथा चलते हुए चामरसमूहोंसे युक्त देव और चलते हुए चामरोंके समूहों (की हवा) से पसीनेसे रहित शरीरवाले राजा, (स्वभावतः) निमेषसे रहित तथा प्रत्येक पदार्थोंमें विचित्र देव और प्रत्येक (विचित्र) पदार्थों (के देखने) से आश्चर्यित राजा, एवं (स्वभावतः) मलिन नहीं होनेवाली

१. 'न स्वेदिनश्चामरमारुतैर्न निमेषमात्राः प्रतिवस्तुचित्रैः ।
म्लानस्रजो नातपवारणेन देवा नृदेवा विभिदुर्न तत्र ॥'
इत्येवं पठित्वा 'प्रकाश' कृताऽयं श्लोको व्याख्यातः ।

मालाओंवाले तथा विशाल छत्रोंवाले देव और विशाल (बड़े-बड़े) छत्रों (के होने) से नहीं मुर्झायी हुई मालाओंवाले राजा (परस्परमें) भेदको नहीं प्राप्त किये । [देवोंको स्वभावतः पसीना नहीं होता, नेत्रोंके पलक नहीं गिरते तथा उनकी माला नहीं मुर्झाती, ऐसे वहां उपस्थित इन्द्रादि देवोंमें तथा बहुत-से चामरोंकी हवासे सूखनेके कारण पसीना रहित, अनेक प्रकारके विचित्र-विचित्र प्रत्येक पदार्थोंको आश्चर्यचकित होकर एकटक देखनेसे पलकको नहीं गिराते हुए और विशाल छत्रोंको लगानेसे धूपका प्रभाव नहीं पड़नेके कारण नहीं मुर्झायी हुई मालावाले राजाओंमें कोई भेद नहीं रहा । उक्त कारणोंसे समानधर्मा हो जानेसे 'ये देव हैं तथा ये मनुष्य हैं' यह कोई नहीं पहचान सका । 'नारायणभट्ट' कृत 'प्रकाश' व्याख्यासम्मत पाठान्तरमें भी प्रायः ऐसा ही अर्थ समझना चाहिये] ॥ ३३ ॥

अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु ।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि ॥ ३४ ॥

अन्योऽन्येति । दिग्भ्यः समेतेषु समागतेषु नरेषु मनुष्येषु अन्योऽन्येषां भाषाणामनवबोधेन निमित्तेन भीतेः सङ्कोचात् संस्कारेण निर्वृत्ताः संस्कृत्रिमाः, 'ड्वितः क्रिः' 'क्त्रेर्मप् च नित्यम्' ताभिर्वाग्भिर्व्यवहारोऽभिवादनव्यापारः तद्वत्सु देवभाषयैव भाषमाणेष्वित्यर्थः। स्वर्गः, भवाः इति सौवर्गाः, देवाः, भावार्थ 'तत्र भवः' इत्यण्, 'द्वारादीनाञ्च' इत्यैजागमः आद्यस्वरस्य वृद्धिनिषेधश्च तेषां वर्गः समूहः सौवर्गवर्गो देवसमूहः, नरैः कुण्डिनवासिभिः, नाचिह्नि देवत्वेन नाज्ञायि, चिह्नशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लुङि णाविष्ठवद्भावे 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक्। भेदे अभेदलक्षणाऽतिशयोक्तिः ॥ ३४ ॥

परस्परकी भाषाओंके (विभिन्न होनेसे) नहीं समझनेके डरसे संस्कृत भाषाओंसे व्यवहार करनेवाले अर्थात् संस्कृत भाषा बोलनेवाले एवं दिशाओंसे आये हुए उन राजाओंमें देव-समूह (इन्द्र आदि चारो देवताओं) को लोगोंने नहीं पहचाना । [देवलोग स्वभाषा होनेसे सर्वदा संस्कृत ही बोलते थे तथा अनेक देश-देशान्तरोंसे आये राजालोग भी अपने-अपने देशकी भाषाओंको बोलनेसे सब लोग नहीं समझ सकेंगे इस विचारसे संस्कृत ही बोलते थे । अत एव देवों तथा राजाओंकी भाषामें एक संस्कृतका ही व्यवहार उस स्वयंवरमें होनेसे वहां की जनताने देवोंको राजा ही समझ लिया । किसीने उन्हें 'ये देव हैं' ऐसा नहीं पहचाना] ॥ ३४ ॥

ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि ।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशाञ्च तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः ॥३५॥

त इति । ते सर्वे नृपाश्च तत्र तस्यां पुरि कुण्डिने पौरैः चित्रे आलेख्ये लेखितानि चित्राणि नानाविधान्याश्चर्याणि 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। भैम्याश्चरितानि

निरीक्ष्य दिवसं निन्युः। तस्याः सम्बन्धिभिः स्वप्ने याः सम्भोगकलाः सुरतचेष्टास्ता एव विलासाः विनोदास्तैर्निशाञ्च निन्युः। एतेन जागरावस्थोक्ता ॥ ३५ ॥

उन्होंने (देव तथा राजाओं) ने उस नगरमें नागरिकों (नगरवासी चित्रकारों) से चित्रित आश्चर्यकारक दमयन्तीके चित्रोंको देखकर दिनको और उस (दमयन्ती) के स्वप्नमें सम्भोगकी कला (चुम्बनादि) के विलासोंसे रात्रिको विताया । [स्वभावतः कभी नहीं सोनेवाले देवोंकी कामभ्रमको ही यहां स्वप्नावस्था माननी चाहिये । दमयन्तीको पानेकी चिन्तामें वहां पहुंचे हुए देवों तथा राजाओंको नींद नहीं आती थी] ॥ ३५ ॥

सा विभ्रमं स्वप्नगतापि तस्यां निशि स्वलाभस्य ददे यदेभ्यः।
तदर्थिनां भूमिभुजां वदान्या सती सती पूरयति स्म कामम् ॥ ३६ ॥

सेति। सती सा भैमी तस्यां निशि स्वयंवरात्पूर्वरात्रौ स्वप्नगताऽपि अपि सम्भावनायां जागरे तु सम्भावितत्वादिति भावः। एभ्यो देवेभ्यो राजभ्यश्च स्वलाभस्य स्वप्राप्तेर्विभ्रमं भ्रान्तिमलीकसङ्गतिमित्यर्थः। ददे दत्तवतीति यत्तत्स्माददलीकदानाद्धेतोर्वदान्या सती भवन्ती। स्वप्राप्तिदानाद्वदान्यत्वं प्राप्तेर्मिथ्यात्वात्पतिव्रता च सतीत्यर्थः।अर्थिनां भूमिभुजाञ्च कामं मनोरथं पूरयति स्म। एवं स्वकामुकानेकलोकोत्तरयुव समुदायेऽपि सा नलैकजीवितैव सती स्थितेत्यर्थः पतिव्रतायाः स्वकामुकानां सर्वेषां कामपूरकत्वं विरुद्धं, तस्याः स्वप्नदर्शनस्य अलीकत्वात् तेन तथाविधसर्वकामपूरणेऽपि दोषाभावात् परिहारः ॥ ३६ ॥

उस (स्वयंवरके पूर्व दिनवाली) रात्रिमें स्वप्नमें भी देखी गयी उस पतिव्रता दमयन्तीने अपनी प्राप्ति (दमयन्तीलाभ) का जो विभ्रम (विलास, पक्षा०—विशिष्ट भ्रम) इन (देवों तथा राजाओं) के लिये दिया, वह अर्थी (दमयन्तीको चाहनेवाले) राजाओं (पक्षा०—भूमिपर आये हुए देवताओं) के काम (मनोरथ) को दानशीला होकर पूरा कर दिया । [पतिव्रता दमयन्तीके लिये विलाससे समस्त राजाओंका काम पूरा करना असम्भव होनेसे विरोध होता है और विशिष्ट भ्रम देने एवं स्वप्नमें द र्न देनेसे उसका परिहार हो जाता है। अपने (दमयन्ती) को कामुक अनेक युवकोंके समूहोंके रहते भी वह दमयन्ती एकमात्र नलको ही चाहती थी । स्वयंवर-दिनके पूर्ववाली रात्रिमें सब राजाओंने स्वप्नमें दमयन्तीको देखकर उसके साथ विलास करनेका अनुभव किया । दिनमें चिन्तित वस्तुका रात्रिमें स्वप्नमें देखना सर्वानुभवसिद्ध बात है] ॥ ३६ ॥

वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः श्रृङ्गारभङ्गीष्वनुभाववत्सु।
स्वयंवरस्थानजनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः[1] ॥ ३७ ॥

वैदर्भेति। परत्र दिने परेऽहनि वैदर्भस्य भीमनृपतेर्दूतैरनुनयेन प्रार्थनेनोपहूतैः

१.—'वह्निः' इति—'यह्निः' इति—'विह्निः' इति च पाठान्तराणि, तत्रान्त्य एव साधुः प्रतिभाति।

श्रृङ्गारभङ्गीषु रतिभावविजृम्भणेषु येऽनुभावाः कटाक्षविक्षेपादयस्तद्वत्सु । 'श्रृङ्गारभङ्गीष्वनुभाववद्भिरि'ति पाठे श्रृङ्गारचेष्टाः प्रकाशयद्भिरित्यर्थः । तैर्दिगन्तागतैर्वीरैः स्वयंवरस्थानभूतो जनाश्रयो मण्डपः । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः । अलमकारि अलंकृतम् । स्वयंवरस्थानं प्राप्तमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

विदर्भराज (भीम) के दूतोंके द्वारा विनयपूर्वक बुलाये गये (सूचित) श्रृङ्गार चेष्टाओंमें अनुभाव युक्त (पाठा०—अनुभाव कराते हुए, अनुभाववाले, अनुभावके ज्ञाता) वे वीर स्वयंवरमें आये हुए राजा लोग स्वयंवर मण्डपको अलङ्कृत किये अर्थात् स्वयंवरके मण्डपमें पहुंचे ॥ ३७ ॥

भूषाभिरुच्चैरपि संस्कृते यं वीक्ष्याकृत प्राकृतबुद्धिमेव ।
प्रसूनबाणे विबुधाधिनाथस्तेनाथ साशोभि सभा नलेन ॥ ३८ ॥

भूषेति। विबुधाधिनाथ इन्द्रो यं नलं वीक्ष्य भूषाभिर्भूषणैरतिशयेन संस्कृतेऽलंकृतेऽपि,'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमः। प्रसूनबाणे मन्मथे प्राकृतबुद्धिं पृथग्जनबुद्धिमेव । नीचबुद्धिमेवेत्यर्थः, 'प्राकृतस्तु पृथग्जनः' इत्यमरः । अकृत कृतवान्, न तु सुन्दरबुद्धिमित्यर्थः । कृञः कर्तरि लुङि तङ् । 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिचो लोपः । अथ राजागमनानन्तरं तेन नलेन सा सभा अशोभि । शोभां गमिता अलङ्कृतेत्यर्थः। शोभयतेः कर्मणि लुङ् विबुधाधिनाथः पण्डितश्रेष्ठः सन्नपि संस्कृते प्राकृतबुद्धिं संस्कृतभाषिते प्राकृतभाषितत्वबुद्धिमकृतेति विरोधाभासः सूच्यते ॥ ३८ ॥

विबुधराज (देवोंके स्वामी इन्द्र, पक्षा०—विशिष्ट जाननेवालोंके स्वामी अर्थात् महाविशेषज्ञ) इन्द्रने जिसको देखकर श्रेष्ठ भूषणोंसे अलङ्कृत भी कामदेवको साधारण ही माना, उस नलने उस सभाको बादमें सुशोभित किया । [पहले सब राजा लोग तथा देवोंके स्वयंवर मण्डपमें जानेके बाद नल भी पहुंचे]। उन्हें देखकर विशिष्ट जाननेवालोंके राजा अर्थात् श्रेष्ठ विशेषज्ञ इन्द्र बहुमूल्य भूषणोंसे अलङ्कृत कामदेवको भी नलसे तुच्छ समझा । विबुधराज पण्डितश्रेष्ठ होकर भी 'संस्कृत (देववाणी) को प्राकृत समझा' यह विरोधाभास है तथा पूर्वोक्त अर्थ (अलङ्कृत कामदेवको तुच्छ समझा) से उसका परिहार होता है]॥ ३८ ॥

धृताङ्गरागे कलितद्युशोभां तस्मिन् सभां चुम्बति राजचन्द्रे ।
गता बताक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य क्व क्षत्रनक्षत्रकुलस्य लक्ष्मीः[1] ॥ ३९ ॥

धृतेति । धृतोऽङ्गरागोऽनुलेपनमेवाङ्गरागः अङ्गस्य चन्द्रबिम्बस्य, रागो रक्तता येन तस्मिन्, राजचन्द्रे नले कलितद्युशोभां कलिता प्राप्ता, द्युशोभा स्वर्गीयशोभा आकाशशोभा च यया तां, सभां चुम्बति प्राप्ते सति, क्षत्राणि क्षत्रिया एव, नक्षत्राणि तत्कुलस्य लक्ष्मीरक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य दृष्टिपथमतीत्य, क्व कुत्र, गता ? बतेत्याश्चर्ये;

१ 'कान्तिः' इति पाठान्तरम् ।

नक्षत्रकुलमिव नलोदये सर्वं क्षत्रकुलं निष्प्रभं जातमित्यर्थः । द्युशोभेत्यत्र शोभेव शोभेति सादृश्याक्षेपात् निदर्शना, तथा सहाङ्गाङ्गिभावेन रूपकस्य सङ्करः ॥ ३९ ॥

अङ्गराग (कुङ्कुम आदिका शरीरलेप, पक्षा०—अपने बिम्बरूप शरीरमें लालिमा) को धारण किये हुए उस राजचन्द्र (राजाओंमें चन्द्रमाके समान नल, पक्षा०—राजा नल) रूप चन्द्रमाके स्वर्गकी शोभाको प्राप्त (अथवा—स्वर्गको शोभित करनेवाली) सभा (स्वयंवर सभा) को प्राप्त करनेपर क्षत्रियरूप नक्षत्रों (अथवा—क्षत्रियों और अक्षत्रियों अर्थात् देवताओं) की शोभा नेत्र विषयका उल्लङ्घनकर कहां चली गयी ? अर्थात् कहां अदृष्ट हो गयी, खेद है ! [जिस प्रकार चन्द्रमाके आकाशमें उदय होते ही नक्षत्रों (ताराओं) की कान्ति नष्ट हो जाती है अर्थात् वे चन्द्रमाके सामने फीके पड़ जाते हैं, उसी प्रकार स्वयंवर मण्डपमें नलके पहुंचते ही क्षत्रिय राजा (तथा देवों) की शोभा नष्ट हो गयी अर्थात् इतने अधिक सुन्दर नलको छोड़कर दमयन्ती हमलोगोंको नहीं वरण करेगी यह विचारकर अन्य राजाओं (तथा देवों) का मुख फीका पड़ गया] ॥ ३९ ॥

प्राक्[1] दृष्टयः क्षोणिभुजाममुष्मिन्नाश्चर्यपर्युत्सुकिता निपेतुः ।
अनन्तरं दन्तुरितभ्रुवान्तु नितान्तमीर्ष्याकलुषा दृगन्ताः ॥ ४० ॥

प्रागिति । प्राक् पूर्वम्, अमुष्मिन्नले, क्षौणीभुजां राज्ञां, दृष्टयः पूर्णदृष्टयः, आश्चर्येण विस्मयपारवश्येन, पर्युत्सुकिताः उत्कण्ठिताः सत्यः, निपेतुः, अनन्तरं तु दन्तुरितभ्रुवां द्वेषाद्विषमितभ्रुवां, दृगन्ताः कोणदृष्टयः, नितान्तमीर्ष्यया कलुषाः सन्तो निपेतुः । अत्रौत्सुक्येर्ष्याप्रयुक्तानां पूर्णापूर्णदृष्टीनां द्वयीनां क्रमेणैकस्मिन्नले निपतनोक्तेर्द्वितीयः पर्यायभेदः । एकमनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय इति सूत्रणात् तथौत्सुक्येर्ष्यालक्षणविस्मयद्वेषसञ्चारिभावनिबन्धनात् भावालङ्कारः प्रियोऽपरपर्याय इति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ४० ॥

(नलके अत्यन्त सुन्दर होनेसे) आश्चर्यसे उत्कण्ठित, राजाओंकी दृष्टि उस नलपर पहले (पाठा०—शीघ्र) गिरी और बादमें कुटिल भ्रूवाले (उन राजाओं) के अत्यधिक ईर्ष्यासे कलुषित नेत्रप्रान्त अर्थात् अपूर्ण दृष्टि (उन नलपर) गिरी । [अथवा—इसके बाद कुटिल भ्रूवाली स्त्रियोंके अत्यन्त ईर्ष्यासे अर्थात् 'मैं पहले देखूँ' इस प्रकारकी अहमहमिकासे कलुषित कटाक्ष बादमें गिरे अर्थात् राजाओंके देखनेके बाद स्त्रियोंने नलको कटाक्षपूर्वक देखा । नलके सभामें आते ही अत्यन्त सुन्दर होनेसे उनको राजाओंने आश्चर्यित हो पहले उत्कण्ठासे देखा और इतने अधिक सुन्दर नलको छोड़कर दमयन्ती हम लोगोंको नहीं वरण करेगी' ऐसा विचार करते ही बादमें ईर्ष्यासे मलिन दृष्टि प्रान्तसे देखा । ईर्ष्याकलुषित दृष्टिका पूर्ण रूपसे नहीं देखना स्वभाव सिद्ध है] ॥ ४० ॥

---

१. 'द्राक्' इति पाठान्तरम् ।

सुधांशुरेष प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसावितीमम् ।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरिणो निनिन्दुः ॥४१॥

सुधांशुरिति । मत्सरिणः परशुभद्वेषिणः, क्षितीशाः भुवीति किमिति च पदद्वयस्य सर्वत्रान्वयः कार्यः; भुवि भूतले, एषः प्रथमः नवावतीर्णः, सुधांशुः मुख्यचन्द्रः, किम् ? इति, असौ भुवि द्वितीयः स्मरः किम् ? इति, अयं तृतीयः दस्रः आश्विनेयः, भुवि किम् ? इति च, दस्रयोर्द्वित्वेऽप्येकत्वविवक्षया एकवचनं, द्व्येकत्वेऽपि द्वित्वविवक्षायां द्वौ चन्द्रावविरुद्धम्; पुष्पवत् दारादिशब्दवन्नियतवचनत्वाभावात् । इतीत्थम्, इमं नलं, स्तुतिच्छलात् निनिन्दुः असमानसमीकरणेन स्तुतिर्लोकोत्तरस्य निन्दैवेति भावः । चन्द्रत्वाद्युत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टिः ॥ ४१ ॥

मत्सरी (दूसरेके शुभमें द्वेष करनेवाले) राजालोग यह पृथ्वीपर नवीन चन्द्रमा है क्या ? (अथवा—पृथ्वीपर नया दूसरा चन्द्रमा है क्या ?), यह पृथ्वीपर दूसरा कामदेव है क्या ?, यह पृथ्वीपर तीसरा अश्विनी-कुमार है क्या ? इस प्रकार (उस नलकी) प्रशंसाके व्याजसे निन्दा की । [पहले तो नलकी चन्द्र आदि कहकर राजाओंने प्रशंसा की, बादमें यह नल है, चन्द्रमा आदि नहीं है ऐसा कहकर उन नलकी निन्दा की] ॥ ४१ ॥

आद्यं विधोर्जन्म स एष भूमौ द्वैतं युवाऽसौ रतिवल्लभस्य ।
नासत्ययोर्मूर्त्तिरियं तृतीया इति स्तुतस्तैः किल मत्सरैः सः ॥ ४२ ॥

आद्यमिति । स एष नलः, भूमौ भूतले, विधोरिन्दोः, आद्यं जन्म प्रथमावतार इत्यर्थः, युवाऽसौ रतिवल्लभस्य कामस्य, द्वैतं द्वित्वं, द्वितीयकाम इत्यर्थः, इयं नलरूपा, नासत्ययोरश्विनोः, तृतीया मूर्त्तिः, इति स नलः, मत्सरैर्मत्सरवद्भिः, 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषस्तद्वत् कृपणयोरपि' इत्यमरः । 'अर्श आदिभ्योऽङ्' इति मत्वर्थीयोऽकारः । तैः स्तुतः किल ? स्तुतः खलु ? पूर्वश्लोकेन पुनरुक्तमपि कविना लिखितत्वात् स्थितं पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

'वह अर्थात् सुप्रसिद्ध यह (नल) पृथ्वीपर चन्द्रमाका पूर्वावतार है, यह युवक (नल) रतिपति (कामदेव) का द्वैत है अर्थात् पृथ्वीपर दूसरा कामदेव है, यह मूर्ति (मूर्त नल) तृतीय अश्विनीकुमार है' इस प्रकार मत्सरी उन राजाओंने उस नलकी प्रशंसा की ॥ ४२ ॥

ईहेदृशाः सन्ति कतीति दुष्टैर्दृष्टान्तितालीकनलावली तैः[1] ।
आत्मापकर्षे किल मत्सराणां द्विषः परस्पर्द्धनया[2] समाधिः ॥ ४३ ॥

इहेति । दुष्टैः खलैः, तैर्नृपैः, इह सभायाम्, ईदृशाः नलसदृशाः, कति कियन्तोऽपि, सन्तीति अलीकनलावली इन्द्रवरुणयमानलपङ्क्तिः, दृष्टान्तिता दृष्टान्तीकृता, तथा

१. 'मायानलोदाहरणान्मिथस्तैरूचे समाः सन्त्यमुना कियन्तः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'परस्पर्द्धितया' इति पाठान्तरम् ।

च अलीकनलावलीं निर्दिश्य अत्र सभायां बहवो नलेन तुल्यरूपा विद्यन्ते, तत् कथं नलमेव पुनः पुनः वर्णयथ ? इति भावः। ननु नलसदृशानां बहूनां सत्त्वेऽपि स्वस्य कथं रूपोत्कर्षः ? इत्यत आह—मत्सराणां मत्सरिणाम्, आत्मनोऽपकर्षे शत्रुसकाशात् न्यूनत्वे सति, द्विषः प्रतिपक्षस्य, परेण पुरुषान्तरेण, स्पर्द्धनया सङ्घर्षणया, कोऽप्यन्त-रसाधारण्यापादनेनेत्यर्थः, स्वार्थे ण्यन्तात् युच्। समाधिः किल आत्मापकर्षपरिहारः खल्वित्यर्थः, एतादृशाः कति सन्तीति समानकोऽप्यन्तरोद्घाटनेन दूषयित्वा तुष्यन्तीति समुदायार्थः। अर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

दुष्ट उन्होंने (उन राजाओंने) 'यहांपर ऐसे कितने अर्थात् अनेक हैं' ऐसा कहकर असत्य नल-समूह (नलरूपधारी इन्द्रादि चारो देव) का दृष्टान्त अपने उक्त वचनके समर्थनमें उदाहरण दिया। (पाठा०—उन्होंने मायानलों (नलरूपधारी इन्द्रादि देवों) के उदाहरणसे 'इस (वास्तविक नल) के समान कितने अर्थात् अनेक हैं' ऐसा आपसमें कहा)। मत्सर (दूसरेके भलेमें द्वेष) करनेवालोंका शत्रुसे अपनी हीनता रहनेपर दूसरेकी स्पर्द्धासे समाधान होता है। [नलको देखकर उनसे अपनेको तुच्छ मानकर ईर्ष्यालु राजाओंने नलरूपधारी इन्द्रादि चारो देवोंको दिखाकर कहा कि—इस (वास्तविक नल) के समान कई हैं, अतः इसके सौन्दर्यका कोई महत्त्व नहीं है। लोकमें भी स्वयं शत्रुकी समता नहीं कर सकनेपर दूसरोंके साथ उस शत्रुकी समता करके अपने चित्तका समाधान किया जाता है]॥ ४३ ॥

गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये दोषान्तरोक्तिः खलु तत् खलत्वम्।
रूपेण तत्संसददूषितस्य सुरैर्नरत्वं यददूषि तस्य ॥ ४४ ॥

गुणेनेति। केनापि गुणेन अनवद्ये अगर्ह्ये, सर्वगुणसम्पन्ने इत्यर्थः, 'अवद्यपण्ये' त्यादिना निपातनात् साधुः। जने दोषान्तरोक्तिः कस्यचिदनवद्यधर्मस्य दोषत्वेनोद्घा-टनमित्यर्थः, तत्खलत्वं तदेव तस्य वक्तुर्दुष्टत्वं खलु। कुतः ? यद् यस्मात्, रूपेण सौन्दर्येण, तस्यां संसदि तया संसदा वा अदूषितस्य, प्रत्युत स्तुतस्यैवेति भावः, तस्य नलस्य सम्बन्धि, नरत्वं मनुष्यत्वं, सुरैरिन्द्रादिभिः, अदूषि अतिसौन्दर्यशाली अपि नरोऽयं न तु देव इति दोषत्वेनोद्घाटितमित्यर्थः। दूषयतेः कर्मणि लुङ्। सामान्योक्तस्य खलत्वस्य नरत्वदूषणेन समर्थनाद्विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्था-न्तरन्यासः ॥ ४४ ॥

किसी अर्थात् अनिर्वचनीय (अथवा—किसी एक भी) गुणसे मनुष्यके अनिन्दनीय रहनेपर भी दोषान्तर (दूसरे दोष, अथवा—गुणको ही दोष) बतलाना वह दुष्टता है; जो देवोंने उस सभामें (अथवा—उस सभासे) अदूषित (दूषित नहीं, प्रत्युत प्रशंसित) उस नलके नरत्व (मनुष्यभाव, पक्षा०—नलभाव) को दूषित किया। [सभामें प्रशंसित गुणवान् भी यह नल 'नर' अर्थात् मनुष्य है देव नहीं है, इस प्रकार जो देवोंने नलके अदोषको भी दोष बतलाया यह उनकी दुष्टता थी]॥ ४४ ॥

नलानसत्यानवदत् स सत्यः कृतोपवेशान् सविधे सुरेशान् ।
नोभौविलाभूः किमु दर्पकश्च भवन्ति नासत्ययुजौ भवन्तः ? ॥ ४५ ॥

नलानिति । सत्यः स नलो यथार्थनलः, असत्यान् नलान् अलीकभूतान्, नलरूपधारिणः इत्यर्थः, सविधे समीपे, कृतोपवेशान् उपविष्टान्, सुरेशान् सुरेन्द्रादीन्, अवदत्; किमिति ? हे धन्याः । भवन्तः असत्यौ सत्यरहितौ न भवत इति नासत्यावश्विनौ दस्रौ इति निपातनान्नञो नलोपाभावः । ताभ्यां युज्येते इति तद्युजौ तद्युक्तौ, 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । उभाविलायामिलादेव्यां भवति इति इलाभूरैलः पुरूरवाः, क्विप्, दर्पकः कामश्च, न भवन्ति किमु ? इति प्रश्नः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः, चत्वारो यूयमश्विनौ पुरूरवाः कामश्च किं न भवथ इत्यपृच्छदित्यर्थः, तेषु निजरूपदर्शनादन्येषामिव स्वस्यापि विस्मयावेशाच्च इत्थमप्राक्षीदिति भावः ॥ ४५ ॥

उस वास्तविक नलने पासमें बैठे हुए अवास्तविक नल बने हुए देवों (पाठा०—सुन्दर वेषवाले अवास्तविक नलों) से कहा—आपलोग पुरूरवा तथा कामदेव—ये दोनों और दोनों अश्विनीकुमार नहीं हैं क्या ? । [जिस प्रकार नलको देखनेसे दूसरोंको आश्चर्य हुआ था, उसी प्रकार नलरूपधारी असत्य नलोंको देखकर (वास्तविक) नलको भी आश्चर्य हुआ, अत एव उन्होंने उनसे उक्त प्रश्न किये] ॥ ४५ ॥

अमी तमाहुः[2] स्म यदत्र मध्ये कस्यापि नोत्पत्तिरभूदिलायाम् ।
अदर्पकाः स्मः सविधे स्थितास्ते नासत्यतां नापि[3] बिभर्त्ति कश्चित् ॥४६॥

अमी इति । अथामी देवाः, तं नलम्, आहुः स्म ऊचुः, 'लट् स्मे' इति भूते लट् । उत्तरश्लोके 'तेभ्यः परान्नः परिभावयस्व' इति वक्ष्यते, तत्र हेतुमाह,—यदिति । यत् यस्मात् कारणात्, ते तव, सविधे समीपे, स्थिताः, ये वयमिति शेषः, अत्रैतेषु चतुर्षु अस्मासु, मध्ये कस्यापि इलायां बुधकलत्रे इलादेव्यां, भूमौ च, उत्पत्तिर्नाभूत, अत्र न कोऽप्येकः पुरूरवाः न कोऽपि च भौमः इत्यर्थः, किन्तु अदर्पका दर्पकात् कामाद्भिन्नाः, दर्पशून्याश्च, तव सौन्दर्यातिशयदर्शनेन गर्वशून्या इत्यर्थः, स्मः भवामः; कश्चिन्नासत्यताम् आश्विनेयत्वं सत्यत्वञ्च, न बिभर्त्ति अस्मासु न कोऽपि नासत्यः, अथ च तव रूपधारणात् न कोऽपि सत्यः किन्तु सर्वे वयमसत्या इत्यर्थः । 'नासत्यावश्विनौ दस्रौ' इत्यमरः । नासत्यतां सत्यतां बिभर्त्तीति किन्त्वसत्यनला वयमित्यर्थान्तरम् ॥ ४६ ॥

इन इन्द्रादि देवोंने उस (नल) से कहा कि—(जो) हमलोग तुम्हारे पासमें बैठे हैं, इन (हम चारों) में किसीकी उत्पत्ति 'इला' नामकी स्त्री (पक्षा०—पृथ्वी) में नहीं हुई है अर्थात् हम चारोंमें-से कोई इला-पुत्र पुरूरवा नहीं है (पक्षा०—पृथ्वीपर कोई

1. 'उभौ किमैलश्च न दर्पकश्च' इति पाठान्तरम् ।
2. 'तमीदृग्जगुरत्र' इति पाठान्तरम् । 3. 'नात्र' इति पाठान्तरम् ।

नहीं उत्पन्न हुआ है अपितु स्वर्गमें उत्पन्न हुआ है अर्थात् हम देव हैं, मनुष्य नहीं हैं), और हमलोग कामदेव नहीं है (पक्षा०—निरभिमानी हैं), इन (हमलोगों) में कोई अश्विनीकुमारके भावको नहीं धारण करता है अर्थात् कोई अश्विनीकुमार नहीं है, (पक्षा०—कोई असत्यता नहीं धारण करता है ऐसा नहीं है अर्थात् असत्यता धारण करता ही है अर्थात् हम सभी असत्य नल हैं सत्य नल नहीं हैं) अथवा—('ना' पदच्छेद करके) हमलोगोंमें कोई मनुष्य (अपने नलत्वको प्रमाणित करनेके लिये देवोंने अपनेको मनुष्य कहा है) असत्य नहीं है—हमलोग सच्चे अर्थात् वास्तविक नल ही हैं । [इन्द्र आदिने वाक्छलसे कपटपूर्वक नलसे कहा कि—हमलोग पुरूरवा, कामदेव और अश्विनीकुमार—इनमें कोई नहीं हैं; किन्तु हम नल हैं] ॥ ४६ ॥

तेभ्यः परान्नः परि[1]भावयस्व श्रिया विदूरीकृतकामदेवान् ।
अस्मिन् समाजे बहुषु भ्रमन्ती भैमी किलास्मासु घटिष्यतेऽसौ ॥ ४७ ॥

तेभ्य इति । पूर्वश्लोकस्थयच्छब्दापेक्षया तदो व्यवहारः । तत्तस्मादिलाभवताद्यभावात्, श्रिया सौन्दर्य्येण, विदूरीकृतकामदेवान् अधरीकृतमन्मथान्, नोऽस्मान्, तेभ्यः ऐलादिभ्यः परानन्यान्, परिभावयस्व निश्चिनुष्व, अन्यच्च—हे सौम्य ! श्रिया विदूरीकृतकामदेवान्नोऽस्मांस्तेभ्यः परानुत्कृष्टान्, विद्धि । अस्तु तावत्, अत्र किमर्थमागताः ? तत्राह—असौ भैमी अस्मिन् समाजे राजसङ्घे, बहुषु मध्ये भ्रमन्ती पर्य्यटन्ती, अस्मासु घटिष्यते संयोक्ष्यते, तथा बहुषु अस्मासु नलरूपेष्विति भावः, अत एव भ्रमन्ती नल इति भ्रान्तिमती सती, अस्मासु घटिष्यते सङ्गमिष्यते, किल इति सम्भावनायाम्, इत्याशयेनात्रास्माकमागमनमिति भावः । अत्रार्थद्वयस्यापि विवक्षितत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ४७ ॥

(तुम) शोभासे कामदेवको तिरस्कृत करनेवाले हमलोगोंको उन (पुरूरवा, कामदेव, अश्विनीकुमारों) से भिन्न जानो । इस समाजमें बहुतोंमें (अनेक राजाओंमें, अथवा—समानरूपवाले हम पाचोंमें) घूमती हुई (पक्षा०—भ्रमसन्देह करती हुई) यह दमयन्ती हमलोगों (में-से किसी एक) में सङ्गत होगी अर्थात् वरण करेगी । [दमयन्तीको वरण करनेके दुरभिप्रायसे हमलोग यहां स्वयंवरमें आये हैं] ॥ ४७ ॥

असाम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः ।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र ! धिक् चेदमस्मद्विबुधत्वमस्तु ॥ ४८ ॥

असामेति । हे नरेन्द्र ! यत् यस्मात्, तव नाम रूपञ्च स्वेन आत्मना, अधिगत्य ज्ञात्वाऽपि, श्रितमुग्धभावाः स्वीकृतमूढभावाः सन्तः, इह स्वयंवरे असाम भवाम, तिष्ठामेति यावत्, अस्तेर्लोट्, तत्तस्मात्, आशापतितान् भैमीलाभाशया आपतितानागतान्, नः अस्मान्, धिक्, इदञ्चास्माकं विबुधत्वं देवत्वं विपश्चित्त्वञ्च धिगस्तु;

१. 'परिकल्पयस्व' इति पाठान्तरम् ।

अन्यच्च—यत्तव रूपमधिगत्य त्वद्वेशं धारयित्वा, श्रितमुग्धभावाः लब्धसौन्दर्य्याः सन्तः, 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। असाम नाम दिव्यामहे खलु, 'अस गतिदीप्त्यादानेष्विति धातोर्लोट्' तत्तस्मात्, नोऽस्माकम्, आशापतितां दिक्पतित्वं धिक्, 'आशा तृष्णादिशोरपि' इति विश्वः, इदमस्मद्विबुधत्वञ्च धिक्, तुच्छव्यापारत्वादिति भावः। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। पूर्व एवालङ्कारः ॥ ४८ ॥

हे नरेन्द्र ! तुम्हारे नाम तथा रूपको स्वयं जानकर (या साक्षात् देखकर) मूढभावापन्न हमलोग जिस कारण यहां (स्वयंवरमें) हैं अर्थात् आये हैं, उस कारण आशा (दमयन्तीको पानेका विश्वास) से आये हुए (अथवा—गिरे हुए) हमलोगोंको धिक्कार है और हमलोगोंके इस विशिष्ट पाण्डित्यको भी धिक्कार है। पक्षा०—हे नरेन्द्र जिस कारण तुम्हारा रूप धारणकर सौन्दर्यको प्राप्त किये हुए हमलोग शोभित हो रहे हैं, उस कारण हमलोगोंके दिक्पालत्वको-(अथवा—आशासे (ही दमयन्तीके पतिभाव) को अर्थात् हमलोगोंको दमयन्तीका पति होना केवल आशा मात्र ही है, वास्तविक विचारनेपर दमयन्तीके पति बननेका कोई लक्षण हमलोग अपनेमें नहीं देखते हैं)-धिक्कार है और इस देवभावको भी धिक्कार है। पुनः, पक्षा०—अपनेमें (सब कुछ प्रयत्न करनेपर भी) तुम्हारे रूपको नहीं प्राप्तकर (अब हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ऐसे ज्ञानसे रहित होनेसे) किंकर्तव्यमूढ होनेसे (अब नलको ही दमयन्ती वरण करेगी ऐसी ईर्ष्यासे) तुम्हारे नाम (या प्रसिद्धि) को जिस कारणसे हमलोग नष्ट करते हैं (तुम्हारेसे अतिरिक्त हमलोगोंके भी नलका रूप धारण करनेसे तुम्हारी नाम (या प्रसिद्धि) नहीं रहने देते हैं), उस कारण (इस प्रकार नलका रूप धारणकर यहां आनेसे दमयन्ती हमलोगोंको वरण करेगी इस) आशासे यहां आये हुए हमलोगोंको धिक्कार है, और देवत्वको भी धिक्कार है। (अथवा—हे 'स्वेन' अर्थात् हे ज्ञातियोंमें श्रेष्ठ; अथवा—हे धनके स्वामी !) ॥ ४८ ॥

सा वागवाज्ञायितमां नलेन तेषामनाशङ्कितवाक्छलेन ।
स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नमग्नमेनं न हि स्म प्रतिभाति किञ्चित् ॥ ४९ ॥

सेति। अनाशङ्कितवाक्छलेन अनाकलितदेववाक्कपटेन, नलेन तेषां देवानां, सा वाक् पूर्वोक्ता व्याजोक्तिः, अवाज्ञायितमाम् अतिशयेनावज्ञाता, देववाक्यस्य पुरःस्फूर्त्तिक एवार्थो गृहीतो न तु तात्त्विक इत्यर्थः। 'जानातेरवपूर्वात् कर्मणि लुङि' 'तिङश्च' इत्यनेनातिशयार्थे तमप् प्रत्ययः, ततस्तस्य घसंज्ञा, ततः 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनामुप्रत्ययः। कुतः ? हि यस्मात्, स्त्रीरत्नलाभे यः उचितयत्नो योग्यव्यापारो देवताऽनुध्यानादिः। तत्र मग्नम् आसक्तम्, एनं नलं प्रति, किञ्चित् किमप्यन्यत्, न प्रतिभाति स्म न स्फुरति स्म; व्यासङ्गो हि महान् विवेकप्रतिबन्धक इति भावः ॥ ४९ ॥

उन इन्द्रादिके वाक्छलको नहीं विचारनेवाले नलने उसे (देवताओंकी बातको) नहीं समझा अर्थात् उसका सीधा ही अर्थ समझा विशेष कपटको नहीं। क्योंकि स्त्रीरत्न (दमयन्ती) को पानेके उपायमें संलग्न इस नलको कुछ भी स्फुरित नहीं हुआ। [स्वयं दमयन्तीको पानेके यत्नमें नलके संलग्न रहनेसे अन्यासक्त चित्तवाले नलने देवोंके कहनेका गूढाभिप्राय नहीं समझा, अन्यासक्त चित्त गूढाभिप्राय ज्ञानमें प्रतिवन्धक होता ही है]॥४९॥

यः स्पर्द्धया येन निजप्रतिष्ठां लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम्।
कः स्पर्द्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात्? ॥५०॥

देववाक्यावज्ञां प्रति हेत्वन्तरमाह, य इति। योऽपकृष्टः, येनोत्कृष्टेन सह, स्पर्द्धया संघर्षणेन, निजप्रतिष्ठामुत्कर्षं, लिप्सुः लब्धुमिच्छुः, लभेः सनन्तादुप्रत्ययः, सः स्पर्द्धमान एव, तस्योत्कृष्टपुरुषस्य, उन्नतत्वमुत्कृष्टत्वम्, आह ब्रवीति, तच्चेष्टयैव तस्यापकृष्टत्वं स्फुटीभवतीत्यर्थः। तथा हि, कः प्रेक्षावान्, स्वेनैवाभिहिता स्वहानिः स्वापकर्षो येन तस्य, स्पर्द्धितुर्बहुलां भूयसीम्, अवहेलामवज्ञां, न कुर्यात्? कुर्यादेवेत्यर्थः। 'रीढावमाननावज्ञाऽवहेलनमसूर्क्षणम्' इत्यत्रावहेलयेति क्षीरस्वामी स्थाने युक्तं 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। भैमीलाभार्थं नलरूपधारणरूपया इन्द्रादिदुश्चेष्टया नलस्य महानुत्कर्ष एव आसीत्, ततः नलेन तेषामवज्ञा युक्तैवेति भावः॥

जो (निकृष्ट व्यक्ति) जिस उत्कृष्ट व्यक्ति के साथ स्पर्द्धासे अपनी प्रतिष्ठाको चाहता है, वही (निष्कृष्ट व्यक्ति) उस (उत्कृष्ट व्यक्ति) की श्रेष्ठताको जिस कारणसे कहता है अर्थात् अपकृष्ट व्यक्तिकी चेष्टाएं ही उत्कृष्ट व्यक्तिकी श्रेष्ठताको व्यक्त करती हैं, उस कारणसे स्वयं (अपनी) निकृष्टताको बतलानेवाले स्पर्द्धालुके विषयमें कौन (बुद्धिमान् व्यक्ति) अधिकतम उपेक्षा नहीं करता है अर्थात् सभी उपेक्षा करते हैं। [जो कोई स्वल्पगुणी व्यक्ति जिस किसी श्रेष्ठगुणी व्यक्तिके साथ स्पर्द्धाकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता है, वही व्यक्ति अपनी हीनता तथा दूसरेकी श्रेष्ठताको स्वयं कह देता है, इस कारण हीन व्यक्तिके विषयमें अवज्ञा करना (उनकी बातोंको कोई महत्त्व नहीं देना) श्रेष्ठ व्यक्तिके लिये उचित ही है। प्रकृतमें दमयन्तीको पानेके लिये अपना वास्तविक रूप तथा नाम छोंड़कर इन्द्रादि चारो देवोंने नलका रूप तथा नाम धारण कर स्वयं ही नलकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली, अत एव नलका उनकी बातोंका महत्त्व नहीं देना अर्थात् उपेक्षा करना उचित ही है]॥५०॥

गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्वल्ललिताभिनेता।
मुदा तदाऽवैक्षत केशवस्तं स्वयंवराडम्बरमम्बरस्थः॥५१॥

गीरिति। तदा तस्मिन् काले, केशवो विष्णुः, गीर्देवतया वाग्देवतया, गीता यशःप्रशस्तिः कीर्त्तिप्रबन्धो यस्य सः, श्रिया लक्ष्मीदेव्या स्वशरीरस्थया, तडित्वतः सविद्युतो मेघस्य, ललितस्य विलासस्य, अभिनेता अनुकर्त्ता सन्, अम्बरस्थः तं

स्वयंवराडम्बरं स्वयंवरसभायोजनं, मुदा हर्षेण, अवैक्षत, किमुतान्य इति भावः । लक्ष्मीसरस्वतीसहितः नारायणः स्वयंवरं द्रष्टुमाजगाम इति निष्कर्षः ॥ ५१ ॥

उस समय सरस्वती देवीसे वर्णित कीर्ति तथा गौरववाले (या कीर्ति प्रशंसावाले) तथा श्री (स्वपत्नी, पक्षा०—पीताम्बर युक्त शरीर शोभा) से बिजलीसे युक्त मेघकी शोभाका अभिनय करनेवाले अर्थात् बिजलीयुक्त मेघके समान शोभावाले, आकाशस्थ विष्णु भी स्वयम्वरका वह आयोजन हर्षसे देखने लगे । [उस स्वयंवरको देखनेके लिये विष्णु भगवान् भी आकाशमें विराजमान हुए] ॥ ५१ ॥

अष्टौ तदाऽष्टासु हरित्सु दृष्टीः सदो दिदृक्षुर्निदिदेश देवः ।
लैङ्गीमदृष्ट्वाऽपि शिरःश्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकेतकीकः ॥ ५२ ॥

अष्टाविति । तदा तस्मिन् काले, सदः स्वयंवरसभां, दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः, आगत इति शेषः, देवश्चतुर्मुखः, अष्टासु हरित्सु दिक्षु, अष्टौ दृष्टीः निदिदेश प्रेरयामास, अष्टदिगाहृतजनताऽवलोकनार्थः । यो देवः, लैङ्गीं ज्योतिर्लिङ्गसम्बन्धिनीं, शिरःश्रियं लिङ्गस्योत्तरावधिमित्यर्थः, अदृष्ट्वाऽपि दृष्टौ लिङ्गशिरोदर्शनविषये, मृषा वदतीति मृषावादिनी सा कृता मृषावादिता मृषावादीकृतेत्यर्थः, मृषावादिशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, पुंवद्भाव-टिलोपाद्यर्थं णाविष्ठवद्भावोपसङ्ख्यानाट्टिलोपः, केतकी येन स कूटसाक्षीकृतकेतकीकुसुम इत्यर्थः 'नद्यृतश्च' इति कप्समासान्तः । पुरा किल ब्रह्मा ज्योतिर्लिङ्गस्य शिरोदेशमदृष्ट्वाऽप्यद्राक्षमित्यसत्यमुक्त्वा तत्र शिवशिरःपतितं केतकीकुसुमं 'शिवशिरःस्थितं मां ब्रह्मा तत आनीतवान्' इति कूटसाक्षीचकारेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया । तथा च शिवशिरःपारमिव स्वयंवरागतजनतासागरमष्टाभिर्दृष्टिभिः पश्यन्नपि नापश्यदिति निष्कर्षः ॥ ५२ ॥

उस समय सभाको देखनेके इच्छुक देव अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्माने (आठो दिशाओंसे आये हुए लोगोंको देखनेके लिये) आठो दिशाओंमें दृष्टि डाली, जिस (ब्रह्मा) ने ज्योतिर्लिङ्गके शिरकी शोभा नहीं देखकर भी (उस लिङ्गके) देखनेमें केतकी (नामक पुष्प) से झूठा कहलवाया था । [जिस प्रकार ब्रह्माने विशालतम ज्योतिर्लिङ्गके शिरोभाग (ऊपरी हिस्से) को विना देखे भी देखा हुआ बतलाया, उसी प्रकार विशालतम स्वयंवरको भी आठ नेत्रोंसे देखते हुए भी पूर्णतः नहीं देख सके]

पौराणिकी कथा—अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनेके लिए शिवजीकी आज्ञासे उनके ज्योतिर्लिङ्गके पाद तथा शिरके भागको देखनेके लिए क्रमशः विष्णु तथा ब्रह्मा क्रमशः पाताललोक तथा स्वर्गमें गये और वहांसे लौटकर विष्णुने 'मैंने आपके ज्योतिर्लिङ्गका पाद अर्थात् नीचेका भाग नहीं देखा' ऐसी सच्ची बात कह दी, किन्तु ब्रह्माने 'मैंने आपके ज्योतिर्लिङ्गका शिर अर्थात् ऊपरी भाग देख लिया है' ऐसी झूठी बात कही और अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये 'आपके ज्योतिर्लिङ्गके शिरपर स्थित मुझको ये

ब्रह्मा लाये हैं' ऐसा केतकी पुष्पसे असत्य कहलवाकर झूठा साक्षी दिलवाया (इसी कारण तबसे केतकीके पुष्पका अपने पूजनमें शिवजीने सर्वथा त्याग कर दिया), यह पुराणकी कथा जाननी चाहिये ॥ ५२ ॥

एकेन पर्यक्षिपदात्मनाऽद्रिं चक्षुर्मुरारेरभवत् परेण।
तैर्द्वादशात्मा दशभिस्तु शेषैर्दिशो दशालोकत लोकपूर्णाः ॥ ५३ ॥

एकेनेति। द्वादश आत्मानो रूपाणि यस्य स द्वादशात्मा सूर्यः, एकेन आत्मना रूपेण, अद्रिं मेरुं, पर्यक्षिपत् प्रदक्षिणीकृतवान्, परेणात्मना, मुरारेर्विष्णोः, चक्षुर्दक्षिणनेत्रम्, अभवत्, शेषैरवशिष्टैः, दशभिस्तैरात्मभिस्तु, लोकपूर्णाः जनसम्पूर्णाः, दश दिशोऽलोकत आलोकितवान् ॥ ५३ ॥

द्वादशात्मा (बारह आत्मावाले सूर्य) एक (आत्मा) से सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा किये, दूसरे (आत्मा) से विष्णुका नेत्र हुए और शेष दश आत्माओंसे लोगों (स्वयंवरमें आये हुए जनसमूहों) से पूर्ण दशो दिशाओंको देखा [सूर्यकी बारह आत्माएं ये हैं—विधाता[1], मित्र, अर्यमा, वरुण, मित्र, भग, अंशु, पूषा, विवस्वान्, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु। हरिवंश पुराण, मार्कण्डेयपुराणके काशीखण्ड तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें वर्णित सूर्यके अन्यान्य नामोंको मत्कृत 'मणिप्रभा' नामक अनुवादयुक्त 'हरिदास सं० सिरीज बनारस' से प्रकाशित अमरकोषके परिशिष्टमें देखना चाहिये] ॥ ५३ ॥

प्रदक्षिणं दैवतहर्म्यमद्रिं सदैव कुर्वन्नपि शर्वरीशः।
द्रष्टा महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्त्या न प्राप तद्दर्शनविघ्नतापम् ॥ ५४ ॥

प्रदक्षिणमिति। शर्वरीशश्चन्द्रः, दैवतानां हर्म्यं वासगृहम्, अद्रिं मेरुं, सदैव प्रदक्षिणं कुर्वन्नपि महेन्द्रानुजस्य उपेन्द्रस्य विष्णोः, दृष्टिमूर्त्त्या वामनेत्ररूपेण, द्रष्टा सन् तस्य स्वयंवरस्य, दर्शनविघ्नेन यस्तापस्तं न प्राप; चन्द्रस्य स्वयमनागतत्वेऽपि तत्र विष्णोरागतत्वात्तद्वामनयनरूपेणाद्राक्षीदेवेति कुतस्तस्यादर्शनक्लेश इत्यर्थः॥५४॥

देवोंके प्रासादरूप पर्वत अर्थात् सुमेरुकी सर्वदा प्रदक्षिणा करते हुए भी निशापति (चन्द्रमा) विष्णु (वामन भगवान्) के नेत्ररूप होनेसे दमयन्तीके देखनेमें विघ्न (दमयन्तीको नहीं देखने) के दुःखको नहीं पाया। [वामनरूपी विष्णु भगवान्को नेत्ररूप होनेसे, चन्द्रमा यद्यपि सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते रहे, किन्तु स्वयंवरमें विष्णु भगवान्के साक्षात् उपस्थित रहनेसे (१०।५१) दमयन्तीको देखनेके सुखको पाते रहनेसे मैने उसके नहीं देखनेके दुःखका अनुभव नहीं किया] ॥ ५४ ॥

विलोकमाना वरलोकलक्ष्मीं तात्कालिकीमप्सरसो रसोत्काः।
जनाम्बुधौ तत्र निजाननानि वितेनुरम्भोरुहकाननानि ॥ ५५ ॥

---

१. तदुक्तम्—विधातृमित्रार्यमणो वरुणेन्द्रभगांशवः।
पूषा विवस्वान् पर्जन्यस्त्वष्टा विष्णुर्दिनेश्वराः ॥ इति।

विलोकमाना इति। रसेन रागेण, उत्का उन्मनसः, दर्शनरसोत्सुकाः सत्यः, 'उत्क उन्मनाः' इत्यमरः । उक्त इति निपातसिद्धम्, तात्कालिकीं तत्कालभवां वरलोकलक्ष्मीं परिणेतृजनशोभां, विलोकमानाः अप्सरसस्तत्र जनाम्बुधौ सभास्थजनरूपार्णवे, जलाशये एव कमलसम्भवात् जनेऽम्बुधित्वारोप इति भावः; निजाननानि स्वमुखानि, अम्भोरुहकाननानि कमलवनानि, वितेनुः दधुः; तदन्तर्गतानि तन्मुखानि पद्मानीव रेजुरित्यर्थः, तथा चाप्सरसोऽपि स्वयंवरसभां द्रष्टुमागता इति भावः ॥ ५५ ॥

(देखनेके) अनुरागसे उत्कण्ठित वरों (दुल्हों अथवा—श्रेष्ठ लोगों) की तात्कालिक शोभाको देखती हुई अप्सराएं उस जन-समुद्रमें अपने मुखोंको कमलोंका वन बना दिया। [जनरूप समुद्रमें उक्त अप्सराओंके मुख कमलवनके समान शोभते थे। 'अप्सराएं भी स्वयंवरको देखनेके लिये आयीं] ॥ ॥ ५५ ॥

न यक्षलक्षैः किमलक्षि ? नो सा सिद्धैः किमध्यासि सभाऽऽप्तशोभा ?।
सा किन्नरैः किं न रसादसेवि ? नादर्शि हर्षेण महर्षिभिश्च ? ॥ ५६ ॥

नेति। तदा आप्तशोभा लब्धकान्तिः, सा सभा यक्षाणां लक्षैः शतसहस्रैः, नालक्षि नादर्शि किम् ? सिद्धैर्वा नाध्यासि नाध्यासिता किम् ? किन्नरैः रसात् रागात्, सा सभा, नासेवि न सेविता किम् ? महर्षिभिः हर्षेण नादर्शि च न दृष्टा किम् ? तथा च सर्वैरदर्शीत्यर्थः। सर्वत्र कर्मणि लुङ् ॥ ५६ ॥

शोभाको प्राप्त अर्थात् शोभित वह सभा आदर (अनुराग) से लाखों यक्षोंसे नहीं देखी गयी क्या ? अर्थात् देखी गयी, सिद्धोंसे अध्यासित नहीं हुई क्या ? (सिद्ध नहीं आये क्या ?) अर्थात् सभामें सिद्ध भी आये, किन्नरोंसे सेवित नहीं हुई क्या ? अर्थात् किन्नरोंसे भी सेवित हुई तथा महर्षियोंसे नहीं देखी गयी क्या ? अर्थात् महर्षियोंने भी उसे देखा। [उस स्वयंवरमें लाखों यक्ष आये, सिद्ध आये, किन्नर आये तथा महर्षि भी आये] ॥ ५६ ॥

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेक-शाखात्रयीभूरुहराजिभाजा ।
क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक् ॥५७॥

वाल्मीकिरिति। तां सभां, वाल्मीकिर्मुनिः, अश्लाघत अस्तुत, अनेकाः शाखाः कथकाः, आश्वलायनादिवेदविभागाः इति यावत्, वृक्षावयवविशेषाश्च यस्याः सा अनेकशाखा, त्रयाणां वेदानां समाहारः त्रयी, अनेकशाखा चासौ त्रयी च अनेकशाखत्रयी, सा एव भूरुहराजिः तरुपङ्क्तिः, तां भजतीति तद्भाक् तेन, 'भजो ण्वः' 'शाखा वेदप्रभेदेषु बाहौ पार्श्वद्रुमाङ्गयोः' इति वैजयन्ती। पथिकविश्रामवृक्षवतेत्यर्थः, यस्य कण्ठ एव पन्थाः तेन कण्ठपथेन दैवी वाक् छन्दोमयी सरस्वती, 'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वम्' इत्यादिरूपेण, क्लेशं विना अनायासेन, दिवः स्वर्गात्, प्राक् भुवं भूलोकम्, आगमत् आगता एव, छन्दोबद्धा सरस्वती येन प्रथमं भूलोकमवतारिता तेनादिकविनापि स्तुतेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

वाल्मीकिने अनेक शाखाओं (कठ, आश्वलायन आदि) वाली वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद) रूप वृक्षपङ्क्तिवाले कण्ठमार्गसे अक्लेशपूर्वक उस सभाकी प्रशंसा की; जिसकी संस्कृत वाणी ('मानिषाद......' इस श्लोक रूपमें) पहले स्वर्गसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हुई थी। [लोकमें भी कोई व्यक्ति अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्षवाले मार्गसे सुखपूर्वक लम्बे मार्गको पार कर लेता है। आदि कवि वाल्मीकि मुनि ने भी उस सभाकी प्रशंसा की]।

पौराणिक कथा—पहले वाल्मीकि मुनि मध्याह्न समयमें स्नान करने तमसा नदीको जा रहे थे, तब परस्परमें कामासक्त क्रौञ्च पक्षीकी जोड़ीमें से नर (पुरुष) को वाणसे मारते हुए व्याधको देखकर सर्वप्रथम वेदातिरिक्त लौकिक छन्दमें 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' श्लोक पढ़ा॥ ५७॥

प्राशंसि संसद् गुरुणाऽपि चार्वी चार्वाकतासर्वविदूषकेण।
आस्थानपट्टं रसनां यदीयां जानामि वाचामधिदेवतायाः॥ ५८॥

प्राशंसीति। चार्वी चारुः रम्या, 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप्। संसत् सभा, चार्वाकतया चार्वाकसिद्धान्तितया, नास्तिकतया हेतुना इत्यर्थः, सर्वविदूषकेण वेदादिसर्वशास्त्रखण्डकेन, गुरुणा बृहस्पतिनाऽपि, प्राशंसि, किमुत अन्यैरिति भावः, नास्तिकप्रतारणार्थं चार्वाकशास्त्रं प्रणीय बृहस्पतिना वेदादिशास्त्रं दूषितमिति प्रसिद्धिः। यदीयां रसनां जिह्वां, वाचामधिदेवतायाः सरस्वत्याः, 'आस्थानपट्टम् आस्थानपीठं, सिंहासनमित्यर्थः, जानामि, 'आसनान्तरपीठयोः पट्टम्' इति विश्वः। सर्वविदूषकेण वाचस्पतिनाऽपि स्तूयते इति सभाशोभायाः परमोत्कर्ष इति भावः॥

चार्वाकभाव (नास्तिकता) से सब (वेदादि शास्त्र, पक्षा०—पदार्थमात्र) को विशेषरूपसे दूषित (खण्डित) करनेवाले बृहस्पतिने भी सुन्दर उस सभाकी प्रशंसा की, जिसकी जिह्वाको मैं सरस्वती देवीका सिंहासन जानता हूं अर्थात् जिसकी जिह्वा पर सरस्वती देवी सर्वदा निवास करती हैं। [सबको दूषित करनेवाले बृहस्पतिने भी जिस सभाकी प्रशंसा की उस सभाकी शोभामें किसको सन्देह हो सकता है ?। नास्तिकोंको ठगनेके लिये बृहस्पतिने सब वेदादिका खण्डन किया है, ऐसी प्रसिद्धि है]॥ ५८॥

नाकेऽपि दीव्यत्तमदिव्यवाचि वचःस्रगाचार्यकवित् कविर्यः।
दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः काव्यः स काव्येन सभामभाणीत्॥५९॥

नाकेऽपीति। यः काव्यः अतिशयेन दीव्यन्त्यः दीव्यत्तमाः देदीप्यमानाः, 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति पुंवद्भावः। दिव्यवाचः संस्कृतवाचः यस्मिन् तादृशे, नाके स्वर्गेऽपि, वचःस्रजां वाग्गुम्फनानाम्, आचार्यकम् आचार्यकत्वं, 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ्,' तद्धित् कवितामार्गोपदेष्टा, कविः स्वयं कवयिता च, दित्याः अपत्यानि पुमांसो दैतेयाः दैत्याः, दितिशब्दात् 'कृदिकारात्' इति ङीषन्तात् 'स्त्रीभ्यो ढक्'

अन्यथा 'दित्यदिति—' इत्यादिना ण्यप्रत्ययस्य पूर्वविप्रतिषेधेन ढगपवादिकत्वात्, लिङ्गविशिष्टपरिभाषा त्वनित्येति गतिः, भाष्यवार्त्तिकयोरनुक्तत्वादसाधुरिति केचित्, अभियुक्तप्रयोगादभियौक्तिकप्रसिद्धेश्च तन्नाद्रियन्ते, तेषां नीतेः पथि दैत्यनीतिमार्गे, सार्थं वहतीति सार्थवाहः अग्रणीः, पथप्रदर्शकः इत्यर्थः, कर्मण्यण्, स काव्यः कवेरपत्यं शुक्रः, 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' सभां तां स्वयंवरसभां, काव्येन प्रबन्धेन, अभाणीत् अवर्णयत् । 'काव्यं ग्रन्थे ग्रहे काव्ये' इति विश्वः ॥ ५९ ॥

जो कवि (शुक्राचार्य) अत्यन्त शोभमान संस्कृत वचनवाले स्वर्गमें वचनमालाके गुम्फनमें आचार्य (संस्कृत काव्यरचनोपदेश) को जाननेवाले तथा दैत्योंकी नीतिके पथ-प्रदर्शक हैं, उस शुक्राचार्यने (वक्ष्यमाण) कविता (१०।६०–६५) से सभाका वर्णन किया । [शुक्राचार्यने भी स्वयंवर सभाकी प्रशंसा की] ॥ ५९ ॥

अमेलयद्भीमनृपः परं न नाकर्षदेतान् दमनस्वसैव
इदं विधाताऽपि विचित्य यूनः स्वशिल्पसर्वस्वमदर्शयन्नः ॥ ६० ॥

अथ षड्भिस्तत्काव्यमेवाह—अमेलयदित्यादि । एतान् यूनः युवजनान्, भीमनृपः परं केवलं, न अमेलयत् स्वयंवरार्थं न मेलितवान्, तथा दमनस्वसा दमयन्त्येव, नाकर्षत्, स्वगुणेनेति शेषः; किन्तु विधाताऽपि विचित्य एकत्र सङ्गृह्य, इदं पुरोवर्त्ति युवरूपं, स्वशिल्पसर्वस्वं स्वनिर्माणकौशलसम्पदं, नः अस्माकम्, अदर्शयत् । राज्ञः प्रयत्नात् भैमीसौन्दर्यसम्पदा ब्रह्मणः स्वनिर्माणकौशलप्रकाशनव्यसनाच्चेदं युवमेलनं न त्वेकस्मादित्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

अब यहांसे श्लोक ६५ तक पूर्व श्लोकोक्त कविता (काव्य) को कहते हैं केवल राजा भीमने ही इन युवकोंको एकत्रित नहीं किया है और दमयन्तीने ही इन युवकोंको आकृष्ट नहीं किया है; (किन्तु) ब्रह्माने भी विचारकर अपनी कारीगरीके सर्वस्व (समस्त कौशल) हम लोगोंको दिखा दिया है । [राजा भीमके प्रयत्न, दमयन्तीकी सौन्दर्यसम्पत्ति तथा ब्रह्माकी स्वशिल्पकौशल प्रदर्शित करने की इच्छा यह युवकोंका सम्मेलन हुआ है] ॥६०॥

एकाकिभावेन पुरा पुरारिर्यः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय ।
तद्भीसमाधानमनुष्य काय-निकायलीलाः किममी युवानः ? ॥ ६१ ॥

एकाकीति । यः पुरारिः पुरा एकाकिभावेन असहायत्वेन हेतुना, पञ्चशरं कन्दर्पं, पञ्चानां भावः पञ्चता, सा भौतिकस्य शरीरस्य स्वस्वांशस्य स्वेषु स्वेषु प्रवेशः, मरणमिति यावत्, ता निनाय, अमी युवानः अमुष्य कामस्य सम्बधिन्यां तस्मात् पुरारेः, भियः समाधानं निवारणं, निवारका इत्यर्थः, कार्यकारणयोरभेदोपचारः; कायनिकायलीलाः शरीरसमूहविलासाः, कामकायव्यूहाः इति यावत्, किम् ? पूर्वं महादेवः सहायहीनं कन्दर्पं संजहार इति कन्दर्पस्यासहायत्वात् ततो भयमासीत्,

इदानीम् एतद्युवशरीरैरात्मनो वहुत्वात् ततो न भयमिति भावः। इयमुत्प्रेक्षा। सर्वे कामकल्पा इति निष्कर्षः॥ ६१॥

जिस शिवजीने पहले कामदेवको अकेला होनेसे मारा था, ये युवक (राजा लोग) इस (कामदेव) के, उस शिव-सम्बन्धी भयका प्रतिकार अर्थात् निवारण करनेवाले शरीर-समूहका विलास है क्या? [पहले कामदेवको अकेला (असहाय) होनेसे शिवजीने मार दिया, उसी शिवजीके भयको निवारण करनेवाले ये युवक राजा उस कामदेवके शरीरके विलास हैं। असहायको एक वलवान् व्यक्ति मार देता है, किन्तु अनेक व्यक्तियोंको वह नहीं मार सकता; अतः अव ये अनेक कामदेव होकर शिवजीसे निर्भय हैं। ये युवक कामदेवके समान सुन्दर हैं]॥ ६१॥

पूर्णेन्दुबिम्बाननुमासभिन्नानस्थापयत् क्वापि निधाय वेधाः।
तैरेव शिल्पी निरमादमीषां मुखानि लावण्यमयानि मन्ये॥ ६२॥

पूर्णेति। शिल्पी निर्माणकुशली, वेधाः अनुमासं मासि मासि, भिन्नान् नानाभूतान्, पूर्णेन्दुबिम्बान् संसारस्यानादित्वादसङ्ख्यानिति भावः; क्वापि निधाय निक्षिप्य, आच्छाद्येति यावत्, अस्थापयत् स्थापितवान्, चिरमरक्षदित्यर्थः। अथ तैः पूर्णेन्दुबिम्बैरेव, अमीषां यूनां, लावण्यमयानि मुखानि निरमात् निर्मितवानिति मन्ये। उत्प्रेक्षा॥ ६२॥

कारीगर ब्रह्माने प्रत्येक मासमें भिन्न २ पूर्णचन्द्रबिम्बोंको कहीं (गुप्त स्थानमें) छिपाकर रख दिया, उन्हीं (पूर्व स्थापित पूर्णचन्द्रबिम्बों) से सौन्दर्ययुक्त इन मुखोंको बनाया है, ऐसा मैं मानता हूं। [अन्य भी कोई कारीगर वहुत उत्तमोत्तम पदार्थोंको किसी गुप्त स्थानमें बनाकर रख देता है और बादमें उनके द्वारा किसी कल्पनातीत सुन्दर पदार्थकी रचना करता है। इन युवकके मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर हैं]॥ ६२॥

मुधाऽर्पितं मूर्द्धसु रत्नमेतैर्यन्नाम तानि स्वयमेत एव।
स्वतः प्रकाशे परमात्मबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम्॥ ६३॥

सुधेति। एतैः नृपैः, मूर्द्धसु रत्नं मुधा अर्पितं शिरोमणिर्वृथा धृतः इत्यर्थः; कुतः? यत् यस्मात्, एते स्वयमेव तानि रत्नानि, नाम खलु, तथोत्कृष्टा इत्यर्थः। 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः, किं रत्नधारणेनेति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायेन वैयर्थ्योक्तिः। तथा हि, स्वतः प्रकाशे, परमात्मबोधे परमात्मविषयके तत्त्वरूपे वा ज्ञाने विषये, स्फुरणार्थं तज्ज्ञानप्रकाशनार्थं, बोधान्तरम् अनुव्यवसायादिरूपं ज्ञानान्तरं, न अर्थ्यं नापेक्ष्यम्। दृष्टान्तालङ्कारः॥ ६३॥

इन्होंने मस्तकों पर व्यर्थ ही रत्न (रत्न जड़े हुए मुकुट) रखा है, क्योंकि ये वे (रत्न) ही हैं। परमात्मज्ञानके स्वतः प्रकाशित हो जाने पर स्फुरण करनेके लिये दूसरा ज्ञान अपेक्षित नहीं होता। [परमात्मज्ञान होने पर दूसरे ज्ञानके समान स्वयं रत्न रूप होनेसे

इन युवकोंका शिरपर रत्नान्तरका धारण करना व्यर्थ है। ये सभी युवक रत्नके समान सुन्दर हैं]॥ ६३ ॥

प्रवेक्ष्यतः सुन्दरवृन्दमुच्चैरिदं मुदा चेदितरेतरं तत् ।
न शक्ष्यतो लक्षयितुं विमिश्रं दस्रौ सहस्रैरपि वत्सराणाम् ॥ ६४ ॥

प्रवेक्ष्यत इति। दस्रौ अश्विनौ, उच्चैः महत्, इदं सुन्दरवृन्दं रमणीयवर्गं, मुदा कौतुकेन, प्रवेक्ष्यतः अन्तःप्रविष्टौ भविष्यतः, चेत् तर्हि, विमिश्रं मिलितम्, इतरेतरम् अन्योऽन्यं स्वभ्रातृरूपं, वत्सराणां सहस्रैरपि लक्षयितुं मदीयः अयमेव भ्राता इति विविक्ततया ग्रहीतुं, न शक्ष्यतः शक्तौ न भविष्यतः; तत्र सभायां स्थिताः सर्वे राजानः अश्विनीकुमारतुल्या इति भावः। अत्र दस्रयोः सौन्दर्यगुणसामान्येन सुन्दरवृन्दैकतादात्म्यात् सामान्यालङ्कारः, 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

यदि अश्विनीकुमार अत्यन्त हर्षसे इस सुन्दर-समूहमें प्रवेश करेंगे तो मिश्रित (एकाकृति होनेसे इनमें मिले हुए) परस्परको हजारों वर्षोंमें पहचाननेके लिये वे समर्थ नहीं होंगे। [लोकमें भी अत्यन्त समान वस्तुमें मिली हुई कोई चीज नहीं पहचानी जा सकती, ये सभी युवक अश्विनीकुमारके समान सुन्दर हैं]॥ ६४ ॥

स्थितैरियद्भिर्युवभिर्विदग्धैर्दग्धेऽपि कामे जगतः क्षतिः का ? ।
एकाम्बुबिन्दुव्ययमम्बुराशेः पूर्णस्य कः शंसति शोषदोषम् ? ॥ ६५ ॥

स्थितैरिति। विदग्धैः प्रगल्भैः अदग्धैश्च, स्थितैः इयद्भिः एतावद्भिः, युवभिः, उपलक्षितस्येति शेषः, जगतः कामे दग्धेऽपि का क्षतिः? न्यूनता न काऽपीत्यर्थः। तथा हि, पूर्णस्य अम्बुराशेः एकाम्बुबिन्दुव्ययं कः शोष एव दोषस्तं शंसति? न कोऽपि दोषत्वेन शंसतीत्यर्थः; यथा समुद्रस्य एकबिन्दुजलव्यये समुद्रः शुष्कः इति न कोऽपि कथयति, तथा कामसदृशानां बहूनाम् एतेषां विद्यमानतायाम् एकस्य कामस्य नाशे पृथिव्याः का क्षतिः? इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः॥ ६५ ॥

विदग्ध (चतुर, पक्षा०—नहीं जले हुए) इतने युवकोंके रहनेसे (एक) कामदेवके जलने पर भी संसारकी क्या हानि हुई? अर्थात् कोई नहीं। भरे हुए समुद्रके जलके एक बूँदके व्ययको कौन सूखना कहता है? अर्थात् कोई नहीं। [समुद्रमें अपार जल रहनेसे जिस प्रकार उसके एक बिन्दुके नष्ट होने पर भी कोई व्यक्ति समुद्रको सूखा हुआ नहीं कहता, न उससे कोई हानि होती है, उसी प्रकार कामदेव तुल्य इतने (बहुत अधिक अर्थात् अगणित) युवकोंके रहते (या युवकोंसे परिपूर्ण संसारका) एक कामदेवके जल जानेपर भी कोई हानि नहीं समझनी चाहिये। ये सभी युवक कामदेवके समान सुन्दर हैं]॥

इति स्तुवन् हूङ्कृतिवर्गणाभिर्गन्धर्ववर्गेण स गायतेव ।
ओङ्कारभूम्ना पठतेव वेदान् महर्षिवृन्देन तथाऽन्वमानि ॥ ६६ ॥

इतीति । इतीत्थं, स्तुवन् स काव्यः, गायतैव गन्धर्ववर्गेण हूङ्कृतीनां वर्गणाः पुनः पुनरुच्चारणानीत्यर्थः, ताभिः अन्वमानि अनुमोदितः, कर्मणि लुङ्, तथा वेदान् पठतैव महर्षिवृन्देन ओङ्कारभूम्ना प्रणवभूयस्त्वेन, अन्वमानि अनुमोदितः। अत्र गानार्थैर्हूङ्कारैः वेदपाठार्थैः ओङ्कारैश्च काव्यवाक्यानुमोदनं कृतमिवेत्युत्प्रेक्ष्यते । 'ओमित्यनुमते प्रोक्तं प्रणवे चाप्युपक्रमे' इति विश्वः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार (१०।६०–६५) स्तुति (स्वयंवरकी प्रशंसा) करते हुए शुक्राचार्यका गाते हुए गन्धर्वोंने वार–वार हुङ्कार–समूह ('हूँ हूँ' ऐसा कहने) से समर्थन किया तथा वेदोंको पढ़ते हुए महर्षि–समूहने ॐकार की बहुलता (स्वीकृति–सूचक ॐ शब्दको बार–बार) उच्चारण करनेसे समर्थन किया । [लोकमें भी जिस प्रकार किसी की बातका समर्थन 'हूँ हूँ' तथा 'ॐ ॐ' कह कर किया जाता है, उसी प्रकार शुक्राचार्यके सभावर्णनका समर्थन गाते हुए गन्धर्वों तथा वेद पढ़ते हुए महर्षियोंने वार–वार क्रमशः 'हूँ हूँ' तथा 'ॐ ॐ' कह कर किया । गायनमें 'हूँ हूँ' की तथा वेदाध्ययन में 'ॐ ॐ' का बाहुल्य होना उचित ही है । गन्धर्वों तथा महर्षियोंने शुक्राचार्य कृत स्वयंवर–प्रशसाको उचित बतलाया] ॥ ६६ ॥

न्यवीविशत्तानथ राजसिंहान् सिंहासनौघेषु विदर्भराजः ।
शृङ्गेषु यत्र त्रिदशैरिवैभिरशोभि कार्त्तस्वरभूधरस्य ॥ ६७ ॥

न्यवीविशदिति । अथ विदर्भराजः भीमः, तान् राज्ञः सिंहानिव राजसिंहान् राजश्रेष्ठान्, सिंहासनौघेषु न्यवीविशत् उपवेशयामास, विशेर्णौ चङ्, यत्र येषु सिंहासनेषु, एभिः राजसिंहैः, कार्त्तस्वरभूधरस्य हेमाद्रेः सुमेरोः, शृङ्गेषु त्रिदशैः देवैरिव, अशोभि शोभितम् । भावे लुङ् ॥ ६७ ॥

इसके बाद विदर्भराज (भीम) ने उन राजसिंहोंको सिंहासनोंपर बैठाया, जिन पर ये (राजसिंह) स्वर्णपर्वत अर्थात् सुमेरुकी चोटियों पर (स्थित) देवोंके समान शोभते थे । स्वयंवरमञ्च सुमेरुशिखरतुल्य अत्युन्नत तथा स्वर्णमय और युवक राजा लोग देवतुल्य थे]॥

विचिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान् ।
कथ्याः कथङ्कारममी सुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन ॥ ६८ ॥

विचिन्त्येति । तेन क्षितिपेन भीमेन, नानाभुवनेभ्यः नानाप्रदेशेभ्यः, आगतान् तान् यूनः, मर्त्यैः सङ्कीर्त्यानि कीर्त्तयितुं शक्यानि, चरित्राणि गोत्राणि कुलानि नामानि च येषां ते न भवन्तीति तथोक्ताः तान् तथाविधान्, विचिन्त्य अमी युवानः, सुतायां विषये, कथङ्कारं केन प्रकारेण, 'अन्यथैवं कथम्' इत्यादिना णमुल्, कथ्याः कथनीयाः, इति हेतोः, व्यषादि विषण्णेन अभावि, भावे लुङ्। 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि'–'सदिरप्रते' इति षत्वम्, एतेषां चरित्रगोत्रादीनि नरलोकैर्वर्णयितुमशक्यत्वात् दमयन्ती कथं ज्ञास्यतीति विषण्णो बभूवेति भावः॥ ६८ ॥

वे राजा (भीम) अनेक लोकों (देशों) से आये हुए उन राजाओंको देवताओंसे

वर्णनीय (अथवा—मनुष्योंसे अवर्णनीय) चरित्र तथा गोत्रवाला विचारकर दमयन्तीके विषयमें 'इन (राजाओं) का किस प्रकार वर्णन किया जायेगा' इस कारण चिन्तित हुए। [इन स्वयंवरमें आये हुए राजाओंके चरित्र तथा वंशका वर्णन मनुष्योंके द्वारा न हो सकनेसे (अथवा—देवोंके द्वारा ही हो सकने से) इनके चरित्र तथा कुल परम्पराको पूर्णतया दमयन्तीसे किस प्रकार कहा जायेगा और विना उसे पूर्णतया मालूम किये इनमें-से किसीको कैसे वरण करनेके लिये चुनेगी ? यह सोचकर राजा भीम बहुत खिन्न हुए] ॥

श्रद्धालुसङ्कल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः ।
तदाऽऽकुलोऽसौ कुलदैवतस्य स्मृतिं ततान क्षणमेकतानः ॥ ६९ ॥

श्रद्धाल्विति । अथ विषादानन्तरम्, आकुलः असौ भीमः, तदा श्रद्धालूनां भक्तानां, 'स्पृहिगृहि—'इत्यादिना आलुच्प्रत्ययः, सङ्कल्पितकल्पनायाम् ईप्सितार्थ-सम्पादने, कल्पद्रुमस्य इच्छापूरकस्य, कुलदैवतस्य वंशपरम्परोपासितस्य, रथाङ्ग-पाणेः नारायणस्य, स्मृतिं स्मरणं, क्षणं व्याप्य एकतानः अनन्यवृत्तिः सन्, ततान, 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः ॥ ६९ ॥

उस समय व्याकुल उस (राजा भीम) ने श्रद्धालुके मनोरथकी सिद्धिमें कल्पवृक्षरूप कुलदेव विष्णुका क्षणमात्र एकाग्रचित्त होकर स्मरण किया । [सम्पूर्ण मनोरथको पूरा करनेवाले कुलदेव विष्णुके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरी अभिलाषा पूरी नहीं करेगा, यह सोचकर विष्णुका एकाग्र मनसे स्मरण किया] ॥ ६९ ॥

तच्चिन्तनानन्तरमेव देवः सरस्वतीं सस्मितमाह स स्म ।
स्वयंवरे राजकगोत्रवृत्त-वक्त्रीमिह त्वां करवाणि वाणि ! ॥ ७० ॥

तदिति । तस्य भीमस्य, चिन्तनान्तरं स्मरणानन्तरमेव, स देवो हरिः, सरस्वतीं सस्मितमाह स्म । 'लट् स्मे' इति भूते लट्, किमिति ? हे वाणि ! इह स्वयंवरे त्वां राज्ञां समूहो राजकं, 'गोत्रोक्ष—'इत्यादिना वुञ् तस्य गोत्राणां नाम्नां कुलानां, वृत्तानां चरित्राणाञ्च, वक्त्रीम् आख्यात्रीं, करवाणि, प्रैषार्थे लोट्, अहमिति शेषः ॥

उन (भीम) के स्मरण करनेके बाद ही देव (विष्णु भगवान्) ने मुस्कुराते हुए सरस्वतीसे कहा—'हे सरस्वति ! इस स्वयंवरमें तुमको मैं राजाओंके वंश तथा चरित्रको बतलानेवाली बनाता हूं । [राजाओंके कुल तथा चरित्रका वर्णन करनेके लिये तुम स्वयंवरमें जावो] ॥ ७० ॥

कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च राज्ञां जानासि नानाभुवनागतानाम् ।
एषामतस्त्वं भव वावदूका मूकायितुं कः समयस्तवायम् ? ॥ ७१ ॥

कुलमिति । हे वाणि ! नानाभुवनागतानां राज्ञां कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च जानासि, अतः कारणात्, त्वम् एषां वावदूका वक्त्री, वंशवीर्य्यादि गुणतो वर्णयित्रीत्यर्थः, भव, 'वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः । वावदूक इत्यस्य यङ्लुगन्तात् वदेः 'उलूका-

दयश्च' इत्यनेन औणादिक ऊकप्रत्ययः, कुर्वादिगणे वावदूकशब्दपाठात् ऊकप्रत्यय इति माधवः तथा हि, तव मूकायितुं मूकवदाचरितुं, तूष्णीं स्थातुमित्यर्थः, मूकशब्दादाचारार्थे क्यजन्तात् 'कालसमयवेलासु तुमुन्' अयं कः समयः ? को वाऽवसरः ? अपि तु न कोऽपि इत्यर्थः। वाग्मिनाम् अवसरे तूष्णीम्भावो न युक्त इत्यर्थान्तरन्यासः॥ ७१॥

अनेक लोकोंसे आये हुए इन राजाओंके वंश, शील तथा पराक्रमको जानती हो; अतः तुम (उनका) वर्णन करनेवाली बनो, तुम्हारे चुप रहने का यह कौन-सा समय है। [बोलनेके समयमें वावदूकको चुप रहना उचित नहीं, अत एव तुम स्वयंवरमें जाकर इन स्वयंवरागत राजाओंके कुल, शील तथा पराक्रमका वर्णन करो] ॥ ७१॥

जगत्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनी वा।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन सङ्ख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि ॥ ७२॥

वागवसरत्वमेवाह—जगदिति। हे वाणि! जगत्त्रय्यां ये पण्डिताः वाचस्पत्यादयः, तैः अशेषैः मण्डिता एषा सभा न भूता न च भाविनी वा, अतो राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन गुणप्रकाशनच्छलेन, संख्यावतः पण्डितान्, वाङ्मुखानि उपन्यासान्, 'संख्यावान् पण्डितः कविः' इति, 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' इति चामरः। श्रावय; पण्डितमण्डलीविलसिते विदुषां वाग्विजृम्भणम् उचितं, तत्रापि तूष्णीम्भावे वाग्विफलत्वमयोग्यता च स्यादिति भावः॥ ७२॥

तीनों लोकोंके पण्डितोंसे शोभित यह (ऐसी) सभा न हुई है और न होगी, (अत एव) राजाओंके गुण बतलानेके व्याजसे पण्डितोंको (अपना) उपन्यास सुनाओ। [पण्डितोंके सामने विद्वानोंका बोलना उचित है, वहां भी यदि वे नहीं बोलें तो उनका वचन निष्फल होता है और उनकी अयोग्यता प्रमाणित होती है, अत एव तुम्हें ऐसे सुन्दर अवसर पर नहीं चुकना चाहिये]' ॥ ७२॥

इतीरिता तच्चरणात् परागं गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम्।
तस्य प्रसादेन सहाज्ञयाऽसावादाय मूर्द्ध्नाऽऽदरिणी बभार ॥ ७३॥

इतीति। इति इत्थम्, ईरिता विष्णुना आज्ञप्ता, असौ वाणी, तस्य हरेः नारायणस्य, चरणात् गीर्वाणानां देवानां, चूडामणिभिः शिरोरत्नैः, मृष्टस्य प्रोञ्छितस्य, शेषम् अवशिष्टं, परागं रेणुं, तस्य आज्ञया आज्ञारूपेण, प्रसादेन अनुग्रहेण, सह आदाय मूर्द्ध्ना आदरिणी आदरवती सती, बभार॥ ७३॥

(विष्णु भगवान्से) इस प्रकार (१०।७०—७२) कही गयी यह (सरस्वती देवी) उन (विष्णु भगवान्) के चरणसे देवोंके मुकुटमणियोंके द्वारा पोंछनेसे बचे हुए परागको उन (विष्णु भगवान्) की आज्ञारूप प्रसन्नताके साथ मस्तकसे लेकर (स्वीकारकर) आदरवती हुई। [सरस्वतीने विष्णु भगवान्के चरणोंपर मस्तक झुकाकर प्रणाम करके उनकी आज्ञाको आदरपूर्वक प्रसाद रूपमें ग्रहण किया] ॥ ७३॥

मध्येसभं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्यामयकण्ठनाला ।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्त्तितदृक्तरङ्गा ॥ ७४ ॥

मध्येसभमिति । सा वाणी, मध्ये सभायाः मध्येसभं 'पारेमध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, अवततार । कीदृशी ? बाला बालस्त्रीरूपधारिणी, गन्धर्वविद्या गानविद्या, तन्मयस्तद्विकारः, कण्ठनालः यस्याः सा, त्रयीमयीभूताः त्रिधाभूताः, अन्यत्र—वेदविकारीभूताः, वलीविभङ्गाः त्रिवलीसर्वस्वानि यस्याः सा, साहित्येन कवित्वेन, निर्वर्त्तिता निष्पादिताः, दृशः दृष्टयः, तरङ्गा इव यस्याः सा ॥ ७४ ॥

गान विद्यामय (गान विद्यासे बने हुए, पाठा०—गान विद्याको धारण करनेवाले) कण्ठनालवाली, त्रयीमयी (ऋक्-यजुः-सामरूप वेदत्रयसे रची गयी) वलि-विलासवाली तथा साहित्य (काव्य, नाटक, चम्पू आदि ग्रन्थ) से बने हुए तरङ्गोंके समान (अथवा—तरङ्गरूप) दृष्टिवाली बालाका रूप धारणकी हुई वह (सरस्वती) सभाके बीचमें उतरी अर्थात् सभामें पहुंची । [सरस्वती देवीके कण्ठको नाल कहनेसे उसके ऊपरमें स्थित सरस्वती देवीके मुखको कमल माना गया है] ॥ ७४ ॥

आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदी-मूलात् विनिर्गत्य वितायमाना ।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा ॥ ७५ ॥

अथ चतुर्दशश्लोक्या वाग्देवीमेव वर्णयति, आसीदिति । अथर्वा श्रुतिः अथर्ववेदः, तिस्रो वलयः त्रिवलिः; त्रिवलिप्रसिद्धिः संज्ञा चेदिति वामनः, तद्रूपा त्रिवेदी, सैव मूलं तस्मात् विनिर्गत्य वितायमाना वितन्यमाना, तनोतेरनुनासिकस्य विकल्पादात्वम्, अथर्वणस्तु त्रय्युद्धार इति प्रसिद्धिः । नानाविधानाम् अभिचाराणां हिंसाकर्मणाम्, उचिता पापातिशयात् युक्ता, मेचकश्रीः कृष्णकान्तिर्यस्याः सा, अन्यत्र—अनाभिचारो न भवतीति नानाभिचारः नाभिसञ्चरणमित्यर्थः, तस्य उचिता सा च सा मेचका श्रीर्यस्याः सा तथोक्ता, यदीया यस्याः सरस्वत्याः सम्बन्धिनी, उदरे रोमरेखा रोमराजिः, आसीत् ॥ ७५ ॥

त्रिवलीरूप वेदत्रयीके मूलसे निकलकर बढ़ती हुई, अनेक अभिचार (मारण-मोहन-उच्चाटन आदि पाप) कर्मके योग्य मेचक पक्षा०—नाभिमें प्रवेश करने योग्य मेचक (कृष्ण-नील) वर्णवाली जिस सरस्वतीकी उदरकी रोमपङ्क्ति अथर्ववेद था । [अथर्व वेद त्रयी (ऋक्-यजुष् तथा सामवेदसे उद्धृत होना, एवं अभिचार कर्मकारक होना, एवं श्याम वर्ण होना पुराणोंमें प्रसिद्ध है] ॥ ७५ ॥

शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाऽऽकल्पविधिर्यदीयः ।
यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तविद्या खलु पर्यणंसीत् ॥ ७६ ॥

---

१ '-धर-' इति पाठान्तरम् ।

शिक्षेति । शिक्षा तदाख्यग्रन्थ एव, साक्षात् स्वयमेव, यदीयं चरितम् अभूत्, परोपदेशरूपत्वादिति भावः । यदीयः आकल्पविधिः प्रसाधनविधिः, कल्पश्रिया कर्मकाण्डभूतया कल्पसूत्रलक्ष्म्या, निर्वृत्त इति शेषः । निरुक्तविद्या खलु एव यस्याः समस्तार्थानां सर्ववेदार्थानां, निरुक्तिरूपैः निर्वचनभङ्गिभिः, पर्यणंसीत् तद्रूपेण आसीदित्यर्थः । णमेर्लुङ् 'अस्तिसिचोऽऽपृक्ते'—इतीडागमः, 'यमरमनमातां सक् च' इति सक् इडागमश्च 'इट ईटि' इति सिचो लोपः, 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् ॥ ७६ ॥

निश्चित रूपसे साक्षात् शिक्षा (वेदाङ्गभूत ग्रन्थ-विशेष, पक्षा०—परोपदेश) ही जिस (सरस्वती) का चरित्र हुई, कल्प (वेदाङ्गभूत कर्मकाण्डप्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष) की शोभासे जिस (सरस्वती) का भूषण कार्य सम्पन्न हुआ अर्थात् साक्षात् 'कल्प' ही जिसका भूषण था, और सम्पूर्ण वेदोंके अर्थकी निरुक्ति (निर्वचन) रूपोंसे जिस (सरस्वती) की निरुक्ति विद्या (वेदका 'कर्ण' स्थानीय ग्रन्थ-विशेष) परिणत हुआ—[६ वेदाङ्गोंमें-से 'शिक्षा' उस सरस्वती देवीका चरित, 'कल्प' भूषण तथा 'निरुक्त' समस्तार्थ निर्वचन हुए] ॥ ७६ ॥

जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूत् यदीयम् ।
श्लोकार्द्धविश्रान्तिमयीभविष्णु पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् ॥ ७७ ॥

जात्येति । जात्या मात्रावृत्तरूपेण आर्य्यादिना च, वृत्तेन वर्णवृत्तरूपेण अक्षरसंख्यातेन उक्थादिना च, भिद्यमानं द्विधाभूतं, तथा श्लोकार्द्धे विश्रान्तिमयीभविष्णु विश्रान्तिरूपतामापन्नं, छन्दः छन्दोग्रन्थः, यदीयं पर्वणोः कूर्परपूर्वोत्तरभागयोः, द्वयी तस्याः सन्धिः तेन सुचिह्नं सुव्यक्तं, मध्यं कर्पूरस्थानं यस्य तादृशं, भुजद्वन्द्वम् अभूत्, द्विविधं छन्दो भुजयुगत्वेन श्लोकार्द्धविश्रान्तिः कर्पूरत्वेन पर्यणंसीदित्यर्थः ॥

श्लोकके आधेमें विश्राम (पूर्ण विराम) रूप दो ग्रन्थियोंकी सन्धि (जोड़) रूप सुन्दर चिह्नसे युक्त तथा जाति (आर्या आदि मात्रा छन्द) तथा वृत्त (श्री, इन्द्रवजा, शिखरिणी आदि वर्णच्छन्द) रूपसे दो भागोंमें विभक्त छन्द (वेदाङ्ग भूत 'छन्दःशास्त्र' नामक ग्रन्थ-विशेष) जिस (सरस्वती) की दो भुजा हुए । [श्लोकके मध्यमें विश्राम (पूर्ण यति) ही उस सरस्वती देवीकी भुजाके कोहनी-नामक बीचके जोड़ थे, इस प्रकार मात्रा तथा वर्ण भेदसे दो भागोंमें विभक्त छन्दःशास्त्र ही उस सरस्वतीके दोनो हाथ हुआ] ॥

असंशयं सा गुणदीर्घभाव-कृतां दधाना विततिं यदीया ।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किञ्चारचि व्याकरणेन काञ्ची ॥ ७८ ॥

असंशयमिति । किञ्च गुणस्य पट्टसूत्रस्य, दीर्घभावेन दैर्घ्येण, कृतां विततिं विस्तारं, दधाना, अन्यत्र—गुणश्च दीर्घश्च भावप्रत्ययश्च कृत्प्रत्ययश्च तेषां विततिं दधानेनेति विभक्तिविपरिणामः; शब्दपरम्पराणां शिञ्जितपरम्पराणां, विधायिका जनयित्री, अन्यत्र—सुप्तिङन्तशब्दपरम्पराणां विधायकेन साधकेनेति विभक्तिविप-

शिल्पिनः सा प्रसिद्धा, यदीया काञ्ची व्याकरणेन अरचि रचिता, असंशयं संशयाभाव इत्यर्थः, 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना अर्थाभावेऽव्ययीभावः ॥ ७८ ॥

पट्टसूत्रकी लम्बाईसे किये (पक्षा०—गुण, दीर्घ, भावप्रत्यय और कृत्प्रत्ययोंके) विस्तारको धारण करती हुई और शब्दपरम्पराको करनेवाली अर्थात् बजनेवाली (पक्षा०—'राम, पाक' आदि शब्द-समूहको सिद्ध करनेवाली) जिस (सरस्वती) की करधनी (कटिभूषण काञ्ची) व्याकरण (वेदाङ्ग भूत मुख-स्थानीय ग्रन्थ-विशेष) से बनायी गयी थी। ['देवेन्द्र, देवोद्यान' आदि पदोंमें 'आद्गुणः' (पा० सू० ६-१-८७) से 'गुण', 'दैत्यादि, श्रीश' इत्यादि पदोंमें 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० सू० ६-१-१०२) आदि सूत्रोंसे 'दीर्घ', 'भूयते' इत्यादि पदोंमें 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (पा० सू० ३-४६९) आदि सूत्रोंसे भावमें प्रत्यय, और 'कर्तव्य, करणीय' आदि पदोंमें 'तव्यत्तव्यानीयरः' (पा० सू० ३-१-९६) आदि सूत्रोंसे 'तव्य एवं तव्यत्' आदि 'कृत्' संज्ञक प्रत्यय व्याकरणानुसार होते हैं तथा वह व्याकरण शास्त्र 'राम, कृष्ण, नन्दन, गमन' आदि शब्दोंकी रचना (सिद्धि) करता है । व्याकरण वेदोंका मुख माना गया है, अत एव उसका शब्द करना अर्थात् बोलना उचित ही है] ॥७८॥

स्थितैव कण्ठे परिणम्य हार-लता बभूवोदिततारवृत्ता ।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येऽङ्गमङ्केन भृता विशङ्के ॥ ७९ ॥

स्थितेति । कण्ठे वाचि, अन्यत्र—ग्रीवायां, परिणम्य रूपान्तरं प्राप्य, स्थिता, उदिता उक्ताः, तारा अश्विन्यादयो येषु तानि, वृत्तानि पद्यानि यस्यां सा, अन्यत्र—उदिततारा प्रकाशितशुद्धमौक्तिका, सा च सा वृत्ता च वर्त्तुला च तथोक्ता, 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके'—'वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले' इति च विश्वामरौ, अङ्गानां शिक्षाकल्पादीनाम्, अन्यत्र—करादीनां मध्ये मध्येऽङ्गं, 'परि मध्ये' इत्यादिनाऽव्ययीभावः, अङ्केन एकद्व्यादिसंख्यया चिह्नेन, भृता पूर्णा, अन्यत्र—अङ्केन क्रोडेन, वक्षसा इत्यर्थः, भृता धृता, भरतेर्बिभर्त्तेश्च कर्मणि क्तः 'अङ्कं क्रोडेऽन्तिके चिह्ने' इति वैजयन्ती । ज्योतिर्मयी नक्षत्रप्रधाना, अन्यत्र–भास्वती, 'ज्योतिरग्नौ दिवाकरे । पुमान् नपुंसकं दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः' इति मेदिनी, विद्या ज्योतिर्विद्यैव, यद्भजनाय यस्याः सरस्वत्याः सेवनाय, हारलता बभूव इति विशङ्के इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

कण्ठ (वचन, पक्षा०—गर्दन) में स्थित, उदयप्राप्त तारा-(अश्विन्यादि नक्षत्र) सम्बन्धी वृत्त (श्लोक या शुभाशुभ फलका कथन) वाला (पक्षा०—चमकती हुई मध्य मणिवाली तथा गोल), अङ्ग (वेदोंके शिक्षा आदि ६ अङ्ग, पक्षा०—शरीर) में अङ्क (सङ्ख्या या गणना अर्थात् गिनती, पक्षा०—क्रोड अर्थात् गोद) से पूर्ण ज्योतिर्मयी (नक्षत्र-प्रधान अर्थात् ग्रहों तथा नक्षत्रोंके विचार करनेवाला, पक्षा०—धमकती हुई) विद्या अर्थात् ज्योतिःशास्त्र ही जिस (सरस्वती) की सेवाके लिये हारलता (हारकी लड़ी)

बनी है, ऐसा मैं समझता हूँ। [सरस्वती देवीके वचनमें स्थित अश्विन्यादि तारा-सम्बन्धी शुभाशुभ फलका निर्देशक शिक्षादि वेदाङ्गोंमें गणना या अङ्करूपसे पूर्ण ज्योतिशास्त्र ही सरस्वती देवीकी सेवाके लिए उसके कण्ठमें मध्यमणियोंवाली तथा गोल, शरीरके मध्यमें अङ्क (क्रोड) में पड़ी हुई हार लता बनी-सी मालूम पड़ती है] ॥ ७९ ॥

अवैमि वादिप्रतिवादिगाढ-स्वपक्षरागेण विराजमाने ।
तौ पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ ॥ ८० ॥

अवैमीति । वादिप्रतिवादिनोः गाढेन निविडेन, स्वपक्षे रागेण अभिनिवेशेन, अन्यत्र—अन्तःपार्श्वरक्तत्वेन, विराजमाने पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे यदीयौ तौ प्रसिद्धौ, रदच्छदौ ओष्ठौ, भूतवती बभूवतुः, भवतेः क्तवतुप्रत्ययः, अवैमि उत्प्रेक्षे । अत्र ओष्ठावपि वादिनावभिवदनव्यापारवन्तौ पूर्वोत्तरीभूतौ चेति द्रष्टव्यम् ॥ ८० ॥

वादी तथा प्रतिवादीके दृढ अपने पक्षके आग्रह (पक्षा०—गाढ पक्षद्वय अर्थात् प्रान्तद्वयकी लालिमा) से शोभमान पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षके शास्त्रद्वय जिस (सरस्वती) के दोनों ओठ बन गये हैं, ऐसा मैं जानता हूं । [जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी अपने-अपने दृढ पूर्वापर पक्ष (मत) का आग्रहपूर्वक स्थापन करते हुए बोलते हैं, उसी प्रकार सरस्वतीके पूर्वापर (ऊपर-नीचे) स्थित पक्षद्वय (दोनों प्रान्तों) में राग अर्थात् लालिमायुक्त दोनों ओठ भी बोलते हैं, ऐसी उत्प्रेक्षा करता हूं] ॥ ८० ॥

ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम् ।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम् ॥ ८१ ॥

ब्रह्मेति । पराच्छादनचारु उत्कृष्टवसनाभिरामं, मांसमस्यास्तीति मांसलं पीवरं, सिध्मादित्वात् लच्, यस्याः सरस्वत्याः, ऊरुयुग्मं परेषां प्रतिवादिनाम्, आच्छादनेन तिरस्करणेन, चारु शोभनम्, आत्मदेहं स्वस्वरूपं, चार्विति विशेषणान्नपुंसकं ग्राह्यम्, 'कायो देहः क्लीबपुंसोः' इत्यमरः ब्रह्मैवार्थः प्रतिपाद्यार्थो यस्य सः, कर्मैवार्थः प्रतिपाद्यार्थो यस्य सः 'शेषाद्विभाषा' इति कपि भावप्रधानो निर्देशः' ताभ्यां ब्रह्मकाण्ड-कर्मकाण्डाभ्यां, यो वेदस्य भेदः द्वैविध्यं तस्माद्धेतोः, द्विधा विधाय पूर्वोत्तरमीमांसा-रूपेण द्विविधं कृत्वा, स्थितया प्रतिष्ठितया, मीमांसया द्वैविध्यया चक्रे कृतमिति गम्योत्प्रेक्षा ॥ ८१ ॥

अन्य (वैशेषिक-बौद्धादि) के मतके खण्डन करनेसे (पक्षा०—श्रेष्ठ वस्त्र से ढकनेसे चतुर (या सुन्दर), परिपुष्ट (पक्षा०—मांसल = मांसपूर्ण) जिस (सरस्वती देवी) के ऊरुद्वयको, ब्रह्मप्रयोजनक तथा कर्मप्रयोजनक अर्थ ब्रह्म तथा कर्मका प्रतिपादक वेद-भेदसे अर्थात् ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड नामक वेद-विभागसे अपने देहको दो विभागकर (पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा नामसे प्रसिद्धकर) स्थित मीमांसाने बनाया है । [वेदार्थ प्रतिपादन मीमांसा करती है, वह ईश्वरको नहीं मानती; उसके 'पूर्वमीमांसा

तथा उत्तर मीमांसा'—ये दो भेद हैं, वे ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड कही जाती हैं। यह मीमांसा वेदस्वरूपा ही है, अतः वेदने ही अपना ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्डरूप दो विभागकर स्थित मीमांसासे परमतखण्डन करनेवाला एवं पुष्ट (दूसरेसे अखण्डनीय (पक्षा०—उत्तम वस्त्राच्छादित होनेसे सुन्दर एवं मांसल) सरस्वती देवीकी दोनों जङ्घाओंको बनाया है]॥ ८१ ॥

उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः ॥ ८२ ॥

उद्देशेति । यस्याः सरस्वत्याः, दशनानां द्वयोर्मालयोः समाहारो द्विमाली दन्तपङ्क्तिद्वयी, 'आबन्तो वा' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीप्, तामेव आकलितां गुम्फितां, मुक्तैव मुक्तिका, मुक्ताशब्दात् स्वार्थे कप्रत्ययेन 'केऽणः' इति ह्रस्वे तस्य 'अभाषितपुंस्काच्च' इति कात् पूर्वस्येत्वम् , तां मुक्तावलीम् इत्यर्थः, उद्देशो नामतः कीर्त्तनं, तस्य पर्वणि अवसरेऽपि, समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणं तस्मिन्नपि, द्विधोदितैः उद्देशतया लक्षणतया च निर्दिष्टैरित्यर्थः; अन्यत्र—उद्देशपर्वणि उद्देश्यपर्वदिवसे, तथा लक्षणे सामुद्रिकलक्षणे च, द्विधोदितैः द्वैगुण्येनोक्तैः, अत एव द्वात्रिंसत्संख्यकैरित्यर्थः, उभयषोडशदशनत्वस्य भाग्यलक्षणत्वादिति भावः; षोडशभिः पदार्थैः प्रमाणादिनिग्रहस्थानान्तैः उपलक्षिताम्; मुक्तिं मोक्षं कामयन्ते इति मुक्तिकामाः मुमुक्षवः, 'शीलकामिभक्षयाचारेभ्यो णः' इति णप्रत्ययः तैराकलिताम् अभ्यस्तां, प्रमाणादिसूत्रेण एतेषां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगम इत्युक्तत्वादिति भावः; तां प्रसिद्धाम्, अनु पश्चात्, वेदश्रवणानन्तरमित्यर्थः, ईक्षा परीक्षणमित्यन्वीक्षा, सा प्रयोजनमस्या इत्यान्वीक्षिकी तर्कविद्या, 'प्रयोजनम्' इति ठक् , तां प्रतीमः जानीमः, प्रतिपूर्वादिणो लट्, द्विरावृत्तषोडशपदार्था द्वात्रिंशद्दन्तपङ्क्तियुगलत्वेन परिणता इत्युत्प्रेक्षार्थः। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारत्वात् आन्वीक्षिक्येव तथा परिणतेत्युक्तं दशनद्विमालीमेवाकलितां मुक्तिकामिति श्लिष्टपदोपात्तेन रूपकत्वेनोत्प्रेक्षायाः सङ्करः ॥ ८२ ॥

नाम-निर्देश तथा लक्षण-निर्देश (पक्षा०—सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षण निर्देश) के अवसरमें दो बार कहे गये सोलह पदार्थोंसे उपलक्षित, जिस सरस्वती देवीके दाँतोंकी दोनों पङ्क्तियोंको (हम) मुक्ति चाहनेवालोंसे सेवित (पक्षा०—गुथी हुई मोती) तर्क विद्या अर्थात् न्यायविद्या समझते हैं। [न्याय शास्त्रके अनुसार—'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान; ये सोलह पदार्थ हैं, इनको नाम तथा लक्षण क्रमसे बार-बार कहनेपर ये बत्तीस हो जाते हैं, वे ही बत्तीस पदार्थ सरस्वती देवीके दाँतोंकी दोनों पङ्क्तियां हैं, जिन्हें मुमुक्षु लोग ग्रहण करते हैं या जो गुथी हुई मोतियोंके समान हैं]॥८२॥

तर्का रदा यद्वदनस्य तर्क्या वादेऽस्य शक्तिः क ? तथाऽन्यथा तैः।
पत्रं क दातुं गुणशालिपूगम् ? क वादतः खण्डयितुं प्रभुत्वम् ॥ ८३ ॥

पुनर्दन्तानेव तर्कत्वेनापि उत्प्रेक्षते, तर्का इति। यद्वदनस्य सम्बन्धिनः रदाः दन्ताः, 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः, तर्का ऊहाख्याः प्रमाणानुमापकज्ञानविशेषाः, तन्मयाः इत्यर्थः, तर्क्याः उत्प्रेक्ष्याः; अन्यत्र—तर्कवत् कर्कशा इत्यर्थः। तथाहि, अस्य वदनस्य, तैः दन्तैस्तर्कैश्च, अन्यथा विना, वादे कथायामभिवदनव्यापारे च, तथा तादृशी, शक्तिः क ? दन्तैस्तर्कैश्च विना वादः कर्त्तुं न शक्यते इत्यर्थः; एवं तर्कैर्विना वादतः वादनिमित्तात्, पत्रं प्रतिवादिने स्वपक्षसमर्थकं पत्रम्, अथवा प्रतिवादिनः प्रतिज्ञापत्रं, दातुं क शक्तिः ? दन्तैर्विना च अदतः भक्षयतः, पत्रं ताम्बूलीदलादिकं, दातुं खण्डयितुं, शक्तिः क वा ? सामर्थ्यं न भवतीत्यर्थः; द्यतेश्च तुमुन्, तर्कैर्विना गुणशालिनां प्रतिभादिगुणवतां वावदूकानां, पूगं वृन्दं, वादतो वादेन, खण्डयितुं भङ्क्तुम्, अन्यत्र—वा इति छेदः, दन्तैर्विना अदतो भक्षयतः, 'पदादयः पृथक् शब्दाः' इति मतेन न विद्यन्ते दतो दन्ता यस्य इत्यदतः दन्तरहितस्य वा, गुणशालि रसाढ्यं, पूगं पूगीफलं, 'पूगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यमरः, खण्डयितुं शकलयितुं, प्रभुत्वं सामर्थ्यं, क वा ? श्लेषध्वनितेयं दन्तानां तर्कपरिणतत्वेन उत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८३ ॥

जिस (सरस्वती देवी) के मुखके दाँतोंको तर्क (न्याय शास्त्र) समझना चाहिये, उन (तर्कों) के विना इस (मुख) की वाद (शास्त्रार्थ, पक्षा०—बोलने या भाषण करते, अथवा—'व और द' इन दो अक्षरोंके उच्चारण करने) में वैसी अनिर्वचनीय शक्ति कहां अर्थात कहां से है ? और वादनिमित्तसे (प्रतिवादीके लिये) पत्र देने अर्थात् उसके ऊपर पत्रालम्बन करने लिये (प्रतिवादीके मतको खण्डन करनेके लिये), (आथवा—खाते हुए पक्षा०—दन्तरहित इस मुखका) गुणों (कषाय आदि गुणों) से शोभमान पत्र (पानके पत्ते) को खण्डन करने (चबाने) के लिये, अथवा—कषायादि गुणोंसे युक्त पूग (सुपारी) को खण्डन करनेके लिये शक्ति कहां है ? । अथवा—वाद (शास्त्रार्थ) से गुणों (विद्वत्ता आदि गुणों) से शोभमान (विद्वानों) के समूहको खण्डन करनेके लिये शक्ति कहांसे है ?) । [न्याय शास्त्रके बिना शास्त्रार्थ करने तथा दाँतोंके विना बोलने या 'वा तथा द' इन दो अक्षरोंका उच्चारण स्थान क्रमशः दन्तोष्ठ एवं दन्त होनेसे दांतोंके बिना उक्त दोनों अक्षरोंको उच्चारण करनेमें मुखकी शक्ति नहीं हो सकती तथा वादमें प्रतिवादीके खण्डन करने या खाते हुए मुखकी कषाय (कसैलापन) आदि गुणयुक्त पत्ते (पानके पत्ते) का, अथवा—कषायादि गुणशाली सुपारी का खण्डन करके, अथवा—विद्वत्तादि गुणशालियों (विद्वानों) के समूहका वाद (शास्त्रार्थ) से खण्डन करनेमें मुखकी शक्ति कहां हो सकती है । अथवा—बिना दाँतवाले मुखकी उक्त गुणशाली पत्रके या सुपारीके खण्डन करनेकी शक्ति कहां हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती । कठोर

दाँतोंके द्वाराही कठोर सुपारी का खण्डन किया जा सकता है ॥ सरस्वती देवीका मुख तर्कशास्त्रसे रचा गया है] ॥ ८३ ॥

सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु ।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम् ॥ ८४ ॥

सपल्लवमिति । व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावात् प्रणीतत्वात्, उभयीभविष्णु महापुराणोपपुराणतां प्राप्तं, 'भुवश्च' इतीष्णुच्, यद्यप्यष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः, तथाऽपि 'पुराणं वैष्णवं चक्रे यस्तं वन्दे पराशरम्' इत्यादि प्रसिद्धमेवमुक्तम्; तत् प्रसिद्धं, मत्स्यपद्मादि मत्स्यपद्मपुराणादिसंज्ञादिः, आदिशब्दात् कूर्मस्कन्दादीनां सङ्ग्रहः; अन्यत्र—मत्स्यपद्मादिसामुद्रिकरेखादिः, आदिशब्दात् ध्वजकुलिशादिसङ्ग्रहः, तैः उपलक्ष्यमाणं निर्दिश्यमानमित्यर्थः, सपल्लवं कथाऽऽख्यायिकादिना सविस्तरं, 'पल्लवं त्वस्त्री प्रकोष्ठे चापि विस्तृतौ' इति वैजयन्ती, अन्यत्र—सह सदृशं पल्लवेन सपल्लवं किसलयसदृशम् । 'अव्ययं विभक्ति—'इत्यादिना सहशब्दस्य गुणीभूतसादृश्यार्थेऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहशब्दस्य सभावः, 'सहसादृश्यसाकल्ययौगपद्यसमृद्धिषु' इति विश्वः, पुराणं मत्स्यपद्मादि, यस्याः सरस्वत्याः, पाणियुग्मं ववृते पाणिपद्मत्वेन परिणतमित्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

व्यास तथा पराशरके द्वारा रचित होनेसे द्विगुणत्व (पुराण तथा उपपुराण भाव) को प्राप्त होनेवाला, मत्स्य तथा पद्म आदि (कूर्म, वराह आदि नाम) से उपलक्ष्यमाण (कहा जानेवाला । पक्षा०—मत्स्य, पद्म आदि (ध्वजा, कुलिश आदि) शुभ लक्षणोंसे युक्त) तथा कथा, आख्यायिका आदिसे युक्त (पक्षा०—शृङ्गार से युक्त । अथवा—पल्लवके समान) पुराण जिस (सरस्वती देवी) की दोनों भुजाएं हैं अर्थात् उक्त गुणवाले पुराणही सरस्वतीकी दोनों भुजाओंके रूपमें परिणत हैं ॥ ८४ ॥

आकल्पविच्छेदविवर्जितो यः स धर्मशास्त्रव्रज एव यस्याः ।
पश्यामि मूर्द्धा श्रुतमूलशाली कण्ठे स्थितः कस्य मुदे न वृत्तः ? ॥८५॥

आकल्पेति । आकल्पं कल्पान्तपर्यन्तं, विच्छेदेन विवर्जितः अविच्छिन्नसम्प्रदायीत्यर्थः; अन्यत्र—आकल्पः अलङ्कारादिः, तद्विच्छेदविवर्जितः तत्सहितः, नित्यभूषित इत्यर्थः, श्रुतिर्वेद एव, मूलं प्रमाणं, तेन शालते; अन्यत्र—श्रुतिमूलाभ्यां कर्णमूलाभ्यां, शालते इति तथोक्तः, 'वेदे श्रवसि च श्रुतिः' इत्यमरः, अथवा—श्रूयते यः स श्रुतिः शब्दः, तस्य ग्रहणे मूलं कारणं, कर्णौ इत्यर्थः, ताभ्यां शालते; कण्ठे स्थितो मुखस्थितः, अन्यत्र—कण्ठोपरि स्थितः, यो धर्मशास्त्राणां मन्वादिस्मृतीनां, व्रजः स एव यस्याः देव्याः, मूर्द्धा वृत्तः संवृत्तः, परिणत इत्यर्थः, अन्यत्र—वृत्तः वर्त्तुलः, मूर्द्धा कस्य मुदे न ? सर्वस्यापि स्यादेवेत्यर्थः, पश्यामि इति उत्प्रेक्षे, अहमिति शेषः ॥ ८५ ॥

जो कल्पान्त तक नाश रहित (पक्षा०—अलङ्कारके विच्छेदसे रहित अर्थात् नित्य अलङ्कार युक्त), तथा वेदमूलक होनेसे (पक्षा०—कर्ण प्रान्तोंसे) शोभनेवाला है, वह धर्मशास्त्र समूहही जिस (सरस्वती देवी) का कण्ठस्थित मस्तक किसके हर्षके लिए नहीं हुआ अर्थात् सबके (अभ्यस्त, पक्षा०—कण्ठ ग्रीवापर स्थित) एवं गोलाकार हर्षके लिए हुआ, ऐसा देखता हूँ ॥ ८५ ॥

भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम् ।
तदर्द्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्ची-निक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ॥ ८६ ॥

अथ नागरलिपेरोङ्काराचरमाश्रित्योत्प्रेक्षते, भ्रुवाविति । विधिः ब्रह्मा, प्रणवस्य, ओङ्कारस्य, दलाभ्याम् उभयप्रान्तरेखाभ्यां, यस्याः देव्याः, भ्रुवौ, यथा तस्य बिन्दुना बिन्द्वाकाररेखया, भाले ललाटे, तमालपत्रं तिलकं, 'तमालपत्रतिलक-चित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः, तस्य प्रणवस्य, अर्द्धचन्द्रेण अर्द्धचन्द्राकाररेखया, विपञ्च्याः वीणायाः, 'वीणा तु वल्लकी विपञ्ची" इत्यमरः, निक्वाणनायै वादनार्थं, कोणधनुः कोणसंज्ञकं धनुराकारं वाद्यसाधनञ्च, 'कोणो वीणादिवादनम्' इत्यमरः, प्रणिन्ये निर्ममे । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । उत्प्रेक्षा ॥ ८६ ॥

ब्रह्माने जिस (सरस्वती देवी) के भ्रूद्वयको प्रणव (नागरी लिपिके अनुसार ॐकार) के दो खण्डोंसे, उस (प्रणव) के बिन्दु अर्थात् अनुस्वारसे ललाटस्थ तमालपत्र अर्थात् तिलकको और उस (प्रणव) के अर्धचन्द्रसे विपञ्ची (सरस्वतीकी 'विपञ्ची' नामक वीणा) के बजानेवाले धनुराकृति 'कोण' (धनुही··) को बनाया है ॥ ८६ ॥

द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्याः कराङ्गुली काञ्चनलेखनीनाम् ।
कैश्यं मसीनां स्मितभाः कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः ॥८७॥

द्विकुण्डलीति । यदीये काये देहे, द्वयोः कुण्डलयोः समाहारो द्विकुण्डली कर्ण-कुण्डलद्वयं, वृत्तायाः वर्त्तुलायाः, समाप्तिलिप्या अवसानरेखायाः, बिन्दुद्वयरूपायाः विसर्गाकाराया इति यावत्, सारैः श्रेष्ठांशैः, निरमायि निर्मिता, माङो लुङि 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युगागमः, लेख्यान्ते समाप्तिव्यञ्जको विसर्गः लिख्यते, स एव कुण्डलद्वयत्वेन परिणत इत्यर्थः । विसर्गस्य रूपं यथा—'शृङ्गवत् बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत् । नेत्रवत् कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः ।' तथा च करा-ङ्गुली कराङ्गुल्यः, जातावेकवचनम् , काञ्चनलेखनीनां सौवर्णलेखनीनां सारैः, तथा केशानां समूहः कैश्यं, 'केशाश्वाभ्यां यञ्-छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः, मसीनां सारैः, तथा स्मितभा मन्दहासकान्तिः, कठिन्याः खटिकायाः, 'खटिकायान्तु कठिनी' इति विश्वः । सारैः निरमायि इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

(ब्रह्माने) जिस (सरस्वती) के शरीरमें दोनों कुण्डलोंको गोलाकार वर्णसमाप्तिसूचक रेखा (विसर्ग, या मातृका ग्रन्थकी समाप्ति लिपि) के सारोंसे, हाथकी अङ्गुलियोंको सोनेकी

कलमके सारोंसे, केश-समूहको स्याहियोंके सारोंसे और स्मित-कान्तिको खड़िया (श्यामपट=ब्लैकवोर्डपर लिखनेका चॉक) के सारोंसे बनाया है ॥ ८७ ॥

या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव ॥ ८८ ॥

येति । या देवी, सोमसिद्धान्तः कापालिकदर्शनम्, अथ च—सोमस्य इन्दोः, सिद्धान्तः अखण्डरूपश्च, तन्मयम् आननं यस्याः सा इव स्थिता; तथा आत्मानो न सन्तीति वादः शून्यात्मतावादः माध्यमिकबौद्धविशेषदर्शनं, तन्मयं तदेव, उदरं यस्याः सा तादृशीव, अथ च—शून्यात्मता निस्वरूपता, तद्वादो नास्तिवादः, तन्मयमुदरं यस्याः सा अतिकृशोदरीत्यर्थः, 'नासिकोदर—'इत्यादिना विकल्पादनीकारः, विज्ञानस्य निराकारविज्ञानमात्रस्य, सामस्त्यं साकल्यम् इति योगाचारबौद्धविशेषमतं, तन्मयं तदेव, अन्तरं यस्याः सा इव, अथ च—विज्ञानसामस्त्यमर्थविशिष्टज्ञानसम्पत्तिश्च, तन्मयमन्तरं यस्याः सेव; तथा साकारता साकारविज्ञानवादी सौत्रान्तिकः ज्ञानानां नीलपीताद्याकारता, तत्सिद्धिस्तन्मयाः, अथ च—शोभनाकारतासम्पत्तिश्च तन्मयाः अखिलाः सर्वाः यस्याः सेव, स्थितेति शेषः, इति सर्वत्रोत्प्रेक्षा; एवम्भूता सरस्वती मध्येसभम् अवततार इति ७४ श्लोकोक्तक्रियापदेन अन्वयः ॥ ८८ ॥ कुलकम् ।

जो (सरस्वती देवी) मानो सोमसिद्धान्त (कापालिक दर्शन, पक्षा०—पूर्ण चन्द्र) रूप मुखवाली, शून्यतावाद (माध्यमिक दर्शन, पक्षा०—अभाववाद) रूप उदरवाली, विज्ञानसामस्त्य (निराकार विज्ञानमात्रवादी वाह्यालापी योगाचार, पक्षा०—विशिष्ट ज्ञान) रूप चित्तवाली और साकारतासिद्ध (साकारज्ञानवादी सौत्रान्तिक ज्ञान नील-पीतादि-रूपतासे सिद्ध, पक्षा०—सुन्दर आकृति) रूप सम्पूर्ण अवयवोंवाली हुई। [जिस सरस्वतीका मुख पूर्ण चन्द्रके समान था, कटि अत्यन्त पतली थी, वह स्वयं विशिष्ट ज्ञानयुक्त एवं परमसुन्दरी थी] ॥ ८८ ॥

भीमस्तयाऽगद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य ।
मया निगाद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रञ्च यथावदेषाम्[1] ॥ ८९ ॥

भीम इति । अथ तया देव्या सरस्वत्या, भीमो भीमभूपतिः, अगद्यत उक्तः । किमिति ? हे राजन् ! इयं ते तव, मोदितुं हर्षं कर्त्तुं, वेला किल समयः खलु; 'कालसमयवेलासु तुमुन्' तत्तस्मात्, विषद्य खेदित्वा, अलं विषादो न कर्त्तव्य इत्यर्थः, 'अलंखल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः । कुतः, ? एषां जगतीपतीनां राज्ञां, गोत्रं कुलं नाम च, 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च' इति विश्वः, चरित्रञ्च मया निगाद्यं वक्तव्यम्, अहं वक्ष्यामीत्यर्थः । 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमद' इत्यादिसूत्रे अनुपसर्ग एव यतो विधानात् ॥

१. 'विचित्रमेषाम्' इति पाठान्तरम् ।

उस (सरस्वती देवी) ने राजा भीमसे कहा—'निश्चित रूपसे यह तुम्हारे हर्षका समय है, इस कारण विषाद (१०।६८) मत करो, (क्योंकि) इन राजाओंके यथायोग्य अर्थात् ठीक-ठीक (पाठा०—विचित्र) गोत्र तथा चरित्रको मैं कहूँगी । [पहले (१०।६८) अनेक लोकोंसे आये हुए एवं देवोंसे वर्णनीय कुल तथा चरित्रवाले राजाओंको देखकर राजा भीम विषादयुक्त हो गये कि इनके गोत्र तथा चरित्रका ठीक-ठीक वर्णन तो मनुष्यसे हो ही नहीं सकता और बिना ठीक-ठीक वर्णन किये दमयन्ती किस प्रकार उत्तम-हीनका ज्ञानकर तदनुसार अपने योग्य वरका निर्णय कर सकेगी' इस विषादको दूर करनेके लिए सरस्वती देवीको भक्तवत्सल विष्णु भगवानने बुलाकर कहा कि—'सभामें आये हुए राजाओंके कुल-चरित्रका तुम वर्णन करो' (१०।७१-७२), तदनुसार सरस्वती देवीने सभामें पधारकर राजासे उक्त वचन कहा] ॥ ८९ ॥

अविन्दता[1]सौ मकरन्दलीलां मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे ।
अत्रावतीर्णा गुणवर्णनाय राज्ञां तदाज्ञावशगाऽस्मि काऽपि ॥ ९० ॥

का त्वम् ? किमर्थमागता च ? इत्याकाङ्क्षायामाह, अविन्दतेति। असौ प्रसिद्धा, मन्दाकिनी यस्य पुंसः, चरणारविन्दे पादपद्मे, मकरन्दलीलां पद्ममधुविलासम्, अविन्दत, तस्य पुंसः श्रीविष्णोः, आज्ञाया वशगा वशवर्त्तिनी, काऽपि या काचित्, अस्मि अहं, राज्ञां गुणवर्णनाय अत्र स्वयंवरसभायाम्, अवतीर्णा, अस्मि इति शेषः, किं विशेषचिन्तया ? इति भावः ॥ ९० ॥

इस प्रसिद्ध गङ्गाने जिसके चरणकमलमें मकरन्द (पद्म-पराग) के विलासको प्राप्त किया है, उस (विष्णु) की आज्ञाके वशवर्तिनी कोई मैं यहांपर राजाओंके गुणके वर्णनके लिए आयी हूँ ॥ ९० ॥

तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य ।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ॥ ९१ ॥

तत्कालेति । लोकपालैः इन्द्रादिभिः सह, एकधुरं वहतीत्येकधुरीणः समानस्कन्धः, 'एकधुराल्लुक् च' इति खप्रत्ययः लोकपालसदृश इत्यर्थः, एष नृपतिर्भीमः, अवाप्ताम् अकस्मात् सभायां प्राप्तां, तां वाग्देवीं, तत्काले वेद्यैः वेदयितुं शक्यैः, शकुनं शुभाशंसिनिमित्तं, 'शुभाशंसिनिमित्ते च खगे च शकुनं विदुः' इति शाश्वतः, स्वरः नासानिलः, आद्यशब्दादक्षिस्पन्दादिसङ्ग्रहः, तैरुपायैः, आप्तां हितां, प्रतीत्य निश्चित्य, तस्यै उचितां सपर्यां पूजां, दिदेश समर्पयामास ॥ ९१ ॥

लोकपात्र (इन्द्र आदि) के एक धुराको धारण करनेवाले (इन्द्रादि लोकपालोंके समान) इस राजा (भीम) ने उस समयके जानने योग्य शकुन (पक्षी आदिका शब्द)

---

१. 'विन्दत्यसव्ये' इति पाठान्तरम् ।

तथा स्वर (नासिका स्वर) आदि (दक्षिणनेत्रका स्फुरण आदि) के द्वारा आयी हुई उसे हितकारिणी मानकर उसकी पूजा की ॥ ९१ ॥

दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनामाकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम् ।
ततः क्षितीशः स निजां तनूजां मध्येमहाराजकमाजुहाव ॥ ९२ ॥

दिगिति । ततो देवीपूजानन्तरं, सः क्षितीशः भीमः, दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनाम् आकर्षकौतूहले आकर्षकर्मणि, सिद्धविद्यां सिद्धमन्त्रस्वरूपाम्, अमोघवृत्तिमित्यर्थः, सौन्दर्येण सर्वाकर्षणकारिणीमिति भावः, निजां तनूजां मध्येमहाराजकं महतो राजसमूहस्य मध्ये, आजुहाव आहूतवान्, ह्वयतेर्लिटि 'अभ्यस्तस्य च' इति द्विर्भावात् प्राक् सम्प्रसारणे रूपसिद्धिः; भीमः सभायां दमयन्तीम् आनयामास इति भावः ॥ ९२ ॥

इस (सरस्वती देवी की पूजा करने) के बाद उस राजाने भिन्न-भिन्न दिशाओंसे राजाओंके आकृष्ट करनेके कौतूहलमें (मन्त्रादि द्वारा) सिद्ध विद्यारूपा अर्थात् अपने सौन्दर्यके द्वारा विभिन्न दिशाओंसे राजाओंको आकृष्ट करनेमें मन्त्रसिद्ध विद्याके समान अपनी पुत्री (दमयन्ती) को महाराजाओंके बीचमें बुलाया ॥ ९२ ॥

दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु ।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम् ॥ ९३ ॥

अथ षोडशश्लोक्या दमयन्तीं वर्णयति, दासीष्वित्यादि । कीदृशम् ? नासीरे चरन्तीति नासीरचरीषु अग्रेसरीषु, चरेष्टः, टित्वात् ङीप्, दासीषु परिचारिकासु, वीक्षितासु सतीषु, जातम् उत्पन्नं, क्रमेण आलिषु सखीषु, वीक्षितासु स्फीतं प्रवृद्धं, 'स्फायः स्फी निष्ठायाम्' इति स्फीभावः, अथानन्तरं, रूपोत्थं सौन्दर्यजन्म, अवलोककानां प्रेक्षकाणाम्, अद्भुताब्धिं विस्मयसागरं, स्वाङ्गेषु दमयन्त्या अवयवेषु, वीक्षितेषु सत्सु उद्वेलयन्तीम् उद्वेलं कुर्वतीं, वेलामतिलङ्घयन्तीमित्यर्थः, भैमीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः इति १०८ श्लोकोक्तेन अन्वयः। उद्वेलशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अत्र एकस्मिन्नद्भुताब्धौ क्रमेणानेकेषां जातत्वस्फीतत्वोद्वेलत्वानां वृत्तिकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः; 'एकस्मिन्ननेकमनेकस्मिन्नेकम्' इति लक्षणात् ॥

(यहांसे १६ श्लोकों तक (१०।९३-१०८) दमयन्तीका वर्णन करते हैं, अतः इन श्लोकोंका '···पपावपाङ्गैरथ राजराजिः (१०।१०८)' श्लोकस्य क्रियापदके साथ अन्वय है) आगे चलनेवाली दासियोंमें उत्पन्न, क्रमशः (इसके उपरान्त क्रमसे) देखी गयी सखियोंमें बढ़े हुए और अनन्तर अपने (दमयन्तीके) अङ्गोंमें सौन्दर्यजन्य देखनेवालोंके आश्चर्य-समुद्रको बढ़ाती हुई (दमयन्तीको राजसमूहने कटाक्षोंसे देखा)—॥ ९३ ॥

स्निग्धत्वमायाजललेपलोप-सयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्त्ति-स्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ॥ ९४ ॥

स्निग्धत्वेति । पुनः किम्भूताम् ? स्निग्धत्वाय मासृण्यगुणाय, मायाजलं जलगर्भताऽऽख्यो दोषः, 'रागस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जलगर्भता । सर्वरत्नेष्वमी पञ्च दोषाः साधारणा मताः ॥' इति वाग्भटः । तथा लेपः वर्णोत्कर्षकारी द्रव्यविशेषसंयोगः, तयोः लोपः अभावः, ताभ्यां सयत्नानि कृतप्रयासानि, कथमपि तानि अनङ्गीकुर्वाणानि इत्यर्थः, यानि रत्नानि, उपलक्षणमेतत्, गुणसम्पत्तिदोषविरहाभ्यां शुद्धानीत्यर्थः, यती प्रयत्ने इति धातोः 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इति इण्प्रतिषेधः, तेषां रत्नानाम् अंशुमृजा किरणप्रसादः, सेव अंशुकाभा वस्त्रप्रभा यस्यास्तां, तथा नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्त्तिस्वच्छायम् आभरणवज्रप्रभाम्बुगतस्वप्रतिबिम्बं, 'विभाषा सेना' इत्यादिना छायाशब्दस्य नपुंसकत्वम्, तेन सच्छायं सवर्णं, निजालिजालं स्वसखीकुलं यस्यास्ताम् । अत्र भूषामणिप्रभाझरमग्नेन स्वप्रतिबिम्बेन सह सखीजनसादृश्योत्प्रेक्षया तासामपि तत्समानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ॥ ९४ ॥

चिकनाहट, कृत्रिम जल तथा लेप (माँड़ी-कलप) के अभावमें प्रयत्नशील रत्नोंकी विशुद्ध किरण के समान वस्त्रवाली (अथवा—चिकनाहटके लिये कृत्रिम जल तथा लेपके अभावार्थ...) और भूषणोंके हीराओंकी कान्तिरूपी जलके मध्यगत (प्रतिबिम्बित) समान कान्तिवाली सखियोंके समूहवाली (दमयन्तीको कटाक्षोंसे राजसमूहने देखा) । [दमयन्तीके वस्त्रकी चिकनाहट कृत्रिम जल तथा लेपके बिना ही रत्नप्रभाके जलके द्वारा बनी हुई थी और उसके भूषणोंमें जड़े गये हीराओंमें दमयन्तीके समान सौन्दर्यवाली सखियोंके समूहका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, ऐसी दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा]॥

विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च ।
रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णे रहः किञ्चिदिवोच्यमानाम् ॥ ९५ ॥

विलेपनेति । पुनः किम्भूताम् ? विलेपनस्य चन्दनाद्यङ्गरागस्य, आमोदेन सौरभेण, मुदा प्रीत्या, आगतेन, तथा तस्याः दमयन्त्याः, कर्णपूरोत्पलं सर्पतीति तत्सर्पिणा तद्गन्धाकृष्टेन च, रतीशदूतेन कामसन्देशहारकेण, तदुद्दीपकेनेत्यर्थः, मधुव्रतेन भ्रमरेण, कर्णे किञ्चित् रहः रहस्यं, नल एव सभ्येषु सुन्दरतमः अतः स एव वरणीय इत्यादिरूपम्, उच्यमानामिव कामदेवसंदिष्टं किमप्युपदेश्यमानामिव स्थिताम् इत्युत्प्रेक्षा । एतेन तस्यास्तदा किलकिञ्चितादिश्रृङ्गारचेष्टाविर्भावो व्यज्यते॥

अङ्गराग (चन्दन-कर्पूरादिका लेप) की सुगन्धिसे उत्पन्न हर्षसे आया हुआ, उस (दमयन्ती) के कर्णभूषण-कमलके पास उड़ता हुआ कामदेवका दूत भ्रमर कानमें मानो कुछ (गुप्त काम-सन्देश कह रहा था (ऐसी दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) ॥

विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलमीक्षमाणाम् ।
स्मरस्वचापभ्रमचालिते नु भ्रुवौ विलासात् वलिते वहन्तीम् ॥ ९६ ॥

विरोधीति । पुनः किम्भूताम् ? विरोधिवर्णानां श्वेतकृष्णादिनानावर्णानाम्,

आभरणाश्मनां भूषणमणीनां, या भासः तासां, मल्लाजिकौतूहलं मल्लयुद्धकौतुकं, परस्पराक्रमणसंरम्भमिति यावत्, ईक्षमाणां, पुनर्विलासात् वलिते स्त्रीस्वभावाङ्गीलाचलिते, तत्रोत्प्रेक्षा-स्मरेण तुल्यतया स्वचापभ्रमाच्चालिते नु आदातुं कम्पिते इव स्थिते इत्यर्थः; चल कम्पने इति मित्त्वेऽपि 'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गात् वा' इति विकल्पनाद्ध्रस्वाभावः, एवम्भूते भ्रुवौ वहन्तीं धारयन्तीम् ॥ ९६ ॥

विरुद्ध रङ्गोंवाले भूषणोंमें जड़े गये रत्नोंकी कान्तियोंके मल्लयुद्ध (कुश्ती) के कौतुकको अर्थात् अनेक रङ्गोंके भूषण-जटित रत्नोंकी कान्तियोंके परस्पर मिश्रणको कौतुकके साथ देखती हुई और मानो कामदेवके द्वारा अपने धनुषके भ्रमसे सञ्चालित (स्त्री-स्वभावजन्य) विलाससे टेढ़े किये गये भ्रूद्वयको धारण करती हुई (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)। [दमयन्तीके भूषणोंमें अनेक परस्पर विरुद्ध रङ्गोंके रत्न जड़े गये थे, उनकी कान्ति परस्परमें मिलकर चाकचिक्य उत्पन्न करती थी, वह एक प्रकार उनके मल्ल-युद्धके समान मालूम पड़ता था उसे दमयन्ती देखती थी तथा विलासपूर्वक उसका कटाक्ष कामदेवद्वारा चलाये गये धनुषके समान प्रतीत होता था अर्थात् उसका कटाक्ष देखकर दर्शक काम-पीड़ित हो जाते थे] ॥ ९६ ॥

सामोदपुष्पाशुगवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालाम् ।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम् ॥ ९७ ॥

सामोदेति । पुनः किम्भूताम् ? सामोदम् अतिमनोहरतदङ्गरूपवस्तुलाभेन सहर्षं यथा तथा, पुष्पाशुगेन कामेन, वासितम् अधिष्ठितम्, अङ्गं वपुर्यस्यास्ताम्, अन्यत्र-सामोदपुष्पाणि सुगन्धिकुसुमानि, आशुगो मलयानिलश्च, तैः वासिताङ्गीं सुरभीकृताङ्गीम्, 'आमोदो हर्षगन्धयोः' 'आशुगौ वायुविशिखौ' इति विश्वामरौ, पुनः किशोरशाखाः कोमलाङ्गुलयः, अग्रशया अग्रपाणयो यासां तादृश्यः, आलिमालाः सखीपङ्क्तयो यस्यास्तां, 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः अन्यत्र—किशोरशाखानां नवपल्लवानाम्, अग्रेषु ये शेरते इति तच्छायाः, 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच् प्रत्ययः, तादृश्यः अलिमाला भृङ्गश्रेणयः यस्यां तां, तैः राजभिः कल्पद्रुमैरपि सर्वाभिलाषपूरकैरपीति भावः; अभिलष्यमाणां वसन्तलक्ष्मीमिव, स्थितामिति शेषः; यथा सर्वाभिलाषपूरकैरपि कल्पवृक्षैर्वसन्तलक्ष्मीरपेक्ष्यते तद्वद्राजभिरपीति सात्त्विकोक्तिः॥

हर्षयुक्त कामदेवसे अधिष्ठित (संयुक्त) शरीरवाली (पक्षा०—गन्धयुक्त पुष्प तथा मलयानिल, अथवा-गन्धयुक्त पुष्पोंकी हवासे सुवासित शरीरवाली) और पतली-पतली अङ्गुलियोंवाले हाथोंसे युक्त सखियोंके समूहवाली (पक्षा०—पतली-पतली डालियों अर्थात् टहनियोंके अग्रभाग (फुनगी) पर स्थित भ्रमरोंके समूहवाली) कल्पद्रुमोंसे भी अभिलषित वसन्तलक्ष्मीके समान (याचकोंके लिये) कल्पद्रुमरूप) राजाओंसे चाही जाती हुई (उस दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)॥ ९७ ॥

पीतावदातारुणनीलभासां देहोपलेपात् किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैण-नाभीविलेपान् पुनरुक्तयन्तीम् ॥ ९८ ॥

पीतेति । पुनः किम्भूताम् ? पीता गौराः, अवदाताः शुक्लाः, अरुणा रक्ताः, नीलाः कृष्णाश्च, भासो दीप्तयो येषां तेषां, मणीनां किरणैः देहस्य शरीरस्य, उपलेपात् अनुलेपनात्, गोरोचनादिचतुष्टयलेपान् पुनरुक्तयन्तीं सावर्ण्यात् पुनरुक्तान् कुर्वतीम् । एणनाभिः कस्तूरी । दमयन्त्याः पीतादिमणिप्रभया गोरोचनाद्यनुलेपनानां विफलत्वं साधितमिति भावः । अत्र गोरोचनाद्यनुलेपचतुष्टयस्य यथासंख्यसम्बन्धेन पीतादिमणिकिरणकैतवकथनात् यथासंख्यसङ्कीर्णसामान्यालङ्कारः । लक्षणमुक्तम्॥९८॥

पीली, श्वेत, लाल तथा नीली कान्तियोंवाले रत्नोंके किरणोंसे शरीरपर लेप होनेके कारण अर्थात् दमयन्तीके शरीरके ऊपर उक्त चार रङ्गोंवाले रत्नोंकी कान्ति पड़नेसे गोरोचन, चन्दन, कुङ्कुम और कस्तूरीके विलेपनों (अङ्गरागों) को पुनरुक्त करती (दुहराती) हुई (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) । [यहांपर क्रमशः पीले रंगवाले पुखराजसे गोरोचनके, श्वेत रङ्गवाले स्फटिक या हीरेसे चन्दनके, लाल रङ्गवाले माणिक्यसे कुङ्कुमके और नीले रङ्गवाले नीलमसे कस्तूरीके लेपको पुनरुक्त किया जाना समझना चाहिये] ॥९८॥

स्मरं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्दधतीं नलस्य ।
तस्मै स्वभूषादृषदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम् ॥ ९९ ॥

स्मरमिति । पुनः किम्भूताम् ? प्रसूनेन पुष्पमयेन, शरासनेन धनुषा, अतिकोमलेन पुष्पचापेन करणेन इत्यर्थः, नलस्य जेतारं जैत्रं, स्मरम् अश्रद्दधतीं स्मरः पुष्पमयकोमलधनुषा नलं कथमपि जेतुं न शक्नुयादिति अविश्वसतीम्, अत एव तस्मै स्मराय, स्वभूषादृषदंशुभिः निजाभरणमणिकिरणैः, शिल्पः निर्माणं यस्य तादृशं, तन्निर्मितमित्यर्थः, बलद्विषः कार्मुकम् इन्द्रचापम्, अर्पयन्तीम्, इन्द्रधनुरिव नानावर्णा तस्या आभरणरत्नशोभेति भावः । वीरधौरेयः नलः पुष्पचापदुर्जय इति मत्वा नलजयाय स्वाभरणमणिकिरणकल्पितम् ऐन्द्रं धनुः दृढीयस्तस्मै कन्दर्पाय ददानामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

पुष्पमय बाणोंसे कामदेवको नलका विजय कर सकनेवाला नहीं मानती हुई, अत एव अपने भूषणके पत्थरों (रत्नों) के किरणोंसे बने हुए इन्द्रधनुषको अर्पण करती हुई (दमयन्तीको राजसमूहने कटाक्षोंसे देखा) । [नल दुर्जेय योद्धा हैं, अत एव कोमलतम पुष्पमय बाणोंसे कामदेव उनको नहीं जीत सकेगा और इस कारण वे बिना कामवशीभूत हुए हमें नहीं प्राप्त हो सकेंगे, अत एव उनको जीतनेके लिये दमयन्तीने अपने भूषणोंमें जड़े गये पत्थररूप रत्नोंकी किरणोंसे बने हुये होनेसे अत्यन्त दृढतम इन्द्रधनुष कामदेवके लिये समर्पण करती हुई-सी मालूम पड़ती है । दमयन्तीके भूषणोंमें जड़े गये रत्नोंकी कान्ति इन्द्रधनुषके समान रंग-विरंगी थी] ॥ ९९ ॥

विभूषणेभ्यो वरमंशुकेषु ततो वरं सान्द्रमणिप्रभासु ।
सम्यक् पुनः क्वापि न राजकस्य पातुं दृशा धातृकृतावकाशाम् ॥१००॥

विभूषणेभ्य इति । पुनः किम्भूताम् ? विभूषणेभ्यो वरं प्रथमं विभूषणेषु आसज्य ततोऽधिकं यथा तथा, अंशुकेषु वस्त्रेषु, सक्तया इति शेषः, ततो वरमधिकं, सान्द्रमणिप्रभासु, सक्तया इति शेषः, राजकस्य राजसमूहस्य 'गोत्रात्त—' इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः, दृशा दृष्ट्या, सम्यक् पातुं पुनः स्थैर्येण भूषणादिकं पुनः ईक्षितुं, क्वापि कुत्रापि, न धातृकृतावकाशां धात्रा विधात्रा, कृतोऽवकाशो दर्शनावकाशो यस्या एवम्भूतां, दमयन्त्याः किमपि अङ्गं स्थिरतया द्रष्टुं राजकदृष्टेरवकाशो विधात्रा न विहितः इत्यर्थः, उत्तरोत्तरविषयाकृष्टा पूर्वपूर्वविस्मरणेन राजकदृष्टिर्न क्वापि क्षणमवस्थितेति भावः । अत्र विभूषणानामुत्तरोत्तरोत्कर्षद्वारेण राजकदृष्टेः क्रमेण विभूषणाद्यनेकाधारसम्बन्धोक्तेः सारालङ्कारः; 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः' ॥ १०० ॥

भूषणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ विभूषणोंमें, उन विभूषणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ वस्त्रोंमें तथा उन वस्त्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ सघन मणिकान्तियोंमें आसक्त राजाओंकी दृष्टि कहीं भी अच्छी तरह पान करने अर्थात् देखनेके लिये भाग्य (या ब्रह्मा) के द्वारा प्राप्त अवकाशवाली नहीं हुई। (उक्त ऐसी दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) अथवा—'नारायणी' टीकाके अनुसार 'अवरम्' पदच्छेद करके—विभूषणोंके बाद वस्त्रोंमें, उन वस्त्रोंके बाद सघन मणिकान्तियोंमें तथा फिर कहीं भी अर्थात् दमयन्तीके किसी अवयवको भी अच्छी तरह…)। [जब कि दमयन्तीके श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम विभूषण, वस्त्र तथा सघन मणिकान्तियोंमें-से किसीको भी क्षणमात्र स्थिर होकर राजा लोग अच्छी तरह नहीं देख सके तब उसके शरीरको अच्छी तरह देखना तो बहुत दूरकी बात है। अथवा—विभूषण, वस्त्र, मणिकान्ति-समूहसे आच्छादित दमयन्ती-शरीरको राजालोग नहीं देख सके। अथवा—विभूषणादिसे आच्छादित दमयन्ती-शरीरको यथावत् नहीं देख सकनेके कारण राजाओंकी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, आच्छादित वस्तुको देखनेके लिये उत्कण्ठाका बढ़ना स्वाभाविक होता है]॥ १०० ॥

प्राक् पुष्पवर्षैर्वियतः पतद्भिर्द्रष्टुं न दत्तामथ तद्द्विरेफैः ।
तद्भीतिभुग्नेन ततो मुखेन विधेरहो ! वाञ्छितविघ्नयत्नः ॥ १०१ ॥

प्रागिति । पुनः किम्भूताम् ? प्राक् प्रथमं, वियतः अम्बरात्, पतद्भिः पुष्पवर्षैः दमयन्त्या रूपदर्शनेन तदुपरि सन्तुष्टदेवगणमुक्तकुसुमवर्षणैः, अथ अनन्तरं, तद्द्विरेफैः तत्पुष्पाकृष्टभृङ्गैः, ततोऽनन्तरं, तद्भीतिभुग्नेन भृङ्गभयनम्रेण, मुखेन च द्रष्टुं न दत्ताम् एतैः प्रतिबद्धदर्शनामित्यर्थः, राजकस्येति शेषः । तथा हि, विधेः दैवस्य, वाञ्छितविघ्नयत्नः वाञ्छितार्थविघातव्यसनिता, अहो ! आश्चर्यरूपः, इत्यर्थान्तर-

न्यासः एकस्या राजदृष्टेः क्रमेण भैमीदर्शनप्रतिबन्धकपुष्पवृष्ट्याद्यनेकाधारसम्बन्धोत्थेन पर्यायेण सङ्करः ॥ १०१ ॥

पहले (दमयन्तीके अतिशयित सौन्दर्यको देखकर सन्तुष्ट देवों द्वारा) आकाशसे की हुई पुष्पवृष्टियोंसे, इसके बाद (उन पुष्पोंके गन्धसे आकृष्ट होकर) आनेवाले भ्रमरोंसे और उन (भ्रमरोंके काटने) के भयसे फेरे (दूसरी ओर घुमाये) हुए मुखसे राजसमूहके नहीं देखने दी गयी (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा); खेद है कि दैव अभिलषितमें विघ्न करनेका प्रयत्न किया करता है ॥ १०१ ॥

एतद्वरं स्यामिति राजकेन मनोरथातिथ्यमवापिताय ।
सखीमुखायोत्सृजतीमपाङ्गात् कर्पूरकस्तूरिकयोः प्रवाहम् ॥ १०२ ॥

एतदिति । पुनः किम्भूताम् ? एतत् सखीमुखं, वरं स्याम् अस्माकम् एतन्मुखत्वे सति भैमीदृष्टिलाभः सेत्स्यति अतो राजत्वापेक्षया अहं तदात्मको वरं भवेयं, 'प्रार्थनायां लिङ्' इति राजकेन राजसमूहेन, मनोरथस्य आतिथ्यम् अतिथित्वम् , अभिलाषविषयताम् इति भावः, ब्राह्मणादित्वात् ष्यङ्प्रत्ययः। अवापिताय प्रापिताय, सखीमुखाय अपाङ्गात् नेत्रप्रान्तात् , कर्पूरस्य कस्तूरिकायाश्च स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ईकारस्य ह्रस्वः, प्रवाहं श्वेतकृष्णकान्तिप्रवाहम् , उत्सृजतीं प्रवर्त्तयन्तीं, सखीमुखमेव कटाक्षैः वीक्षमाणामित्यर्थः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। दृष्टीनां सितासितत्वेन निर्देशः, अत एव विषयनिगरणेन विषयिमात्रोपनिबन्धात् भेदे अभेदरूपातिशयोक्त्यलङ्कारः ॥ १०२ ॥

'मैं दमयन्तीकी सखीका श्रेष्ठ मुख बन जाऊँ, ऐसा राज-समूहके द्वारा मनोरथके अतिथित्वको प्राप्त कराये गये अर्थात् ऐसा चाहे गये सखीके मुखके लिए नेत्र-प्रान्तसे कर्पूर तथा कस्तूरीके प्रवाहको छोड़ती हुई अर्थात् उक्त प्रकारके सखी-मुखको देखती हुई (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)। [दमयन्तीके सखियोंका मुख बने बिना मुझे दमयन्तीके कटाक्षावलोकनका सुख नहीं मिल सकता, अत एव 'मैं दमयन्तीकी सखीका मुख बन जाऊँ' ऐसी इच्छा राज-समूहने की, उस सखी-मुखको दमयन्ती श्वेत-नील कटाक्षसे देखती थी, ऐसी दमयन्तीको राजसमूहने देखा] ॥ १०२ ॥

स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः ।
आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैर्मदं नुदन्तीं हृदि कौमुदीनाम् ॥ १०३ ॥

स्मितेति । पुनः किम्भूताम् ? आनन्दितानि मां प्रतीयं प्रसन्नेति बुद्ध्या हृष्टानि, अन्यत्र-विकसितानि; उर्वीन्द्रमुखारविन्दानि राजमुखरूपपद्मानि यैस्तैः, अत एव स्मितेच्छ्वोः ईषद्धास्योद्युक्तयोः, दन्तच्छदयोः अधरौष्ठयोः, कम्पेन किञ्चिद्दिगम्बरीभूतैः ईषत्प्रकाशीभूतैः, यद्वा-दिशाम् अम्बरीभूतैः आच्छादनस्वरूपैः, दिग्व्यापिभिरित्यर्थः, रदांशूनां दन्तकान्तीनां, वृन्दैः कौमुदीनां हृदि, स्थितमिति शेषः, मदं

गर्वं, नुदन्तीं खण्डयन्तीं, कौमुदीमधुरमन्दहासामित्यर्थः, कौमुदी हि पद्मविकासने असमर्थाः, एतैः रदांशुवृन्दैस्तु नृपमुखपद्मानि विकासितानि इति भावः, व्यतिरेकालङ्कारश्च ॥ १०३ ॥

राजाओंके मुखकमलको आनन्दित करनेवाले, मुस्कुरानेके इच्छुक ओष्ठद्वय (या अधर) के हिलानेसे थोड़ा दिखलायी पड़नेवाले दाँतोंके किरणसमूहोंसे चाँदनीके हर्ष (पाठा०—गर्व) को खण्डित करती हुई [दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा । अथवा—······ पड़नेवाले दाँतरूप सूर्य-समूहोंसे । इस पक्षमें सूर्य-समूहद्वारा कमलोंको आनन्दित करना तथा चाँदनीके हर्ष (या गर्व) को नष्ट करना उचित ही है ॥ चाँदनी से भी अधिक सुन्दर मन्दहासवाली दमयन्ती थी] ॥ १०३ ॥

प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन यल्लग्नतन्निश्चललोकनेत्राम् ।
हाराग्रजाग्रद्गरुडाश्मरश्मि-पीनाभनाभीकुहरान्धकाराम् ॥ १०४ ॥

प्रत्यङ्गेति । पुनः किम्भूताम् ? प्रत्यङ्गं प्रत्यवयवं, ये भूषाच्छमणयः अलङ्कारस्थनिर्मलरत्नानि, तेषां छलेन येषु अङ्गेषु लग्नानि तेषु अङ्गेषु निश्चलानि, हर्षपारवश्यादिति भावः; खञ्जकुब्जवत् समासः, लोकनेत्राणि दर्शनोत्सुकजननेत्राणि यस्यास्तामिव; वस्तुतः नानाविधरत्नालङ्कारभूषितामिति भावः । अत्र दमयन्तीदर्शनोत्सुकानां नेत्राण्येवैतानि, न तु रत्नानीति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । पुनः हाराग्रे जाग्रतः प्रकाशमानस्य, गरुडाश्मनः गरुत्मद्रत्नस्य, रश्मिभिः पीनाभं सान्द्रप्रभं, नाभीकुहरान्धकारं यस्यास्ताम् । अत्र मरकतच्छायस्यान्धकारैः साम्योक्तेः सामान्यालङ्कारः॥

प्रत्येक अङ्गोंके भूषणोंके निर्मल रत्नोंके व्याजसे जहाँ पड़ी वहींपर निश्चल दर्शकनेत्रोंवाली तथा मोतियोंके हारके अग्रभागमें देदीप्यमान गारुत्मत मणिकी आभासे परिपुष्ट नाभिरूपी गुफाके अन्धकारवाली (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)। [दमयन्तीके प्रत्येक अङ्गोंपर जहां दृष्टि पड़ती थी–वहीं निश्चल हो जाती थी, उसके प्रत्येक अङ्गके भूषणोंमें जड़े गये निर्मल रत्न ही मानो दर्शकोंके नेत्र हों ऐसा प्रतीत होता था, आशय यह है कि दमयन्तीके प्रत्येक अङ्ग रत्नोंसे जड़े गये भूषणोंसे अलकृत थे, जो दर्शकोंके निश्चल नेत्रसे प्रतीत हो रहे थे । और हारके अग्रभागमें गारुत्मतमणिके द्वारा दमयन्तीकी गम्भ र नाभिका अन्धकार और अधिक वढ़ रहा था दमयन्तीकी नाभि अत्यन्त गहरी थी] ॥ १०४ ॥

तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दु-प्रभाशिरःकम्परुचोऽभिनेतुम् ।
विपाण्डुतामण्डितचामराली-नानामरालीकृतलास्यलीलाम् ॥ १०५ ॥

तदिति । पुनः किम्भूताम् ? तस्याः भैम्याः, गौरसारस्मितेन विशदोत्कृष्टमन्दहासेन, विस्मितायाः विस्मयाविष्टायाः, इन्दुप्रभायाः चन्द्रिकायाः, शिरःकम्परुचोऽभिनेतुम् , अनुकर्त्तुमिव; इत्युत्प्रेक्षा; विपाण्डुतामण्डिता धावल्यशोभिताः, चामराल्यः चामरपङ्क्तय एव, नाना मराल्यः हंस्यः, ताभिः कृता लास्यलीला नृत्यचेष्टा

यस्यास्तां, निजमन्दहासजनितविस्मयकम्प्यमानचन्द्रिकाशिरःकम्पचारुचामरचयंवीज्यमानामित्यर्थः ॥ १०५ ॥

उस (दमयन्ती) के गौर वस्तुका सारभूत अर्थात् अत्यन्त गौरवर्ण स्मितसे आश्चर्यित चन्द्रकान्तिके (उस स्मितकी प्रशंसार्थ) शिरःकम्पनकी शोभाको दिखलानेके लिये स्वच्छतासे सुशोभित चामर-समूहरूप अनेक हंसियों द्वारा की गयी है लास्य-लीला (नृत्य-विशेष) जिसकी ऐसी (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) [अत्यन्त गौरवर्ण दमयन्ती-स्मितको देखकर चन्द्रिका उसकी प्रशंसाके लिये शिर हिला रही है, इस बातका अभिनय स्वच्छताभूषित चामर समूहरूप हंसियाँ नृत्य-विशेषसे जिसकी कर रही हैं, ऐसी दमयन्तीको राजसमूहने देखा] ॥ १०५ ॥

तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम् ।
स्वयं धृतामप्सरसां प्रसादं ह्रियं हृदो मण्डनमर्पयन्तीम् ॥ १०६ ॥

तदङ्गेति । पुनः किम्भूताम् ? सैवाङ्गं काव्यार्थतया शरीरं यासां ताः तदङ्गाः तद्विषया इत्यर्थः, 'शब्दादौ मूर्त्तिभिः ख्यातौ' इति लक्षणात्; तासां भोगावलीनां प्रबन्धविशेषाणां, गायन्त्यः गायिकाः, कर्त्तरि ल्युट्, ङीप्, तासां, मध्ये गानमध्ये, निरुक्तिक्रमेषु निष्कृष्टोच्चारणप्रकारेषु, कुण्ठितानां लुप्तप्रतिभानाम्, अप्सरसां स्वयं धृतां हृदः स्वान्तस्य वक्षसश्च, मण्डनम् अलङ्कारभूतां, ह्रियं लज्जामेव, प्रसादं पारितोषिकम्, अर्पयन्तीं प्रयच्छन्तीं, तद्दोषज्ञानेन ताः अपि हेलयन्तीमित्यर्थः, गायकेभ्यः स्वधृतवस्त्रालङ्कारादिकं प्रीत्या प्रयच्छन्तीम् इति भावः। तस्याः सौन्दर्यस्तुतिकरणासामर्थ्यादप्सरसोऽपि लज्जिता इति तात्पर्यम्। अत्र तु ह्रीदानमेव तद्दानमित्युत्प्रेक्षा ह्रिया अपि स्वयं धृतत्वादलङ्कारत्वात् तदायत्तत्वाच्चेति बोद्धव्यम् ॥१०६॥

उस (दमयन्ती) के अङ्गोंकी भोगावली (चन्दन-कर्पूरादि) उसके प्रतिपादक ग्रन्थकी स्तुतिगायिकाओंके बीचमें निरुक्तिक्रममें कुण्ठित अर्थात् पूरा वर्णन करनेमें असमर्थ अप्सराओंके लिये स्वयं धारण की हुई स्त्री-हृदयका भूषण लज्जाको प्रसाद देती हुई (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा)। [दमयन्तीके शरीरके भोगावलीका वर्णन करती हुई मेनका आदि अप्सराएं उसका पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकीं तो स्त्री-हृदयका भूषणभूत लज्जा—जिसे दमयन्तीने भी स्वयं स्त्री होनेसे धारण कर रखा था—को उन अप्सराओंके लिये प्रसादरूपमें दे रही थी, अर्थात् जिसके अङ्गोंकी भोगावली पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकनेके कारण अप्सरा भी लज्जित होती थी, उस दमयन्तीको राजसमूहने देखा। लोकमें भी कोई स्तुतिपाठकोंके लिये अपने शरीरमें पहने हुए भूषणादिको पारितोषिक रूपमें देता है] ॥ १०६ ॥

तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानाञ्च नभो जयन्तीम् ।
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभृतः कस्य न भोजयन्तीम् ? ॥१०७॥

तारा इति । पुनः किम्भूताम् ? रदानां दन्तानां, रुचा कान्त्या, ताराः नक्षत्राणि, वदनस्य रुचा चन्द्रं, कचानां केशानां, रुचा नभश्च जयन्तीम् , अत एव कस्य महीभृतोऽक्ष्णोर्द्वितयं चक्षुर्द्वयं, मधूनि क्षौद्राणि, आकण्ठम् , आगलम् , अतितरामित्यर्थः न भोजयन्तीम् ? न पाययन्तीम् ? अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्त्तुरक्षिद्वितयस्य कर्मत्वम् । 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदम् दमयन्तीरूपदर्शनेन राजनेत्राणाम् अमृतेनेव तृप्तिर्जाता इति भावः । सकलराजलोकलोचनासेचनकमासीत् सा इति निष्कर्षः । अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गं, तच्च ताराद्युपमाभिः सङ्कीर्यते, तस्य नभो जयन्तीं न भोजयन्तीमिति यमकेन संसृष्टिः ॥ १०७ ॥

दाँतोंकी कान्तिसे ताराओंको, मुखकी कान्तिसे चन्द्रको और बालोंकी कान्तिसे आकाशको जीतती हुई, किस राजाके दोनों नेत्रोंको कण्ठ तक अर्थात् भर पेट मधु भोजन नहीं कराती हुई अर्थात् सबको भरपेट भोजन कराती हुई (दमयन्तीको राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा) [अतिसुन्दर उसके रूपको देखकर सभी राजा अमृत भोजन किये हुएके समान पूर्णतया तृप्त हो गये] ॥ १०७ ॥

अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीम् ।
इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः ॥ १०८ ॥

कुलकम् ।

अलङ्कृतेति । पुनः किम्भूताम् ? अथ आह्वानानन्तरम् , अलङ्कृताङ्गेभ्यः भूषिताङ्गेभ्यः, अद्भुतानि आश्चर्याणि, केवलानि अनलङ्कृतानि, अङ्गानि यस्यास्तां, स्तवात् स्तुतेः, अधिकाः स्तोतुमशक्याः, अध्यक्षनिवेद्याः प्रत्यक्षगम्याः, लक्ष्म्यः शोभाः यस्यास्ताम् , इति बहुवचनान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः, अन्यथा एकवचनान्तलक्ष्मीशब्दस्य उरःप्रभृतिकत्वात् कप्रसङ्गः, शैषिकस्तु वैभाषिकः विमानेन नरवाह्येन चतुरस्रयानेन, सभां विशन्तीम् , इमां भैमीं, राजराजिः नृपश्रेणी, अपाङ्गैः नेत्रप्रान्तैः, पपौ अत्यादरेण सविलासमद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

इति कुलकम् ।

अलङ्कृत शरीरकी अपेक्षा आश्चर्यजनक अनलङ्कृत (भूषणरहित) शरीरवाली, प्रशंसा करनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शनीय शोभावाली पालकीसे सभामें प्रवेश करती हुई इस (दमयन्ती) को राज-समूहने कटाक्षोंसे देखा ॥ १०८ ॥

आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्त्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य ।
उल्लेसुरङ्गानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि ॥ १०९ ॥

अथ तामद्भुतचेष्टां वर्णयति, आसीदिति । तत्र सभायाम् , असौ ईदृशः, भूपः कोऽपि नासीत् , तस्याः भैम्याः, मूर्त्तिरूपेण अङ्गसौन्दर्येण, उद्भवन् अद्भुतः अद्भुतरसो

यस्य एवम्भूतस्य, यस्य भूपस्य, अङ्गानि मुदा हर्षेण, विनिद्रैः उदितैः, रोमाङ्कुरैः पुलकैः, दन्तुराणि विषमाणि सन्ति, न उल्लेसुः न उल्लसितानि, सर्वस्यापि अङ्गानि उल्लेसुरेवेत्यर्थः॥ १०९॥

उस सभामें ऐसा कोई राजा नहीं था, उस (दमयन्ती) के शरीरसौन्दर्यसे उत्पन्न होते हुए आश्चर्यसे युक्त जिस राजाके शरीर हर्षसे उत्पन्न रोमाञ्चसे विषमित न हो गये हों। [उस स्वयंवरमण्डपमें दमयन्तीके शरीरके सौन्दर्यसे आश्चर्यित सभी राजाओंके शरीर हर्षसे पुलकित हो गये] ॥ १०९ ॥

अङ्गुष्ठमूद्र्ध्नां च निपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम ॥ ११० ॥

अङ्गुष्ठेति। तत्र सभायां, भैमीम् अवलोक्य अङ्गुष्ठस्य मूद्र्ध्ना अग्रेण, मध्यमायाः मध्यमाङ्गुलेः, मध्येन भागेन च निपीडितम् अग्रं यस्याः सा तर्जनी केन नाम जनेन, नास्फोटि? न वादिता? न अभाजि? इति यावत्। स्फुट भेदन इति धातोः चौरादिकात् कर्मणि लुङ्, सर्वेणापि अद्भुतानुभावस्फोटिका कृतैवेत्यर्थः॥ ११० ॥

उस स्वयंवरसभामें दमयन्तीको देखकर किस आदमीने अङ्गुष्ठके अग्रभाग तथा मध्यमाङ्गुलिके मध्यभागसे दबायी गयी तर्जनीको नहीं चटकाया अर्थात् सभी आदमीने चटकाया। [लोकातिशायी आश्चर्यजनक पदार्थको देखने पर उक्त प्रकारसे तर्जनीको प्रायः सभी लोग चटकाते हैं] ११० ॥

अस्मिन् समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा ? ॥ १११ ॥

अस्मिन्निति। अस्मिन् समाजे सभायां, खञ्जनस्य इव अक्षिणी यस्या दृशौ, तां भैमीम्, अवलोक्य लोलितमौलिना आश्चर्यात् कम्पितकिरीटेन, केन वा मनुजेश्वरेण राज्ञा, भ्रुवोर्द्वयी भ्रूद्वयं, पुनः पुनर्न उदक्षेपितराम्? सर्वेण अतिशयेन उत्क्षिप्ता एवेत्यर्थः, क्षिपेः कर्मणि लुङि तिङन्तात् घात् आमुप्रत्ययः। अत्र शिरःकम्पभ्रूविकारावद्भुतानुभावावुक्तौ॥ १११ ॥

इस (राजाओंके) समाजमें खञ्जनके समान नेत्रवाली उस (दमयन्ती) को देखकर (उसके प्रशंसार्थ) वारवार शिर हिलाते हुए किस राजाने भ्रूद्वयको नहीं ऊपर किया अर्थात् दमयन्तीको देखकर उपस्थित राजसमाजमें-से सभी राजाने आश्चर्यसे शिरः कम्पन किया तथा भ्रूद्वयका उत्क्षेपण भी किया॥ १११ ॥

स्वयंवरस्याजिरमाजिहानां विभाव्य भैमीमथ भूमिनाथैः।
इदं मुदा विह्वलचित्तभावादवादि खण्डाक्षरजिह्मजिह्वम् ॥ ११२ ॥

अथ राज्ञां वागारम्भाः प्रवृत्ता इत्याह, स्वयंवरस्येति। अथ अनन्तरं, स्वयंवरस्य अजिरं चत्वरप्रदेशम्, आजिहानां प्राप्नुवन्तीं, हाङः कर्त्तरि शानच्, भैमीं विभाव्य

निर्वर्ण्य, भूमिनाथैः राजभिः, मुदा हर्षेण हेतुना, विह्वलचित्तभावात् व्यग्रचित्तत्वाद्धेतोः, इदं वक्ष्यमाणं, खण्डाक्षरम्, अर्द्धोक्तवर्णम् अत एव जिह्मजिह्वं कुण्ठजिह्वं यथा तथा, अवादि उक्तम् । कर्मणि लुङ् ॥ ११२ ॥

इसके बाद स्वयंवराङ्गनमें आयी हुई दमयन्तीको जानकर राजाओंने चित्तकी व्याकुलतासे पूर्णतया नहीं कहनेसे कुटिल जिह्वायुक्त हो हर्षसे यह कहा—[दमयन्तीके स्वयंवरमें आते ही कामपरवश राजालोग पूर्णतया कुछ कहनेमें अशक्त होनेपर भी हर्षसे कहने लगे]॥११२॥

रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिर्भूः शून्यैव मा भूत् सुरभूमिपान्थैः ।
इत्येतयाऽलोपि दिवोऽपि पुंसां वैमत्यमत्यप्सरसा रसायाम् ॥११३॥

अथ विंशतिश्लोक्या वागारम्भानेव वर्णयति, रम्भेत्यादि । रम्भादिषु अप्सरःसु, लोभात् कृतं कर्म यागादि यैस्तैः, सुरभूमिपान्थैः स्वर्लोकपथिकैः, 'पथो ना नित्यम्' इति नाप्रत्ययः, भूरेव शून्या मा भूदिति हेतोः, अतिक्रान्ताः सौन्दर्यादिना अप्सरसो यया सा तया अत्यप्सरसा, एतया भैम्या, दिवः पुंसामपि देवानाम् अपि, रसायां भूलोके, वैमत्यं वैराग्यम् , अलोपि लुप्तम् इव, इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या । लुपेः कर्मणि लुङ्, अत्यप्सरसः भैम्याः सौन्दर्यात् स्वर्लोकम् अतिशेते भूलोकमिति भावः । अत्रान्त्यपादे 'सत्यमत्य–रसारसे'ति व्यञ्जनयुग्मावृत्त्या छेकानुप्रासः, अन्यत्र वृत्त्यनुप्रासः, तयोः पूर्वोक्तोत्प्रेक्षायाश्च संसृष्टिः ॥ ११३ ॥

'रम्भा आदि (अप्सराओं को पाने) के लोभसे कर्म (अग्निष्टोमादि यज्ञ) करनेवाले स्वर्गके पथिकों (स्वर्गाभिलाषिओं) से भूमि (मृत्युलोक) ही सूना न हो जाय' इस वास्ते अप्सराओंको अतिक्रमण करनेवाली अर्थात् अप्सराओंसे अधिक सुन्दरी इस (दमयन्ती) ने स्वर्गके पुरुषों (इन्द्रादि) के भूमि (मृत्युलोक) में विपरीत विचार (अनिच्छा) को नष्ट कर दिया है । [स्वर्गमें भी ऐसी सुन्दरियोंके न होनेसे इन्द्रादि भी स्वर्गको छोड़कर भूमिको स्वर्गसे उत्तम मानकर यहां आये हैं और रम्भादि अप्सराओंके लोभसे ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर स्वर्ग पानेके इच्छुकोंसे भूमि सूनी नहीं हुई है]॥ ११३ ॥

रूपं यदाकर्ण्य जनाननेभ्यस्तत्तद्दिगन्ताद् वयमागमाम ।
सौन्दर्यसारादनुभूयमानादस्यास्तदस्मात् बहुना कनीयः ॥ ११४ ॥

रूपमिति । वयं जनाननेभ्यः यद्रूपं सौन्दर्यम्, आकर्ण्य तच्च तच्च असौ दिगन्तश्च, वीप्सायां द्विर्भावः, तस्मात् तस्मात् दिगन्तात् प्राच्यादिदिक्प्रान्तात्, आगमाम आगताः स्मः, गमेर्लुङि चेरङादेशः, तत् रूपम्, अस्मादनुभूयमानात् प्रत्यक्षपरिदृश्यमानात्, सौन्दर्यसारात् 'पञ्चमी विभक्तेः' इति पञ्चमी, बहुना भूम्ना प्रथिम्ना, भावप्रधानो निर्देशः कनीयः अल्पीयः, यादृशं रूपं लोकमुखात् श्रुतं तदपेक्षयाऽधिकरूपलावण्यं दृश्यते इति भावः । 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इति विकल्पात् कनादेशः ॥

हम लोगोंके मुखसे जिस रूपको सुनकर उन उन दिशाओंके अन्तिम भागोंसे आये हैं,

इस दमयन्तीका वह रूप प्रत्यक्ष अनुभव किये जाते हुए इस सौन्दर्यसारसे अधिक कम है। [लोकमें लोगोंसे प्रशंसित वस्तु प्रायः सुन्दर कम होती है, किन्तु इस दमयन्तीके रूपकी लोगोंने जैसी प्रशंसा की थी, उसकी अपेक्षा इसके रूपको हम अधिक श्रेष्ठ देख रहे हैं, यह आश्चर्यकी बात है।]

रसस्य श्रृङ्गार इति श्रुतस्य क नाम जागर्त्ति महानुदन्वान् ।
कस्मादुदस्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः ? ॥११५॥

रसस्येति । श्रृङ्गार इति श्रुतस्य प्रसिद्धस्य रसस्य श्रृङ्गाररसस्य सम्बन्धे इत्यर्थः, महान् उदन्वान् उदधिः, 'उदन्वानुदधौ' इति निपातनात् साधुः, क नाम जागर्त्ति कुत्रापि किल प्रदेशे विद्यते एवेत्युत्प्रेक्षा । कुतः ? अन्यथा श्रृङ्गारार्णवाभावे लावण्य-वैदग्ध्ययोः सौन्दर्यचातुर्ययोः, निधिरियं पुरोवर्त्तिनी भैमीरूपा, श्रीर्लक्ष्मीः, कस्मात् पयोधेः उदस्थात् ? श्रीः समुद्रात् उत्पन्नेति प्रसिद्धिः, इयन्तु तदपेक्षयाऽधिकसुन्दरी, अत इयं भैमीरूपा श्रीः श्रृङ्गाररससमुद्रादेवोत्पन्नेति तादृशसमुद्रः कुत्रापि देशे वर्त्तते एवेति भावः । अत्रेयं श्रीरिति विषयनिगरणेन विषयिमात्रनिबन्धनाद्भेदेऽप्यभेदात् सातिशयोक्तिरेतन्मूला च पूर्वोक्तश्रृङ्गाररससागरसद्भावोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ११९ ॥

(नव रसोंमें) 'श्रृङ्गार' ऐसे नामसे सुने गये रसका विशाल समुद्र कहां है ? (कहीं न कहीं अवश्य ही है), नहीं तो सौन्दर्यकी चातुर्यकी निधि यह (दमयन्तीरूपिणी) लक्ष्मी किस समुद्रसे निकली है ? । [जिस प्रकार समुद्रसे लक्ष्मीके निकलनेका वर्णन पुराणोंमें है, उसी प्रकार श्रीतुल्या इस परम सुन्दरी दमयन्तीको देखकर श्रृङ्गारके विशाल समुद्रके कहीं न कहीं होनेका कार्यकारणभावसे अनुमान होता है। दमयन्ती पुराणवर्णित श्रीसे भी अधिक सुन्दरी है]॥ ११५ ॥

साक्षात् सुधांशुर्मुखमेव भैम्या दिवः स्फुटं लाक्षणिकः शशाङ्कः ।
एतद्भ्रुवौ मुख्यमनङ्गचापं पुष्पं पुनस्तद्गुणमात्रवृत्त्या ॥ ११६ ॥

साक्षादिति । भैम्याः मुखमेव साक्षात् मुख्यः, उपमानत्वेन प्रसिद्धः इति यावत्, सुधांशुः भैमीमुखमेव ओष्ठरूपसुधासम्बन्धात् मुख्यवृत्त्या सुधांशुपदाभिधेयमेवेत्यर्थः, दिवोऽन्तरिक्षस्य, शशाङ्कः चन्द्रस्तु, लाक्षणिको लक्षणागम्यो लाञ्छनकश्च, शैषिकष्ठक्, लक्षणावृत्त्या सुधांशुपदेन बोध्यः, न तु अभिधावृत्त्येत्यर्थः, अभिधेयार्थापेक्षया लक्ष्यार्थस्य जघन्यत्वेन एतस्या मुखचन्द्रापेक्षया गगनस्थचन्द्रस्य जघन्यत्वमिति भावः; स्फुटमित्युत्प्रेक्षा । तथा एतस्याः भ्रुवावेव मुख्यं प्रधानं, मुखवृत्त्या अभिधेय-मित्यर्थः, अमोघत्वादिति भावः, 'दिगादिभ्यो यत्' इति भावार्थे यत्प्रत्ययः, अथ च मुखे भवं मुख्यं, भ्रूरूपमिति यावत्, अनङ्गचापं कामधनुः । पुष्पं पुनः यत् पुष्पम् अनङ्गचापत्वेन व्यवह्रियते तत्तु, तयोर्भ्रुवोः, यो गुणः उद्दीपकत्वादिः, तन्मात्रवृत्त्या

तत्सदृशगुणवत्त्वादित्यर्थः, पुष्पेऽनङ्गचापत्वव्यवहारस्तु गौण एवेति भावः । उपमा । अत्रापि स्फुटमित्यनुषङ्गादुत्प्रेक्षेति द्वयोर्निरपेक्षत्वात् संसृष्टिः ॥ ११६ ॥

दमयन्तीका मुख ही साक्षात् (निकटस्थ होनेसे प्रत्यक्ष, या हमलोगोंका भोग्य, या मुख्य उपमानभूत) सुधांशु अर्थात् चन्द्रमा (या अमृत पूर्ण चन्द्रमा) है; आकाशका मुख तो लक्षणासे बोध्य शशाङ्क (चन्द्रमा, पक्षा०—सकलङ्क) है । इस (दमयन्ती) के दोनों भौंहें मुख्य (प्रधान, मुखमें होनेवाला, या अभिधासे बोध्य) कामधनुष है; पुष्प तो उस (भ्रूद्वय) के गुण—मात्र (केवल कामोद्दीपकत्वादि गुण, या भ्रूद्वयगत वक्रत्व और उन्मादकत्व रूप दो गुणोंमें-से केवल उन्मादकत्व गुण, केवल मौर्वी अर्थात् धनुषकी डोरी होनेसे, या गौणी लक्षणासे—अभिधा शक्तिसे नहीं) कामधनुष है। [दमयन्तीका मुख सदा गोलाकार, निष्कलङ्क, अधरामृतसे संयुक्त, उन्मादक आदि अनेक गुणोंसे युक्त होनेसे साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष दृश्यमान (या समीपस्थ हम कामिजनोंसे उपभोग्य) सुधांशु (अमृतपूर्ण कान्तिवाला अभिधावृत्तिसे बोध्य चन्द्रमा) है, स्वर्गका मुख चन्द्रमा तो निश्चित रूपसे लाक्षणिक (लक्षणा वृत्तिसे बोध्य अर्थात् अवास्तविक या कलङ्कयुक्त) है; अतएव दमयन्तीमुख ही प्रधान तथा उपमानभूत चन्द्रमा है और आकाशस्थ चन्द्रमा अप्रधान उपमेयभूत है । इसी प्रकार दमयन्ती के दोनों भौंहें मुख्य अर्थात् अभिधावृत्तिसे बोध्य होनेसे प्रधान (या मुखभव अर्थात् मुखमें होनेवाले) कामधनुष हैं और पुष्पको जो कामधनुष कहा जाता है वह तो उन दोनों भौंहोंमें जो गुण (टेढ़ापन तथा मादकपन या डोरी होना), उसके व्यवहारसे कहा जाता है, अतः गौणीवृत्तिसे है, लक्षणावृत्ति तथा गौणी वृत्तिकी अपेक्षा अभिधावृत्तिसे बोध्य पदार्थकी प्रधानता होनेसे दमयन्तीके दोनों भौंहें ही मुख्य कामधनुष है पुष्प तो गौणीवृत्तिसे बोध्य होनेसे अप्रधान कामधनुष है या उसकी डोरी होनेसे कामधनुष है । विशेष अर्थकी कल्पना 'प्रकाश' आदि संस्कृत टीकाओंमें देख लेनी चाहिये, विस्तारभय तथा क्लिष्टकल्पनामात्र होनेसे उन्हें यहां नहीं लिखा गया है]॥

लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम् ? ।
सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनैतयोर्यान्ति किमन्तरेण ?॥ ११७॥

लक्ष्य इति । सुदत्या भैम्या, ताटङ्कयोः कर्णभूषणयोः, युग्मं स्मर एव धन्वी, ब्राह्मणादित्वादिनिः, तस्मै, तादर्थ्ये चतुर्थी, लक्ष्ये शरव्यभूते, कुण्डलयावेव कुण्डलिके चक्रे, धृतं किम् ? ताटङ्कयुग्ममेव शरव्यचक्रत्वेन धृतवती किम् ? इत्युत्प्रेक्षा । अत एव तेन स्मरधन्विना, सव्यम् अपसव्यञ्च यथा तथा विसृष्टाः विमुक्ताः, विशिखाः बाणाः, एतयोः शरव्यचक्रयोः, अन्तरेण यान्ति प्रसरन्ति किम् ? इत्युत्प्रेक्षा सापेक्षत्वात् सङ्करः । सव्यसाचिनो धानुष्काः शरव्यद्वये शरान् मुञ्चन्ति इति प्रसिद्धिः । भ्रूचापयोजिताः कटाक्षबाणाः कर्णताटङ्ककुण्डलाभ्यन्तरेण निर्यान्तीति भावः ॥११७॥

सुन्दर दाँतोंवाली दमयन्तीने दो ताटङ्क (कर्णभूषण-विशेष) का रूप, कामदेवरूपी

धनुर्धारीके लिये लक्ष्यभूत दो कुण्डलोंको धारण किया है क्या ?, उस (कामदेव) से दहने-बांयें के क्रमसे छोड़े गये बाण इन दोनों (कुण्डलों) के बीचसे (पाठा०—बीचमें ही) निकलते हैं। [लोकमें भी कुशल धनुर्धारी दहने-बांयें—दोनों ओरसे बाण छोड़ते हैं तथा उनके बाण कानोंके कुण्डलके बीचसे निकल जाते हैं, जिससे उनका लक्ष्यवेधमें सिद्धहस्त होना प्रमाणित होता है, ऐसा ही यहां कामदेवको कुशल धनुर्धारी कहा गया है]॥

तनोत्यकीर्त्तिं कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरौ।
यतः श्रवःकुण्डलिकाऽपराद्ध-शरं खलः ख्यापयिता तमाभ्याम् ॥११८॥

तनोतीति। सैषा भैमी, इन्दीवरकर्णपूरावेव तद्रूपामित्यर्थः, कुसुमाशुगस्य अकीर्त्तिम् अपकीर्त्तिम्, तनोति ताभ्यां तस्याकीर्त्तिम् जनयतीत्यर्थः; आयुर्घृतमितिवत् कार्यकारणयोरभेदोपचारः, कारणेन्दीवरगुणादकीर्त्तिश्च कालिमेति भावः; बतेति खेदे। कुतस्तत्कारणम् ? तदाह—यतः खलः कश्चिद्दोषान्वेषी दुर्जनः, आभ्यां कामशराभ्याम् इन्दीवरकर्णपूराभ्याम्, इमावेव निदर्श्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं कुसुमशरं, श्रवसोः कर्णयोः, कुण्डलिके ताटङ्करूपे लक्ष्ये चक्रे इत्यर्थः, ताभ्याम्, अपराद्धशरं च्युतनीलोत्पलरूपसायकम्, 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायकः' इत्यमरः, ख्यापयिता ख्यापयिष्यति, कर्त्तरि लुट्, इन्दीवरयोरपि कामशरत्वात् कुण्डलिका-बहिर्भागे लग्नत्वाच्च एतद्दृष्टान्तेनैवान्यत्रापराद्धपृषत्कदोषोद्घाटनसौकर्यात्तयोरकीर्त्तिकारणत्वोत्प्रेक्षेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

वह दमयन्ती नील कमलोंके दो कर्णभूषण-रूप कामदेव की अपकीर्ति फैलाती है यह खेद है; क्यों कि दुष्ट जन इन (दो नीलकमलोंके कर्णभूषणों) के द्वारा कानके कुण्डलरूप लक्ष्यको वेध नहीं करने वाले उस (कामदेव) को प्रसिद्ध करेंगे अर्थात् कहेंगे। [कुशल धनुर्धारोके बाण कानके कुण्डलोंके बीचसे निकल जाते हैं, यह पूर्व श्लोकमें कहा जा चुका है। यहां पर यह कहा जाता है कि दमयन्तीने दो नीलकमलोंके कर्ण-भूषण जो धारण किये हैं, ये उनको दुष्ट लोग 'कामदेवके द्वारा छोड़े गये नील कमल रूप दो पुष्प बाण दमयन्तीके कर्णकुण्डलोंके बीचसे नहीं निकलकर लक्ष्यभ्रष्ट होकर (ठीक निशाना नहीं मारकर) कानपर ही रुक गये हैं, अतएव यह कामदेव लक्ष्यवेधमें निपुण नहीं है' ऐसी कामदेव की अपकीर्ति (बदनामी) करेंगे। नीलकमलोंको कामदेवके बाणों का पुष्पमय होनेसे कामबाण तथा अपकीर्तिके काली होनेसे उनका अपकीर्ति मानना ठीक ही है। दमयन्तीके नीलकमलरूप कर्णपूरोंको देखकर काम वृद्धि होती है] ॥ ११८ ॥

रजःपदं षट्पदकीटजुष्टं हित्वाऽऽत्मनः पुष्पमयं पुराणम्।
अद्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टि चापम् ॥ ११९ ॥

रज इति। अद्य आत्मभूः स कामः, रजसां पदं स्थानं, परागाश्रयं काष्ठचूर्णाश्रयञ्चेत्यर्थः, षट्पदैरेव कीटैः क्रिमिभिः, जुष्टं सेवितं,—घुणादिसेवितञ्चेत्यर्थः, पुराणं

जीर्णं, पुष्पमयमात्मनश्चापं हित्वा त्यक्त्वा, अन्तर्मध्ये, धृतमुष्टि मुष्टिपिहितत्वाददृश्यमध्यमित्यर्थः, भैम्या भ्रूयुग्मं भ्रूद्वयरूपं चापमेव, आद्रियताम् अङ्गीकरोतु, अमोघत्वात् नूतनत्वाच्चेति भावः ॥ ११९ ॥

आज वह (प्रसिद्ध) कामदेव रज (पुष्पपराग, पक्षा०—घुनी हुई लकड़ी की धूल) का स्थान, भ्रमररूप कीड़े अर्थात् घुनसे सेवित, पुष्पमय अर्थात् अतिशय कोमल (अदृढ) पुराने अपने धनुषको छोड़कर दमयन्तीके भ्रूद्वयरूप बीचमें मूठ्ठीमें पकड़ा गया (अतएव बीचमें अदृश्य) चाप का आदर करे। [पुरानी एवं घुन लगी हुई निर्बल वस्तुको छोड़कर नवीन वस्तुका आदर करना कामदेवके लिये उचित ही है] ॥ ११९ ॥

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित् तान् ।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥ १२० ॥

पद्मानिति । विधिः स्रष्टा, यं सारं, पद्मगतमुत्कृष्टांशं तथा खञ्जरीटगतमुत्कृष्टांशञ्चेत्यर्थः, आदाय तान्निःसारान् , पद्मान् हिमे शिशिरकाले, तथा खञ्जरीटान् खञ्जनपक्षिणः, प्रावृषि वर्षर्त्तौ, क्वचित् क्वापि, क्षिप्नुः प्रक्षेपणशीलः सन् , क्षिप्तवानित्यर्थः, 'त्रसिगृधि' इत्यादिना क्नुनूप्रत्ययः, 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् द्वितीया, तेन सारेण प्रतिवर्षं प्रतिवत्सरम् , एतदीयं दृष्टिद्वयम् उच्चैः पुष्णातीत्युत्प्रेक्षा; अन्यथा कथमीदृशी शोभेति भावः ॥ १२० ॥

ब्रह्माने (कमलपुष्प तथा खञ्जरीट पक्षीसे) जिस सारको लेकर कमलोंको हेमन्त कालमें तथा खञ्जरीटों को वर्षाकालमें कहीं (अदृश्य स्थानमें) फेंक दिया; उसी सारसे इस (दमयन्ती) के दोनों नेत्रोंको (वह ब्रह्मा) प्रतिवर्ष अधिक पुष्ट (सुशोभित) करते हैं। [दमयन्तीके नेत्र कमल तथा खञ्जरीटसे भी सुन्दर हैं] ॥ १२० ॥

एतद्दृशोरम्बुरुहैर्विशेषं भृङ्गौ जनः पृच्छतु तद्गुणज्ञौ ।
इतीव धात्राऽकृत तारकालि-स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यमिहाक्षियुग्मे ॥ १२१ ॥

एतदिति । जनः उभयतारतम्यजिज्ञासुः लोकः, एतद्दृशोः भैमीदृष्ट्योः, अम्बुरुहैः सह विशेषं तारतम्यं, तद्गुणज्ञौ अम्बुरुह–नेत्ररसज्ञौ, भृङ्गौ भृङ्गी च भृङ्गश्च तौ, पृच्छतु पृच्छेत् , दुहादित्वात् द्विकर्मकत्वम् , इतीव इति मत्वेव, धात्रा इह एतदीये, अक्षियुग्मे तारके कनीनिके एव, अलिस्त्रीपुंसौ अलिदम्पती, अचतुरादिना समासान्तनिपातः, तयोर्माध्यस्थ्यं पद्मानि उत्कृष्टानि उत एतन्नेत्रे उत्कृष्टे इति लोकानां संशये अकूटसाक्षित्वम् , अक्षिमध्यवर्त्तित्वञ्च, अकृत कृतवान् , करोतेः कर्त्तरि लङ् तङि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सकारलोपः, विवादपदतत्त्वज्ञो मध्यस्थश्च साक्षी संशयच्छेत्ता च भवति; तथा चालिदम्पती पद्मं विहायात्राधिष्ठानेन पद्मापेक्षया एतन्नेत्रयोः रमणीयत्वं व्यञ्जयतः, तस्मात् एतन्नेत्रे पद्मापेक्षया मनोहरे भ्रमरवन्नीलकनीनिकाविशिष्टे

चेति भावः। भैमीदृगम्बुरुहतारतम्यकथनाय धात्रा स्थापितमलिमिथुनमिव भाति कनीनिकायुग्ममित्युत्प्रेक्षा ॥ १२१ ॥

लोग कमलों की अपेक्षा इस (दमयन्ती) के नेत्रों की विशेषताको उसके गुणोंको जानने वाले भ्रमरदम्पतीसे पूछें' मानों इसी लिये ब्रह्माने तारका (नेत्रोंकी पुतलियां) रूप भ्रमर-मिथुन (भ्रमरी-भ्रमर) की मध्यस्थता (मध्यमें ठहरना, पक्षा०—साक्षी बनना) को इस नेत्रद्वयमें किया। [जो जिसके गुणको जानता है तथा मध्यस्थ अर्थात् किसी का पक्षपात नहीं करनेवाला होता है, वही उसके गुणको ठीक-ठीक बतला सकता है, दमयन्तीके नेत्र द्वयमें पुतलियां नहीं हैं, किन्तु वह भ्रमरमिथुन है और इस भ्रमरमिथुनने हीन गुणवाले नीलकमलको छोड़कर उत्तम गुणवाले इन नेत्रों का आश्रय किया है, इसीसे स्पष्ट है कि कमल श्रेष्ठ हैं या दमयन्तीके नेत्र ?। दमयन्तीके नेत्र नीलकमलसे भी अधिक सुन्दर हैं]॥

ऽव्यधत्त सौधौ रतिकामयोस्तद्-भक्तं वयोऽस्या हृदि वासभाजोः ।
तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भ-कुम्भौ न सम्भावयति स्तनौ कः ? ॥१२२॥

व्यधत्तेति। तयोः रतिकामयोः, भक्तं विधेयं, वयः यौवनं कर्त्तृ, अस्याः भैम्याः, हृदि वासभाजोः निवसतोः, रतिकामयोः, कृते इति शेषः, सौधौ प्रासादौ, व्यधत्त निर्ममे, अन्यथा तयोस्तत्र निवासायोग्यत्वमिति भावः; यस्मात् हेतोः को जनः, स्तनौ, अस्या इति पूर्वानुषङ्गः, तयोः सौधयोः, अग्रे जाग्रतौ प्रकाशमानौ, पृथू पीवरौ च, शातकुम्भकुम्भौ कनककलशौ, न सम्भावयति ? न वितर्कयति ? सर्वोऽप्येवमुत्प्रेक्षत एवेत्यर्थः ॥ १२२ ॥

इस (दमयन्ती) के हृदयमें निवास करनेवाले रति तथा कामदेवके भक्त युवावस्थाने दो महल बना दिये हैं, (अत एव) कौन मनुष्य उन (दोनों महलों) के ऊपर प्रकाशमान विशाल दो सुवर्ण कलश (दमयन्तीके) दोनों स्तनोंको नहीं मानता ? अर्थात् सभी मनुष्य हृदयस्थ रति-कामके महलोंके ऊपर शोभमान दो विशाल सुवर्ण कलशोंके समान दमयन्तीके दोनों स्तनोंको मानते हैं। [दमयन्ती सुवर्णकलशके समान गौर वर्ण तथा विशाल स्तनोंवाली तथा सर्वदा रति-कामदेवसे पूर्ण है]॥ १२२ ॥

अस्या भुजाभ्यां विजितात् विसात् किं पृथक् करोऽगृह्यत तत्प्रसूनम् ? ।
इहेक्ष्यते तन्न गृहं श्रियः कैर्न गीयते वा कर एव लोकैः ? ॥ १२३ ॥

अस्या इति। अस्याः, भैम्याः, भुजाभ्यां विजेतृभ्यामिति भावः, विजितात् विसात् मृणालात्, पृथक् प्रत्येकमेव, तत्प्रसूनं विसप्रसूनं, पद्ममेवेत्यर्थः, करो बलिहस्तश्च, अगृह्यत किम् ? गृहीतं किम् ? इत्युत्प्रेक्षा; 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः, जेतुर्जितात् करग्रहणमेव तत्करस्य पद्मत्वञ्चोचितमिति भावः। तथा हि, इहास्या भुजयोः, तत् करत्वेन गृहीतं पद्मं, कैर्लोकैर्जनैः, श्रियो लक्ष्म्याः शोभायाश्च, गृहम् आलयः, नेक्ष्यते ? वा अथवा, कर एव करशब्देनैव, न गीयते ? नोच्यते ?

सर्वैरपि तथा कीर्त्यते इत्यर्थः। एतद्धस्तस्य श्रीगृहत्वात् पद्मत्वं करत्वप्रसिद्धेर्विसात्मकत्वेन ग्रहणं सिद्धमित्युत्प्रेक्षा युक्ता ॥ १२३ ॥

इस (दमयन्तीके) बाहुओंने पराजित मृणाल (कमलनाल) से उसके पुष्प अर्थात् कमलको अलग कर (दण्डरूपमें राजग्राह्य भाग, पक्षा०—हाथ) लिया है क्या ? (क्योंकि–) इन बाहुओंमें शोभाका स्थान (पक्षा०—लक्ष्मीका निवास स्थान) वह (कमलपुष्प) नहीं देखते हैं ? और हाथ (पक्षा०—दण्डरूपमें ग्राह्य राजग्राह्य भाग) नहीं कहते ? अर्थात् सभी लोग वैसा देखते तथा कहते हैं । [विजयी का पराजितसे कर लेना राजनीतिके अनुकूल एवं लोकप्रसिद्ध है । दमयन्तीके बाहुओंने कमलनालको पराजित कर उसके पुष्प (कमल) को कररूपमें ग्रहण किया, इसी कारण दमयन्तीके बाहुओं को लोग लक्ष्मीका घर (पक्षा०—शोभाका स्थान) कमलके समान देखते तथा उन्हें 'कर' लेनेसे 'कर' अर्थात् बाहु (हाथ) कहते हैं । दमयन्तीके बाहु श्रीगृह (लक्ष्मीका घर, पक्षा०—शोभाका स्थान) है, कमलका श्रीगृह होना लोकप्रसिद्ध है, तथा पराजित कमलनालसे 'कर' (राजग्राह्य भाग) लेनेसे उन दमयन्तीके बाहुओंको 'कर' (बाहु=हाथ) कहा जाना भी उचित ही है] ॥

छद्मैव तच्छम्बरजं बिसिन्यास्तत्पद्ममस्यास्तु भुजाग्रसद्म ।
उत्कण्टकादुद्गमनेन नालादुत्कण्टकं शातशिखैर्नखैर्यत् ॥ १२४ ॥

छद्मैवेति । बिसिन्याः कमलिन्याः सम्बन्धि, तत् पद्मं, शम्बरजं शम्बरात् जलात् जातं, छद्मैवालीकमेव, अथ च शम्बरदनुजजातं, छद्मैव मायैव, न तु पारमार्थिकमित्यर्थः, 'दैत्ये ना शम्बरोऽम्बुनि' इति वैजयन्ती, तु किन्तु, अस्याः भैम्याः, भुजाग्रं सद्म स्थानं यस्य तादृशं, तत् पद्मं पारमार्थिकं पद्ममित्यर्थः; कुतः ? यत् यस्मात्, उत्कण्टकात् उद्गताः कण्टकाः सूचयः पुलकाश्च यस्य तस्मात्, नालात् पद्मदण्डात् भुजदण्डाच्च, उद्गमनेन प्रादुर्भावेण हेतुना, शातशिखैः तीक्ष्णाग्रैः, नखैः उत्कण्टकम्, एतत्पाणिपद्ममिति शेषः; बिसपद्मन्तु उत्कण्टकनालादुद्भृतमपि नोत्कण्टकं पद्मे कण्टकविरहात्, किन्तु भैमीपाणिपद्ममेव प्रकृतपद्मं सकण्टकत्वा , यतः कारणगुणाः कार्यगुणमारभन्ते इति शास्त्रात् सकण्टकनालकार्यस्य सकण्टकत्वेन भवितव्यमिति भावः। भैमीपाणिपद्मस्य प्रसिद्धपद्मव्यतिरेकोक्त्या व्यतिरेकालङ्कारः ॥ १२४ ॥

पद्मिनीके कमल शम्बरजात (पानीमें उत्पन्न, पक्षा०—शम्बरनामक मायावी दैत्यकी की हुई) माया ही है और इस दमयन्तीके भुजाग्रमें स्थित कमल वास्तविक कमल है; क्योंकि कण्टक युक्त कमलनाल (पक्षा०—रोमाञ्चयुक्त भुजासे निकलनेके कारणसे तीक्ष्णाग्र नखों (तेज अग्र भागवाले नखोंके न होनेसे) भुजाग्रस्थित कमल उत्कण्टक (कांटोंसे युक्त, पक्षा०—रोमाञ्चसे युक्त) है और कमल पुष्प कण्टकयुक्त नहीं है, किन्तु कण्टकरहित है । [कारणानुसार कार्योत्पत्ति होनेसे कारणभूत कण्टकयुक्त कमलनालसे कण्टकयुक्त कमलपुष्प उत्पन्न होना उचित था, किन्तु वैसा नहीं होनेसे वह अवास्तविक कमल है और कण्टकयुक्त अर्थात् रोमाञ्चयुक्त दमयन्ती भुजासे उत्पन्न दमयन्ती भुजाग्रगृहवासी कमल तीक्ष्णाग्र नखोंके

के बहानेसे कण्टकयुक्त है, अतएव यही वास्तविक कमल है। कमलसे अधिक सुन्दर एवं तीक्ष्ण नखवाले दमयन्तीके हाथ हैं]॥ १२४॥

जागर्त्ति मर्त्त्येषु तुलार्थमस्या योग्येति योग्यानुपलम्भनं नः ।
यद्यस्ति नाके भुवनेऽथवाऽधस्तदा न कौतस्कुतलोकबाधः ? ॥१२५॥

जागर्त्तीति । मर्त्त्येषु, अस्याः भैम्याः, तुलार्थं तुलायै, औपम्याय इत्यर्थः, योग्या अर्हा, काचिदस्तीति शेषः, इति अत्र, नः अस्माकं, योग्यानुपलब्धिरेव बाधकप्रमाणं, जागर्त्ति विलसति; तथा च मर्त्त्येषु यदि एतत्सादृश्ययोग्या रमणी स्यात्, तदा उपलभ्येत इत्यनुपलब्धिरेव तत्र तदभावसाधिकेति भावः। नाके स्वर्गे, अथवा अधोभुवने पाताले च, यदि अस्ति, एतत्सदृशीति शेषः, तदा तर्हि, कौतस्कुतानां कुतः कुतः स्वर्गादिलोकात् आगतानां, 'तत आगतः' इत्यण्प्रत्ययः, अव्ययात् टिलोपः, कस्कादित्वात् सः, लोकानां देवनागादिरूपाणां, बाधः अत्र सम्मर्दः, न स्यात् ? इति शेषः, तत्रत्या नागच्छेयुः ? इत्यर्थः, अतः अनुपलब्ध्यर्थापत्तिभ्यामस्यास्त्रिलोक्यामपि तुलाभावो निश्चित इति निष्कर्षः। अत एवोपमानलोपाल्लुप्तोपमालङ्कारः॥ १२५॥

'इस दमयन्तीकी समानताके लिये कोई स्त्री योग्य मर्त्यलोकमें हैं' इस विषयमें योग्य की प्राप्ति न होना ही हमलोगों को प्रमाण है। यदि स्वर्गमें अथवा पातालमें है तो कहां—कहां से अर्थात् सर्वत्रसे आये हुए लोगोंकी भीड़ नहीं होती। [यदि दमयन्तीके समान कोई स्त्री मृत्युलोकमें होती तो मर्त्यलोकवासी हम लोगोंमें से कोई भी उसे देखता और आजतक किसीने इसके समान सुन्दरी अन्य किसी स्त्री को मर्त्यलोकमें नहीं देखा है, अतएव इसके समान सुन्दरी कोई स्त्री मर्त्यलोकमें है ही नहीं। तथा स्वर्ग या पातालमें भी इसके समान सुन्दरी कोई स्त्री होती तो वहां से इस दमयन्तीको पानेके लिये इतने लोग नहीं आते, अतः यह प्रमाणित होता है कि इस दमयन्तीके समान सुन्दरी स्त्री तीनों लोकोंमें नहीं है]॥ १२५॥

नमः करेभ्योऽस्तु विधेर्न वाऽस्तु स्पृष्टं धियाऽप्यस्य न किं पुनस्तैः ।
स्पर्शादिदं स्याल्लुलितं हि शिल्पं मनोभुवोऽनङ्गतयाऽनुरूपम् ॥१२६॥

नम इति । विधेः स्रष्टुः, करेभ्यः हस्तेभ्यः, नमः नमस्कारोऽस्तु, यैरिदं शिल्पमकल्पीति भावः। 'नमःस्वस्ति' इत्यादिना चतुर्थी, वा अथवा, नास्तु, नम इति पूर्वानुषङ्गः, कुतः ? अस्य विधेः, धिया मनसाऽपि, न स्पृष्टम्, इदं शिल्पमिति शेषः, तैः करैः, किं पुनः ? वाच्यमिति शेषः, न स्पृष्टमिति भावः। हि यस्मात्, स्पर्शात् करस्पर्शात्, इदम् अतिकोमलं, शिल्पं लुलितं तत्र तत्र मृदितं स्यात्, किन्तु अनङ्गतया अङ्गराहित्येन हेतुना, मनोभुवः कामस्य, अनुरूपं युक्तम्, इदं शिल्पमिति शेषः; हस्ताद्यवयवस्पर्शं विनैव निर्माणसम्भवात् त्रैलोक्यविजयिनः तस्य अनङ्गत्वेन विनिर्माणशक्तिसम्भवाच्चेति भावः। अत्र भैमीशिल्पस्य विधिकरणसम्बन्धेऽपि

असम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिस्तत्सापेक्षा चेयम् अनङ्गसृष्टित्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ १२६ ॥

ब्रह्माके हाथोंको नमस्कार है, (जिन्होंने इस दमयन्ती को रचा है), अथवा नमस्कार नहीं है, (क्योंकि) इस [(ब्रह्मा) की बुद्धिने भी इस शिल्प का स्पर्श नहीं किया है फिर हाथोंने कहांसे स्पर्श किया ? (ब्रह्मा ऐसे सुन्दर रूपको बनानेकी बुद्धिसे भी कल्पना नहीं कर सकते तो हाथसे बनाना तो असम्भव ही है। अथ च निरवयव बुद्धि भी जिसका स्पर्श नहीं कर सकती, उसका स्पर्श सावयव हाथ कैसे कर सकते हैं ?, और स्थूलबुद्धि वैदिक ब्रह्माकी बुद्धि का ऐसी सुन्दरी बनाने का विचार करना असम्भव ही है)। क्योंकि स्पर्शसे यह शिल्प धब्बोंसे युक्त हो जाता अतः अनङ्ग होनेसे कामदेवके योग्य यह शिल्प है अर्थात् अङ्गरहित कामदेवने ही इसे बनाया है, यही कारण है कि इसमें किसी अङ्गका स्पर्श नहीं होनेसे लेशमात्र भी कहीं पर धब्बा (कोई चिह्न) नहीं है; इस कारण इस सुन्दर रूपको बनानेवाले कामदेवको ही नमस्कार है। दमयन्तीका शरीर सर्वत्र समान रूपसे सुन्दर है]॥

इमां न मृद्वीमसृजत् कराभ्यां वेधाः कुशाध्यासनकर्कशाभ्याम् ।
शृङ्गारधारां मनसा न शान्ति-विश्रान्तिधन्वाध्वमहीरुहेण ॥ १२७ ॥

कुतोऽपि हेतोर्न वैधसृष्टिरियमित्याह, इमामिति। वेधाः स्रष्टा, मृद्वीं कोमलाङ्गीम्, इमां कुशाध्यासनेन कुशाक्रमणेन, कर्कशाभ्यां कराभ्यां नासृजत्, अयोग्यत्वादिति भावः। तथा शृङ्गारधारां शृङ्गाररसवाहिनीम् इमां, शान्तेः विषयविरतेः, विश्रान्त्यै धन्वाध्वमहीरुहो मरुमार्गवृक्षः, 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। तेन विविक्तेन विषयरसानभिज्ञेन, मनसाऽपि, नासृजत् इति पूर्वानुषङ्गः, स्वयमशृङ्गारिणः शृङ्गारिणीसृष्ट्यशक्तेरिति भावः। अत्र विधिकरमनःसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिसंसृष्टिः ॥ १२७ ॥

ब्रह्माने इस सुकुमारी (दमयन्ती) को कुशधारण करनेसे कर्कश हाथोंसे नहीं रचा है और शृङ्गार-प्रवाहरूपिणी इस (दमयन्ती) को शान्ति (विषय-विरक्ति) की विश्रान्तिके लिये मरुमार्गस्थ वृक्षरूप (अत्यन्त नीरस एवं कठोर) मनसे भी नहीं रचा है। [कर्कश हाथोंसे सुकुमारी की तथा विषयविरक्त एवं नीरस मनसे शृङ्गार प्रवाहवाली दमयन्ती ब्रह्मा की रचना नहीं हो सकती है] ॥ १२७ ॥

उल्लास्य धातुस्तुलिता करेण श्रोणौ किमेषा स्तनयोर्गुरुर्वा ।
तेनान्तरालैस्त्रिभिरङ्गुलीनामुदीतमध्यत्रिबलीविलासा ॥ १२८ ॥

उल्लास्येति। एषा दमयन्ती, श्रोणौ नितम्बदेशे, गुरुः गुर्वी, 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पात् ङीषभावः, स्तनयोः कुचयोः, वा गुरुः ? इति संशय इति शेषः, इतिशब्दस्य गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, धातुः करेण उत्तानपाणिना, उल्लास्य नीवीम् अपसार्य, उदरे गृहीत्वा उन्नमय्येत्यर्थः, तुलिता समं धारितेत्युत्प्रेक्षा; तेन तुलनेन, अङ्गुलीनां चतसृणां त्रिभिः अन्तरालैः अभ्यन्तरैः, उदीतः उद्गतः, इण् गताविति

धातोः कर्त्तरि क्तः, मध्ये मध्यदेशे, त्रिवलीविलासो बलित्रयशोभा यस्याः सा, जाता इति शेषः, अतो नूनं तुलितेत्यर्थः ॥ १२८ ॥

यह (दमयन्ती) नितम्ब देशमें भारी है या स्तनद्वयमें भारी है, इसकी परीक्षाके लिये ब्रह्माके हाथने उठाकर तौला है क्या ?, उससे (चार अङ्गुलियों) के मध्यगत तीन भागोंसे उत्पन्न मध्यमें त्रिवलियोंके विलासवाली यह दमयन्ती हो गयी है। ['नितम्बदेश तथा स्तनद्वयमें कौन-सा भारी है' इस परीक्षाके लिये उत्तानित हस्ततलकी चारों अङ्गुलियों पर ब्रह्माने दमयन्तीको रखकर तौला, उन्हीं चारों अङ्गुलियोंके मध्यगत तीन भागोंसे दमयन्ती की त्रिवलि बन गयी। दमयन्ती विशाल नितम्ब तथा स्तनोंवाली एवं सुन्दर त्रिवलि-वाली है] ॥ १२८ ॥

निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीमेतां क्रमोन्मीलितपीतिमानम् ।
कृत्वेन्दुरस्या मुखमात्मनाऽभून्निद्रालुना दुर्घटमम्बुजेन ॥ १२९ ॥

निजेति । इन्दुः निजम् आत्मीयम्, अमृतं पीयूषं, क्षीरदध्यादिगोरसश्च, 'अमृतं व्योम्नि देवान्ने मोक्षे हेम्नि च गोरसे' इति वैजयन्ती, तस्मात् उद्यत् उत्पद्यमानं, नवनीतं दधिसारः, 'दधिसारो नवनीतम्' इति हलायुधः, तज्जमङ्गं यस्यास्ताम्, अत एव क्रमोन्मीलितपीतिमानं नवनीतवदेव क्रमाविर्भूतपीतवर्णाम्, एतां भैमीं, कृत्वा निर्माय, निद्रालुना रात्रौ निमीलनशीलेन, अथ च अलसेन, अम्बुजेन पद्मेन, अस्या मुखं, दुर्घटं साधु न साध्यं, विविच्य इति शेषः, आत्मना अभूत् स्वयमेवाभूदित्युत्प्रेक्षा; अन्यथा दमयन्त्याः कथमीदृशी अङ्गलावण्यसम्पत्तिः चन्द्रवदनत्वञ्चेति भावः॥

चन्द्रमा अपने अमृत (सुधा, अथवा—दूध-दही आदि गोरस) से निकले हुए मक्खन से उत्पन्न अङ्गोंवाली तथा क्रमशः बढ़ते हुए पीलापन (पक्षा०—गौर वर्ण) वाली इस (दमयन्ती) को बनाकर (रात्रिमें) बन्द होनेवाले कमलसे दुर्घट अपनेसे (स्वयं ही) मुख बन गया। [कमल रात्रिमें बन्द हो जाता है, अतएव दमयन्ती का मुख कमलसे नहीं रचा गया है। दमयन्ती अत्यन्त गौर वर्ण वाली, अत्यन्त सुकुमारी तथा चन्द्रमाके समान मुखवाली है]॥

अस्याः स चारुर्मधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन ।
अमूनि पुष्पैर्विदधेऽङ्गकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन ॥ १३० ॥

अस्या इति । चारुः चतुरः, सः प्रसिद्धः, मधुर्वसन्त एव, नान्यः इति भावः, अस्याः भैम्याः, कारुः शिल्पी, यतो मलयानिलेन उपादानेन, अस्याः श्वासं निःश्वास-मारुतं, वितेने चकार; पुष्पैरमूनीति हस्तनिर्देशः, अङ्गकानि विदधे; वाचं पिकपञ्चमेन कोकिलस्वरेण, 'पिकः कूजति पञ्चमम्' इति वचनात्, चकार ससर्ज, इत्युत्प्रेक्षा; अन्यथा कथमेषामीदृशानि सौरभमार्दवमाधुर्याणीति भावः ॥ १३० ॥

चतुर यह प्रसिद्ध वसन्त ही इस (दमयन्ती) का शिल्पी (बनानेवाला कारीगर) है; उसने मलयवायुसे इसके श्वासको बनाया, पुष्पोंसे इन कोमल अङ्गोंको बनाया तथा कोयलके

पञ्चम स्वरसे वचनको बनाया। [दमयन्तीका श्वास मलयानिलके समान सुगन्धियुक्त, अङ्ग चम्पा आदि फूलोंके समान गौर वर्ण तथा कोमल और वचन कोयलके समान मधुर है]॥

कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः ।
रूपस्य शिल्पे वयसा स वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण ॥ १३१ ॥

कृतिरिति। एषा भैमी, स्मरस्यैव कृतिः सृष्टिः, धातुः न, कृतिरिति शेषः, हि यस्मात्, अस्याः भैम्याः, शिल्पी निर्माता, इतरकारुभिः शिल्प्यन्तरैः जेयो जय्यः, न, अस्याः शिल्पिना अपराजितेन एव भवितव्यमित्यर्थः; ब्रह्मा तु पराजित इत्याह—रूपस्य शिल्पे रूपनिर्माणविद्यायां, स च वेधाः स्मरकिङ्करेण कन्दर्पाधीनेन वयसा यौवनेनापि, निर्जीयते, बाल्यशरीरापेक्षया यौवनशरीरस्याधिकरमणीयत्वादिति भावः; अतस्तत्स्वामिना स्मरेण असौ जित इति किमु वक्तव्यम् इति युक्त्या स्मरकृतिरेवैषेत्युत्प्रेक्षा। स्वभावरमणीयं तद्रूपं यौवनमदनाभ्यां जगन्मोहनं जातम् इति तात्पर्यम् ॥ १३१ ॥

यह दमयन्ती कामदेवकी ही रचना है (कामदेवने ही इसे रचा है) ब्रह्माकी नहीं, क्योंकि इस (दमयन्ती) के कारीगरको दूसरा (कारीगर) नहीं जीत सकता। रूपके बनानेमें तो कामदेवके किङ्कर अवस्था (युवावस्था) ने ही ब्रह्माको सर्वथा जीत लिया है (फिर उस युवावस्थाके स्वामी कामदेवके द्वारा ब्रह्माका जीता जाना स्वतः सिद्ध है)। [ब्रह्मा बालक रूपवाले बालककी रचना करता है और युवावस्था उस रूपको अतिरमणीय बना देता है, क्योंकि युवावस्थामें बाल्यावस्थाकी अपेक्षा सुन्दर रूप हो जाता है; और वह युवावस्था कामदेवके वशमें रहनेसे किङ्करी है, इसलिए यह कल्पना की जाती है कि रूप-निर्माणमें स्मरकिङ्करी युवावस्थासे पराजित ब्रह्माकी रचना यह दमयन्ती नहीं हो सकती, किन्तु अजेय कामदेवकी ही रचना हो सकती है]॥ १३१ ॥

गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठ-निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुः ।
श्रमः स्मरस्यैष भवं विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय ॥ १३२ ॥

गुरोरिति। अथ गुरोः बृहस्पतेरपि, इमां भैमीं, भणत् वर्णयत्, ओष्ठकण्ठम् ओष्ठः कण्ठश्च प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। 'न लोका—'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया, तयोः निरुक्तिगर्वच्छिदया सौन्दर्यातिशयादिवर्णनविषयेऽसाधारणवक्तृत्वाहङ्कारखण्डनेन, 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्, विनेतुः शिक्षयितुः; ताच्छील्ये तृच्प्रत्ययः, त्वया निर्वक्तुम् अशक्यमस्या रूपनिर्माणमेवेति शिक्षयितुरिति भावः, स्मरस्यैष श्रम ईदृग्रूपनिर्माणप्रयासः, भवं संसारबन्धं, विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय भैमीसद्भावेन सदानन्दमयत्वात् संसार एव मोक्षः, वयं संसारं त्यक्त्वा वृथा मुक्ताः स्म इति पश्चात्तापजननाय, भवतीत्युत्प्रेक्षा, तया किमुतान्येषामित्यर्थापत्तिर्व्यज्यते। दमयन्तीसम्बन्धरहितां मुक्तिं धिगिति भावः॥ १३२ ॥

इस दमयन्ती का वर्णन करते हुए, बृहस्पतिके भी दोनों ओष्ठ तथा कण्ठको पूर्णतया वर्णन करनेमें असमर्थ होनेसे शिक्षित करनेवाले (पाठा०—शिक्षित करनेके लिए) कामदेवका यह परिश्रम (दमयन्ती की रचनारूप परिश्रम) संसारको छोड़कर मुक्ति पाये हुए लोगोंके पश्चात्तापके लिये है । [दमयन्तीके रहनेपर संसारमें ही मोक्ष है, अतः 'संसारको छोड़कर हमलोग क्यों मुक्त हुए' इस प्रकारके पश्चात्ताप करनेके लिए ही दमयन्तीको बनाने का परिश्रम कामदेवने किया है । इस दमयन्ती का पूर्णतया वर्णन नहीं कर सकनेसे बृहस्पति को भी कामदेव शिक्षा देनेवाला है या शिक्षा देनेके लिये कामदेवका उक्त श्रम है]॥

आख्यातुमक्षिव्रजसर्वपीतां भैमीं तदेकाङ्गनिखातदृक्षु ।
गाथासुधाश्लेषकलाविलासैरलञ्चकाराननचन्द्रमिन्द्रः ॥ १३३ ॥

आख्यातुमिति । अथ इन्द्रः अक्ष्णां व्रजेन नलरूपधार्यपि निजशक्त्या नेत्रसहस्रेण, सर्वेषु अङ्गेषु, पीताम् आदरदृष्टां, भैमीं तस्याः, भैम्याः, एकस्मिन्नेवाङ्गे निखाते प्रवेशिते दृशौ येषां तेषु द्विनेत्रेषु मनुष्येषु विषये, आख्यातुं तेभ्यः कथयितुं, सर्वविशेषज्ञो हि अज्ञेषु सविस्तरं कथयतीति भावः, गाथासुधायाः श्लोकामृतस्य, श्लेषकलायाः श्लेषालङ्कारविद्यायाः, विलासैः, अन्यत्र—अमृतसम्पर्केण षोडशभागविलासैश्च, आननमेव चन्द्रः तम् अलञ्चकार श्लिष्टार्थेन वक्ष्यमाणश्लोकेन चाकथयदित्यर्थः ॥ १३३ ॥

इस (राजाओंके ऐसा (१०।११३–१३२) कहने) के बाद इन्द्रने नलका रूप धारण कर (अपनी विशेष शक्तिके द्वारा) सहस्र नेत्र-समूहसे अच्छी तरह देखकर उस (दमयन्ती) के एक शरीरमें गडाये हुए नेत्रोंवाले (राजाओं) से कहनेके लिए श्लोकरूपी अमृतकी श्लेषकला (अमृतके सम्बन्धसे सोलहवें भाग) के विलासोंसे अपने मुखचन्द्रको अलङ्कृत किया अर्थात् इन्द्र श्लेषयुक्त मधुर श्लोक बोले—[दो नेत्र होनेसे दमयन्तीके एक किसी अङ्गको देखनेवाले लोगोंकी अपेक्षा नलका रूप ग्रहणकर स्वयंवरमें आनेपर भी अपनी दैवी शक्तिसे सहस्र नेत्रोंके द्वारा दमयन्तीके सम्पूर्ण शरीरको अच्छी तरह देखकर उसके विषयमें विशेष ज्ञाता होकर उन सामान्य ज्ञाताओंके कहनेके लिये श्लेषपूर्ण अमृततुल्य मधुर श्लोक बोले—इन्द्रने श्लेषालङ्कार युक्त मधुर श्लोक कहे—] ॥ १३३ ॥

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा ।
हेमैव कायप्रभयाऽङ्गशेषैस्तन्वी मतिं क्रामति मे न काऽपि ॥ १३४ ॥

तमेव श्लोकमाह—स्मितेनेति । इयं भैमी, स्मितेन गौरी गौरीसंज्ञा काचिद्देवाङ्गना, सिता च, 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती । मे मतिं क्रामतीत्युत्तरेणान्वयः; एवमुत्तरत्रापि दृशा दृक्शोभया, हरिणी काचिद्देवाङ्गना, कुरङ्गी च; सुस्वरकण्ठभासा सुमधुरकण्ठध्वनिसम्पत्त्या, वीणावती अप्सरोविशेषः, वीणायुक्ता च; कायप्रभया अङ्गकान्त्या, हेम अप्सरोविशेषः सुवर्णञ्च, अङ्गेषु शेषैः अवशिष्टाङ्गैः, तन्वी मेनकाऽपि

अप्सरोविशेषोऽपि, मतिं क्रामति एतस्या अङ्गानि दृष्ट्वा मेनका अप्सरा अपि स्मर्य्यते इति भावः; अथ च काऽपि तन्वी उपमानार्हा स्त्री, मे मतिं न क्रामति बुद्धिं नारोहति, अमर्त्यमर्त्योचितार्थद्वयमाश्रित्यावादीदिति द्रष्टव्यम्। अत्र एकस्या भैम्या गौरीत्यादिरूपेणोल्लेखादुल्लेखालङ्कारः; 'नानाधर्मबलादेकं यदि नानेव गृह्यते। नानारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः॥' इति लक्षणात्, स च श्लेषप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः। एतावतैव कविनाऽपि श्लेषकलाविलासैरित्युक्तम्, अस्य च ग्रहीतृभेदात् कारकभेदाच्चोत्थानादत्र स्मितानुकारकभेदादुत्थानमिति सङ्क्षेपः॥१३४॥

यह (दमयन्ती) स्मितसे गौरी (पार्वती या गौरी नामकी कोई अप्सरा, पक्षा०—गौर वर्णवाली) है, दृष्टिसे हरिणी (हरिणी नामकी अप्सरा, पक्षा०—मृगी) है, सुस्वर कण्ठकी कान्तिसे वीणावती (वीणावती नामकी अप्सरा या सरस्वती, पक्षा०—वीणावाली अर्थात् वीणाके समान मधुर कण्ठवाली) है, शरीरकान्तिसे हेमा (हेमा नामकी अप्सरा, पक्षा०—'हेम एव' पदच्छेदसे सुवर्ण) ही है, शेष अङ्गोंसे तन्वी अर्थात् कृशोदरी मेनका भी मेरी बुद्धिपर आक्रमण करती है [पक्षा०—कोई तन्वी अर्थात् कृशोदरी स्त्री मेरी बुद्धिमें नहीं आती है)। [किसी एक अंशसे इस दमयन्तीकी समानता उन-उन अप्सराओंमें होनेपर भी इसके सर्वांश पूर्ण होनेसे कोई भी अप्सरा इसकी समानता नहीं कर सकती है]॥

इति स्तुवानः सविधे नलेन विलोकितः शङ्कितमानसेन।
व्याकृत्य मर्त्योचितमर्थमुक्तेराखण्डलस्तस्य नुनोद शङ्काम्॥१३५॥

इतीति। इति स्तुवानः गौरीप्रभृत्यप्सरःस्वरूपत्वेन भैमीं वर्णयन्, आखण्डलः इन्द्रः, सविधे समीपे, शङ्कितमानसेन अमर्त्योचितार्थोपन्यासात् नूनमयं मदीयरूपधारी इन्द्र एवेति शङ्कितचित्तेन, नलेन विलोकितः सन् उक्तेः स्मितेनेत्यादिना वाक्यस्य, मर्त्योचितमर्थं गौरीत्यादिशब्दानां सितत्वादिरूपं, व्याकृत्य व्याख्याय, तस्य नलस्य, शङ्कां नुनोद॥१३५॥

इस प्रकार (१०।१३४ श्लेषपूर्ण वचनसे) प्रशंसा करते हुए, शङ्कित चित्तवाले पार्श्ववर्ती नलसे देखे गये इन्द्रने मनुष्यके योग्य अर्थको बतलाकर ('गौरी' इत्यादि शब्दोंका 'गौरवर्ण' आदि मानव-सङ्गत अर्थ बतलाकर) उस (नल) के सन्देहको दूर किया। ['यदि इस दमयन्तीको अप्सराके रूपमें यह वर्णन करता है, अत एव अवश्य मेरा रूप धारण कर आया हुआ इन्द्र है' इस प्रकार शङ्कित चित्तवाले नलकी शङ्काको मनुष्योचित दूसरे अर्थोंको कहकर दूर किया]॥१३५॥

स्वं नैषधादेशमहो! विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः?॥१३६॥

अत्र कविराह—स्वमिति। स इन्द्रः कार्यस्य भैमीलाभरूपकार्यस्य, हेतोर्निमित्तं, 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी, स्वम् आत्मानं, नैषधस्य नलस्य, आदेशं नलात्मकादेशं,

विधाय कृत्वा, नलो न भवतीत्यनलः, नञ्समासः अनलः न भवतीति नानलः नलः एव सन्, नलरूपधारी सन्नित्यर्थः, पुनः पश्चात्, नलस्य इन्द्रशङ्कानन्तरमित्यर्थः, तादृक् तथा कृतं मर्त्योचितं कृतं, व्याकरणं रागपारवश्योक्तस्यान्यथाविवरणं येन सोऽपि सन्, स्वोक्तेरन्यथा व्याकुर्वाणः सन्नित्यर्थः, स्थानी प्रसक्तिमान् यत्रादेशो भवति स इत्यर्थः, तद्वत् इन्द्रवदित्यर्थः, किं किमर्थं, दुष्टं पापिष्ठभावं, परस्त्रीवाञ्छामित्यर्थः, अधत्त ? अहो ! महेन्द्रस्यापि दुर्व्यसनितेत्याश्चर्यम् ; इन्द्रेण नलस्वरूपधारिणा सता नलस्यादुष्टस्वभावोऽपि धर्त्तुमुचितः, किन्तु तं विहाय परप्रतारणरूपस्वकीयदुष्टस्वभावो धृत इत्येवाश्चर्यमिति भावः। अन्यच्च—तादृक्कृतव्याकरणो महेन्द्रव्याकरणकर्त्तापि सन्, सः पण्डितः इन्द्रः, नैषधादेशं विधाय तद्रूपधारणेन तदादेशो भूत्वा, न अल् अनल्, स न भवतीति नानल् पूर्ववत् समासः अलित्यर्थः, तस्य अल्सम्बन्धिनः कार्यस्य हेतोः तदर्थं, दुष्टं निषिद्धं, स्थानिवद्भावं स्थानिवदादेशं, 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यनेनाल्सम्बन्धिकार्ये स्थानिवदादेशस्य निषेधादिति भावः, किं कथम् अधत्त ? इति अहो ! आश्चर्यम् !! अन्यच्च—तादृक्कृतव्याकरणः तथाकृतसंस्कारः, स इत्ययं शब्दः, स्वं स्वकीयम्, आदेशं विधायेति खण्डविश्लेषः, त्यदाद्यत्वं प्राप्येत्यर्थः, नानलः कार्यस्य हेतोः अल आश्रितहल्ङ्यादिलक्षणस्थानिकार्यार्थं, किम् इति दुष्टम् अल्विधाविति प्रतिषेधादनुपपन्नं, स्थानिवद्भावमधत्त ? अहो ! विरुद्धमित्यर्थः। अत्रोक्तस्य विरोधात् प्राथमिकार्थेनैव समाधानेन विरोधाभासोऽलङ्कारः, स च श्लेषप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः, तृतीयार्थे, नञ् इति विशेष्यस्य अपि सिद्धं तत् मृग्यं तदपि वाच्यस्य विरोधाभासस्यैव साधकत्वात् वाच्यसिद्ध्यङ्गमित्यनुसन्धेयम् ॥ १२६ ॥

इन्द्रने अपनेको नलका आदेश (दमयन्तीके परिहार वचनको अन्यथा (हृदयमें अप्सराओंसे सम्बद्ध अभिप्राय रहते हुए भी मानवोचित) अर्थ बतलाकर, पाठा०—दमयन्तीके प्रति नलको दूत बनाकर भेजना व्यर्थ होनेपर) कार्य (दमयन्तीकी प्राप्ति) के लिये नलभिन्न नहीं होता हुआ अर्थात् नल होता हुआ तथा वैसा (दमयन्तीविषयक अनुरागके अधीन होकर विपरीत) व्याख्यान करता हुआ स्थानी (जिसके स्थानपर आदेश होता है, वह स्थानी कहलाता है) के समान दुष्ट भाव (परस्त्रीविषयक चाहना) को क्यों धारण किया है ?। (पक्षा०—वैसे व्याकरण (प्रसिद्ध महेन्द्र व्याकरण) को बनानेवाला यह इन्द्र (नलके रूपको धारणकर) नैषधादेश होकर 'अल्' ('अल्' नामक वर्ण-समूहके प्रत्येक अक्षरका बोधक प्रत्याहार विशेष) से अभिन्न 'अल्' कार्यके लिये दुष्ट ('स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) के विरुद्ध) स्थानिवद्भावको क्यों धारण किया, ऐसा करना प्रसिद्ध व्याकरणकर्ताके लिये आश्चर्य या खेदको उत्पन्न करता है। अथवा—इन्द्रको स्वयं नलका रूप ग्रहण कर नलके स्वभाव (परस्त्री—विषय चाहना का या कपटयुक्त अन्यथा अर्थ करनेका अभाव) का भी ग्रहण करना उचित था, किन्तु इन्द्रने

नलादेश होकर (नल का रूप धारण कर) भी अपने कहे हुए वाक्यके मनोगत वास्तविक अर्थ को छिपाकर अन्यथा अर्थ कहना इन्द्रत्वावस्थामें रहनेके समान दुष्ट भावको प्रकट करता है। अथवा—ना (मनुष्य) नल एवं विद्वान् भी उस प्रकार अन्यथा अर्थ का स्थानी (इन्द्र पद) के समान क्यों दुष्ट भाव धारण किया ? क्योंकि इन्द्र का यज्ञ—तप आदिमें विघ्न—डालनेसे दुष्ट स्वभाव होना तो कथञ्चित् उचित हो सकता है परन्तु मनुष्य नल एवं विद्वान् होकर भी कामके लिए इन्द्रके स्वभावको नहीं छोड़ना और अपनी बातको अन्यथा समझना उचित नहीं है। अथवा—विद्वान् भी इस इन्द्रने वैसा प्रसिद्ध व्याकरण कर्ता होते हुए भी 'ध' आदेश ('नहोधः' पा० सू० ८।२।३४ से) करके 'अल्' प्रत्याहारसम्बन्धी कार्यमें 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) से स्थानिवत् कार्यका निषेध होनेपर भी स्थानिवद्भाव नहीं किया क्या अर्थात् अवश्य ही किया। 'स्थानिवत्--' सूत्रसे अलाश्रित कार्यमें स्थानिवद्भावका निषेध होने पर भी 'पथिमथ्यृभुक्षामात् (पा० सू० ६।१।८५) सूत्रसे अल् करनेपर स्थानिवद्भावसे आये हुए हल्त्वका आश्रयकर 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' (पा० सू० ६।१।६८) से सु लोप नहीं होता है, किन्तु उक्त महावैयाकरण इन्द्रने वहांपर भी स्थानिवद्भाव किया है, यह आश्चर्य है। अथवा—अपनेको नैषधादेश (नलके स्थानपर) करके कार्यके वास्ते वैसे विशिष्ट आकारवाला देवत्वको छोड़कर मनुष्य नल होते हुए इन्द्रने दुष्ट स्थानिवद्भावको क्यों धारण किया अर्थात् देवभावको छोड़कर मनुष्य भाव क्यों ग्रहण किया यह आश्चर्य है]॥

इयमियमधिरथ्यं याति नेपथ्यमञ्जु-
र्विशति विशति वेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः ।
इति जनजनितैः सानन्दनादैर्विजघ्ने
नलहृदि परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः ॥ १३७ ॥

इयमियमिति । नेपथ्येन प्रसाधनेन, मञ्जुः मनोज्ञा, उर्व्याः पृथिव्याः, उर्वशी भूतलोर्वशी, सेयं दमयन्ती, इयम् इयमिति पुरोनिर्देशः, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः अधिरथ्यं रथ्यायां, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, याति रथ्यायां गच्छतीत्यर्थः । वेदीं स्वयंवर-वेदिकां, विशति विशति इति एवं, जनैः दर्शकजनैः, जनितैः कृतैः, सानन्दनादैः सहर्षघोषैः कर्तृभिः, नलहृदि परेषां समीपस्थजनानां, भैमीवर्णनस्य आकर्णनाप्तिः श्रवणसुखलाभः, विजघ्ने विहतः, दमयन्तीसन्दर्शनेन सम्भ्रान्तानां लोकानां कलरवेण अन्यजनकृता दमयन्तीरूपवर्णना नलेन न श्रुता इति भावः । मालिनी-वृत्तम् ॥ १३७ ॥

यह दमयन्ती गली (स्वयंवरमण्डपके मार्ग) में जा रही है, पृथ्वीकी उर्वशी यह स्वयंवरवेदीपर प्रविष्ट हो रही है (अथवा—भूषण-मनोहारिणी तथा पृथ्वीकी उर्वशी यह दमयन्ती गलीमें जा रही है तथा वेदीपर जा रही है; इस प्रकार मनुष्योंके कहे गये

सानन्द स्वरोंसे नलके हृदयमें उत्कृष्ट दमयन्तीके वर्णन सुनने की प्राप्ति अथवा—दूसरे अर्थात् अन्य राजा लोग (या यम, वरुण, अग्नि) के द्वारा दमयन्तीके वर्णन सुनने की प्राप्तिमें बाधा हो गयी । [दमयन्तीके देखनेसे उत्पन्न लोगोंके हर्षनादसे ससम्भ्रम लोगों को देखकर नल भी स्वयं ससम्भ्रम होकर नलके वर्णनका सुनना बन्द कर दिया] ॥ १३६ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३८ ॥

श्रीहर्षमिति । तर्केष्वपीति न केवलं कवितायामेवेत्यर्थः । गतमन्यत् ॥ १३८ ॥

कवीश्वर-समूहके.........किया, न्यायशास्त्रमें भी अनुपम अभ्यास रखनेवाले अर्थात् न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् उसके रचित सुन्दर नलके चरित्र..........यह दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३७ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ।

तां देवतामिव मुखेन्दुलसत्प्रसादा-मक्ष्णा रसादनिमिषेण निभालयन्तीम् ।
लाभाय चेतसि धृतस्य वरस्य भीमभूमीन्द्रजा तदनु राजसभां बभाज ॥१॥

तामिति । तदनु तस्मादानन्दनादोत्थानादनन्तरमित्यर्थः, अनुशब्दस्य लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया । भीमभूमीन्द्रजा भैमी, मुखेन्दुषु, राज्ञामिति भावः, देवतायां मुखेन्दौ च, लसन् प्रसादः प्रसन्नता, भैम्यागमनजन्यहर्ष इति यावत् , पक्षे-काङ्क्षितं वरय इत्यादि अनुग्रहवचनं यस्यास्तां, तस्यै वरं प्रदातुमुद्यतामिति भावः, 'प्रसादोऽनुग्रहे काव्यप्राणस्वास्थ्यप्रसत्तिषु' इति विश्वः। तथा रसात् अनुरागात् , अनिमिषेण निमेषशून्येन, अक्ष्णा चक्षुषा, निभालयन्तीम् ईक्षमाणां, 'दर्शनेक्षणनिध्याननिर्वर्णननिभालनम्' इति वैजयन्ती । भल निरूपणे इति धातोश्चौरादिकाच्छतरि ङीप् । यद्यपि प्रायेणायं धातुरात्मनेपदी, यदाह भट्टमल्लः,—'निभालयते ईक्षते' इति, तथापि अस्य भुवादिषु अपि पाठादुभयत्र पठितादुभयपदी इति मतमाश्रित्यायं परस्मैपदप्रयोग इति द्रष्टव्यम् पक्षे—स्वभावतो देवतानाम् अनिमिषेण चक्षुषा रसात् साधकस्य भक्त्यतिशयात् भक्तं जनं पश्यन्तीं, तां राजसभां राजसमूहं, 'सभा द्यूतसमूहयोः । गोष्ठ्यां सभ्येषु शालायाम्' इति हैमः । 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' इत्यत्र 'पर्यायस्यैवेष्यते' इति नियमात् सभाया अनपुंसकत्वम् ।

देवतामिव चेतसि धृतस्य चिन्तितस्य, वरस्य वोढुर्नलस्य, देवदेयार्थस्य च, 'वरो ना रूपजामात्रोर्देवादेरीप्सिते वृतौ' इति वैजयन्ती । लाभाय प्राप्त्यर्थं, बभाज प्राप, सिषेवे च । अस्मिन् सर्गे वसन्ततिलकं वृत्तं, लक्षणमुक्तम् ॥ १ ॥

इस (मनुष्योंके हर्षनाद होने) के बाद भीमराजकुमारी (दमयन्ती) राजाओंके मुखचन्द्रोंसे विलसित होती हुई प्रसन्नतावाली, प्रेमसे निमेषरहित नेत्रसे देखती हुई चित्तमें ग्रहण किये हुए पति (नल) की प्राप्तिके लिये देवताके समान उस सभामें पहुंची । देवता पक्षमें—''''''(दमयन्ती) ने अपने (देवताके) मुखचन्द्रसे विलसित होती हुई प्रसन्नतावाली अर्थात् प्रसन्न मुखचन्द्रवाली (देवता होनेके कारण) निमेष-रहित नेत्रसे स्नेह-पूर्वक देखती हुई देवताको अभिलषित वरदान पानेके लिये सेवा की ॥ १ ॥

तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निजदेहदम्भात् ।
दृष्ट्या परं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे ॥२॥

तदिति । तैर्युवभिः सुतनौ दमयन्त्यां, दृष्ट्या परं दृष्ट्यैव, न केवलं ममज्जे न मग्नं, भावे लिट् । हृदयेन हृदयेनैवापि, न केवलं ममज्जे, किन्तु निर्मलासु अवयवभित्तिषु गण्डस्थलादिषु, तस्या विभूषारत्नेषु च प्रतिफलतां निजानां देहानां दम्भात् तत्क्षणप्रतिफलितशरीरव्याजात्, 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । सर्वात्मना एव सर्वाङ्गेनैव, ममज्जे; दृङ्मनोमज्जनं तावदास्तां किन्तु प्रतिबिम्बव्याजेन सर्वाङ्गमज्जनं जातमिति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

युवक (राज-समूह) सुन्दर शरीरवाली (दमयन्ती) में केवल दृष्टिसे ही निमग्न नहीं हुए और केवल हृदयसे निमग्न नहीं हुए; किन्तु उस (दमयन्ती) के निर्मल (अतिगौर वर्ण, कपोल आदि) अङ्गोंमें तथा उसके भूषणोंके रत्नोंमें प्रतिबिम्बित अपने शरीरके बहानेसे सम्पूर्ण शरीरसे ही निमग्न हो गये । [युवक राजा लोग उस सुन्दरी दमयन्तीमें केवल दृष्टि या हृदयमात्र से ही आसक्त नहीं हुये, किन्तु उसके निर्मल अङ्गों व भूषण जटितमणियोंमें प्रतिबिम्बित सम्पूर्ण शरीरके बहाने मानो सम्पूर्ण शरीर ही आसक्त हो गया । दमयन्तीको देखकर सभी युवक सर्वतोभावसे मोहित हो गये, दमयन्तीके निर्मल शरीर एवं भूषणों के मणियोंमें सबके शरीर प्रतिबिम्बित हो गये]॥ २ ॥

द्यामन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम् ।
चारुः स यादृगभविष्यदभूद्विमानैस्तादृक् तदभ्रमवलोकितुमागतानाम् ॥३॥

द्यामिति । गाधेर्जन्म यस्य स गाधिजन्मा विश्वामित्रः, 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । द्यां वसुमतीमपि अन्तरा स्वर्गभूम्योः अन्तराले, 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया अन्यमेव नाकलोकं स्वर्गान्तरं, निरमास्यत यदि निर्मिमीते चेत्, 'माङः क्रियातिपत्तौ लृङ्' स नाकलोकः, यादृक् चारुः अभविष्यत् भवेत्, 'पूर्ववल्लृङ्' तत् स्वयंवरसभोपरिस्थम्, अभ्रम् अन्तरिक्षं कर्तृ, अवलो-

किंतु, स्वयंवरमिति शेषः, आगतानां, देवानामिति शेषः, विमानैः तादृक् तथा चारु, अभूत् ; स्वयंवरसभाया ऊर्ध्वमाकाशमण्डलं देवानां विमानैः अन्तरिक्षसृष्टस्वर्गसदृशं शुशुभे इति भावः । अत्राभ्रस्यान्तराले नाकलोकासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । अभूतोपमेति केचित् ॥ ३ ॥

गाधि-पुत्र विश्वामित्र आकाश तथा पृथ्वीके बीचमें यदि दूसरा ही स्वर्गलोक बनाते और वह जैसा सुन्दर होता, वह अन्तरिक्ष उस स्वयंवर सभाको देखनेके लिये आये हुए देवोंके विमानोंसे वैसा सुन्दर हुआ । [दमयन्तीके स्वयंवरको देखनेके लिये देवलोग भी विमानों पर बैठकर अन्तरिक्षमें विराजमान हुए] ।

पौराणिक कथा—वसिष्ठमुनिके शापसे चाण्डाल बने हुए त्रिशङ्कु राजाको विश्वामित्र मुनि पूर्व विरोधके कारण यज्ञ कराकर सशरीर स्वर्ग भेजने लगे तो चाण्डाल त्रिशङ्कुका स्वर्गमें पहुंचना अनुचित होनेसे देवताओंने उन्हें नीचे गिरनेको कहा, तदनुसार वे नीचे गिरने लगे तो विश्वामित्र मुनि क्रोधित हो अपने तपोबलसे स्वर्ग-मर्त्यलोकके बीचमें दूसरा ही स्वर्ग लोक बनाने लगे और अन्तमें ब्रह्माके निषेध करनेपर उस कार्य को बन्द कर दिया ॥ ३ ॥

कुर्वद्भिरात्मभवसौरभसम्प्रदानं भूपालचक्रचलचामरमारुतौघम् ।
आलोकनाय दिवि सञ्चरतां सुराणां तत्रार्चनाविधिरभूदधिवासधूपैः ॥४॥

कुर्वद्भिरिति । भूपालचक्रस्य राजलोकस्य, चलानां चलतां, चामराणां मारुतस्यौघं प्रवाहम्, आत्मभवसौरभस्य स्वजन्यगन्धस्य सम्प्रदानं सम्प्रदानपात्रं, कुर्वद्भिः स्वसौरभं तत्र सङ्क्रामयद्भिरित्यर्थः, अधिवासधूपैः वासनार्थधूपैः, आलोकनाय स्वयंवरदर्शनाय, दिवि आकाशे, सञ्चरतां सुराणां देवानां, तत्र स्वयंवरे, अर्चनाविधिः पूजाकृत्यम्, अभूत्, राज्ञां चामरवायुभिः अधिवासधूपा आकाशव्यापिनोऽभूवन् इति भावः । अत्राधिवासधूपस्य सुरार्चनाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ४ ॥

राज-समूहके चलते हुए चामरोंके वायु-समूह को स्वजन्य सुगन्धि देते हुए सुगन्धित धूपोंसे स्वयंवर को देखनेके लिये आकाशमें चलते हुए देवों की पूजा हुई । [स्वयंवरमें अनेक प्रकारके धूप जलाये गये थे जिनकी सुगन्धि राजाओंके चामरोंकी हवा को भी सुगन्धित कर रही थी, आकाश तक पहुंचे हुए उनकी सुगन्धिसे विमानों पर बैठकर स्वयंवर देखनेके लिये घूमते हुए देवोंकी पूजा हुई । धूपसे देवताओं की पूजा करना उचित ही है] ॥ ४ ॥

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धमयगन्धवहप्रवाहम् ।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः ॥ ५ ॥

तत्रेति । तत्र स्वयंवरे, आलीभिः श्रेणीभिः, श्रेणीसम्बन्धात् आपततः आग-

च्छ्रुतः, अनङ्गशरान् अनुसरतीति तदनुसारी तत्सदृशः, भृङ्गवर्गः अवनीन्द्रचयस्य राजलोकस्य, चन्दनं चन्द्रः कर्पूरश्च, 'अथ कर्पूरमस्त्रियां घनसारः चन्द्रसंज्ञः' इत्यमर तयोर्लेपः, स एव नेपथ्यम् अलङ्कारः, तस्य यो गन्धस्तन्मयस्य तत्प्रचुरस्य, गन्धवहस्य वायोः, प्रवाहं संरुध्य मध्ये मार्गमावृत्य, अथवा--आलीभिः स्वीयश्रेणीभिः, तादृशवायुप्रवाहं संरुध्य अन्यत्र कुत्रचित् गन्तुमदत्त्वा इत्यर्थः, सौरभम् आमोदम् , अगाहत विलोडितवान् उपभुक्तवान् वा । सौगन्ध्यलोभात् भ्रमराः श्रेणीभूताः सन्तः सभायां विचरन्ति स्म इति भावः ॥ ५ ॥

उस स्वयंवरमें राज-समूहके चन्दनाधिक कर्पूरके लेप (अङ्गराग) रूप भूपणसे सुगन्धित (पाठा०--भूषणकी सुगन्धिको ग्रहण करनेवाली) वायुको पङ्क्तियोंसे रोककर गिरते (या आते हुए) कामबाणके सदृश भ्रमरसमूहने भोग किया । (अथवा—पङ्क्तियोंसे अर्थात् पङ्क्तिबद्ध होकर गिरते हुए······) । [अन्य भी कोई व्यक्ति बहते हुए किसी पदार्थ को वस्त्रादिसे रोककर उसका उपभोग करता है । पङ्क्तिबद्ध भ्रमर-समूह की अधिक लम्बाई तथा कामोद्दीपक होनेसे कामवाण की उत्प्रेक्षा की गयी है । सुगन्धिकी अधिकतासे सर्वत्र भ्रमर-समूह उड़ रहे थे] ॥ ५ ॥

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाऽभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम् ॥

उत्तुङ्गेति । उत्तुङ्गाः अतिताराः, ये मङ्गलमृदङ्गनिनादाः माङ्गलिकविवाहमुरजध्वनयः, तद्भङ्गीनां तत्प्रकारविशेषाणां, सर्वानुवादविधिना प्रतिध्वनिरूपेण कृत्स्नप्रत्युच्चारणेन, बोधिता निवेदिता, साध्वी उत्कृष्टा, मेधा धारणाशक्तिः यासां ताः तथोक्ताः, 'धीर्धारणावती मेधा' इत्यमरः, परोक्तसर्वविशेषानुवादस्य मेधाकार्यत्वात् तस्याः तल्लिङ्गत्वमिति भावः; सौधस्रजः प्रासादपङ्क्तयः, प्लुतपताकतया चलत्पताकतया, चलत्कररूपपताकतयेति भावः, जनेषु सभास्थितेषु विषये, समीपे वा, निजताण्डवपण्डितत्वं स्वस्य नृत्यकौशलं, 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यञ्च नर्त्तने' इत्यमरः; अभिनिन्युः व्यञ्जयन्ति स्म, मन्ये वाक्यार्थः कर्म । मृदङ्गप्रतिध्वानात् पताकाचलनाच्च नर्त्तकीवत् वाक्यानुवादं हस्ताभिनयं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा, सौधपङ्क्तिषु नर्त्तकीव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः अलङ्कारश्च ॥ ६ ॥

ऊँचे मङ्गलमय मृदङ्गके स्वरों की भङ्गीके सम्पूर्ण अनुवाद करने (प्रतिध्वनित होनेके कारण ज्यों का त्यों कहने) से श्रेष्ठ बुद्धिका प्रदर्शन किये हुए महलोंके समूहोंने चञ्चल ध्वजाओंसे लोगोंके सामने अपने नृत्यके पाण्डित्य अर्थात् नृत्यकलाचातुर्यको दिखलाया । [विवाहार्थ मङ्गलमय मृदङ्ग बज रहे थे उनका उच्च स्वर महलोंमें प्रतिध्वनित हो रहा था तथा ऊपरमें पताकाएं वायुसे हिल रही थीं तो ऐसा मालूम पड़ता था कि ये महल मृदङ्ग के स्वरोंको अनुवाद करते (दुहराते) हुए अपनी नृत्यकला का चातुर्य लोगोंको दिखला

रहे हैं । अन्य भी कोई चतुर नर्तकी मृदङ्ग आदि बाजाओंके स्वरोंको ज्योंके त्यों अनुवाद करती अर्थात् गाती हुई हाथ आदि अङ्गोंको हिलाकर अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन जनताके समक्ष करती है । तथा दूसरा कोई बुद्धिमान् शिष्य भी गुरुके वचनों का सम्पूर्णतया अनुवाद (दुहरा) कर हाथ आदिके द्वारा सङ्केत करता हुआ अपनी तीव्र बुद्धिका परिचय लोगोंको देता है] ॥ ६ ॥

सम्भाषणं भगवती सदृशं विधाय वाग्देवता विनयबन्धुरकन्धरायाः ।
ऊचे चतुर्दशजगज्जनतानमस्या तत्राश्रिता सदसि दक्षिणपक्षमस्याः ॥ ७ ॥

सम्भाषणमिति । चतुर्दशानां जगतां समाहारश्चतुर्दशजगत्, तत्र जनतायाः जनसमूहानां, नमस्या नमस्कार्या, 'नमोवरिव–' इति क्यचि धातुसंज्ञायामचो यत्, 'क्यस्य विभाषा' इति क्यचो लोपः भगवती वाग्देवता सरस्वती, तत्र सदसि, विनयेन बन्धुरकन्धरायाः नम्रग्रीवायाः, 'बन्धुरौ नम्रविषमौ' इति वैजयन्ती, अस्याः भैम्याः, दक्षिणपक्षं दक्षिणपार्श्वम्, अथ च अनुकूलपक्षम्, आश्रिता आस्थिता, पूज्यत्वाद्दक्षिणपार्श्वस्थिता सतीत्यर्थः, सदृशं तत्कालोचितं, सम्भाषणं विधाय 'आगच्छ वत्से ! पश्य' इत्यादि वाक्यमुक्त्वा, ऊचे वक्ष्यमाणमुवाच । दक्षिणपक्षमित्यनेन दमयन्तीपक्षपातित्वं सूचितम् ॥ ७ ॥

उस स्वयंवरमें भगवती (षड्गुण[1] ऐश्वर्यादिवाली) तथा चौदह भुवनों की जनताके द्वारा पूजा (या नमस्कार) के योग्य सरस्वती विनयसे नम्र कन्धरावाली इस (दमयन्ती) के दक्षिण पक्षका आश्रयकर अर्थात् पूज्य होनेसे दहने पार्श्वमें खड़ी होकर (अथवा— अनुकूल पक्षको लेकर) उचित (उस समयके योग्य) भाषा करके बोली—॥ ७ ॥

अभ्यागमन्मखभुजामिह कोटिरेषा येषां पृथक्कथनमब्दशतातिपाति ।
अस्यां वृणीष्व मनसा परिभाव्य कञ्चिद् यं चित्तवृत्तिरनुधावति तावकीना॥

अभ्येति । हे वत्से ! इह स्वयंवरे, मखभुजां देवानाम्, एषा कोटिः अनन्तसङ्ख्या, अभ्यागमत् अभ्यागता, येषां मखभुजां, पृथक् प्रत्येकमेव, कथनं वर्णनम्, अब्दानां वत्सराणां, शतानि अतिपतति अतिक्रामतीति तथोक्तं, तावता कालेनापि कर्त्तुं न शक्यते इत्यर्थः, अस्यां सुरकोट्यां, यं कञ्चित् सुरं, तवेयं तावकीना त्वदीया, 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इति खञ् । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः, चित्तवृत्तिः अनुधावति अनुयाति, मनसा परिभाव्य आलोच्य, तं वृणीष्व स्वीकुरु इत्यर्थः ॥ ८ ॥

यहां (स्वयंवरमें) ये करोड़ों देव आये हुए हैं, जिनका अलग-अलग वर्णन करनेमें

---

1. 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः ॥ १ ॥'
इति कथिताः षड् भगा यस्याः सा 'भगवती' ।

सैकड़ों वर्ष बीत जायेंगे (तब भी यथावत् वर्णन नहीं हो सकेगा, अत एव इनका अलग-अलग वर्णन करना ठीक नहीं)। मनसे विचारकर इनमें किसीको स्वीकार करो, जिसपर तुम्हारी चित्तवृत्ति दौड़े अर्थात् जिसे तुम्हारा चित्त पसन्द करे। ['तुम्हारी चित्तवृत्ति दौड़े, उसे मनसे विचारकर स्वीकार करो' ऐसा दमयन्तीसे कहकर सरस्वती देवीने देवोंके वरण करनेमें अपनी असम्मति प्रकट की अर्थात् 'इनका वरण करना ठीक नहीं' यह सङ्केत किया]॥ ८॥

एषां त्वदीक्षणरसादनिमेषतैषा स्वाभाविकानिमिषतामिलिता यथाऽभूत् ।
आस्ये तथैव तव नन्वधरोपभोगैः मुग्धे ! विधावमृतपानमपि द्विधाऽस्तु ॥

एषामिति । एषां सुराणां, त्वदीक्षणे रसात् अनुरागात्, एषा प्रत्यक्षपरिदृश्यमाना, अनिमेषता निमेषराहित्यं, यथा स्वाभाविक्या 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। न निमिषतीत्यनिमिषा 'इगुपधलक्षणं कः' तेषां भावस्तत्ता अनिमिषता निर्निमेषता, तया मिलिता सङ्गता सती, द्विधा द्विगुणिता, अभूत्, तथैव ननु अयि, मुग्धे ! सुन्दरि ! विधौ चन्द्रे, अमृतपानमपि तव आस्ये आस्यचन्द्रे, अधरोपभोगैः अधरामृतपानैः, मिलितं सत् द्विधाऽस्तु द्विगुणितमस्त्वित्यर्थः; स्वभावतो निमेषरहिता देवा यथा त्वद्दर्शनकार्येण निमेषशून्या जाता, तथा चन्द्रामृतपायिनोऽपि त्वदधरामृतपायिनो भवन्तु इति भावः। अत्रानिमिषत्वामृतपानयोर्द्वैविध्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९ ॥

हे सुन्दरि ! इन (देवों) का तुम्हारे देखनेके प्रेमसे यह निमेषाभाव जिस प्रकार स्वाभाविक निमेषाभावसे मिलकर पुनरुक्त हुआ है, उसी प्रकार चन्द्रमामें अमृतपान करना भी तुम्हारे मुखमें अधरके उपभोग (अधरामृत पान करने) से पुनरुक्त होवे। [देव स्वभावतः निमेष-रहित होते हुए भी फिर तुम्हारे देखनेके प्रेमसे जैसे फिर अनिमेष हो गये, वैसे ही चन्द्रमें अमृतपान करनेवाले ये तुम्हारे मुखमें फिर अधरामृत पान करें]॥

एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः सः प्राग् दग्धभूमिसुरभेः खलु पञ्चशाखः ।
मुक्ताफलं फलनसान्वयनाम तन्वन्नाभाति बिन्दुभिरिव च्छुरितः पयोभिः¹॥

एषामिति । सकलानि रत्नान्येव फलानि यस्य स सर्वरत्नप्रसूतिरित्यर्थः, फलनं सस्यत्वेन सम्पादनं, 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्ल्युट्, तेन सान्वयम् अन्वर्थं, नाम यस्य तन्मुक्ताफलं तन्वन् मुक्ताफलं तादृशं कुर्वन्, मुक्तानां शुक्त्यादिसम्भूतत्वेन तासां फलत्वं न उपपन्नं, किन्तु कल्पवृक्षप्रसूतत्वेनैव फलत्वमुपपन्नमिति मुक्ताफलस्य नाम सार्थकमेव कुर्वन्निति भावः, एषां सुराणां सम्बन्धी, स प्रसिद्धः, तरुः कल्पवृक्षः, प्राक् पुरा, दुग्धा भूमिरेव सुरभिः गौः, गोरूपधरा भूमिः ओषधिरत्नादीनि दुग्धा इत्यर्थः, येन तस्य; तदुक्तं,—'प्रमाणं श्रूयते दुग्धा पुनर्दिव्यैर्वसु-

१. 'पयोब्धेः' इति वा पाठः ।

न्धरा। ओषधीश्चैव भास्वन्ति रत्नानि विविधानि च ॥ वत्सस्तु हिमवानासीद् दोग्धा मेरुर्महागिरिः' ॥ इति; गिरेर्मेरोः सम्बन्धी, पयोभिः क्षीररूपैः, बिन्दुभिः छुरितः सर्वतो व्याप्तः, पञ्चशाखः पाणिरिव, आभाति खलु इत्युत्प्रेक्षा। 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः, अथ च पञ्च शाखाः वृक्षावयवविशेषाः यस्य सः शाखापञ्चकविशिष्टः; पाणिना विना गोदोहनस्य असम्भवात् कल्पवृक्षः सुमेरोः कर आसीत्, दोग्धुः पाणिः दुग्धबिन्दुभिर्दिग्धो भवतीति प्रसिद्धेः, अत्र रत्नानामेव दुग्धत्वात् कल्पवृक्षस्य च रत्नादिसम्पर्कात् सुतरां मेरोः कर एव कल्पवृक्षः इत्यर्थः; सुरवरणेन कल्पवृक्षः तथा मेरुस्ते हस्तगामी भविष्यतीति भावः ॥ १० ॥

समस्त रत्नरूपी फलवाला अर्थात् समस्त रत्न देनेवाला, फलनेसे सार्थक नामवाले मुक्ताफल (मोती) को विस्तृत करता हुआ अर्थात् मोतियोंसे व्याप्त, इन (देवों) का वह (सुप्रसिद्ध) वृक्ष (कल्पवृक्ष) पहले गोरूपधारिणी पृथ्वीको दुहनेवाले सुमेरु पर्वतके दुग्धरूप (पाठा०—समुद्रके) बिन्दुओंसे व्याप्त हाथ (पक्षा०—पांच शाखाओंसे युक्त) के समान शोभता है । [गोदोहनके लिये तत्पर सुमेरु पर्वतका हाथ कल्पवृक्ष हुआ हाथमें भी पांच अङ्गुलियां होती हैं और कल्पवृक्ष पांच शाखाओंवाला माना गया है, गोदोहन करनेपर हाथमें दुग्धकी बूँदोंका छींटा पड़ना उचित है, उन्हीं की कल्पवृक्षमें फले (लगे) हुए मुक्ताफलसे उत्प्रेक्षा की गयी है । गोपाल का सहचर बतलाकर इन दोनोंमें भी सरस्वती देवीने वरण करनेकी अयोग्यता सूचित की है । 'पृथु राजासे आदिष्ट गोरूप धारिणी पृथ्वीसे मेरु पर्वतने रत्नों तथा ओषधियोंको दुहा था' ऐसा शास्त्रीय वचन है] ॥१०॥

वक्त्रेन्दुसन्निधिनिमी[1]लिदलारविन्दद्वन्द्वभ्रमक्षममथाञ्जलिमात्ममौलौ।
कृत्वाऽपराधभयचञ्चलमीक्षमाणा साऽन्यत्र गन्तुममरैः कृपयाऽन्वमानि ॥

वक्त्रेन्द्विति । अथ सरस्वतीवाक्यानन्तरं, वक्त्रेन्द्रोः सन्निधिना सन्निधानेन, निमीलीनि सङ्कुचन्ति, दलानि पत्राणि ययोस्तयोः अरविन्दयोर्द्वन्द्वस्य युग्मस्य, भ्रमक्षमं भ्रान्तिजननशक्तिं, सङ्कुचद्दलपद्मयुगलतुल्यमित्यर्थः, अञ्जलिम् आत्ममौलौ स्वमूर्ध्नि कृत्वा देवान् नमस्कृत्येत्यर्थः, अपराधात् अवरणाद्धेतोः, यद्भयं सुरेभ्यः शापादिभयं, तेन चञ्चलं यथा तथा ईक्षमाणा देवान् पश्यन्ती, सा भैमी, अमरैः कृपया अन्यत्र गन्तुम् अन्वमानि अनुमता, दमयन्तीं स्वजातिमनुष्येषु अनुरागिणीं ज्ञात्वा यत्र ते अनुरागस्तं वृणु, मा भैषीरिति कृपयाऽनुमतेत्यर्थः; प्रणिपातप्रसाद्याः खलु महान्त इति भावः। अत्राञ्जलौ वक्त्रेन्दुसन्निधिसङ्कुचितारविन्दयुगलभ्रान्तिवर्णनात् रूपकानुप्राणितो भ्रान्तिमदलङ्कारः इति सङ्करः। 'कविसम्मतसादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतिबिम्बनं भ्रान्तिमान्' इति लक्षणात् ॥ ११ ॥

इस (सरस्वती देवीके ऐसा (१४।८–१०) कहने) के बाद मुखचन्द्रके समीपमें

---

१. 'निमील' इति पाठान्तरम्।

बन्द होनेवाले (पाठा०—होते हुए) दलों वाले दो कमलोंके भ्रमको उत्पन्न करनेवाली अञ्जलिको अपने मस्तकपर करके अर्थात् मस्तकपर अञ्जलि रखकर अपराध करनेके भयसे चञ्चलतापूर्वक देखती हुई दमयन्तीको देवोंने कृपाकर अन्यत्र जानेकी अनुमति दे दी। [अन्य भी कोई दयालु व्यक्ति हाथ जोड़कर मस्तकपर रखने तथा समय देखनेपर उसकी इच्छानुसार कार्य करनेकी अनुमति दे देता है, अतः दयालु देवोंका वैसा करना उनके अनुरूप ही हुआ । मुखरूपी चन्द्रके समीप हस्तरूपी कमलदलका बन्द होना उचित ही है। दमयन्ती उन देवोंको छोड़कर आगे बढ़ी] ॥ ११ ॥

तत्तद्विरागमुदितं शिविकाऽधरस्थाः साक्षाद्विदुः स्म न मनागपि यानधुर्याः ।
आसन्ननायकविषण्णमुखानुमेयभैमीविरक्तचरितानुमया[1] नु जज्ञुः ॥ १२ ॥

तत्तदिति । शिविकायाः यानविशेषस्य, अधरस्था अधःस्थिताः, यानस्य धुर्याः धूर्वहाः, शिविकावाहिनः इत्यर्थः, शिवभागवतवत् समासः 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्-प्रत्ययः उदितम् उत्पन्नं, तत्तत् विरागं तस्याः भैम्यास्तेषु तेषु नायकेषु विषये विरागम् अपरागं, मनाक् ईषदपि, साक्षात् प्रत्यक्षं, न विदुः न विन्दन्ति स्म 'विदो लटो वा' इति लिट् 'झेर्जुस्' इहि जुसादेशः, 'लट् स्मे' इति भूते लट् किन्तु आसन्नानां पुरोवर्त्तिनां, नायकानां विषण्णैः ग्लानियुक्तैः, मुखैरनुमेयानां भैम्या विरक्तचरितानां प्रत्याख्यानसूचकनमस्कारादिरूपचेष्टितानाम् , अनुमया अनुमानेन, 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् , नु एव, जज्ञुः अज्ञासिषुः, तत्तद्विरागमिति शेषः, नायकमुखचेष्टया भैमीवैराग्यमनुमितवन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

पालकीके नीचे रहनेवाले (ढोनेवाले) कहार उन-उन देवोंके विषयमें उत्पन्न हुए (दमयन्तीकी) विरक्तिको बिलकुल नहीं जाने (दमयन्तीके पालकीमें ऊपर बैठनेसे तथा कहारोंके नीचे रहनेसे दमयन्ती को नहीं देख सकनेके कारण उसके भावको नहीं जानना उचित ही है), किन्तु समीपस्थ नायकों (देवों) के उदासीन मुखके द्वारा अनुमान करने योग्य दमयन्तीके स्नेहाभावके आचरणों (नमस्कार आदि) से अनुमान करनेवाले वे (पालकी ढोनेवाले कहार) निश्चय ही जान गये (पाठा०--बादमें आगे बढ़े) । [पार्श्वस्थ देवोंके मलिन मुखसे दमयन्तीके स्नेहाभावका अनुमान कर वे देव 'आगे चलो' ऐसी आज्ञा नहीं पानेपर भी आगे बढ़ गये, इससे उनकी चतुरता सूचित होती है] ॥ १२ ॥

रक्षःस्वरक्षणमवेक्ष्य निजं निवृत्तो विद्याधरेष्वधरतां वपुषैव भैम्याः ।
गन्धर्वसंसदि न गन्धमपि स्वरस्य तस्या विमृष्य विमुखोऽजनि यानिवर्गः ॥

रक्षःस्विति । यानं वाहनमस्तीति यानिनः शिविकावाहिनः, तेषां वर्गः समूहः, रक्षःसु राक्षसेषु, निजं स्वकीयम् , अरक्षणं विनाशनम् , अवेक्ष्य विविच्य, तेषां हिंस्र-

---

१. '—मया तु जग्मुः' '—ऽनुजग्मुः' इति वा पाठान्तरम् ।

त्वात् तेषु गमनमनुचितं निश्चित्येत्यर्थः, निवृत्तः तेभ्यः पराङ्मुखोऽभूत्, राक्षसानां समीपगमने ते यदि अस्मान् भक्षयेयुः इति भयेन तेषां समीपेऽपि न जग्मुः इति भावः। विद्याधरेषु देवयोनिभेदेषु, भैम्याः भैमीतः, 'पञ्चमी विभक्ते:' इति पञ्चमी, वपुषा एव अधरतां निकृष्टत्वं, विमृष्य निश्चित्य, तथा गन्धर्वाणां संसदि सङ्घे, तस्याः भैम्याः स्वरस्य गन्धमपि लेशमपि, न विमृष्य लेशस्याप्यभावं ज्ञात्वा इत्यर्थः, नञर्थेन नशब्देन सुप्सुपेति समासः, 'गन्धो लेशे महीगुणे' इति वैजयन्ती, विमुखोऽजनि पराङ्मुखो जातः। जने कर्त्तरि लुङ्, 'दीपजन—' इत्यादिना कर्त्तरि चिणादेशः ॥ १३ ॥

पालकी ढोनेवाले कहारोंका समुदाय (शिविकावाहक लोग) राक्षसोंमें अपनी रक्षाका अभाव देखकर ही लौट गया ('ये राक्षस हमें खा जायेंगे' इस भयसे वहां नहीं गया), विद्याधरों (अश्वमुख एवं नरशरीर वाले तथा नरशरीर एवं अश्वमुखवाले) में दमयन्तीके शरीरकी अपेक्षा नीचता (कम सौन्दर्य) को और गन्धर्व-समूहमें उस (दमयन्ती) के स्वरका लेश (थोड़ा-सा अंश) भी नहीं विचार कर (वहांसे) विमुख हो गया। [राक्षस, विद्याधर तथा गन्धर्वोंके अयोग्य होनेसे वहां दमयन्तीके शिविकावाहक नहीं गये]॥

दीनेषु सत्स्वपि कृताफलवित्तरक्षैर्यक्षैरदर्शि न मुखं त्रपयैव तस्याम्[1]।
ते जानते स्म सुरशाखिपतिव्रतां किं तां कल्पवीरुधमधिक्षिति नावतीर्णाम् ?॥

दीनेष्विति। दीनेषु दरिद्रेषु, सत्सु विद्यमानेषु अपि, कृता अफला निष्फला, वित्तरक्षा धनगुप्तिः यैस्तैः कृपणैः, यक्षैः त्रपयैव तस्यां भैम्यां विषये, मुखं न अदर्शि न दर्शितं, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, तथा हि, ते यक्षा, तां दमयन्तीम्, अधिक्षिति क्षितौ, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, अवतीर्णाम् उत्पन्नां, सुरशाखिपतिव्रतां सुरशाखिनां पत्युः कल्पवृक्षस्येव, व्रतम् इच्छापूरकत्वलक्षणं यस्यास्ताम्, अथ-च कल्पवृक्षस्वरूपक-नलपत्नीं, कल्पवीरुधं कल्पलतां, न जानते स्म किम् ? बहुदात्रीं तां ज्ञातवन्त एव; ततः तेषां निधिगोपकानाम् अतिवदान्यायास्तस्याः कुतो वरणवार्त्ताऽपीति भावः। अस्या वदान्यतया तेषां युक्ता लज्जेति कारणात् कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १४ ॥

दीनजनोंके रहनेपर भी व्यर्थमें धनको बचाये हुए यक्षोंने लज्जासे दमयन्तीके पास (पाठा०—दमयन्तीसे लज्जा होनेसे) मुख ही नहीं दिखलाया, क्योंकि वे (यक्ष) उस (दमयन्ती) को पृथ्वीमें अवतार ली हुई अर्थात् पृथ्वीमें उत्पन्न कल्पवृक्षकी पत्नी कल्पलता नहीं जानते थे क्या ? अर्थात् अवश्य जानते थे। (देववृक्ष कल्पतरु स्वर्गमें रहता है, किन्तु अभिलषित फल देनेवाली यह दमयन्ती उस कल्पतरु की पतिव्रता पत्नी की तरह है, इस अत्यन्त दानशीला दमयन्तीके सामने धनकी व्यर्थ रक्षा करनेवाले यक्षोंको लज्जा आयी

---

१. भैम्यां, भैम्याः, इति पाठान्तरे।

अत एव वे स्वयंवरमें नहीं आये । अन्य भी कोई कृपण व्यक्ति दानीके सामने आनेमें लज्जित होता है] ॥ १४ ॥

जन्या[1]स्ततः फणभृतामधिपं सुरौघान्माञ्जिष्ठमञ्जिमवि[2]गाहिपदौष्ठलक्ष्मीम् ।
तां मानसं निखिलवारिझरान्नवीना हंसावलीमिव घना गमयाम्बभूवुः ॥

जन्या इति । ततोऽनन्तरं, जनीं बधूं वहन्तीति जन्याः बधूभृत्याः, 'जन्या भृत्या नवोढायाः' इति केशवः । 'संज्ञायां जन्याः' इति यत्-प्रत्ययान्तो निपातः, मञ्जिष्ठया रागद्रव्यविशेषेण रक्तं माञ्जिष्ठं 'तेन रक्तम्' इत्यण्, तस्य मञ्जिमानं रामणीयकं, विगाहते इति तद्विगाहिनी तादृशरक्तवर्णेत्यर्थः, पदौष्ठस्य पदयोरोष्ठयोश्च, लक्ष्मीः शोभा यस्यास्ताम्, विशेषणमेतत् हंसावल्यामपि योज्यम्, 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति पररूपं वक्तव्यम्, तां भैमीं, नवीनाः घनाः मेघाः, हंसावलीं हंसश्रेणीं, निखिलात् वारिझरात् जलप्रवाहात्, मानसं मानसाख्यं सर इव, सुरौघात् सुरौघं विहाय, इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, 'जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः' इति कविसमयप्रसिद्धिः; फणभृतामधिपं वासुकिं, गमयाम्बभूवुः निन्युः ॥ १५ ॥

इसके बाद वधू (दमयन्ती) के भृत्य (या वाहक, पाठा०—यानवाहक) मँजीठके रङ्गके समान सुन्दरतायुक्त पैरों और ओठोंकी शोभावाली उस दमयन्ती को देव-समूहसे हटाकर सर्पराज (वासुकि) के पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार नये मेघ हंसपङ्क्तिको समस्त जलप्रवाहसे हटाकर मानसरोवर ले जाते हैं] ॥ १५ ॥

यस्या विभोरखिलवाङ्मयविस्तरोऽयमाख्यायते परिणतिर्मुनिभिः पुनः सा ।
उद्गत्वरामृतकरार्द्धपरार्द्ध्यभालां बालामभाषत सभासततप्रगल्भा ॥१६॥

यस्या इति । अयम् अखिलवाङ्मयविस्तरः शब्दप्रपञ्चः, मुनिभिर्व्यासादिभिः, विभोः महाशक्तेः, यस्याः देव्याः सरस्वत्याः, परिणतिः रूपान्तरम्, आख्यायते, सभासु सततप्रगल्भा सा देवी सरस्वती, उद्गत्वरस्य उदित्वरस्य, उदीयमानस्य इत्यर्थः, 'गत्वरश्च' इति गमेः क्करबन्तो निपातः, अमृतकरस्य इन्दोः, अर्द्धमिव परार्द्ध्यमुत्कृष्टं, भालं ललाटं यस्यास्तां, बालां भैमीं, पुनः अभाषत उक्तवती ॥ १६ ॥

मुनि लोग इस समस्त शब्दप्रपञ्चको महाशक्तिवाली जिस (सरस्वती देवी) का परिणाम अर्थात् रूपान्तर कहते हैं, सभामें निरन्तर प्रगल्भ वह (सरस्वती) देवी उदय लेते हुए अर्द्धचन्द्रके समान श्रेष्ठ ललाटवाली बाला (दमयन्ती) से बोली—॥ १६ ॥

आश्लेषलग्नगिरिजाकुचकुङ्कुमेन यः पट्टसूत्रपरिरम्भणशोणशोभः ।
यज्ञोपवीतपदवीं भजते स शम्भोः सेवासु वासुकिरयं प्रसितः सितश्रीः ॥

आश्लेषेति । यो वासुकिः, आश्लेषात् आलिङ्गनात्, लग्नेन सक्तेन, गिरिजायाः पार्वत्याः, कुचयोः कुङ्कुमेन पट्टसूत्रस्य परिरम्भणात् परिवेष्टनादिव, शोणशोभः अरुण-

---

१. 'यान्याः' २. '–मवगाहि–' इति पाठान्तरम् ।

कान्तिः सन्, शम्भोर्यज्ञोपवीतस्य पदवीं पदं, भजते; यज्ञोपवीतञ्च शुभ्रं ग्रन्थिस्थाने पट्टसूत्रेण रक्तवर्णं भवतीति प्रसिद्धिः; सेवासु शम्भोः परिचर्य्यासु, प्रसितस्तत्परः, 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः, सितश्रीः शुभ्रकान्तिः, स वासुकिरयमिति पुरोवर्त्तिनिर्देशः; वासुकेः सततं शम्भुसेवातत्परतया सम्भोगाद्यसम्भवान्नैष वरणीय इति भावः॥

आलिङ्गनसे ससक्त (लगे हुए) पार्वतीके स्तनकुङ्कुमसे पट्टसूत्रसे वेष्टितके समान लाल वर्ण की कान्तिवाला जो शङ्करजीके यज्ञोपवीतके स्थानको प्राप्त किया है अर्थात् यज्ञोपवीत–सा बना हुआ है, शङ्करजीकी सेवामें तत्पर (पाठा०—प्रसिद्ध) एवं श्वेत वर्णकी कान्तिवाला वही यह वासुकि है। [यज्ञोपवीत भी श्वेत होता है तथा उसके ग्रन्थि–स्थानमें रक्त पट्टसूत्रसे लालवर्णकी कान्तिवाला होता है। चतुर्वर्णत्वके अधिकारको लेकर देवोंमें भी ब्रह्मा, शिव, विष्णु तथा अश्विनीकुमार को क्रमशः 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होना पुराणमें वर्णित है, मञ्जीठसे रंगा हुआ या वैसे वर्णका यज्ञोपवीत क्षत्रियके लिये धारण करने का शास्त्रीय विधान होनेसे क्षत्रिय वर्ण शङ्करजोका वासुकिको रक्त यज्ञोपवीत रूपमें पहनना उचित ही है॥ 'सर्वदा शङ्करजी की सेवामें तत्पर रहनेसे यह सम्भोगके योग्य नहीं है' ऐसा सरस्वती देवीने दमयन्तीसे सङ्केत किया]॥ १७॥

पाणौ फणी भजति कङ्कणभूयमैशे सोऽयं मनोहरमणीरमणीयमूर्त्तिः।
कोटीरबन्धनधनुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगममुं भज भूतभर्त्तुः॥ १८॥

पाणाविति। मनोहरैः मणीभिः रमणीयमूर्त्तिः सोऽयं फणी वासुकिः, ऐशे ईशसम्बन्धिनि, पाणौ करे, कङ्कणभूयं कङ्कणत्वं, 'भुवो भावे' इति क्यप्, भजति प्राप्नोति; भूतभर्त्तुः महादेवस्य, कोटीरबन्धनं कपर्दबन्धनं, जटाजूटग्रन्थिबन्धनमिति यावत्, धनुषो गुणो मौर्वी, योगपट्टश्च तेषां व्यापारस्य भवनलक्षणस्य, पारगं पारीणं, तत्तत्कार्यकुशलमिति भावः, अमुं वासुकिं, भज वृणीष्व; तादृग्विशेषणेनास्य वरणायोग्यत्वं सूचितम्। अत्रैकस्य वासुकेः अनेकेषु कोटीरादीषु क्रमेण वृत्तेः पर्यायभेदः। अथानुभावविशेषाद् यौगपद्यसम्भवे तु समुच्चयः॥ १८॥

मनोहर मणियों (नागमणियों) से रमणीय मूर्तिवाला प्रसिद्ध यह सर्प शङ्करजीके हाथमें कङ्कणभावको प्राप्त करता है अर्थात् कङ्कण बनता है (पाठा०—विशाल यह फणी (वासुकि नामक सर्प) मनोहर मणियोंसे रमणीय कङ्कणभावको प्राप्त करता है। अथवा—मनोहरमणियोंवाला, विशाल एवं वह (प्रसिद्ध) यह फणी शङ्करजीके हाथमें रमणीय…)। शङ्करजीके जटाजूट (जटासमूह) बांधने, धनुषकी डोरी तथा योगपट्टके कार्यको पूरा करनेवाले उस (वासुकि) को सेवन (वरण) करो। [जटाजूटका बन्धनादि व्यापारोपयुक्त वासुकिको बतलाकर सरस्वतीदेवीने वरणके अयोग्य होने का सङ्केत किया है]॥ १८॥

धृत्वैकया रसनयाऽमृतमीश्वरेन्दोरप्यन्यया त्वदधरस्य रसं द्विजिह्वः।
आस्वादयन् युगपदेष परं विशेषं निर्णेतुमेतदुभयस्य यदि क्षमः स्यात्॥१९॥

धृत्वेति । द्विजिह्वो रसनाद्वयवान्, एष परम् एष वासुकिः एव, एकया रसनया जिह्वया, ईश्वरेन्दोः हरशिरश्चन्द्रस्य, अमृतम्, अन्यया रसनया, त्वदधरस्यापि रसम् अमृतं, धृत्वा युगपदास्वादयन् एतदुभयस्य एतस्य रसद्वयस्य, विशेषमन्तरं, निर्णेतुं यदि क्षमः समर्थः, स्यात्, नान्यः कश्चित् क्षमः इत्यर्थः । इन्द्वमृतादेतदधरामृतमेव ज्याय इति भावः ॥ १९ ॥

एक जिह्वासे शङ्करजीके चन्द्रमाके अमृतको तथा दूसरी जिह्वासे तुम्हारे अधरके रसको ग्रहणकर सम्यक् प्रकारसे एक साथ ही स्वाद लेता हुआ इन दोनों की उत्कृष्ट विशेषताको निर्णय करनेके लिये यदि समर्थ हो सकता है तो यह वासुकि ही समर्थ हो सकता है। [राजाओं का चन्द्रामृत-पान करना असम्भव है, तथा देवोंका चन्द्रामृत पान करना सम्भव होनेपर भी दो जिह्वा नहीं होनेके कारण एक साथ चन्द्रामृत तथा तुम्हारे अधरका पान करना असम्भव है, किन्तु यह वासुकि दो जिह्वा होनेसे शिवमस्तकस्थ चन्द्र तथा तुम्हारे अधरके अमृतका एक साथ पान कर दोनोंके तारतम्य (श्रेष्ठाश्रेष्ठत्व) के निर्णय करने में यही समर्थ हो सकता है, अन्य राजा या देवता आदि नहीं ॥ १९ ॥

आशीविषेण रदनच्छददंशदानमेतेन ते पुनरनर्थतया न गण्यम् ।
बाधां विधातुमधरे हि न तावकीने पीयूषसारघटिते घटतेऽस्य शक्तिः॥२०॥

आशीविषेणेति । आशीषि दंष्ट्रायां विषमस्येत्याशीविषः विषधरः, पृषोदरादित्वात् साधुः, 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः, तादृशेन, एतेन वासुकिना, ते पुनः तव तु, रदनच्छदस्य अधरस्य, दंशदानं दंशनकरणम्, अनर्थतया न गण्यम् अपमृत्य्वाद्यनिष्टहेतुत्वेन न मन्तव्यं, चुम्बने विषसञ्चारसम्भावनया एतद्वरणं न त्याज्यमिति भावः; कुतः? हि यस्मात्, पीयूषसारेण घटिते निर्मिते, तावकीने त्वदीये, अधरे बाधां दंशेन पीडां, विधातुम् अस्य दंशनस्य वासुकेर्वा, शक्तिर्न घटते न सम्भवति, अमृतघटितस्य कुतो विषभयमिति भावः ॥ २० ॥

आशीविष (तालुगत दाँतमें विषवाले) इस (वासुकि) से अधरच्छेदन (रतिकालमें अधरामृत पान करते समय काटना) को अनर्थकारक (मृत्युकारण) मत मानो (अर्थात् महाविषयुक्त यह वासुकि मेरे अधरमें दंशन करेगा तो मेरी मृत्यु हो जायेगी ऐसी सम्भावना मत करो), क्योंकि अमृतके सारसे युक्त तुम्हारे अधर में बाधा पहुंचानेके लिये इस (वासुकि) की शक्ति नहीं चल सकती। [अमृतमें विषका प्रभाव नहीं पड़नेसे वैसे अनर्थकी शङ्का मत करो] ॥ २० ॥

तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः कम्पञ्च वीक्ष्य पुलकञ्च ततोऽनु तस्याः ।
सञ्जातसात्त्विकविकारधियः स्वभृत्यान् नृत्यान्न्यषेधदुरगाधिपतिर्विलक्षः ॥

तदिति । ततोऽनु वाणीवाक्यानन्तरं, तस्य वासुकेः, विस्फुरतां स्फारयतां, फणानां विलोकनेन भूतभीतेः सञ्जातसाध्वसायाः, तस्याः दमयन्त्याः, कम्पं वेपथुं

पुलकञ्च वीक्ष्य सञ्जाता सात्त्विकविकारधीः शृङ्गारसात्त्विकभ्रमबुद्धिः येषां तान्, स्वभृत्यान् विलक्षो भैमीभावज्ञानलज्जितः, उरगाधिपतिः वासुकिः, नृत्यात् आनन्द-नर्त्तनात्, न्यषेधत् न्यवारयत्, स्वस्वामिवैलक्ष्यात् भैमीवैराग्यप्रतीतेस्ते खिन्ना इत्यर्थः। अत्र भृत्यानां भैमीभयसात्त्विकेषु शृङ्गारसात्त्विकभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः। 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः'

इस (सरस्वती देवीके ऐसा (११।१७-२०) कहने के बाद उस (वासुकि) के स्फुरित फणाओंको देखनेसे डरी हुई उस (दमयन्ती) के कम्पन तथा बादमें रोमाञ्चको देखकर (दमयन्तीमें वासुकिके प्रति स्नेह-सूचक) सात्त्विक विकारको समझनेवाले (अत एव हर्षसे) नृत्य करते हुए अपने भृत्योंको लज्जित वासुकिने मना किया। [दमयन्ती वासुकिके स्फुरित होते हुए फणाओंको देख डरकर कम्पित हो गयी और बादमें तत्काल ही रोमाञ्चित भी हो गयी, ये दोनों कार्य भयजन्य थे, किन्तु वासुकिके भृत्योंने समझा कि हमारे स्वामीमें अनुरक्त होनेसे दमयन्तीको काम तथा रोमाञ्च नामक सात्त्विक भाव हो गये हैं, अत एव यह मेरे स्वामीको अवश्य वरण करेगी, और ऐसा समझकर वे हर्षित हो नाचने लगे, यह देख दमयन्ती की विरक्ति को ठीक-ठीक समझने तथा अपने भृत्योंके उक्त कार्यसे लज्जित वासुकिने उन्हें झट मना कर दिया] ॥ २१ ॥

तद्दर्शिभिः स्ववरणे फणिभिर्निराशैः निःश्वस्य तत् किमपि सृष्टमनात्मनीनम्।
यत्तान् प्रयातुमनसोऽपि विमानवाहा हा हा! प्रतीपपवनाशकुनान्नजग्मुः॥

तदिति। तद्दर्शिभिः वासुकिवृत्तान्तसाक्षात्कारिभिः, अत एव स्ववरणे निराशैः कैमुत्यपराहतैरित्यर्थः, फणिभिः अन्यैः कर्कोटकादिनागैः, निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा, तत् निःश्वसितरूपं, किमपि अवाच्यम्, आत्मने हितम् आत्मनीनम् 'आत्मन्विश्व-जनभोगोत्तरपदात् खः' इति खः, तद्विरुद्धम् अनात्मनीनं, सृष्टं निःश्वासेनात्मनो महाननर्थहेतुराचरित इत्यर्थः; कुतः? यत् यस्मान्निःश्वासकारणात्, तान् फणिनः प्रति, प्रयातुमनसः गन्तुकामा अपि, विमानं वहन्तीति विमानवाहाः दमयन्ती-शिविकावाहिनः, कर्मण्यण्, प्रतीपपवनः प्रतिकूलवायुः एव, यत् अशकुनम् अयात्रिकचिह्नं तस्मात् हेतोः, न जग्मुः दूरत एव तान् परिजहुरित्यर्थः, अत एव हा हेति खेदे ॥ २२ ॥

उसे (स्वामी वासुकिके प्रति दमयन्तीके स्नेहाभावको) देखनेवाले (अत एव) अपने को वरण करनेमें निराश (हमारे स्वामी को ही जब दमयन्तीने वरण नहीं किया तो हमें क्यों करेगी' इस विचारसे निराश) सर्पों (कर्कोटक आदि दूसरे सर्पों) ने (दुःखके कारण) लम्बा श्वास लेकर (फुफकार छोड़कर) कुछ अपने लिये अहितकारक कार्य किया, क्योंकि उधर (उन सर्पोंकी ओर) जानेके इच्छुक भी शिविकावाहक प्रतिकूल वायुरूप अशकुन होनेसे बहुत खेद है कि नहीं गये। (संभव था कि यदि उन कर्कोटकादि सर्पोंकी ओर

शिविकावाहक दमयन्ती को ले जाते तो कदाचित् वह उनमेंसे किसीको वरण कर लेती, किन्तु विषमय उनके उष्ण श्वास वायुको अशकुनसूचक वायु मानकर शिविकावाहक नहीं गये यह तो उन सर्पोंके रही-सही अपनी आशापर भी पानी फेर कर अपने हाथों हो अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी अर्थात् अपना ही अहित किया। प्रतिकूल वायुको अशकुन सूचक शास्त्रकारोंने माना है ॥ २२ ॥

ह्रीसङ्कुचत्फणगणादुरगप्रधानात् तां राजसङ्घमनयन्त विमानवाहाः ।
सन्ध्यानमद्दलकुलात् कमलाद् विनीय कह्लारमिन्दुकिरणा इव हासभासम् ॥

ह्रीति । विमानवाहाः शिविकावाहिनः, तां दमयन्तीं, ह्रिया लज्जया, सङ्कुचन् फणगणो यस्य तस्मात् उरगप्रधानात् उरगराजात् वासुकेः, विनीय अपनीय, इन्दुकिरणाः हासभासं विकासलक्ष्मीं, सन्ध्यायां नमद्दलकुलात् सङ्कुचत्पत्रचयात्, कमलात् पद्मात्, विनीय अपनीय, कह्लारं सौगन्धिकमिव, राजसङ्घं नृपसमूहम्, अनयन्त प्रापयन्। ञित्वादात्मनेपदं 'नीवह्योर्हरतेश्च' इति वचनाद् द्विकर्मकत्वम्। उपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

शिविकावाहक लज्जासे सङ्कुचित होते हुए फणा-समूहवाले सर्पराज (वासुकि) से हटाकर उस (दमयन्ती) को उस प्रकार राज-समूहमें ले गये, जिसप्रकार चन्द्रकिरण सन्ध्याकालसे बन्द होते हुए पँखड़ियोंवाले कमलसे विकसित होती हुई दीप्तिको हटाकर कह्लार (रक्तकमल—रात्रिमें विकसित होनेवाला सौगन्धिक) के पास ले जाते हैं ॥ २३ ॥

देव्याऽभ्यधायि भव भीरु ! धृतावधाना
भूमीभुजः ! त्यजत[1] भीमभुवो निरीक्षाम् ।
आलोकितामपि पुनः पिबतां दृशैता-
मिच्छाऽपगच्छति न वत्सरकोटिभिर्वः ॥ २४ ॥

देव्येति । देव्या वाग्देव्या सरस्वत्या, अभ्यधायि अभिहितम्; किम्? तदाह— हे भीरु ! भयशीले ! भीरुशब्दात् 'ऊङुतः' इत्यूङ्प्रत्यये सम्बुद्धौ नदीह्रस्वः, धृतमवधानं यया सा भव अवहिता शृण्वित्यर्थः। हे भूमीभुजः ! भूपाः ! यूयञ्च भीमभुवः भैम्याः निरीक्षाम् ईक्षणं, 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियाम् अ-प्रत्ययः, त्यजत मा कुरुत; कुतः? युष्मासु पश्यत्सु दमयन्ती ह्रीपारवश्यात् युष्मान् प्रति दर्शनं न दास्यति, अतो नैनां विलोकयत इति भावः; आलोकिताम् ईक्षितां, दृष्टामपीत्यर्थः एतां पुनर्दृशा पिबताम् आस्थया पश्यतां, वो युष्माकं, वत्सरकोटिभिः अनन्ताब्दैरपि, इच्छा दर्शनेच्छा, न अपगच्छति, अतो मद्वाक्यमवहिताः शृणुतेत्यर्थः ॥ २४ ॥

देवी (सरस्वती देवी) ने (क्रमशः दमयन्ती तथा राजाओंको सावधान करते हुए) कहा—हे भीरु ! (वासुकिके देखनेसे या भयके स्त्रीसहज होनेसे डरनेवाली दमयन्ती)

1. 'भजत' इति पाठान्तरम् ।

सावधान हो जाव, (तथा) हे राजालोग ! भीमकुमारी (दमयन्ती) का देखना छोड़ो (पाठा०—देखो। क्योंकि) देखी गयी भी दमयन्तीको फिर देखते हुए तुम लोगोंको इच्छा करोड़ों वर्षों तक भी पूरी नहीं होगी। ['त्यजत' पाठमें—परम सुन्दरी दमयन्तीको बार-बार करोड़ों वर्षों तक देखते रहनेपर देखनेकी इच्छा बनी हो रहेगी। अतएव यदि इसे बरावर तुमलोग देखते ही रहोगे तो सम्भव है कि लज्जाशीला दमयन्ती तुम लोगोंको अच्छी तरह नहीं देख सकनेके कारण वरण भी न करे, तथा पहले इसे देख ही लिया है अतः अब इसे देखने का अवसर दो, जिससे यह तुम लोगोंको देखकर वरण कर सके। 'भजत' पाठमें—परमसुन्दरी······बनी ही रहेगी, इसलिये इच्छानुसार देखो देखते रहनेपर भी विरसता नहीं आनेवाली है] ॥ २४ ॥

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान् ।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन सङ्क्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥२५॥

लोकेशेति । योऽनङ्गः, लोकेशकेशवशिवान् ब्रह्मविष्णुमहेशानपि, शृङ्गारेण शृङ्गार-रसेन, सान्तरः सावकाशः, विरल इत्यर्थः, भृशो गाढः, आन्तरः आभ्यन्तरः, शान्तभावः शान्तरसो येषां तान् रागजर्जरितवैराग्यान्, चकार; पञ्चानां सङ्घः पञ्चकं, 'सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति कन्प्रत्ययः, इषूणां पञ्चकेन जगतां पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, सङ्क्षोभयन् व्याकुलयन्, स वितनुः अनङ्गः, वो युष्माकं, मुदं वितनुतां विस्तारयतु; विश्वविजयिनो भगवतः कामदेवस्य प्रसादः कस्य न श्लाघ्यः? इति भावः ॥ २५ ॥

संसार (संसारियों) के पञ्चेन्द्रियोंको पाँच बाणोंसे अत्यन्त क्षुभित करते हुए जिसने ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशके भी अत्यन्त दृढ़ आन्तरिक विरक्तिको शृङ्गार रससे शिथिल कर दिया, वह कामदेव आपलोगोंके हर्षको बढ़ावे। (अथवा—जिसने ब्रह्मा,···शिथिल कर दिया, संसार···करता हुआ वह कामदेव आपलोगोंके हर्षको बढ़ावे)। [सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करनेवाले ब्रह्मा-विष्णु तथा महेश भी जिसके वशवर्ती हो गये, उसके लिये आप लोगोंको वशीभूत करनेमें कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा, अतएव आप लोग दमयन्तीको देखना छोड़ दीजिये जिससे यह निःसङ्कोच आपलोगोंको देखकर वरण कर सके, पूर्व श्लोकके 'भजत' पाठमें—अत एव आपलोग इस दमयन्तीको इच्छापूर्वक देखते रहिये] ॥ २५ ॥

पुष्पेषुणा ध्रुवममूनिषुवर्षजप्तहुङ्कारमन्त्रबलभस्मितशान्तिशक्तीन् ।
शृङ्गारसर्गरसिकद्व्यणुकोदरि ! त्वं द्वीपाधिपान् नयनयोर्नय गोचरत्वम् ॥

पुष्पेषुणेति । रसोऽस्यास्तीति रसिकम्, 'अत इनिठनौ' इति ठन्प्रत्ययः, द्वावणू कारणत्वेनास्यास्तीति द्व्यणुकम् अणुद्वयारब्धद्रव्यं, शैषिकः क-प्रत्ययः, द्व्यणुकादि-प्रक्रमेण कार्यद्रव्यारम्भ इति तार्किकाः; शृङ्गारस्य सर्गे निर्माणे, रसिकं प्रवृत्तं, यत्

द्व्यणुकं तद्वदेवोदरं यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः; शृङ्गारभावोद्दीपका अतिकृशोदरीति भावः, त्वं पुष्पेषुणा ध्रुवं सत्यम्, इषुवर्षे बाणमोक्षकाले, जप्तः उच्चारितः, यो हुङ्कारः कोपप्रयुक्तः, स एव मन्त्रस्तस्य बलेन सामर्थ्येन, भस्मिता भस्मीकृता, 'तत् करोति—'इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, शान्तिशक्तिः इन्द्रियनिग्रहसामर्थ्यं येषां तान्, अमून् द्वीपाधिपान् पुष्करादिद्वीपपालकान् राज्ञः, नयनयोर्गोचरत्वं दृष्टिविषयत्वं, नय पश्येत्यर्थः ॥ २६ ॥

हे शृङ्गाररचनामें अतिशय प्रवृत्त द्व्यणुकके समान (या द्व्यणुक रूप) अर्थात् अत्यन्त पतले उदर (कटि) वाली (दमयन्ती) ! कामदेवके द्वारा बाणवृष्टि करनेमें जपा गया (पाठा०—जपरूप) हुङ्कार रूप मन्त्र बलसे नष्ट हुई इन्द्रिय-निग्रहादि शक्तिवाले अर्थात् हुङ्कार करते हुए कामदेवके बाणवर्षा करनेसे बढ़ी हुई इन्द्रिय-शक्तिवाले (कामवशीभूत) इन सातों द्वीपोंके राजाओंको नेत्रोंका विषय करो अर्थात् देखो। [जैसे 'हुं, फट्' आदि मन्त्रका जप करता हुआ कोई व्यक्ति प्रतिपक्षीकी शक्तिको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कामदेवने हुङ्कारका उच्चारण करते हुए बाणोंकी वर्षाकर इनकी जितेन्द्रियत्व रूप शक्तिको नष्ट कर कामवशीभूत कर दिया है । बाण छोड़ते समय 'हुम्' शब्दका उच्चारण करना अनुभवगम्य विषय है]॥ २६ ॥

स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्द्धं भव्या भवन्तु तव वारिविहारलीलाः ।
द्वीपस्य तं पतिममुं भज पुष्करस्य निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि !॥२७॥

स्वाद्विति । हे निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि ! उन्निद्रपद्मविजयसमर्थनेत्रे ! कमलायताक्षीत्यर्थः, पुष्करस्य पुष्कराख्यस्य द्वीपस्य, पतिं सवनम्, अमुं भज वृणीष्व, ततः स्वादूदके जलनिधौ मधुरोदकसमुद्रे, सवनेन सवनाख्येन राज्ञा, सार्द्धं तव भव्याः मनोहराः, वारिविहारलीलाः जलक्रीडाविनोदाः, भवन्तु सन्तु ॥

हे विकसित कमलके तिरस्कारमें समर्थ नेत्रवाली (कमलविजयी नेत्रोंवाली दमयन्ती) ! स्वादिष्ठ जलवाले समुद्रमें 'सवन' नामक इस राजाके साथ तुम्हारी जलविहारकी क्रीड़ाएँ सुन्दर हों, उस 'पुष्कर' द्वीपके पति इस ('सवन' राजा) को वरण करो । [यह 'पुष्कर' द्वीपका राजा है, इसका 'सवन' नाम है, इसको वरणकर उस द्वीपके स्वादु जलवाले समुद्रमें इस राजाके साथ सुखद जलक्रीडा करो]॥ २७ ॥

सावर्त्तभावभवदद्भुतनाभिकूपे ! स्वर्भौममेतदुपवर्त्तनमात्मनैव ।
स्वाराज्यमर्जयसि न श्रियमेतदीयाम् ? एतद्गृहे परिगृहाण शचीविलासम् ॥

सावर्त्तेति । रोम्णाम् अम्भसाञ्च भ्रमः आवर्त्तः, आवर्त्तेन सह वर्त्तमानः सावर्त्तः तस्य भावः तेन सावर्त्तभावेन सावर्त्तत्वेन, भवत् प्रादूर्भूतम्, अद्भुतम् आश्चर्यं यस्मात् स चित्रीयमाणः, नाभिरेव कूपो यस्याः सा तस्याः सम्बुद्धिः सावर्त्तत्यादि; कूपे सावर्त्तत्वं चित्रमिति भावः; एतस्य राज्ञः सवनस्य, उपवर्त्तनं देशः, 'देशविषयौ

तूपवर्त्तनम्' इत्यमरः, आत्मनैव स्वयमेव, भौमं भूमिभवं,ः स्वः स्वर्गः, अतः एतदीयां श्रियं स्वाराज्यं स्वर्गराज्यं, 'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घः, नार्जयसि ? इति काकुः, अर्जयस्येवेत्यर्थः, एतद्गृहे शचीविलासं शचीसौभाग्यं, गृहाण स्वीकुरु। एतद्भूरेव स्वर्गः, एतद्राज्यमेव स्वाराज्यम्, अयमेवेन्द्रः, त्वमेवेन्द्राणी भवेति रूपकालङ्कारः ॥ २८ ॥

हे आवर्त (नाभिकी नोचेवाली रोमावलीका दक्षिण भागमें 'घुमाव, पाठा०—जलका चकोह) के सहित होनेसे आश्चर्यकारक नाभिरूप कूपवाली (गम्भीर नाभिवाली दमयन्ति)! इस राजाका देश साक्षात् भूमिष्ठ (भूमिपर स्थित) स्वर्ग है, इस (राजा या देश) की स्वर्ग-राज्य रूप लक्ष्मीको नहीं प्राप्त करती हो ? अर्थात् प्राप्त करो। इसके घरमें इन्द्राणीके विलासको ग्रहण करो। [कूपमें जलके चकोहका होना आश्चर्यजनक होनेसे 'अद्भुत' पदकी चरितार्थता है। इस राजाका देश भूस्वर्ग, सम्पत्ति स्वर्गराज्य, यह राजा इन्द्र है, और तुम इसे वरण कर इन्द्राणी बनो] ॥ २८ ॥

देवः स्वयं वसति तत्र किल स्वयम्भूर्न्यग्रोधमण्डलतले हिमशीतले यः।
स त्वां विलोक्य निजशिल्पमनन्यकल्पं सर्वेषु कारुषु करोतु करेण दर्पम् ॥

देव इति। तत्र पुष्करद्वीपे, हिमवच्छीतले न्यग्रोधः वटवृक्षः, 'न्यग्रोधो बहुपाद्वटः' इत्यमरः, तस्य मण्डले मण्डलाकारे तले अधस्तले, स्वयम्भूः यः देवः ब्रह्मा, स्वयं साक्षात्, वसति किल खलु, स देवः ईषदसमाप्तमन्यदन्यकल्पम् अन्यसदृशं; तन्न भवतीत्यनन्यकल्पम् अनन्यसाधारणम्, 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्' प्रत्ययः, निजशिल्पं स्वनिर्माणं, त्वां विलोक्य त्वल्लक्षणं निजशिल्पकार्यं दृष्ट्वेत्यर्थः, सर्वेषु कारुषु शिल्पिषु मध्ये, करेण करप्रदर्शनेन, दर्पं करोतु गर्वं करोतु, मदन्यशिल्पकर्त्तुरेवं रूपनिर्माणदक्षो हस्तो नास्तीति स्वहस्तं प्रदर्श्य गर्वं करिष्यतीत्यर्थः; स्रष्टुः कीर्त्तिकरं ते रूपनिर्माणशिल्पमिति भावः ॥ २९ ॥

वहां ('पुष्कर' द्वीपमें) वर्फके समान शीतल वटवृक्षके नीचे साक्षात् 'ब्रह्मदेव' रहते हैं, वे अनन्य साधारण अपनी कारीगरीरूप तुम्हें देखकर हाथसे अन्य शिल्पियों (कारीगरों) में अभिमान करें। [मैंने अपने हाथसे इस दमयन्तीको सुन्दरी बनाकर जैसी उत्तम कारीगरीको दिखलायी, वैसी कारीगरी आजतक किसी दूसरे कारीगरने नहीं दिखलायी, ऐसा अपने हाथकी कारीगरीके विषयमें अभिमान करें] ॥ २९ ॥

न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादेर्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः।
तं तस्य पाकिफलनीलदलद्युतिभ्यां द्वीपस्य पश्य शिखिपत्रजमातपत्रम् ॥३०॥

न्यग्रोधनादिति। दिवः अन्तरिक्षात्, पततः आपततः, आतपादेः, आदिशब्दात् वर्षादेश्च, न्यक् निम्नीभूय, अधः स्थित्वा इत्यर्थः, रोधनान्निवारणादिव, न्यग्रोधं न्यग्रोधशब्दवाच्यम्, इति पचाद्यच्, उत्प्रेक्षेयम्, उत्तरार्द्धे वक्ष्यमाणातपत्रत्वोत्प्रेक्षोप-

योगिनी; तथा अवरोहन्तीत्यवरोहाः शाखाभ्यः अधोलम्बिन्यः शिफाः, शाखामूलानीत्यर्थः, 'शाखाशिफाऽवरोहः स्यात्' इत्यमरः, तैः, अवरोहरूपैरवष्टम्भैरित्यर्थः, आत्मनः स्वस्य, भरं धरतीति आत्मभरधारः, तमिव भूमिस्पृष्टैरवरोहरूपैरवलम्बनैः आत्मानमवष्टभ्य इव स्थितमित्युत्प्रेक्षा, धरतेः कर्मण्यण्प्रत्ययः, किञ्च पाकः एषामस्तीति पाकिनां पक्वानां, फलानां नीलदलानां नीलपलाशानाञ्च, द्युतिभ्यां रक्तश्यामकान्तिभ्यां निमित्तेन, तस्य द्वीपस्य पुष्करद्वीपस्य सम्बन्धि, शिखिपत्रजं मयूरपिच्छोद्भवम्, आतपत्रं तद्वत् स्थितम्, इति निमित्तगुणजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, अस्याश्च प्रथमोत्प्रेक्षयाऽङ्गाङ्गिभावेन सजातीयसङ्करः, द्वितीयया सजातीयसंसृष्टिः; तं प्रसिद्धं न्यग्रोधवृक्षं, पश्य; एतद्राजवरणादेवंविधोऽद्भुतदर्शनोत्सवलाभो भविष्यतीति भावः ॥ ३० ॥

आकाशसे गिरते (नीचे आते) हुए धूप आदि (वर्षा आदि) के नीचे स्थित होकर रोकने से (या नीचे आनेसे रोकनेसे अर्थात् धूप-वर्षा आदिको नीचे नहीं आने देनेसे) 'न्यग्रोध' अर्थात् वटवृक्ष, बरोहों (वटवृक्षकी ऊपरवाली शाखाओंसे नीचेकी ओर लटककर भूमि तक पहुंची हुई स्तम्भाकार डालियों) से अपने भारको धारण करनेवाला है, उस ('पुष्कर') द्वीपके, पके हुए फलों तथा नीले (अत्यन्त श्याम वर्ण) पत्तोंकी शोभासे मोरके पङ्खोंसे बने छत्ररूप उस (वटवृक्ष) को देखो । वह वृक्ष ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो उसने ऊपरसे नीचे तक लटकी हुई बरोहोंसे अपने भारको अपने ऊपर स्वयं सम्भाल रक्खा हो, तथा पके हुए फलों एवं अत्यन्त श्यामवर्ण पत्तोंसे मयूरके पंखों का बनाया गया छाता हो और वह वटवृक्ष इतना सघन है कि उसके नीचे धूप या वर्षा आदि नहीं आती अत एव उसका 'न्यग्रोध' ('न्यक् रुणद्धि' अर्थात् नीचे आनेसे धूप आदिको रोकनेवाला, अथवा नीचे स्थित होकर धूप आदिको रोकनेवाला) नाम सार्थक है अर्थात् वह वटवृक्ष बहुत सघन शीतल छाया वाला है, ऐसे विचित्र उस वटवृक्षको इस राजाकी पत्नी बनकर देखो] ॥ ३० ॥

न श्वेततां ? चरतु वा भुवनेषु राजहंसस्य न प्रियतमा कथमस्य कीर्त्तिः ? ।
चित्रन्तु तद्विशदिमाऽद्वयमादिशन्ती क्षीरञ्च नाम्बु च मिथः पृथगातनोति ॥

नेति । राजहंसस्य नृपश्रेष्ठस्य, अस्य सवनस्य, प्रियतमा इष्टतमा, कीर्त्तिः, अन्यत्र—राजहंसस्य कलहंसस्य, 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः' इति विश्वः, कीर्त्तिः शुभ्रत्वात् कीर्त्तिरूपिणी, प्रियतमा तत्कान्ता वरटा, कथं न श्वेतताम् । कथं न धवलीभवतु ? अपि तु श्वेतैव भवतु, 'श्विता वर्णे' इति द्युतादौ पठ्यते, तस्माल्लोट्, भुवनेषु लोकेषु सलिलेषु च, 'भुवनं सलिलं लोकः' इति विश्वः, कथं वा न चरतु ? तु किन्तु, विशदिमाऽद्वयं धावल्याद्वैतम्, आदिशन्ती जनयन्ती, कीर्त्तिरिति शेषः, स्वप्रभयेति भावः, क्षीरञ्च अम्बु च मिथोऽन्योऽन्यं पृथग्विभक्तं, नातनोति न करोति, इति

यत्तच्चित्रम् !! हंसानां क्षीरनीरविवेकस्य जातिधर्मत्वेऽपि तद्विवेकाभावो विरुद्ध इति भावः। स चाविवेकः कीर्त्तेर्धावल्येन तत्रत्यजलानामपि क्षीरसदृशशुक्लत्वात् धावल्यगुणतो न स्वरूपत इति विरोधसमाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः; तथा विशदिमाऽद्वयमादिशन्तीत्यनेन सामान्यालङ्कारः; 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति; तस्य विशेषणगत्या क्षीरनीराविवेकहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं, पूर्वार्द्धे च श्वैत्यभुवनचारित्वराजहंसप्रियतमात्वाख्याश्लिष्टौ श्लिष्टप्रस्तुतकीर्त्तिविशेषणसाम्यादप्रस्तुतराजहंसप्रतीतेः श्लेषसङ्कीर्णाऽर्थसमासोक्तिरित्येतैस्त्रिभिः सहाङ्गाङ्गिभावेन पूर्वोक्तस्य विरोधाभासस्य सङ्करः॥ ३१॥

इस राजहंस (राजश्रेष्ठ 'सवन') की अत्यन्त अभीष्ट कीर्ति श्वेतताको क्यों नहीं प्राप्त होवे अर्थात् श्वेत क्यों नहीं होवे और संसारोंमें क्यों नहीं जावे ? अर्थात् श्वेत भी होवे तथा संसारोंमें भी जावे (अथवा…कीर्ति श्वेत क्यों नहीं होवे और संसारोंमें क्यों नहीं जावे ?) पक्षा०—इस राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ मरालकी प्रियतमा हंसी श्वेतता……और भुवनों (जल) में क्यों नहीं घूमे,……); किन्तु विशदिमा (श्वेतता=सफेदीके अद्वैतको करती हुई अर्थात् श्वेत बनाती हुई दूध तथा पानीको परस्परमें जो अलग नहीं करती है, यह आश्चर्य है। राजहंसप्रिया हंसीका श्वेत होना तथा भुवन (जल) में घूमना एवं राजश्रेष्ठ इस 'सवन' की अभीष्टतम कीर्तिका श्वेत होना एवं भुवनों (समस्त लोकों) में घूमना तो समान है; किन्तु एकमें मिले हुए श्वेत दूध-पानीको अलग कर देती है और इस राजश्रेष्ठ 'सवन' की कीर्ति दोनोंको श्वेत बनाती हुई दूध-पानीको अलग नहीं करती यह आश्चर्य है]॥ ३१॥

शूरेऽपि सूरिपरिषत्प्रथमार्चितेऽपि शृङ्गारभङ्गिमधुरेऽपि कलाकरेऽपि।
तस्मिन्नवद्यमियमाप तदेव नाम यत् कोमलं न किल तस्य नलेति नाम॥

शूरे इति। इयं दमयन्ती, शूरे वीरेऽपि, सूरिपरिषत्सु विद्वत्सभासु, प्रथमार्चिते अग्रपूज्येऽपि, शृङ्गारभङ्गिमधुरे शृङ्गारविलासकान्तेऽपि, कलाकरे सकलविद्यानिधानेऽपि, तस्मिन् सवनाख्ये राज्ञि, कोमलं कर्णामृतं, किल प्रसिद्धं, नलेति नाम नामधेयं, तस्य सवनस्य, न नास्ति, इति यत्, तदेव नलनामराहित्यमेव, अवद्यं दूषणम्, आप नाम जग्राह खल्वित्यर्थः; अनलत्वातिरिक्तमरुचिकारणं किञ्चिदपि नाभूदिति भावः। नलानुरागात् हि एवं गुणवन्तमपि तं नृपतिं न वरणयोग्यत्वेन स्वीकृतवती इति निष्कर्षः॥ ३२॥

इस (दमयन्ती) ने शूर भी, विद्वानोंकी सभामें सर्वप्रथम आदृत भी, शृङ्गार-रचनासे मनोहर भी और कलाकार (गीतादि ६४ कलाओंके विद्वान्) भी उस ('सवन नामक राजा) में एक वही दोष पाया कि उनका मधुर 'नल' नाम नहीं था। [शूरता, शृङ्गारप्रियता तथा कलापाण्डित्य गुणोंके रहनेपर भी 'नल' नहीं होनेसे दमयन्तीने उस 'सवन' राजाको वरण नहीं किया]॥ ३२॥

भ्रूवल्लिकिञ्चननिकुञ्चितमिङ्गितं[1] सा लिङ्गं चकार तदनादरणस्य विज्ञा ।
राज्ञोऽपि तस्य तदलाभजतापवह्नेश्चिह्नीबभूव मलिनच्छविभूमधूमः ॥३३॥

भ्रूवल्लीति । विशेषेण जानातीति विज्ञा अभिज्ञा, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः', सा दमयन्ती, भ्रूवल्ल्याः भ्रूलतायाः, किञ्चन किञ्चित्, निकुञ्चितं सङ्कोचः, किञ्चनेति किञ्चिदर्थेऽव्ययं, तस्य विशेषणसमासः, तदेवेङ्गितं चेष्टितं, तस्मिन् सवने, अनादरणस्य लिङ्गं चकार भ्रूनिकोचनेनैव तदनादरं सूचितवतीत्यर्थः, तस्य राज्ञोऽपि, मलिनच्छविभूमा वैवर्ण्यभूयस्त्वं, स एव धूमः, तस्याः दमयन्त्याः, अलाभेन जातस्तज्जः तस्य तापवह्नेः सन्तापाग्नेः, चिह्नीबभूव अनुमापको जात इत्यर्थः अन्यत्र धूमं दृष्ट्वा वह्निरनुमीयते, अत्र तु सवननृपे देहस्य श्यामवर्णरूपधूमं दृष्ट्वा दमयन्त्यप्राप्तिजन्यतापवह्निरनुमीयते इति भावः । अत एवानुमानालङ्कारः 'साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्' इति लक्षणात्; किन्तु इह धूमाग्न्यो रूपकशब्दात्मकयोरलङ्कारगर्भीकरणे विच्छित्तिविशेषाश्रयणात् तर्कानुमानाद्भेदः ॥ ३३ ॥

विशेषज्ञा इस (दमयन्ती) ने भ्रूलताके थोड़ा-सा सङ्कोचरूप चेष्टाको (पाठा०—भ्रूलताकी चेष्टारूप आकार-रचनाको, अथवा—भ्रूलताकी चेष्टाको और आकृतिभङ्गी अर्थात् अङ्गुलि आदि अङ्गोंके चटकाने = मरोड़नेको उस ('सवन' राजा) के अनादर अर्थात् स्वीकार नहीं करनेका चिह्न बनाया और उस राजाका (मुखकी) मलिन कान्तिकी अधिकतारूपी धूम उस (दमयन्ती) के नहीं पानेसे उत्पन्न सन्तापाग्नि (कामाग्नि) का चिह्न हुआ । (दमयन्तीने भ्रूको थोड़ा सङ्कुचित कर उसको वरण करनेमें अनिच्छा प्रकट की तथा यह देख उस राजाका मुख मलिन पड़ना ही दमयन्तीको नहीं पानेसे उत्पन्न कामाग्निके अनुमान करानेवाला चिह्न हो गया अर्थात् वहाँ उपस्थित जन-समूहने उस राजाके मुखको मलिन देखकर दमयन्तीको नहीं पानेसे उत्पन्न उस राजाके कामसन्तापका अनुमान कर लिया] ॥ ३३ ॥

राजान्तराभिमुखमिन्दुमुखीमथैनां[2] जन्याजना हृदयवेदितयैव निन्युः ।
अन्यानपेक्षितविधौ न खलु प्रधानवाचां भवत्यवसरः सति भव्यभृत्ये ॥३४॥

राजान्तरेति । अथ जन्याजनाः भृत्यजनाः, जन्या व्याख्याताः, हृदयवेदितया दमयन्त्याः चित्तज्ञतयैव, प्रेरणां विनैवेत्यर्थः, इन्दुमुखीम् एनां भैमीम्, अन्यो राजा राजान्तरं, सुप्सुपेति समासः, तस्य अभिमुखं यथा तथा निन्युः । स्वामिप्रेरणां विना कथं निन्युरत आह—अन्यानपेक्षितः अनपेक्षितान्यः, स्वाम्यादेशनिरपेक्ष इत्यर्थः, बहुव्रीहौ 'सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्' इति अन्यशब्दस्य पूर्वनिपातः, विधिः कार्यस्य अनुष्ठानं यस्य तस्मिन् स्वतः समर्थे, भव्ये सुयोग्ये, 'भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु' इति मेदिनी, भृत्ये कर्मकरे, सति प्रधानवाचां स्वाम्यादेशानाम्, अवसरो न भवति न अस्ति खलु इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ३४ ॥

---

१. '-वेल्लितमथाकृतिभङ्गिमेषा' इति पाठान्तरम् । २. 'जनीम्' इति पा० ।

वधू (दमयन्ती) को ले चलनेवाले जन (शिविकावाहक) हृदयके भावको जाननेके कारण हो चन्द्रमुखी इस (दमयन्ती) को दूसरे राजाके सामने ले गये। दूसरे की अपेक्षासे रहित कार्यमें (अथवा—दूसरेकी अपेक्षासे रहित कार्यवाले) भृत्य-समूहके रहनेपर स्वामीको बोलने अर्थात् आदेश देनेका अवसर नहीं आता है। [स्वामीके आदेश न देनेपर ही उनका हृद्गत भाव समझनेवाले भृत्य कार्यको पूरा कर देते हैं अत एव उन्हें आदेश देनेका अवसर नहीं आता ॥ ३४ ॥

ऊचे पुनर्भगवती नृपमन्यमस्यै निर्दिश्य दृश्यतमतावमताश्विनेयम् ।
आलोक्यतामयमये ! कुलशीलशाली शालीनतानतमुदस्य निजास्यविम्बम् ॥

ऊचे इति । भगवती भारती, पुनः भूयः, दृश्यतमतया दर्शनीयतमत्वेन, सौन्दर्यातिशयेन इति यावत्, अवमतौ अवधीरितौ, आश्विनेयौ अश्विनीकुमारौ येन तम्, अन्यं नृपम् अस्यै भैम्यै निर्दिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, अये ! भैमि, कुलेन शीलेन सद्वृत्तेन च, शालते इति तच्छाली, अयं नृपः, शालीनतया लज्जया, 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति ख-प्रत्ययान्तो निपातः, नतं निजास्यविम्वं निजमुखमण्डलम्, उदस्य उन्नमय्य, आलोक्यताम् इत्यूचे उक्तवती, ब्रूतेः कर्त्तरि लिटि तङ्, लज्जां परित्यज्य अयं दृश्यताम् इति भावः ॥ ३५ ॥

इस ('सवन' राजाको वरण नहीं करने) के बाद भगवती (सरस्वती देवी ने) अतिशय सौन्दर्यसे अश्विनीकुमारोंको तिरस्कृत किये हुए अर्थात् अश्विनीकुमारोंसे भी अधिक सुन्दर दूसरे राजाको इस (दमयन्ती) के लिये दिखाकर कहा—हे दमयन्ति ! लज्जासे नम्र अपने मुखविम्वको उठाकर कुल तथा सदाचारसे शोभमान इस राजाको देखो ॥ ३५ ॥

एतत्पुरःपठदपश्रमवन्दिवृन्दवाग्डम्बरैरनवकाशतरेऽम्बरेऽस्मिन् ।
उत्पत्तुमस्ति पदमेव न मत्पदानामर्थोऽपि नार्थपुनरुक्तिषु पातुकानाम् ॥

एतदिति । एतस्य पुरः अग्रे, पठताम् अपश्रमवन्दिनां यथार्थगुणवर्णने श्रमशून्यानां स्तावकानां, वृन्दस्य वाग्डम्बरैः वागाटोपैः, अनवकाशतरे अत्यन्तनिरवकाशे, अस्मिन् अम्बरे अन्तरिक्षे, मत्पदानां मद्वाक्यानां, 'पदं शब्दे च वाक्ये च' इति विश्वः, उत्पत्तुमेव पदम् अवकाशः, नास्तीत्यतिशयोक्तिः; आकाशगुणः शब्द इति तार्किकाः; कथञ्चिदुत्पत्तौ अपि अर्थपुनरुक्तिषु अभिधेयपौनरुक्त्येषु, पातुकानां पतताम्, वन्दिवाक्यैः पुनरुक्तार्थानामित्यर्थः, 'लषपत—' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः, मत्पदानाम् अर्थोऽपि प्रयोजनमपि, नास्ति, गतार्थत्वादितिभावः; अस्य वन्दिकृताः स्तवाः यथार्थकतया मम अतीव सम्मताः, अतः एनं वृणीष्व इति तात्पर्यम् ॥ ३६ ॥

इस (राजा) के समाने स्तुति करते हुए अश्रान्त वन्दि-समूहके बचनाडम्बर (वाग्विस्तार) से निरवकाश इस आकाशमें मेरे वाक्यों (अथवा—सुबन्त-तिङन्तरूप पदों पक्षा०—मेरे पैरों) के उत्पन्न होने (पक्षा०—ठहरने) का स्थान ही नहीं है, (और कथञ्चित्

हो भी जाय तो इस बन्दि-समूहके बागाडम्बरके) अर्थकी पुनरुक्ति करनेवाले (उन मेरे पदों) का कोई प्रयोजन भी नहीं है। [इस राजाकी निरन्तर स्तुति करनेवाले बन्दि-समूहके वागाडम्बरसे 'शब्द गुणवाला' आकाश इतना ठसा-ठस भर गया है कि मेरे वचनोंके उत्पन्न होनेका स्थान ही नहीं है, पक्षा०—जन-समूहादिसे ठसाठस भरे हुए स्थानमें पैर रखनेका भी स्थान नहीं है। तथा मैं जो कुछ कहूँगी वह सब इसके बन्दि-समूहके द्वारा वर्णित होनेसे पुनरुक्त हो जायेगा अत एव उसमें कुछ कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है॥ इस राजाके बन्दि-समूह जो कुछ वर्णन कर रहे हैं, वही मुझे भी सम्मत है, अत एव इसे वरण करो ॥ ३६ ॥

नन्वत्र हव्य इति विश्रुतनाम्नि शाकद्वीपप्रशासिनि सुधीषु सुधीभवन्त्याः[1]।
एतद्भुजाविरुदवन्दिजयाऽनयाऽपि किं रागि राजनि गिराऽजनि नान्तरं ते?॥

नन्विति। ननु भैमि ! अत्र अस्मिन्, हव्य इति विश्रुतनाम्नि प्रख्यातनामधेये, शाकद्वीपं प्रशास्तीति तत्प्रशासिनि तत्स्वामिनि, राजनि विषये, सुधीषु विद्वत्सु, सुधीभवन्त्याः विदुषीभवन्त्याः, ते तव, अन्तरम् अन्तरात्मा, अनया श्रूयमाणया, एतस्य भुजाविरुदवन्दिभ्यो बाहुप्रशस्तिस्तोतृभ्यः; 'गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते' इति; जाता तज्जा तया, गिराऽपि रागि अनुरागवत्, नाजनि नाजनिष्ट किम् ? इति प्रश्नः, जनेः कर्त्तरि लुङि 'दीपजन—' इत्यादिना विकल्पात् चिण् प्रत्ययः, 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् ॥ ३७ ॥

शाकद्वीपका शासन करनेवाले 'हव्य' नामसे प्रसिद्ध इस राजाके विषयमें पण्डितोंमें पण्डिता बनती हुई तुम्हारा हृदय (पाठा०—···विषयमें तुम्हारा हृदय) इस (राजा) की भुजाके प्रशंसक बन्दियोंके इस वचनसे भी अनुरागी नहीं हुआ क्या ? (अथवा अनुरागी क्यों नहीं हुआ ?) अर्थात् अवश्य अनुरागी होना चाहिये ॥ ३७ ॥

शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी हरिष्यति तरुस्तव तत्र चित्तम् ।
यत्पल्लवौघपरिरम्भविजृम्भितेन ख्याता जगत्सु हरितो हरितः स्फुरन्ति॥३८॥

शाक इति तत्र शाकद्वीपे, शुकच्छदसमच्छवीनां कीरपक्षसदृशदीप्तीनां, पत्राणां मालां पङ्क्तिं, भरतीति तन्मालभारी, 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलमालभारिषु' इति ह्रस्वः, शाकस्तरुः शाकवृक्षः, 'शेगुन' इति प्रसिद्धवृक्षविशेषः इत्यर्थ, तव चित्तं हरिष्यति।हरितो दिशः, यस्य शाकतरोः, पल्लवस्य ओघानां राशीनां, परिरम्भविजृम्भितेन व्याप्तिमहिम्ना, हरितः हरिद्वर्णाः सत्यः। 'हरितः। मृगे ना कनके क्लीबं दिशि स्त्री हरिते त्रिषु' इति विश्वः, जगत्सु ख्याताः हरित इति ख्याताः, स्फुरन्ति प्रथन्ते। दिक्षु हरिच्छब्दप्रवृत्तेः हरितवर्णनिमित्तायाः शाकतरुपल्लवच्छायाच्छुरणनिमित्तत्वा-

1.-'भवन्त्या' इति पाठे 'गिरा' इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेस्तद्रूपातिशयोक्तिः, तया च तस्य तरोः ख्यातिः व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३८ ॥

जहाँ (जिस शाकद्वीपमें) तोतेके पङ्खके समान कान्तिवाले पत्रसमूहको धारण करनेवाला 'शाक' नामक वृक्ष तुम्हारे चित्तको हरण (आकृष्ट) करेगा। जिस ('शाक' वृक्ष) के पत्तोंके सम्बन्धके विस्तार से हरित (हरे) वर्णवाली बनी हुई दिशाएँ संसारमें ('हरित' ऐसे) अन्वर्थ नामवाली प्रसिद्ध हो गयी हैं [इस विशाल 'शाक' वृक्षके पत्तोंसे हरी बननेके कारण दिशाओंका नाम 'हरित्' प्रसिद्ध हो गया है, ऐसे वृक्षको देखकर तुम्हारा चित्त आकृष्ट हो जायेगा, अतएव इस राजाको वरण उस 'शाक' वृक्षको देखनेका सुअवसर मत छोड़ो] ॥ ३८ ॥

स्पर्शेन तत्र किल तत्तरुपत्रजन्मा यन्मारुतः कमपि सम्मदमाददाति।
कौतूहलं तदनुभूय विधेहि भूयः श्रद्धां पराशरपुराणकथान्तरेऽपि ॥३९॥

स्पर्शेनेति। तत्र द्वीपे, किल तस्य तरोः पत्रेभ्यो जन्म यस्य तज्जन्मा मारुतः स्पर्शेन स्पर्शमात्रेण, कमप्यनिर्वचनीयं, सम्मदम् आनन्दम् , आददातीति यत् तदानन्ददानरूपं, कौतूहलं कौतुकं, विस्मयजनकव्यापारमित्यर्थः, 'कौतूहलं कौतुकञ्च कुतुकञ्च कुतूहलम्' इत्यमरः, अनुभूय भूयः पुनरपि, पराशरपुराणे विष्णुपुराणे, यत् कथान्तरम् अन्या कथा तत्र, श्रद्धां विधेहि विश्वासं कुरु, तत्रैव सकलभूगोलवृत्तान्त कथनादेकदेशसंवादस्य यथार्थत्वेन तदुक्तकथान्तराणामपि विश्वसनीयत्वादिति भावः। अत्र विष्णुपुराणवाक्यं—'शाकस्तत्र महावृक्षः सिद्धगन्धर्वसेवितः। यत्पत्रवातसंस्पर्शादाह्लादो जायते परः' ॥ इति ॥ ३९ ॥

वहाँ (शाकद्वीपमें) उस वृक्ष (शाकवृक्ष) के पत्तोंसे उत्पन्न वायु किसी (अनिर्वचनीय) हर्षको जो पैदा करती है, उस कौतुकका अनुभव करके पराशरोक्त (विष्णु-) पुराणकी अन्य कथाओंमें भी श्रद्धा (अथवा—अत्यधिक श्रद्धा) करो। [विष्णु पुराणमें पराशरने समस्त भूगोलके वर्णन-प्रसङ्गमें शाकद्वीपके पत्तोंके आह्लादकारक होनेका जो वर्णन किया है, उसे प्रत्यक्ष अनुभव करके उस पुराणमें कही गयी शेष कथाभागको भी सत्य मानकर फिर श्रद्धा करो, अर्थात् यद्यपि पुराणोंमें तुम्हें इस समय भी श्रद्धा है, किन्तु उसमें लिखित कथाको प्रत्यक्ष देखकर उस श्रद्धाको फिर दृढ़ करो, अथवा—('भूयसी चासौ श्रद्धा चेति ताम्' ऐसा कर्मधारय समास करके 'भूयःश्रद्धाम्' पदको एक शब्द मानकर) 'अधिक श्रद्धा हो ॥ ३९ ॥

क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानामध्येतु तत्र विकटायितमायताक्षि!।
वेलावनीवनततिप्रतिबिम्बचुम्बिकिर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम् ॥४०॥

क्षीरेति। हे आयताक्षि! तत्र शाकद्वीपे, क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानां कटाक्षकान्तिजालानां, 'वृन्दं जालं चक्रवालं जालकं पेटकं छटा' इति वैजयन्ती, विकटा-

यितं विकटभावम् , अतिशयमित्यर्थः, 'कटः श्रोणौ द्वयोः पुंसि किलिञ्जेऽतिशये शवे' इति मेदिनी, यद्वा—विशालभावं, सौन्दर्यविलसितमित्यर्थः, 'विशाले विकराले च विकटं कवयो विदुः' इति शाश्वतः, विकटशब्दाल्लोहितादिक्यङन्ताद्भावे क्तः । लोहितादिराकृतिगणः, वेलावनी कूलभूमिः, 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति शाश्वतः, तत्र या वनततिर्वनपङ्क्तिः, तस्याः प्रतिबिम्बं चुम्बति स्पृशतीति तच्चुम्बी तस्य तद्युक्तस्य इति यावत्, अत एव किर्मीरितस्य कर्बुरितस्य, नानावर्णमिश्रितस्येति यावत् , 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः, ऊर्मिचयस्य तरङ्गपङ्क्तेः, चारिमा चारुता, 'पृथ्वादिभ्य इमनिच् वा' इति इमनिचि 'टेः' इति टेर्लोपः । चापलं चाञ्चल्यं, युवादित्वादण्–प्रत्ययः ताभ्यां, स्मारकाभ्याम् , अध्येतु स्मरतु, अनुकरोतु इति यावत् , 'इक् स्मरणे' इत्यस्माल्लोटि शेषत्वविवक्षायाम् 'अधीगर्थ–' इत्यादिना षष्ठीविधानात्तदभावे कर्मणि द्वितीया, तव चक्षुषोः कटाक्षेषु परितः श्वैत्यं मध्ये नीलत्वं चपलता च, अतः क्षीरसमुद्रोऽपि तत्सदृशो भवतु इति भावः । अत्र किर्मीरितोर्मिचयस्य सितासितत्वसादृश्यात् तद्विलासस्य कटाक्षविलसितस्मारकत्वात् स्मरणालङ्कारः ॥ ४० ॥

हे विशाल नेत्रोंवाली (दमयन्ति)! वहां (उस शाकद्वीपमें) तटकी भूमिमें स्थित वनराजिके प्रतिबिम्बको धारण किया हुआ क्षीरसमुद्र (अतएव) कर्बुर (चितकबरे) तरङ्गसमूहकी सुन्दरता तथा चञ्चलतासे तुम्हारे कटाक्षों की शोभाकी छटा (परम्परा) के विलासका स्मरण अथवा—[स्वतः श्वेतवर्ण तथा तटभूमिस्थित प्रतिबिम्बित वनराजिसमूहसे कर्बुरित (कृष्णवर्ण) एवं चञ्चल तरङ्गसमूहवाला क्षीरसमुद्र तुम्हारे कृष्ण नील चञ्चल कटाक्ष के समान सुन्दरता प्राप्त करे] ॥ ४० ॥

कल्लोलजालचलनोपनतेन पीवा जीवातुनाऽनवरतेन पयोरसेन ।
अस्मिन्नखण्डपरिमण्डलितोरुमूर्तिरध्यास्यते मधुभिदा भुजगाधिराजः॥४१॥

कल्लोलेति । अस्मिन् क्षीरार्णवे कल्लोलानां तरङ्गाणां जालस्य वृन्दस्य चलनेन चलनाद्वा उपनतः प्राप्तस्तेन । जीवातुना उज्जीवकेन 'जीवातुर्जीवनौषधम्' इत्यमरः। अनवरतेनाविच्छिन्नेन पय एव रसस्तेन स्वादुक्षीरेण पीवा पीवरः, स्थूलकाय इत्यर्थः । 'पीङ्' धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिपि 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इतीकारः । अखण्डं सम्पूर्णं यथा स्यात्तथा परिमण्डलिता परितो वेष्टिता, कुण्डलितेति यावत् , उर्वी विशाला मूर्तिः शरीरं यस्य येन वा सः । भुजगानां सर्पाणामधिराजः शेषः । मधुं तन्नामकं दैत्यं भिनत्तीति तेन विष्णुना अध्यास्यते अधिशय्यते । कर्मणि प्रत्ययत्वेन 'अधिशीङ्स्थासां कर्मेति कर्मणो भुजगाधिराजशब्दात्प्रथमा, मधुभिच्छब्दात्कर्तरि तृतीया च बोध्या। अत्र क्षीरसागरे श्रीविष्णुशेषराजोपरि शेत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इस (क्षीरसमुद्र) में तरङ्ग-समूहके चलनेसे समीपमें लाये गये, जिलानेवाले एवं अविच्छिन्न दुग्धरस (के पीने) से मोटे तथा मण्डलाकार किये हुए सम्पूर्ण शरीरवाले सर्पराज (शेषनाग) पर श्रीविष्णु सोते हैं॥ ४१ ॥

त्वद्रूपसम्पदवलोकनजातशङ्का पादाब्जयोरिह कराङ्गुलिलालनेन।
भूयाच्चिराय कमलाकलितावधाना निद्रानुबन्धमनुरोधयितुं धवस्य ॥४२॥

त्वदिति। इह क्षीरार्णवे तव रूपमेव सौन्दर्यमेव सम्पत् रूपस्य सम्पद्वा, तस्या अवलोकनेन दर्शनेन जातोत्पन्ना शङ्का सन्देहो यस्याः सा, इमां मदपेक्षया परमसुन्दरीं विलोक्य मद्भर्ता श्रीविष्णुः कदाचिदिमामङ्गीकुर्यादिति शङ्कया युक्तेत्यर्थः। कमला लक्ष्मीः पादाब्जयोश्चरणकमलयोः कराङ्गुलिभिर्लालनेन संवाहनकार्येण धवस्य पत्युः, श्रीविष्णोरिति यावत्। निन्द्रानुबन्धं निद्रासातत्यमनुरोधयितुं वर्धयितुं चिराय चिरकालं यावत् दत्तमवधानं यया सा, सावधानेति भावः। भूयाद्भवेत्। मत्पतिः श्रीविष्णुः लोकैकसुन्दरीमिमां दमयन्तीं दृष्ट्वा मोहितस्सन्निमां श्रयेदिति शङ्कया तच्चरणयोः संवाहनेन चिरकालं निद्रितमेव तं कर्तुं सावधाना भवत्वित्यर्थः॥ ४२ ॥

इस (क्षीरसमुद्र) में तुम्हारे रूपकी शोभाको देखकर शङ्कायुक्त लक्ष्मी श्रीविष्णुके चरणकमलोंमें हाथकी अङ्गुलियोंद्वारा दवानेसे पति (श्री विष्णु) को सोते रहनेके लिये बहुत देर तक सावधान होवे, (अथवा—बहुत देर तक सोते रहनेके लिये सावधान होवे)। [लोकैकसुन्दरी तुम्हें देखकर लक्ष्मी को आशङ्का हो गयी कि 'यदि मेरे पति श्री विष्णु जग जावेंगे तो परमसुन्दरी इस दमयन्तीको देख करके इसे ही पत्नी रूपमें स्वीकार कर लेंगे' अत एव उनके चरणोंको हाथकी अङ्गुलियोंसे धीरे-धीरे दबाते रहनसे उनको बहुत देरतक सोते ही रहनेके लिये सावधान होवे, जिससे विष्णु भगवान् न शीघ्र जगेंगे और न दमयन्तीको देखकर इसे पत्नीरूपमें स्वीकार करेंगे] ॥ ४२ ॥

बालातपैः कृतकगैरिकतां कृतां द्विस्तत्रोदयाचलशिलाः परिशीलयन्तु।
त्वद्विभ्रमभ्रमणजश्रमवारिधारिपादाङ्गुलीगलितया नखलाक्षयाऽपि ॥४३॥

बालातपैरिति। तत्र शाकद्वीपे, उदयाचलशिलाः बालातपैः तथा तव विभ्रमभ्रमणेन सलीलचङ्क्रमणेन, जातं तज्जं, श्रमवारि स्वेदाम्बु, तद्धारिणीभ्यः पादाङ्गुलिभ्यः गलितया स्रुतया, नखलाक्षयाऽपि द्विर्द्विवारं, कृतां द्विगुणीकृतामित्यर्थः, क्रियाभ्यावृत्तिगणने 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्, कृतकानि कृत्रिमाणि, यानि गैरिकाणि धातुविशेषाः, तत्तां परिशीलयन्तु अनुभवन्तु, तथाभूताः सन्तु इत्यर्थः; उदयाचलविहारे यदि तव रुचिः अस्ति तदा एनं वृणीष्व इति भावः॥ ४३ ॥

उस शाकद्वीपमें उदयाचल पर्वतके चट्टान प्रातःकालीन धूपसे तथा तुम्हारे विलासपूर्वक घूमनेसे उत्पन्न पसीनेके जलसे युक्त चरणाङ्गुलियोंसे गिरे हुए नाखूनोंके महावरों (नाखून रंगनेका अरुण वर्ण द्रव्यविशेष) से दुवारा किये गये कृत्रिम (बनावटी—अस्वा-

भाविक) गैरिक भावको धारण करे [उदयाचलके चट्टान प्रातःकालीन सूर्यकिरणोंसे पहले ही गेरूसे लाल हो रहे थे, किन्तु जब तुमने वहां विलास से भ्रमण किया तो श्रमजन्य पसीना आनेसे पैरकी अङ्गुलियां भींग जावेंगी और उनके नाखूनोंमें लगाये गये लाल वर्णके महावर उन चट्टानों पर लग जायेंगे, इस कार्यसे वे चट्टान फिर गेरू-से मालूम पड़ने लगेंगे। तुम इस राजाको वरणकर उदयाचलपर विलासपूर्वक भ्रमण करो] ४३ ॥

नृणां करम्बितमुदामुदयन्मृगाङ्कशङ्कां सृजत्वनघजङ्घि ! परिभ्रमन्त्याः ।
तत्रोदयाद्रिशिखरे तव दृश्यमास्यं काश्मीरसम्भवसमारचनाभिरामम् ॥४४॥

नृणामिति । हे अनघजङ्घि ! सुन्दरजङ्घाशालिनि ! वामोरु ! इति यावत् 'नासिकोदर—' इत्यादिना विकल्पेन, ङीष्-प्रत्ययः, तत्र द्वीपे, उदयाद्रिशिखरे परिभ्रमन्त्याः विहरन्त्याः, तव काश्मीरसम्भवसमारचनेन कुङ्कुमानुलेपनेन, अभिरामम् अत एव दृश्यं दर्शनीयम्, 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' इति क्यप्, तवास्यं कर्तृ, करम्बितमुदां सम्मिलितानन्दानां, नृणां पुंसां, 'नृ च' इति विकल्पात् दीर्घः, उदयन्मृगाङ्कशङ्काम् उदीयमानचन्द्रसन्देहं, भ्रान्तिं वा, सृजतु करोतु । अलङ्कारोऽपि सन्देहभ्रान्तिमतोरन्यतरोऽस्तु ॥ ४४ ॥

हे अनिन्दित जघनोंवाली (दमयन्ति) ! उस उदयाचलकी चोटीपर भ्रमण करती हुई तुम्हारा कुङ्कुमलेपसे मनोहर (अत एव) देखने योग्य मुख आनन्दित मनुष्योंको उदित होते हुए चन्द्रमाकी शङ्काको पैदा करे । [उदयाचलकी चोटीपर घूमती हुई तुम्हारे कुङ्कुमलेपयुक्त रमणीय मुखको देखकर 'यह चन्द्रमा उदय हो रहा है' ऐसे भ्रमसे मनुष्य हर्षित होवें] ॥ ४४ ॥

एतेन ते विरहपावकमेत्य तावत् कामं स्वनाम कलितान्वयमन्वभावि ।
अङ्गीकरोषि यदि तत्तव नन्दनाद्यैर्लब्धान्वयं स्वमपि नन्वयमातनोतु ॥४५॥

एतेनेति । ननु भैमि ! एतेन हव्याख्येन राज्ञा, ते तव, विरहपावकम् एत्य वियोगाग्निं प्राप्य, स्वं स्वकीयं, नाम हव्यसंज्ञा, कामं प्रकामं, कलितान्वयं प्राप्तान्वर्थं, सार्थकमिति यावत्, अन्वभावि तावत् अनुभूतमेव, अग्नौ हुतत्वाद्धव्यसंज्ञा सार्थाऽजनीत्यर्थः; अङ्गीकरोषि यदि इत्थम् ;अनुरक्तं तं नृपं वरत्वेन स्वीकरोषि चेत, तत् तदा, अयं नृपः, स्वम् आत्मानमपि, तव नन्दनाद्यैः त्वय्युत्पादितपुत्रपौत्रादिभिः, लब्धान्वयं लब्धवंशप्रतिष्ठम्, आतनोतु; धर्मप्रजासम्पत्त्यर्थत्वाद्दारपरिग्रहस्येति भावः॥

इस ('हव्य' नामक राजा) ने तुम्हारी विरहाग्निको पाकर अपने नाम ('हव्य' अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य-विशेष) को अच्छी तरह सार्थक कर लिया है, यदि तुम इसे स्वीकार करती हो तो यह तुम्हारे पुत्र आदि (पौत्र,…) से अपनेको सन्तानयुक्त करेगा । ['यदि' पदके द्वारा सरस्वती देवीने पाक्षिक स्वीकार करना कहकर स्वीकार करनेमें अरुचिका सङ्केत किया है] ॥ ४५ ॥

लक्ष्मीलतासमवलम्बभुजद्रुमेऽपि वाग्देवताऽऽयतनमञ्जुमुखाम्बुजेऽपि ।
साऽमुत्र दूषणमजीगणदेकमेव नार्थीबभूव मघवा यदमुष्य देवः ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीलतेति । लक्ष्मीरेव लता तस्याः समवलम्बः आधारभूतः, भुज एव द्रुमो यस्य तस्मिन्नपि, भुजार्जितसम्पद्यपीत्यर्थः, तथा वाग्देवतायाः सरस्वत्याः, आयतनं स्थानं, मञ्जु मनोज्ञं, मुखाम्बुजं यस्य तस्मिन् अपि, चतुःषष्टिकलाऽभिज्ञेऽपि, लक्ष्मी-सरस्वत्योरेकाधिकरणेऽपीति भावः, अमुत्र अमुष्मिन् हव्ये राज्ञि, सा भैमी, एक-मेव दूषणम् अजीगणत् गणयामास, गणेर्णौ चङ् 'ई च गणः' इत्यभ्यासस्येकारः, किं दूषणम्? तदाह—अमुष्य हव्यस्य राज्ञः, देवो मघवा महेन्द्रः, यत् अर्थी याचकः, न बभूव; किन्तु नलस्य यद् दूत्यं ययाचे तत् कथं नलात् हीनमेनं स्वीकरि-ष्यामि इति भावः ॥ ४६ ॥

उस (दमयन्ती) ने लक्ष्मीरूपिणी लताके आश्रयभूत बाहुरूपी वृक्षवाले भी तथा सरस्वती देवीके निवासभूत मनोहर मुख-कमलवाले भी इस ('हव्य' नामक राजा) में एक ही दोष गिना (समझा) कि इन्द्रदेव इसका याचक नहीं बने (अत एव उसका वरण नहीं किया)। [यद्यपि यह 'हव्य' राजा वीरलक्ष्मी से युक्त बाहुवाला, विद्वान् तथा सुन्दर मुखकमलवाला है, किन्तु नलके तो इन्द्रदेव याचक बने थे अर्थात् मेरे यहां दूत बनने के लिये नलसे इन्द्रने याचना की थी और इसके नहीं, अतः इस 'हव्य' राजा तथा नलमें बहुत अन्तर है, इस कारण इसका वरण करना ठीक नहीं है, यह विचार कर दमयन्तीने उसका वरण नहीं किया] ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीविलासवसतेः सुमनःसु मुख्या-
दस्माद् विकृष्य भुवि लब्धगुणप्रसिद्धिम् ।
स्थानान्तरं तदनु निन्युरिमां विमान-
वाहाः पुनः सुरभितामिव गन्धवाहाः ॥ ४७ ॥

लक्ष्मीविलासेति । तदनु तत्परिहारानन्तरं, विमानवाहाः भुवि लोके, लब्धा गुणेन सौन्दर्यादिना, अन्यत्र—घ्राणतर्पणेन च, प्रसिद्धिः यया ताम्, इमां तां दमयन्तीं, गन्धवाहाः वायवः, सुरभितां सौरभसम्पदमिव, लक्ष्म्याः सम्पदः, अन्यत्र—पद्मायाः, विलासवसतेः लीलागृहात्, सुमनःसु विद्वत्सु, अन्यत्र—पुष्पेषु, मुख्यात् अस्मात् नृपात्, पद्माच्च, विकृष्य अपनीय, पुनः स्थानान्तरं राजान्तरम्, अन्यत्र—पुष्पान्तरं, निन्युः ॥ ४७ ॥

इस (दमयन्तीके द्वारा 'हव्य' राजाका वरण नहीं करने) के बाद विमानवाहकोंने शोभा (या श्री) के निवास स्थान तथा विद्वानोंमें प्रधान इस ('हव्य' नामक राजा) से सौन्दर्य आदि गुणोंसे प्रसिद्ध इस (दमयन्ती) को फिर हटाकर उस प्रकार दूसरे स्थानमें ले गये, जिस प्रकार वायु फूलोंमें प्रधान लक्ष्मीके निवास भवन (लक्ष्मी का कमलमें निवास

करना प्रसिद्ध है) कमलसे (उत्तम गन्ध आदि) गुणोंसे प्रसिद्ध सुगन्धिको दूसरे स्थान पर ले जाती है ॥ ४७ ॥

भूयस्ततो निखिलवाङ्मयदेवता सा हेमोपमेयतनुभासमभाषतैनाम् ।
एनं स्वबाहुबहुवारनिवारितारिं चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तिदन्ति ! ॥४८॥

भूय इति। ततः अनन्तरं, भूयः पुनरपि, निखिलवाङ्मयदेवता सकलवागधिदेवता, सा सरस्वती, हेम्ना उपमेया तनुभाः शरीरकान्तिः यस्याः ताम्, एनां दमयन्तीम्, अभाषत, हे कुरुविन्दसकान्तिदन्ति ! पद्मरागसदृशदशने ! 'नासिकोदर—'इत्यादिना विकल्पादीकारः । 'कुरुविन्दः पद्मरागः' इति विश्वः । सकान्तीत्यत्र समानस्य स-भावश्चिन्त्यः, स्वबाहुना बहुवारं निवारितारिं निर्जितशत्रुम्, एनं राजानं, चित्ते कुरुष्व अनुमन्यस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

इस (दमयन्तीको विमानवाहकों द्वारा दूसरे राजाके पास ले जाने) के बाद सम्पूर्ण वाङ्मयकी देवता (सरस्वती देवी) स्वर्णके समान शरीर-कान्तिवाली इस (दमयन्ती) से फिर बोली—हे कुरुविन्द (पद्मराग) के समान सुन्दर दाँतोंवाली (दमयन्ति) ! अपनी बाहुसे बहुत बार शत्रुओंका निवारण (पराजित) करनेवाले इस (राजा) को चित्तमें करो अर्थात् स्वीकार करो ॥ ४८ ॥

द्वीपस्य पश्य दयितं द्युतिमन्तमेतं क्रौञ्चस्य चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण ।
यन्मण्डले स किल पाण्डुलसन्निवेशः[1] पूरश्चकास्ति दधिमण्डमयः पयोधेः ॥

द्वीपस्येति । द्युतिमन्तं नाम एतं क्रौञ्चस्य द्वीपस्य दयितम् अधिपतिं, चञ्चलस्य दृगञ्चलस्य कटाक्षस्य, विभ्रमेण विलासेन, पश्य, यन्मण्डले यस्य देशे, पयोधेः समुद्रस्य, स प्रसिद्धः, पाण्डुलसन्निवेशः पाण्डुलः पाण्डुवर्णः, सन्निवेशः अवस्थानं यस्य तादृशः, दधिमण्डमयः दध्नो मण्डं मस्तु 'मण्डं दधिभवं मस्तु' इत्यमरः, तन्मयः पूरः तोयराशिः, चकास्ति किलेत्यैतिह्ये ॥ ४९ ॥

क्रौञ्चद्वीपके अधिपति द्युतिमान् नामक इस राजाको देखो, जिसके देशमें मण्डलाकार (पाठा०—श्वेत वर्ण वाला) दधिमण्डजलवाले समुद्रकी राशि (या प्रवाह) शोभता है ॥४९॥

तत्राद्रिरस्ति भवदङ्घ्रिविहारयाची क्रौञ्चः स्फुरिष्यति गुणानिव यस्त्वदीयान् ।
हंसावलीकलकलप्रतिनादवाग्भिः स्कन्देषुवृन्दविवरैर्विवरीतुकामः ॥ ५० ॥

तत्रेति । तत्र क्रौञ्चद्वीपे, भवत्याः अङ्घ्रिविहारयाची सविलासभ्रमणकामुकः, क्रौञ्चो नामाद्रिः अस्ति, योऽद्रिः, हंसावलीकलकलानां हंसश्रेणीविरुतानां, प्रतिनादाः प्रतिध्वनयः एव, वाचो वचनानि येषां तैः, स्कन्दस्य कुमारस्य, इषुवृन्दानां विवरैः तत्कृतच्छिद्रैः, तैरेव मुखैरित्यर्थः, त्वदीयान् गुणान् विवरीतुकामो व्याख्यातुकाम इव,

---

१. 'मण्डलसन्निवेशः' इति, 'परिमण्डलसन्निवेशः' इति च पाठान्तरे ।

स्फुरिष्यति प्रकाशिष्यते, स्फुरतेः कुटादित्वात् गुणाभावः, पुरा कार्त्तिकेयेन बाणैः क्रौञ्चपर्वतस्य विवराणि कृतानि इति पुराणम् ॥ ५० ॥

उस क्रौञ्च द्वीपमें तुम्हारे चरणोंके विहार करने का इच्छुक 'क्रौञ्च' पर्वत है, जो हंसावलीके कलकल (मधुर शब्द) रूप वचनोंसे कार्तिकेयके बाण-समूहके छिद्रोंद्वारा मानो तुम्हारे गुणोंको कहनेके इच्छुकके समान स्फुरित होगा। [कार्तिकेयने बाणोंसे उस क्रौञ्च पर्वतमें बहुत-से छिद्र कर दिये हैं, उनमें हंसावलिका कलकल प्रतिध्वनित होगा तो ऐसा ज्ञात होगा कि वह क्रौञ्च पर्वत मानो तुम्हारे गुणों का वर्णन कर रहा है, ऐसे क्रौञ्च पर्वतमें तुम इस राजाको वरण करके विहार करो] ॥ ५० ॥

वैदर्भि ! दर्भदलपूजनयाऽपि यस्य गर्भे जनः पुनरुदेति न जातु मातुः ।
तस्यार्चनां रचय तत्र मृगाङ्कमौलेस्तन्मात्रदैवतजनाभिजनः स देशः ॥५१॥

वैदर्भीति । हे वैदर्भि ! यस्य दर्भदलैः कुशपत्रैः, पूजनयाऽपि, किमुत कमलदलादिपूजनयेति भावः, जनो जन्तुः, जातु कदाऽपि, पुनर्मातुर्गर्भे न उदेति न जायते, तत्पूजनस्य मुक्तिरेव फलमित्यर्थः, तत्र पर्वते, तस्य मृगाङ्कमौलेः ईश्वरस्य, अर्चनां रचय पूजां कुरु; तथा हि, स देशः तन्मात्रं स एव, शिव एवैक इत्यर्थः, दैवतं येषां तेषां जनानाम् अभिजायते अस्मिन्निति अभिजनो जन्मभूमिः; इत्यर्थान्तरन्यासः । 'ख्यातः कुलेऽप्यभिजनो जन्मभूम्यां कुलध्वजे' इति विश्वः, तत्रत्याः सर्वे तदेकशरणास्तत्सेवयोत्पन्नतत्त्वज्ञानान्मुच्यन्तीति भावः ॥ ५१ ॥

हे दमयन्ति ! मनुष्य केवल कुशाके पत्तोंसे भी जिसकी पूजा करनेसे फिर कभी माताके गर्भमें नहीं आता अर्थात् मुक्ति पा लेता है (तो फिर कमल आदि के द्वारा उसकी पूजा करने पर क्या कहना है अर्थात् उससे तो अत्यधिक फल होगा ही), उस चन्द्रशेखर (शङ्करजी) की वहांपर (उस क्रौञ्च द्वीपमें) पूजा करो, क्योंकि उस देशके लोगोंके एक मात्र वही (शङ्करजी ही) देवता हैं ॥ ५१ ॥

चूडाग्रचुम्बिमिहिरोदयशैलशीलस्तेनाः स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य ।
तस्मिन् सुवर्णरसरूषण[1]रम्यहर्म्यभूभृद्घटा घटय हेमघटावतंसाः ॥५२॥

चूडाग्रेति । तस्मिन् देशे, स्तनं धयतीति स्तनन्धयः, 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' इति खश्-प्रत्यये मुमागमः, स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य बालेन्दुशेखरस्य शम्भोः, हेमघटावतंसाः उपरिस्थापितकनककलसभूषिता इत्यर्थः, अत एव चूडाग्रचुम्बिमिहिरस्य शिखराग्रलग्नसूर्यस्य, उदयशैलस्य उदयाद्रेः, शीलं स्वभावः, तस्य स्तेनाः चौराः, तत्तुल्या इत्यर्थः, सुवर्णरसरूषणेन हेमद्रवच्छुरणेन, रम्याणि हर्म्याण्येव भूभृतः पर्वताः, तेषां घटाः पङ्क्तीः, घटय निर्मापय, कनककलससंयुक्तानेकसौवर्णप्रासादनिर्माणेन तं भगवन्तमिन्दुशेखरं प्रीणयेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

---

१. 'भूषण' इति पा० ।

उस क्रौञ्च द्वीपमें मस्तकमें बाल चन्द्रधारी (शङ्करजी के), शिखराग्रमें सूर्यका स्पर्श करनेवाले उदयाचलके शीतलको चुरानेवाला अर्थात उदयाचलके समान शोभमान, (ऊपर रखे हुए) सुवर्ण कलशोंसे सुशोभित तथा सुवर्ण–रससे लिप्त (पाठा०–सुवर्ण–रस ही है भूषण जिसका ऐसा) होनेसे रमणीय महलों की पङ्क्तियों को घटित करो ॥ ५२ ॥

तस्मिन्मलिम्लुच इव स्मरकेलिजन्मघर्मोदबिन्दुमयमौक्तिकमण्डनं ते ।
जालैर्मिलन् दधिमहोदधिपूरलोलकल्लोलचामरमरुत् तरुणि! च्छिनत्तु॥५३॥

तस्मिन्निति । हे तरुणि ! हे उद्भूतयौवने ! तस्मिन् द्वीपे, दधिमहोदधेः पूरे प्रवाहे, लोलाः चञ्चलाः, कल्लोलाः तरङ्गा एव, चामराणि तेषां मरुत् वायुः, मलिम्लुचः चौर इव, 'चौरैकागारिकस्तेन–दस्युतस्करमोषकाः । प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः ॥' इत्यमरः, जालैः गवाक्षरन्ध्रैः, मिलन् अन्तश्चरः सन् ; स्मरकेल्या जन्म यस्य तादृशं घर्मोदबिन्दुमयं स्वेदोत्करबिन्दुरूपं; 'मन्थौदन—' इत्यादिना उदकस्य विकल्पादुदादेशः, मौक्तिकमण्डनं मुक्ताभरणं, 'स्वार्थे ठक् । 'मौक्तिकमिति विनयादिपाठात्' इति वामनः' छिनत्तु छित्त्वा हरतु; चौरा हि केनचिच्छिद्रेण प्रविश्य हारादिकं छित्त्वा आदाय पलायन्ते; अस्मिन् वृते सति दधिसमुद्रवायुना तव रतिश्रमो न भविष्यति इति भावः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ५३ ॥

हे युवति ! उस क्रौञ्च द्वीपमें खिड़कियोंसे भीतर आनेवाले दधिसमुद्रप्रवाह का चञ्चल तरङ्गरूप चामरकी वायु चोरके समान तुम्हारे कामके लिये उत्पन्न पसीने की बूँदरूपी भूषणको चुरावे । [कामक्रीडाजन्य श्रम से पसीनेकी मोतियोंके समान बूंदोंको खिड़कियोंसे दधिसमुद्रके प्रवाहसे चञ्चल तरङ्गोंरूपी चामर की हवा सुखावे। [लोकमें भी कोई चोर प्रधान द्वारसे घरमें प्रवेश नहीं करता, किन्तु खिड़की आदिके रास्तेसे घरमें घुसकर भूषणादिको चुरा ले जाता है] ॥ ५३ ॥

एतद्यशो नवनवं खलु हंसवेशं वेशन्तसन्तरणदूरगमक्रमेण ।
अभ्यासमर्जयति सन्तरितुं समुद्रान् गन्तुञ्च निःश्रममितः सकलान् दिगन्तान्॥

एतदिति । नवनवं प्रत्यहं नूतनप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः, हंसस्येव वेशः सर्वत्र प्रवेशव्यापारः, श्वेतात्मकरूपान्तरं, वा यस्य तत् , एतस्य राज्ञः, यशः वेशन्तसन्तरणं पल्वलतरणं; 'वेशन्तः पल्वलञ्चाल्पसरः' इत्यमरः । दूरगमो दूरगमनं, 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति अप्–प्रत्ययः तयोः क्रमेण रीत्या, हंसस्य रीत्येत्यर्थः, इतोऽस्माद्देशात् , निःश्रमं श्रमरहितं–यथा तथा, समुद्रान् सन्तरितुं सकलान् दिगन्तान् गन्तुञ्च अभ्यासम् अर्जयति खलु ? जिज्ञासायां खलुशब्दः, तेन, पुनः पुनरेवम् अभ्यस्यति किम् ? अन्यथा कथमस्य सकललोकलङ्घित्वमित्युत्प्रेक्षा लभ्यते ॥ ५४ ॥

इस ('द्युतिमान्' नामक राजा) का हंसके समान श्वेत वर्ण (पक्षा०—हंसवेषधारी)

अत्यन्त नवीन यश छोटे जलाशयके तैरते-तैरते दूर जानेके क्रमसे (पहले जलाशयके कुछ भाग तक, बादमें उससे कुछ अधिक भागतक और इस प्रकार धीरे-धीरे पार तक—इसी क्रमसे बड़े जलाशयोंके पारतक तदनन्तर) समुद्रके पारतक तैरनेके लिये अभ्यास कर रहा है और यहां (समुद्र या इस स्थान) से सम्पूर्ण दिशाओंके अन्ततक बिना श्रमके जानेका अभ्यास करता है। [अन्य भी कोई व्यक्ति पहले छोटे जलाशयमें धीरे-धीरे तैरनेका अभ्यास बढ़ाकर बड़े जलाशयों तथा बादमें समुद्र तक में तैरने का अभ्यास कर लेता है॥ सरस्वती देवीने इस राजाके यशको नवीनतम बतलाकर इसके वरणमें अनास्था प्रकट की है]॥

तस्मिन् गुणैरपि भृते गणनादरिद्रैस्तन्वी न सा हृदयबन्धमवाप भूपे।
दैवे विरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त! प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि ५५

तस्मिन्निति। तन्वी कृशाङ्गी, 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पात् ङीष् सा भैमी, गणनादरिद्रैः सङ्ख्याशून्यैः, असङ्ख्यैरित्यर्थः, गुणैः भृतेऽपि पूर्णेऽपि, तस्मिन् भूपे द्युतिमदाख्ये राज्ञि' हृदयस्य बन्धं मनःसङ्गं, नावाप; तथा हि, दैवे भागधेये, विरुन्धति प्रतिबध्नति सति, प्रयासेन दुःखबाहुल्येन, परुषाणि दुष्कराणि, पौरुषाणि पुरुषकाराः, युवादित्वादण्-प्रत्ययः निबन्धनतां कार्यहेतुत्वं, न वहन्ति इत्यर्थान्तरन्यासः; हन्तेति खेदे। वागुरापाशकादौ हरिणी यद् बन्धनमाप्नोति तत्र दैवविडम्बना एव हेतुरिति ध्वनिः॥ ५५॥

कृशोदरी वह (दमयन्ती) अगणनीय गुणोंसे परिपूर्ण भी उस ('द्युतिमान्' राजा) में मनोऽभिलाष नहीं किया (उस राजाको वरण करना नहीं चाहा)। भाग्यके प्रतिकूल होते रहने पर प्रयाससे दुष्कर भी पुरुषार्थ कार्यसाधक हेतु नहीं होते हैं। [भाग्यके प्रतिकूल होनेपर पुरुषोंके कठोर प्रयास भी निष्फल हो जाते हैं]॥ ५५॥

ते निन्यिरे नृपतिमन्यमिमाममुष्मादंसावतंसशिविकांशभृतः पुमांसः।
रत्नाकरादिव तुषारमयूखलेखां लेखानुजीविपुरुषा गिरिशोत्तमाङ्गम्॥५६॥

ते इति। ते प्रकृताः, अंसावतंसान् स्कन्धभूषणस्वरूपान्, शिविकायाः अंशान् अवयवान्, बिभ्रति ये ते, पुंमासो यानवाहिपुरुषाः, लेखानुजीविपुरुषाः देवात्मकानुचराः, 'अमरा निर्जरा देवाः' 'लेखा अदितिनन्दनाः' इत्यमरः। रत्नाकरात् रत्नाकरसकाशात्, तुषारमयूखलेखां चन्द्रकलां, गिरिशोत्तमाङ्गं शिवशिर इव, इमां भैमीम् अमुष्मात् एतद्राजसकाशात् अमुं नृपं विहाय इत्यर्थः, अन्यम् इतरं, नृपतिं निन्यिरे प्रापयामासुः। जित्वादात्मनेपदम्॥ ५६॥

कन्धेके भूषण शिविकाके एकदेश (डण्डे) को धारण किये (कन्धेपर रक्खे) हुए वे पुरुष अर्थात् शिबिकावाहक) उस (दमयन्ती) को उस (द्युतिमान्) राजासे हटाकर दूसरे राजाके पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार देवानुचर चन्द्रकलाको शङ्करजीके मस्तक के पास अर्थात् मस्तकपर ले जाते हैं॥ ५६॥

एकैकमुद्गतगुणं[1] धुतदूषणञ्च हित्वाऽन्यमन्यमुपगम्य परित्यजन्तीम् ।
एतां जगाद जगदर्चितपादपद्मा पद्मामिवाच्युतभुजान्तरविच्युतां[2] सा ॥५७॥

एकैकमिति । जगद्भिः अर्चितपादपद्मा जगद्वन्द्या, सा सरस्वती, उद्गतगुणं गुणाढ्यं, धुतदूषणं निर्दोषञ्च, एकैकम् एकमेकं नृपं, वीप्सायां द्विर्भावः । 'एकं बहुव्रीहिवत्' इति बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लुक् । हित्वा अन्यम् अन्यं नृपतिं, पूर्ववत् द्विर्भावः, उपगम्य परित्यजन्तीं तमपि परिहरन्तीम् , अच्युतस्य विष्णोः, भुजान्तरात् वक्षःस्थलात् , विच्युतां पद्मां साक्षाल्लक्ष्मीमिव स्थिताम् , इत्युत्प्रेक्षा, एतां भैमीं, जगाद ॥ ५७ ॥

जगत्पूज्यचरणकमलवाली (सरस्वती देवी), गुण युक्त (पाठा०— आश्चर्यजनक गुणवाले) और दोषरहित एक-एक (राजा) को छोड़कर दूसरे-दूसरे (राजा) के पास जाकर (उसे भी) छोड़ती हुई तथा विष्णुके वक्षःस्थलसे अवतीर्ण लक्ष्मीरूपा उस (दमयन्ती) से बोली-॥ ५७ ॥

ईशः कुशेशयसनाभिशये! कुशेन द्वीपस्य लाञ्छिततनोर्यदि वाञ्छितस्ते ।
ज्योतिष्मता सममनेन वनीघनासु तत् त्वं विनोदय घृतोदतटीषु चेतः ५८

ईश इति । हे कुशेशयसनाभिशये ! कमलसदृशपाणि ! 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः । कुशेन दर्भस्तम्बेन, लाञ्छिततनोः चिह्नितस्वरूपस्य, द्वीपस्य कुशद्वीपस्य, ईशः स्वामी, ते तव, वाञ्छितः इष्टः, यदि तत्तर्हि, त्वं ज्योतिष्मता ज्योतिष्मन्नामकेन, अनेन कुशद्वीपेश्वरेण, समं सह, वनीभिः घनासु वनसान्द्रासु, घृतम् उदकं यस्य सः घृतोदः घृतसमुद्रः, 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः, तस्य तटीषु तीरेषु चेतः चित्तं, विनोदय विनोदं कारय, विपूर्वात् नुदधातोः घञन्तात् विनोदशब्दात् 'तत् करोति—' इति ण्यन्ताल्लोटि सिप् ॥ ५८ ॥

हे कमलतुल्य हाथवाली (दमयन्ति) ! कुशासे चिह्नित देहवाले (बहुत कुशाओंसे पूर्ण) द्वीप अर्थात् 'कुश-द्वीप' का स्वामी यदि तुम्हें अभीष्ट है तो तुम 'ज्योतिष्मान्' (सौन्दर्यसे प्रकाशमान, पक्षा०—'ज्योतिष्मान्' नामवाले) इस (कुशद्वीपाधिपति) के साथ वनोंसे सघन समुद्रतटोंमें मन बहलावो [अर्थात् इस 'ज्योतिष्मान्' राजाको वरण कर वनोंसे सघन समुद्रतटमें विहार करो] ॥ ५८ ॥

वातोर्मिलोलनचलद्दलमण्डलाग्रभिन्नाभ्रमण्डलगलज्जलजातसेकः ।
स्तम्बः कुशस्य भविताऽम्बरचुम्बिचूडश्चित्राय तत्र तव नेत्रनिपीयमानः ॥

वातेति । तत्र कुशद्वीपे, अम्बरचुम्बिनो गगनतललग्ना, चूडा अग्रं यस्य सः अभ्रङ्कषाग्र इत्यर्थः, अत एव वातस्य वायोः, ऊर्मिणा तरङ्गभङ्ग्या, लोलनेन कम्पनेन,

1. '–मद्भुतगणम्' इति पा० । 2. 'विच्युतांसाम्' इति पा० ।

चलद्भिः दलैः कुशानां पत्रैरेव, मण्डलाग्रैः खड्गैः कुशपत्ररूपखड्गैरित्यर्थः, 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत् ॥' इत्यमरः । अत्र रूपकालङ्कारः; भिन्नात् विदारितात्, अभ्रमण्डलात् मेघमण्डलात्, गलद्भिः स्रवद्भिः, जलैः जातः सेको यस्य सः कुशस्य स्तम्बः दर्भगुल्मः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ' इत्यमरः, नेत्राभ्यां निपीयमानः आदरात् दृश्यमानः सन्, तव चित्राय विस्मयाय, भविता भविष्यति ॥ ५९ ॥

आकाशस्पर्शी अग्रभागवाला तथा वायुपरम्पराके द्वारा कँपानेसे चञ्चल पत्ररूपी तलवारोंसे छिन्न-भिन्न मेघसमूहसे गिरते हुए जलके द्वारा सींचे गये कुशस्तम्बको देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा । [कुशद्वीपस्थ कुशका स्तम्ब आकाशस्पर्शी है, वायुसमूह से चञ्चल तलवारके समान तीक्ष्ण पत्तोंसे छिन्न-भिन्न मेघसमूहसे बरसे हुए पानीसे वह कुश सिक्त हो जाता है उसे देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा] ॥ ५९ ॥

पाथोधिमन्थसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणपवित्रशिलासु तत्र ।
पत्या सहाऽऽवह विहारमयैर्विलासैरानन्दमिन्दुमुखि ! मन्दरकन्दरासु ॥

पाथोधीति । हे इन्दुमुखि ! तत्र कुशद्वीपे, पाथोधिमन्थस्य अब्धिमथनस्य, समये उत्थितायाः उद्गतायाः, समुद्रमन्थकाले तज्जलमध्यादुद्भूताया इत्यर्थः, सिन्धुपुत्र्याः लक्ष्म्याः, पत्पङ्कजयोः चरणकमलयोः, 'पदङ्घ्रिः चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः, अर्पणेन पवित्राः शिलाः यासु तासु मन्दरकन्दरासु पत्या भर्त्रा सह, विहाररूपैः, विलासैः विनोदैः, आनन्दम् आवह धारय ॥ ६० ॥

हे चन्द्रमुखि (दमयन्ति) ! उस कुशद्वीपमें समुद्रमथनके समय निकली हुई लक्ष्मीके चरणकमलके अर्पणसे पवित्र चट्टानोंवाली मन्दराचलकी गुफाओंमें विहारमय (विहाररूप या विहारबहुल) विलासों (कटाक्ष-विक्षेपादि) से पति (रूपमें वृत इस राजा) के साथ आनन्द प्राप्त करो ॥ ६० ॥

आरोहणाय तव सज्ज इवास्ति तत्र सोपानशोभिवपुरश्मबलिच्छटाभिः ।
भोगीन्द्रवेष्टशतघृष्टिकृताभिरब्धि-क्षुब्धाचलः कनककेतकगोत्रगात्रि ! ६१

आरोहणायेति । कनककेतकं स्वर्णकेतकदलं, गोत्रम् अभिजनो यस्य तत् तादृशं, तस्य गोत्रं सन्ततिर्वा, गात्रं यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, तद्गात्रि ! तत्सदृशगात्रीत्यर्थः, 'अङ्गपात्रकण्ठेभ्यः' इत्यादिना ङीष्, तत्र कुशद्वीपे, भोगीन्द्रस्य वासुकेः वेष्टशतघृष्टिभिः वेष्टनशतानां घर्षणैः कृताभिः अश्मसु शिलासु, बलीनां वेष्टनमार्गाणां, छटाभिः समूहैः हेतुभिः, सोपानैः शोभते इति तच्छोभि वपुः यस्य सः बलिकृतसोपानपङ्क्तिः, अब्धेः क्षुब्धाचलः मन्दराद्रिः 'क्षुब्धस्वान्त—' इत्यादिना निपातनात् साधुः, तवारोहणाय सज्जः सज्जित इव, अस्ति वर्त्तते, इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६१ ॥

हे स्वर्ण-केतकीके समान (गौर वर्ण) शरीरवाली (दमयन्ती)! उस कुशद्वीपमें (समुद्रमथनके समय) सर्पराजको सैकड़ों बार लपेट कर घर्षण करनेसे उत्पन्न, चट्टानोंकी रचनाके परम्पराओंसे सोपान (सीढ़ो) के समान शोभित शरीरवाला (सीढ़ीके समान सुन्दर). मन्दराचल मानो तुम्हारे चढ़नेके लिए तैयार है। [मन्दराचलमें वासुकिको सैकड़ों बार लपेटकर समुद्रमथन किया गया था, उसके द्वारा घिसनेसे उस मन्दराचलमें पड़े हुए चिह्न चट्टानोंसे बनायी हुई सीढ़ीके समान मालूम पड़ते हैं, और उनके द्वारा ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो वह तुम्हें अपने ऊपर चढ़ानेके लिये तैयार हो]॥ ६१॥

मन्था नगः स भुजगप्रभुवेष्टघृष्टिलेखाचलद्धवलनिर्झरवारिधारः।
त्वन्नेत्रयोः स्वभरयन्त्रितशीर्षशेषशेषाङ्गवेष्टिततनुभ्रममातनोतु ॥ ६२॥

मन्थेति। भुजगप्रभोः वासुकेः, वेष्टैः वेष्टनैः, या घृष्टिलेखाः घर्षणमार्गाः, घर्षणजन्यवलयाकाररेखा इति यावत्, तासु चलन्त्यः प्रवहन्त्यः, धवलाः निर्झरवारिधारा यस्य तादृशः, सः प्रसिद्धः, मन्था। मन्थनदण्डः, 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः, नगोऽद्रिः, मन्दराद्रिरित्यर्थः, त्वन्नेत्रयोः तव चक्षुषोः, स्वस्य मन्दरस्यैव, भरेण भारेण, यन्त्रितानि कुञ्चितानि, शीर्षाणि यस्य तस्य शेषस्य अनन्तस्य, भूभारं बहतः शेषाहेरित्यर्थः, शेषाङ्गेन अवशिष्टकायेन, वेष्टिता तनुः शरीरं यस्य स इति भ्रमम् आतनोतु भ्रान्तिं जनयतु; सर्पो हि शिरसि क्रामतोऽङ्गं स्वाङ्गेन वेष्टयतीति प्रसिद्धिः, शेषस्य शुभ्राङ्गतया वारिधाराणाञ्च धवलत्वात् लेखासु बलयितत्वाच्च भ्रमः सम्भाव्यते इति भावः। अत्र कविसम्मतसादृश्यमूलभ्रान्तिवर्णनात् भ्रान्तिमदलङ्कारः॥ ६२॥

हे सुन्दरि (दमयन्ति)! सर्पराज (वासुकि) के लपेटनेसे बनायी गयी घिसनेकी रेखाओंसे गिरती हुई स्वच्छ झरनोंके पानीकी धारावाला मथनी वह पर्वत अर्थात् मन्दराचल तुम्हारे नेत्रोंको—'अपने (मन्दराचलके) बोझ से दबे हुए मस्तकोंवाले शेषनागके अवशिष्ट (बाकी) शरीरसे लिपटे हुए शरीरवाला यह है' ऐसा भ्रम करे। [सर्पके मस्तकको दबानेपर वह बाकी शरीरसे दबाने वालेके शरीरको लपेट लेता है, ऐसी उसकी प्रकृति होती है। मन्दराचलमें सर्पराज को लपेटकर समुद्रका मथन किया गया था, उस समय सर्पराजके लिपटनेके स्थानोंमें घिसनेसे चिह्न (गढ़े) पड़ गये, उनसे वहती हुई झरनोंकी स्वच्छ जलधाराको देखकर तुम्हें ऐसा भ्रम होगा कि सर्पराजने मन्दराचलके द्वारा अपना मस्तक दवानेसे अपने अवशिष्ट शरीरसे उस मन्दराचलको लपेट लिया है]॥ ६२॥

एतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि।
आस्येन स स्मरतु नीरधिमन्थनोत्थं स्वच्छन्दमिन्दुमपि सुन्दरि! मन्दराद्रिः॥

एतेनेति। हे सुन्दरि! स मन्दराद्रिः, एतेनेति पुरोवर्त्तिनिर्देशः, अस्य च तृतीयान्तपदत्रयेण सम्बन्धः, ते तव, स्तनयुगेन सुरेभस्य ऐरावतस्य, कुम्भौ, पाणिद्वयेन

दिविषद्द्रुमस्य कल्पवृक्षस्य, पल्लवानि, आस्येन इन्दुमपि, एवं नीरधिमन्थनोत्थं समुद्रमन्थनोद्भूतं, समुद्रमथनोत्थानि सर्वाण्येतानि वस्तूनि इत्यर्थः, 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति नपुंसकत्वं वैकल्पिकमेकत्वञ्च स्वच्छन्दं निरवग्रहं, यथेष्टमित्यर्थः, 'स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इत्यमरः, स्मरतु । अत्र कविसम्मतसादृश्यमूलस्मृतिनिबन्धनात् स्मरणालङ्कारः ॥ ६३ ॥

हे सुन्दरि (दमयन्ति) ! वह मन्दराचल तुम्हारे इस स्तनद्वयसे ऐरावतके कुम्भद्वय (मस्तकस्थित कुम्भाकार दो मांसपिण्ड-विशेष) को भुजद्वयसे कल्पवृक्षके पल्लवको और मुखसे समुद्रमथनसे निकले हुए चन्द्रमाको अच्छी तरह स्मरण करे । [समुद्रमथनके समय ऐरावत, कल्पवृक्ष तथा चन्द्रमा निकले हैं, उनको प्रत्यक्ष देखनेवाले मन्दराचलको तुम्हारे स्तनद्वय, पाणिद्वय तथा मुखको देखकर ऐरावत, कल्पवृक्ष तथा चन्द्रमा स्मरण अवश्य हो जायेगा; क्योंकि तुम्हारे स्तनद्वय ऐरावतके कुम्भद्वयके समान, भुजद्वय कल्पवृक्षके पल्लवके समान तथा मुख चन्द्रके समान हैं । अतः सदृश वस्तुओंके देखनेसे पूर्वदृष्ट वस्तुका स्मरण होना सहज है] ॥ ६३ ॥

वेदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्त्तिरत्ने हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने ।
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमौलौ तस्मिन् महीभुजि तयाऽनुमतिर्न भेजे ॥

वेदैरिति । अखिलैः समस्तैः, अन्यत्र—अखिलः अविच्छिन्नसम्प्रदायैः, वेदैः वेदतुल्यैः, वचोभिः सत्पुरुषवाक्यैः, अन्यत्र—'यतो वा' इति वेदवाक्यैः, कृतं प्रकाशितम्, अन्यत्र,—प्रतिपादितं, कीर्त्तिरत्नम् अमूल्यरत्नरूपं यशः, अन्यत्र—स्तुतिरूपरत्नं यस्य तस्मिन्, हेतुं विनैव स्वोपकारमनपेक्ष्यैव, धृतः नित्यं सदा, परार्थयत्नः स्वयमवाप्तसकलकामत्वेन परार्थैकप्रवृत्तिः येन तादृशे, तस्मिन् ज्योतिष्मन्नाम्नि, महीभुजि तया भैम्या, भगवति अमृतांशुमौलौ ईश्वरे मीमांसया पूर्वमीमांसयेव, अनुमतिः अङ्गीकारः, न भेजे न प्राप्तः, भजेः कर्मणि लिट्, वेदापौरुषेयवादिनी मीमांसा भगवन्तमीश्वरं न सहते । ईश्वरबोधकवेदवाक्यानाञ्च नेश्वरप्रामाण्यतात्पर्यकत्वं, परन्तु अन्यवाक्यैकवाक्यतया अन्यत्र तात्पर्यकत्वं, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्याशयः । पूर्णोपमा ॥ ६४ ॥

सब लोगोंके द्वारा वेदतुल्य सत्य वचनोंसे विस्तारित कीर्त्तिरूपी रत्नवाले तथा निष्कारण दूसरेके लिए उद्योग करनेवाले उस 'ज्योतिष्मान्' नामक राजाको उस दमयन्तीने उस प्रकार स्वीकार नहीं किया, जिस प्रकार समस्त वेदवचनोंसे किये गये कीर्तिरत्नवाले तथा (स्वयं नित्य पूर्ण समस्त कामनावाले होनेसे) परोपकारके लिए कार्य करनेवाले अर्थात् परमदयालु भगवान् चन्द्रमौलि (शङ्करजी) को पूर्वमीमांसा नहीं स्वीकार करती है [पूर्वमीमांसा वेदको अपौरुषेय (ईश्वरकृत) मानती है परन्तु अन्य किसी देवको नहीं मानती । दमयन्तीने उस 'ज्योतिष्मान्' राजाको वरण नहीं किया] ॥ ६४ ॥

तस्मादिमां नरपतेरपनीय तन्वीं राजन्यमन्यमथ जन्यजनः स निन्ये ।
स्त्रीभावधावितपदामभिमृश्य याच्ञामर्थी निवर्त्य विधनादिव वित्तवित्तम् ॥

तस्मादिति । अथ अनन्तरं, जन्यजनः वाहकलोकः, स्त्रीभावेन स्त्रीलीलया, 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती, धावितपदां चालितचरणां, स्त्रीजनोचितचरणचेष्टयैव अन्यतो गमनमनुजानतीमित्यर्थः, अन्यत्र—स्त्रीभावे स्त्रीलिङ्गे, धावितं पदं याच्ञति पदं यस्याः तां, 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्' इति नङ्-प्रत्ययस्य यजादिभ्यः पुंसि प्रयोगे याचेरेव स्त्रीलिङ्गप्रयोगादिति भावः, तन्वीं कृशाङ्गीम्, इमां भैमीं, तस्मात् नरपतेः अपनीय अर्थी याचकः, अभिमृश्य विमृश्य, याच्ञाम् उक्तरूपां याच्ञावृत्तिं, विधनात् निर्धनात् पुंसः, निवर्त्य वित्तेन धनेन, वित्तः प्रतीतः, विख्यात इति यावत्, 'वित्तो भोगप्रत्यययोः' इति विदेर्लाभार्थान्निष्ठानत्वाभावान्निपातनात् भोग्ये प्रतीते चार्थे उभयं साधु, भुज्यते इति भोगो धनादि, प्रतीयते इति प्रत्ययः ख्यातिः इति कर्मसाधनावेतौ । तथाऽऽहुः,—'वेत्तेस्तु विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते । विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च भोगे वित्तश्च विन्दतेः ॥' इति तं वित्तवित्तं धनाढ्यमिव, अन्यं राजन्यं राज्ञोऽपत्यं,राजानमित्यर्थः,'राजश्वशुराद् यत्'। 'राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्' इति वचनात् राजन्यः क्षत्रियः। निन्ये । श्लेषोपमयोः संसृष्टिः ॥ ६५ ॥

अनन्तर (दमयन्तीके 'ज्योतिष्मान्' राजाको स्वीकार नहीं करनेपर) वे शिविकावाहक लोग स्त्रीभाव (स्त्रीपन) से चलित पादवाली (स्पष्ट न कहकर पैरके अङ्गुष्ठको चलाकर आगे बढ़नेका सङ्केत करनेवाली) इस तन्वी (दमयन्ती) को उस राजासे हटाकर दूसरे राजकुमारके पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार याचक विचारकर अर्थात् मालूमकर स्त्रीत्वसे चलित पदवाली याच्ञाको निर्धन व्यक्तिसे हटाकर धनिक व्यक्तिके पास ले जाता है । [याच्ञा शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः स्त्रीसुलभ स्वभावसे इधर-उधर दौड़नेवाली है—चाहे जिस किसीसे भी याचक याचना 'याञ्चा' कर लेता है । अथवा—'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (पा० सू० ३ ३।९०)से सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंमें केवल 'याच्ञा' पद ही स्त्रीलिङ्ग है, अन्य सभी--'यज्ञः, यत्नः, विश्नः, प्रश्नः और रक्ष्णः'--शब्द पुँल्लिङ्ग ही हैं, अत एव यह स्त्रीत्व (स्त्रीलिङ्ग) में आनेवाला यह 'याच्ञा' पद है । जब याचकको मालूम हो जाता है कि यह व्यक्ति निर्धन है तो उससे याचना न कर धनिकोंके पास याचना करता है]॥

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्क्रपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥६६॥

देवीति । पवित्रितः चतुर्भुजस्य विष्णोः, वामभागो यया सा, लक्ष्मीसरस्वत्यौ देवस्य दक्षिणवामपार्श्ववर्त्तिन्यावित्यागमः । वाक् देवी सरस्वती, गरिम्णा गुणगौरवेण, अन्यत्र—अर्थगौरवेण, अभिरामां गिरम् आलपत् उवाच । किमिति ? हे वत्से !

अरिषु निष्कृपः यः कृपाणः खड्गः, तेन सनाथः सहितः, पाणिः यस्य तादृशस्य, अस्य राज्ञः, गुणानां गणं पाणिग्रहात् अनु विवाहानन्तरं, गृहाण जानीहि, तदा ज्ञास्यसि महिमानमस्येत्यर्थः; यद्वा—पाणिग्रहात् पाणिग्रहणं कृत्वा, अमुं नृपं वरीत्वा इत्यर्थः, अनुगृहाण समाद्रियस्व, गुणेषु आदरं प्रदर्शयेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

विष्णुके वामभागको पवित्र करनेवाली (वामभागमें निवास करनेवाली) वाक् (सरस्वती) देवी (कुल शील सौन्दर्य आदि गुणोंके या सरस्वतीकी सखी होनेके) गौरवसे मनोज्ञ इस (दमयन्ती) से फिर बोली—शत्रुओं में निर्दय एवं हाथ में तलवार लिये हुए (अथवा—शत्रुओंमें निर्दय तलवारको हाथ में लिये हुए) इस (राजा) के विवाहसे अपने (या इस राजाके) गुण–समूहोंको अनुगृहीत करो (या बादमें अर्थात् विवाह करनेके बादमें ग्रहण (मालूम) करो। [इस राजाके साथ विवाह करोगी तब अत्यन्त निकट सम्बन्ध होनेके बाद यह कितना गुणवान् है यह जानोगी अथवा—यदि तुम इसके साथ विवाह नहीं करोगी तो इसके गुण व्यर्थ हो जायेंगे, अतः इसके साथ विवाह करके इसके गुणोंको अनुगृहीत करो। अथवा—इसके साथ विवाह नहीं करोगी तो तुम्हारे गुण व्यर्थ हो जायेंगे, अतः इसके साथ विवाह करके अपने गुणोंको अनुगृहीत करो ॥ ६६ ॥

द्वीपस्य शाल्मल इति प्रथितस्य नाथः
पाथोधिना वलयितस्य सुराम्बुनाऽयम् ।
अस्मिन् वपुष्मति न विस्मयसे गुणाब्धौ
रक्ता तिलप्रसवनासिकि ! नासि किं वा ? ॥ ६७ ॥

द्वीपस्येति । हे तिलप्रसवनासिकि ! तिलकुसुमसमाननासिके ! 'नासिकोदरौष्ठ–' इत्यादिना विकल्पात् , ङीष् , अयं राजा, सुरा मद्यमेव, अम्बु यस्य तादृशेन, पाथोधिना समुद्रेण, सुरासमुद्रेणेत्यर्थः, वलयितस्य सञ्जातवलयस्य, वेष्टितस्येत्यर्थः, शाल्मल इति प्रथितस्य द्वीपस्य नाथः स्वामी; गुणाब्धौ अस्मिन् वपुष्मति वपुष्मदाख्ये, अथ च प्रशस्तशरीरशालिनि राज्ञि, किं न विस्मयसे ? अस्य गुणेषु किम् आश्चर्यान्विता न भवसि ? रक्ता वा अनुरक्ता च, किं नासि ? उभयमप्युचितमिवेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

हे तिलपुष्पके समान नाकवाली (दमयन्ति) ! यह मदिराख्य जलवाले समुद्रसे घिरे हुए 'शाल्मल' इस नामसे प्रसिद्ध द्वीपका स्वामी है। गुणोंके समुद्र इस वपुष्मान् (श्रेष्ठ शरीरवाले पक्षा०—'वपुष्मान्' नामवाले) इस राजामें आश्चर्यित नहीं होती हो ? और अनुरक्त नहीं होती हो क्या ? । [शरीरधारी गुण-समुद्रको देखकर आश्चर्यित होना चाहिये तथा उसमें अनुरक्त भी होना चाहिये सुरासमुद्रका वर्णनकर सरस्वतीदेवीने इस राजाके वरण करनेमें असम्मति प्रकट की है] ॥ ६७ ॥

विप्रे धयत्युदधिमेकतमं त्रसत्सु यस्तेषु पञ्चसु बिभाय न शीधुसिन्धुः ।
तस्मिन्ननेन च निजालिजनेन च त्वं सार्द्धं विधेहि मधुरा मधुपानकेलीः ॥

विप्रे इति । शेरते अनेनेति शीधुः आसवः, 'मैरेयमासवः शीधुः' इत्यमरः । शीङो धुक्–प्रत्यय औणादिकः यः शीधुसिन्धुः आसवसमुद्रः, विप्रे अगस्त्ये, एकतमम् उदधिं लवणसमुद्रं, धयति पिबति सति, लटः शतृ-प्रत्ययः, तेषु पञ्चसु दधिमण्डादिसमुद्रेषु, त्रसत्सु अयमस्मानपि पास्यतीति मत्वा बिभ्यत्सु सत्सु, न बिभाय स्वयं न भीतः, 'ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्' इति निषेधादिति भावः, तस्मिन् सुराब्धौ, अनेन राज्ञा च, निजेन आलिजनेन च सार्द्धं मधुराः मनोहराः, मधुपानकेलीः मद्यपानक्रीडाः, विधेहि कुरु ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण (अगस्त्य मुनि) एक समुद्र (क्षारसमुद्र) को पीने लगे तब दूसरे पांच समुद्र (क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र, 'घृतसमुद्र, इक्षुरससमुद्र और मधुरजलसमुद्र) डरने लगे (कि 'हम लोगोंको भी ये अगस्त्य मुनि न पी लेवें', किन्तु 'ब्राह्मणके मदिरा पीनेका निषेध होनेसे हमको ये नहीं पीयेंगे' ऐसा निश्चय कर) उस समय जो सुरासमुद्र नहीं डरा; उसमें इस ('वपुष्मान्') राजा तथा सखीजनोंके साथमें तुम मनोज्ञ मद्यपान क्रीडाओंको करो । [इस राजाके साथ विवाह कर लेनेपर तुम्हारे तथा तुम्हारी सखियोंके लिये मद्यपानक्रीडा करना बहुत सरल होगा, अत एव इस राजाके साथ विवाह करो] ॥५८॥

द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीमुपदां गिरिस्ते ।
तद्द्वीपदीप इव दीप्तिभिरोषधीनां चूडामिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः ॥ ६९ ॥

द्रोण इति । तत्र शाल्मलिद्वीपे, ओषधीनां तृणज्योतिषां, दीप्तिभिः तस्य द्वीपस्य दीप इव, स्थितः इति शेषः, अत एव चूडायां शिखरे, मिलद्भिः सङ्गच्छमानैः, जलदैरेव कज्जलैः दर्शनीयः दृष्टिप्रियः, स प्रसिद्धः, द्रोणो द्रोणाख्यः, गिरिः, ते तव, भाग्यैरेव लभ्यं सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं, तस्य कार्मणं मूलकर्म, ओषधीनां मूलैः साध्यं वशीकरणादिरूपं कर्म, 'मूलकर्म तु कार्मणम्' इत्यमरः । 'तद्युक्तात् कर्मणोऽण्' इति स्वार्थेऽण्-प्रत्ययः, तन्मयीं तद्रूपाम्, उपदाम् उपायनम्, 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । वितरिष्यति दास्यति; उपलक्षणमेतत्, सञ्जीवन्याद्यनेकदिव्यौषधिलाभस्ते भविष्यतीति भावः । अत्र कार्मणमयीमुपदामिति परिणामालङ्कारः, आरोप्यमाणो यदीयस्तद्विषयकार्मणाकारपरिणामेन प्रकृतप्रभुचित्तावर्जनोपयोगित्वात् आरोप्यमाणमारोपविषयात्मत्वेन स्थितम्; 'प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणाम उदाहृतः' इति लक्षणात्; अस्य च दीप इवेत्युत्प्रेक्षया संसृष्टिः, तस्यास्तु जलदकज्जलेति रूपकेण सङ्करः ॥ ६९ ॥

वहां ('शाल्मल' द्वीपमें) ओषधियोंके प्रकाशसे उस द्वीपके दीपकके समान शिखरोंमें लगे हुए मेघरूप कज्जलसे दर्शनीय वह (प्रसिद्ध) द्रोण पर्वत तुम्हारे लिए भाग्यसे मिलने

वाले सौभाग्य (पतिप्रेम आदि) के ओषधियोंकी जड़से वशीकरणरूप उपदाको देगा। [दीपके ऊपर कज्जलके समान उस द्रोणपर्वतके शिखरों पर काले मेघ हैं जिनसे वह पर्वत बहुत सुन्दर मालूम पड़ता है, और उसमें बहुत-सी जड़ी-बूटियां हैं। अत एव तुम इस राजाको वरण कर उस पर्वतसे बड़े भाग्यसे प्राप्य वशीकरण बूटी को पा सकती हो इस कारण इस राजाको वरण करो]॥ ६९॥

तद्द्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः क्षोणीतले मृदुनि मारुतचारुकीर्णैः।
लीलाविहारसमये चरणार्पणानि योग्यानि ते सरससारसकोषमृद्वि! ॥७०॥

तद्द्वीपेति। सरसम् अभिनवं, यत् सारसं पद्मं, तस्य कोषः मुकुलं, तद्वत् मृद्वी कोमला, तत्सम्बुद्धौ हे सरससारसकोषमृद्वि! अभिनवकमलकोरककोमले! मारुतेन चारु यथा तथा कीर्णे, तद्द्वीपस्य लक्ष्म चिह्नं, पृथुः महान्, यः शाल्मलिः तदाख्यया प्रसिद्धवृक्षविशेषः, 'स्थिरायुः शाल्मलिर्द्वयोः' इत्यमरः। तस्य तूलजालैः तूलसमूहैः, मृदुनि कोमले, क्षोणीतले ते तव, लीलाविहारसमये क्रीडासञ्चरणकाले, चरणार्पणानि पादविन्यासाः, योग्यानि अनुरूपाणि, भविष्यन्तीति शेषः; अतिकोमलायास्ते अतिकोमलस्थले एव गमनं युक्तं, तच्चातिश्लाघ्यमिति भावः। अत्रानुरूपयोगोक्तेः समालङ्कारः, 'सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः' इति लक्षणात्॥ ७०॥

हे नवीन (ताजे) कमलकोशके समान कोमल (दमयन्ति)! वायुके द्वारा सम्यक् फैलाये गये, उस (शाल्मल) द्वीपके चिह्न विशाल सेमलकी रुइयोंके समूहसे कोमल भूतल पर लीलापूर्वक विहार करनेके समय तुम्हारा पैर रखना योग्य होगा। [कमलकोशके समान कोमलाङ्गी तुम्हारे विहारके योग्य कोमलतम भूमि इस राजाको स्वीकार करने पर ही प्राप्त होगी, अत एव तुम इसको स्वीकार करो]॥ ७०॥

एतद्गुणश्रवणकालविजृम्भमाणतल्लोचनाञ्चलनिकोचनसूचितस्य।
भावस्य चक्रुरुचितं शिविकाभृतस्ते तामेकतः क्षितिपतेरपरं नयन्तः॥ ७१॥

एतदिति। तां भैमीम्, एकतः एकस्मात्, क्षितिपतेः अपरं क्षितिपतिं, नयन्तस्ते शिविकाभृतो जन्याः, एतस्य राज्ञः, गुणश्रवणकाले विजृम्भमाणायाः तस्याः दमयन्त्याः, लोचनाञ्चलस्य नेत्रप्रान्तस्य, निकोचनेन सङ्कोचनेन, सूचितस्य ज्ञापितस्य, भावस्य अभिप्रायस्य, उचितम् अर्हं कृत्यं, चक्रुः; अपरागज्ञानानन्तरमपसरणमेव उचितमिति भावः॥ ७१॥

उस (दमयन्ती) को एक राजा ('वपुष्मान्' नामक राजा) से दूसरे (राजा) के पास ले जानेवाले शिविकावाहकोंने, इस ('वपुष्मान्' राजा) के गुणोंको सुननेके समयमें विजृम्भमाण (बढ़ते हुए) उस (दमयन्ती) के नेत्रप्रान्त अर्थात् कटाक्षके सङ्कोचसे व्यक्त भाव (उस राजामें अनुरक्तिका अभाव) के अनुकूल ही किया। [उस राजाके गुणोंको सुनते समयमें दमयन्तीने उसे कटाक्षसे देखना बन्द कर दिया, यह कार्य सामनेवाले अन्य

राजाओं के भूषणों या मणिस्तम्भोंमें देखकर 'दमयन्ती इस राजा को नहीं चाहती' ऐसा उसका भाव मालूमकर उस राजासे हटाकर उसे दूसरे राजाके पास ले गये यह दमयन्तीके भाव को समझनेवाले विज्ञ शिविकावाहकोंने ठीक ही किया] ॥ ७१ ॥

तां भारती पुनरभाषत नन्वमुष्मिन् काश्मीरपङ्कनिभलग्नजनानुरागे ।
श्रीखण्डलेपमयदिग्जयकीर्त्तिराजिराजद्भुजे भज महीभुजि भैमि ! भावम् ॥

तामिति । भारती तां भैमीं, पुनरभाषत । किमिति ? ननु भैमि ! काश्मीरपङ्कनिभेन कुङ्कमानुलेपनमिषेणेत्यपह्नवः; लग्नो जनानुरागो यस्मिन् तस्मिन्, श्रीखण्डलेपः चन्दनलेपनं, तन्मयीभिः दिग्जयकीर्त्तीनां राजिभिः राजन्तौ शोभमानौ, भुजौ यस्य तस्मिन्, अमुष्मिन् महीभुजि राज्ञि, भावम् अनुरागं, भज । अत्र श्रीखण्डलेपे कीर्त्तित्वोत्प्रेक्षा गम्या ॥ ७२ ॥

सरस्वती देवी उस (दमयन्ती) से फिर बोली—हे दमयन्ति ! कुङ्कमके समान लगे हुए जनानुरागवाले तथा चन्दनलेपरूप दिग्विजयजन्यकीर्ति-समूहसे शोभित बाहुवाले इस राजामें अनुराग करो । [इस राजाके प्रत्येक अङ्गमें रक्तवर्ण कुङ्कमलेप जिस प्रकार लगा है उसी प्रकार प्रत्येक अङ्गके सुन्दरतम होनेसे उन्हें सभी जन अनुरागसे देखते हैं तथा बाहुमें श्वेत वर्ण जो चन्दनलेप लगा है वह ऐसा मालूम पड़ता है कि यह बाहुओं द्वारा दिशाओंके विजय करनेसे कीर्ति लगी हुई है; जनानुरागका कुङ्कमके समान अरुण वर्ण तथा दिग्विजयजन्या कीर्तिका चन्दनलेपके समान श्वेत वर्ण होना एवं प्रत्येक अङ्गके दर्शनीय होनेसे उसमें जनानुरागका तथा बाहुबलजन्य दिग्विजयकीर्ति—समूह होनेसे उसका बाहुमें संलग्न होना उचित ही है] ॥ ७२ ॥

द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे ! प्रशास्ति प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य ।
मेधातिथेस्त्वमुरसि स्फुर सृष्टसौख्या साक्षाद् यथैव कमला यमलार्जुनारेः ॥

द्वीपमिति । द्विपाधिपतेः गजेन्द्रस्येव, मन्दम् अलसं, पदं गमनं यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, अयं क्षितिपः प्लक्षेण प्लक्षवृक्षेण, उपलक्षितं ,चिह्नितं, द्वीपं प्लक्षद्वीपं प्रशास्ति पालयति, तत् तस्मात्, मेधातिथेः मेधातिथिनाम्नः, अस्य राज्ञः, उरसि सृष्टसौख्या जनितानन्दा सती, यमलयोः युग्मयोः, अर्जुनयोः ककुभवृक्षयोः, तद्रूपधारिणोः असुरयोरिति यावत्, अरेर्विष्णोः, उरसि साक्षात् कमला लक्ष्मीः, यथा तथैव स्फुर भाहि ॥ ७३ ॥

हे गजराजके समान मन्दगतिवाली (दमयन्ति) ! यह राजा 'प्लक्ष' वृक्ष से युक्त द्वीप अर्थात् 'प्लक्षद्वीप' का शासन करता है, इस कारण तुम इस मेधातिथि ('मेधातिथि' नामक, पक्षा०—बुद्धि है अतिथि जिसकी ऐसे अतिशय बुद्धिमान्) इस राजाके हृदयमें (आलिङ्गनके द्वारा) सुख उत्पन्न करके श्रीविष्णु भगवान्के हृदयमें आलिङ्गनके द्वारा सुख उत्पन्न करने वाली साक्षात् लक्ष्मी के समान शोभित होवो ॥ ७३ ॥

प्लक्षे महीयसि महीवलयातपत्रे तत्रेक्षिते खलु तवापि मतिर्भवित्री।
खेलां विधातुमधिशाखविलम्बिदोलालोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे॥

प्लक्ष इति। तत्र प्लक्षद्वीपे, अधिशाखं शाखायां, विलम्बिनीभिः दोलाभिः लोलानि अखिलानि समस्तानि, अङ्गानि यस्याः तादृशी या जनता जनसमूहः, तया जनितोऽनुरागो यस्मिन् तस्मिन्, महीवलयस्यापत्रे छत्ररूपे, महीयसि महत्तरे, प्लक्षे प्लक्षवृक्षे, ईक्षिते सति, तवापि खेलां दोलाक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनम्' इत्यमरः। विधातुं कर्त्तुं, मतिः इच्छा, भवित्री भाविनी खलु; परकीयविहारदर्शनात् स्वस्यापि तदभिलाषी भवतीति भावः॥ ७४॥

उस (प्लक्षद्वीप) में शाखाओंमें लटकते हुए झूलाओंसे चञ्चल समस्त अङ्गोंवाली जनतासे अनुराग उत्पन्न करनेवाले तथा भूमण्डलके छत्ररूप उस विशालतम 'प्लक्ष' वृक्षको देखनेपर क्रीडा करने (झूलेपर चढ़ने) के लिये तुम्हारी भी रुचि होगी। [उस 'प्लक्ष-द्वीप' में बहुत बड़ा 'प्लक्षवृक्ष' है जो छतनार होनेसे पृथ्वीमण्डलके छालेके समान जान पड़ता है और उसकी डालियोंमें झूला लगाकर बहुत लोगों को चढ़े एवं झूमते हुए देखकर तुम भी झूलेपर चढ़ना चाहोगी]॥ ७४॥

पीत्वा तवाधरसुधां वसुधासुधांशुर्न श्रद्दधातु रसमिक्षुरसोदवाराम्।
द्वीपस्य तस्य दधतां परिवेशवेशं सोऽयं चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि!॥७५॥

पीत्वेति। हे चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि! चकितचकोरचञ्चलनयने! वसुधा-सुधांशुः भूचन्द्रः, सोऽयं मेधातिथिः, तव अधरसुधाम् अधरामृतं, पीत्वा तस्य द्वीपस्य परिवेशवेशं वेष्टनस्वरूपं, परिखाकारमित्यर्थः, 'परिवेशो वेष्टने स्यात् परि-धावपि पुंस्ययम्' इति मेदिनी, दधताम् इक्षुरसः एवोदकं यस्य तस्य इक्षुरसाब्धेः, वारां वारीणां, रसं स्वादं, न श्रद्दधातु न अभिलषतु 'श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयोः' इति वैजयन्ती। अमृतास्वादलोलुपस्य किमिक्षुरसगण्डूषैरिति भावः। चकोरा एव चन्द्रस्य अमृतं पिबन्ति, किन्तु चकोराक्ष्याः तव अधरामृतं भूचन्द्रोऽयं पिबति अतः चमत्कृतपदस्य सार्थकता अवगन्तव्या इति निष्कर्षः॥ ७५॥

हे चकित चकोरके समान चञ्चल नेत्रोंवाली (दमयन्ति)! पृथ्वी का चन्द्र सुप्रसिद्ध यह ('मेधातिथि' राजा) तुम्हारे अधरामृतको पीकर उस द्वीपके परिधि बने हुए, इक्षुरसके जलके रसको नहीं चाहेगा। [चकोर चन्द्रामृतका पान करता है, चन्द्र चकोरका पान नहीं करता; किन्तु प्रकृतमें चन्द्ररूप यह राजा चकोरनेत्री तुम्हारे अधरका पान करेगा यह चकोरके चकित होनेका कारण है। अमृतपान करनेवाले व्यक्तिको इक्षुरसका पान करनेके लिये इच्छुक नहीं होना उचित ही है]॥ ७५॥

सूरं न सौर इव नेन्दुमवेक्ष्य तस्मिन् अश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः।
तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोऽपि न भवत्ववकीर्णिभावः॥७६॥

सूरमिति । तस्मिन् प्लक्षद्वीपे, तस्मादिन्दोः, इतरेषां त्रिदशानाम् अनभिज्ञः इन्दोरन्यं देवमभजमानः, यः चन्द्रभक्तो जनः, सूरे भक्तिर्यस्य स सौरः सूर्यभक्तः, 'भक्तिः' इत्यण् , सूरं सूर्यमिव, इन्दुं न अवेक्ष्य न दृष्ट्वा, नाश्नाति न भुङ्क्ते, तस्य ऐन्दवस्य इन्दुभक्तस्य, पूर्ववदण् प्रत्ययः, भवत्याः आस्यनिरीक्षयैव त्वन्मुखदर्शनेनैव, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । दर्शे अमावास्यायाम् , अश्नतो भुञ्जानस्यापि, अवकीर्णिभावः क्षतव्रतत्वम् , 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः । न भवतु; त्वन्मुखस्यैव मुख्येन्दुत्वात्तद्दर्शनादेव इन्दुदर्शनव्रतिनां भोजनाधिकारसिद्धेः नास्ति च व्रतभङ्गदोष इति भावः । एतेन तन्मुखे मुख्येन्दुभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः ॥ ७६ ॥

उस (प्लक्षद्वीप) में उस (चन्द्र) से भिन्न देवताका अनभिज्ञ अर्थात् चन्द्रेतर देवकी भक्ति नहीं करनेवाला (चन्द्रभक्त) जो (आदमी) सूर्यको बिना देखे सूर्यभक्तके समान चन्द्रमा बिना देखे भोजन नहीं करता है, तुम्हारे मुखके देखनेसे ही अमावस्यामें भी भोजन करते हुए उस चन्द्रभक्त (व्यक्ति) का व्रत भङ्ग न होवे । [तुम्हारा मुख ही चन्द्रमा है, अत एव अमावस्याको उसे देखकर भोजन करने पर भी सूर्यको देखकर भोजन करनेवाले सूर्यभक्त व्यक्तिके समान चन्द्रमाको देखकर ही भोजन करनेवाले चन्द्रभक्तका व्रतभङ्ग नहीं होगा । तुम्हारा मुख साक्षात् चन्द्ररूप है] ॥ ७६ ॥

उत्सर्पिणी न किल तस्य तरङ्गिणी या त्वन्नेत्रयोरहह !! तत्र विपाशि जाता ।
नीराजनाय नवनीरजराजिरास्तामत्राञ्जसाऽनुरज राजनि राजमाने ॥ ७७ ॥

उत्सर्पिणीति । तस्य द्वीपस्य, या विपाट्-नाम्नी, तरङ्गिणी उत्सर्पिणी उत्सृज्य सर्पिणी, उद्धतप्रवाहा इत्यर्थः, न किल, तत्र तस्या, विपाशि विपाशायां नद्यां, 'विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम्' इत्यमरः । जाता नवा नीरजराजिः पद्मपङ्क्तिः, त्वन्नेत्रयोः तव चक्षुषोः, नीराजनाय निर्मञ्छनाय, आस्तां तिष्ठतु, अहह !! इत्यद्भुते; विपाशायाम् उत्कटतरङ्गाभावात् पद्मानि सदा जायन्ते, अतः तव अक्षिनीराजनं सन्ततं भविष्यति इति भावः; अत एव राजमाने दीप्यमाने, अत्र अस्मिन् मेधातिथिनाम्नि, राजनि अञ्जसा द्रुतम् , 'स्राक् झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ्मङ्क्षुसपदि द्रुतम्' इत्यमरः । अनुरज अनुरज्यस्व, रञ्जेर्भौवादिकाल्लोटि सिप् 'रञ्जेश्च' इत्युपधानकारस्य लोपः ॥ ७७ ॥

उस (प्लक्षद्वीप) की जो ('विपाश्' नामकी नदी, वर्षाकालमें भी) तटको भङ्ग करनेवाली नहीं है, यह आश्चर्य है । उस 'विपाश्' नदीमें उत्पन्न नवीन नीलकमलपङ्क्ति तुम्हारे नेत्रद्वयके नीराजन (आरती करने) के लिये होवे, इस शोभमान (मेधातिथि नामक) राजामें शीघ्र (या स्वयं या सत्य) अनुराग करो । ['विपाश्' नदी अन्य स्थानोंमें तटोंको तोड़ती है किन्तु इस राजा के द्वीपमें नहीं, अतः वहाँपर उत्पन्न सरस कमलपङ्क्ति स्थिर

होकर तुम्हारे नेत्रोंकी आरती करती हुई-सो जान पड़ेगी। इससे दमयन्तीके नेत्रोंकी शोभा सरस कमलोंसे भी अधिक है, यह सूचित होता है]॥ ७७॥

एतद्यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसाः दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः।
क्षीरे पयस्यपि पदे द्वयवाचिभूयं नानार्थकोषविषयोऽद्य मृषोद्यमस्तु ॥७८॥

एतदिति। एतस्य राज्ञः, यशोभिः अखिले अम्बुनि जले, दुग्धीकृते क्षीरीकृते सति, हंसाः तस्य उभयस्य दुग्धाम्बुद्वयस्य, व्यतिभेदे परस्परविवेके, मुग्धाः मूढाः, सन्तु। किञ्च, क्षीरे पदे पयसि पदेऽपि, क्षीर-पयः पदयोर्विषये इत्यर्थः, नानार्थकोषस्य 'क्षीरं नीरे च दुग्धे च' 'पयोऽम्भसि च दुग्धे च' इत्यादिना अनेकार्थनिघण्टोः, विषयस्तत्प्रतिपाद्यभूतमित्यर्थः, द्वयवाचिभूयमर्थद्वयवाचकत्वं, 'भुवो भावे' इति क्यप्। अद्य तव परिग्रहादिति भावः, मृषोद्यं मिथ्योदितम्, अस्तु; सलिलस्यापि दुग्धभावेन द्वितीयार्थासम्भवादिति भावः। 'राजसूयसूर्यमृषोद्य-' इत्यादिना निपातनात् साधुः। अत्राखिलेऽम्बुनि दुग्धीकृते इति सामान्यालङ्कारः, तदुपजीवनेन हंसानां क्षीरनीरविवेकसम्बन्धेऽपि क्षीरपयःपदयोरप्यर्थद्वयसम्बन्धे तदसम्बन्धरूपातिशयोक्तिद्वयोत्थापनात् सङ्करः॥ ७८॥

हंस इस राजा के यशसे समस्त जलके दुग्ध बनाये (दुग्धके समान श्वेत किये) जानेपर उन दोनों (जल तथा दुग्ध) के परस्पर विचार करनेमें मुग्ध हो जावें और अनेक अर्थवाले कोषका विषय 'दुग्ध तथा जल शब्दमें दो अर्थोंका कथन' आज असत्य होवे। [इस राजाके यशसे जलके भी दुग्धके समान बना दिये जानेपर 'क्षीर तथा पयस्' शब्दके दो अर्थों को कहनेवाले अनेकार्थ कोषका विषय निष्प्रयोजन हो जावे]॥ ७८॥

ब्रूमः किमस्य नलमप्यलमाजुहूषोः कीर्त्तिं स चैष समादिशतः स्म कर्त्तुम्।
स्वद्वीपसोमसरिदीश्वरपूरपारवेलाबलाक्रमणविक्रममक्रमेण[1] ॥ ७९॥

ब्रूम इति। नलं नैषधम् अपि, अलम् अत्यर्थम्, आजुहूषोः सस्पर्द्धमाह्वातुमिच्छोः, नलसमानगुणस्येत्यर्थः, ह्वयतेराङ्पूर्वात् स्पर्द्धायामात्मनेपदिनः सनन्तात् उप्रत्ययः, 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधान्नलम् इति कर्मणि द्वितीया अस्य मेधातिथेः, माहात्म्यमिति शेषः, किं ब्रूमः? वक्तुमशक्यमित्यर्थः; तथा हि, स नलश्च, एष मेधातिथिश्च, अक्रमेण यौगपद्येन, स्वद्वीपयोः, जम्बूप्लक्षद्वीपयोः, सीमनि सरिदीश्वरपूरस्य अब्धिप्रवाहस्य, पारवेलायाः परतीरमर्यादायाः, बलेन आक्रमणमेव विक्रमं पराक्रमं, कर्त्तुं कीर्त्तिं प्रयोज्यकर्त्रीं, समादिशतः स्म समादिष्टवन्तौ; द्वीपान्तरेषु अपि अनयोः कीर्त्तिसञ्चार इति भावः॥ ७९॥

नलकी भी अत्यन्त स्पर्द्धा करते हुए इस (मेधातिथि राजा) की कीर्ति को कैसे कहूं अर्थात् इसकी कीर्तिका वर्णन करना दुःसाध्य या आसाध्य है। वह (नल) तथा यह (मेधातिथि)

---

१. 'चला—' इति पा०

भी—दोनों एक साथ अपने-अपने द्वीप (क्रमशः 'जम्बूद्वीप तथा प्लक्षद्वीप') की सीमामें (या सीमाभूत) समुद्रके प्रवाहके दूसरे तीरके पर्वतपर (पाठा०—तीरपर बलद्वारा) आक्रमण करने (चढ़ने) का पराक्रम करते हैं (या आक्रमणरूप पराक्रम करते हैं)। [नल तथा यह मेधातिथि एक साथ ही अपनी-अपनी कीर्तिको अपने-अपने द्वीपकी सीमाभूत समुद्रके पारवाले पर्वतपर चढ़नेके लिये भेजकर अपना-अपना पराक्रम प्रदर्शित करना चाहते हैं। ('आजुहूषोः' (आह्वान स्पर्द्धा) करने की इच्छा करते हुए) पदसे यह नलकी स्पर्द्धा करनेकी इच्छा ही करता है, हीनबल होनेसे यह स्पर्द्धा करता नहीं। अथवा—यह नियम है कि बड़ेके बराबर होनेके लिये उसकी स्पर्द्धा छोटा करता है, छोटेकी स्पर्द्धा बड़ा कभी नहीं करता; अत एव यहां पर इस मेधातिथिका नलकी स्पर्द्धा करना बतलाकर इसे नलसे हीन होनेका सङ्केत सरस्वती देवीने किया है] ॥ ७९ ॥

अम्भोजगर्भरुचिराऽथ विदर्भसुभ्रूस्तं गर्भरूपमपि रूपजितत्रिलोकम् ।
वैराग्यरूक्षमवलोकयति स्म भूपं दृष्टिः पुरत्रयरिपोरिव पुष्पचापम् ॥ ८० ॥

अम्भोजेति । अथ एतद्वाक्यश्रवणानन्तरम्, अम्भोजगर्भवत् रुचिरा रम्या, तद्वत् कोमलाङ्गीत्यर्थः, विदर्भसुभ्रूः वैदर्भी, प्रशस्तो गर्भो गर्भरूपस्तं पूर्ववयसं, युवानमपीत्यर्थः, प्रशंसायां रूपप्, रूपजितत्रिलोकं रूपेण सौन्दर्येण, जितास्त्रयो लोका येन तं, पुष्पचापेऽपीदं योज्यम्; तं भूपं मेधातिथिं, पुष्पचापं कामं पुरत्रयरिपोः ईश्वरस्य, दृष्टिरिव वैराग्यरूक्षं वैराग्येण अपरागेण, रूक्षं परुषं यथा तथा, अवलोकयति स्म; अतिसुन्दरेऽपि तस्मिन् राज्ञि न अनुरक्ता अभूत् इति भावः ॥ ८० ॥

इस (सरस्वती देवीके ऐसा (११।७२–७९) कहने के) बाद कमल-गर्भके समान सुन्दरी दमयन्तीने रूपसे तीनों लोकोंको जीतनेवाले युवक भी उस ('मेधातिथि' राजा) को रूपसे तीनों लोकोंको जीतनेवाले पुष्पबाण (कामदेव) को शङ्करजीकी दृष्टिके समान वैराग्यसे रूक्षतापूर्वक देखा। [प्रियतम नलके साथ स्पर्द्धा करनेसे दमयन्तीका उस 'मेधातिथि' राजामें वैराग्य होना तथा क्रोधोदय होनेसे रूक्षतापूर्वक देखना उचित ही है]॥

ते तां ततोऽपि चकृषुर्जगदेकदीपादंसस्थलस्थितसमानविमानदण्डाः ।
चण्डद्युतेरुदयिनीमिव चन्द्रलेखां सोत्कण्ठकैरववनीसुकृतप्ररोहाः ॥ ८१ ॥

ते इति । अंसस्थलेषु स्कन्धेषु, स्थितः समानः एकरूपः, विमानदण्डो येषां ते समविभक्तभरा इत्यर्थः, ते धुर्याः, तां भैमीं, सोत्कण्ठायाः चन्द्रलेखोत्सुकायाः, कैरववन्याः कुमुदिन्याः, सुकृतप्ररोहाः सौभाग्योन्मेषाः, उदयिनीम् उदयोन्मुखीं, चन्द्रलेखाम् अमावस्यायां सूर्यमण्डलप्रविष्टां चन्द्रकलां, शुक्लपक्षीयप्रतिपदादितिथिरूपामित्यर्थः, जगदेकदीपात् तेजस्वितया जगतामद्वितीयप्रकाशकस्वरूपात्, चण्डद्युतेः सूर्यादिव, जगदेकदीपात्ततो मेधातिथेरपि, चकृषुः आकर्षयामासुः, तत्सकाशात् राजान्तरं प्रापयामासुरित्यर्थः । सूर्यस्य तेजांसि एव चन्द्रे सङ्क्रान्तया

कुमुदानन्दकरत्वेन प्रसिद्धानि; तथा च वराहमिहिरः,—'यत्तेजः पितृधाम्निशीतमहसः पाथोमये मण्डले संक्रान्तं कुमुदाकरस्य कुरुते काञ्चित् विकासश्रियम्' इति ॥ ८१ ॥

कन्धेपर शिविकादण्डको समान भारसे रखे हुए वे (विमानवाहक) संसारमें मुख्य दीपकरूप उस ('मेधातिथि' राजा) से भी उस (दमयन्ती) को उस प्रकार हटा ले गये, जिस प्रकार उदय होनेवाली (द्वितीयाकी) चन्द्रकलाको उत्कण्ठित कुमुदवतीके पुण्याङ्कुर सूर्यसे हटा (आकृष्ट कर) लेते हैं। [अमावस्याको सम्पूर्ण चन्द्रकला सूर्यमें प्रविष्ट हो जाती है, वह शुक्लपक्षमें क्रमशः सूर्यसे हटती (अलग होती) जाती है॥ शिविकावाहक लोग दमयन्तीको दूसरे राजाके पास ले गये] ॥ ८१ ॥

भूपेषु तेषु न मनागपि दत्तचित्ता विस्मेरया वचनदेवतया तयाऽथ ।
वाणीगुणोदयतृणीकृतपाणिवीणानिक्काणया पुनरभाणि मृगेक्षणा सा ॥ ८२ ॥

भूपेष्विति । मृगेक्षणा सा भैमी, तेषु भूपेषु द्वीपाधिपतिषु, मनाक् ईषदपि, दत्तचित्ता अर्पितहृदया, आसक्तमानसा इत्यर्थः, न, जातेति शेषः, अथ, अनन्तरं, दमयन्त्याः चित्तवृत्तिज्ञानानन्तरमित्यर्थः, विस्मेरया विस्मितया सहास्यया वा, 'नमिकम्पि—'इत्यादिना विपूर्वात् स्मिधातोः र-प्रत्ययः, वाणीगुणोदयेन माधुर्यादिवाग्गुणप्रकर्षेण, तृणीकृतः तिरस्कृतः, पाणिवीणायाः हस्तस्थितविपञ्चयाः, निक्काणः ध्वनिः यया तया वीणाधिकमधुरभाषिण्या, वचनदेवतया वाग्देव्या, तया सरस्वत्या, पुनः अभाणि ॥ ८२ ॥

इस (शिविकावाहकोंके द्वारा दमयन्तीको दूसरे राजाके पास पहुंचाने) के बाद उन राजाओंमें थोड़ा भी मन नहीं लगानेवाली मृगनयनी उस (दमयन्ती) से, (किसी राजामें कुछ भी अनुराग नहीं करनेसे) आश्चर्यित और अपनी वाणीके (माधुर्यादि) गुणोंके उत्पन्न होनेसे पाणिस्थित वीणाके स्वरको तिरस्कृत करनेवाली उस (सरस्वती देवी) ने फिर कहा—[उत्तमोत्तम गुणयुक्त भी किसी राजामें दयमन्तीके थोड़ा-सा भी अनुराग नहीं करनेसे सरस्वती देवीका आश्चर्यित होना उचित ही है] ॥ ८२ ॥

यन्मौलिरत्नमुदिताऽसि स एष जम्बूद्वीपस्त्वदर्थमिलितैर्युवभिर्विभाति ।
दोलायितेन बहुना भवभीतिकम्प्रः कन्दर्पलोक इव खात्पतितस्त्रुटित्वा ॥

यदिति । हे भैमि ! त्वं यस्य जम्बूद्वीपस्य, मौलिरत्नं भूत्वा उदिता उत्पन्ना, असि, स एष जम्बूद्वीपः, त्वदर्थं तुभ्यं, मिलितैः युवभिः हेतुभिः विभाति; क इव ? भवभीत्या रुद्रभयेन, कम्प्रः कम्पनशीलः, अत एव बहुना अनेकेन, प्रबलेनेत्यर्थः, दोलायितेन दोलनेन, त्रुटित्वा विच्छिद्य, खात् स्वर्गात्, 'खमिन्द्रिये सुखे स्वर्गे शून्ये विन्दौ विहायसि' इति विश्वः, पतितः कन्दर्पलोकः कामजगदिव, इत्युत्प्रेक्षा; विभातीत्यन्वयो वा। कम्प्रं वस्तु बहुदोलनेन त्रुटितं शून्यमार्गात् पतति इति प्रसिद्धिः। सभास्थिताः सर्वे राजानः कन्दर्पतुल्या इति भावः ॥ ८३ ॥

जिस (जम्बूद्वीप) के मुकुटरत्नरूप अर्थात् मुकुटस्थरत्नके समान तुम उत्पन्न हुई हो, वह (प्रसिद्ध) यह जम्बूद्वीप तुम्हारे लिये एकत्रित युवकोंसे शङ्करजीके भयसे कम्पनयुक्त तथा झूलेके समान चञ्चल बाहुके द्वारा टूटकर आकाशसे गिरे हुए कामदेवलोकके समान शोभता है। [द्वीपमें रत्नका उत्पन्न होना, कामदेवलोकका शङ्करजीके भयसे कम्पनशील होना तथा अन्तरालस्थ वस्तुका हाथसे हिलानेपर टूटकर गिरना उचित ही है। कामदेवके समान सुन्दर ये सभी युवक तुम्हारे लिए यहां स्वयंवर में आये हुए हैं] ॥ ८३ ॥

विष्वग्वृतः परिजनैरयमन्तरीपैस्तेषामधीश इव राजति राजपुत्रि ! ।
हेमाद्रिणा कनकदण्डमयातपत्रः कैलासरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः ॥ ८४ ॥

विष्वगिति । हे राजपुत्रि ! अन्तर्गताः आपः येषां तानि अन्तरीपाणि सिंहलद्वीपादीनि, 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपम्' इत्यमरः । तैरेव परिजनैः विष्वक् समन्तात्, वृतः, तथा हेमाद्रिणा मेरुणा, कनकमयदण्डम्, आतपत्रं कनकमयमेवातपत्रं यस्य सः, मेरोः शिरसि विशालत्वादन्यत्र तनुत्वाच्च एकस्यैव दण्डत्वेनातपत्रत्वेन च रूपणम्; तथा कैलासस्य रश्मिचय एव चामरचक्रं चामरजालं, तदेव चिह्नं यस्य सः, अयं जम्बूद्वीपः, तेषाम् अन्तरीपाणां, सिंहलादिद्वीपान्तराणामित्यर्थः, अधीश इव राजतीत्युत्प्रेक्षा; सुमेरुर्गिरिस्तस्य आतपत्रं, कैलासपर्वतस्तु चामरचयरूपं राजचिह्नम्, अतो जम्बूद्वीपः नृपतिचिह्नवत्त्वात् राजा एव सिंहलद्वीपादयस्तु तस्य चतुर्दिक्षु परिवृता भृत्या इव तिष्ठन्ति इति भावः ॥ ८४ ॥

हे राजकुमारि (दमयन्ति) ! अन्तरीप (शाक-प्लक्षादिद्वीप) रूप परिजनोंसे चारों ओरसे घिरा हुआ, सुमेरु पर्वतसे कनकदण्डरूप छत्रवाला तथा कैलासके किरण-समूहरूप चामरोंके समूहके चिह्नवाला यह जम्बूद्वीप उन (शाक-प्लक्षादि द्वीपों) के राजाके समान शोभता है। [राजा जैसे छत्र तथा चामरसे युक्त तथा परिजनोंसे घिरा रहता है, वैसे ही मध्यवर्ती यह जम्बूद्वीप भी सब द्वीपोंसे घिरा हुआ, सुमेरुरूपी कनकदण्डरूप छत्र तथा कैलासके किरण-समूहरूप चामरके चिह्नसे युक्त होने से सब द्वीपोंका स्वामी—जैसा शोभा पाता है] ॥ ८४ ॥

एतत्तरुस्तरुणि ! राजति राजजम्बूः स्थूलोपलानिव फलानि विमृश्य यस्याः ।
सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्तियूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति ॥८५॥

एतदिति । हे तरुणि ! एतस्य जम्बूद्वीपस्य, तरुः चिह्नभूतो वृक्षः, राजजम्बूः जम्बूविशेषः, 'राजजम्बूस्तु जम्बूभित्पिण्डखर्जूरयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी । राजति; सिद्धस्त्रियः यस्याः जम्ब्वाः, स्थूलोपलान् गण्डशैलानिव स्थितानि, फलानि दन्तियूथानि करिघटाः, विमृश्य विविच्य, केन पथा तरुं जम्बूवृक्षम्, आरुरुहुः ? दन्तियूथानि इति शेषः, इति इदं वचः प्रियं स्वदयितं, निगदन्ति पृच्छन्ति; गजप्रमाणानि तरफलानीति भावः । 'ब्रुविशासिः—'इत्यत्र ब्रुवेरर्थग्रहणात् गदेर्हि कर्मकत्वम् । अत्र जम्बूफलेषु दन्तिभ्रमोक्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ८५ ॥

हे तरुणि (दमयन्ति) ! इस (जम्बूद्वीप) का वृक्ष राजजम्बू शोभता है, बड़े-बड़े चट्टानोंके समान जिसके फलोंको देखकर सिद्धस्त्रियां 'ये हाथियोंके झुण्ड किस मार्गसे पेड़पर चढ़ गये' ऐसा प्रिय वचन कहती हैं। [इस जम्बूद्वीपके राजजम्बूवृक्षके फल हाथियोंके बराबर बड़े-बड़े हैं] ॥ ८५ ॥

जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना कृत्स्नाऽपि सा तव रुचा विजितश्रि यस्याः।
तज्जाम्बवद्रवभवाऽस्य सुधाविधाम्बुर्जम्बुः सरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि ! ॥

जाम्बूनदमिति । कम्बोः शङ्खस्य, कण्ठ इव कण्ठः रेखात्रयविशिष्टग्रीवा यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, हे कम्बुकण्ठि ! हे रेखात्रयाङ्कितग्रीवे ! 'रेखात्रयाङ्कितग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते' इति हलायुधः। 'अङ्गगात्रकण्ठ—' इत्यादिना ङीष्। तेषां पूर्वोक्तानां, जाम्बवानां जम्बूफलानां, 'जम्बूः स्त्री जम्बु जाम्बवम्' इत्यमरः। 'जम्ब्वा वा' इति फलरूपार्थे अण्-प्रत्ययः, 'लुप् च' इति विकल्पादणो न लुप्। द्रवात् रसात् भवा उत्पन्ना, सुधायाः विधेव विधा प्रकारो येषां तानि सुधाविधानि सुधाप्रकाराणि, अम्बूनि यस्याः सा अमृतसदृशजला, जम्बूः जम्ब्वाख्या, सरित् अस्य जम्बूद्वीपस्य, सीमनि सीमाया, वहति प्रवहति; यस्याः जम्बूनद्याः, सम्बन्धिनी कृत्स्ना समस्ताऽपि, सा प्रसिद्धा, मृत्स्ना प्रशस्तमृत्तिका, 'मृन्मृत्तिका प्रशस्ता तु मृत्सा मृत्स्ना च मृत्तिका' इत्यमरः। 'सस्नौ प्रशंसायाम्' इति मृच्छब्दात्स्नप्रत्ययः। तव रुचा शरीरकान्त्या, विजितश्रि निर्जितशोभं, नपुंसके ह्रस्वः। जम्बूनद्यां भवं जाम्बूनदं सुवर्णम्, इति जगति विश्रुतिं विख्यातिम्, एति। तथा च विष्णुपुराणं,— 'क्षीरभूस्तत्र सम्प्राप्य शुद्धवातविशोधिता। जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं देवभूषणम्।' इति ॥ ८६ ॥

हे कम्बुकण्ठि (शङ्खके कण्ठके समान तीन रेखाओंसे युक्त अतएव शुभ लक्षणयुक्त कण्ठवाली दमयन्ति) ! उस 'जम्बूद्वीप'के (अथवा—उन) जामुनके फलोंके रसके बहनेसे उत्पन्न हुई तथा अमृततुल्य मधुर जलवाली 'जम्बूनदी' इस जम्बूद्वीपकी सीमामें बहती है, जिस 'जम्बूनदी' की समस्त प्रशस्त (उपजाऊ) मिट्टी संसारमें तुम्हारी कान्तिसे जीते गये 'जाम्बूनद' (सुवर्ण-सोना) इस प्रसिद्धिको प्राप्त करती है। [जिस 'जम्बूनदी' की मिट्टी भी सुवर्ण है, वह भी तुम्हारी कान्तिसे जीता गया है। 'जम्बूनदी' की मिट्टीको जाम्बूनद अर्थात् सुवर्ण (सोना) कहकर उसको महत्त्व दिया गया है तथा उस (जाम्बूनद अर्थात् सुवर्ण) को जीतनेवाली दमयन्ती शरीरकी कान्तिको बतलाकर उस जाम्बूनदसे भी अधिक महत्त्व दमयन्ती शरीरकान्तिको दिया गया है। दमयन्तीकी शरीरकान्ति सुवर्णसे भी अधिक गौरवर्ण है] ॥ ८६ ॥

तस्मिन् जयन्ति जगतीपतयः सहस्रमस्राश्रुसान्द्ररिपुतद्वनितेषु तेषु ।
रम्भोरु! चारु कतिचित्तव चित्तबन्धिरूपान्निरूपय मुदाऽहमुदाहरामि ॥८७॥

तस्मिन्निति । रम्भे कदलिस्तम्भाविव ऊरू यस्याः सा रम्भोरूः 'ऊरूत्तरपदाद्दौपम्ये' इत्यूङ्-प्रत्ययः । तस्याः सम्बुद्धिः, नदीह्रस्वः । हे रम्भोरु ! तस्मिन् जम्बूद्वीपे, सहस्रं सहस्रसङ्ख्यकाः, बहुसङ्ख्यका इत्यर्थः, जगतीपतयः भूपतयः, जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते; अस्रैः शोणितैः, अश्रुभिः बाष्पैश्च, यथासङ्ख्यं सान्द्राः सिक्ताः, रिपवः तद्वनिताश्च येषां तेषु हतारिषु इत्यर्थः, तेषु सर्वोत्कृष्टेषु भूपेषु मध्ये, तव चित्तबन्धि चित्तग्राहि, रूपं येषां तान् त्वन्मनोहारिसौन्दर्यान् , कतिचित् कांश्चित् भूपान् , अहम् उदाहरामि कथयामि, मुदा हर्षेण, चारु निरूपय सम्यगवधारय ॥

हे रम्भोरु (दमयन्ति) ! इस (जम्बूद्वीप) में सहस्रों राजा श्रेष्ठ हैं, रक्त तथा आँसूसे (क्रमशः) भीगे हुए शत्रु तथा शत्रुस्त्रियोंवाले उन (राजाओं) में से तुम्हारे चित्तके आकर्षक रूपवाले कुछ (राजाओं) का वर्णन करती हूं (अथवा—अच्छीतरह वर्णन करती हूं), तुम हर्षसे देखो (या इनमेंसे किसीको वरण करनेका निश्चय करो, या अच्छी तरह देखो) । ['मुदा' तथा 'चारु' पदोंका सम्बन्ध सरस्वती तथा दमयन्तीमें से किसी भी एकके साथ करके विभिन्न अर्थोंकी कल्पना करनी चाहिये] ॥ ८७ ॥

प्रत्यर्थियौवतवतंसतमालमालोन्मीलत्तमःप्रकरतस्करशौर्यसूर्ये ।
अस्मिन्नवन्तिनृपतौ गुणसन्ततीनां विश्रान्तिधामनि मनो दमयन्ति ! किं ते ?॥

प्रत्यर्थीति । हे दमयन्ति ! प्रत्यर्थिनां प्रतिद्वन्द्विनृपाणां, यौवतं युवतिसमूहः, भिक्षादित्वादण् प्रत्ययः । तस्य वतंसाः कर्णभूषणभूताः, तमालमालाः तमालदलसमूहाः एव, उन्मीलत्तमांसि उद्गच्छदन्धकाराः, तेषां प्रकरस्य समूहस्य, तस्करम् अपहारकं, शौर्यं शक्तिः एव, सूर्यो यस्य, तादृशशौर्यं सूर्य इव यस्येति वा तादृशे; सूर्यो यथा अन्धकारम् अपनयति तथा एष नृपतिः शत्रुपत्नीनां वैधव्यसम्पादनेन कर्णभूषणभूततमालमालान् अपनयति इति भावः । गुणसन्ततीनां गुणसमूहानां, विश्रान्तिधामनि विश्रामस्थाने, अस्मिन् अवन्तिनृपतौ अवन्तिदेशाधिपे, ते मनः किम् ? वर्त्तते इति शेषः । अत्र तादृशशौर्यसूर्ये इति रूपकोमयोः सन्देहसङ्करः ॥८८॥

हे दमयन्ति ! शत्रुओंके युवति-समूहका कर्णभूषण तमाल-समूहरूप अन्धकार-समूहका नाशक पराक्रमरूपी सूर्य (अथवा·····पराक्रममें सूर्यरूप) तथा गुणसमूहोंके विश्रामस्थान इस अवन्तिनरेशमें तुम्हारा मन है क्या ? । [यह अवन्ती देशका राजा है, शत्रुओं की युवतियोंके कानके भूषण श्यामवर्ण तमालपत्र अन्धकारके समान हैं और उन्हें दूर करनेमें इस राजाकी शूरता सूर्यरूप है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अन्धकार-समूहको दूर करता है, उसी प्रकार यह अवन्तिनरेश शत्रुस्त्रियोंके कर्णभूषण श्यामवर्ण तमालपत्रोंको उन्हें विधवा बनाकर दूर कर देता है, और इस राजामें गुण स्थिर हो कर रहते हैं, ऐसे इस अवन्तिनरेशको तुम वरण करना चाहती हो क्या ? । स्त्रियां वीरानुरागिणी होती हैं, अतः तुम इसे चाहोगी, ऐसा मुझे आभास होता है] ॥ ८८ ॥

तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा सिप्रा तवोर्मिभुजया जलकेलिकाले ।
आलिङ्गनानि दधती भविता वयस्या हास्यानुबन्धरमणीयसरोरुहाऽऽस्या ॥

तत्रेति । तत्र अवन्तिदेशे, अनुतीरं तीरे, विभक्त्यर्थे 'यस्य चायामः' इति तद्दैर्घ्यसदृशदैर्घ्योपलक्षितार्थकेनानुशब्देन वा अव्ययीभावः । यानि वनानि यावत्तीरमायतानीत्यर्थः, तद्वासिनस्तपस्विनो विप्रा यस्याः सा, सिप्रा नदी, तव जलकेलिकाले हास्यं विकासः स्मितञ्च, तदनुबन्धेन तद्योगेन, रमणीयं सरोरुहमेव आस्यं यस्याः सा सती, ऊर्मिरेव भुजा तया आलिङ्गनानि दधती कुर्वती, वयस्या भविता सखी भविष्यति । यथा सहास्यवदना सखी केलिसमये बाहुभ्यां आलिङ्गति तथा सिप्राऽपि त्वाम् आलिङ्गिष्यति इति समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ८९ ॥

उस (अवन्ती देश) में तटके वनोंमें निवासी तपस्वी ब्राह्मणोंवाली, तुम्हारी जलक्रीडाके समयमें तरङ्गरूप भुजाओंसे आलिङ्गन देती (करती) हुई तथा हँसनेके नैरन्तर्य (संबन्ध) से रमणीय कमलरूपी (पक्षा०—कमलतुल्य) हासवाली 'सिप्रा' नदी तुम्हारी सखी बनेगी । [जिस प्रकार कोई सखी आलिङ्गन करती तथा हँसती है, उसी प्रकार अवन्तीदेशस्थ सिप्रा नदी तुम्हारी जलक्रीडाके समयमें बाहुतुल्य तरङ्गोंसे आलिङ्गन तथा विकसित कमलोंसे हास करती हुई तुम्हारी सखी-सी प्रतीत होगी । इस अवन्तिनरेशको वरणकर सिप्रा नदीमें जलक्रीडा करो] ॥ ८९ ॥

अस्याधिशय्य पुरमुज्जयिनीं भवानी जागर्त्ति या सुभगयौवतमौलिमाला ।
पत्याऽर्द्धकायघटनाय मृगाक्षि ! तस्याः शिष्या भविष्यसि चिरं वरिवस्ययाऽपि ॥

अस्येति । भवस्य पत्नी भवानी पार्वती, 'इन्द्रवरुणभव—'इत्यादिना ङीष्, आनुगागमश्च, अस्य अवन्तिनाथस्य, उज्जयिनीं पुरमधिशय्य अधिष्ठाय, 'अयङ् यि क्ङिति' इत्ययङ् आदेशः; 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति अधिकरणस्य कर्मत्वम् । जागर्त्ति प्रकाशते, या भवानी, सुभगस्य पतिवल्लभस्य, यौवतस्य युवतिसमूहस्य, मौलिमाला शिरोभूषणम् । हे मृगाक्षि ! पत्या भर्त्रा सह, अर्द्धं कायस्यार्द्धकायः, 'अर्द्धं नपुंसकम्' इति समासः । तस्य घटनाय एकीभावसम्पादनायेत्यर्थः, तस्या भवान्याः, चिरं वरिवस्यया परिचर्यया, 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच्-प्रत्ययः, ततः 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामकारप्रत्यये टाप् । शिष्याऽपि भविष्यसि, न केवलं पूर्वोक्तसिप्राविहारादिसम्पत्तिरेव. किन्तु सर्वसौभाग्यभूतं भवानीशिष्यत्वमपि ते भविष्यतीत्यर्थः; भवानीवत् पत्या सह तव क्षणमपि विरहो न भविष्यतीति भावः ॥ ९० ॥

हे मृगनयनि (दमयन्ति) ! सुन्दरी युवतियोंके समूहकी शिरोमाला (युवतियोंमें परमसुन्दरी) श्री पार्वती इस (अवन्तिनरेश) की उज्जयिनी नगरीमें रहती है, उस (पार्वती) की पूजासे भी चिरकालतक पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बननेके लिये शिष्या होवोगी ।

[तुम अपने सौन्दर्याधिक्यसे पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बननेके योग्य हो ही, किन्तु पार्वतीकी पूजासे भी अर्द्धाङ्गिनी बनेगी । इस अवन्तीनरेशके वरण करनेसे पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बनना अत्यन्त सरल है, अत एव इसका वरण करो] ॥ ९० ॥

निःशङ्कमङ्कुरिततां रतिवल्लभस्य देवः स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन ।
तत्रावलोक्य सुदृशां हृदयेषु रुद्रः तद्देहदाहफलमाप स किं न विद्मः ॥९१॥

निःशङ्कमिति । तत्र उज्जयिन्यां, स देवो रुद्रो महाकालनाथः, सुदृशां तत्रात्यानां स्त्रीणां, हृदयेषु अन्तःकरणेषु, स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन निजचूडामणिभूतचन्द्र-किरणामृतवर्षणेन, रतिवल्लभस्य कामस्य, निःशङ्कं निर्भयं यथा तथा, अङ्कुरिततां सञ्जाताङ्कुरत्वं, पुनरुत्पन्नत्वमिति यावत्, चन्द्रभासां स्मरोद्दीपकत्वादिति भावः, अवलोक्य तद्देहदाहस्य स्वकृतस्य कामदेहदाहस्य किं फलम् आप प्राप ? न विद्मः, स्वदग्धस्य कामस्य स्वशिरश्चन्द्रिकासेकादेव दग्धबदरादिवत् पुनः सहस्रधा प्रादुर्भावात् स्वप्रयासस्य किं साफल्यं प्राप्तवान् ? न किमपीत्यर्थः । 'आप' इत्यत्र 'आह' इति पाठान्तरम्; तादृशप्रयासस्य किं प्रयोजनं ब्रूते ? इति तदर्थः । विषमालङ्कारः ॥ ९१ ॥

उस (उज्जयिनी) में देव रुद्र अर्थात् 'महाकाल' नामक शिवजी अपने (ललाटस्थ) चन्द्रकिरणके अमृतसिञ्चनसे सुलोचनाओंके हृदयमें कामदेवके अङ्कुरितभावको देखकर उस (काम) के शरीरके भस्म करनेका फल क्या बतलाते हैं, यह (हम) नहीं जानते । [यद्यपि शिवने कामदेवके शरीरको जला दिया, किन्तु अपने ललाटस्थ चन्द्रकिरणामृतके सिञ्चनसे वहांकी सुन्दरियोंके हृदयमें पुनः उत्पन्न कामाङ्कुरको देखकर वे अपने द्वारा कामदेवको भस्म करना व्यर्थ ही समझेंगे । वहां सब स्त्रियां सर्वदा कामोद्दीपित रहती हैं] ॥

आगःशतं विदधतोऽपि समिद्धकामा नाधीयते परुषमक्षरमस्य वामाः ।
चान्द्री न तत्र हरमौलिशयालुरेका नाध्यायहेतुतिथिकेतुरपैति लेखा ॥९२॥

आग इति । समिद्धकामाः नित्यप्रदीप्तमन्मथाः, वक्रशीला अपि स्त्रियः, 'प्रतिपदर्शिनी वामा' इत्यमरः, आगसाम् अपराधानां, शतं विदधतः कुर्वाणस्यापि, अस्य राज्ञः सम्बन्धे, परुषमक्षरं निष्ठुरवाक्यं, नाधीयते न पठन्ति. न जल्पन्तीत्यर्थः; अत्रानध्याये हेतुमाह—तत्रोज्जयिन्यां, नाध्यायहेतुतिथेः अनध्यायहेतुतिथेः प्रतिपदः, केतुश्चिह्नभूता, हरमौलौ शयालुः स्थायुका, 'स्पृहि-गृहि-प्रति—' इत्यादौ आलुच्-विधायकसूत्रे 'शीङो वाच्यः' इति वार्त्तिकात् आलुच् । एका चान्द्री लेखा शुक्ल-प्रतिपत्स्वरूपेत्यर्थः, नापैति, तत्र हरस्य नित्यस्थित्या तदीयशिरोगतैकेन्दुकलानित्य-योगात् सर्वासामपि तिथीनां शुक्लप्रतिपद्बुद्ध्या परुषाक्षरश्रुतीनां नित्यानध्याय इत्यर्थः; तत्र नित्यसन्निहितहरशिरश्चन्द्रिकोद्दीपित मन्मथाग्निकतया खण्डितादयोऽपि नायिकाः शतशोऽपराध्यन्तम् अपि एनं परुषम् आभाषितुं नोत्सहन्ते इति भावः । 'प्रतिपत्पाठशीलानां विद्येव तनुतां गता' इति वचनात् प्रतिपदि पाठनिषेधात् तत्र

च नगर्यां प्रत्यहं हरशिरः स्थितैकचन्द्रकलया प्रतिपद्बुद्धया स्त्रियः भर्तृसमीपे श्रुतिपरुषाक्षरपाठं न कुर्वन्ति इति निष्कर्षः ॥ ९२ ॥

सैकड़ों अपराध (सपत्नीगमन, गोत्रस्खलन आदि) करते हुए भी इस राजाकी उद्दीप्त कामवासनावाली स्त्रियां परुष अक्षरको नहीं पढ़ती हैं अर्थात् प्रतिकूल प्रकृति होनेपर भी कामोद्दीपित रहनेके कारण इस राजाके अपराधोंको प्रत्यक्षमें जानकर भी कठोर वचन नहीं कहती हैं)। उस (उज्जयिनी) में शङ्करजीके मस्तकमें स्थित, अनध्यायतिथि (प्रतिपदा) का चिह्न चन्द्रकला (प्रतिपदाकी चन्द्रकला) नहीं दूर होती है। [सब अनध्यायोंमें प्रतिपदातिथिका अनध्याय मुख्य है, तथा वहां शङ्करजीके मस्तकमें प्रतिपदाकी चन्द्रकलाका सदा दर्शन होनेसे इसकी स्त्रियां प्रतिदिन प्रतिपदाको ही समझती हैं, अत एव एक भी परुष अक्षर नहीं पढ़ती, अर्थात् सदा चन्द्रकलाको देखकर कामोद्दीपित रहनेसे वामा (क्रूर या प्रतिकूल स्वभाववाली, पक्षा०—सुन्दरी) स्त्रियां इस राजाके सैकड़ों अपराध करनेपर भी कटु वचन नहीं कहती। इस अवन्तीनाथको सैकड़ों अपराध करनेवाला बतलाकर सरस्वती देवीने उसे वरण करनेमें अपनी असम्मति प्रकट की है] ॥ ९२ ॥

भूपं व्यलोकत न दूरतरानुरक्तं सा कुण्डिनावनिपुरन्दरनन्दना तम्।
अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम् ॥९३॥

भूपमिति । कुण्डिनावनिपुरन्दरस्य कुण्डिनभूमीन्द्रस्य भीमभूपस्य, नन्दना दुहिता, नन्द्यादित्वात् ल्युट् प्रत्यये टाप्। सा दमयन्ती, दूरतरानुरक्तम् अत्यनुरागिणमपि, तं भूपं न व्यलोकत नैक्षत; अत्रैतदेव वरमित्याह—वा अथवा, अन्यानुरागात् अन्यस्मिन् नले अनुरक्तत्वात्, विरसेन विरागेण, अश्रद्धयेत्यर्थः, विलोकनात्, विलोकनमपेक्ष्य, दर्शनापेक्षयेत्यर्थः, यवर्थे पञ्चमी, सम्यक् सर्वथा, अविलोकनमेव अदर्शनमेव, रम्यं श्रेष्ठं, समीचीनमित्यर्थः, इति जानामि ॥ ९३ ॥

उस कुण्डिनेशकुमारी (दमयन्ती) ने अत्यन्त अनुरक्त भी उस राजा (अवन्तीनाथ) को नहीं देखा, अथवा दूसरे (नल) में अनुराग होनेसे नीरस अर्थात् अनुराग रहित देखनेकी अपेक्षा नहीं देखना ही (मैं) उत्तम समझता हूं। [जिसमें अनुराग ही नहीं है, उसे देखनेकी अपेक्षा नहीं देखना ही श्रेष्ठ है] ॥ ९३ ॥

भैमीङ्गितानि शिवकामधरे वहन्तः साक्षान्न यद्यपि कथञ्चन जानते स्म।
जज्ञुस्तथाऽपि सविधस्थितसम्मुखीनभूपालभूषणमणिप्रतिबिम्बितेन ॥९४॥

भैमीति । शिविकामधरे अधरप्रदेशे, वहन्तो वोढारः, भैमीङ्गितानि भैमीचेष्टितानि, यद्यपि कथञ्चन कथञ्चिदपि, साक्षात् प्रत्यक्षं, न जानते स्म न अजानन्त, तथाऽपि सविधे स्थितेषु, सम्मुखं दृश्यते एष्विति सम्मुखीनेषु सामुख्येन प्रतिबिम्बग्राहिष्वित्यर्थः, 'यथासुखसन्मुखस्य दर्शनः खः' इति ख-प्रत्ययः, भूपालस्यावन्तिराजस्य,

भूषणमणिषु प्रतिबिम्बितेन भैमीप्रतिबिम्बेन हेतुना, जज्ञुः भैमीङ्गितानि अज्ञासिषुः ऊहितवन्त इति यावत् । जानातेर्लिट् ॥ ९४ ॥

नीचे शिविका (पालकी) को ढोते हुए (शिविकावाहक) यद्यपि दमयन्तीकी चेष्टाओं को प्रत्यक्ष रूपसे किसी प्रकार नहीं जानते थे (नीचे पालकी ढोनेवालेके लिए ऊपर पालकीपर चढ़ी हुई दमयन्तीकी चेष्टाका देखना असंभव ही है), तथापि पासमें बैठे हुए सामनेके राजा (अवन्तीनाथ या अन्यान्य राजा) के भूषणोंके रत्नोंमें प्रतिबिम्बसे (दमयन्तीके भावोंको) जान गये ॥ ९४ ॥

भैमीमवापयत जन्यजनस्तदन्यं गंगामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः ।
गाङ्गेयपीतकुचकुम्भयुगाञ्च हारचूडासमागमवशेन विभूषिताञ्च ॥ ९५ ॥

भैमीमिति । जन्यजनो वाहकजनः, गाङ्गेयं हेम, तद्वत् पीतं गौरवर्णम् , अन्यत्र—गाङ्गेयेन भीष्मेण पीतं पुत्रत्वात् पानकर्मीभूतं, 'कशेरुहेम्नोर्गाङ्गेयं गाङ्गेयो गुह-भीष्मयोः' इति वैजयन्ती । 'पीतं स्यात् पीतगौरयोः' इति विश्वः । कुचकुम्भयुगं यस्याः तां, च तथा, हाराः मुक्ताहाराः, चूडा बाहुविभूषणाः, 'चूडा बाहुविभूषणे' इति विश्वः । अन्यत्र—हरस्येयं हारी, चूडा शिखा हारचूडा महादेवशिरोभागः, 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' इति पुंवद्भावः, तत्समागमवशेन तदवस्थितिवशेन, विभूषिताञ्च भैमीं रघुवंशदीपो भगीरथः, गङ्गां भागीरथीं, क्षितितलमिव तत् ततः, अन्यं नृपम् , अवापयत निनाय, अवपूर्वकात् आप्नोतेर्ण्यन्ताल्लङि 'णिचश्च' इति तङ् । उपमालङ्कारः ॥ ९५ ॥

शिविकावाहक, सुवर्णके समान पीत (गौर) वर्णवाले स्तन-कुम्भद्वयवाली तथा कण्ठभूषण मुक्तामाला और बाहुभूषण चूडासे अधिक भूषित दमयन्तीको उस (अवन्तीनाथ) से दूसरे (राजा) के पास उस प्रकार ले गये, जिस प्रकार रघुवंशके दीपक तुल्य (भगीरथ) भीष्म (या स्कन्द या भीष्म तथा स्कन्द) के द्वारा (पुत्र होनेके कारण) पीया गया है स्तनकलसद्वय जिसका ऐसी तथा हर (शिव) के मस्तकके समागमन (सहवास) से विशेषरूपसे भूमिमें स्थित (या विशेष शोभित) गङ्गाजीको भूतलपर ले गये थे। [भीष्म तथा स्कन्धका गङ्गापुत्र होना और भगीरथद्वारा गङ्गाजीको भूतलपर लाना पुराणोंमें वर्णित है] ॥

तां मत्स्यलाञ्छनदराञ्चित[1]चापभासा नीराजितभ्रुवमभाषत भाषितेशा ।
व्रीडाजडे ! किमपि रूपय[2] चेतसा चेत् क्रीडारसं वहसि गौडविडोजसीह ॥

तामिति । भाषितानां वाचाम् , ईशा अधिष्ठात्री, वाग्देवता सरस्वती, मत्स्य-लाञ्छनस्य कामस्य, दराञ्चितस्य ईषदाकुञ्चितस्य, चापस्य भाषा कान्त्या, नीराजिते निर्मञ्छिते, तदपेक्षयोत्कृष्टे इति भावः, भ्रुवौ यस्याः तादृशीं, तां भैमीम् , अभाषत;

---

१ 'दररिञ्छत' इति पा० । २ 'सूचय' इति पा० ।

किमिति ? व्रीडाजडे ! हे लज्जाऽलसे ! इह गौढविडोजसि गौडदेवेन्द्रे, गौडदेशाधिपे इत्यर्थः, चेतसा क्रीडारसं क्रीडारागं, वहसि चेत् तदा किमपि रूपय साक्षात् वक्तुमशक्यत्वेऽपि किञ्चित् इङ्गितादिकं सूचय । अत्र स्मरचापभासा नीराजितत्वेन भ्रुवोस्तदपेक्षया आधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ९६ ॥

वागीश्वरी (सरस्वती देवी) कामदेवके द्वारा कुछ खेंचे गये धनुषकी शोभासे नीराजित भ्रूवाली उस (दमयन्ती) से बोली—हे लज्जाजडे (दमयन्ति) ! इस गौडदेशके राजामें चित्तसे यदि क्रीडारसको प्राप्त करती है तो कुछ सूचित (सङ्केत) करो [जिससे मैं इस राजाका सविस्तार वर्णन करूँ, अन्यथा पूर्ववर्णित अन्य राजाओंके समान यदि इस गौड-नरेशको भी नहीं चाहती हो तो इसके वर्णन करनेका मेरा प्रयास व्यर्थ है । उक्त वचनद्वारा सरस्वतीदेवीने पहलेसे ही उस राज्यमें अरुचि होनेका सङ्केत कर दिया है]॥९६॥

एतद्यशोभिरमलानि कुलानि भासां तथ्यं तुषारकिरणस्य तृणीकृतानि ।
स्थाने ततो वसति तत्र सुधाम्बुसिन्धौ रङ्कुस्तदङ्कुरवनीकवलाभिलाषात् ॥

एतदिति । एतस्य राज्ञः, यशोभिः तुषारकिरणस्य इन्दोः, अमलानि भासां कुलानि कान्तिवृन्दानि, तृणीकृतानि तृणत्वं प्रापितानि, नैर्मल्यगुणेन तुच्छीकृतानि इत्यर्थः, तथ्यं सत्यम्; ततः तृणीकरणादेव, रङ्कुः अङ्कमृगः, तदङ्कुरवनीकवलेषु तथाभूततृणाङ्कुरसमूहग्रासेषु, अभिलाषात्; तेषां कान्तिरूपतृणानाम्, अङ्कुराः प्ररोहाः वनी च जलञ्च, तत्कवले तृणजलग्रासे, अभिलाषादिति वाऽर्थः, वनीत्यत्र गौरादित्वात् ङीष् । 'वनं नपुंसकं नीरे निवासालयकानने' इति मेदिनी । सुधाम्बु-सिन्धौ सुधाम्बुनः अमृतरूपजलस्य, सिन्धौ समुद्रे, तदाश्रये इत्यर्थः, तत्र इन्दौ, वसतीति स्थाने युक्तं, 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । तृणोदकसम्पन्नस्थले मृगा-स्तिष्ठन्तीति । उत्प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

इस (गौड नरेश) की कीर्तियोंने चन्द्रके किरणसमूहको सचमुच तृण (के समान तुच्छ, पक्षा०—तृणरूप) बना दिया है, उसी कारण उस (तृण) के वनमें चरनेकी इच्छासे मृग (चन्द्राङ्कस्थ मृग) उस अमृत-समुद्र (चन्द्र) में निवास करता है, यह उचित ही है । [मृगका जलप्राय तृणयुक्त देशमें निवास करना ठीक ही है । यह राजा बहुत यशस्वी है, अतः इसे वरण करो] ९७ ॥

आलिङ्गितः कमलवत्करकस्त्वयाऽयं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः ।
कन्दर्पमूर्द्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु ॥ ९८ ॥

आलिङ्गित इति । कमलवन्तौ सौभाग्यसूचकपद्मरेखायुक्तौ, करौ पाणि यस्य सः, शैषिकः कप् । अन्यत्र—कमलवन्तो जलवन्तः, तदारब्धाः इति यावत्, करकाः वर्षोपला यस्मिन् सः, 'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः । श्यामः उभयत्र—श्याम-वर्णः, नवः नूतनः, पयोदः सुमेरोः शिखया श्रृङ्गेणेव, अयं गौडनृपः, त्वया आलिङ्गितः

सन् कन्दर्पस्य मूर्द्धरुहाणां केशानां, मण्डनं यच्चम्पकस्रग्दाम चम्पकपुष्पमाल्यं, तदिव यत् त्वदङ्गं तस्य रुच्या कान्त्या, कञ्चुकितः आवृतः, संम्मीलित इत्यर्थः, पयोदपक्षे—चम्पकस्रग्दामसदृशस्य त्वदङ्गस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः तादृशया सुमेरुशिखयेत्यर्थः, कञ्चुकितः सम्मिश्रितः, चकास्तु प्रकाशतु, दीप्यतामित्यर्थः; श्यामवर्णः नवीनो मेघो यथा सौवर्णं सुमेरुगिरिं प्राप्य शोभते, तथा श्यामवर्णः अयं नृपतिः सुवर्णचम्पकगौरीं त्वां स्वीकृत्य शोभितो भविष्यति इति भावः ॥ ९८ ॥

कमल (भाग्यसूचक रेखारूप चिह्न–विशेष) से युक्त हाथवाला, श्यामवर्ण युवक और तुमसे आलिङ्गित यह (गौडनरेश) कामदेवके मस्तकस्थ केशोंके भूषणभूत चम्पकमालाकी लड़ी (या चम्पकमाला) के समान तुम्हारे शरीरका रुचि (गौर वर्ण) से कन्चुकित (व्याप्त) शरीरवाला होकर वैसा शोभित होवे जैसा जलयुक्त होलेवाला (जलपूर्ण होनेसे), नीलवर्ण, सुमेरु–शिखरसे आलिङ्गित नवीन मेघ अतिशय गौर वर्ण विद्युत्कान्तिसे आलिङ्गित होकर शोभता है ॥ ९८ ॥

एतेन सम्मुखमिलत्करिकुम्भमुक्ताः कौक्षेयकाभिहतिभिर्विबभुर्विमुक्ताः ।
एतद्भुजोष्मभृशनिःसहया विकीर्णाः प्रस्वेदविन्दव इवारिनरेन्द्रलक्ष्म्या ॥९९॥

एतेनेति । एतेन राज्ञा, कौक्षेयकाभिहतिभिः आसघातैः, कुल-कुक्षि-ग्रीवाभ्यः श्वाऽस्यलङ्कारेषु' इति अभिरूपेऽर्थे कुक्षिशब्दात् ढकञ्-प्रत्ययः । विमुक्ताः कुम्भस्थलेभ्यः भूमौ विक्षिप्ताः, सन्मुखं यथा तथा मिलतां सङ्गच्छमानानां, युद्धार्थं सम्मुखागतानामित्यर्थः, करिणां गजानां, कुम्भेषु मुक्ताः कुम्भस्थलस्थमौक्तिकानि, एतस्य राज्ञः, भुजोष्मणो भुजप्रतापस्य, भृशं निः न, 'निर्निश्चयनिषेधयोः' इति वररुचिः । सहते इति निःसहा असहा, पचाद्यच् । तया सोढुमशक्यया, भुजोष्मसन्तप्तयेत्यर्थः, अरिनरेन्द्राणां लक्ष्म्या विकीर्णा विसृष्टाः, प्रस्वेदविन्दव इव विबभुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ९९ ॥

इस (गौडनरेश) द्वारा किये गये तलवारके आघातोंके द्वारा सामने आनेवाले हाथियोंके कुम्भस्थलोंसे निकली हुई गजमुक्ताएँ, इस (गौडनरेश) के बाहु प्रतापको नहीं सहनेवाली शत्रुराजाकी राजलक्ष्मीसे छोड़े गये स्वेदबिन्दुके समान शोभती हैं । [उष्ण प्रतापसे स्वेदका होना उचित ही है ॥ यह राजा युद्धमें हाथियोंको मारनेवाला बहुत शूरवीर है, अतः इसे वरण करो] ॥ ९९ ॥

आश्चर्यमस्य ककुभामवधीनवापदाजानुगाद्भुजयुगादुदितः प्रतापः ।
व्यापत् सदाशयविसारितसप्ततन्तुजन्मा चतुर्दश जगन्ति यशःपटश्च ॥१००॥

आश्चर्यमिति । अस्य राज्ञः, आ-जानु जानुपर्यन्तं गच्छतीति तस्मात् आ-जानुगात् जानुमात्रलम्बिनः इत्यर्थः, अत्यल्पदूरप्रसारिणोऽपीति भावः भुजयुगात् उदितः उत्थितः, प्रतापः ककुभाम् अवधीन् दिगन्तान् , अवापत् प्राप, एतत् आश्चर्यं, किञ्च

सता शुद्धेन, आशयेन चित्तेन, विसारितेभ्योऽनुष्ठितेभ्यः इत्यर्थः, सप्ततन्तुभ्यः क्रतुभ्यः 'सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः। अन्यत्र—सदा सर्वदा, शयेन पाणिना, विसारितेभ्यः प्रसारितेभ्यः, सप्तभ्यः तन्तुभ्यः सूत्रेभ्यः, उपादानकारणेभ्यः इत्यर्थः, जन्म यस्य सः यशःपटश्च चतुर्दश जगन्ति व्यापत् व्यानशे, इति च आश्चर्यम्; क्रत्वनुष्ठानं दिगन्तविश्रान्तकीर्त्ति सम्पत्तिश्च आ-जानुबाहुत्वस्य फलमिति भावः। अत्रा-त्यन्तादूरगामिनः भुजयुगरूपात् कारणात् अतिदूरगामिप्रतापस्य तथा सप्तत-न्तुरूपाल्पकारणाच्चतुर्दशभुवनव्यापि यशः पटस्य चोत्पत्त्या विरुद्धकार्योत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः॥ १००॥

इस (गौडनरेश) का घुटनेतक बड़े बाहुद्वयसे उत्पन्न प्रताप दिशाओंके अन्ततक पहुँच गया यह आश्चर्य है, तथा सर्वदा हाथसे फैलाये गये सात सूतोंसे (पक्षा०—उत्तम भाव वाले मन) से फैलाये (बार-बार किये गये यज्ञोंसे) उत्पन्न यशोरूप वस्त्र चौदह भुवनोंमें फैल गया, यह भी आश्चर्य है। [कारणानुगामी कार्यगुण होनेसे जानुपर्यन्त बड़े बाहुद्वयसे उत्पन्न प्रतापके दिशाओंके अन्ततक जानेसे तथा सात सूतोंसे बनाये गये यशोरूप वस्त्रके चौदह भुवनोंमें व्याप्त होनेसे आश्चर्य होना उचित ही है। इस राजाका प्रताप दिगन्तोंमें भी तथा यज्ञजन्य कीर्ति चतुर्दशका वरण करो]॥ १००॥

औदास्यसंविदवलम्बितशून्यमुद्रामस्मिन् दृशोर्निपतितामवगम्य भैम्याः।
स्वेनैव जन्यजनताऽन्यमजीगमत्तां सुज्ञं प्रतीङ्गितविभावनमेव वाचः॥१०१॥

औदास्येति। जनीं बधूं वहन्तीति जन्याः, ता जनता जनसमूहश्च षष्ठीसमासे असामर्थ्यात्तदन्तविध्यभावाच्च विशेषणसमासः। अस्मिन् गौडभूपे, निपतितां भैम्या दृशोः चक्षुषोः सम्बन्धिनीम्, उदास्ते इत्युदासा पचाद्यच्, स्त्रियां टाप् तस्या भाव औदास्यमौदासीन्यं, ब्राह्मणादेः आकृतिगणत्वात् ष्यङ्। औदास्यसंविदा उपेक्षाबुद्ध्या अवलम्बितां शून्यमुद्रां निःस्पृहावस्थानत्वम्, अवगम्य स्वेनैव स्वत एव, वाचं विनैव इत्यर्थः, तां भैमीम्, अन्यं नृपम्, अजीगमत् गमितवती, गमेर्णौ चङ्, तथा हि, सुज्ञं विज्ञं, प्रति इङ्गितविभावनं नेत्रादिचालनाविशेषेण हृद्गतभावप्रकटनमेव, वाचः आदेशवाक्यानि, प्रेरणानि इत्यर्थः, स्वामिङ्गितज्ञस्य हि किं तद्वाग्भिरिति भावः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १०१॥

शिविकावाहक-समूह इस (गौडनरेश) में दमयन्तीकी दृष्टि औदासीन्य बुद्धिसे युक्त शून्य (प्रेमहीन) मुद्राको देखकर स्वयं (दमयन्तीके बिना कहे) ही उसे दूसरे (राजा) के पास ले गया; विशेषज्ञसे चेष्टाका करना ही कहना होता है। [चतुर शिविकावाहक उस राजामें दमयन्तीका स्नेह न देखकर बिना कहे ही उसे दूसरे राजाके पास ले गये]॥

एतां कुमारनिपुणां पुनरप्यभाणीत् वाणी सरोजमुखि! निर्भरमारभस्व।
अस्मिन्नसङ्कुचितपङ्कजसख्यशिक्षानिष्णातदृष्टिपरिरम्भविजृम्भितानि॥

एतामिति। वाणी वाग्देवी, कुमारी च सा निपुणा चेति तां कुमारनिपुणां कुमारीत्वेऽपि नल-तदितरयोः वैशिष्ट्याभिज्ञामिति भावः, 'कुमारः श्रमणादिभिः' इति समासः। 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः। अथवा—कोः पृथिव्याः, मारे कन्दर्पभूते नले इत्यर्थः, निपुणाम् आसक्ताम्, एतां भैमीं, पुनरप्यभाणीत् अवोचत्; हे सरोजमुखि ! अस्मिन् नृपे, असङ्कुचितेन विकसितेन, पङ्कजेन सह सख्यशिक्षायां मैत्रीकरणे, निष्णातया कुशलया, तत्सदृशया इत्यर्थः 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' इति षत्वम्। दृष्टया परिरम्भविजृम्भितानि आलिङ्गनचेष्टितानि, निर्भरं गाढम्, आरभस्व कुरु, एनं पश्येत्यर्थः ॥ १०२ ॥

सरस्वती देवी (नल तथा दूसरे राजाओंके गुणोंके तारतम्यको जाननेसे) उस निपुण कुमारी (दमयन्ती) से फिर बोली—हे कमलमुखि (दमयन्ति) ! इस (राजा) में विकसित कमलके समान शिक्षा (दर्शनाभ्यास) में चतुर दृष्टिके आलिङ्गनके विलासोंको अच्छी तरह आरम्भ करो अर्थात् विकसित कमलतुल्य प्रफुल्लित नेत्रोंसे इस राजाको अच्छी तरह देखो ॥ १०२ ॥

प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथमन्थपृथ्वीधरः पृथुरयं मथुराऽधिनाथः ।
अश्मश्रुजातमनुयाति न शर्वरीशः श्यामाङ्ककर्बुरवपुर्वदनाब्जमस्य ॥१०३॥

प्रत्यर्थीति। प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथे वैरिभूपाब्धिमन्थने, मन्थपृथ्वीधरो मन्थाचलः मन्दरः, अतिवीर इत्यर्थः, पृथुर्महान् अयं पुरोवर्त्ती नृपः, मथुराऽधिनाथो मथुरानगरीशः, जातं श्मश्रु अस्य इति श्मश्रुजातं, तन्न भवतीति अश्मश्रुजातम् आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। अनुत्पन्नश्मश्रु, अस्य राज्ञः, वदनाब्जं मुखपद्मं, श्यामेन अङ्केन कलङ्केन. कर्बुरवपुः शवलाङ्गः, शर्वरीशः चन्द्रः, नानुयाति नानुकरोति, सकलङ्कनिष्कलङ्कयोः कुतः साम्यमिति भावः। अश्मश्रुजातम् इति वयःसन्धौ वर्त्तमानः एष तव वरणयोग्य इति तात्पर्यम् ॥ १०३ ॥

यह शत्रु राजारूप समुद्रोंके मथन करनेमें मदराचलरूप पृथु ('पृथु' नामक, पक्षा०—विशाल) मथुरापुरीका राजा है, श्याम वर्ण चिह्नसे कर्बुरित शरीरवाला अर्थात् सकलङ्क चन्द्रमा इसके दाढ़ी नहीं जमे हुए मुखकी बराबरी नहीं करता है। [सकलङ्कपूर्ण चन्द्रकी अपेक्षा इसका दाढ़ीरहित मुख सुन्दर है। तथा यह कुमार और युवावस्थाके मध्यमें है] ॥

बाले ! ऽधराधरितनैकविधप्रबाले ! पाणौ जगद्विजयकार्मणमस्य पश्य ।
ज्याऽघातजेन रिपुराजकधूमकेतुतारायमाणमुपरज्य मणिं किणेन ॥ १०४ ॥

बाले इति। अधरेण ओष्ठेन, अधरिता अधरीकृता, नैकविधा अनेकविधाः, नञ्समासः, प्रवालाः विद्रुमपल्लवरूपाः यया सा तथाविधे ! हे बाले ! अस्य मथुरेश्वरस्य, पाणौ जगद्विजयस्य कार्मणं वशीकरणौषधं. ज्याऽऽघातजेन किणेन ग्रन्थिना उपरज्य उपरागं प्राप्य, श्यामवर्णतां प्राप्येत्यर्थः, स्थितमिति शेषः, रिपोः शत्रुभूतस्य,

राजकस्य राजससूहस्य, धूमकेतुतारायमाणं धूमकेत्वाख्यनक्षत्रवदाचरन्तं, राजक्षयकारकत्वात् तद्वदुपप्लवायमानमित्यर्थः, आचारे क्यङन्ताल्लटः शानच्, मणिं कङ्कणमाणिक्यं, पश्य ॥ १०४ ॥

अनेक प्रकार के पल्लवों (या विद्रुमों मूंगाओं) को अधरसे तिरस्कृत करनेवाली हे वाले (दमयन्ति)! इस ('पृथु' राजा) के हाथमें संसारको जीतने (या वशमें करनेवाली), धनुषकी डोरीके आघातसे उत्पन्न किण (घट्ठे) से रंगकर (श्यामवर्ण होकर) शत्रु क्षत्रिय-राजकुमारोंके लिये धूमकेतु ताराके समान आचरण करनेवाली मणि अर्थात् कङ्कणको देखो। [निरन्तर वाण चलानेसे इस राजाके हाथमें धनुषकी डोरीसे घट्ठा पड़ गया है जो शत्रुराजाओंके नाश करनेके लिये उदित धूमकेतु ताराके समान मालूम पड़ता है और उसकी श्याम वर्ण कान्ति इस राजाके जिस हस्तकङ्कणमणिमें पड़ती है, उसे तुम देखो। इतनी थोड़ी अवस्थामें ही शत्रुओंको पराजित करनेसे यह 'पृथु' राजा बड़ा शूरवीर है, अत एव इसे वरण करो] ॥ १०४ ॥

एतद्भुजारणिसमुद्भवविक्रमाग्निचिह्नं धनुर्गुणकिणः खलु धूमलेखा।
जातं ययाऽरिपरिषन्मशकार्थयाऽश्रुविस्रावणाय¹ रिपुदारदृगम्बुजेभ्यः ॥१०५॥

एतदिति। एतस्य राज्ञः, भुजाया एव अरणेः निर्मन्थ्यकाष्ठात्, 'निर्मन्थ्यदारुणि त्वरणिर्द्वयोः' इत्यमरः। समुद्भवस्य समुत्पन्नस्य, विक्रमाग्नेः चिह्नमनुमापकं लिङ्गं, धनुर्गुणकिणो ज्याऽऽघातरेखा, धूमलेखा धूमरेखा, खलु निश्चये; अरिपरिषदः अरिसङ्घाः, ता एव मशकास्तदर्थया तन्निवृत्त्यर्थया, 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। अर्थेन सहनित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या। यया धूमलेखया, रिपुदाराणां दृगम्बुजेभ्यो नयनारविन्देभ्यः, अश्रुविस्रावणाय वाष्पोद्गमाय, जातम्; धूमोत्पीडनादश्रुस्रावो जायते; अयं शत्रुघाती बलवांश्चेति भावः। अत्र रूपकालङ्कारः॥

इस ('पृथु' राजा) की भुजारूपी अरणि (यज्ञमें सङ्घर्षणासे अग्नि उत्पन्न करनेवाला काष्ठ-विशेष) से उत्पन्न अग्निका चिह्न धूमरेखा धनुषकी तांत (डोरी) से उत्पन्न किण अर्थात् घट्ठा है, जो (रेखा) शत्रुसमूहरूप मच्छरके लिये (मच्छरको दूर करने अर्थात् नष्ट करनेके लिए) तथा शत्रुस्त्रियोंके नेत्रकमलोंसे अश्रु गिरानेके लिए हुई है। (पाठा०—शत्रुस्त्रियोंके नेत्रकमलोंको अश्रु देनेके लिए हुई है)। [धूमरेखाका अग्निचिह्न होना उचित हो है। इस राजाके हाथमें धनुषकी डोरीका जो श्यामवर्ण घट्ठा है, वही इसके वाहुरूप अरणिसे उत्पन्न पराक्रमरूपी अग्निकी चिह्न धूमरेखा है और उस धूमरेखासे मच्छरके समान शत्रु-समूह दूर (नष्ट) हो जाते हैं और शत्रुस्त्रियोंके नेत्रोंसे आंसू गिरने लगते हैं। धूमरेखाका अग्निचिह्न होना, उससे मच्छरोंका दूर होना और नेत्रोंसे आंसू गिरना उचित ही है। यह राजा बहुत बहादुर है, अत एव इसे स्वीकार करो]॥१०५॥

---

१. 'विश्राणनाय' इति पा०।

श्यामीकृतां मृगमदैरिव माथुरीणां धौतैः कलिन्दतनयामधिमध्यदेशम् ।
तत्रात्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां रोमावलीमिव विलोकयितासि भूमेः ॥१०६॥

श्यामीति । माथुरीणां मथुरानगरीजातस्त्रीणां, 'तत्र जातः' इत्यण्-प्रत्यये ङीप्, धौतैर्जलक्रीडासु क्षालितैः, मृगमदैः कस्तूरिकाभिरिवेत्युत्प्रेक्षा; श्यामीकृतां, मध्यदेशे अधि इति अधिमध्यदेशं मध्यदेशविशेषे देहमध्यभागे च, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । आत्ता प्राप्ता, कालियस्य कालियनागस्य, महाह्रद एव नाभिः तस्याः शोभा यया ताम्, अत एव भूमेः रोमावलीमिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा, कलिन्दतनयां कालिन्दीं, तत्र मथुरायां, विलोकयितासि विलोकयिष्यसि ॥ १०६ ॥

मथुराकी स्त्रियों (के स्तनों) की कस्तूरीके धोनेसे मानो श्यामवर्णवाली यमुना नदीके बीच (-पक्षा०—कटिभाग) में कालियदहके मध्य भागकी शोभाको प्राप्त की हुई (समान शोभती हुई) पृथ्वीकी रोमावलिके समान देखोगी । [मथुराकी स्त्रियोंने यमुना नदीमें जलक्रीडा करते समय अङ्गोंमें लगाई हुई कस्तूरीको जो धोया है, मानो इसीसे वह श्याम-वर्ण हो गई है, और उसके बीचमें कालियदहसे पृथ्वीके रोमपङ्क्तिके तुल्य शोभती है । इसके साथ मथुरामें यमुनामें जलक्रीडा करनेके लिए इसे वरण करो] ॥ १०६ ॥

गोवर्द्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने[1] ।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि ॥१०७॥

गोवर्द्धनेति । गोवर्द्धनाचले ये कलापिचयाः केकिव्रजाः, तेषां प्रचारेण सञ्चारेण, निर्वासिताहिनि निष्कासितभुजङ्गमण्डले, अत एव सुखसञ्चारे इत्यर्थः, घने निबिडे, अत एव निरातपे इति भावः, सुरभिप्रसूने सुगन्धिकुसुमसमृद्धया विहारयोग्ये इत्यर्थः, तस्मिन् प्रसिद्धे, यत्र पुरा गोपालमूर्त्तिः कृष्णो विजहारेति भावः; वृन्दावने वृन्दाख्ये वने, अनेन राज्ञा सह, निर्विशङ्कं विस्रब्धं, वनविहारकुतूहलानि काननक्रीडासु त्वानि, निर्विश भुङ्क्ष्व, 'निर्विशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालङ्कारः ॥ १०७ ॥

गोवर्धन पर्वतपर रहनेवाले मयूर-समूहके घूमनेसे भगाये गये सर्पोंवाले, सघन तथा सुगन्धि पुष्पोंवाले (पाठा०—सुगन्धि पुष्पोंसे सघन) उस (श्रीकृष्णलीलासे अतिशय प्रसिद्ध) वृन्दावनमें इस ('पृथु' राजा) के साथ निश्शङ्क होकर वनविहारकी क्रीडाओं को करो ॥ १०७ ॥

भावी करः कररुहाङ्कुरकोरकोऽपि तद्वल्लिपल्लवचये तव सौख्यलक्ष्यः ।
अन्तस्त्वदास्यहृतसारतुषारभानुशोभानुकारिकरिदन्तजकङ्कणाङ्कः ॥ १०८ ॥

भावीति । त्वदास्येन अनेन तव मुखेन, हृतसारस्य हृतकान्तिसर्वस्वस्य, तुषार-

1. 'प्रसूनैः' इति पा० ।

भानोः चन्द्रस्य, या शोभा पराजयनिमित्ता पाण्डुच्छाया, तदनुकारी तत्सदृशः, यः करिदन्तः तज्जं कङ्कणमङ्कश्चिह्नं यस्य तादृशः, तव करः, कररुहा नखाः, अङ्कुरा अभिनवोद्भिन्ना इवेत्युपमितसमासः; त एव कोरकाः कलिकाः यस्य तादृशः सन्नपि, लोहितत्वात् कोमलत्वाच्च अयं कररुहः कोरको वेति सन्देहविषयीभूतोऽपीत्यर्थः, तद्वल्लिपल्लवचये वृन्दावनलताकिसलयजाले, अन्तर्मध्ये, सौख्येन अनायासेन, लक्ष्यः दर्शनीयः, अदुर्ग्रह इति यावत्, भावी; करिदन्तजातवलयचिह्नेन अयं कर इति निश्चितो भविष्यतीति भावः। अत्र पल्लवोपचयकाले तत्सादृश्यात् सन्दिग्धस्य भैमीकरस्य दन्तवलयेन निश्चयान्निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ १०८ ॥

बीचसे तुम्हारे मुखद्वारा ग्रहण किये गये सारवाले चन्द्रकी शोभाको अनुकरण करने वाला अर्थात् उक्त प्रकार चन्द्रके समान शोभमान, हाथी-दांतके बने कङ्कणसे चिह्नित और नखके समान अङ्कुर ही है कलिका (अस्फुटित पुष्प) जिसकी ऐसा तुम्हारा हाथ उस (वृन्दावन) की लताओंके पल्लवोंके समूहमें (अथवा—पल्लव समूहके बीचमें) अनायास (विना विशेष प्रयत्न) के देखा जायेगा। [तुम्हारा हाथ लतापल्लवके तथा नखकोरके समान होनेसे दोनोंमें परस्पर अतिशय समानता होनेपर भी हाथी-दांतके बने कङ्कणको पहना हुआ हाथ सरलतासे वृन्दावनकी लताओंके पल्लवोंमें लक्षित हो जायेगा; वह हाथी-दांतका बना कङ्कण ऐसा ज्ञात होता है कि मानो तुम्हारे मुखकी रचनाके लिये चन्द्रमाके बीचसे सारभूत तत्त्व निकाल लेनेसे बीचमें खाली पड़ा हुआ चन्द्र ही वह वलय हो गया है। तुम्हारा मुख चन्द्राधिक सुन्दर, हाथ लतापल्लव सदृश, नख पुष्प-कालिका सदृश तथा कङ्कण मध्यमें खाली पड़ा हुआ चन्द्रके तुल्य है] ॥ १०८ ॥

> तज्जः श्रमाम्बु सुरतान्तमुदा नितान्त-
> मुत्कण्टके स्तनयुगे[1] तव सञ्चरिष्णुः ।
> खञ्जन् प्रभञ्जनजनः पथिकः पिपासुः
> पाता कुरङ्गमदपङ्किलमप्यशङ्कम् ॥ १०९ ॥

तज्ज इति। सुरतान्ते सुरतक्रियावसाने, या मुत् तया मुदा आनन्देन, नितान्तमुत्कण्टके कण्टकिते पुलकाञ्चिते च, तव स्तनयुगे सञ्चरिष्णुः सञ्चरणशीलः, खञ्जन् तरुलतादिगहनत्वात् मन्दीभवन्, अन्यत्र—कण्टकवेधात् खोडन्, विकलं गच्छन्नित्यर्थः, खञ्जेर्गतिवैकल्यार्थाल्लटः शत्रादेशः। गतावित्यनुवृत्तौ विकलायान्तु द्वयं खञ्जति खोडतीति भट्टमलः। पथिकः, सदागतिः अध्वगमनश्रान्तश्च, अत एव पिपासुः तृषितः, तस्मिन् वृन्दावने जातः तज्जः, 'सप्तम्यां जनेर्डः'। प्रभञ्जनो वायुः, स एव जनः कुरङ्गमदेन मृगमदेन, पङ्किलं निर्मलजलाभावात् सपङ्कमपि, श्रमाम्बु सुरतजन्यस्वेदोदकम्, अशङ्कम्, असङ्कोचं, निर्विचारं यथा तथा इत्यर्थः, पाता पास्यति,

1. 'स्तनतटे' इति पा० ।

स्वेदं हरिष्यतीत्यर्थः। पिबतेः कर्त्तरि लुट्, यथा अतिश्रान्तः तृषितः पान्थः कण्टकाकीर्णदेशस्थं तथा पङ्किलमपि जलं प्रायेण स्वोदरपूरं पिबति तद्वदिति भावः ॥ १०९ ॥

उस (वृन्दावन) में उत्पन्न, रतिके अन्तिम समयमें हर्षसे रोमाञ्चित (पक्षा०—कण्टकयुक्त), तुम्हारे स्तनद्वय (पाठा०—स्तनतट) में सञ्चरण करने (लगने, पक्षा०—घूमने या चलने) वाला, लँगड़ाता हुआ, प्यासा हुआ पथिक (नित्य चलनेवाला, पक्षा०—यात्री) वायु-समूह (पक्षा०—वायुरूप मनुष्य) कस्तूरीसे मलिन (पक्षा०—पङ्कयुक्त) श्रमजल (पसीना, पक्षा०—श्रमसे प्राप्त जल) का पान करेगा (सुखावेगा, पक्षा०—पीयेगा)। [जिस प्रकार कण्टकयुक्त वन आदिमें सर्वदा चलनेवाला, कांटोंके चुभनेसे लंगड़ाता तथा प्यासा हुआ यात्री स्वच्छ जलके नहीं मिलनेपर पङ्किल (मटमैले) पानीको भी पीता है, उसी प्रकार रोमाञ्चयुक्त स्तनोंमें धीरे-धीरे सदा लगता हुआ वायुसमूह कस्तूरीलेपसे मलिनीभूत स्वेदको पान करेगा अर्थात् उसे सुखायेगा]॥ १०९ ॥

**पूजाविधौ मखभुजामुपयोगिनो ये विद्वत्कराः कमलनिर्मलकान्तिभाजः।
लक्ष्मीमनेन दधता[1]ऽनुदिनं वितीर्णैस्ते हाटकैः स्फुटवराटकगौरगर्भाः ॥११०॥**

पूजेति। मखभुजां देवानां, पूजाविधौ यज्ञादिकर्मणि, उपयोगिनः प्रतिग्रहोपकारिणः, ये विदुषां कराः पाणयः, कमलेन जलेन, दानसम्बन्धिजलेन इति भावः, निर्मला या कान्तिः तद्भाजस्तद्विशिष्टाः; अथवा—कमलानां या निर्मलकान्तिस्तद्भाजः पद्मसदृशाः, ते विद्वत्कराः लक्ष्मीं दधता श्रीमता, अनेन राज्ञा, अनुदिनं वितीर्णैः दत्तैः, हाटकैः सुवर्णैः, 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। स्फुटाः उज्ज्वलाः, वराटकाः कर्णिकाः, 'बीजकोशो वराटकः कर्णिका कर्णिकञ्च' इति वैजयन्ती, तद्वत् गौराः पीता अरुणा वा, गर्भा अभ्यन्तराणि येषां ते तादृशाः, कृता इति शेषः। 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति विश्वः। कमलानां कर्णिकावत् पाणिकमलानां हाटकैस्तद्वत्त्वं सम्पादितमित्यर्थः; अतिदानशीलोऽयं नृपतिरिति भावः ॥ ११० ॥

देवताओंकी पूजा करनेमें उपयोगी तथा कमल अर्थात् दानजलसे (पक्षा०—कमल-पुष्पके समान) निर्मल कान्तिवाले जो विद्वानोंके हाथ हैं, वे लक्ष्मी (सम्पत्ति, या शोभा) धारण करनेवाले इस (मथुराधीश 'पृथु' राजा) के द्वारा प्रतिदिन दान किये गये सुवर्णोंसे बीजकोष (कमलगट्टेका छत्ता) के समान गौर वर्णसे युक्त अन्तर्भागवाले बना दिये गये हैं। (पाठा०—इसके द्वारा अन्तर्भागवाले वे हाथ लक्ष्मी (सम्पत्ति, या शोभा) धारण करते हैं)। [यह राजा देवपूजनतत्पर विद्वानोंको सर्वदा दान करनेवाला है। कमलकोषके पीतवर्ण होनेसे हाथमें सुवर्ण लेने पर उसके भीतरी भाग (तलहत्थी) का कमलकोषके समान मालूम पड़ना उचित ही है। पहले विद्वानोंके हाथ कमलपुष्पके समान निर्मल कान्तिवाले थे, किन्तु दानशूर इस राजाने सुवर्ण-दानकर उन हाथोंको बीजकोष (कमलके

---

१. 'दधते' इति पा०।

फल) के द्वारा पीतवर्ण कर दिया अर्थात् वे हाथ अब केवल कमल-पुष्प-कान्तिवाले न होकर कमल-फल-कान्तिवाले (पुष्पकी अपेक्षा सफल, अथच श्वेतकी अपेक्षा रंगीन गौर वर्ण होने से श्रेष्ठ) बना दिये गये] ॥ ११० ॥

वैरिश्रियं प्रति नियुद्धमनाप्नुवन् यः किञ्चिन्न तृप्यति धरावलयैकवीरः ।
स त्वामवाप्य निपतन्मदनेषुवृन्दस्यन्दीनि तृप्यतु मधूनि पिबन्निवायम् ॥

वैरीति । धरावलये भूमण्डले, एकवीरः अद्वितीययोद्धा, यः मथुरापतिः, वैरिश्रियं प्रति शत्रुलक्ष्मीं लक्ष्यीकृत्य, नियुद्धं नितरां युद्धं, बाहुयुद्धमित्यर्थः, 'नियुद्धं बाहुयुद्धेऽथ' इत्यमरः । अनाप्नुवन् किञ्चित् ईषदपि, न तृप्यति न तद्विना सन्तुष्यतीत्यर्थः, यस्य भयात् युद्धं विनैव शत्रुनृपतिसमर्पितराजलक्ष्मीलाभेऽपि युद्धेच्छाविगमाभावात् अयं न किञ्चिदपि सन्तुष्यतीति भावः; स नियुद्धप्रियोऽयं राजा, त्वाम् अवाप्य निपततां मदनेषूणां कन्दर्पबाणभूतानां कुसुमानां, वृन्दात् स्यन्दन्ते स्रवन्तीति स्यन्दीनि, मधूनि मकरन्दान्, पिबन्निव तृप्यतु; त्वमस्य राजलक्ष्म्यपेक्षयाऽपि तृप्तिदायिनीति भावः । अत्र मदनेषुभूतकुसुममधुपानोत्प्रेक्षया तेषामेवेषूणां त्वत्समागमात् गाढानन्दकरत्वप्रतीतेः अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ १११ ॥

पृथ्वीमें प्रधान वीर जो ('पृथु' राजा) शत्रुलक्ष्मीको लक्ष्यकर बाहुयुद्ध (पक्षा०— आलिङ्गन) को नहीं पाता हुआ थोड़ा भी सन्तुष्ट नहीं होता है (इसके भयसे शत्रुलोग विना युद्ध किये ही अपनी लक्ष्मीको समर्पित कर देते हैं, अत एव युद्धका अवसर नहीं मिलनेसे इस वीर राजाको पूर्ण सन्तोष नहीं होता), वह (बाहुयुद्धप्रिय) यह (पृथुराजा) तुम्हें पाकर गिरते हुए कामबाणों (पुष्पों) के समूहोंसे बहते हुए मकरन्दों (पुष्प-परागरूप मद्य) का पान करता हुआ सन्तुष्ट होवे । [लोकमें भी किसी अभीष्ट वस्तुको नहीं मिलनेसे असन्तुष्ट व्यक्ति मद्यपानकर प्रथम असन्तोषकर विषय भूल जानेसे सन्तोषानुभव करता है]॥

तस्मादियं क्षितिपतिक्रमगम्यमानमध्वानमैक्षत नृपादवतारिताक्षी ।
तद्भावबोधबुधतां निजचेष्टयैव व्याचक्षते स्म शिविकानयने नियुक्ताः ॥

तस्मादिति । इयं भैमी, तस्मात् नृपात्, अवतारिताक्षी निवारितदृष्टिः सती, क्षितिपतीनां गन्तव्यनृपाणां, क्रमेणानुपूर्व्या, गम्यमानम् अध्वानम् ऐक्षत; अथ शिविकानयने नियुक्ताः शिविकावाहिनः, तस्या भावबोधे अभिप्रायज्ञाने, बुधतां पाण्डित्यं, निजचेष्टया अन्यतो नयनक्रिययैव, व्याचक्षते स्म ज्ञापयामासुरित्यर्थः ॥

उस राजासे दृष्टि हटायी हुई इस (दमयन्ती) ने राजक्रमसे प्राप्य (आगेवाले) मार्गको देखा तथा शिविका ढोनेमें तत्पर (शिविकावाहक) अपनी चेष्टा (दमयन्तीको उस राजाके पाससे हटाकर दूसरे राजाके पास ले जाने) से ही उस (दमयन्ती) के भावको जाननेके पाण्डित्यको प्रकट कर दिये । [शिविकावाहक दमयन्तीको दूसरे राजाके पास ले गये । अन्य भी कोई व्यक्ति अपनी चेष्टासे दूसरोंके भाव-ज्ञानके चातुर्यको स्पष्ट करता है] ॥११२॥

भूयोऽपि भूपमपरं प्रति भारती तां त्रस्यच्चमूरुचलचक्षुषमाचचक्षे ।
एतस्य काशिनृपतेस्त्वमवेक्ष्य लक्ष्मीमक्ष्णोर्मुदं जनय खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! ॥

भूयोऽपीति । भारती सरस्वती, भूयोऽप्यपरं भूपं राजानं, प्रति लक्ष्यीकृत्य, त्रस्यच्चमूरुचलचक्षुषं चकितहरिणचलाक्षीं, तां भैमीम्, आचचक्षे; किमिति ? खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! हे खञ्जनाक्षि ! मञ्जुलाक्षीत्यर्थः, त्वम् एतस्य काशिनृपतेः काशिराजस्य, काशते इति काशिः 'सर्वधातुभ्य इन्' इत्युणादिसूत्रेण काशधातोरिन्-प्रत्ययः, ततः 'कृदिकारादक्तिन' इति सूत्रे ङीषो वैकल्पिकत्वेनात्र न ङीष्; अत एव काशी काशिः इति रूपद्वयमेव साधु । लक्ष्मीं शरीरशोभाम्, अवलोक्य अक्ष्णोः चक्षुषोः, मुदं हर्षं, जनय सम्पादय ॥ ११३ ॥

सरस्वती देवीने डरते हुए मृगके समान चपल नेत्रवाली उस (दमयन्ती) के प्रति फिर दूसरे राजाको (लक्षित कर) कहा—हे खञ्जनके समान सुन्दर नेत्रवाली (दमयन्ति) ! तुम इस काशीनरेशकी (अथवा—काशीनरेशके नेत्रोंकी) शोभाको देखकर नेत्रों (अपने नेत्रों) के सुखको (अथवा—सुखको) उत्पन्न करो। (अथवा—तुम इस काशीराजकी शोभाको देखकर इसके नेत्रोंके सुखको उत्पन्न करो) [अपनी शोभाको तुम्हारे द्वारा देखनेपर 'यह दमयन्ती मुझे वरण करेगी' इस भावनासे यह राजाको सुख-प्राप्ति होगी] ॥ ११३ ॥

एतस्य साऽवनिभुजः कुलराजधानी काशी भवोत्तरणधर्मतरिः स्मरारेः ।
यामागता दुरितपूरितचेतसोऽपि पापं निरस्य चिरजं विरजीभवन्ति ॥ ११४ ॥

एतस्येति । स्मरारेः संसारार्णवकर्णधारस्य महादेवस्य सम्बन्धिनी, भवोत्तरणे लोकानां भवाब्धितरणे, धर्मतरिः मूल्यमगृहीत्वा पारकारिणी तरणिः, धर्मतरिग्रहणात् केवलं धर्मार्था नौः इत्यर्थः; 'स्त्रियां नौस्तरणिः तरिः' इत्यमरः । सा काशी एतस्यावनिभुजः काशीराजस्य, कुलराजधानी वंशपरम्परागतराजधानी; दुरितपूरितचेतसोऽपि अतिपापात्मानोऽपि, यां काशीम्, आगताः चिरजं चिरसञ्चितं, पापं निरस्य परित्यज्य, अविरजसो विरजसः सम्पद्यमाना भवन्ति विरजीभवन्ति वीतरजोगुणाः सत्त्वप्रधाना मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । अभूततद्भावे च्विः 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति सकारलोपः ॥ ११४ ॥

शिवजीकी संसारसे पार करनेमें धर्मनौका वह काशी इस राजाकी कुलपरम्परागत राजधानी है, जिसमें आये हुए पापपूर्ण चित्तवाले (महापापी) भी चिरकालसे उत्पन्न पापको छोड़कर निष्पाप (रजोगुणरहित होकर सत्त्वगुणयुक्त) हो जाते हैं। ['धर्म' नौका कहनेसे विना खेवाई लिये सर्वसाधरण को संसार से पार उतारनेवाली उस नावका होना सूचित किया गया है] ॥ ११४ ॥

आलोच्य[1] भाविविधिकर्तृकलोकसृष्टिकष्टानि रोदिति पुरा कृपयैव रुद्रः ।

---

१. 'आलोक्य' इति पा० ।

नामेच्छयेति मिषमात्रमधत्त यत्तां संसारतारणतरीमसृजत् पुरीं सः॥११५॥

आलोच्येति । रुद्रो हरः, भाविन्याः विधिकर्तृकाया ब्रह्मकर्तृकायाः, लोकसृष्टेः सृष्टप्राणिजातस्य, कष्टानि दुःखानि, आलोच्य विचार्य, कृपयैव न तूपाध्यन्तरेणेत्यर्थः, पुरा रोदिति अरुदत्, 'पुरि लुङ् चास्मे' इति चकारात् पुरा-शब्दयोगे भूतानद्यतनार्थे लट् । ननु यत् श्रूयते 'सोऽरोदीत्, यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति, तत् व्याजमात्रमित्याह-नामेति । नामेच्छयेति रोदनाद्रुद्रनामाकाङ्क्ष्याऽरोदीत् इति, यत् तत् मिषमात्रं व्याजमात्रम्, अधत्त धृतवान्, वस्तुतः प्राणिनां कष्टमवलोक्यैवारुदत् न तु स्वीयरुद्रनामेच्छयेत्यर्थः; कुतः ? यत् यस्मात्, स रुद्रः, संसारतारणतरिं तां पुरीं काशीम्, असृजत्; कृपालवो हि परदुःखेन दुःखायन्ते तत्प्रतीकरणोपायञ्च कुर्वन्तीति भावः। ततो नूनं कृपयैव अरोदीदित्युत्प्रेक्षा ॥ ११५ ॥

शिवजी भविष्यमें की जानेवाली ब्रह्माकी प्राणिसृष्टिके दुःखोंको देखकर कृपासे ही पहले रोये, (और) नामकी इच्छासे (रोता हूँ यह तो) बहानामात्र किया; क्योंकि उस शिवजीने संसारको पार करनेके लिये नावरूप पुरी (काशीपुरी) की रचना की। [ब्रह्माके ललाटसे उत्पन्न होकर रोते हुए उस शिवजीको देखकर 'क्यों रोते हो ?' ऐसा ब्रह्माके पूछनेपर 'नामकी इच्छासे रोता हूं' ऐसा उत्तर बहानामात्रसे उन्होंने ही दिया, वास्तविकमें तो 'ये ब्रह्मा भविष्यमें जिन प्राणियोंकी सृष्टि करेंगे वे महाःदुखी होंगे' यह विचारकर ही शिवजी रोये थे। यही कारण है कि उन प्राणियोंको दुःखसे सर्वदाके लिए छुड़ाने अर्थात् मुक्त करनेके लिए उन्होंने काशीपुरीको रचना की। दूसरे भी दयालु पुरुष किसीके भावी दुःखको विचारकर रोते तथा उसे दूर करनेका उपाय करते हैं, किन्तु किसीके रोनेका (या दुःखित होने) का कारण पूछनेपर वास्तविक बात नहीं कहकर कोई बहना बना देते हैं और चुपचाप उसके दुःखको दूर करने का उपाय कर देते हैं। इस राजाके वरण करनेसे काशीकी प्राप्ति होनेसे किसी दुःखकी आशङ्का नहीं रहेगी अतएव तुम इसे वरण करो] ॥११५॥

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः ।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक् ? ॥

वाराणसीति । वाराणसी काशी, वसुन्धरायां न निविशते भूलोकान्तःपातिनी न भवतीत्यर्थः, अत एव तत्र वाराणस्यां, स्थितिर्लोकानां निवासः, मखभुजां देवानां, भुवने लोके, स्वर्गे इत्यर्थः, निवासः स्वर्लोकवसतिः, अत एव तस्याः स्वर्गत्वादेव, तस्मिन् तीर्थे मुक्तवपुषां त्यक्तकलेवराणां, मुक्तिरपवर्ग एव; तथा हि, स्वर्गात् स्वर्गरूपात् काशीतः, परम् उत्कृष्टं, कीदृक् पदन्तु कीदृशं स्थानं पुनः, मुदे प्रीतये, उदेतु ? उद्गच्छतु ? भवतु इत्यर्थः, तव इति शेषः, स्वर्गवास एव मर्त्यानां काम्यतमः, अतस्त्वं काशीराजं वरीत्वा काशीरूपस्वर्गवाससुखमनुभव इति भावः । यद्वा—स्वर्गादपवर्गात्, परमधिकम्, अपवर्गादन्यादृशं, कीदृक् पदन्तु स्थानं पुनः,

मुदे आनन्दाय, उदेतु ? उत्पद्यताम् ? ते इति शेषः, न किञ्चिदन्यदित्यर्थः । सम्भावनायां लोट्, भूलोकवासिनां मृतानां स्वर्गः, स्वर्गवासिनान्तु मृतानाम् अपवर्ग एव परं पदं, न तु स्वर्ग एवोचितः, अतः सा काशी स्वर्ग एव इति भावः ॥

वाराणसी पृथ्वीपर नहीं स्थित है (या पृथ्वीमें अन्तर्भूत नहीं है) वहांपर निवास करना देवलोक (स्वर्ग) में निवास करना है अर्थात् वाराणसी स्वर्ग ही है भूमिगत कोई पुरी नहीं है, (अथवा—वहां देवोंका निवास करना भूलोकमें निवास करना है, अर्थात् स्वर्गसे भी अधिक रमणीय होनेसे देवलोग स्वर्गसे वहां वाराणसी पुरीमें) आकर निवास करते हैं। इसी कारण उस (वाराणसी) के तीर्थों (मणिकर्णिका आदि) में शरीरत्याग करने (मरने) वालों की मुक्ति होती है, (यदि वाराणसी भी अन्य पुरियोंके समान भूमिपर ही होती तथा वहां निवास करना स्वर्गमें निवास करना नहीं होता तो उसके तीर्थमें भी मरनेवाले प्राणियोंको अन्य पुरियोंके तीर्थोंमें मरनेवाले प्राणियोंके समान स्वर्ग-प्राप्ति ही होती, मुक्ति-प्राप्ति नहीं होती, अतएव वहां निवास करना स्वर्गमें ही निवास करना है), स्वर्गसे श्रेष्ठ भी (मुक्तिके अतिरिक्त) ऐसा पद हर्षके लिये प्राप्त होवे (भूलोकमें मरनेवाले प्राणियोंके हर्षके लिए भूलोकाधिक श्रेष्ठ स्वर्ग-प्राप्ति होना और वाराणसीरूप स्वर्गमें मरनेवाले प्राणिके हर्षके लिए स्वर्गाधिक मुक्ति-प्राप्ति होना उचित ही है) ॥ ११६ ॥

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः ।
भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे! भवतिभावमिवास्तिधातुः ॥११७॥

सायुज्यमिति । भीमोद्भवे ! हे भैमि ! भवाब्धियादः संसारसागरजजन्तुजातं, कर्तृ । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । नगराजपुत्र्याः पत्युः पार्वतीपतेः सम्बन्धिनीं, तां नगरीं काशीम्, एत्य अस्तिधातुः 'अस भुवि' इत्ययं धातुः, भूताभिधानपटुम् अतीतकालाभिधानसमर्थाम्, अन्यत्र—भूतस्य सत्यस्य तारकब्रह्मरूपस्येत्यर्थः, अभिधाने उपदेशप्रापणे, पटुं समर्थाम्, इति नगरीपक्षे योज्यम्; अद्यतनीं लुङम्, अवाप्य अद्यतनीति लुङ् पूर्वाचार्याणां संज्ञा आर्द्धधातुकोपलक्षणमेतत्, अस्तेर्भूभावस्यार्द्धधातुकाधिकारात् । अद्यतनीग्रहणन्तु उपमानोपमेययोरभिन्नलिङ्गत्वायेति द्रष्टव्यम् । भवतीति भावम् इव 'अस्तेर्भूः' इति विधानात् अस्-धातोर्भूधातुत्वमिव, भवस्य ईश्वरस्य, सयुजो भावः सायुज्यं तादात्म्यम्, ऋच्छति गच्छति॥

हे भीमनन्दिनि (दमयन्ति) ! संसाररूपी समुद्रका जलजन्तु अर्थात् संसारी जीव पर्वतराजपुत्री (पार्वती) के पति शिवजीकी तारक ब्रह्मके उपदेशमें समर्थ उस नगरी (वाराणसी पुरी) को पाकर (अथवा—उस नगरीको पाकर पर्वतराजपुत्रीके पति शिवजी) के सायुज्यको उस प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार 'अस्' धातु ('अस् भुवि'—अदादि परस्मैपद संज्ञक धातु) 'भूत' कालके कहनेमें समर्थ अद्यतन विभक्ति ('लुङ्' लकार) को प्राप्तकर 'भू' भाव ('अस्तेर्भूः' पा० २।४।५२) से 'भू' आदेश को प्राप्त करता है ।

[वाराणसीमें शरीरत्याग करनेपर शिवजी प्राणीको श्रेष्ठ तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे वह प्राणी उनकी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर लेता अर्थात् शिवरूप हो जाता है । मुक्तिके सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य आदि अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं] ॥ ११७ ॥

निर्विश्य निर्विरति काशिनिवासि भोगान्
निर्माय नर्म च मिथो मिथुनं यथेच्छम् ।
गौरीगिरीशघटनाधिकमेकभावं
शर्मोर्मिकञ्चुकितमञ्चति पञ्चतायाम् ॥ ११८ ॥

निर्विश्येति । काशिः काशी, 'कृदिकारात् अक्तिनः' इति ङीषो वैकल्पिको भावः । तस्यां निवासि वास्तव्यं, मिथुनं स्त्रीपुंसजातं, यथेच्छं, भुज्यन्ते इति भोगान् विषयान्, निर्विरति निर्विच्छेदं यथा तथा, निर्विश्य उपभुज्य, तथा मिथोऽन्योऽन्यं रहसि वा, नर्म क्रीडाञ्च, निर्माय कृत्वा, पञ्चतायां मृत्यौ सत्यां, गौरीगिरीशयोर्घटनादर्द्धाङ्गसङ्घटनात्, अधिकमुत्कृष्टमेव, तत्र शरीरद्वयत्वेन प्रकाशः अत्र तु शिवशरीरं एकत्वेनेति तदपेक्षया उत्कृष्टत्वमिति भावः, शर्मोर्मिभिः आनन्दलहरीभिः, कञ्चुकितं सञ्जातकञ्चुकम्, आवृतसर्वाङ्गमित्यर्थः, एकभावम् एकत्वरूपम्, अञ्चति प्राप्नोति, अन्यत्र सन्न्यासादिक्लेशात् मुक्तिः, इह तु भोगपूर्वकदेहत्यागेनापि मुक्तिरिति भावः ॥ ११८ ॥

काशीमें निवास करनेवाला मिथुन (स्त्री-पुरुष की जोड़ी) वैराग्यरहित अर्थात् अनुरागपूर्वक इच्छानुसार भोगों (कुङ्कुम केसर कस्तूरी चन्दन माल्यादि भोग-सामग्रियों) को प्राप्तकर और परस्परमें इच्छानुसार नर्म (हास-विलासादि) करके मरनेपर (आधे-आधे शरीरका संयोगरूप) पार्वती-शिवके संयोगसे भी अधिक अर्थात् श्रेष्ठ एवं सुख परम्परासे संयुक्त एकीभाव (तादात्म्य) को प्राप्त करता है । [पार्वती तथा शिवके अर्द्धाङ्ग होनेपर भी दोनोंका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है, किन्तु उक्त काशीवासी स्त्री-पुरुष-मिथुन तद्रूप होकर पृथक्-पृथक् नहीं मालूम पड़नेसे उक्त पार्वती-शिवको अर्धार्धशरीरसंयोगकी अपेक्षा भी उत्तम गति लाभ करता है । अन्यत्र निवास करनेपर भोग-विलास साधनोंसे विरक्त होकर तथा कष्ट सहते हुए ध्यान जप तप आदि करने पर ही मुक्ति मिल सकती है और यहां उक्त सब कष्टों को विना सहन किये ही काशी में निवास करने मात्रसे मुक्ति मिल जाती है, अत एव सर्वाभिलाषसिद्धिके लिए इस काशीराजका वरण करो] ॥ ११८ ॥

न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु कथ्या निजाप्ततमयैव तवानुभूत्या ।
न स्यात् कनीयसितरा यदि नाम काश्या राजन्वती मुदिरमण्डनधन्वना भूः ॥

नेति । न श्रद्दधासि यदि स्वर्गादपि काश्या आधिक्यवर्णनरूपं मद्वाक्यं न विश्वसिसि चेत्, तत्तर्हि, मम मौनमस्तु अहं तूष्णीमासे, तव निजया आत्मीयया, आप्ततमया नितरां हितकारिण्या, अनुभूत्या प्रमाणभूतस्वीयानुभावेनैव, कथ्या

कथनीयाऽसि; किं कथ्या ? तदाह,–मुदिरा जीमूताः, 'घनजीमूतमुदिर–' इत्यमरः, तेषां मण्डनं भूषणभूतं, धनुर्यस्य स तद्धन्वा देवेन्द्रः, 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः तेन राजन्वती शोभनराजविशिष्टा, भूः स्वर्गभूः, 'राजन्वान् सौराज्ये' इति निपातनात् साधुः । काश्याः काशीतः, 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । अतिशयेन कनीयसी कनीयसितरा हीनतरा, 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इत्यल्पशब्दस्य कनादेशः, 'घरूपकल्प–' इत्यादिना ङीपो ह्रस्वः न स्यान्नाम यदि, अपि तु स्यादेवेत्यर्थः; दिवः स्वर्गात् अधिका काशी, दिवस्पतेरधिकः काशीराज इत्यलं वार्त्ताभिः, एतत्पाणिग्रहणानन्तरमनुभव एव ते कथयिष्यतीति भावः ॥ ११९ ॥

यदि (मेरे वचनमें) विश्वास नहीं करती हो तो मेरा मौन ही हो अर्थात् मैं चुप लगती हूं। मेघोंका भूषण है धनुष जिसका ऐसे इन्द्रसे सुन्दर राजावाली भूमि (अमरावती पुरी) यदि काशीसे अत्यन्त हीन नहीं है तो अपनी आप्ततम अर्थात् अत्यन्त निष्पक्ष (या हितकारी) तुम्हारा अनुभव ही तुमसे कहेगा। [इस काशीनरेशके वरण करनेसे तुम स्वयं ही यह अनुभव करोगी कि काशीकी अपेक्षा इन्द्रपुरी अमरावती भी अत्यन्त तुच्छ है, अत एव इसका वरण करो] ॥ ११९ ॥

ज्ञानाधिकाऽसि सुकृतान्यधिकाशि कुर्याः कार्यं किमन्यकथनैरपि यत्र मृत्योः।
एकं जनाय सतताभयदानमन्यद् धन्ये ! वहत्यमृतसत्रमवारितार्थि ॥१२०॥

ज्ञानेति । धन्ये ! हे श्लाघ्ये ! भैमि ! ज्ञानेन अधिका उत्कृष्टा, असि भवसि, अतः अधिकाशि काश्यां, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सुकृतानि एतत्परिणयेन दानादिविविधसत्कर्माणि कुर्याः; अथवा अन्यकथनैः कर्त्तव्यान्तरोपदेशैः, किं कार्यम् ? किं प्रयोजनम् ? न किञ्चिदित्यर्थः, यत्र काश्यां, मृत्योरपि मृत्युसकाशादपि, जनाय एकं केवलं, सततमविच्छिन्नम्, अभयदानं मृत्युवशानां सद्य एव मृत्युञ्जयत्वप्राप्तेरिति भावः; अन्यद् अपरम्, अवारिताः अनिवारिताः, अर्थिनो याचकाः यस्मिन् तत्, अमृतसत्रं मोक्षदानं गङ्गोदकदानञ्च, 'अमृतं तूदके मोक्षे' इति केशवः । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने वनेऽपि च' इति चामरः । वहति प्रवर्त्तते; काशिमृतानां शिवसारूप्यममृतत्वञ्च सिद्धमिति अन्यत्र जीवनात् मरणमपि काश्यां वरमिति भावः ॥ १२० ॥

हे धन्ये (दमयन्ति) ! श्रेष्ठ ज्ञानवाली हो, (अत एव) काशीमें पुण्यों (पति–सेवादि सत्कर्मों) को करो, दूसरे (कर्तव्य, या माहात्म्य) के कहनेसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं, जहां (जिस काशीमें) मनुष्यके लिये सर्वदा अभयदानरूप एक अमृतयज्ञ (मोक्ष-दान यज्ञ) होता रहता है तथा जिसमें किसी याचक को निषेध नहीं किया जाता, ऐसा दूसरा अमृतयज्ञ (जल–दानयज्ञ अर्थात् गङ्गाजी) होता रहता है। [काशीमें मरनेके बाद पुनर्जन्म लेनेका भय नहीं रहनेसे मोक्ष–दानरूप एक यज्ञ और याचकके लिये विना निषेध किये निरन्तर जल–दानरूप द्वितीय यज्ञ (गङ्गाजी) प्रवाहित होता रहता है।

काशीमें निवासकर तथा गङ्गाजल पीकर अनायास ही जीव मृत्युके भयसे मुक्त हो जाता है, अतः इसका वरण कर मृत्युभयसे तुम भी मुक्त हो जावो] ॥ १२० ॥

भूभर्त्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि ! मूर्त्ता सोऽयं तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्त्तः ।
भातञ्च ताविव युवां गिरिशं विरुद्धमाराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ॥१२१॥

भूभर्त्तुरिति । हे मृगाक्षि ! त्वमस्य भूभर्त्तुः काशीराजस्य, मूर्त्ता मूर्त्तिमती, रतिः कामपत्नी, एधि भव, अस्तेः सिचि हेर्धिरादेशे 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येकारादेशः । सोऽयं राजा च, तव मूर्त्तो मूर्त्तिमान्, कुसुमायुधः कामः एव, अस्तु भवतु, किञ्च युवां विरुद्धं द्विष्टं, पुरा कोपितमित्यर्थः, गिरिशमीश्वरम्, आराद्धुम् आराधयितुं, तदीयकोपशान्त्यर्थमिति भावः, तत्र पुरि काश्याम्, आशु अधुना, कृतावतारौ अवतीर्णौ, ताविव रतिकामाविव, भातं विराजतञ्च, भातेर्लोटि थसस्तमादेशः ॥ १२१ ॥

हे मृगनयनि (दमयन्ति) ! तुम इस राजाकी मूर्तिधारिणी रति बनो तथा यह (राजा) तुम्हारा मूर्तिधारी कामदेव ही बने (यह राजा तुम्हें साक्षात् रति समझे और तुम इस राजाको साक्षात् कामदेव समझो अथवा—तुम इसकी मूर्तिधारिणी प्रीति बनो और यह तुम्हारा मूर्तिधारी अनुराग बने अर्थात् तुम दोनों परस्परमें अत्यधिक स्नेह करो) और पहले विरोध किये गये शिवजीको पूजा (करके प्रसन्न) करनेके लिए उस (काशी) पुरीमें शीघ्र अवतार लिये हुए (या देहधारण किये हुए) उन दोनों (रति-कामदेव) के समान तुम दोनों शोभित होवो । [अत्यन्त सुन्दर तुम दोनोंको देखकर काशीवासी लोग ऐसी कल्पना करेंगे] ॥ १२१ ॥

कामानुशासनशते सुतरामधीती सोऽयं रहो नखपदैर्महतु स्तनौ ते ।
रुष्टाद्रिजाचरणकुङ्कुमपङ्करागसङ्कीर्णशङ्करशशाङ्ककलाङ्ककारैः ॥ १२२ ॥

कामेति । कामानुशासनानां कामशास्त्राणां, शते समूहे, सुतरां नितराम्, अधीतमनेनेत्यधीति 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनि प्रत्यये सप्तमीविधाने 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' इति सप्तमी । कृताध्ययनः, सोऽयं राजा, रुष्टा कुपिता, अद्रिजा पार्वती, तस्याश्चरणकुङ्कुमपङ्करागेण सङ्कीर्णा पार्वत्याः कोपापनोदनाय पादग्रहणकाले कुङ्कुमरञ्जिततदीयचरणसम्पर्कात् रूषिता, या शङ्करशशाङ्ककला महादेवशिरःस्थितचन्द्रकला, तया सह अङ्ककारैः कलहकारिभिः, तदनुकारिभिरित्यर्थः, कुङ्कुमरञ्जितचन्द्रकलासदृशैरिति यावत्, कर्मण्यण् 'अङ्कः कलहचिह्नयोः' इति विश्वः । नखपदैर्नखक्षतचिह्नैः, ते स्तनौ कुचौ, रहः निर्जने, महतु पूजयतु, अलङ्करोतु इत्यर्थः । मह पूजायामिति धातोर्भौवादिकाल्लोट् ॥ १२२ ॥

सैकड़ों कामशास्त्रको अध्ययन किया सुप्रसिद्ध यह राजा एकान्तमें रुष्ट पार्वतीके (शङ्करजीके मस्तकपर चरण प्रहार करनेसे) चरणमें लगाये गये कुङ्कुमपङ्कके लेपसे युक्त अर्थात् अरुण वर्णवाली शङ्करजीके (मस्तक पर स्थित) चन्द्रकलाके साथ कलह करनेवाले

(अथवा—प्रतिमल्ल) अर्थात् सदृश नखचिह्नोंसे तुम्हारे स्तनोंको सुशोभित करे। वक्राकार एवं रक्तवर्ण नखचिह्नसे उक्त चन्द्रकलाकी समानता होना स्पष्ट है ॥ तुम इस काशीनरेशको वरण करो ॥ १२२ ॥

पृथ्वीश एष नुदतु त्वदनङ्गतापमालिङ्ग्य कीर्तिचयचामरचारुचापः ।
संग्रामसङ्गतविरोधिशिरोधिदण्डखण्डिक्षुरप्रसरसम्प्रसरत्प्रतापः ॥ १२३ ॥

पृथ्वीश इति। कीर्त्तिचय एव चामरवत् चारुः मनोहरः, चापो यस्य सः कीर्तिधन्वा, महाशूरोऽयमिति कीर्त्तिधनुषा एव रिपुदमनकारी इत्यर्थः, अत्र चामरचारुचाप इति प्रयोगस्तु कीर्त्तेः कविसमयसिद्धातिनैर्मल्यख्यापनार्थमिति बोद्धव्यम्; 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति कविप्रसिद्धेरिति। अत एव संग्रामे सङ्गतानां विरोधिनां शत्रूणां, शिरोधिदण्डान् कण्ठनालान्, खण्डयन्तीति तेषां, क्षुरप्राणां शरविशेषाणां, सरेण प्रसरेण, सम्प्रसरन् सम्यक् प्रसरन्, समधिकं वर्द्धमानः इत्यर्थः, प्रतापः यस्य तादृशः, एष पृथ्वीशः भूपतिः, आलिङ्ग्य तव अनङ्गतापं कामसन्तापं, नुदतु अपनयतु; समर-सुरतयोः समरस एष इति भावः। अत्र प्रकृष्टतापशालिनः आलिङ्गनेन तापनोदनमिति आपाततः विरोधोऽवभासते, प्रकृतव्याख्यया तु तत्परिहारः ॥ १२३ ॥

युद्धमें (लड़नेके लिए) आये हुए शत्रुओंके शिरोनाल (गर्दन) को काटनेवाले 'क्षुरप्र' नामक वाण-विशेषसे फैलते हुए प्रतापवाला तथा कीर्ति-समूहरूपी चापसे सुन्दर धनुषवाला (धनुषसे प्राप्त कीर्तिवाला) यह राजा (तुम्हारा) आलिङ्गनकर तुम्हारे (अथवा—तुम्हारे कारणसे उत्पन्न अपने) कामसन्तापको दूर करे। [कुशल धनुर्धारियोंके वाणमें चामर लगा रहता है ॥ कीर्तिमान् तथा प्रतापी इस राजाके वरणसे तुम्हारा काम-सन्ताप दूर होगा, अत एव तुम इसे वरण करो] ॥ १२३ ॥

वक्षस्त्वदुग्रविरहादपि नास्य दीर्णं वज्रायते पतनकुण्ठितशत्रुशस्त्रम् ।
तत्कन्दकन्दलतया भुजयोर्न तेजोवह्निर्नमत्यरिवधूनयनाम्बुनाऽपि ॥१२४॥

वक्ष इति। हे भैमि ! तव उग्रात् दुःसहात्, विरहादपि न दीर्णम् अविदीर्णं, तथा पतनेन कुण्ठितानि प्रतिहतानि, भग्नधाराणीत्यर्थः, शत्रूणां शस्त्राणि आयुधानि यत्र तत्, अस्य राज्ञः, वक्षो वज्रायते वज्रमिवाचरति, वज्रमेवेत्यर्थः, अन्यथा कथमीदृगभेद्यमिति भावः। आचारक्यङन्ताल्लट्, तत् वक्षोवज्रमेव, कन्दो मूलं, तस्य कन्दलतया प्ररोहत्वेन, हृदयदार्ढ्यमूलत्वात् तत्प्ररोहभूतभुजतेजसोऽपि दार्ढ्यता इति भावः, भुजयोस्तेजोवह्निः प्रतापाग्निः, अरिवधूनयनाम्बुनाऽपि न नमति न शाम्यतीत्यर्थः, वज्राग्नेरिव अरिनिधनकारित्वादिति भावः। अत्र भुजतेजसोऽनम्बुहार्यत्वेन वज्रायितवक्षःकार्यताद्वारादन्यतेजस्त्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १२४ ॥

तुम्हारे विरह (रूप अग्नि) से भी नहीं फूटा हुआ तथा गिरनेसे शत्रुओंके शस्त्रोंको

कुण्ठित करनेवाला इस (काशीनरेश) का हृदय वज्रके समान आचरण करता है अर्थात् वज्र ही है (वज्र भी अग्निमें नहीं फूटता है तथा उसपर गिरे हुए शस्त्र कुण्ठित हो जाते हैं। अथवा—इसका उक्तरूप हृदय हीरेके समान आचरण कर रहा है, हीरा भी अग्निमें डालनेपर नहीं फूटता है और उसपर गिरनेवाले शस्त्र कुण्ठित हो जाते हैं[1]। यहां 'वज्र' शब्द इन्द्रास्त्रका वाचक है)। उस (वज्र) के कन्दके अङ्कुर होनेसे भुजाओंकी प्रतापाग्नि शत्रुस्त्रियोंके नेत्रजल (आँसू) से भी शान्त नहीं होती। [हृदयसे उत्पन्न स्थूल मूलवाली भुजाओंसे उत्पन्न प्रतापाग्निका शत्रुस्त्रियोंके नेत्रजलसे नहीं शान्त होना उचित ही है, क्योंकि मेघजल स्वोत्पादित विद्युदग्निको नहीं शान्त करता। प्रकृतमें शत्रुओंके मारनेसे उनकी स्त्रियोंके रोनेसे उत्पन्न नेत्रजल स्वजन्य भुज-प्रतापाग्निको नहीं शान्त करता है। वज्रतुल्य अतिकठोर हृदयस्थलसे उत्पन्न बाहुओंसे उत्पन्न तीव्र प्रतापाग्नि शत्रुओंको मारकर भी शान्त नहीं होती॥ यह राजा शत्रुओंमें निष्करुण एवं उनका नाश करनेवाला है तथा तुम्हारे विरहसे सन्तप्त है, अत एव इसका वरणकर इसे अनुगृहीत करो]॥ १२४॥

किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसङ्ख्यास्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः?।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपी फलसम्प्रदानं कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन्॥१२५॥

किमिति। तुल्यं निर्विशेषं यथा तथा, उपनीतः सम्पादितः, पिकानां काकानाञ्च फलोपभोगो यैस्ते, लक्षसङ्ख्या द्रुमाः वृक्षाः, जगति न जाग्रति किम्? न स्फुरन्ति किम्? स्फुरन्त्येवेत्यर्थः, तु किन्तु, अमृतैकवृत्तीन् सुधैकजीवनान्, विबुधान् देवान् विदुषश्च, फलसम्प्रदानम् ईप्सितार्थप्रतिग्राहिणः, कुर्वन् सर्वामरमनोरथपूरक इत्यर्थः, स एष कल्पविटपी कल्पवृक्षः, कल्पवृक्षकल्पोऽयं काशिराज इत्यर्थः, स्तुत्यः स एक एव स्तोत्रार्हो नान्य इत्यर्थः, अन्ये नृपतयः असत्पात्रेभ्यः दानं कुर्वन्ति, अयं काशीराजस्तु पण्डितेभ्य एव ददाति इति भावः। अत्राप्रस्तुतकल्पवृक्षकथनात् प्रस्तुतकाशिराजप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, 'अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्याद्नियन्त्रिता।' इति लक्षणात्॥ १२५॥

कोयल और कौवेके लिए समान रूपसे फलोंके देनेवाले (आम्र आदि) लाखों पेड़ संसारमें नहीं हैं क्या? अर्थात् अवश्य हैं (किन्तु वे प्रशंसनीय नहीं हैं, अपितु) अमृतमात्र भोजन करनेवाले देवोंके लिए फलोंको देनेवाला यह कल्पवृक्ष प्रशंसनीय है। [प्रकृतमें गुणागुणका विचार छोड़कर समानरूपसे सबको फल देनेवाले आम्र आदिके समान अन्य राजा संसारमें प्रशंसनीय नहीं है, किन्तु अमृतमात्रसे जीनेवाले देवों (पक्षा०—अयाचित[2]

---

१. तदुक्तं 'प्रकाश' व्याख्यायां नारायणभट्टेन—
'पृथिव्यां यानि रत्नानि ये चान्ये लोहजातयः।
तानि वज्रेण लिख्यन्ते वज्रं नान्येन लिख्यते॥' इति।

२. तदुक्तं मनुना—'ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ (मनुः ४।५)

वा यज्ञवृत्तिसे जीनेवाले विशिष्ट विद्वानों) को फल देनेवाला कल्पवृक्ष (रूप यह राजा) प्रशंसनीय है । तथा—गुणी तथा निर्गुणी सबके लिए समान दान देनेवालेकी प्रशंसा नहीं होती, किन्तु जो गुणके तारतम्यका विचारकर तदनुसार दान देता है, वही दानकर्ता कल्पवृक्षवत् प्रशंसनीय होता है, अतः ऐसे ही गुणागुणका विचारकर कल्पवृक्षके समान दान करनेवाले इस राजाको तुम वरण करो] ॥ १२५ ॥

अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यदभूत् प्रतिभूः कृपाणः ।
दैवाद् यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव नेदङ्कृपा निजकृपाणकरग्रहाय ॥१२६॥

अस्मै इति । अस्मै राज्ञे, नृपाः अन्ये सर्वे राजानः, कस्मात् कारणात्, करं बलिं, न प्रवितरन्तु ? न दद्युः ? दद्युरेव, सम्भावनायां लोट् । कराप्रदानमसम्भावितमेवेत्यर्थः, कुतः ? यत् यस्मात्, तत्र करदाने, अस्य राज्ञः, कृपाणः खड्गः एव, प्रतिभूर्लग्नकः, अभूत्, 'स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः' इत्यमरः । अथ कृपाणस्य प्रतिभूत्वं व्यनक्ति— यदा दैवात्ते नृपाः, न प्रवितरन्ति, करमिति शेषः, तदैव निजकृपाणस्य करेण हस्तेन, ग्रहाय ग्रहणाय, अन्यत्र–निजकृपाणात् प्रतिभूस्वरूपकृपाणसकाशात्, करस्य बलेः, ग्रहणाय 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । अस्य कृपा इदङ्कृपा, न, भवतीति शेषः, निष्कृपः सन् कृपाणमुत्तोल्य तेभ्यः प्रसह्य करं गृह्णातीत्यर्थः, कृपाणपातभीत्यैव करदानात् कृपाणस्य प्रतिभूत्वव्यपदेश इति भावः ॥ १२६ ॥

राजा लोग इस (काशीनरेश) के लिये कर (राजदेयभाग, पक्षा०—दासी लोग हाथ अर्थात् हस्तावलम्बन) क्यों नहीं हैं, क्योंकि उस(कर-दान) में इसोकी तलवार प्रतिभू (जमानतदार-मध्यस्थ) हुई है। भाग्यवश यदि वे राजा लोग, कर (अर्थात् राजदेय भागको) नहीं देते हैं तो अपनी तलवारसे कर लेनेके लिए (पक्षा०—अपनी तलवारको हाथमें लेनेके लिए) इस राजाकी कृपा नहीं होती। [दासजन स्वामीके लिए हस्तालम्बन (हाथका सहारा) देते हैं और तलवारसे वशीभूत राजालोग इस राजाके लिए कर देते हैं, क्योंकि उनसे कर दिलानेके लिए तलवारने ही मध्यस्थता की है, अतः भाग्यवश उन राजाओंके कर नहीं देनेपर यह राजा निर्दय होकर उस तलवारसे ही कर लेता है (पक्षा०—तलवार हाथमें लेकर उन राजाओंको फिरसे अपने वशमें कर लेता है । लोकमें भी किसी ऋण आदिको लेनेवाला यदि उसे वापस नहीं करता तो धनिक (महाजन) उस मध्यस्थ (जामिनदार) व्यक्तिसे ही निर्दय होकर उक्त ऋण लेता है । सब राजा इसे कर देते हैं, अत एव इस शत्रुविजयी राजाका वरण करो] १२६ ॥

एतद्बलैः क्षणिकतामपि भूखुराग्रस्पर्शायुषां रयवशादसमापयद्भिः ।
दृक्पेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहैर्वाहैरलुप्यत सहस्रदृगर्वगर्वः ॥ १२७ ॥

एतदिति । एतद्बलैः एतत्सैन्यभूतैः, रयवशात् वेगवशात्, भुवि पृथिव्यां, खुराग्राणां ये स्पर्शाः संयोगाः, तेषां यान्यायुंषि अवस्थानरूपजीवितानि, स्थायित्व-

काला इत्यर्थः, तेषां, क्षणिकतां क्षणमात्रावस्थायितामपि, असमापयद्भिः अनिर्वर्त्तयद्भिः, खुराग्रेण भूस्पर्शनं क्षणमपि अकुर्वद्भिरित्यर्थः, किन्तु दृक्पेया अविच्छिन्नतया दृष्टिग्राह्याः, न तु सङ्ख्यातुं शक्या इति भावः, केवला नभःक्रमणप्रवाहाः नभोगतिपरम्परा येषां तैः केवलखेचरैरित्यर्थः, अतिवेगगामिभिरिति भावः, वाहैर्वाजिभिः, सहस्रदृगर्वणः सहस्राक्षवाजिनः उच्चैश्रवसः, 'वाजिवाह्वार्वगन्धर्व–' इत्यमरः । गर्वः मदपेक्षया वेगशाली आकाशमात्रचारी अन्योऽश्वो नास्तीत्येवंरूपाहङ्कारः, अलुप्यत लोपितः; सहस्राक्षस्य त्वेकक एव खेचरोऽश्वः, अस्य तु एतादृशाः परःसहस्राः अश्वाः विद्यन्ते इति भावः । अत्र इन्द्राश्वापेक्षया एतदश्वानामाधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः ॥ १२७ ॥

वेगवश (वेगाधिक्य) से खुराग्रोंके द्वारा पृथ्वीके स्पर्शकी आयुके क्षणिकताको भी नहीं समाप्त करते हुए, देखने योग्य आकाशगमन–परम्परावाले (अतिशय तीव्र चलनेके कारण सर्वदा ऊपरमें ही पैर रक्खे रहनेसे दर्शनीय), इसके सैनिक घोड़ोंने उच्चैःश्रवाका भी अभिमान नष्ट कर दिया। [इसकी सेनाके घोड़े खुराग्रोंसे पृथ्वीका स्पर्शमात्र भी नहीं करते तथा सर्वदा आकाश (ऊपर) में ही पैर रखनेसे बहुत सुन्दर दीखते हैं, और इस प्रकार अतिशय तीव्रगामी होनेसे इन्द्रके 'उच्चैःश्रवा' नामके घोड़ेके भी अभिमानको चूर-चूर कर दिये हैं। वायु यद्यपि शीघ्र गामी है, किन्तु वह अदृश्य है, इस राजाकी सेनाके अतिशय वेगसे चलनेवाले घोड़े दृश्य हैं, अत एव अदृश्य तथा दृश्य वायु तथा उक्त घोड़ोंमें घोड़े ही श्रेष्ठ हैं]॥ १२७ ॥

तद्वर्णनासमय एव समेतलोकशोभावलोकनपरा तमसौ परासे[1] ।
मानी तया गुणविदा यदनादृतोऽसौ तद्भूभृतां सदसि दुर्यशसेव मम्लौ ॥

तदिति । असौ दमयन्ती, तस्य काशीराजस्य, वर्णनासमये स्तोत्रकाले एव, समेतलोकानां समागतजनानां, शोभावलोकनपरा सती तं काशीराजं, परासे व्याजेन परिजहारेत्यर्थः, 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यस्यतेस्तङि लिट् । मानी अभिमानी, असौ राजा, गुणविदा गुणज्ञया, तया भैम्या, यत् यस्मात्, अनादृतः, तत्तस्मादनादरणादेव, भूभृतां राज्ञां, सदसि दुर्यशसा दुष्कीर्त्येव, मम्लौ वैवर्ण्यं गतः इत्यर्थः, वस्तुतः गुणज्ञया भैम्या कृतानादरेण लज्जावशात् म्लानोऽभूत् इति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १२८ ॥

उस (काशीनरेश) के वर्णनके समयमें ही आये हुए लोगों (१२।१ के अनुसार नवीन राजालोगों) की शोभा देखनेमें संलग्न इस (दमयन्ती) ने उस (काशीनरेश) का परिहार कर (उसे देखना छोड़) दिया। गुणज्ञा उस (दमयन्ती) ने जो उसका अनादर किया, उससे राजाओंकी सभामें मानी वह राजा मानो अपकीर्तिसे मलिन हो गया

1. 'निरासे इति' पा० ।

(अथवा—गुणज्ञा इसने राजाओंकी सभामें मानी इस काशीनरेशका जो तिरस्कार किया, उस कारण मानो अपकीर्तिसे वह राजा मलिन हो गया। अथवा—मानी वह राजा मलिन हो गया, शेष व्याख्या पूर्ववत् है ॥) [गुणज्ञ व्यक्ति किसी मानी व्यक्तिका राजसभामें तिरस्कार करता है तो वह मानी व्यक्ति मानो अपकीर्तिसे खिन्न हो जाता है, किन्तु अगुणज्ञ (मूर्ख) के अपमान करनेपर खिन्न नहीं होता, अतः उस राजाका गुणज्ञा दमयन्तीके राजसभामें निरादर करनेपर खिन्न होना उचित ही था] ॥ १२८ ॥

साऽनन्तानाप्य तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाजः
चित्तेनाशापुषस्तान् सममसमगुणान् मुञ्चती गूढभावा ।
पारेवाग्वृत्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः ॥ १२९ ॥

सेति । अनन्तान् अपरिमितान्, दिष्टभाजो भाग्यभाजः, चित्तेन आशाम् अभिलाषं, पुष्णान्ति इति आशापुषः भैमीं कामयमानानित्यर्थः, तान् प्रसिद्धान्, असमगुणान् असाधारणशौर्यादिगुणान्, तेजसः सखायः तेजःसखाः तेजस्विन इत्यर्थः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' निखिला मरुतो देवा इन्द्रादयः, पार्थिवाश्च तान्, आप्य प्राप्य, समं युगपत्, मुञ्चती परिहरन्ती, उपनिषत्पक्षे तु—सानन्तान् आकाशसहितान्, 'अनन्तं सुरवर्त्म खम् । पुंस्याकाशविहायसौ' इत्यमरः । दिष्टभाजः कालयुक्तान्, 'दिष्टं भाग्ये च काले च' इति विश्वः । चित्तेन मनसा, समं सह, आशापुषो दिग्युक्तान्, 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति वैजयन्ती । असमगुणान् न्यूनाधिकसङ्ख्यातरूपरसादिगुणकान्, अपां विकारः आप्यं, 'त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम्' इत्यमरः । आप्यञ्चेति चान्द्रसूत्रनिपातनात् साधुः । तेजःसखाः तेजोद्रव्यसहिताः, निखिलाः मरुतः वायवः, 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पार्थिवाः पृथिवीविकाराः, अत्रापि आप्यपार्थिवशब्दौ तद्धितान्तावपि प्रकरणात् प्रकृत्यर्थमात्रपरौ द्रष्टव्यौ, तान् मुञ्चती तार्किकोक्तपृथिव्यादिनवद्रव्येषु आत्मातिरिक्तद्रव्याष्टकस्य 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिवाक्यैः निषेधं कुर्वतीत्यर्थः, गूढभावा गूढः गोपायितः, भावः नलानुरागो यया सा, अन्यत्र-ब्रह्मरूपगहनार्थप्रतिपादनात् दुरवगाहाभिप्राया, शुभाङ्गी अनवद्यगात्री, अन्यत्र-सम्पूर्णाङ्गी, षडङ्गयुक्ता इत्यर्थः, सा दमयन्ती, वाचां पारे परपारे पारेवाक् 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, तद्वृत्तिवाचा वर्णयितुमशक्यं, रूपं सौन्दर्यं यस्य तम्; अन्यत्र-'यतो वाचः—' इत्यादि श्रुतेः वाग्व्यापारातीतस्वरूपं, चिदम्भोधिं सकलशास्त्रपारगत्वेन ज्ञानसागरम्; अन्यत्र-तद्रूपं, ज्ञानघनमित्यर्थः, एकं स्वसमानगुणशालिद्वितीयरहितम्; अन्यत्र—अद्वितीयं, निःसीमां आनन्दो यस्येति बहुव्रीहिः । अपारानन्दयुक्तम्, अन्यत्र—अनन्तसुखस्वरूपं, कर्मधारयः । पुरुषं नलरूपं पुमांसं परमात्मानञ्च, अनु लक्षयित्वा,

तं प्रतीत्यर्थः, 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया । भूयो भूयिष्ठं, तत्परा तस्मिन् नले आसक्ता भूत्वा, अन्यत्र-परब्रह्मरूपे तात्पर्यवती भूता, उपनिषत् वेदान्तवाक्, उपमानं यस्याः तदुपमा तत्कल्पा, आसीदिति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा, श्लेष एवेति केचित् । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १२९ ॥

शुभ (शुभ लक्षणोंसे युक्त) अङ्गोंवाली तथा अनन्तसंख्यावाले अर्थात् अपरिमित, भाग्यवान् (या बहुत सम्पत्तिवाले), चित्तसे आशाकी वृद्धि करनेवाले ('दमयन्ती हमें ही वरण करेगी' ऐसी आशाको बढ़ानेवाले, पाठा०—आशाको करनेवाले), असमान गुणों (शौर्य, दान, विद्वत्ता आदि) वाले सम्पूर्ण देव (इन्द्रादि) तथा राजाओंको प्राप्तकर एक साथ ही छोड़ती हुई, वचनागोचर रूप (अवर्णनीय सौन्दर्य) वाले, चैतन्य (ज्ञान) के समुद्र, अद्वितीय, सीमारहित (बेहद) आनन्दवाले पुरुष (नल) को उद्देश्यकर गुप्त भाववाली (नल विषयक अनुरागको प्रकट नहीं करनेवाली), तत्पर होकर उपनिषद्के समान हुई; शुभ छः अङ्गोंवाली उपनिषद् भी अनन्त अर्थात् आकाशसहित, कालयुक्त, मनके साथ दिशायुक्त, असमान (न्यूनाधिक असङ्ख्यात रूप-रसादि गुणोंवाले; जल, वायु, तेजोयुक्त समस्त वायु और पृथ्वीको एक साथ निषेध करती हुई (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—तार्किकोक्त इन नव द्रव्योंमें आत्माके अतिरिक्त शेष आठ द्रव्योंका एक साथ निषेध करती हुई) गूढ अभिप्रायवाली है, वह मनोवचनातीत रूपवाले, चैतन्यस्वरूप, अपरिमित आनन्दस्वरूप, परमात्माको लक्षितकर बहुत तात्पर्ययुक्त होती है । [अन्यान्य व्याख्याओंको 'प्रकाश' आदि टीकाओंसे समझ लेना चाहिये] ॥१२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।
श्रृङ्गारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
काव्येऽस्मिन् निषधेश्वरस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३० ॥

श्रीहर्षमित्यादि । श्रृङ्गार एव अमृतं तस्य शीता गावः किरणा यस्य सः शीतगुः तस्मिन् शीतगौ चन्द्रे 'गोस्त्रियोः उपसर्जनस्य' इति ओकारह्रस्वः ॥ १३० ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने एकादशः सर्गः समाप्तः ।

कवीश्वर-समूहके·········उत्पन्न किया, उसके रचित श्रृङ्गारामृतके चन्द्ररूप 'नैषध-चरित' नामक सुन्दर महाकाव्यमें स्वभावतः उज्ज्वल यह एकादश (ग्यारहवां) सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान समझनी चाहिये) ॥ १३० ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

एकादशः सर्गः समाप्तः

आधुनिक शिक्षा पद्धति के अनमोल रत्न